CURRENT HISTORY (ISSN 0011—3530)
4225 Main St.
Philadelphia, PA 19127

SECON
POSTA

ठाकुर नाथूसिंह वर्मा इस्तमरारदार



संचालक—कृष्ण-गोपाल आयुर्वेदिक धर्मार्थ औषधालय,
पो० कालेड़ा-बोगला, जिला (अजमेर)।

निवेदन

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगा-
द्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥

लगभग २ वर्ष पहले जब 'रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह' ग्रन्थ का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ; तब यह विचार था, कि 'चिकित्सा-तत्त्वप्रदीप' ग्रन्थ ६ मास के भीतर ही प्रकाशित कर दिया जायगा। परन्तु आर्थिक प्रतिकूलता के कारण ग्रन्थ-प्रकाशन में आजतक का दीर्घकाल व्यतीत हो गया।

इस चिकित्सातत्त्वप्रदीप ग्रन्थ में पहले डाक्टरी-विभाग संक्षेप में दिया था। परन्तु उसे फिर कुछ विस्तार से देना उचित समझा। इसी प्रकार परीक्षा और रोगनिदानादि के साथ शारीरिक अवयवों का परिचय भी अधिक बढ़ाया गया। इस हेतु से ग्रन्थ ८०० पृष्ठ में पूर्ण होने के बदले इतना बढ़ गया कि केवल प्रथम खण्ड के ही ८५० पृष्ठ हो गये हैं। अस्तु,

इस ग्रन्थ में आयुर्वेदिक निदान-चिकित्सा आदि चरकसंहिता, सुश्रुत-संहिता, वाग्भट्ट, भैषज्य रत्नावलि, योग रत्नाकर आदि अनेक प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थों के आधार से लिए गए हैं और पाश्चात्य निदान पाश्चात्य ग्रन्थों से जैसे कि पाश्चात्य रोग निदान (मराठी), सिद्धान्त निदान (संस्कृत) और व्याधि विज्ञानादि अनेक ग्रन्थों पर से लिया है।

कतिपय डाक्टरी प्रयोग 'Students Pocket Prescriber & Guide' by David Mitchele Macdonald M. D., F. R. C. P. E. और Medical Practicener पर से लिये हैं। अंग्रेजी नाड़ी-परीक्षा तथैव मूत्र-परीक्षादि में 'Hand book of Physiology' by W. D. Halliburton (इन्द्रिय विज्ञान-शास्त्र) का भी आधार लिया

है। डाक्टरी ग्रन्थों में रासायनिक और अणुवीक्षणीय-परीक्षा अति विस्तार से दी है। परन्तु आयुर्वेद के अभ्यासी को उतनी आवश्यकता नहीं रहती। इस हेतु से इस ग्रन्थ में अधिक विस्तार नहीं किया गया है। नाड़ी-परीक्षा में इलेक्ट्रो कार्डियोग्राफ के चित्र भी दिये हैं। वे मेटेरिया मेडिका ('Materia Medica' by J. Mitchell Bruge C. V. O, M. A. L. L. D, M. D. और कोसर रोबर्टसन के केटलॉग पर से लिये हैं; तथा शारीरिक अवयवों के चित्र ग्र े की एनेटॉमी ('Anatomy' by Henry Gray F. R. S.) और एनेटोमिक एटलस पर से लिये गये हैं।

डाक्टरी निदानार्थ पाश्चात्य रोग निदान का विशेप आधार लिया गया है तथा रोगपरीक्षा प्रकरण में पाश्चात्य रोग निदान और रोग-परीक्षा पद्धति पर से अनेक पारिभाषिक शब्द भी लिये गये हैं। इतना ही नहीं, अनेक स्थानों पर इन ग्रन्थों के अनेक पेरेग्राफों का भावार्थ तक भी ले लिया है।

इस प्रकार प्राचीन और अर्वाचीन अनेक ग्रन्थों के आधार से इस ग्रन्थ को तैयार किया गया है। जिन-जिन ग्रन्थों का हमने आधार लिया है; उन सब ग्रन्थकारों के प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

देश भेद, प्रकृति भेद, ऋतु भेद, आयु भेद, अधिकारी भेद (सबल-निर्बल, सुकुमार-सुदृढ़, धनिक-निर्धन, निश्चिन्त-सचिन्त, प्रसूता-सगर्भा, स्थानिक-प्रवासी, देशवासी-विदेशी, शाकभोजी-मांसाहारी आदि), व्यवसाय भेद और नूतन-जीर्ण रोगादि हेतुओं का विचार निज अनुभव के अनुसार ही हो सकता है। ये सब बातें लिखकर कोई कदापि नहीं समझा सकता। केवल सामान्य रीति से बोध करा दिया जाता है अतः इस ग्रन्थ में भी सामान्य दृष्टि से दोष भेद और उपद्रव भेद के अनुरूप पृथक्-पृथक् चिकित्सा स्थान-स्थान पर दे दी गई है।

चिकित्सा में हम विशेषतः रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह के प्रयोगों को ही उपयोग में लेते रहते हैं। इसीलिए इस ग्रन्थ के भीतर चिकित्सा वर्णन में उन अनुभूत प्रयोगों की यादी ही दी गई है। सारांश, प्रयोग बनाने की विधि, मात्रा और गुण का विशेष विवेचन रसतन्त्र-सार व सिद्धप्रयोगसंग्रह में होने से इस ग्रन्थ में पुनः पिष्टपेषण नहीं किया गया है। केवल पृष्ठांक दे दिये हैं। रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग-

हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं, वे सब इस ग्रन्थ में लिख दिए हैं। उनके विवेचन में विधि, मात्रा, गुणादि का वर्णन भली भाँति समझाकर दिया गया है।

इस ग्रन्थ में चिकित्सा के तत्वों को अच्छी तरह दीपक की तरह प्रकाश करने वाले विवेचन को ही स्थान दिया गया है। इसीलिए चिकित्सासागर संज्ञा न देकर इस ग्रन्थ का नाम "चिकित्सातत्त्वप्रदीप" रक्खा गया है, और यही कारण है कि शास्त्रीय एक-एक रोग के हजारों प्रयोगों का अनुवाद भी नहीं दिया गया है। किसी को शंका न हो, इस-लिए हम कह देना चाहते हैं कि हमने किसी भी शास्त्रीय प्रयोग को व्यर्थ नहीं माना है। केवल विशेष अनुभूत एवं अनुकूल प्रयोग ही दिए गए हैं।

कई ग्रन्थकार दूसरे चिकित्सकों के प्रति तुच्छता प्रदर्शित करते हुए आयुर्वेद के मुख्य ठेकेदार बनते हैं। फिर भी उनने अपनी ओर से कोई विशेष महत्व की बातें नहीं दीं। केवल अति प्रसिद्ध सामान्य प्रसङ्गों को ही अति महत्व देकर पृष्ठों के पृष्ठ भर दिये हैं। ऐसा साहस हमने नहीं किया है। संक्षेप में हमारा कथन इतना ही है कि शास्त्रमनन, अनुभवी सज्जनों के सहवास और रोगियों की सेवा-सुश्रूषा द्वारा जो कुछ थोड़ा-सा बोध हमें हुआ है, वही सादर समर्पण कर दिया गया है। यदि हमारी इस सेवा को जनता ने सप्रेम स्वीकार किया; तो शीघ्र ही इस ग्रन्थ का अवशिष्ट भाग भी सेवा में समर्पित किया जायगा।

अङ्गाङ्गीभाव के अनुसार आयुर्वेद अङ्गी (देह) है और यूनानी, एलो-पैथी, होमियोपैथी आदि जितने वैद्यकशास्त्र हैं, वे सब आयुर्वेद के अङ्ग अर्थात् आयुर्वेद शरीर के ये सब अवयव हैं। इसी भाव से इस ग्रन्थ में डाक्टरी रोग परीक्षा, निदान और चिकित्सा को आयुर्वेद के अवयव रूप से सम्मिलित किया है। जहाँ तक हमारा स्मरण है, इस शैली वाला कोई ग्रन्थ अभी तक हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में प्रकाशित नहीं हुआ है। यह हमारा प्रथम ही प्रयास है। ऐसी अवस्था में विचार भेद या प्रमादवश भूलें रह जाना संभव है। इन भूलों के कारण ग्रन्थ में यदि कुछ न्यूनता रह गई हो, तो उसके लिये लेखक क्षमा चाहता है। यदि कोई आयुर्वेद हितैषी सज्जन इस विषय में सूचना करने की कृपा करेंगे तो शेष भाग में और इसके आगामी संस्करण में साभार उचित सुधार कर लिया जायगा।

इस प्रकार ग्रन्थ के तैयार हो जाने पर भी ग्रन्थ-संशोधन की आवश्यकता बनी हुई थी। इस कार्य के लिये श्रीमान् पं० श्रीगोवर्धनजी शर्मा छांगाणी, प्राणाचार्य, भिषक्केसरी, भूतपूर्व अध्यक्ष-निखिल

भारतवर्षीय आयुर्वेद-महामंडल से प्रार्थना की; आपने सप्रेम स्वीकार किया; और अपना अमूल्य समय देकर निःस्वार्थभाव से केवल धर्मार्थ औषधालय द्वारा जनता की सेवा के निमित्त सावधानतया संशोधन कर दिया। इतना ही नहीं, आपने भूमिका लिख देने की भी कृपा की है। अतः मैं आपका हार्दिक आभार मानता हूँ।

सब प्रकार ग्रन्थ तैयार हो जाने पर भी केवल आर्थिक प्रतिकूलता के कारण उसके मुद्रण में विलम्ब हो रहा था, इस बात को जानकर ब्यावर निवासी श्रीमान् रामप्रतापजी शास्त्री भूतपूर्व प्रोफेसर मॉरिस कॉलेज-नागपुर और श्री रामगोपालजी भूतड़ा (वाँगरगाँव-ज़िला अकोला) ने अपने परिचित सज्जनों से उधार द्रव्य दिलाकर मुद्रण मार्ग को निष्कण्टक बना दिया, अतः मैं आप दोनों महोदयों का अन्तःकरण पूर्वक कृतज्ञ हूँ।

जिन सज्जनों से रकम उधार मिली है, उनकी नामावली इस निवेदन के अन्त में दी गई है। ये सब सहायक भी धन्यवाद के पात्र हैं।

मुझे निःसङ्कोच भाव से यह बता देना उचित प्रतीत होता है कि इन सबसे अधिक एवं अनन्त धन्यवाद के अधिकारी मेरे परम पूज्य गुरुवर श्रीमान् स्वामी कृष्णानन्दजी महाराज हैं। आप कीर्ति एवं नाम के प्रलोभन से बहुत दूर रहते हैं। **"रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह"** तथैव **"चिकित्सातत्त्वप्रदीप"** में जो कुछ दिखाई देता है, इस सर्वस्व के मालिक स्वामीजी महाराज ही हैं। सच तो यह है कि इन ग्रन्थों के मूल लेखक श्री स्वामीजी ही हैं। "निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्" इस भगवद्‌उक्ति के अनुसार मैं तो केवल निमित्त मात्र हूँ। स्वामीजी की मुझ पर बड़ी कृपा है कि वे मुझे इस प्रकार संसार के सामने लाने का प्रयत्न करते हैं। सारांश, श्री कृष्णगोपाल धर्मार्थ औषधालय एवं उसके द्वारा प्रकाशित ये दोनों ग्रन्थ श्रीमान् स्वामीजी की कृपा के परिचायक हैं; स्वामीजी की अमृतमयी लेखनी के फल हैं। इसलिए मैं सान्तःकरण आप सबकी ओर से स्वामीजी के चरणों में धन्यवाद अर्पण किए बिना नहीं रह सकता। परमात्मा पूज्य स्वामीजी जैसे सद्‌गुरु के चरणों का आश्रय सबको प्रदान करते रहें।

अब श्री कृष्णगोपाल धर्मार्थ औषधालय के विषय में भी कुछ कह देना अनुचित न होगा। इस औषधालय में दिन-प्रति-दिन रोगियों की

संख्या वढ़ती जा रही है। दूर-दूर से अनेक ग़रीब असहाय रोगी आते रहते हैं। इस हेतु से प्रति दिन औषधालय का ख़र्च वढ़ता ही जाता है। सन् १६३६ ई० में ग़रीबों की सेवार्थ १७५०) रु० ख़र्च आया था। ख़र्च की पूर्ति करने की भविष्य के लिये आवश्यकता रहती है। दो साल से इस देश में भयंकर दुष्काल होने से देशवासियों से सहायता मिलने की आशा नहीं है। दानरूप से इस प्रान्त के वासियों से धन माँगने या वाहर से धन लाने का प्रयत्न अभी तक नहीं हुआ है। इस हेतु से भी औपधालय को अधिक सहायता नहीं मिल सकी। मुझे जगन्नियन्ता में पूर्ण विश्वास है, कि वे ही इस औपधालय को चलाने के लिये श्रद्धालु उदार सज्जनों के हृदयों में प्रेरणा करेंगे।

रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह का द्वितीय संस्करण प्रकाशन होने के पश्चात् ग़रीव रोगियों की सेवा के निमित्त अन्तर्यामी की आन्तर प्रेरणानुसार निम्नानुसार रक़म प्राप्त हुई।

२०१) श्री० होलरराय रामजी कोया—वम्वई
१००) श्री० गोकलदास ओधवजी ,,
५०) श्री० भगवानजी कानजी ,,
२५) श्री० छगनलाल कालीदास ,,
१५) श्री० रमणलाल मणिलाल ,,
४५।।) श्री० शिवलालजी मोहनलालजी—तेल्हारा (अकोला)
२७) श्री० डॉ० पी० शंकरदासजी द्वारा ,,
४५।।) श्री० जगन्नाथजी रामेश्वरजी—मनवदा (अकोला)
३०) श्री० महाराजा साहव धोवड़ा—वूँदी
११) श्री० महाराजा जयनाथसिंहजी—वूँदी
१०) श्री० कृष्णावाई लीलाधरजी भूतड़ा—धामणगाँव (वर्धा)
१०) श्री० पं० मूलचन्दजी शर्मा—नागपुर
२१) श्री० भूरालालजी फलोर—पारा (अजमेर)
१०) श्री० सेठ किसनलालजी—वारां (कोटा स्टेट)
१०) श्री० गणेशदास धूलचन्द—सौंसर (जि० छिंदवाड़ा)
४०) श्री० मनसादेवी (श्री० मुनशीरामजी पूरनचन्दजी) काँगड़ा जिला

रु० ६५१)

इस रक़म के अतिरिक्त श्री० रामगोपालजी भूतडा ने २ वर्ष में निःस्वार्थ भाव से (कमीशन या ख़र्च कुछ भी न लेते हुए) ३०००) रु० की औषधि विक्री करा दी; कई सज्जनों द्वारा पुस्तक बिक्री हुई; एवं औषधालय में से भी औषधि और पुस्तकें बाहर वी० पी० द्वारा भेजी गईं। इस रीति से कुछ अंश में सहायता मिल गई।

इस ग्रन्थ का मूल्य पहले से ग्राहक बनने वालों के लिये कम रक्खा गया है। फिर भी रसतन्त्रसार० के समान आधे मूल्य में ग्राहकों को नहीं दे सके। कारण, रसतन्त्रसार० की १००० प्रति की बिक्री प्रारम्भ में ही ३५ निःस्वार्थी (कमीशन न लेने वाले) उदार सज्जनों द्वारा हुई थी। इस समय ऐसा प्रबन्ध नहीं किया गया। कारण, ५ ग्रन्थ-विक्रेताओं से तो २ वर्ष हो जाने पर भी मूल्य नहीं मिला; एवं व्यवहार कुशलता की न्यूनता के हेतु से इतर तीन स्थानों में भी ठगा गये। इनमें से एक स्थान से तो ४७ पुस्तकों का मूल्य केवल ३०) रु० ही मिला। इस समय कतिपय निःस्वार्थी सज्जनों से तो सहायता ली जायगी; तथापि विशेष रूप से बिक्री कमीशन एजेण्टों द्वारा ही होगी। मूल्य अधिक रखने में दूसरा हेतु यह भी है, कि काग़ज़, जिल्द, चित्रादि में खर्च रसतन्त्रसार० की अपेक्षा अत्यधिक हुआ है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में अनुकूलता देने वाले कान्ति प्रेस के मालिक श्री० पं० सत्यपाल जी को भी भूल नहीं सकता। आपने नये टाइपों से सम्हालपूर्वक ग्रन्थ छपवा देना, प्रूफ़-निर्णयार्थ प्रत्येक फॉर्म पोस्ट से भेजते रहना, भाषा दोष सुधारना आदि कार्यों में अच्छी सहायता दी है। इसी हेतु से यथा समय ग्रन्थ ग्राहकों की सेवा में भेज सके हैं अतः आपको अन्तःकरण पूर्वक धन्यवाद देता हूँ।

पो० कालेडा-बोगला
(ज़ि० अजमेर)
ता० १।६।४० ई०

जनता का कृपाकांक्षी—

नाथूसिंह वर्मा।

सहायक नामावली ।

इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ निम्न सज्जनों से उधार रकम मिली है।

५००) सस्तुसाहित्यवर्धक कार्यालय	अहमदाबाद
३००) श्री० रामचन्द्र गणपति पाटील	चौंढी (बुलडाना)
२००) श्री० शास्त्री रामप्रतापजी	ब्यावर
२००) श्री० उमरावसिंहजी वंशीधरजी मितल	नशीराबाद
२००) श्री० मगाबाई भूतडा	सावरगाँव (बुलडाना)
१००) श्री० हजारीमलजी भूतड़ा	शेगाँव (बुलड़ाना)
१००) श्री० चम्पाबाई चाण्डक	ऊखली (अकोला)
१००) श्री० लीलाधरजी राठी	,,
१००) श्री० किसनीरामजी भैया	,,
१००) श्री० भीखमचन्दजी राठी	,,
१००) श्री० श्रीरामजी फतेहलालजी	,,
१००) श्री० गोवर्धनदासजी राठी	,,
१००) श्री० राधाकिसनजी टावरी	बाबुलगाँव (अकोला)
१००) श्री० श्यामलालजी कन्हैयालालजी	अकोला
१०१) श्री० रूपचन्दजी राठी	खंडाला (अकोला)
१००) एक निष्काम प्रेमी सज्जन	
१००) श्री० अग्यारामजी मदनगोपालजी	अर्जुनी (गोंदिया)
१००) श्री० जेसीरामजी राठी	नागपुर
१०१) श्री० शिवनारायणजी पनपालिया	ओकारा (पंजाब)
५१) श्री० शिवनारायणजी लीलाधरजी राठी	ओकारा (पंजाब)
५०) श्री० रामचन्द्रजी चाण्डक	नागपुर
५०) श्री० चुन्नीलालजी हरलालजी राठी	तलेगाँव (अकोला)
५०) श्री० जोगीदासजी परमसुखदासजी	शेगाँव (बुलडाना)
५०) श्री० काशीरामजी नरसिंहदासजी जाँधियाँ	ऊखली (अकोला)
५१) श्री० सेवारामजी भैया	बडसींगी (बुलडाना)

[ग्रन्थ और औषधि बिक्री द्वारा सहायता देने वाले]

६००)	श्री० रामगोपालजी भूतडा	बांगरगाँव (अकोला)
२००)	श्री० गणेशदासजी धूलचन्दजी	सौसर (छिंदवाडा)
१००)	श्री० कस्तूरचंदजी पुनमचन्दजी थानवी	बोडखा (बुलडाना)
१००)	श्री० वैद्यराज मणिशंकर एम० त्रिवेदी	अहमदाबाद
१००)	श्री० ठाकुर रघुराजसिंहजी	कोटा (राजपूताना)
५०)	श्री० पं० वंशीधरजी मोहनलालजी आयुर्वेदाचार्य	अजमेर
५०)	श्री० ठाकुर बेरीसालसिंहजी	अलीराजपुर (C. I.)
५०)	श्री० पं० लक्ष्मीनारायणजी व्यास	गंगरार (उदयपुर)
५०)	श्री० पं० रघुवरदयालजी राजवैद्य	देहली

॥ श्री धन्वन्तरये नमः ॥

भूमिका

यदि सूक्ष्म विचार कर देखा जाय तो हमें निश्चय हो जाता है कि समय अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति आप कर लिया करता है। समय जैसा रहता है, उसी के अनुकूल सारे सामान जुट जाते हैं। हम प्राचीन समय की ओर जाते हैं तो वैद्यक-शास्त्र के विषय में आयुर्वेदाभिमानियों की ओर से हमें चरक, सुश्रुत, वाग्भट्टादि आकर ग्रन्थों एवं उन पर गहनगवेषणापूर्ण टीकाकारों का बोलवाला दिखाई देता है। प्राचीन आचार्यों की सूत्रमयी—थोड़े शब्दों में अनेक तत्त्वों का बोध करानेवाली देववाणी (संस्कृत) का आस्वाद मिलता है और इसी प्रकार यूनानियों की ओर से अर्बी-फ़ारसी साहित्य का आनन्द प्राप्त होता है, परन्तु जब हम प्राचीन काल से ज्यों-ज्यों इस ओर आते हैं त्यों-त्यों उन दयालु महात्माओं के उन सरल प्रयत्नों को देखते हैं जो अल्प संस्कृतज्ञों तथा सर्वसाधारण की हित की दृष्टि से किए गए हैं। जहाँ तक बन सका है इन दयालु महात्माओं ने प्राचीन आचार्यों के क्लिष्ट संस्कृत-अर्बी-फ़ारसी में वर्णित भावों को सरल संस्कृत-हिन्दी-उर्दू आदि भाषाओं द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है। इनमेंसे कई विद्वानों ने वैद्यक की मोटी (ठोस) परिभाषाओं के साथ-साथ उन अव्यर्थ प्रयोगों का संग्रह किया है जो नाना रोगों के शमन करने में अच्छा काम करते हैं। यूनानी में ऐसे प्रयोग संग्रहों को क़राबादीन कहते हैं जैसे कि क़राबादीन कबीर, क़राबादीन निजामी, क़राबादीन ज़ुकाई, क़राबादीन शिफ़ाई आदि-आदि।

इतिहास से स्पष्ट है कि यूनानी आदि वैद्यक पद्धतियाँ एकमात्र आयुर्वेद के आधार पर ही खड़ी हुई हैं। इसी प्रकार क़राबादीनें (अव्यर्थ-प्रयोग संग्रह) भी आयुर्वैदिक आदर्श को सामने रखकर बनी हुई प्रतीत होती हैं। इनमें से बहुतसी क़राबादीनें अर्वाचीन काल की बनी हुई हैं परन्तु हमारे यहाँ यह अनुभूत-प्रयोग संग्रह पद्धति सहस्रों वर्षों से चली आ रही है, ऐसी प्रतीति होती है। संभव है कि अनुभूत प्रयोगों के संग्रह अन्य आचार्यों ने भी किये हों परन्तु इस विषय में ठोस कार्यकर्ता के नाते श्रीमान् शार्ङ्गधराचार्य का नाम सबसे पहले हमारे सामने आता है। आपने अपनी संहिता में यह स्पष्ट लिखा है, कि—

"प्रसिद्धयोगा मुनिभिः प्रयुक्ता-
श्चिकित्सकैर्ये बहुशोऽनुभूताः ।
विधीयते शार्ङ्गधरेण तेषां
सुसंग्रहः सज्जनरञ्जनाय ॥"

अर्थात् जिन प्रसिद्ध योगों का प्रयोग चरक, सुश्रुत, हारीत, पराशरादि मुनियों ने किया है, इतना ही नहीं, वैद्यों ने जिन प्रयोगों को अपने रोगियों पर प्रयुक्त कर अनेक वार आजमाया है, उन्हीं का बहुत अच्छा संग्रह सज्जनों के सन्तोषार्थ मैं (शार्ङ्गधर) कर रहा हूँ।

देखा जाता है कि कई पण्डितम्मन्य ऐसे संग्रहों को देखकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं। वे तो जटिल संहिताओं के आदी बने हुए ऐसे संग्रहों एवं विशेषतः सरल भाषा में लिखे हुए पुस्तकों की ओर देखना तक बड़ा भारी पाप समझते हैं, परन्तु उनकी यह वृत्ति कदापि प्रशंसनीय नहीं कही जा सकती। आज हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला, उर्दू आदि भाषाओं में इतना अच्छा मौलिक साहित्य तैयार हुआ है और हो रहा है कि उसकी उपेक्षा करना कदापि बुद्धिमानी की बात नहीं है। सड़े-गले चीथड़ों में लपेटा हुआ "हीरा" हीरा ही रहता है न कि वह चीथड़ों में लपेटने के कारण काँच बन जाता है। हम देख रहे हैं कि जमाना बड़े वेग के साथ बदल रहा है। नित्य-प्रति नवीन एवं चमत्कारिक आविष्कारों की सृष्टि हो रही है। इन आविष्कारों के इतिहास, विधि-विधान आदि नाना देशीय साहित्यों से लेकर प्रायः देशी भाषाओं में ही लिखे गए हैं। संस्कृत भाषा में ऐसी पुस्तकें संप्रति बहुत कम लिखी गई हैं क्योंकि संस्कृत के समझने वाले बहुत कम हैं। ऐसी अवस्था में भिन्न-भिन्न भाषाओं में लिखे गये मौलिक साहित्य की उपेक्षा करना कदापि ठीक नहीं है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम ऐसे साहित्य का अवलोकन करें और उससे लाभ उठावें।

लेखक के **"रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह"** को सर्वसाधारण एवं वैद्य-संसार ने बहुत जल्दी अपनाया। इसलिए कि यह ग्रन्थ लेखक के दीर्घकालीन अनुभव का निचोड़ था। इसकी द्वितीय आवृत्ति प्रथमावृत्ति से आकार में दुगुनी निकली। छपाई भी प्रथमावृत्ति से अधिक कराई गई और लोगों ने इसकी बहुतसी प्रतियाँ हाथों-हाथ खरीद लीं। सम्भव है कि शीघ्र ही इसके तृतीय संस्करण की तैयारी

करनी पड़ेगी। ये सभी बातें ग्रन्थ की श्रेष्ठता की परिचायक हैं। अस्तु,

आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धति अत्युत्तम है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, परन्तु यह भी सच है कि वर्तमान में कई आविष्कार, रोग जानने के तरीके आदि ऐसे निकले हैं कि जिनसे वैद्यक-व्यवसायी को बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। तापमापक (थर्मामीटर), अणुवीक्षण यन्त्र आदि को ही लीजिये। ये कितना अच्छा स्पष्ट ज्ञान तापमानादि का बोध करा देते हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। रोगों के शमन करने वाले आयुर्वेदीय योगों के अतिरिक्त डाक्टरी-यूनानी प्रयोग भी कई ऐसे हैं जो अपना अच्छा प्रभाव दिखाते हैं। उनसे भी जनता अच्छा लाभ उठा सकती है। प्रयोगों के अतिरिक्त आयुर्वेदिक तथा डाक्टरी-पद्धति से रोगों का वह विवेचन होना भी नितान्त आवश्यक है जिसे लेखक ने दीर्घकालीन अनुभव से प्राप्त किया है। लेखक का यह अनुभव उसी के साथ न चला जाय इसलिए एक विज्ञप्ति **"रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह"** की द्वितीय आवृत्ति में दी गई थी कि शीघ्र ही हम

"चिकित्सातत्त्व-प्रदीप"

नामक ग्रन्थ भी प्रकाशित करने वाले हैं, वही आज आपके सामने है। पृष्ठ संख्या अनुमान से अधिक हो जाने के कारण संप्रति इसका प्रथम खण्ड ही छपवा कर प्रगट किया गया है। ग्रन्थ कैसा और कितना उपयोगी है, इसका परीक्षण तो अपनी भिन्न-भिन्न दृष्टियों से चिकित्सा-निष्णात विद्वद्द्वय करेंगे ही। मुझे तो संक्षेप में यह कह देना उचित प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ भी बड़ी छान-बीन के साथ परिश्रम पूर्वक लिखा गया है। गङ्गा-यमुना के संगम की तरह इसमें आयुर्वेदिक एवं डाक्टरी इन दोनों विचारों को स्थान दिया गया है। आयुर्वेद-प्रेमी डाक्टर और डाक्टरी के प्रेमी वैद्य ये दोनों इस ग्रन्थ से अच्छा लाभ उठा सकते हैं। तिस पर भी विशेषता यह है कि लेखक ने आयुर्वेद को मुख्य देह रूप मानते हुए ऐलोपैथी को उसका एक अवयव मान कर उसमें समावेश किया है। जहाँ तक मेरा ध्यान है, इस प्रकार का लेखक का ही यह प्रथम प्रयास है और न इस शैली का ग्रन्थ आज तक किसी भाषा में लिखा गया है। इसमें व्यर्थ विस्तार न कर विवेचन भी सार-सार लेकर किया गया है। रोग-परीक्षा-पद्धति भी आयुर्वेदिक क्रम से रक्खी है और रोगों का वर्गीकरण

ओ। हां, जहाँ ऐलोपैथी का वर्गीकरण भिन्न है—आयुर्वेद से नहीं जमता वहाँ वही क्रम रक्खा गया है। यही कारण है कि ज्वर-प्रकरण तथा पचनेन्द्रियसंस्थाव्याधि-प्रकरण के रोगों के अन्त में आयुर्वेद के क्रम का भङ्ग प्रतीत होता है। अस्तु,

इन बातों के अतिरिक्त ग्रन्थ में कोई भी बात ऐसी नहीं लिखी है जो पुष्ट-प्रमाण-युक्त न हो। जहाँ तक बना है, व्यर्थ शब्दाडम्बर न बढ़ाते हुए युक्तियुक्त सिद्धान्तों को ही ग्रन्थ में स्थान दिया गया है। प्रयोग भी वे ही दिए हैं जो सैकड़ों बार के अनुभव किये हुये हैं। इन सारी बातों को देखते कहना पड़ता है कि ग्रन्थ नितान्त उपादेय, सबके लिये उपयोगी तथा पढ़ने योग्य है।

ग्रन्थ की यह भी विशेषता है कि इसमें शारीरिक अवयवों के १७ चित्र और नाड़ीयन्त्र के ५ रेखा-चित्र दिए हैं। अधिक चित्र भी दिये जा सकते थे, परन्तु अधिक चित्र कदाचित् इसलिए नहीं दिए गए हैं कि ऐसा करने से ग्रन्थ के मूल्य में भी वृद्धि करनी पड़ेगी। इसीलिए यह संकोच किया गया प्रतीत होता है। 'ग्रे'की एनाटॉमी में लगभग १५०० चित्र हैं, उसका मूल्य भी ३०) रु० है, फिर भी उसके २७ संस्करण हो चुके हैं। कारण यह है कि इंग्लैण्ड धन सम्पन्न देश है और हमारे भारत में भी ऐलोपैथी के लिये सरकार की ओर से पूर्ण सहायता है। यह सुविधा आयुर्वेद के लिए नहीं है और न आज की भारतीय जतना भी इतनी धन-सम्पन्न है जो अधिक मूल्य के ग्रन्थ को खरीद सके। अस्तु,

फिर भी अपने प्रयत्न में लेखक के सफल होने के कारण मुझे बड़ी प्रसन्नता है। मैं लेखक को आन्तरिक धन्यवाद देता हुआ सर्वसाधारण से साग्रह निवेदन करता हूँ कि वे रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह की तरह इस चिकित्सा-तत्त्व-प्रदीप को भी अपनावें और इसके प्रकाशक कृष्णगोपाल आयुर्वेदिक धर्मार्थ औषधालय कालेड़ा-बोगला ज़ि० अजमेर को पूर्ण सहायता प्रदान करें, क्योंकि यह प्रयत्न "नात्मार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति" है अर्थात् यह जनता-जनार्दन की सच्ची सेवा के निमित्त ही है।

बीकानेर,
ता० १५।६।१६४०

श्रीगोवर्धन शर्मा छांगाणी
(नागपुर निवासी)।

श्री० रसवैद्य वैद्यरत्न कविराज पं० वंशीधरजी मोहनलाल शर्मा

आयुर्वेदाचार्य का

अभिप्राय

श्रीकृष्णानन्दविज्ञैर्यदपि च बहुधा स्वानुभूतं नितान्तं
तत्त्वं प्राच्यप्रतीच्यप्रमतमतमतस्तर्कसंभ्रान्तबोधम् ।
संगृह्यास्मिन् प्रशस्ते सरलतमचिकित्साप्रदीपे निविष्टं
तद्धीशन् ज्ञानदीप्तिं प्रदिशतु नितरां भामिवारं प्रदीपः ॥१॥

श्रीकृष्णानन्दसूक्तं गहनतममतं यच्चिकित्सादि तत्त्वं
स्वान्ते पूर्णं निधाय व्यरचयदमलं पुस्तकं नाथुसिंहः ।
आयुर्वेदानुरक्तास्त्वरितमनुपमग्रन्थरत्नक्रयेण
चेतःस्थोहासमूहं ह्यपनयतु सदा तच्चिकित्साप्रदीपात् ॥२॥

कृष्णप्रोक्तं बहुसुविदितं शुद्धवेदान्ततत्त्वं
व्यासस्तद्वै सततमलिखत् स्वीयगीताख्यग्रन्थे ।
इत्थं नित्यं निहितमनसा नाथुसिंहाभिधोऽयम्
कृष्णानन्दैरुदितमलिखत्तच्चिकित्साप्रदीपम् ॥३॥

संजातोहापोहरूपस्तमःस्तोमव्यपोहकः ।
चिकित्सातत्त्वदीपोऽयं भिषजां भद्रदो भवेत् ॥४॥

प्रिय पाठकवृन्द !

आज मुझे आप लोगों को यह सूचित करते हुए अतीव हर्ष होता है, कि जिस समय "रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह" ग्रन्थ का अपन पठन करते थे; उस समय निदान भाग का अभाव पूर्णतया खटकता रहता था। किन्तु श्रीहरि की प्रेरणा से श्री० प्रातःस्मरणीय पूज्य

स्वामीजी महाराज श्रीकृष्णानन्दजी तथा परम श्रद्धेय श्री० ठाकुर साहब नाथूसिंहजी ने इस चिकित्सातत्त्वप्रदीप नामक ग्रन्थ को हमारे समक्ष रख कर इस (निदान भाग) के अभाव की पूर्ति कर दी है।

इस ग्रन्थ की लेखन-शैली 'रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह' के समान सरल और आयुर्वेद के सच्चे तत्त्व (रहस्य) को दर्शाने वाली है। आयुर्वेदिक साहित्य में अभी तक इस शैली का ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ है, यह ग्रन्थ अपने ढंग का अनूठा ही है और दीर्घकाल तक ऐसा ही माना जायगा।

इस ग्रन्थ के प्रथम उपोद्घात प्रकरण में निदानपञ्चक का वर्णन संस्कृत टीका (मधुकोश) के अनुरूप विस्तृत किया है तथा दोषप्रत्यनीक चिकित्सा, व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा, बृंहण चिकित्सा, लंघन चिकित्सा, वातादि धातुओं के स्थान, कार्य, वृद्धि-क्षय हेतु, गुण, प्रकोप और प्रकोपशामक उपाय एवं रस-रक्तादि धातुओं के क्षय-वृद्धि के लक्षण आदि युक्ति-संगत लिखे हैं।

द्वितीय रोगपरीक्षा प्रकरण में प्राचीन अष्टविध परीक्षा और इतर सहायक बातें तथा आधुनिक परीक्षा अति सरल भाषा में दी है, स्थान-स्थान पर अनुभव लिखा गया है। जैसे स्वप्न सबको आता रहता है, उसका रोग के साथ सम्बन्ध, वैज्ञानिक ढंग से समझाने का किसी ग्रन्थकार ने अभी तक प्रयत्न नहीं किया, ऐसी अनेक महत्व की बातें इस ग्रन्थ में युक्तिपूर्ण प्रतीत होती हैं।

तृतीय शरीरशोधन प्रकरण में स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, वस्ति आदि शरीर को शुद्ध करने वाली क्रिया लिखी हैं। इस प्रकरण में भी स्थान स्थान पर अनुभूत तत्त्व प्रतीत हो रहा है। जैसे पुल्टिस बाँधना मामूली क्रिया मानी जाती है; परन्तु इसकी उपयोग विधि और महत्व आदि का शास्त्र-दृष्टि से सविस्तर वर्णन जैसा इस ग्रन्थ में है, ऐसा अन्यत्र किसी हिन्दी ग्रन्थ में नहीं है। इस तरह अन्य भी अनेक विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं।

चतुर्थ चिकित्सासहायक प्रकरण में अनुपान-विचार, पृथक्-पृथक् रोगों के पृथक्-पृथक् अनुपान, हित-अहितकर पदार्थ, ऋतु और प्रकृति भेद से पथ्यापथ्य, बालकों के लिये औषधि की मात्रा, संक्रामक रोग के चयकाल और रोगी और परिचारकों को महत्व की सूचनाएँ आदि बातें, जो नित्यप्रति चिकित्सा में सहायता देने वाली हैं; वे सब सरल भाषा में लिखी हैं। जिनका कि सामान्य चिकित्सकों को भी बोध होना अत्यन्त आवश्यक है।

पञ्चम और षष्ठम् प्रकरण में नाना प्रकार के ज्वर और अतिसार-संग्रहणी आदि व्याधियों के आयुर्वैदिक और डाक्टरी निदान शास्त्र के अनुरूप दिये हैं; तथा चिकित्सा भी अनुभूत लिखी है। इस चिकित्सा में प्रकृति और उपद्रव भेद से औषधियों के पृथक्-पृथक् प्रयोग दर्शाये हैं। इनके अतिरिक्त समान लक्षण वाले रोगों के लक्षणों में भेद स्थान-स्थान पर समझाया है। समान रूप वाले रोगों के लक्षणों में क्या-क्या पृथक्ता भासती है, वह इस ग्रन्थ में सामान्य बोध वाले समझ सकें इस तरह भली भाँति समझा कर लिखी है। इस ग्रन्थ का अध्ययन करके नये अभ्यासी चिकित्सक भी निर्भयतापूर्वक रोगविनिर्णय करके उचित चिकित्सा कर सकते हैं।

धन-वैभव सम्पन्न रोगियों की चिकित्सा के लिये अनेक बार डाक्टर और वैद्य, दोनों आते हैं; परन्तु परस्पर दोनों की विचारशैली, रोग सम्बन्धी कल्पना, परिभाषा और औषधि आदि अनेक बातों में भेद होने से एक दूसरे का विचार ग्रहण नहीं कर सकते। जिससे रोगी के हित के लिये दोनों का मिलकर योग्य विचार नहीं हो पाता। यह त्रुटि कितनेक अंश में इस ग्रन्थ के अध्ययन से दूर हो जाती है। परस्पर एक दूसरे की परीक्षा, निदान और चिकित्सा-शैली समझ कर रोगी के लिये हितकर मार्ग का निर्णय कर सकते हैं। इस ग्रन्थ में दोनों प्रकार (आयुर्वैदिक और एलोपैथिक) की परीक्षा तथा दोनों प्रकार के रोग के निदान दिये हैं। रोगों की चिकित्सा में दोष वैषम्य और उपद्रव भेद से

चिकित्सा भेद सयुक्तिक लिखी है; जो नूतन अभ्यासी के लिये मार्ग प्रदर्शक होती है। इनके अतिरिक्त सब रोगों के साथ महत्व की सूचनाएँ तथा पथ्यापथ्य, अनुकूल-प्रतिकूल आहार-विहार का विवेचन किया है, जो नूतन चिकित्सक, सब गृहस्थ और रोगियों के लिये अति बोधप्रद है। एवं पारिभाषिक शब्दों के साथ-साथ पर्याय लेटिन शब्द लिखे हैं, जिससे वैद्य को डाक्टरी के और डाक्टर को आयुर्वेद के पारिभाषिक शब्दों का बोध सहज मिल सके।

जिन सामान्य बोध वाले चिकित्सकों को शरीर शास्त्र का बोध न हो, उनके लिये सब प्रकरणों में प्रसंग अनुरूप शारीरिक अवयवों का वर्णन डाक्टरी शारीर शास्त्र के अनुसार किया है और सबके चित्र भी दिये हैं। इनके अतिरिक्त साथ में अवयवों की पारिभाषिक संज्ञा भी दी है। इस पर से नये चिकित्सकों को चिकित्सा में सहायक हो, उतना शारीरिक विभागों का बोध सहज मिल सकता है।

इस तरह इस ग्रन्थ के सब प्रकरणों में स्थान-स्थान पर अनुभव झलक रहा है। संक्षेप में इस ग्रन्थ को सर्वोपयोगी और सुन्दर बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है। मुझे दृढ़ विश्वास है, कि यह ग्रन्थ आयुर्वेद के चिकित्सक, विद्यार्थीगण, आयुर्वेद के सामान्य बोध वाले गृहस्थ, आयुर्वेद प्रेमी डाक्टर आदि सभी के लिये अति उपयोगी है। मैं सर्व सज्जनों से अनुरोध करता हूँ, कि इस ग्रन्थ की एक-एक प्रति अपने पास अवश्य रखें। पुस्तकालयों में भी इस ग्रन्थ की प्रतियाँ रखने का प्रबन्ध होना अत्यन्त आवश्यक है।

अजमेर
ता० २०-९-४०

वंशीधर शर्मा

अनुक्रमणिका ।

उपोद्घात ।

रोगपरीक्षा प्रकरण ।

शरीरशुद्धि प्रकरण ।

चिकित्सासहायक प्रकरण ।

ज्वर प्रकरण ।

पचनेन्द्रियसंस्थाव्याधि प्रकरण ।

आयुर्वैदिक प्रयोग-सूची।

डाक्टरी प्रयोग सूची।

शारीरिक अवयव वर्णन ।

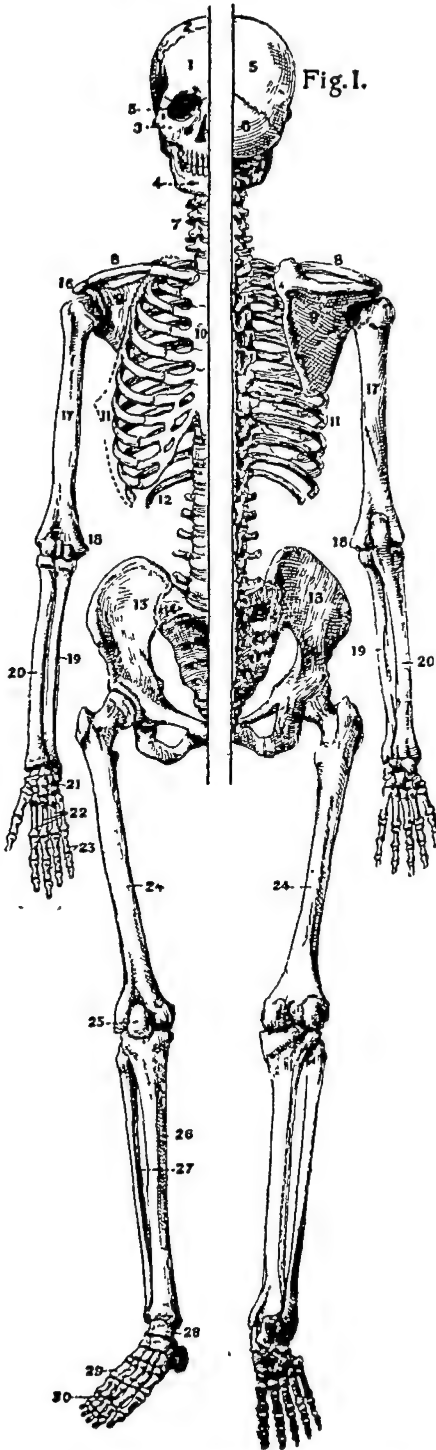
टिप्पणीस्थ सहायक विषय-सूची ।

चित्र-सूची।

शुद्धि-पत्र।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५९०	१८	दूध और	दूध की चाय, रक्तशोधक और मूत्रल
६०१	२०	प्रवृत्ति	उत्पत्ति और अवरोध
६८६	१२	भीति नहीं है।	भीति नहीं है। आवश्यकता पर दूध का अर्क निकाल कर थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहें।

अस्थि पिंजर



सूचना—बीच के दो विभाग केवल समझाने के लिये किये हैं।

(चित्र नं० १)

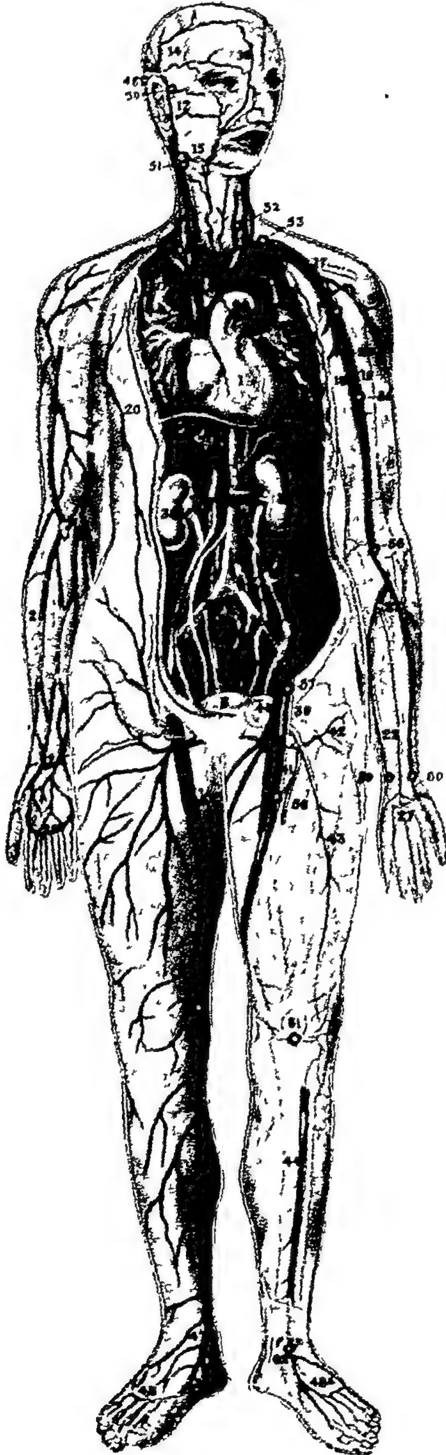
अस्थिपिञ्जर ।

(आगे और पीछे दोनों ओर के देखाव)

१ पुरः कपाल Frontal Bone
२ पार्श्वकपालास्थि Parietal Bone
३ गण्डास्थि Malar Bone
४ ऊर्ध्व हन्वस्थि Maxillary Bone
५ नेत्र गुहा Orbit
६ पश्चात् कपाल Occipital Bone
७ कण्ठ कशेरुका Cervical Vertebrae
८ अक्षकास्थि Clavicle
९ अंसफलक Scapula
१० उरः फलक Sternum
११ पर्शुका Ribs
१२ विमुक्ताग्रपर्शुका Floating Ribs
१३ जघन कपाल Ilium
१४ त्रिकास्थि Sacrum
१५ अनुत्रिकास्थि Coccyx
१६ अंसतुण्ड Coracoid Process of Scapula
१७ प्रगण्डास्थि Humerus
१८ कूर्परसन्धि Elbow Joint
१९ अंतः प्रकोष्ठास्थि Ulna
२० बहिः प्रकोष्ठास्थि Radius
२१ करकूर्चास्थि Wrist
२२ अंगुली मूलशलाकास्थि Metacarpal Bones
२३ करांगुलीनलको Phalanges or Fingers
२४ ऊर्वस्थि Femur
२५ जान्वस्थि Patella
२६ जंघास्थि Tibia
२७ अनुजंघास्थि Fibula
२८ पादकूर्चास्थि Tarsal Bones
२९ पादांगुलीशलाकास्थि Metatarsal Bones
३० पादांगुलीनलको Phalanges or Toes

चित्र नं० २

रक्तवाहक संस्था



(चित्र नं० २)

रक्तवाहक संस्था ।

(उत्तान और गम्भीर रुधिराभिसरण)

१ हृदय Heart
२ महाधमनी Aorta
३ उत्तरा महासिरा Superior vena cava
४ फुफ्फुसिया सिराएं Pulmonary Veins
४—A फुफ्फुसाभिगा धमनी Pulmonary Arteries
५ वामकाण्डमूला सिरा Left Innominate Vein
६ दक्षिण काण्डमूला सिरा Right Innominate Vein
७ कक्षाधरा सिरा Axillary Vein
८ दक्षिण महामातृकाधमनी Right Common Carotid Artery
९ अनुमन्या सिरा Internal Jugular vein
१० अधिमन्या सिरा External Jugular vein
११ वहिर्हानव्या सिरा External Maxillary vein
१२ अनुशंखा धमनी Superficial Temporal Artery
१३ अनुशंखा धमनी Superficial Temporal Vein
१४ अधिभ्रुवा धमनी Supra-Orbital Artery
१५ वहिर्हानव्या धमनी External Maxillary Artery
१६ अधिभ्रुवा सिरा Supra-Orbital Vein
१७ कक्षाधरा धमनी Axillary Artery
१८ वाहवी सिरा Brachial Vein
१९ वाहवी धमनी Brachial Artery
२० औदरोरसी सिरा Thoracic Epigastric Vein
२१ वहिः प्रकोष्ठीया धमनी Radial Artery
२२ अंतः प्रकोष्ठीया धमनी Ulnar Artery
२३ वहिर्वाहुका सिरा Cephalic Vein
२४ अंतर्वाहुका सिरा Basilic Vein
२५ वहिः प्रकोष्ठीया सिरा Radial Vein
२६ पुरोगा अन्तः प्रकोष्ठीया सिरा Anterior Ulnar Vein
२७ उत्ताना करतल धानुषी धमनी Superficial Volar Arch
२८ करतलधानुषी सिरा Palmar Arch
२९ अधरा महासिरा Inferior Vena Cava
३० दक्षिण वृक्क Right Kidney
३१ वाम वृक्क Left Kidney

३२-३३ अनुवृक्का सिराएँ और धमनियाँ Renal Veins and Arteries

३४ अधरान्त्रिकी धमनी Inferior Mesenteric Artery

३५ दक्षिण अधिश्रोणिका धमनी और सिरा Right Common Iliac Artery and Vein

३६ वाम अधिश्रोणिका धमनी और सिरा Left common Iliac Artery and Vein

३७ अधिवस्तिक नालियाँ Hypogastric Vessels

३८ अधिश्रोणिका धमनी बाह्या External Iliac Artery

३९ और्वी धमनी Femoral Artery

४० और्वी सिरा Femoral Vein

४१ गंभीरा और्वी धमनी Deep Femoral Artery

४२ आरोहिणी ऊरुवेष्टनी धमनी Ascending Circumflex Femoral Artery

४३ अवरोहिणी ऊरुवेष्टनी धमनी Descending Circumflex Femoral Artery

४४ पुरोजंघिका धमनी Anterior Tibial Artery

४५-४७ दीर्घोताना सिरा Great Saphenous Vein

४८ पादपृष्ठगा धानुषी सिरा Venous Arch of Dorsum of foot

४८—A पादपृष्ठगा धानुषी धमनी Arcuate Arch of foot

३ गवीनी Ureter

B मूत्राशय Bladder

D महाप्राचीरा पेशी Diaphragm

धमनी के रक्तस्राव में दबाव देने के स्थान।

आगन्तुक रक्तस्राव में हाथ, पैर और मध्यकाय में चिह्न किये हुए स्थान के ऊपर तथा जानु और कण्ठ पर चिह्न के नीचे दबाव देना चाहिये।

४९ कपालमूलिनी Occipital

५० अनुशंखा Temporal

५१ अनुकण्ठिका Facial

५२ मातृका Carotid

५३ अक्षाधरा Subclavian

५४ कक्षाधरा Axillary

५५-५६ बाहवी Brachial

५७-५८ और्वी Femoral

५९ अंतः प्रकोष्ठीया Ulnar

६० बहिः प्रकोष्ठीया Radial

६१ ऊरु जानुपृष्ठिका Popliteal behind the knee

६२ पुरोजंघिका Anterior Tibial



❀ हरिः ॐ ❀

चिकित्सातत्त्वप्रदीप

उपोद्घात

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः सुस्थ इत्यभिधीयते ॥

सु० सं० उ० त० ६४॥

जिसके देह में वात, पित्त और कफ, ये दोष, अग्नि, रस-रक्तादि धातुएँ और धातुओं की मलक्रिया, ये सब सम हैं; तथा जिसकी आत्मा, मन और इन्द्रियें प्रसन्न हैं; वही स्वस्थ कहलाता है।

आयुर्वेद के ध्येयानुसार देह में रोग की प्रतीति न होना, इतने से ही पूर्ण स्वास्थ्य नहीं माना जाता। अनेकों के शरीर में रोग न होने पर बल, विचार-शक्ति और कर्त्तृत्व शक्ति में न्यूनता, विषय सेवन की अत्यन्त वासना तथा लोभ, ईर्ष्या, क्रोध, क्रूरता, शठतादि दुष्ट संस्कारों की प्रबलता दृष्टिगोचर होती है। जिससे उनके बुद्धि, मन और इन्द्रियों में प्रसन्नता नहीं रह सकती। अतः आचार्यों ने उनको अस्वस्थ ही माना है। जब तक आचार्यकथित पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति नहीं होती; तब तक दुःख का अभाव और सच्चे सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।

यद्यपि इस पूर्ण स्वस्थता को प्राप्त करने के अधिकारी संसार में बहुत कम होते हैं; तथापि लक्ष्य सर्वदा पूर्ण ही रखना चाहिये। इस

लक्ष्य की प्राप्ति शरीर निरोगी हो, तो ही हो सकती है; अन्यथा नहीं। इसी हेतु से आयुर्वेद का प्रादुर्भाव हुआ है।

आयुर्वेद में २ विभाग हैं। स्वास्थ्य-संरक्षण और रोग चिकित्सा। आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन स्वास्थ्य का संरक्षण और गौण प्रयोजन चिकित्सा है। इन दोनों प्रयोजनों की सिद्धयर्थ संस्कृत में अनेक संहिताएँ और प्रकरण ग्रन्थ लिखे गये हैं।

यदि कोई शङ्का करे, कि स्वास्थ्य रूप मुख्य प्रयोजन को सम्हालने का उपदेश दिया जाय, तो फिर चिकित्सा रूप गौण प्रयोजन के ज्ञान की आवश्यकता क्या है? किन्तु यह विचार निर्दोष नहीं है। कारण, मन में नाना प्रकार की वासनाएँ रहती हैं, जो वलात्कार से मन और इन्द्रियों को निषिद्ध विषयों की ओर खिंच जाती हैं; एवं विहित विषयों का भी अतियोग कराती रहती हैं। परिणाम में नाना प्रकार के रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। अतः समाज में चिकित्सा ज्ञान की भी आवश्यकता रहती है।

यदि अज्ञानवश किसी रोग की उत्पत्ति हो जाती है, तो शारीरिक बल क्षीण होता है, आयु में से महत्त्व का समय निरर्थक हो जाता है; धन की हानि होती है; मन चिन्तातुर रहने लगता है; आयु कम हो जाती है और क्वचित् अकाल मृत्यु की प्राप्ति भी हो जाती है। अलावा भावी सन्तान या वंशज रोगी और निर्बल होते हैं। कतिपय रोग ऐसे हैं, प्रयत्न करके दूर किया, फिर भी ध्रुव आरोग्य सम्पादित नहीं होता; देह पूर्ववत् सुदृढ़ नहीं होती; और व्याधि का बीज शेष रह जाता है। जिससे वही रोग कुछ समय बाद पुनः आक्रमण करता है।

जैसे जनता को अन्याय पूर्वक कष्ट पहुँचाने या दूसरे राष्ट्र के साथ विरोध करने पर देश में विरोधी दल की उत्पत्ति हो जाती है। फिर वह अपने पक्ष का बल बढ़ाने का सतत प्रयत्न करता रहता है, जिससे समग्र देश संतापित होता रहता है। ऐसे ही दैवी अटल नियमों को तोड़

कीटाणु प्रवेश कर रोगों को उत्पन्न करा देते हैं। फिर रोग स्वल्प समय में देह को नष्ट कर डालते हैं; अथवा कोई रोग जीर्ण रूप धारण कर इस काया नगरी में दीर्घ काल तक हाकिम या नवाव साहव बनकर देह, मन और इन्द्रियादिकों को पीड़ित करता ही रहता है।

कचित् एक रोग दूसरे रोग को उत्पन्न करा देता है; और आप भी निवास करता ही है। जैसे विषम ज्वर (Malaria) बाह्य दृष्टि से दूर हो जाने (दब जाने) पर स्रीहावृद्धि, अग्निमांद्य, आनाह, स्मरणशक्ति का अभाव, शिरदर्द, शारीरिक निर्बलता, आलस्य, निद्रावृद्धि, बेचैनी और रक्त के रक्ताणुओं की न्यूनतादि उपद्रव उत्पन्न करा देता है; और पुनः पुनः थोड़े-थोड़े समय पर वह मलेरिया भी दर्शन देता रहता है। उतना त्रास होने पर भी यदि लक्ष्य नहीं दिया जाय; तो दुःसाध्य उदर-रोग या क्षयादि को उत्पन्न करा देता है। इसी तरह इतर रोगों की परम्परा भी दुखदायी ही होती है। इस बात को जानकर कृपालु महर्षियों ने देववाणी में आयुर्वेद के गौण प्रयोजन (चिकित्सा) की सिद्धिवर्थ अनेक चिकित्सा-ग्रन्थों की रचना की है, किन्तु उन ग्रन्थों से सामान्य जनता लाभ नहीं उठा सकती। इसी हेतु से उन ग्रन्थों का आधार लेकर और पाश्चात्य विद्वानों के ग्रन्थों में से आवश्यक अंश मिलाकर प्रचलित देश भाषा में इस **'चिकित्सातत्त्वप्रदीप'** ग्रन्थ की रचना की है।

चिकित्सा करने के पहले रोगनिर्णय की आवश्यकता रहती है। अतः पहले रोग सम्बन्धी विचार करना चाहिये। सामान्य बुद्धिवाले चिकित्सक भी अचिरकाल में निदान करने की शास्त्र-शैली को सरलता पूर्वक ग्रहण कर सकें; इस हेतु से आयुर्वेद में रोगों के विभाग वात, पित्त, और कफ, के वैषम्य अनुसार किया है❀। इन व्याधियों के

❀ "रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता" (अ० हृ०)

Deviation of function or of structure from the normal.

दोषज, कर्मज और उभयज ऐसे ३ प्रकार हैं+। इनमें दोपज व्याधि के लिये चिकित्सा का उपयोग होता है; किन्तु कर्मज व्याधि केवल कर्म के क्षय से ही शान्त होती है। जैसे किसी को देव ब्राह्मणादि के शाप से कुष्ठ, जलोदरादि रोग हुये हों; तो वे रोग उनको प्रसन्न करने से ही दूर होते हैं। उभयज व्याधि दोष और कर्म के क्षय से नाश होती है; अर्थात् औषधि और पुण्यकर्म या ईश्वरोपासना, दोनों के सम्बन्ध से शान्त होती है।

इतर रीति से सुश्रुताचार्य ने व्याधियों के ७ प्रकार कहे हैं। आदि-बल प्रवृत्त, जन्म बल प्रवृत्त, दोष बल प्रवृत्त, संघात बल प्रवृत्त, काल-बल प्रवृत्त, देव बल प्रवृत्त और स्वभाव बल प्रवृत्त।

(१) आदि बल प्रवृत्त—माता-पिता के रज-वीर्य के दोष से उत्पन्न कुष्ठ, मधुमेह, क्षय, अर्शादि रोग।

(२) जन्म बल प्रवृत्त—सगर्भावस्था में माता की भूल या आघात से गर्भ में रहे हुए सन्तान को जन्मांधता, कुबडापन या पंगु-पनादि विकार हो जाना।

(३) दोष बल प्रवृत्त—पहले किसी व्याधि की उत्पत्ति हो जाने के पश्चात् दूषित धातु से उत्पन्न व्याधियाँ, और मिथ्या आहार-विहार से होने वाली व्याधियाँ।

(४) संघात बल प्रवृत्त—आगन्तुक व्याधियाँ। सर्प दंश, श्वान दंश, अस्थिभंगादि।

(५) काल बल प्रवृत्त—ऋतुपरिवर्त्तन या शीत, उष्ण, वर्षादि के प्रकोप से होने वाले रोग।

देव बल प्रवृत्त—विद्युत् आघात्, घर गिरने से दब जाना, पहाड़ पर से गिर जानादि।

स्वभाव बल प्रवृत्त—क्षुधा, तृषा, जरा, मृत्यु, निद्रादि विकार (इनमें दो विभाग हैं—काल कृत और अकाल कृत)।

+ कर्मप्रकोपजाः केचित्केचिद्दोपप्रकोपजाः।
कर्मदोषोद्भवाः केचिन्मनः कायस्थिता गदाः॥

दोषों की विषमावस्था को रोग और दोषों की समानावस्था को आरोग्य कहते हैं, इस दृष्टि से रोगों के निज (स्वसंपादित) और आगन्तुक, ये २ प्रकार हैं॥ मिथ्या आहार विहारादि से होने वाले रोगों को स्वसंपादित (Acquired) और वाह्य हेतु जन्य (चोट लगना, जल में डूबना, जलनादि) को आगन्तुक (External) कहा है।×

स्वसंपादित रोगों में शारीरिक (ज्वरादि) और मानसिक (क्रोध जन्य ज्वर, भयादि जन्य अतिसार, गर्भपात, मूर्च्छा, उन्मादादि) ये २ विभाग हैं। इन रोगों में कितनेक कर्मज (पूर्व जन्मार्जित या इस जन्म के पाप के हेतु से उत्पन्न) होते हैं।+ इन कर्मज व्याधियों को प्रायः असाध्य माना है। शेष रोगों में रोग, वल और जीवनीय शक्ति आदि का विचार कर सुखसाध्यता, साध्यता, कष्ट साध्यता, याप्यता या असाध्यता का निर्णय किया जाता है।

॥ "रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यमरोगता।
निजागन्तु विभागेन तत्र रोगा द्विधा स्मृताः। अ० हृ०

× इन आगन्तुक रोगों के पाश्चात्य विद्या में ४ विभाग हैं। (१) आघात जन्य (Mechanical) (२) आधिदैविक अर्थात् विद्युताघात, दूषित वायु आदि जन्य (Physical), (३) विष या तेजाव का सेवन या स्पर्श जनित (Intoxications) (४) कीटाणु प्रकोप जन्य (Parasites) इन्फ्ल्युएञ्जा, कॉलेरादि संक्रामक और संसर्गज रोग।

+ कर्मज रोगों में अनेक प्रकार हैं। कितनेक रोग माता-पिता के विकृत रजवीर्य (Ovum & spermatozoon) से उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे रोगों को वंशपरम्परागत या पूर्वज प्राप्त (Hereditary) कहते हैं। मधुमेह, अर्श, क्षय, ऊरुस्तम्भ, उपदंश (फिरंग), पूयमेह (सुजाक),कुष्ठ, रक्तपित्त, अपस्मार, उन्मादादि रोग बहुधा माता-पिता द्वारा संतानों को प्राप्त होते रहते हैं। कोई रोग (गूँगापनादि) एक दो पीढ़ी छोड़कर आ जाते हैं, ऐसी स्थिति को ॲटेविज्म (Atavism) कहते हैं। कितनेक वंशपरंपरागत रक्तपित्त (Haemophilia) आदि रोग केवल पुत्र परंपरा में ही आते हैं; पुत्र के समान पुत्री को नहीं होता। परन्तु पुत्री के पुत्र को फिर हो जाता है; और पुत्री की पुत्री को नहीं होता।

आयुर्वेद ने इन व्याधियों के विज्ञानार्थ निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय, सम्प्राप्ति, ये ५ ज्ञानोपाय कहे हैं॰। इन साधनों द्वारा रोगविनिश्चय कर चिकित्सा (Treatment) करनी चाहिये।

(१) निदान।

निमित्त, हेतु, आयतन, प्रत्यय, उत्थान, कारण और निदान, ये सब पर्याय शब्द हैं। इसको पाश्चात्य वैद्यक में इटियोलॉजी (Etiology) कहते हैं। जिन आहार-विहारादि कारणों से रोगों की उत्पत्ति या वातादि दोषों की क्षय-वृद्धि होवे, उनको रोग का निदान कहते हैं। जैसे मिट्टी खाने से पाण्डु रोग और मक्खी खाने से वमन होती है; अतः मिट्टी को पाण्डु का निदान और मक्षिकाभक्षण को वमन का निदान कहेंगे।

सन्निकृष्ट-विप्रकृष्ट निदान—इस निदान में सन्निकृष्ट (समीप) और विप्रकृष्ट (दूर) ऐसे-दो भेद हैं। जैसे कुपित वातादिक दूसरों की अपेक्षा किये विना ज्वरादि को उत्पन्न करते हैं; अतः ये सन्निकृष्ट कारण हैं; और हेमन्त ऋतु में संचित कफ को शिशिर ऋतु प्रकुपित करती है, अतः यह विप्रकृष्ट कारण है। किसी-किसी समय एक रोग ही अन्य रोग का कारण होता है। जैसे फोड़ा पकने पर ताप, प्लीहा वृद्धि से उदर रोग, उदर रोग से शोथ रोग, जुखाम से कास, कास से क्षय इत्यादि। इन रोगों का निदान करने पर मूल व्याधियों के कारणों को परंपरागत हेतु होने से विप्रकृष्ट कारण माना है।

पुनः आचार्यों ने व्यभिचारी और प्राधानिक भेद से अन्य दो कारण कहे हैं।

कितनेक गर्भाशय सम्बन्धी विकार एवं इतर रोग पुत्रीपरंपरा में ही जाते हैं; पुत्रों को नहीं। कतिपय रोग गर्भावस्था में माता की भूल से उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे रोगों को गर्भज (Congenital) कहते हैं। अनेक समय गर्भावस्था में या संतान के जन्म के समय पर भूल हो जाने से शरीर में व्यंग (Malformations) हो जाते हैं।

॰ निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।
संप्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम् ॥ मा० नि० ॥

व्यभिचारी निदान—× जो सर्वत्र निश्चितरूप से रोग का कारण न हो सके, अर्थात् जो बलवानों को बाधा न पहुँचा सके, मात्र निर्बलों को रोग की उत्पत्ति करादे, वह व्यभिचारी निदान कहलाता है।

प्राधानिक निदान—विषादि प्रयोग से प्रकृति में विकार होना, यह प्राधानिक हेतु कहलाता है। पुनः इस निदान का असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध और परिणाम भेद से ३ प्रकार होते हैं।

(१) असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग—विषयों (रूप-रसादि) का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होने में अयोग (हितकर विषयों का सम्बन्ध न होना), अतियोग (अति विषय सेवन), या मिथ्या योग (हानिकर विषयों का सेवन), ये हेतु होते हैं।

(२) प्रज्ञापराध—मिथ्या ज्ञानादि प्रमाद वश ब्रह्मवध, और गोवधादि अधर्म का इसमें अंतर्भाव हो जाता है।

(३) परिणाम—शीत, उष्ण और वर्षादि ऋतु के अयोग, अतियोग या मिथ्यायोग से रोगोत्पत्ति होती है। निदान के दोषहेतु, व्याधिहेतु और उभयहेतु, ऐसे त्रिविध भेद भी हो सकते हैं।

दोषहेतु—वसंतादि ऋतु भेद से उत्पन्न मधुरादि रसों से दोषों के क्षय-वृद्धि प्रकोप, प्रशमादि होकर रोगों की उत्पत्ति होती है। अतः इन रसों को दोष के हेतुरूप कहा है।

व्याधिहेतु—मृत्तिका-भक्षण, यह वमन का और मिट्टी खाना, यह पाण्डु रोग का कारण है। यद्यपि भिन्न-भिन्न प्रकार की मिट्टी खाने से

× यद्यपि व्यभिचारी कहकर निदान कहने में अव्याप्ति (निदान के लक्षण का व्यभिचारी की व्याख्या में अप्रवेश) दोष की उत्पत्ति होती है; तथापि पाठकों के बोध के लिये सदोष होने पर भी श्री हरिश्चन्द्राचार्य का वचन उद्धृत किया है। मात्र "बाह्यं निमित्तं निदानम्" यह निदान का लक्षण अव्याप्ति, अति व्याप्ति (लक्षण का लक्ष्य से बाहर के पदार्थों में भी प्रवेश हो जाना) और असंभव, इन तीनों दोषों से रहित है। इस लक्षण में सन्निकृष्ट, विप्रकृष्ट और प्राधानिक, तीनों प्रकार के निदान का और मसूरिका, क्षय, कुष्ठादि औपसर्गिक रोगों के कारण रूप कीटाणुओं का भी अन्तर्भाव हो जाता है।

वात, पित्त या कफ, इनमें से एक दोष प्रकुपित होता है; तथापि भिन्न-भिन्न दोष प्रकुपित होने पर भी पाण्डु रोग की ही उत्पत्ति होती है; अन्य रोग की नहीं। अतः मिट्टी में पाण्डु रोग की व्याधिहेतुता कही है।

चातुर्थिक ज्वर शमन होने पर (विष या कृमिरूप वीज सूक्ष्मांश में शेष रह जाने पर) गुड़ मिला हुआ भोजन या अन्य अपथ्य वस्तु का सेवन होने से पुनः विषम ज्वर आजाता है। मोतीझरा शमन होने पर अन्त्रस्थ विष नष्ट होने से पहले सूर्य के ताप में अधिक भ्रमण होने पर पुनः विष प्रकुपित होकर मधुराज्वर आजाता है। अतः ये भी व्याधिहेतुता के ही उदाहरण हैं।

उभयहेतु—सुश्रुत संहिता निदानस्थान के प्रथमाध्याय में वात-रक्त के निदान में कहा है, कि हाथी घोड़ादि सवारी पर अधिक प्रवास करने से या अन्य वातप्रकोपक कारणों से वायु कुपित होती है; और तीक्ष्ण, गरम, खट्टे, खारे, भोजन या क्रोधादि से रुधिर दुष्टता को प्राप्त होकर वायु के मार्ग में प्रतिवन्ध करता है। फिर कुपित वायु दुष्ट रक्त को और भी दूषित कर देती है। इस तरह दोष और व्याधि, दोनों के प्रकोपक कारणों को उभयहेतु कहते हैं।

इस उभय हेतु को भिन्न कहने का कारण यह है, कि अनेक प्रसंगों पर मात्र व्याधिनाशक औषधि नहीं दी जाती। अपितु दोष शामक और व्याधिनाशक, दोनों गुण युक्त औषधि देनी चाहिये। औषधियों की शक्ति मर्यादित होने से सब अपनी-अपनी शक्ति अनुसार कार्य करती हैं। अतः कारणभूत दोष की निवृत्ति करने से कार्यभूत व्याधि की निवृत्ति सर्वत्र हो ही जायगी, ऐसा नहीं कह सकेंगे। अनेक समय रोग के कारण को दूर करने का उपाय सीधी रीति से नहीं हो सकता; अतः पहले कार्य रूप रोग को नष्ट करने के लिये ही चिकित्सा की जाती है। जैसे—श्लेष्म प्राधान्य तिमिर रोग में रोगशामक औषधि दी जाती है, परन्तु श्लेष्म नाशक वमन नहीं कराया जाता। इसलिये भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत संहिता में लिखा है, कि—

"न वामयेत्तैमिरिकोर्ध्ववातगुल्मोदरप्लीहकृमिश्रमार्तान् ॥"

अर्थात् तिमिर रोग, ऊर्ध्ववात, गुल्म, उदर रोग, प्लीहा वृद्धि, कृमि रोग और श्रम पीड़ित इन रोगों से युक्त रोगियों को वमन नहीं कराना चाहिये। अतः सब प्रकार के रोगों में कार्य दूर होने के साथ कारण, या कारण दूर होने पर कार्य दूर हो ही जाय, ऐसा नियम नहीं है। (इसीलिये उभयहेतु रूप विभाग पृथक् दिखाया गया है)।

उत्पादक और व्यञ्जक हेतु—उत्पादक और व्यंजक भेद से द्विविध हेतु हैं। जैसे हेमन्त ऋतु में मधुर रस कफ की उत्पत्ति करता है, अतः वह उत्पादक हेतु है; और उस कफ संचय की प्रेरक वसन्त ऋतु होने से उसको व्यंजक हेतु कहा है।

बाह्य आभ्यन्तर हेतु—बाह्य और आभ्यन्तर भेद से निदान के २ प्रकार हैं। आहार, आचार, कालादि बाह्य हेतु और दोष-दूष्यों को आभ्यन्तर हेतु माना है।❀

बाह्य हेतुओं से वात, पित्त और कफ धातुओं का प्रकोप शमनादि होते रहते हैं। इनमें प्रकोप हेतु निम्नानुसार तीसटाचार्य ने लिखा है।

वातप्रकोपक हेतु—व्यायाम, अपतर्पण, गिरना, कूदना, तैरना, अति चलना, चोट लगना, धातुक्षय, जागरण, मलमूत्रादि वेग का धारण, चिन्ता, शोक, भय, त्रास, शीतकाल, रूक्ष, कसैली, कड़वी और चरपरी वस्तु का सेवन, आकाश में बादल आजाना, प्रावृट् ऋतु आदि हेतुओं से, भोजन पच जाने पर तथा रात्रि और दिन के तीसरे प्रहर में वायु प्रकुपित होती है। भोजन पर भोजन, अल्पभोजन, असमय पर

❀ यथार्थ में दोष-दूष्य, ये समवायी (उपादान) कारण हैं; निमित्त कारण नहीं हैं। जैसे घट बनाने के लिये मिट्टी उपादान कारण और कुम्हार निमित्त कारण है। वैसे ही यहाँ पर दोष-दूष्यों को उपादान कारण और दोष-दूष्यों में विकार उत्पन्न कराने वाले मिथ्या आहार विहार को निमित्त कारण माना जायगा। इस विषय में श्री वंगसेनाचार्य ने स्पष्ट लिखा है, कि—

येनाहारविहारेण रोगाणामुद्भवो भवेत्।
क्षयोवृद्धिश्च दोषाणां निदानं हि तदुच्यते॥

इस वचन से निदान का भेद स्पष्ट अवगत हो जाता है।

भोजन, उपवास, अतिवमन, अतिविरेचन, रक्त निकालना, पूर्व दिशा की वायु, हिम पड़ना इत्यादि कारणों से भी वातप्रकोप होता है।

पित्तप्रकोपक हेतु—चरपरी, खट्टी, गरम, विदाही, तीक्ष्ण, नमकीनादि वस्तुओं का भोजन, क्रोध, उपवास, सूर्य के ताप का सेवन, स्त्री-सहवास; तिल, अलसी, दही, शराव, सिरका और काँजी आदि का सेवन इनके अतिरिक्त भोजन के मध्य और पचनकाल में शरद, ग्रीष्मऋतु, मध्याह्नकाल और अर्धरात्रि के समय में तथा क्षुधा-तृषा को रोकने पर भी पित्तप्रकोप हो जाता है।

कफप्रकोपक हेतु—गुरु, मधुररस, अम्ल, स्निग्ध, उड़दादि पदार्थ, भैंस आदि का दूध, ईख, द्रवपदार्थ, दही, दिन में निद्रा, शीतल पदार्थ, अधिक घृतवाला भोजन और ठण्ड लग जाना। अलावा रात्रि और दिन का प्रारम्भकाल, भोजन कर लेने पर तथा वसन्त ऋतु, इन हेतुओं से भी कफप्रकोप हो जाता है।

इनमें कुपित दोष का प्राकृतादि भेद करने से अनेक प्रकार होते हैं। यथाहि—वसन्त में कफ, शरदऋतु में पित्त, प्रावृट्ऋतु में वात, ये प्राकृत्ति भेद हैं। और वसन्त में पित्त या वातप्रकोप, वर्षाऋतु में कफ या पित्त-प्रकोप, शरद में कफ या वातप्रकोपादि विकृत भेद हैं। इनमें प्राकृत रोग प्रायः सुखसाध्य और विकृत रोग कष्टसाध्य होते हैं।

अनुवन्ध्य-अनुवन्ध निदान—निदान के अनुवन्ध्य (प्रधान) और अनुवन्ध (गौण या उपद्रव) भेद से दो प्रकार होते हैं। इन विभागों का यह प्रयोजन है, कि संसर्गज व्याधियों में उपद्रवों से विरोध न हो उस रीति से मुख्य रोग शामक चिकित्सा करनी चाहिये। जिससे प्रधान रोग के शमन से वहुधा उपद्रव भी दूर हो जाते हैं। उपद्रवशमनार्थ पृथक् चिकित्सा की सर्वत्र आवश्यकता नहीं रहती।

किन्तु प्रकृति अनुरूप रोग कष्टसाध्य और प्रकृति से प्रतिकूल रोग सुखसाध्य होते हैं। जैसे वातप्रकृति वालों को वातरोग प्रकृति के अनुरूप होने से कष्टसाध्य है; किन्तु कफ या पित्त प्रकृति वालों को प्रकृति के विरुद्ध होने से सुखसाध्य होता है। एवं हेतु, पूर्वरूप और रूप

अल्प प्रमाण में हों और व्याधि आरम्भक दोप उत्कट न हो, तो रोग को सुखसाध्य माना है। (च० सं० सू० अ० १० । ११)

क्वचित् दोप अपना स्थान छोड़ कर स्थानान्तर में गमन करता है; तब सम स्थिति में रहने पर—विकृत न होने पर भी विकार को उत्पन्न करता है। जैसे पित्त प्रकृतिस्थ होने पर और कफ का क्षय होने पर जब वात प्रकुपित होकर पित्त को इतर स्थान में ले जाय; तब पित्त वढ़ा हुआ ही माना जाता है। कारण, वहाँ पर गात्रभेद, दाह, श्रम, दुर्बलत्वादि उपद्रवों की उत्पत्ति कराता है। इस उदाहरण का तात्पर्य यह है, कि यहाँ पर वातधातु में वैगुण्य उत्पन्न हुआ है, अतः उसी को स्वस्थान में लाना चाहिये, नहीं कि पित्त का ह्रास करना। परन्तु जो चिकित्सक मूढ़तावश पित्त वढ़ा हुआ मानकर पित्त विरेचन या पित्त ह्रास कारक उपचार करता है; वह नूतन रोग सृष्टि को उत्पन्न करता है। इस हेतु से दोपों के स्थान और क्षय वृद्धि को जान करके ही चिकित्सा करनी चाहिये।

शास्त्राचार्यों ने दोपों की क्षय, समानता और वृद्धि, त्रिविध गति कही है। इनमें दोप प्रवृद्ध होने पर अपने वल अनुसार अपने गुणों को प्रदर्शित करते हैं; अर्थात् नाना प्रकार की पीड़ा उत्पन्न करते हैं। धातु क्षय होने पर अपने प्रभाव को नहीं दिखा सकती; फिर भी साम्यावस्था का भंग होने से प्रकृति में विकार हो जाता है। जब तक धातुएँ साम्यावस्था में रहें; तब तक ही अपने-अपने कार्य को सम्यक् प्रकार से कर सकती हैं। अतः चिकित्सकों को चाहिये, कि क्षीण धातु को पुष्ट वनावें; कुपित हुई का शमन करें; वहुत वढ़ी हुई को निकाल दें; और साम्यावस्था में रही हुई धातु का संरक्षण करें।

इनमें दोपों को निकालने में विशेपतः वमन और विरेचन का उपयोग किया जाता है। परन्तु वमन विरेचन का उपयोग कहाँ करना और कहाँ न करना, इसके लिये भी नियम वनाया है। जैसे रक्तपित्त में ऊर्ध्वगति हो, तो विरेचन और अधोगति है, तो वमन कराना चाहिये। अर्थात् रक्तपित्त में प्रतिमार्ग से दोप को निकालना चाहिये। जो चिकित्सक

इस गति को न जानने से अधोरक्त पित्त में विरेचन अथवा ऊर्ध्व रक्तपित्त में वमन कराता है, वह अनर्थ ही करता है। इसलिये ज्वरादि रोगों में और तिर्यक् दोष गति में शास्त्राज्ञा अनुसार वमनादि क्रिया करानी चाहिये।

क्वचित् बढ़े हुए दोष कोष्ठ (आमाशयादि), शाखा (रक्तादि धातु और त्वचा), मर्म, अस्थि या सन्धि आदि भिन्न-भिन्न भाग का आश्रय लेकर पीड़ा उत्पन्न करते हैं। इनमें स्थानभेद से चिकित्सा में भेद हो जाता है। यथाहि—आमाशयस्थ वातप्रकोप होने पर स्थान की अपेक्षा से (आमाशय कफ का स्थान होने से) पहले रूक्ष स्वेद दें। पश्चात् वातप्रकोप शमनार्थ स्निग्ध क्रिया करें। इस तरह पक्वाशय में कफ वृद्धि होने पर कफ नाश कराने के पहले स्निग्ध चिकित्सा करनी चाहिये।

एक ही प्रकार का दोष भिन्न-भिन्न स्थान में भिन्न-भिन्न व्याधियों की उत्पत्ति कराता है। जैसे रस-रक्त में प्राप्त दोष सतत ज्वर, मांस में व्याप्त होने से अन्येद्युष्क, मेदोगत होने पर तृतीयक, और अस्थि या मज्जाश्रित होने पर चातुर्थिक ज्वर को उत्पन्न कराता है। इनकी चिकित्सा करने के पहले निर्णय करना चाहिये, कि यह दोष आम सहित है या आम रहित। यदि विकार आम सहित है, तो स्रोतसों का रोध, बलनाश, शरीर में भारीपन, वायु का सम्यक् संचार न होना, आलस्य, अपचन, मुँह में थूक ज्यादा आना, मलावरोध, ग्लानि इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं; और निराम (आमरहित) है, तो ये उपद्रव नहीं होते हैं। इस आम का वात, पित्त या कफ के साथ अनुबन्ध होता है। इस हेतु से अनुबन्ध अनुसार भिन्न-भिन्न लक्षण प्रतीत होते हैं।

साम निराम वात लक्षण—वात प्रकोप के साथ जब आम का सम्बन्ध होता है, तब मलावरोध, मन्दाग्नि, तन्द्रा, अन्त्र में वायु की गुड़गुड़ाहट, नाना प्रकार की वेदना, शोथ और सुई चुभाने समान पीड़ादि लक्षण होते हैं। उस समय यदि स्नेहादि उपचार किया जाय, तो और दर्द बढ़ जाता है। फिर जब लङ्घनादि उपचार से वात दोष निराम होकर विशद, रूक्ष और बन्धन रहित हो जाता है; तब पीड़ा मन्द हो जाती है; और स्निग्धादि उपचारों से शमन हो जाता है।

सामनिराम पित्त लक्षण—आम सहित पित्तप्रकोप हुआ हो, तो प्रस्वेद में दुर्गन्ध, शिरदर्द, वेचैनी, अरुचि, दुर्गन्धयुक्त गरम, हरा, नीला, चरपरा, खट्टा और कड़वा पित्त गिरना, भारीपन, कंठ और हृदय में दाह तथा खट्टी दुर्गन्धयुक्त डकारादि उपद्रव प्रतीत होते हैं। फिर आमदोप जब जल जाता है, तव पित्त दुर्गन्ध रहित वन जाता है; रुचि उत्पन्न कराता है और शारीरिक स्फूर्ति तथा वल प्रदान कराता है।

सामनिराम कफ लक्षण—कफ दोष आमसहित होने पर कफ में दुर्गन्ध, क्षुधानाश और डकार आने में प्रतिवन्ध होना ये उपद्रव होते हैं। फिर निराम होने पर कफ दुर्गन्ध रहित होकर सरलता से बाहर आ जाता है; तथा तन्द्रा, निद्रा और आलस्य कम हो जाते हैं।

इन लक्षणों से सामनिराम दोष को जानकर सामावस्था हो, तो पाचन और निरामावस्था हो, तो दोपशामक औषधि की योजना करनी चाहिये। यदि विशेष विचार किया जाय, तो ये वातादि दोष परस्पर न्यूनाधिक प्रमाण में मिश्रित होने से अनेक प्रकार के हो जाते हैं। भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत संहिता में इनके ६२ भेद दिखाये हैं। ग्रन्थवृद्धि के भय से अत्र नहीं लिखे।

उपरोक्त भेद अनुसार निदान के निकट, दूर, व्यभिचारी, प्राधानिक, ये चार हेतु; असात्म्य इन्द्रियार्थ संयोग, प्रज्ञापराध, परिणाम ये तीन प्रकार; दोप हेतु, व्याधि हेतु और उभय हेतु रूप त्रिविध भेद; व्यञ्जक और उत्पादक हेतु; वाह्य आभ्यन्तर प्रकार; प्राकृत वैकृत भेद; अनुबन्ध्य अनुवन्ध भेद; प्रकृति-अप्रकृति योग से भेद; स्वस्थान और परस्थान प्रवेश जनित विभाग तथा सामनिरामावस्था, इन सव विभागों को जान कर समयानुरूप उचित चिकित्सा करनी चाहिये।

(२) पूर्वरूप।

जिस लक्षण से उत्पन्न होने वाले रोग का ज्ञान हो जाय, उसे "पूर्वरूप" (प्रोड्रोमल सिम्पटम्स Prodromal Symptoms) कहते हैं। यह पूर्वरूप स्वसंपादित रोगों में प्रतीत होता है, परन्तु आगन्तुज

रोगों में प्रतीत नहीं होता। कारण धातुवैषम्यता रोग संप्राप्ति से पूर्व-काल में नहीं होती।

पूर्वरूप के दो प्रकार हैं—सामान्य और विशेष। इनमें जिससे भावी व्याधि विशेष का बोध हो; किन्तु वातादि दोषजन्य विशेष चिह्न न हो, वह सामान्य लक्षण कहलाता है। जैसा सुश्रुताचार्य ज्वर के सामान्य पूर्वरूप में कहते हैं, कि:—"श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः।" (उत्तरतन्त्र अ० ३९। २२) अर्थात् थकावट-सी मालूम होना, बेचैनी, निस्तेजता, मुँह का स्वाद चला जाना, नेत्र में जल आ जानादि लक्षणों पर से ताप आने का अनुमान हो जाता है। परन्तु किस जाति का ताप आवेगा, यह निर्णय नहीं हो सकता; अतः यह सामान्य पूर्वरूप है।

विशेष पूर्वरूप उसे कहते हैं, कि होनहार रोगारम्भक दोष लक्षण के अंश विशेष की प्रतीति हो। जैसे—वात ज्वर के पूर्व जम्भाई बार-बार आती रहे; पित्तज्वर के पूर्व नेत्रदाह ज्यादा हो; और कफ ज्वर के पूर्व भोजन में अधिक अरुचि, शरीर में भारीपनादि चिह्नों (इतर रोगों से भिन्नता दिखाने वाले लक्षणों) की स्पष्ट प्रतीति होती हो; तब इन लक्षणों पर से ज्वर की जाति का बोध भी हो जाता है; अतः वे विशेष लक्षण कहलाते हैं।

इस विशेष पूर्वरूप को भी रूप नहीं कहा। क्योंकि, यह तो व्याधि आरम्भक दोष मात्र का सूक्ष्म चिह्न है। जैसे तृणसमूह में अग्नि की चिनगारी गिर जाने से प्रारम्भ में थोड़ा-थोड़ा धूम निकलने लगता है। इसको यदि शमन करना चाहें, तो क्षण मात्र में हाथ-वस्त्रादि से शान्त कर सकते हैं, परन्तु अग्नि प्रचण्ड रूप से प्रज्वलित हो जाने पर सत्वर शान्त नहीं हो सकती। वैसे ही रोगारम्भक दोष लक्षण के एकमात्र व्यक्त विशिष्ट पूर्वरूप के समय थोड़ी-सी चिकित्सा करने पर भावी व्याधि का शीघ्र उपशम हो जाता है। किन्तु पूर्णरूप प्रकाशित होने पर व्याधि सत्वर शमन नहीं हो सकती। यह पूर्वरूप और रूप, इन दोनों में भेद है।

अनेक समय पूर्वरूप प्रतीत होने पर भी अमुक रोग का ही

पूर्वरूप है, ऐसा बोध नहीं होता। व्याधि का प्रत्यक्ष होने पर स्मरण होकर बोध हो जाता है। जैसे दाँतों पर मैल जमनादि चिह्न दृष्टिगोचर होने पर भी प्रमेह के पूर्वरूप का निश्चय नहीं हो सकता, प्रमेह की उत्पत्ति होने पर प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष होता है। कचित् स्मरण के अतिरिक्त परिचित जनों के उपदेश से जाना जाता है।

इस पूर्वरूप में अन्य रीति से शारीरिक, मानसिक और उभय मिश्रित, यह त्रिविधता अष्टाङ्ग हृदय के टीकाकार अरुणदत्ताचार्य ने दिखलाई है। जैसे ज्वर में आलस्य, जम्भाई, भारीपनादि शारीरिक (शरीर से सम्बन्ध रखने वाले) पूर्वरूप; व्याकुलता, हितोपदेश पर अश्रद्धा, चिन्तादि मानसिक पूर्वरूप; तथा खट्टे, खारे, चरपरे आदि अपथ्य सेवन में प्रीति और स्वादु पथ्य भोजन में अप्रीति होकर हानिकर पदार्थ का सेवन करनादि लक्षण शारीरिक-मानसिक होने से उभय मिश्रित पूर्वरूप कहलाते हैं।

(३) रूप

रोग का पूर्वरूप जो अव्यक्त—अनुद्भूत था, वही जब उद्भूत हो जाय (स्पष्ट दीखने लगे) तब उसे "रूप" सिम्पटम्स एण्ड साइन्स (Symptoms and signs) कहते हैं। इस रूप के संस्थान, व्यञ्जन, लिङ्ग, लक्षण, चिह्न और आकृति पर्याय शब्द हैं। जैसे शरीर उष्ण होना, नेत्रदाह, प्रस्वेद, निद्रानाश, उबाक, वमन, प्यास, पतले दस्तादि चिह्नों से पित्त प्राधान्य ज्वर का बोध होता है; अतः उन्हें रूप कहा है।

इस रूप की व्याख्या में अरुणदत्ताचार्य कहते हैं, कि मात्र शारीरिक चिह्न व्याधि अनुबन्धि होने से ग्रहण करें। मानस और शारीर-मानस दोनों अस्थायी होने से नष्ट भी हो जाते हैं। अतः वे नियम पूर्वक व्यक्त भाव को प्राप्त नहीं होते।

(४) उपशय।

औषधि, आहार और विहार, जो रोगी की प्रकृति के अनुकूल हों, और रोग को शमन करें, वे उपशय कहलाते हैं। इस उपशय को सात्म्य भी कहते हैं। इन सब औषधादि उपशय के ६-६ भेद हो जाते हैं।

(१) **हेतु विपरीत**—बाह्याभ्यन्तर हेतु से विपरीत औषध, अन्न और विहार।

(२) **व्याधि विपरीत**—ज्वरादि रोगों के विपरीत औषध, अन्न और विहार।

(३) **हेतु व्याधि विपरीत**—कारण और कार्य, उभय से विपरीत औषधादि।

(४) **हेतु विपर्यस्तार्थकारी**—हेतु विपरीत और अर्थकारी अर्थात् व्याधि के हेतु नाशक औषधादि।

(५) **व्याधि विपर्यस्तार्थकारी**—व्याधिविपरीत और अर्थकारी औषधादि।

(६) **हेतु व्याधिविपर्यस्तार्थकारी**—निदान और रोग, दोनों से विपरीत औषधादि। हेतु रूप या व्याधिकारक अथवा निदान या व्याधि में सहायक-सा भासते हों, फिर भी अर्थकारी (व्याधिशामक) औषध, अन्न और विहार।

इस तरह के औषध (हरीतकी आदि), अन्न (रक्तशालि आदि) और विहार (वाणी, देह और मन से होने वाली चेष्टा व्यायाम, व्यवाय, जागरण, अध्ययन, गीत, भाषण, धारणादि रूप), इनका सेवन सुखकारक (रोग प्रशमनकारक) हो, तो इनको रोग का "उपशय" और "सात्म्य" कहते हैं (औषधादि के साथ देशकाल का भी अन्तर्भाव वाग्भट्टाचार्य ने किया है)। सुखावह कहने में यह प्रयोजन है, कि वे प्रकृति के अनुकूल और रोग प्रशमनकारक होने चाहिये।

जैसे दाह युक्त तृषा में शीतल जल उपशय माना जायगा; परन्तु दाह और प्यास युक्त नूतन सामज्वर में शीतल जलपान और दही का सेवन रोगी को सुखकर प्रतीत होने पर भी व्याधिवर्धक होने से शास्त्र-दृष्टि अनुसार हानिकर है। अतः इनको उपशय नहीं कह सकेंगे। अपथ्यजन्य सुख का उपशय में अन्तर्भाव नहीं हो सकेगा। व्याधि, प्रकृति, देश और कालादि भेद से उपशय रूप माने हुए औषध, अन्न

और विहार अनुपशय रूप हो जाते हैं। अतः इनकी योजना विचार-पूर्वक करनी चाहिये।

(१) हेतु विपरीत औषधि—शीतज्वर में सर्दी दूर करने के लिये शुण्ठ्यादि क्काथ। गुरु, स्निग्ध, शीत से उत्पन्न व्याधि में लघु, रूक्ष और उष्ण औषध। संतर्पण से उत्पन्न व्याधि में अपतर्पण तथा अपतर्पण से उत्पन्न में संतर्पण चिकित्सा। ये सब औषधियाँ रोगों के हेतु को नष्ट करनेवाली होने से इनको हेतु विपरीत औषधियाँ मानी हैं।

(२) व्याधि विपरीत औषधि—कफज ताप में घृतपान, अतिसार में पाठादि औषधि, विष में शिरीष, कुष्ठ में खदिर, प्रमेह में हल्दी तथा मृदुज्वर में नागरमोथा और पित्तपापड़ा का क्काथ। ये सब दोष की अपेक्षा किये बिना अपने प्रभाव से ही रोगों को शमन करती हैं। अतः ये सब **व्याधि विपरीत औषधियाँ** कहलाती हैं।

(३) हेतु व्याधि (उभय) विपरीत औषधि—वातजशोथ में दशमूल क्काथ के सेवन से वात विकार और शोथ, कारण-कार्य, दोनों शमन होते हैं। अतः ऐसी औषधियों को **हेतु व्याधि विपरीत** कही है।

(४) हेतु विपरीत अर्थकारी औषधि—पित्तप्राधान्य व्रण की सूजन में गर्म-गर्म पुलटिश बाँधना। यद्यपि इस चिकित्सा में उष्णता वृद्धिरूप कारण जन्य पित्तशोथ होने से गर्म उपचार हेतु विरुद्ध है; तथापि औषधि उष्णता को बढ़ाकर रोग के हेतु को नष्ट करने में सहायता पहुँचाती है। इसलिये यह **हेतु विपरीत अर्थकारी** है।

(५) व्याधि विपरीत अर्थकारी औषधि—दूषित भोजन से उत्पन्न वमन रोग में वमन कराने वाली मदनफल (मैनफल) आदि औषधि देना अथवा पित्तातिसार रोग में एरंड तैल या दूध से विरेचन कराना, ये अपने-अपने रोगोत्पादक दोषों को निकाल कर व्याधियों को दूर करती हैं। अतः ये **व्याधि विपरीत अर्थकारी औषधियाँ** कहलाती हैं।

(६) हेतु व्याधि विपरीत अर्थकारी औषध—अग्नि

से जले हुए भाग पर सेक, उष्ण गुणवाली अगरादि औषधियों से सिद्ध तैल, मलहमादि की पट्टी या लेप को गरम करके लगाने में उष्ण रस वाली औषधि गरम की जाती है, यह पित्तप्रकोप रूप हेतु और रोग (अग्निदग्ध व्रण) दोनों से विपरीत होने पर भी रोगप्रशमनकारक है। (शीतल उपचार का वहाँ पर निषेध किया है)।

जंगम विषप्रकोप में स्थावर विष, और स्थावर विषप्रकोप में जंगम विष का उपचार करना (कारण, जंगम विष और स्थावर विष क्रमशः ऊर्ध्वगति और अधोगति वाले हैं; अर्थात् परस्पर दोनों एक दूसरे से विरुद्ध प्रभाव वाले हैं)। ये हेतु और व्याधि, दोनों से विपरीत होने पर भी हितावह हैं। अतः ऐसी औषधियों को हेतु व्याधि विपरीत अर्थकारी कहा है।

(७) हेतु विपरीत आहार—परिश्रम और वात प्रकोप से उत्पन्न ज्वर में मांस रस और भात।

(८) व्याधि विपरीत आहार—कफज ज्वर में यवागू; सब प्रकार के ज्वर में जीर्ण लाल चावल और यवादि में से बना भोजन; अतिसार रोग में स्तम्भन कारक मसूरादि भोजन।

(९) हेतु व्याधि विपरीत आहार—वातकफज ग्रहणी रोग में वातकफशामक और ग्रहणीनाशक तक्र। शीतसह वातप्रकोपजन्य नूतन ज्वर में यवागू दीपन, लघु और उष्ण वीर्य होने से वात को और अपने प्रभाव से ज्वर को भी हरती है।

(१०) हेतु विपरीत अर्थकारी आहार—पैत्तिकशोथ में दाह कारक भोजन विरुद्ध भासमान होने पर लाभदायक है।

(११) व्याधि विपरीत अर्थकारी आहार—दूषित अन्न से उत्पन्न वमन रोग में शालि आदि भोजन और पैत्तिक अतिसार में विरेचक दूधादि का सेवन व्याधि से विपरीत होने पर भी अर्थकारी है।

(१२) हेतु व्याधि विपरीत अर्थकारी आहार—अत्यन्त मद्यपान करने से उत्पन्न मदात्यय रोग में फिर से विधिवत् मर्यादा पूर्वक उसी मद्य का सेवन कराना (सु० सं० उ० अ० ४७)।

(१३) हेतु विपरीत विहार—दिन में शयन से उत्पन्न कफ-वृद्धि में हेतु से विपरीत रात्रि का जागरण और रात्रि में जागरण से उत्पन्न व्याधि में दिन में शयन। व्यायामजनित श्रम में विश्रान्ति और आसनसुखजनित विकार में व्यायाम।

(१४) व्याधि विपरीत विहार—पाली के ताप में ताप आने के समय को भुलाने के लिये अन्य विषय में मन को लगा देना और उदावर्त्त रोग में शब्दपूर्वक हृदय और कण्ठ के वल से वायु को अधोदेश में प्रवाहित करनादि। श्री० वाप्यचन्द्राचार्य ने मन्त्र, औषधिधारण, देववलि, नियमपालन, प्रायश्चित्त, होम और गुरु-देवादि की सुश्रूषा इत्यादि को भी व्याधि विपरीत विहार कहा है।

(१५) हेतु व्याधि विपरीत विहार—दिन में शयन करने के अभ्यास से उत्पन्न स्निग्ध तन्द्रा में रात्रि को तन्द्राविपरीतरूक्ष (स्निग्धतानाशक) जागरण।

(१६) हेतु विपरीत अर्थकारी विहार—वात प्रकोपजन्य उन्माद रोग में भय दिखाना और त्रास (दुःख) देनादि (भय और त्रास, दोनों वातप्रकोपक होने पर भी उन्माद में हितकारक हैं)।

(१७) व्याधि विपरीत अर्थकारी विहार—अजीर्ण या विष जनित वमन होने पर गले में अँगुलियाँ, मयूरपुच्छ या कमल नाल डाल कर वमन कराना इत्यादि।

(१८) हेतु व्याधि विपरीत अर्थकारी विहार—व्यायाम जनित मूढवात और ऊरुस्तम्भ में जल में तैरना। जल प्रतरण में जल की शीतलता के कारण से आन्तर की उष्णता वाहर नहीं निकल सकती; आन्तर में ही प्रवेश करती है। ताकि मेद और कफ का शोषण हो जाता है, और संचित जमा हुआ रक्त फैल जाता है। इस तरह व्यायाम से भी दोनों का शोषण हो जाता है और वायु निरावरण होकर स्वमार्ग में गमन करने लगता है। अतः ये हेतु व्याधि विपरीत अर्थकारी विहार कहलाते हैं।

इस रीति से अन्य सव रोगों के लिये व्यवस्था करें। जो शास्त्रमर्यादा

अनुसार विहित हों, वे ही उपशय कहलाते हैं। जो औषधि, आहार और विहार उपर्युक्त नियम से विपरीत हों, भावी रोग के उत्पादक या हानिकर हों, उन सबको शास्त्रकारों ने अनुपशय (असात्म्य) कहा है।

(५) सम्प्राप्ति।

व्याधिजनक दोष के व्यापार विशेषसहित व्याधिजन्म को सम्प्राप्ति पॅथॉलॉजी (Pathology) कहते हैं; अर्थात् वातादि दोषों की नाना प्रकार की दुष्टी (प्राकृति या वैकृति, अनुबन्ध्य रूपा या अनुबन्ध रूपा, एक प्रकार, दो प्रकार या सब प्रकार की, रूक्षादि हेतु से, सम्पूर्ण रूप में या स्वल्पांश में) होने पर जब वह चारों ओर फैल जाती है; तब वह दोष दुष्ट हो जाता है। फिर अपने स्थान को छोड़ देह में ऊपर, नीचे तिरछे या जहाँ अनुकूलता मिल जाय, वहाँ गमन करता है; अथवा चारों ओर फैल जाता है। उस व्यापार फैलने की क्रिया सह व्याधि उत्पत्ति को रोग की संप्राप्ति कहाते हैं। इस संप्राप्ति के जाति और आगति पर्याय शब्द हैं।

उदाहरणार्थ—ज्वर रोग की सम्प्राप्ति होने में वातादि कुपित दोषों का आमाशय में प्रवेश करना; आम अनुगमन (आम का रस धातु के साथ मिलकर नीचे ऊपर गमन) करना; फिर रसवहा नाड़ियों के मार्गों में प्रतिबन्ध करना; पक्वाशयस्थ अग्नि का निरसन करना; पश्चात् उस अग्नि का बाहर निकल अभिसरण करना और सकल देह को तपा सब गात्रों को प्रतप्त करना इत्यादि क्रिया रूप संप्राप्ति से यह ज्वर रोग ही है; ऐसा निश्चय होता है।

इस रीति से रोग विनिश्चय (डायग्नोसिस Diagnosis) करने में क्रिया विशेष का उपयोग होता है। ज्वर को संप्राप्ति होने पर आमाशय दोष और अग्नि हननादि के बोध से लंघन, पाचन, स्वेदादि ज्वरघ्न किया निःसंदेह रोग शमन के लिये करा सकते हैं। यद्यपि दोषों के अवान्तर व्यापारपन से—दोष ग्रहण से ही इस रीति की संप्राप्ति का ज्ञान हो सकता है; तथापि चिकित्सा विशेष के लिये ही सम्प्राप्ति को

पृथक् किया है। जैसे व्याधि दर्शकत्व पूर्वरूप और रूप, दोनों में समानता होने पर भी पूर्वरूप को रूप से पृथक् किया है।

इस संप्राप्ति के संख्या, विकल्प, प्राधान्य, वल और काल भेद से औपाधिक ५ प्रकार होते हैं।

(१) संख्या सम्प्राप्ति—वातादि कारण भेद से ८ प्रकार के ज्वर, ५ कास, ५ श्वास, ५ गुल्म, ७ कुष्ट इत्यादि संख्या विशेप संप्राप्ति भेद कहलाते हैं। चरक चिकित्सा में संख्यादि सम्प्राप्ति में विधि सम्प्राप्ति अलग कही है। विधि के निज और आगन्तु भेद से २ प्रकार कहे हैं। पुनः वे साध्यासाध्य और मृदु-दारुण भेद से विभाजित होते हैं। मृदु-रोग को साध्य और सुखसाध्य कहा है। दारुण को कृच्छ्रसाध्य कहा है। पुनः मृदु असाध्य (याप्य) और दारुण असाध्य (छोड़ देने योग्य) ऐसे ४ विभाग होते हैं। इस विधि विभाग का माधवाचार्य ने संख्या विभाग में अन्तर्भाव किया है।

(२) विकल्प सम्प्राप्ति—कार्य पर से सम्मिलित वातादि दोपों के अंशांश का अनुमान करना, उसको विकल्प सम्प्राप्ति कहते हैं। जैसे पर्वत पर ऊर्ध्वगति युक्त धुँआ देख कर यह पर्वत अग्नि वाला है, ऐसा निरूपण किया जाता है; अर्थात् कारण पर से कार्य का अनुमान किया जाता है; वैसे दोषप्रकोप और गुणप्रकोप के अनुमान करने को विकल्प सम्प्राप्ति कहते हैं। जैसे वातप्रकोप कदाचित् एक गुण से (विशेप करके रूक्ष गुण से, क्वचित् लघु से, क्वचित् शीत से) और कभी-कभी दो, तीन या अधिक सम्मिलित गुणों से होता है। पित्त कटु (चरपरे), अम्लादि गुणों से कुपित होता है। यह भी एक, दो, तीन या अधिक गुणों से दूपित हो जाता है। इस तरह कफ भी न्यूनाधिक गुणों से प्रकुपित होता है। अलावा वातादि दोप (वात, पित्त, कफ और रक्त) परस्पर मिलने से एक दूसरों को दूपित वना देते हैं; अर्थात् दोपप्रकोप हेतु की विचित्रता से होता है। इन सवकी प्रथक्-प्रथक् तथा मिले हुए की कल्पना देश, काल, आहार-विहारादि से की जाती है।

वातगुण प्रकोपक—वातप्रकोपक वात के रौक्ष्य, शीत, लाघव,

वैशद्यादि (फैलना इत्यादि) गुणों के सब भावों के वर्धक कषाय रस और कलाय (मटर) हैं। रूक्ष, शीत, लघुगुणों की वृद्धि के लिये चौलाई शाक; रूक्ष और शीत गुण के लिये सफेद ईख; तथा केवल रूक्ष के लिये सीधु (ईख के रस की शराब) है।

पित्तगुण प्रकोपक—पित्त को सब प्रकार से बढ़ाने वाले चरपरा रस और शराब है। कटु (चरपरा), तीक्ष्ण और उष्ण गुण वर्धक हींग; तीक्ष्ण और उष्ण गुणवर्धक अजवायन, और केवल उष्ण गुण वृद्धि के लिये तिल है।

कफगुण प्रकोपक—कफ के सब गुणों को बढ़ाने वाला मधुर रस और भैंस का दूध है। स्नेह, गुरु और मधुरता वृद्धि के लिये खिरनी (रायणी) के फल (फलं गुरु स्निग्धं स्वादु कषायं च० सु० सं० सू० अ० ४६), शीतल और गुरु गुण की वृद्धि अर्थ कसेरु (कसेरुक द्वयंशीतं मधुरं तुवरं गुरु भाव०) तथा केवल शैत्यगुणार्थ मृणाल कमल का कोमल दण्ड (शीतलं तिक्तं कषायं० च० द०)।

इस रीति से अन्य गुणों का विस्तार शास्त्र पर से जान लेवें। भिन्न-भिन्न वस्तुओं के सेवन से भिन्न-भिन्न दोष और गुण के वृद्धि क्षय होते हैं। इन हेतुओं को जानकर दोषप्रकोप और गुणप्रकोप की कल्पना की जाती है; इस हेतु से शास्त्रकारों ने यह विकल्प सम्प्राप्ति रूप विभाग को पृथक् किया है।

(३) प्राधान्य सम्प्राप्ति—स्वतन्त्रता और परतन्त्रता के हेतु से (मुख्य रोग और उपद्रव पर से) प्रधानता-अप्रधानता (गौणता) कही जाती है। जैसे नाना प्रकार के उपद्रव युक्त ज्वर रोग में ज्वर प्राधान्य है; और दाह, अतिसार, श्वास, कासादि उपद्रव गौण माने जाते हैं। क्षय रोग में धातुक्षय की प्राधान्यता और ज्वरादि की गौणता मानी जाती है। ये मुख्य और गौणपना या प्राधान्यता और अप्राधान्यता परस्पर सापेक्षिक है। इस विभाग को प्राधान्य सम्प्राप्ति कहते हैं।

(४) बलाबल सम्प्राप्ति—हेतु, पूर्वरूप और रूप, इनके शास्त्रोक्त सब लक्षण मिलते हैं, या थोड़े-से। यदि सब लक्षण प्रतीत होते

हैं; तो व्याधि को सबल और एक देश (थोड़े लक्षण) अवगत होने पर रोग को निर्बल जानना चाहिये। इस निर्णय को बलाबल सम्प्राप्ति कही है।

इस रीति से इस व्याधि के संतर्पण अपतर्पण रूप उपशय पूर्णांश में सुखानुबंध करता है, या थोड़े अंश में; इस बात का भी निर्णय कर लेना चाहिये।

(५) काल सम्प्राप्ति—रात्रि, दिवस, वर्ष के वसंतादि ऋतु रूप अंश या वसंतादि ऋतु के अंश तथा भुक्त आहार के अंश या एक देश से व्याधि का समय (व्याधि के वृद्धि-ह्रास के हेतु का समय) को जान लेना चाहिये। जैसे कफ प्राधान्य ज्वर विशेषतः रात्रि या दिन के प्रारम्भ में, वसंत ऋतु में और भोजन कर लेने पर बलवान् रहता है। पित्तज व्याधि दिन रात के मध्य भाग में और शरद् ऋतु में; तथा वातज व्याधि वर्षा ऋतु आदि काल में प्रायः बलवान् रहती है। कारण रात्रि के प्रथम भाग में कफ, मध्य में पित्त, अंत में वायु; इस रीति से दिन और आयु के प्रारम्भ, मध्य और अंत काल में भी इन दोषों को वृद्धि-ह्रास होते रहते हैं। एवं वसंत ऋतु में कफ प्रकोप, शरद में पित्त प्रकोप, वर्षाकाल में वात प्रकोप, भोजन करने पर कफ, पच्यमान मध्य अवस्था में पित्त और भोजन परिपाक होने के पश्चात् वायु प्रकोप-काल माना जाता है।

निमित्तादि कारण।

आचार्यों ने जैसे रोगपरीक्षार्थ निदान पञ्चक की योजना की है; इस तरह अन्य रीति से (निमित्त कारण, समवायी कारण, असमवायी कारण, ये कारणत्रय कहे हैं); तथा चिकित्सा के निर्णयार्थ दोषों के चय, प्रकोप, प्रसर और स्थान संश्रय का विचार भी किया है।

सब कार्यों के निमित्त, समवायी और असमवायी, ये तीन कारण होते हैं। सूक्ष्म कीटाणु, विष, अभिघात, अपथ्य आहार-विहार और मानसिक चिन्तादि कारणों से दोषों में विषमता होती है, अतः ये सब

"निमित्त कारण" कहलाते हैं। दोप (वात, पित्त, कफ) और रस रक्तादि दूष्य **"समवायी कारण"** हैं। शास्त्रीय परिभाषा अनुसार कर्म और गुण के आश्रय को समवायी कारण (उपादान कारण) माना है। रोग सम्प्राप्त्यर्थ वातादि दोषों में वैषम्य होने पर जब वातादि दोष रस रक्तादि दूष्यों से सम्मिलित होते हैं, तब संयोग रूप व्यापार होता है; वह **"असमवायी कारण"** कहलाता है। अर्थात् कार्योत्पादक व्यापार रूप कारण को असमवायी कारण कहा है।

चय प्रकोपादि अवस्था—स्वस्थान में दोप की वृद्धि होना, उसको **"चय"** कहते हैं। स्वस्थान से दोप उन्मार्गगामी होकर जब अपना स्वरूप प्रकाशित करता है; तब वह **"प्रकोप"**; नाड़ीस्रोतों द्वारा दोष शरीर में फैलता है, तब **"प्रसर"** और जब दूष्यों के संयोग से एक अथवा अधिक स्थान में दुष्ट बनता है, तब **"स्थान संश्रय"** कहलाता है।

यदि दोपों के चय होते ही पहचानने में आ जाय; तो शीघ्र प्रतिकार हो सकता है। फिर रोगवृद्धि होकर प्रकोप, प्रसरादि अवस्थाओं की प्राप्ति ही नहीं होती। इसी हेतु से आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में सब रोगों के विनिश्चय का तत्वज्ञान युक्ति पूर्वक विस्तार सह सरलता से समझाया है। रोगों की विभिन्न-विभिन्न अवस्थाओं को जानने के साधनों (लक्षणों) का जितना सूक्ष्म और दृढ़ अभ्यास होता है; उतनी ही चिकित्सा में अधिक सफलता मिलती है।

वातादि दोपों में से प्राधान्य दोप, निमित्त और चयादि को जान लेने से रोग शमन करने का शीघ्र प्रबन्ध हो सकता है। जैसे पित्त विदग्ध होकर दाह सहित वमन स्वल्पांश में थोड़ी होती होवे, तो प्रवाल पिष्टी सत्वर लाभ पहुँचाती है; और अत्यधिक परिमाण में पित्तद्रव युक्त वमन होती होवे, तो सुवर्ण माक्षिक भस्म हितकर है। इनमें प्रवाल शीतल और स्वादुता उत्पादक गुण युक्त होने से पित्त के तीक्ष्णता और अम्लता रूप दोप की शामक है; तथा सुवर्ण माक्षिक में स्तम्भन गुण होने से वह पित्त की द्रवता का प्रतिरोध करती है। इस रीति से विकृति

शामक और दोष से विपरीत औषधियों के उपयोगार्थ लक्षण ज्ञान सहायक होता है। इस लक्षणज्ञान को ही चिकित्सा का मुख्य आधार माना है।

उपर्युक्त आयुर्वेदीय रोग मर्यादा को समझ लेने से चिकित्सा में कदापि प्रतिबन्ध नहीं होता। कदाचित् चिकित्सक किसी रोग के नाम को न कह सकें, या न जान सकें; तदपि इस पद्धति अनुसार उपचार करने में सफलता ही मिलती है। इस विषय में अष्टाङ्गहृदयकार ने लिखा है, कि:—

विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात्कदाचन।
न हि सर्वविकाराणां नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थितिः॥

चिकित्सक को कचित् रोग संज्ञा का बोध न हो, तो भी लज्जित नहीं होना चाहिये। कारण, सब रोगों की निश्चित संज्ञा (नाम) नहीं हो सकती। जैसे ई० सन् १९१८ में वातश्लैष्मिक सन्निपात (इन्फ्लूएञ्जा) संसार में सर्वत्र फैल गया, तब एलोपेथी आदि अन्य शास्त्र वालों को चिकित्सा करने में भारी प्रतिबन्ध हुआ था; किन्तु आयुर्वेद के लिये कुछ भी प्रतिबन्ध नहीं हुआ। यह आयुर्वेद की एलोपेथी आदि शास्त्रों से विशेषता है।

सब प्रकार के रोगों की उत्पत्ति नाना प्रकार के आहार-विहार के सेवन से वातादि प्रकोप होकर होती है। अतः इन सब रोगों के अव्यभिचारी (सब में प्रवेशित) कारण कुपित मल ही हैं*। यद्यपि आगन्तुक व्याधियों की उत्पत्ति में दोषप्रकोप पहले नहीं होता; तथापि उत्पत्ति के पश्चात् उत्पन्न द्रव्य में गुण योग के समान (गुलाबादि पुष्पों में सुगन्धि के समान) दोष प्रकोप हो जाता है, ऐसा भगवान् आत्रेय ने चरकसंहिता (सू० अ० २०। ८) में कहा है। अतः आगन्तुक रोगों में भी चिकित्सा वातादि दोषप्रकोप को लक्ष्य में रख करके ही की जाती है।

---

* "नास्ति रोगो विना दोषैः"। (सु० सं०)
"सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः।" (अ० हृ०)
"दोषा एव हि सर्वेषां रोगाणामेककारणम्।" (अ० हृ०)

उपर्युक्त अहित सेवनादि कारणजन्य रोगों के अलावा क्वचित् एक रोग उत्पन्न होकर वही अन्य रोग का कारण हो जाता है। जैसे ज्वर-सन्ताप से रक्त पित्त, रक्त पित्त से ज्वर, रक्त पित्त सह ज्वर से शोष रोग, प्लीहावृद्धि से उदर रोग, उदर रोग से शोथ, अर्श से उदर रोग और गुल्म, प्रतिश्याय से कास, कास से क्षय तथा क्षय रोग और उरःक्षत से शोष (धातुक्षय) रोग की उत्पत्ति हो जाती है। इन उत्पन्न रोगों में भी जब तक कारण रूप रोग का विविध अहित सेवन रूप निमित्त (चरक संहिता में कहे हुए शब्द स्पर्शादि विषयों के सम्बन्ध में अयोग, अतियोग, मिथ्यायोगादि त्रिविध हेतु) से सम्बन्ध नहीं होता; तब तक नूतन रोग की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिये इन रोगों के हेतु का भी साक्षात् या परम्परा से ऊपर कहे हुये अहित सेवन रूप हेतु में ही समावेश हो जाता है।

फिर इन रोगों में क्वचित् यह विचित्रता भी दृष्टिगोचर होती है, कि एक रोग दूसरे रोग का कारण होकर दूसरे रोग को उत्पन्न कर आप शान्त हो जाता है; तथा कोई रोग इतर रोग को उत्पन्न करता है और आप भी जैसा का वैसा बना रहता है। इस रीति से व्याधिसंकरा और व्याधिमेलका रोग भी देखने में आते हैं। इन व्याधिसंकर (मिश्रित) रोगों को नाना प्रकार की घोर पीड़ा देने वाले कहा है।

चिकित्सा।

चिकित्सा किस को कहना, इस विषय में भगवान् आत्रेय ने कहा है, कि:—

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां स्मृतम्॥

मिथ्या आहार-विहार से शरीर में रहे हुये वात, पित्त और कफ धातुओं में उत्पन्न हुई विकृति जिन क्रियाओं द्वारा दूर होकर समानता को प्राप्त होवे वह चिकित्सा कहलाती है; और चिकित्सकों का वही कर्म माना गया है। इस चिकित्सा के दोषप्रत्यनीक और व्याधिप्रत्यनीक, ये २ विभाग हैं।

(१) दोषप्रत्यनीक चिकित्सा—प्रत्यनीक अर्थात् विरुद्ध। वातादि दूषित धातुओं के न्यूनाधिक उपद्रवों पर विचार कर दूषित धातुओं को सम स्थिति में लाने वाली औषधियों के उपचार और क्रियाओं को दोषप्रत्यनीक चिकित्सा कहते हैं। रोगों के बाह्य लक्षणों पर विशेष लक्ष्य न देकर जिस दोष प्रकोप से रोग और उपद्रवों की उत्पत्ति हुई है। उस मूल हेतु के विरुद्ध चिकित्सा करने से दोषसन्तान का विच्छेद होता है। जैसे किसी रोग में वात धातु की विकृति हुई होवे; तब प्रथम यह निश्चय करना चाहिये, कि रूक्षता, शीतता, चलत्वादि गुणों में से किस गुण की वृद्धि या ह्रास होने से विकृति हुई है? इस बात को जानकर दोष के गुणविरोधी औषधि और आहार-विहारादि क्रियाओं द्वारा धातुओं को सम अवस्था में स्थापित करने से दोषसन्तान-प्रवाह बन्द हो जाता है। इस चिकित्सा को श्रेष्ठ प्रकार की कही गई है। चिरकारी अर्थात् मन्दगति वाले रोगों में और जीर्ण रोगों में इस चिकित्सा को विशेष हितकर मानी है।

(२) व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा—रोग विरुद्ध उपायों की योजना करने को व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा कहते हैं। जैसे अतिसार शमनार्थ व्याधिविपरीत स्तंभक औषधि देना। इस चिकित्सा में दोष-दूष्य विवेक नहीं होता। जिससे अनेक समय बाहर निकालने योग्य विष का भी अवरोध होजाने से (जैसे अतिसार का आमावस्था में ही शमन होजाने से) उस दूषित द्रव्य का शरीर के अन्य भागों में प्रवेश होकर कालान्तर में पुनः उसी व्याधि की अथवा अन्य किसी व्याधि की उत्पत्ति हो जाती है। यह दोष इस चिकित्सा में रहा है। फिर भी सत्वर मारक विषूचिका, मूर्च्छादि रोगों में दोष-दूष्य विवेक को छोड़ कर शीघ्र व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा ही की जाती है।

आयुर्वेद में इन दोनों प्रकारों की चिकित्सा में दोषप्रत्यनीक चिकित्सा को विशेष हितकर होने से श्रेष्ठ और व्याधिप्रत्यनीक चिकित्सा को कनिष्ठ मानी है। इस दोष प्रत्यनीक चिकित्सा में रोग के नाम अथवा रोग की संख्या के बोध को महत्त्व नहीं दिया; परन्तु रोग के

दोष-दूष्य और स्थानादि के ज्ञान को ही आवश्यक माना है। किस प्रकार से कौन दोष दूषित हुआ; किस दोष का किस-किस दूष्यों से संयोग हुआ; और कौन-कौन स्थान दूषित हुए, इन बातों के निश्चय को ही प्राधान्यता दी है। कारण, इनका सम्यक्‌बोध मिल जाने पर चिकित्सा निर्भयतापूर्वक हो सकती है।

इन बातों के निर्णयार्थ अष्टाङ्गहृदयकार श्री० वाग्भट्टाचार्य ने सूत्र-स्थान में निम्नानुसार सूचना की है।

दूष्यं देशं बलं कालमनलं प्रकृतिं वयः।
सत्वं सात्म्यं तथाऽऽहारमवस्थाश्च पृथग्विधाः॥
सूक्ष्म सूक्ष्माः समीक्ष्यैषां दोषौषधनिरूपणे।
यो वर्त्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित्॥

दूष्य (रस-रक्तादि धातु), देश (अनूप, जांगलादि), बल (रोगी बल, रोग बल और दोष बल), काल (ऋतु), अग्नि, प्रकृति, आयु, सत्व (मानसिक स्थिति-धैर्य), सात्म्य (अनुकूल विहार), आहार, रोगों की सूक्ष्म-सूक्ष्म अवस्थाओं, दोष (वातादि) और औषधि के गुण प्रभावादि का अच्छी रीति से विचार करके जो वैद्य चिकित्सा करता है; वह कदापि निष्फल नहीं होता।

जैसे ज्वर में आमावस्था हो, तो लंघन करावें और आम की पक्वा-वस्था होने पर शमन औषधि देवें। इस तरह एक ही रोग के भिन्न-भिन्न उपद्रवों और भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में औषधि की योजना शास्त्र-मर्यादानुसार करनी चाहिये।

दोष—इस शरीर रूप यंत्र में वात, पित्त और कफ, तीन दोष रहते हैं। यद्यपि तन्त्रान्तर (शल्यतन्त्र) में उपदेशार्थ रक्त को चौथा दोष माना है; तथापि चरक संहिताकार भगवान् आत्रेय और वाग्भट्टा-चार्य ने तीन दोष कहे हैं। इन दोषों को स्वतन्त्र-प्रधान और रस-रक्तादि दूष्यों को परतन्त्र-अप्रधान कहा है। कारण, ये वातादि दोष, रस-रक्तादि को दूषित करते हैं; किन्तु रस, रक्तादि कदापि वातादि को दूषित

नहीं करते। ये वातादि दोष दूषित होने से देह को नष्ट करते हैं; और साम्यावस्था में रहने से शरीर को धारण करते हैं।

दूष्य—दूष्य ७ हैं। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, इन ७ धातुओं को दूष्य कहा है। इनके अलावा लसीका (रक्त में रहा हुआ जल-लिम्फ Lymph) मैल, मूत्र, शकृत् (मल), स्वेदादि को भी दूष्य ही माना है। कारण, ये भी वातादि दोषों से दूषित होजाते हैं।

वातादि धातुओं के स्थान—वात, पित्त, कफ, ये शरीर के सब भाग में न्यूनाधिक प्रमाण में मिले हुए रहते हैं। परन्तु साधारणतः वायु के दूष्य अस्थि; पित्त के दूष्य रक्त और वाष्पावस्था में स्वेद तथा कफ के दूष्य मांस, मेद, मज्जा, शुक्र और मल-मूत्र हैं। इन वातादि दोषों की विशेष क्रिया और विकृतावस्था में परिणाम प्रायः समान-धर्मी पदार्थों में होता है। इस बात को समझाने के लिये अष्टाङ्ग हृदयकार ने स्थानों का निर्देश किया है।

(१) वात स्थान*—पक्काशय (अंत्र), कटि (कमर के चारों ओर की जगह), सक्थि (ऊरुदेश), श्रोत्र (कान के भीतर का भाग), त्वचा (चमड़ी के सूक्ष्म छिद्रें) और हड्डी के भीतर के भाग, ये ६ वायु के स्थूल क्रिया और गति के स्थान हैं। इनमें पक्काशय मुख्य है।

(२) पित्त स्थान×—नाभि प्रदेश (लघु अंत्र), आमाशय (मेदा), पसीना, लसीका, रुधिर, रस, नेत्र, त्वचा, ये पित्त के मुख्य स्थान हैं। इनमें नाभि (पित्ताशय) सबसे अधिक है।

(३) कफ स्थान+—उरः (वक्षःस्थल), कंठ, मस्तक, क्लोम,

---

* पक्काशयकटिसक्थिश्रोत्राऽस्थि स्पर्शनेन्द्रियम्।
स्थानं वातस्य तत्रापि पक्काधानं विशेषतः॥

× नाभिरामाशयः स्वेदो लसीका रुधिरं रसः।
दृक् स्पर्शनं च पित्तस्य नाभिरत्र विशेषतः॥

+ उरः कण्ठशिरः क्लोमपर्वाण्यामाशयो रसः।
मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य सुतरामुरः॥

संधि स्थान, आमाशय, रस धातु, मेद, नाक, और जिह्वा, ये कफ के स्थान हैं। इनमें उरः स्थान को विशेष माना है।

वात विभाग—वायु के प्राणादि भेद से ५ प्रकार हैं। प्राण, उदान, व्यान, समान, और अपान।

प्राण शिर, कंठ और उरः में विचरता है; तथा बुद्धि आदि का धारण, श्वासोच्छ्वास और थूकनादि क्रिया करता है।

उदान उरः स्थान, नाक, नाभि और कंठ में विचरता है; तथा बल, वर्ण, स्मृति आदि का धारण और वाक प्रवृत्ति आदि क्रिया करता है।

व्यान हृदय में रहता हुआ समस्त शरीर में विचरता है; और बहुधा गति आदि समस्त क्रिया करता है।

समान वायु कोष्ठस्थ अग्नि के समीप विचरता है; तथा अन्न का ग्रहण, पचन, विभाग, धारण और त्यागादि कार्य करता है।

अपान नितम्ब, बस्ति, मूत्रेन्द्रियादि स्थानों में रहता है; तथा मल, मूत्र, शुक्रादि को बाहर निकालनादि क्रिया करता है।

पित्त विभाग—पित्त के ५ प्रकार हैं। पाचक, रंजक, साधक, आलोचक, और भ्राजक।

पाचक पित्त विशेषतः आमाशय और नाभि के पास रहता है; भोजन का परिपाक तथा सारकिट्ट का विभाग करता है।

रंजक पित्त यकृत्प्लीहा के आश्रय से रहता है; और रस को रंगता है।

साधक पित्त हृदय में रहता है; और बुद्धि आदि को साधता है।

आलोचक पित्त नेत्र में स्थित रहकर रूप को ग्रहण करता है।

भ्राजक पित्त त्वचा को दीपन करता है।

कफ विभाग—श्लेष्म के ५ विभाग हैं। अवलम्बक, क्लेदक, बोधक, तर्पक और श्लेष्मक।

अवलम्बक कफ उरःस्थान में रहता है; जल व्यापार रूप क्रिया से हृदय, अन्न, वीर्य, और अन्न के परिणाम रूप रस का तथा इतर सब कफ स्थानों का अपने बल-वीर्य से धारण करता है।

क्लेदक कफ आमाशय में रहकर अन्न-संघात को पाक योग्य बनाता है।

बोधक कफ रसना में रहकर रस को ग्रहण करता है।

तर्पक कफ मस्तिष्क में रहकर नेत्रादि इन्द्रियों का तर्पण करता है।

श्लेष्मक कफ सन्धि स्थानों में रहकर उनका पोषण करता है।

अविकृत वात के कार्य❀—वातादि दोष, रसादि धातु, मूत्रादि मल, ये सब शरीर के मूल, उपदान कारण रूप हैं। इनमें वायु चल होने से अनेक प्रकार की क्रिया द्वारा इस देह को धारण करता है। प्रत्येक अवयवों को उत्साह देना, श्वासोच्छ्वास क्रिया; शरीर, वाणी और मन को स्व-स्व विषय ग्रहण करने की शक्ति देना, मल-मूत्रादि विसर्जन कराना; कफ और पित्त धातु की सम्यक् प्रकार से गति कराना; तथा सब प्रकार के वेग उत्पन्न करना इत्यादि कार्य करता है। संक्षेप में शरीर के छोटे-बड़े सब व्यापार वात ही कराता है।×

अविकृत पित्त के कार्य+—पित्त तैजस तत्त्व होने से आहार का पाक करता है; तथा क्षुधा, तृषा और रुचि को उत्पन्न करना; कान्ति; नेत्र में दर्शन-शक्ति, बुद्धि में विचार शक्ति, और स्मरण शक्ति देना, शौर्य (पुरुषार्थ), शरीर में मृदुता, रक्त में लाली और अन्त्र के स्थूल पचन से आरम्भ करके सूक्ष्म परमाणु पर्यन्त शरीर के सब प्रकार के पोषक व्यापार करना, इत्यादि कार्य पित्त करता है।

अविकृत कफ के कार्य÷—कफ स्थिरता, स्निग्धता,

❀ दोषधातुमला मूलं सदा देहस्य तं चलः।
उत्साहोच्छ्वासनिश्वासचेष्टा वेगप्रवर्त्तनैः॥ अ० हृ०

× पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्॥

+ सम्यग्गत्या च धातूनामक्षाणां पाटवेन च।
अनुगृह्णात्यविकृतः पित्तं पक्त्यूष्मदर्शनैः॥

÷ क्षुत्तृड्रुचिप्रभामेधाधीशौर्यतनुमार्दवैः।
श्लेष्मा स्थिरत्वस्निग्धत्वसन्धिबन्धक्षमादिभिः॥

आर्द्रता, संधिवन्धन, मानसिक प्रसन्नता, शान्ति और सहन करने की शक्ति आदि प्रदान करता है।

अविकृत वायु के गुण—वायु में स्वाभाविक रूक्ष, हलका, शीतल, खर, सूक्ष्म और चल (गमनशील-चंचल) गुण रहे हैं। अलावा यह योगवाही होने से पित्त के संयोग से दाह और कफ के संयोग से शीत कर होजाता है। चरक संहिता में इन गुणों के साथ (सू० अ० १। ५८) में विशद फैलने वाला गुण भी कहा है।

अविकृत पित्त के गुण—पित्त स्वभाव से किञ्चित् स्नेह युक्त, तीक्ष्ण (शीघ्रकारी) उष्ण, हलका, खट्टी दुर्गन्धवाला, सर (ऊर्ध्वाधो-गमन करने का स्वभावयुक्त) और द्रव (प्रवाही) है।

अविकृत कफ के गुण—कफ स्वभाव से स्निग्ध (स्नेह युक्त), शीतल, गुरु, मंद (चिरकारी), रेपायुक्त (चकचकायमान), चिकना और स्थिर (व्याप्ति शील) गुण वाला है।

इन गुणों के अनुकूल, देश, काल, औषधि, आहार और विहार से वातादि की वृद्धि और प्रतिकूल से क्षय होता है। जब तक देह में वातादि दोष, रस-रक्तादि धातु तथा मलादि का समान सद्भाव होता है; तब तक इनकी वृद्धि होती है। एवं विपरीत भाव से क्षय होता है।

धातुओं के वृद्धि-क्षय हेतु—द्रव्य, गुण और कर्म, इन ३ हेतुओं से धातुओं के वृद्धि-क्षय होते हैं। शास्त्र में इनका वर्णन निम्नानुसार मिलता है।

द्रव्य से धातु वृद्धि—रक्त से रक्त, मांस से मांस और सलिलात्मक दूध से कफ की वृद्धि होती है। घृत, शुक्र, तथा जीवन्ती, काकोल्यादि शीतवीर्य द्रव्य विशेष से स्नेह, बल, पुंसत्व और ओज की वृद्धि एवं मिर्च, पञ्चकोल, भिलावादि से बुद्धि, मेधा और अग्नि की वृद्धि होती है।

गुण से धातु वृद्धि—खजूरादि वस्तुओं को जल में भिगो छान कर ग्रहण करने से स्निग्ध, गुरु, शीतादि गुणात्मक होजाने से कफ की वृद्धि होती है।

कर्म से धातु वृद्धि—कर्म के शरीर, वाणी और मानस-व्यापार रूप ३ प्रकार हैं। शारीरिक कर्म तैरना, दौड़ना, कूदनादि से चलात्मक वात वृद्धि। वाचिककर्म (अध्ययन या व्याख्यानादि) से और मानसिक कर्म (चिन्ता, काम, शोक, भयादि) क्षोभात्मक वात वृद्धि; क्रोध, ईर्ष्यादि मानस कर्म से पित्तवृद्धि; तथा निद्रा, आलस्य, आरामादि से कफ की वृद्धि होती है।

द्रव्य से धातुक्षय—वातात्मक यवादि शुष्क अन्न सेवन से मांसादि में कृशता और तैजस क्षार से कफ क्षय होता है।

गुण से धातुक्षय—आरनाल के जल में लघु, रूक्ष, उष्ण, तीक्ष्ण और विशद गुण होने से वह कफ का क्षय करता है। तैल स्नेहादि गुणों के हेतु से वात का; घृत माधुर्य, शीतादि गुण से पित्त का और शहद रूक्षादि गुणों के हेतु से कफ का ह्रास करता है।

कर्म से धातुक्षय—निद्रा, आलस्यादि कर्म से वात का क्षय; शीतल जल में क्रीड़ा करने से पित्त का क्षय तथा व्यायाम, प्रवास, सूर्य के ताप और अग्नि का सेवनादि क्रिया से कफ का क्षय होता है।

(१) वातक्षय लक्षण—अंग शिथिल होना, बोलने में परिश्रम होना, शारीरिक चेष्टा कम होना, आलस्य, स्मरण शक्ति का अभाव और कफवृद्धि में कहे हुए चिह्न प्रतीत होते हैं; तथा कसैले, चरपरे, कड़ुवे, रूक्ष, शीतल और हलके जो, मूंग, कंगनी आदि पदार्थ खाने की इच्छा उत्पन्न होती रहती है।

(२) वातवृद्धि लक्षण—(वात बढ़कर स्वस्थान में रहना) श्यामता, शुष्कता, कृशता, कम्प, आफरा, मलसंचय; बल, निद्रा और उत्साह का नाश, स्वप्न में उड़ना, भ्रम, प्रलाप, उष्ण और स्निग्धादि पदार्थ के सेवन की इच्छादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

(३) वातप्रकोप लक्षण—(वात प्रकुपित होकर उन्मार्ग-गामी होना) सन्धि स्थान की शिथिलता, कम्प, शूल, गात्रशून्यता, हाथ-पैर भड़कना, नाड़ियों का खिंचाव, तीक्ष्ण दर्द, तोड़ने के समान पीड़ा, झटका, रोमांच, रूक्षता, रक्त का श्यामवर्ण, शोष, जड़ता, गात्र में

कठोरता, अंगों में वायु भरा रहना, प्रलाप, भ्रम, चक्कर, मूर्च्छा, मलसंग्रह, मूत्रावरोध, शुक्रपतन, शरीर टेढ़ा हो जाना और मुँह कसैला होना इत्यादि लक्षण होते हैं।

(४) **पित्तक्षय लक्षण**—शरीर की उष्णता कम होना, कान्ति घटना, पाचनक्रिया मन्द होना और उत्साह का अभाव होनादि लक्षण प्रतीत होते हैं; तथा तिल, उड़द, कुलथी आदि भोजन, दही की मलाई, सिरका, खट्टी छाछ, काँजी, दही, चरपरे, खट्टे, नमकीन, गरम और तीक्ष्ण पदार्थ के सेवन, क्रोध, विदाही भोजन, गरम स्थान में रहना और धूप में बैठनादि की इच्छा होती रहती है।

(५) **पित्तवृद्धि लक्षण**—त्वचा, नख, नेत्र, मल-मूत्रादि सब पीले होना; दाह, पसीना, क्षुधा, तृषा और उष्णता बढ़ना, शीतल पदार्थ सेवन की इच्छा होना, निद्रा कम होना तथा नाड़ी और हृदय की गति को तेजी होना इत्यादि लक्षण होते हैं।

(६) **पित्तप्रकोप लक्षण**—दाह, शरीर लाल-पीला होजाना, शरीर में गरमी बढ़ना, पसीना, शोष, अतृप्ति (अधिक भोजन से भी तृप्ति न होना), खट्टी डकार, दुर्गन्ध, वमन, पतला दस्त, बेचैनी, बाहर के पदार्थ पीले दीखना, चमड़ी फटना, फोड़े-फुन्सियाँ होकर पकना, रक्त-स्राव, पीली आँख, पीले दाँत, पीले मल-मूत्र, प्रलाप, भ्रम, मूर्च्छा, निद्रा-नाश, वीर्य पतला होना, स्वप्न में अग्नि दीखना और शीतल पदार्थ की इच्छादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

(७) **कफक्षय लक्षण**—भ्रम, गात्रस्तब्धता, सन्धियों में शिथिलता, श्लेष्म स्थानों में शून्यता या निर्बलता और दाहादि चिह्न प्रतीत होते हैं; तथा मधुर, स्निग्ध, शीतल, नमकीन, खट्टे और भारी भोजन, दही-दूध के सेवन एवं दिन में शयनादि की इच्छा होती रहती है।

(८) **कफ वृद्धि लक्षण**—मंदाग्नि, मुँह मीठा होना, मुँह में पानी आना, अरुचि, शरीर निस्तेज और सफेद हो जाना, जड़ता, शीत-लता, कास, श्वास, जुकाम, शरीर में भारीपन, आलस्य, निद्रा बढ़ना,

संधियों में दर्द, दस्त चिकना, सफेद रंग का होना, मूत्र बारबार होना इत्यादि लक्षण होते हैं।

(६) कफ प्रकोप लक्षण—शरीर चिकना, सफेद, शीतल और भारी होना; शरीर को ठण्डी लगना, बुद्धिमंदता, शक्ति की कमी होना, मुँह में मीठापन और चिकनापन, स्रोतोरोध, प्रसेक (मुँह से लार गिरना), अरुचि, मंदाग्नि, मल में चिकनापन, सफेद मल-मूत्र, सब वस्तु सफेद दीखना, नाड़ी की मंदगति, सूजन, खुजली, स्वप्न में जल की प्रतीति, निद्रा वृद्धि, तन्द्रा, मधुर और नमकीन पदार्थ खाने की इच्छा, आलस्य और थकावटादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

वात विकृति हेतु—कसैले, चरपरे, कड़ुवे एवं रूक्षादि वातुल पदार्थों का अधिक सेवन, द्विदलधान्य (मटर, अरहर, मूंग, मसूर, सेमादि) का विशेष उपयोग, कम भोजन, उपवास; अत्यन्त गरम चाय, गरम काफी या गरम दूध पीना; अपानवायु और मल-मूत्रादि वेगों का अवरोध; मार्ग-गमन, अतिश्रम, अधिक व्यायाम, जागरण, बड़े जोर से चिल्लाना, चिन्ता, अति मैथुन, अति अध्ययन, चोट, शस्त्र का घाव लगना, वमन-विरेचनादि शोधन क्रियाओं का अतियोग और देश कालादि कारणों से वात विकृति होती है। इसका वर्णन पहले निदान वर्णन में 'वात प्रकोपक हेतु' नाम से भी लिखा गया है।

पित्त विकृति हेतु—चरपरे, खट्टे, नमकीन और विदाही पदार्थों का अधिक सेवन; सूर्य का ताप और अग्नि का सेवन, तैल, बकरे और भेड़ का मांस, मद्यपान, क्रोध, शोक, भय, उपवास, काँजी, शरद्-ऋतु, शरद्‌ऋतु में उत्पन्न नये अन्नादि का सेवन, और देशादि कारणों से पित्त विकृति होती है। इसके अलावा इसका विवेचन पहले निदान वर्णन में भी किया है।

कफ विकृति हेतु—मधुर, खट्टे, नमकीन, स्निग्ध, जड़, शीतल, चिकने और अभिष्यन्दि पदार्थों का अधिक सेवन, दिन में शयन, धूम्र-पान, शरीर-श्रम का अभाव, बारबार भोजन, अजीर्ण में भोजन; तैल, घी, चरबी, दही, दूध, गेहूँ, तिल, चावल, ईख के पदार्थ, जल-जीवों का

मांस, सिंघाड़े, मीठे फल, इनका अधिक सेवन, वमनादि शोधनों का हीन योग, वसन्तऋतु और देशादि कारणों से कफ विकृति होती है। इस कफ विकार का वर्णन निदान के साथ भी किया गया है।

धातुओं के विकृति नाशक गुण—इन वातादि दोषों के वृद्धि, प्रकोप और शमन करने वाले गुणों का वर्णन संक्षेप में अष्टांग-हृदयकार ने निम्नानुसार लिखा है।

उष्णेन युक्ता रुक्षाद्या वायोः कुर्वन्ति संचयम्।
शीतेन कोपमुष्णेन शमं स्निग्धादयो गुणाः॥
शीतेनयुक्तास्तीक्ष्णाद्याश्चयं पित्तस्य कुर्वते।
उष्णेन कोपं मन्दाद्याः शमं शीतोपसंहिताः॥
शीतेन युक्ताः स्निग्धाद्याः कुर्वते श्लेष्मणश्चयम्।
उष्णेन कोपं तेनैव गुणा रुक्षादयः शमम्॥

रूक्षादि गुण उष्ण गुणयुक्त होने पर वायु का संचय; शीतल गुण से युक्त होने पर वायु का प्रकोप तथा उष्ण और स्निग्ध गुण वाली औषधियों से वायु का शमन होता है।

तीक्ष्णादि गुण शीतरस युक्त होने पर पित्त का संचय; तीक्ष्णादि गुण युक्त उष्ण पदार्थों से पित्त का प्रकोप; तथा मन्दादि रस युक्त शीतल पदार्थों से पित्त का शमन होता है।

स्निग्धादि पदार्थ शीतल गुण युक्त होने पर कफ का संचय; स्निग्धादि रसयुक्त उष्ण पदार्थों से कफ का प्रकोप; और रुक्षादि गुणयुक्त उष्ण पदार्थों से कफ का शमन होता है।

वात शामक उपाय—संतर्पण चिकित्सा, स्नेहपान, स्वेदनादि सौम्यशोधन, स्निग्ध और उष्ण वस्ति, अनुवासन वस्ति, मात्रा बस्ति, सेक, नस्य; मधुर, अम्ल, नमकीन और चरपरे रसयुक्त भोजन, पौष्टिक भोजन, मेदयुक्त मांस का सोरवा; दही, घृत या तैल मर्दन; हाथ-पैर दवाना, वस्त्र बाँधना, भय दिखाना (उन्मादादि रोगों में), पिष्टजन्य और गुड़जन्य मद्य का पान, निद्रा, सूर्य का ताप, स्निग्ध, उष्ण और

नमकीन औपधियों के मृदु विरेचन, दीपन-पाचनादि औपधियों से सिद्ध घृतादि स्नेह या क्काथादि का सिंचन और गरम वस्त्र का आच्छादनादि से वात प्रकोप दूर होता है।

पित्त शामक उपाय—घृतपान, कसैला, मधुर और शीतवीर्य औषधियों का विरेचन, रक्तस्राव, दूध; शीतल, मधुर, कड़वे और कसैले रसयुक्त भोजन, शीतल जल में वैठना, सुन्दर गान सुनना; रत्न या सुगन्धित, मनोहर, शीतल पुष्पादि की माला धारण करना; कपूर, चन्दन और खसादि के लेप, शीतल वायु का सेवन, पंखे की वायु, छाया, वाग़ या जलाशय के किनारे रहना, रात्रि को चाँदनी में वैठना, मधुर भापा में विनोद, वालकों से मधुर भापा में वार्तालाप, स्त्रियों का स्पर्श, द्वार पर या कमरे में जल सिंचन और पित्त शामक औपधियों के सेवन से पित्त शमन होता है।

कफ शामक उपाय—विधि पूर्वक तीक्ष्ण वमन, चरपरी औप-धियों से विरेचन, शिरोविरेचन; चरपरे, कड़वे और कसैले रसयुक्त रूक्ष भोजन, क्षार, उष्ण भोजन, अल्पाहार, उपवास, तृपा निग्रह; कवल और गंडूप (कुल्ले) धारण, पुराना मद्य, मैथुन, जागरण, व्यायाम, मार्ग गमन, जल में तैरना, सुख का अभाव, चिन्ता, रूक्ष औपधियों से मर्दन, धूम्रपान, शहद तथा मेदोहर और कफघ्न औपधियों के सेवन से कफ प्रकोप नष्ट होता है।

रस-रक्तादि के क्षय-वृद्धि लक्षण—रस-रक्तादि दूष्यों की क्षय-वृद्धि सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान अध्याय १५ में निम्नानुसार कही है।

धातु	क्षय	वृद्धि
रस	चक्कर, शुष्कता, शोप, असहनशीलता, हृदय में पीड़ा, कम्पादि।	जी मिचलाना, मुँह में पानी आना, लार गिरना, मंदाग्नि, प्लीहा विकार, विद्रधि और कुष्ठादि।

धातु	क्षय	वृद्धि
रक्त	शुष्क त्वचा, नसों में शिथिलता, अम्ल और शीतल रस की इच्छादि।	नेत्र में लाली, धमनियाँ-सिराएँ भर जाना और विसर्पादि की उत्पत्ति आदि।
मांस	कपोल, होठ, कमरादि अवयवों में शुष्कता तथा सन्धि पीड़ादि।	गाल, होठ, कमर, ऊरु, जंघा, भुजा आदि मोटे होना।
मेद	प्लीहा-वृद्धि, सन्धियों में शून्यता, रूक्षता, मांस और स्निग्ध पदार्थों की इच्छादि।	पेट पर चरबी बढ़ना, पसीने में दुर्गन्ध, कास, श्वास और थकावट आनादि।
अस्थि	अस्थि, दाँत और नाखूनों में पीड़ा तथा रूक्षतादि।	अस्थि और दाँत की अधिक उत्पत्ति।
मज्जा	वीर्य की क्षीणता, सन्धिस्थानों में पीड़ा, अस्थियों में शूल और चक्करादि।	नेत्र और सारे शरीर में भारीपन और छोटी-छोटी फुंसियाँ होनादि।
वीर्य	लिङ्ग और वृषण में व्यथा, क्षय, मैथुन-शक्ति न रहना, निस्तेज चेहरा, देर से रक्तता लिये अल्पपात होनादि।	शुक्राश्मरी और स्त्री-गमन की प्रबलेच्छादि।
मल	हृदय और पार्श्वों में पीड़ा, वायु का ऊर्ध्व गमन या कोखों में संचरणादि।	आफरा, भारीपन और नलों में शूलादि।
मूत्र	वस्ति-स्थान में जलन और कठिनता से थोड़ा-थोड़ा मूत्र उतरनादि।	वस्ति-स्थान में काटने समान पीड़ा, वार वार मूत्र प्रवृत्ति और आफरादि।

धातु	क्षय	वृद्धि
स्वेद	रोमों में जड़ता, शुष्क त्वचा, स्पर्श का यथोचित ज्ञान न होना, अस्वेद और क्षयादि।	खुजली और त्वचा में दुर्गन्ध आदि।
आर्तव	समय पर मासिकधर्म न आना, रक्त कम निकलना और योनि में पीड़ा होनादि।	अंगों का टूटना, बेचैनी, रक्त विशेष जाना और दुर्बलतादि।
स्तन्य	स्तन मुरझा जाना, दूध कम होना या नहीं आनादि।	स्तन की स्थूलता, दूध टपकना, स्तन भारी हो जाना और टूटने समान पीड़ादि।
गर्भ	गर्भ न फिरना या कम फिरना, कोख ऊँची न होनादि।	गर्भाशय की अति वृद्धि और शोथादि।

धातुक्षय के मानस लक्षण—

(१) रसक्षय होने पर वार वार शीतल जल, रात्रि में निद्रा, हिम, चाँदनी, मधुररस, ईख, मांस रस, मन्थ, शहद, घी, शर्बतादि पदार्थों की इच्छा होती रहती है।

(२) रक्तक्षय होने पर अंगूर या अनार का सिरका, नमकीन, घी मिले भोजन और रक्त में पकाये हुए मांसादि की इच्छा होती है।

(३) मांस क्षीण होने पर दही में सिद्ध किये हुए भोजन, अति मधुर पदार्थ, खट्टे-मीठे पदार्थ और मांसभक्षी स्थूल प्राणियों के मांसादि की वासना होती है।

(४) मेदक्षय होने पर चरबी से सिद्ध किये ग्राम्य, अनूप या जलचर जीवों के मांस की और विशेष करके नमकीन भोजन की चाह होती है।

(५) अस्थिक्षय होने पर मज्जा और अस्थियों में रहे हुए स्नेह से सिद्ध किये हुए मांस की इच्छा होती है।

(६) मज्जाक्षय होने पर मधुर और खट्टे भोजन की आकांक्षा होती है।

(७) शुक्रक्षीण होने पर वीर्य वर्धक पदार्थ, मोर, मुर्गा, हंस, सारस, ग्राम्यपक्षी और अनूप देश के पक्षी, जलाशय के किनारे रहने वाले पक्षी के अण्डों की चाह होती है।

(८) मलक्षय होने पर जौ, गेहूँ, नाना प्रकार के शाक, मसूर और उड़द का यूषादि भोजन की वासना होती है।

(९) मूत्रक्षय होने पर पीने के पदार्थ, ईख का रस, दूध, गुड़ या शक्कर मिला हुआ जल, वेर या इमली का पना, खीरा, ककड़ी और तरबूजादि की कामना होती है।

(१०) स्वेदक्षय होने पर तैलादि की मालिश, उवटन, शराव, निर्वात स्थान में सोना, बैठना और मोटे वस्त्र पहनना इत्यादि की इच्छा होती है।

(११) आर्त्तवक्षय होने पर स्त्रियों को चरपरे, खट्टे, नमकीन, गरम, विदाही, भारी भोजन, फल, शाक और पेय पदार्थों की वासना होती है।

(१२) स्तन्य (दूध) क्षय होने पर शराव, चावल, मांस, गोदुग्ध, शक्कर, आसव, दही, मछली और हृद्य भोजन की इच्छा होती है।

(१३) गर्भ के क्षय होने पर पौष्टिक भोजन, हरिण, वकरी, मेंढी और सूअर के पके हुए गर्भ, चरवी और लोहे के कांटे से पकाये हुए मांसादि पदार्थ खाने की कामना होती है।

आर्त्तवक्षय में शोधन और उष्ण पदार्थ का सेवन तथा स्तन्यक्षय में कफवर्धक पदार्थों का सेवन हितावह है। गर्भक्षय में वस्ति द्वारा दूध चढ़ावें और चिकने, स्वादुमधुर भोजन का उपयोग करें। इस रीति से दोष वृद्धि में यथाविहित शोधन, क्षपण (वाहर निकालना) आदि उपचार (क्षय से अविरुद्ध) करें; अर्थात् सम्हालपूर्वक शोधनादि क्रिया करें। जिससे वढ़े हुए दोष घटकर साम्यावस्था की प्राप्ति हो और अत्यन्त घट कर क्षय न हो।

इस देह में उपर्युक्त सव धातु के सार रूप ओज वनता है, उसका जितना अधिक रक्षण हो, उतना ही जीवन सुखमय होता है। क्रोध, चिन्ता, शोक, अधिक श्रम, अभिमान, धातुक्षय, रूक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण और चरपरे पदार्थों के अति सेवन एवं कर्षण क्रिया से ओजक्षय हो

जाता है। फिर निर्बलता, भय लगना, उदासीनता, इन्द्रियों में व्याकुलता, निस्तेजता, अङ्ग जकड़ना, भारीपन, मन की अस्वस्थता, तन्द्रा, निद्रा, वातशोथ, रूक्षता, कृशतादि लक्षण प्रतीत होते हैं। ऐसा होने पर पौष्टिक, स्निग्ध, मधुर पदार्थ, दूध और मांसरसादि का सेवन कर ओज को बढ़ा लेना चाहिये।

संक्षेप में वातादि दोषों के लक्षण, स्थान, कार्य, विकृति, विकृति हेतु और शमन के उपायादि को जान, वातादि धातुएँ जिस रीति से सम बन सकें अर्थात् क्षीण दोष बढ़े, बढ़े हुए का क्षय हो और परस्थान में गये हुए कुपित दोष शमन हों, उस रीति से चिकित्सा करनी चाहिये।

द्रव्याद्रव्य चिकित्सा।

चिकित्सा में दोषसन्तानप्रवाह को रोककर धातुसन्तानप्रवाह चालू करने के लिये औषधि के अलावा आहार-विहार, उपवास, दोष और रोग विरोधी जलवायु में रहना इत्यादि साधनों का उपयोग किया जाता है। अतः द्रव्याद्रव्य साधन भेद से चिकित्सा के दो प्रकार होते हैं। क्वाथ, चूर्ण, गुटिका, रसायन, भस्मादि औषधियें और रोगशामक आहार को द्रव्य चिकित्सा; और प्राणायाम, उपवास, स्नान, व्यायाम, सूर्यतापादि का सेवन, आशीर्वाद, मन्त्र, देव-सेवा तथा ईश्वरदत्त व्यापक सहज साधनों को अद्रव्य चिकित्सा कहा है। इन दोनों साधनों का उपयोग देश, काल और प्रकृति के विचार पूर्वक करना चाहिये। यदि मात्र अद्रव्य चिकित्सा से ही रोग को दूर कर धातुओं को सम बनाने का प्रयत्न किया जाय; तो वेगवान मारक रोगों में बहुधा विपरीत परिणाम आता है; एवं जीर्ण रोगों में भी अधिक काल लगता है। यदि केवल द्रव्य चिकित्सा का ही सर्वत्र उपयोग किया जाय; तो भी सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा सफलता नहीं मिल सकती। अतः सब बातों को सोचकर चिकित्सा करनी चाहिये।

बृंहण-लंघन चिकित्सा—द्रव्याद्रव्य चिकित्सा के बृंहण और लङ्घन, ऐसे २ विभाग हैं। बृंहण को सन्तर्पण और लङ्घन को

अपतर्पण भी कहते हैं। बृंहण का कार्य शरीर को बृंहण (मोटा) बनाना, अर्थात् देह में आवश्यक पदार्थों को बढ़ाना; और लंघन का कार्य शरीर में लाघवता (कृशता) लाना, अर्थात् शरीर में से दूर करने योग्य पदार्थों को कम करना। इन बृंहण-लंघन के अतिरिक्त रूक्षण, स्नेहन, स्वेदन और स्तम्भन, ये ४ प्रकार चरक संहिता में लिखे हैं। किन्तु इन चारों का बृंहण और लंघन में अन्तर्भाव हो जाता है।

बृंहण चिकित्सा—बृंहण औषधि बहुधा पृथ्वी-जल भूयिष्ठ और लङ्घन औषधि प्रायः अग्नि, वायु और आकाशात्मक होती है। प्रायः कहने में यह तात्पर्य है, कि कतिपय औषधियाँ जौ, मसूर, चावलादि पृथ्वी तत्व प्राधान्य होने पर भी अपतर्पण रूप; और सोंठ, पीपलादि कितनीक औषधियाँ अग्नि प्राधान्य होने पर भी सन्तर्पण रूप हैं।

गुरु, शीतल, मृदु, स्निग्ध, घन, स्थूल, पिच्छिल, मन्द, स्थिर और श्लक्ष्ण, इन गुणों से युक्त द्रव्य प्रायः बृंहण होते हैं। इस चिकित्सा में मांस, दूध, मिश्री, घृत, मधुर, स्निग्ध, पौष्टिक औषधियों की वस्ति, निद्रा लेना, शान्ति से पलङ्ग पर लेटे रहना, तैलाभ्यंग, स्नान, मन को प्रसन्न रखना और मानसिक चिन्ताओं का त्यागादि साधन हैं।

लंघन चिकित्सा—लंघन चिकित्सा के शोधन और शमन, ये २ भेद हैं। विषम दोषों को शरीर में से निकाल देने के लिये रक्तस्राव, वमन, विरेचन, निरूहवस्ति और नासास्राव, ये पंचकर्म शोधन कहलाते हैं।

सम स्थिति में रहे हुए रसरक्तादि धातुओं को बाधा न पहुँचाते हुए मात्र विषम दोषों को सम अवस्था में लाने का प्रयत्न करना, वह शमन चिकित्सा कहलाती है। इस चिकित्सा के ७ उपाय हैं। पाचन औषधि, दीपन औषधि, क्षुधा निग्रह, तृषा निग्रह, व्यायाम, सूर्य के ताप में बैठना और खुली वायु का सेवन, ये ७ उपाय हैं।

शोधन और शमन, इन दोनों चिकित्साओं में शोधन को उत्तम माना है। जहाँ शोधन चिकित्सा की अशक्यता हो, वहाँ पर शमन चिकित्सा की जाती है। इस शोधन चिकित्सा की श्रेष्ठता के लिये प्राचीन आचार्यों ने लिखा है, कि:—

दोपाः कदाचित्कुप्यन्ति जिता लङ्घनपाचनैः ।
ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेपां पुनरुद्भवः ॥

लङ्घन-पाचनादि चिकित्सा द्वारा जिते हुए वातादि दोप कदाचित् प्रकुपित हो जाते हैं। परन्तु जो दोप शोधन चिकित्सा से नष्ट किये जायँ; उनका पुनः उद्भव कदापि नहीं होता।

संशोधन; कब, कितना, किन-किन द्रव्यों से और किन-किन अवस्थाओं में करना चाहिये; यह चिकित्सकों की बुद्धि, रोगी की स्थिति, समय और साधनों की अनुकूलता पर निर्भर है। इसका विशेप वर्णन शरीर शोधन प्रकरण में किया जायगा।

लघु, उष्ण, तीक्ष्ण, विशद, रूक्ष, सूक्ष्म, खर, सर और कठिन गुणों से युक्त द्रव्य प्रायः लङ्घन होते हैं। इस चिकित्सा में कुलथी, जुवार, सांवाँ, सत्तू, मूंग, शहद मिश्रित जल, दही का जल, छाछ, गोमूत्र, शहद मिश्रित त्रिफला, गिलोय, हरड़, नागरमोथा, रसोंत, वृहद् पंचमूल, गूगल, शिलाजीत, अरणी का रस, मेद और कफ शोपक औषधियाँ, चिन्ता, जागरण और व्यायामादि हैं।

वात प्राधान्य और विशेपतः वातपित्त प्राधान्य रोगों में शमन चिकित्सार्थ प्रायः बृंहण औपधि दी जाती है। शेप दोपों में लंघन उपाय हितावह है।

बृंहण चिकित्सा के अधिकारी— जो रोगी व्याधि, औपधि सेवन, मद्यपान, स्त्री-सेवन, चिन्ता, बोझा उठाने, प्रवास या उरःक्षत से निर्बल हुआ हो और रूक्ष, अशक्त, वात प्रकृतिवाला, सगर्भा, प्रसूता स्त्री, बालक, वृद्ध, ये सब बृंहण चिकित्सा के अधिकारी माने गये हैं। अलावा ग्रीष्मऋतु में प्रायः सब रोगियों की चिकित्सा बृंहण करनी चाहिये। कचित् इन अधिकारियों को ज्वरादि व्याधि (लंघन साध्य रोग) हो जाय; तो इनकी मृदुलंघन चिकित्सा करें। इस संतर्पण क्रिया से लाभ होने पर देह पुष्ट होती है; बल की वृद्धि होती है; तथा बृंहण चिकित्सा साध्य रोगों की निवृत्ति होती है।

यदि इस चिकित्सा का अतियोग किया जाय; तो अति स्थूलता,

मेद वृद्धि; फिर अपची, प्रमेह, ज्वर, उदर रोग, भगन्दर, कास, संन्यास, मूत्रकृच्छ्र, आमवृद्धि और कुष्टादि दारुण रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। कदाच अतियोग होजाने से अति स्थूलता आगई हो; तो लंघन चिकित्सा में कही विधि से चिकित्सा करनी चाहिये।

व्योषादि चूर्ण मिश्रित सत्तू—सोंठ, मिर्च, पीपल, कुटकी, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सुहिंजने का बीज, वायविडंग, अतीस, सारिवा, हींग, कालानमक, जीरा, अजवायन, धनिया, चित्रकमूल, हल्दी, दारु-हल्दी, छोटी कटेली, बड़ी कटेली, हाऊबेर, पाठा, सुपारी के मूल, इन २४ औषधियों को १-१ तोला लेकर चूर्ण करें। फिर शहद, घी और तैल, २४-२४ तोले और जौ का सत्तू १६ गुना मिला लेवें। इस सत्तू में से जल के साथ मिलाकर यथाशक्ति पिलाते रहने से अति स्थूलता नष्ट होती है; तथा स्थूलता से उत्पन्न हृद्रोग, कामला, श्वेत कुष्ट, कृमि, अर्श, प्लीहा वृद्धि, पाण्डु, शोथ, मूत्रकृच्छ्र, अरुचि, क्षय, श्वास, कास और कंठ रोग, ये सब दूर होते हैं। बुद्धि, मेधा और स्मृति की वृद्धि होती है; तथा अग्नि प्रदीप्त होती है।

लंघन चिकित्सा के अधिकारी—प्रमेह, आमवृद्धि, अति-स्निग्धता, ज्वर, ऊरुस्तंभ, कुष्ट, विसर्प, विद्रधि, प्लीहा वृद्धि; कंठ, नेत्र, या मस्तिष्क के रोग और जिन रोगियों का शरीर स्थूल हो, वे सब लंघन चिकित्सा के अधिकारी हैं। इनको बृंहण औषधि नहीं दी जाती। अलावा हेमन्त और शिशिर ऋतु में प्रायः सबके लिये लंघन चिकित्सा हितावह है।

लंघन चिकित्सा करने पर इन्द्रियों के बल की वृद्धि, प्रस्वेद, अधो-वायु तथा मल-मूत्र की शुद्धि, व्याधिनाश, उत्साह, तन्द्रानाश, ये लक्षण प्रतीत होते हैं।

यदि अपतर्पण क्रिया का अतियोग होजाय, तो अति कृशता, चक्कर आना, कास, अधिक तृषा, अरुचि; स्नेह, अग्नि, निद्रा, नेत्र, श्रोत्र, शुक्र, ओज, क्षुधा और स्वर, इन सबकी निर्बलता; बस्ति, हृदय, मस्तक, जंघा, ऊरु, कमर और पसवाड़ों में पीड़ा; ज्वर, प्रलाप, अधोवायु भरा

रहना, ग्लानि, वमन, संधिस्थान और अस्थियों में तोड़ने समान पीड़ा, मल-मूत्रावरोध और नाना प्रकार के वात रोगों की उत्पत्ति होती है। ऐसा कचित् होजाय, तो बृंहण औषधि और बृंहण अन्नपान का सेवन कराना चाहिये।

संशोधन चिकित्सा के अधिकारी—स्थूल, बलवान, पित्त-वृद्धि या कफ-वृद्धि युक्त मनुष्य यदि आम दोष, ज्वर, वमन, अतिसार, हृदय के रोग, मलावरोध, भारीपन, डकार और उबाक आना इत्यादि रोगों से पीड़ित हैं; तो उनकी संशोधन चिकित्सा करें।

मध्यम स्थूलता, मध्यम बल, मध्यम पित्त-वृद्धि या मध्यम कफ-वृद्धि वालों के आम दोष और ज्वरादि व्याधियों में पहले प्रायः दीपन-पाचन चिकित्सा करनी चाहिये। (प्रायः कहने का तात्पर्य यह है, कि देश, काल, प्रकृति अनुकूलतादि की अपेक्षा करके इस नियम में परिवर्तन हो जाता है।) पश्चात् शोधन उपचार करें।

हीन स्थौल्य, हीन बल, हीन पित्त या हीन कफ-वृद्धि युक्त अधिकारियों को आम दोष और ज्वरादि व्याधियों में क्षुधा-तृषा का निग्रह रूप लंघन कराना चाहिये।

यदि अति बलवान रोगियों के वातादि दोष का बल मध्यम है; तो वायु, सूर्य का ताप और व्यायामादि के सेवन रूप लंघन चिकित्सा करानी चाहिये। इस तरह ऐसे बलवानों के अल्प बल युक्त रोगों में वातादि सेवन रूप लंघन चिकित्सा ही कराई जाय, इसमें आश्चर्य ही क्या?

आम दोष पर उपचार क्रम—जब आम सारे शरीर में फैलकर रस-रक्तादि धातुओं में लीन होकर रहता है; तब उसे बाहर निकालने में बलात्कार नहीं हो सकता। केवल आमाशय या पक्वाशय में हो, तो वमन-विरेचन से दूर कर सकते हैं। लीन विकार के नाश के लिये पहले दीपन-पाचन औषधि देनी चाहिये। फिर स्नेहन और स्वेदन द्वारा आम को परिपक्व कर कोष्ट में लाना चाहिये। पश्चात् रोगी की शक्ति अनुसार संशोधन (वमन, विरेचनादि) क्रिया द्वारा बाहर निकालना चाहिये।

आमाशय में स्थित दोष को बाहर निकालने के लिये वामक औषधि; मस्तिष्क में रहे हुए दोष को निकालने के लिये विरेचन नस्य; तथा पक्काशय के दोष को दूर करने के लिये विरेचन और वस्ति चिकित्सा को प्रयोग में लाना चाहिये।

जो मल या आम दोष ऊर्ध्व या अधोमार्ग से स्वतः निकल रहा हो; उसे औषधि देकर बन्द नहीं करना चाहिये। कारण, मल या विकृत आम भीतर में रह जाने से किसी-न-किसी रोग की उत्पत्ति करा देता है। अतः आवश्यकता पर दीपन-पाचन औषधि से आम या कच्चे मल-दोष को पका कर दूर करें।

जब औषधि जीवनीय शक्ति की सहायक होती है; अथवा आन्तरिक शक्ति को बलवान बनाती है; तब वह रोग को दूर करने के लिये समर्थ होती है। इसलिये चिकित्सकों को सर्वदा जीवनीय शक्ति पर लक्ष्य देना चाहिये। यदि जीवनीय शक्ति निर्बल होती जायगी; तो उस चिकित्सा द्वारा रोग निवृत्त हो जायगा, ऐसा नहीं कह सकेंगे।

रोग और रोगी की प्रकृति तुल्यता, ऋतु तुल्यता अथवा देश तुल्यता होवे, वह रोग जल्दी काबू में नहीं आता। प्रकृति तुल्यता आदि चिह्न न हों, तो रोग सुख-साध्य समझना चाहिये। जैसे पित्त प्रकृति वाले को कफ का उपद्रव हो, तो प्रकृति तुल्यता न होने से सुख-पूर्वक आराम होता है; और पित्त प्रकृति वाले को पित्त का रोग हो, तो प्रकृति तुल्यता होने से कष्टसाध्य होता है। किन्तु यह नियम प्रमेह रोग में लागू नहीं होता। प्रमेह रोग प्रकृति और वातादि दोष-दूष्यों की समानता से सुखसाध्य और विरुद्धता से कष्टसाध्य और असाध्य माना गया है।

काल प्रभाव—संसार की समस्त औषधियों में और प्राणीमात्र के शरीर में वात, पित्त और कफ, ये तीनों दोष रहते हैं। वे काल प्रभाव से बढ़ते-घटते हैं। इनके संचय, प्रकोप और शमन निम्नानुसार होते हैं।

वात दोष का ग्रीष्म में संचय, वर्षा में प्रकोप और शरद् ऋतु में शमन होता है।

पित्त दोप का वर्षा में संचय, शरद् में प्रकोप और वसन्त में शमन होता है।

कफ दोप का हेमन्त में संचय, वसन्त में प्रकोप और वर्षा में शमन होता है।

यदि ऋतु के हेतु से दोपप्रकोप होता हो, और शमन की औपधि दी जाय; तो रोग तुरन्त शमन नहीं हो सकता। जैसे शरद्ऋतु में पित्त कुपित होता है; उस समय ऋतु तुल्यता होने से पित्तशामक चिकित्सा करने पर भी पित्तशमन सत्वर नहीं हो सकता। यदि शरद्ऋतु में कफ कुपित हो, तो यह ऋतु तुल्यता न होने से शीघ्र दूर हो सकता है।

देश प्रभाव—अनूप (वायु और सूर्य का ताप कम तेज तथा वृक्ष और जल अधिक हो, ऐसा) देश, स्वाभाविक रीति से कफ प्राधान्य होता है। जांगल (वायु और ताप अधिक तेज हो, वृक्ष और जल कम हो, ऐसा) देश, वात प्राधान्य होता है; अर्थात् इन देशों के औपधि, मनुष्य और पशु-पक्षी आदि वात प्राधान्य प्रकृति वाले होते हैं। दोनों देशों के लक्षण जिस देश में मिलते हों उसको साधारण देश कहा है। साधारण देश में वात, पित्त और कफ प्रायः सम माने हैं। (जिस देश में अधिक उष्णता पड़ती हो, उस देश को उष्ण और शीत प्राधान्य देश को शीत कहा है)। कतिपय उष्ण देशों में पित्त सत्वर प्रकुपित होजाता है। कतिपय शीत प्राधान्य देशों में निर्बलों पर वात या कफ प्रकोप होकर न्युमोनियादि रोग सत्वर आक्रमण कर देते हैं। पर्वतों पर अतिसार, प्रवाहिकादि सहज हो जाते हैं। बड़े शहरों में निर्धनों को राजयक्ष्मा हो जाने की भीति अधिक रहती है। छोटे ग्रामों में विपमज्वर जल्दी फैलता है। कतिपय देश द्विदोपज प्रतीत होते हैं। अलावा प्रवास और ऋतु प्रकोपादि हेतु से मनुष्यों पर देश का असर न्यूनाधिक हो जाता है। मेला-यात्रा में आवश्यक स्वच्छता न रहने से संक्रामक विसूचिकादि रोगों की उत्पत्ति हो जाती है।

साधारणतया पित्त प्राधान्य देश में कफ की वृद्धि होवे, तो देश तुल्यता न होने से रोग सुखसाध्य होता है। एवं कफ प्रकोपयुक्त रोगी

मरुभूमि (जांगल देश) में रहे; तो उस देश के जलवायु से कफ प्रकोप में कमीपना हो जाता है। मद्रास अथवा महाराष्ट्र में इमली खाना अनुकूल रहता है; परन्तु उस देश के निवासी मालवा में आकर इमली खाते हैं; तब उनमें से अनेकों के शरीर पर सूजन आ जाती है। इस तरह काल और देश का असर भी मानव प्रकृति पर होता है।

प्रकृति स्वभाव—सामान्यतः मानवदेह में बाल्य, युवा और वृद्धावस्था में अनुक्रम से कफ, पित्त और वात धातु की अधिक परिमाण में उत्पत्ति होती है। दिन और रात्रि में भोजन करने पर पचन होने तक कफ, पित्त और वात की वृद्धि क्रमशः होती रहती है। ऋतु विभाग में ग्रीष्म, वर्षा और शीतकाल तथा देश भेद से जांगल, ऊष्ण और अनूप प्रदेश, ये क्रमशः वात, पित्त और कफ की वृद्धि के लिये अधिक अनुकूल माने गये हैं।

जागरण, मल-मूत्रादि वेग का धारण, मैथुन और मार्ग-गमनादि से वातवृद्धि; सूर्य का ताप और अग्नि का सेवन, क्षुधादि वेग का धारण, तथा शराब, तमाखू आदि का सेवन, ये सब पित्तवृद्धिकर हैं; एवं श्रम का अभाव, दिन में शयन और चिन्ता त्यागादि ये सब कफवृद्धिकर हैं।

इनके अलावा मन की वृत्ति के परिवर्त्तन से भी वातादि धातु में न्यूनाधिकता हो जाती है। चंचल वृत्ति से वात, क्रोधादि से पित्त, तथा आनन्द और शान्ति से कफ धातु की वृद्धि होती है।

इस रीति से प्रकृति, देश और काल विचार, रोग का कारण, दोष प्रकोप, दूष्य विचार, उपद्रव, साम-निराम रोग, कितने काल से रोग हुआ है, रोग की गति, रोगी की आयु, स्त्री है तो सगर्भा या प्रसूता है अथवा नहीं; बालक है, तो माता का दूध पीता है अथवा नहीं; माता रोगी है अथवा निरोगी तथा रोगी के आहार-विहार और अरिष्टचिह्नादि का विचार कर चिकित्सा करने से भगवान् धन्वन्तरि अवश्य यश दिलाते हैं।

रोग परीक्षा प्रकरण ।

रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम् ।
ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत् ॥

च० सं० सू० २१ । २४

चिकित्सकों को चाहिये, कि पहले रोग की परीक्षा करें; फिर रोगानुसार औषधि के गुण, धर्मादि का विचार करें; तत्पश्चात् देश, काल, प्रकृति आदि का विचार कर ज्ञान पूर्वक चिकित्सा करें।

रोग का जब तक निश्चय न हो, तब तक चिकित्सा निःसन्देह नहीं हो सकती। अतएव महर्षियों ने रोग परीक्षा का विधान किया है। इस रोग-परीक्षा के महर्षि आत्रेय ने तीन उपाय कहे हैं*। शास्त्रोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान।

(१) **शास्त्रोपदेश**—शास्त्र में कहे हुए लक्षणों (निदान पंचक) पर से रोग निर्णय करने को शास्त्रोपदेश कहा है। इसका वर्णन पहले उपोद्घात प्रकरण में किया गया है।

(२) **प्रत्यक्ष**—आगे लिखे हुए नाड़ी, मल-मूत्रादि अष्ट स्थानों पर से रोग विनिश्चय करना, उसे प्रत्यक्ष परीक्षा संज्ञा दी है।+

(३) **अनुमान**—रोग का आरम्भ, दोष, बलाबलादि का युक्ति पूर्वक निश्चय करना, उसे अनुमान कहा है ×। इस अनुमान परीक्षा के लिये अनेक प्रश्न किये जाते हैं; इस हेतु से अष्टांग हृदयकार ने इसे प्रश्न परीक्षा (इण्टरोगेशन Interrogation) नाम दिया है।÷

---

* "त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति तद्यथा आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमान चेति।" ॥ च० सं० वि० ४ । ३ ॥

\+ "प्रत्यक्षतस्तु खलु रोगतत्वं बुभुत्सुः सर्वैरिन्द्रियैः सर्वानिन्द्रियार्थान् आतुरगतान् परीक्षेत, अन्यत्र रसज्ञानात्।" च० सं० वि० ४ । ६ ॥

× "अनुमानं खल्वपि तर्को युक्त्यपेक्षः।" च० स० वि० ४ । ६ ॥

÷ "दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम्।" अ० हृ० ॥

प्रत्यक्ष परीक्षा के अष्ट स्थान—प्रत्यक्ष परीक्षा के आठ स्थानों के लिये रावण कृता नाड़ी परीक्षा में लिखा है, कि:—

गदाक्रान्तस्य देहस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत् ।
नाड़ी मूत्रं मलं जिह्वां शब्दस्पर्शदृगाकृतीः ॥

रोगी के देह की नाड़ी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श, नेत्र और आकृति (दर्शन परीक्षा), इन आठ स्थानों को भली भाँति देख, सोच-विचार कर रोग विनिर्णय करना चाहिये।

नाड़ी परीक्षा ।

इस देह में मूलाधार रूप वात, पित्त और कफ, ये तीन धातु हैं। इनकी गति (साम्यावस्था और विकृति) नाड़ी पर से विदित होती है। इसलिये अनेक आचार्य और जनता ने नाड़ी परीक्षा को अति-महत्व दिया है।

हाथ के मणिवंध और अंगुष्ठ की मूल में जीव की साक्षी देने वाली धमनी रहती है। इस धमनी को बहिः प्रकोष्ठीया धमनी कहते हैं। इसकी गति देखने से स्वास्थ्य और रोग का वोध हो जाता है।

अंगुष्ठमूलमार्गे या धमनी जीवसाक्षिणी ।
तच्चेष्टया सुखं दुःखं ज्ञेयं कायस्य पण्डितैः ॥ यो० त० ॥

धमनी की परिभाषा प्राचीन शास्त्रकारों और अर्वाचीन आचार्यों की भिन्न-भिन्न हैं। भगवान् धन्वन्तरि के मतानुसार इस देह में नाभि से उत्पन्न २४ धमनियाँ हैं। इनमें १० ऊर्ध्वगामी, १० अधोगामी और ४ तिर्यक्गामी हैं। फिर इनकी शाखा, उपशाखायें असंख्य हो गई हैं। इन धमनियों में कितनीक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, श्वासोच्छ्वासक्रिया, हँसना, बोलनादि क्रिया को तथा कतिपय वात, पित्त, कफ और रक्त को वहन कराती हैं। इस तरह धमनियों से और भी अनेक क्रिया हो रही हैं। इन वातादि धातु वहन करने वाली धमनी की शाखा, जो करमूल में रही है; वही वातादि धातुओं की प्रकृति-विकृति का बोध कराती है।

वर्तमान में प्रत्यक्ष शारीरकार ने धमनी हृदय में से रक्त को ग्रहण कर सारी देह में पहुँचाने वाली रक्तवाहिनी नाड़ी को कहा है। शाखा, उपशाखा मिलकर धमनियाँ अनेक बन गई हैं। इन सबका मूल हृदय है। हृदय के साथ मुख्य दो

धमनियों का सम्बन्ध है। एक फुफ्फुसाभिगा धमनी (Pulmonary artery) और दूसरी महाधमनी (Aorta) है। फुफ्फुसाभिगा धमनी की २ मुख्य शाखाएँ हृदय के दक्षिण भाग में से अशुद्ध रक्त को शुद्ध करने के लिये फुफ्फुसों में ले जाती हैं। शरीर में अशुद्ध रक्त वहन करने वाली धमनियाँ केवल ये ही हैं।

दूसरी महाधमनी हृदय के वामनिलय में से उत्पन्न होकर अपनी विविध शाखाओं द्वारा सारे शरीर को शुद्ध रक्त पहुँचाती रहती हैं। इस धमनी की बड़ी बड़ी शाखाओं द्वारा जहाँ जहाँ रक्त जाता है, वहाँ रक्ताभिसरण जनित 'धम-धम' ऐसी आवाज़ होती रहती है। इस पर से शारीरिक व्यापारों की प्रकृति-विकृति का बोध होता है। इसकी एक शाखा बहिः प्रकोष्ठीया धमनी (Radial artery) हाथ में गई है। उस शाखा में मणिबंध के पास हृदय की स्थिति अनुसार रक्तवहन की आवाज़ जानी जाती है। इस पर से हृदय विकृति और अनेक प्रकार के रोगों का सम्यक् प्रकार से बोध हो जाता है।

कतिपय मनुष्यों में धमनियों के उत्पत्ति स्थान, शाखा, धमनी चक्र के स्थान, धमनी शाखाओं की संख्या, इनमें अंतर प्रतीत होता है। किन्तु अधिकांश में समान रहता है। सामान्यतः हाथ के नाड़ी स्थान की अपेक्षा एक मनुष्य का नाड़ी स्थान ४ अंगुल ऊपर के भाग में ४ वर्ष पहले देखा था। बम्बई में एक समय एक मृत मनुष्य के हृदय खण्ड देखे थे; वे बिलकुल उल्टे थे। फिर भी अनेक वर्षों तक वह मनुष्य निरोगी स्थिति में जीवित रहा था। ऐसी विविधता भी क्वचित् दृष्टिगोचर होती है।

इस नाड़ी-परीक्षा का सम्यक् बोध लेखनी द्वारा नहीं दे सकते; केवल अनुभव से ही होता है। जैसे मुँह के उच्चारण में अ, क से आदि लेकर ५२ अक्षर, इनमें भी सानुनासिक, निरनुनासिक और मात्रादि भेद तथा पशु-पक्षी और यन्त्रादि की ध्वनि मिलकर अनेक प्रकार होते हैं। इस तरह नाड़ी की गति में भी अनेक विध भेद हो जाते हैं। जैसे वाणी पर से सुख-दुःख, प्रेम-द्वेष, सरलता-दुष्टता (कपट), सद्भावना दुर्भावना, क्रूरता, क्रोध, भय, अभिमानादि हार्दिक वृत्ति; बालक, युवा या वृद्ध की आवाज; स्त्री या पुरुष; रोगी और नीरोगी स्थिति; मुँह से पानादि खाते हुए या कफ होते हुए उच्चारण, परिचित या अपरिचित

व्यक्ति, इन सब बातों का बोध हो सकता है। वैसे ही नाड़ी-परीक्षा से आन्तरिक स्थिति और नाना प्रकार की व्याधियों का बोध हो जाता है।

मणिबंध और अंगुष्ठ के मूल में जो धमनियों का संधिस्थान है; उस पर उँगली रखकर नाड़ी की गति देखने को नाड़ी-परीक्षा कहते हैं। यद्यपि शरीर में अनेक (दोनों पैरों के गुल्फ, नाक और कण्ठादि स्थानों की) धमनियों पर उँगली रखकर भी देखा जाता है। तथापि इन अनेक स्थानों में से हाथ की नाड़ी को ही प्राधान्यता दी है। मुमुर्षु अवस्था में जब हाथ की नाड़ी टूट जाती है; तब उक्त कण्ठादि की नाड़ियों से परीक्षा की जाती है। (कण्ठ में रही हुई मन्याशिरा की गति अनेक प्रकार के हृदय के रोगों में भी देखी जाती है)।

जीवन-मरण, शिरोरोग, कण्ठरोग, कर्णरोग और मुखरोग का बोध नासा नाड़ी से हो सकता है। यदि पैरों की नाड़ी पर से स्पंदन देखना हो; तो अन्तर्गुल्फ के नीचे (गाँठ के पीछे) रही हुई पश्चिम जंघिका (पिछली ओर रही हुई) धमनी पर से देखा जाता है।

नाड़ी परीक्षा में विशेषतः पुरुष के दक्षिण और स्त्रियों के वामहस्त की नाड़ी देखी जाती है। कारण, स्त्री-पुरुष के देह भेद से नाड़ी आदि अङ्गों के मूल विपरीत रहे हैं। जैसे वीणा के सब रागों को तन्त्री स्पष्ट दर्शा देती है; वैसे ही हाथ की नाड़ी सब रोगों का प्रकाश कर देती है। शरीर में वात, पित्त, कफ में से जो दोष कुपित होता है, उस दोष के अनुसार नाड़ी की स्थिति बदल जाती है, अर्थात् वायु में विकृति होने पर गति दूषित हो जाती है। पित्त प्रकोप से स्वाभाविक उष्मा में परिवर्त्तन और कफ प्रकोप होने पर नाड़ी में शिथिलता आ जाती है।

अनेक अनुभवी सज्जनों का मत है कि इस देह में वात, पित्त और कफ अलग नहीं रहते; अतः एक-एक उंगली से एक-एक दोष का बोध नहीं हो सकता। एक ही स्थान से सबका मिश्रित बोध हो जाता है।

तब दूसरी ओर कतिपय आचार्यों का मत है, कि नाड़ी में वायु का स्थान प्रथम (अँगूठे के मूल के पास), पित्त का स्थान मध्य में और

कफ का स्थान अन्त में माना है*। वायु के स्थान में सर्पादि प्राणी की तरह कुछ टेढ़ी गति, पित्त के स्थान में मेंढ़क के समान उछलती और कफ के स्थान में हंस, मोर, कबूतरादि पक्षी की तरह मन्दगति प्रतीत होती है। इन वात, पित्त, कफ के स्थाननिर्णय में भी आचार्यों के मत-भेद हैं। परन्तु वात, पित्त, कफ की अनुक्रम से साँप के समान टेढ़ी, मेंढ़क समान उछलती और राजहंस समान मन्द गति में मतभेद नहीं है। अतः इन निश्चित लक्षणों पर से वात, पित्त और कफ का निर्णय सामान्य बोध वाले साधक भी कर सकते हैं। प्रथम मत (वात, पित्त, कफ का स्थान पृथक् न मानने वाले) की अपेक्षा इस द्वितीय मत (वात, पित्त, कफ, तीनों के स्थान अलग-अलग उँगली के नीचे मानने वाले) को गौण माना है। फिर भी द्वितीय मत के अनुयायी अधिक होने से उस रीति से नाड़ी का विवेचन किया है।

मणिबन्ध में जिस स्थान पर धमनी के साथ दूसरी छोटी रक्त-वाहिनी का सम्मिलन होता है और जहाँ पर रक्त उछलता हुआ प्रतीत होता है; उस स्थान को पित्त का स्थान माना है। शरीर में उष्णता के कारण रक्ताभिसरण क्रिया में जितनी उत्तेजना होती है; उतनी ही सन्धि-स्थान में (पित्त स्थान में) रक्त के उछलने की प्रतीति होती है। उस स्थान के ठोके पर से आन्तरिक शक्ति का हिसाब लगाया जाता है।

पित्तस्थान से आगे अंगुष्ठ की ओर वातधातु की प्रकृति-विकृति अनुरूप रक्त की गति टेढ़ी और वेगवती या मन्द बनती है। अतः उस स्थान को वात-स्थान कहा है। एवं पित्तस्थान के ऊपर (कूर्पर की ओर) नाड़ी कफ की गति का बोध कराती है; अतः उसे कफस्थान माना है। इस तरह एक ही नाड़ी वात, पित्त और कफ का बोध कराती है।

आयुर्वेद की पद्धति अनुसार नाड़ी की परीक्षा के लिए रोगी के हाथ को अपने बाँये हाथ से थोड़ा टेढ़ा कर कुहनी (कूर्पर) में रही हुई

---

* अग्रे वातवहानाड़ी मध्ये वहति पित्तला।
अन्तेश्लेष्म विकारेण नाड़ीज्ञेया सदा बुधैः॥ यो० त०॥

नाड़ी को थोड़ा दवा, फिर मणिवन्ध में स्थित नाड़ी पर अपने दाहिने हाथ की उँगलियों को रखनी चाहिये ताकि तर्जनी उँगली से वात, मध्यमा से पित्त और अनामिका से कफ की गति का सम्यक् वोध हो सके।

इस नाड़ीज्ञान विपयक अपने देश में अनेक दन्तकथा प्रचलित हैं। कोई कहते हैं, कि आज आपने क्या भोजन किया, इसको अमुक वैद्य वता सकते हैं। अमुक वैद्य ६ मास पहले के आहार को वता देते थे; और भूतकाल के अनेक पूर्वज तो राजमहिलाओं के हाथ पर वँधी हुई डोरी को पकड़ने मात्र से रोग का वर्णन कर देते थे। इन सव वातों में सत्य का अंश कितना है, यह ईश्वर ही जाने। सव कल्पनाओं के राज-महल हैं। नाड़ी केवल वात, पित्त और कफ की प्रकृति-विकृति का वोध कराती है। जिस पर से आन्तरिक शक्ति कितनी वलवती है, कौनसा रोग है; रोग का वल कितना वढ़ा है; इन वातों का सामान्य रूप से अनुमान हो सकता है।

नाड़ी के ठोके धमनी के वल और गति तथा हृदय की सवलता-निर्वलता और संकोच-विकास के अनुरूप न्यूनाधिक होते हैं। स्वस्थ अवस्था में नाड़ी प्रवल, स्थिर और समान वेग से चलती है। किन्तु देह अस्वस्थ होने पर वातादि धातुओं में विकार होने से नाड़ी के वल और रक्ताभिसरण क्रिया के वेग में न्यूनाधिकता हो जाती है; जिससे नाड़ी अस्थिर, निर्वल, भारी, कठोर या अन्य दोप युक्त प्रतीत होती है।

स्वस्थावस्था और रुग्णावस्था में नाड़ी के ठोके का मिलान करने से जाना जाता है, कि नाड़ी के ठोके में नियमितता (Regularity) है या नहीं? तालवद्ध ठोके होते हैं या नहीं? इस वात के वोध से रोग-वल का अनुमान होता है। जो नाड़ी अत्यन्त अनियमित हो, तो वह अरिष्ट का लक्षण माना जाता है। रक्त प्रवाह के वल (Force), और धमनी की दृढ़ता के अनुसार नाड़ी की आकृति (पुष्ट या कृश), साम और निरामावस्था तथा पित्तादि धातुप्रकोप अवगत होते हैं।

रस-रक्तादि दूष्यों की विकृति वात, पित्त और कफ के दूपित होने

पर होती है। किसी दोष में कम विकृति और किसी में ज्यादा। किसी समय वात, पित्त, इन दो दोषों में विकृति विशेष हो जाती है; तब नाड़ी टेढ़ी और कूदती भासती है। वात और कफ में विकृति होने से टेढ़ी और मंद चाल प्रतीत होती है। पित्त और कफ विकृत होने पर नाड़ी बारबार कूदती और मंद होती हुई मालूम पड़ती है। इस तरह कचित् वात, पित्त और कफ, तीनों दोषों में विकृति होजाने पर तीनों प्रकार की चाल विकृत होती हुई विदित होती है।

जितने अंश में नाड़ी में विकृति आई हो, उतना ही रोग का बल समझना चाहिये। जब नाड़ी क्षण-क्षण में विषम स्पंदन युक्त (स्थान बदलती), कूदती, अति वेगयुक्त, अति वक्रगति वाली अथवा अति मंद, अति पुष्ट (स्थूलाकृति) या अति कठिन हो जाय; तब रोग असाध्य माना जाता है। यदि ३० ठोके तक नाड़ी की गति सम रहती है; तो जीवनीय शक्ति अपना सफल प्रयत्न कर रही है, ऐसा माना जाता है। परन्तु १०-१२ ठोके बाद नाड़ी में प्रतिबन्ध हो जाता हो; तो जीवनीय शक्ति का क्षय होकर रोग प्रबल हुआ है, रोग ने घातक रूप धारण किया है, ऐसा माना जाता है।

नाड़ी की गति स्वाभाविक स्थिति से कम हो; तो दुर्बलता या मस्तिष्क में रक्त की अधिकता समझनी चाहिये। ज्वर में नाड़ी-गति तेज हो जाती है; तथा स्नायुओं की निर्बलता में नाड़ी मृदु और पुष्ट हो जाती है। यदि बड़ी आयु वाले के नाड़ी के ठोके १२० से ऊपर चले जाते हैं, तो रोग का प्राबल्य अधिक माना जाता है, और १४० से बढ़ने पर भयप्रद अवस्था मानी जाती है।

यद्यपि नाड़ी देखने में पुरुषों के दाहिने और स्त्रियों के बाँये हाथ की नाड़ी अधिक बोध कराती है; तो भी दोनों हाथों की नाड़ियों को देखना, विशेष लाभदायक है। जब मरणासन्न रोगी के हाथ की नाड़ी नहीं जान पड़ती, तब हाथ के ऊपर के भाग में या कंठ, पैरों के गुल्फ और नासानाड़ी पर से चेतना-शक्ति को जानना चाहिये।

निद्रितावस्था, परिश्रम, व्यायाम, भोजन, बाहर से चलकर आना,

तैल मर्दन, अग्नि और सूर्य के ताप का सेवन, इन कर्मों के करने पर तुरन्त, तथा क्षुधातुर और तृषातुर की नाड़ी नहीं देखनी चाहिये। कारण, ऐसी स्थिति में नाड़ी रोग या शारीरिक शक्ति का यथार्थ बोध नहीं करा सकती। प्रातःकाल मल-मूत्र त्याग कर थोड़ी विश्रान्ति लेने के पश्चात् नाड़ी की परीक्षा करना यह उत्तम है। मध्याह्न में नाड़ी का स्वभावतः वेग-न्यून हो जाता है। पुनः तीसरे प्रहर में बढ़ जाता है। अतः इन समयों में भी पूरा बोध नहीं हो सकता।

स्वस्थ मनुष्य की नाड़ी केंचुए की गति के समान मृदु, प्रबल, जड़ता रहित तथा बलवान रहती है। प्रातःकाल स्निग्धा, मध्याह्न में उष्णा और सायंकाल को वेगवती भासती है। किन्तु रोग होने पर नाड़ी की गति में नाना प्रकार की विभिन्न गति हो जाती है।

भिन्न-भिन्न हेतुओं से नाड़ी की गति में निम्नानुसार भेद हो जाता है।

(१) दीप्ताग्नि वालों की नाड़ी हल्की और तेजयुक्त होती है।

(२) सुखी मनुष्य की नाड़ी स्थिर और सबल होती है।

(३) क्षुधातुर की नाड़ी चपल और भोजन कर लेने पर स्थिर हो जाती है।

(४) अधिक भोजन होने पर और मैथुन के बाद नाड़ी उष्ण स्पर्श और मन्द हो जाती है।

(५) मन्दाग्नि और धातुक्षीणता में नाड़ी क्षीण और धीरी होती है।

(६) उद्वेग, काम, भय या चिन्ता के उदय होने पर नाड़ी की गति क्षीण हो जाती है।

(७) मलावरोध में नाड़ी वेगवती, वक्रगति, ऊपर चढ़ती हुई और भारी मालूम होती है।

(८) अजीर्ण में नाड़ी कठिन और मन्द-मन्द चलती है। आमदोष से भारी और स्थूल भासती है; फिर अजीर्ण की निवृत्ति होने पर नाड़ी तेज, निर्मल और चंचल हो जाती है।

(९) सगर्भा की नाड़ी भारी, मन्द और ऊर्ध्वगतियुक्त जान पड़ती है।

(१०) ज्वर में नाड़ी उष्ण-स्पर्श और वेगपूर्वक चलती है। वातज्वर में नाड़ी कुछ भारी, कठिन और वेगवती; पित्तज्वर में अत्यन्त वेगपूर्वक चलती हुई और कठिन; तथा कफज्वर में मन्द वेगयुक्ता और मन्दोष्ण प्रतीत होती है। वातपित्तज्वर में चंचल, स्थूल और कठिन; वातकफज्वर में मन्द और थोड़ी गरम (क्वचित् वात स्थान में तेज); तथा कफपित्तज में नाड़ी शीतल-सी और मृदुगामी विदित होती है। त्रिदोषज में नाड़ी क्षण-क्षण में अनियमित होती हुई भासती है। सामज्वर में नाड़ी भारी (पुष्ट) रहती है और निरामावस्था में नाड़ी हल्की हो जाती है।

(११) अतिसार में पहले नाड़ी तेज चलती है; परन्तु निर्बलता आजाने के बाद नाड़ी शनैः-शनैः क्षीण होती जाती है।

(१२) संग्रहणी में नाड़ी उछलती हुई चलती है।

(१३) विषूचिका में नाड़ी सूक्ष्म मेंढक की तरह उछल-उछलकर अनियमित चलती है; और धीरे-धीरे अति शिथिल हो जाती है।

(१४) अर्श में नाड़ी स्थिर और मंद रहती है; किन्तु अपथ्य सेवन करने पर प्रायः तेज और टेढ़ी-सी एवं क्वचित् सरल चलती है। वातार्श में वक्रगति, पित्तज में मेंढक समान गति और कफज में पुष्ट रहती है। द्विदोषज और त्रिदोषज में दोषानुसार गति हो जाती है।

(१५) पाण्डु और कामला रोगी की नाड़ी चंचल और तीक्ष्ण रहती है; और कभी-कभी चाल में अन्तर पड़ जाता है।

(१६) शूलरोग में वात प्राधान्यता हो, तो वक्रगति; पित्तज हो, तो अति उष्ण; कफ प्रकोपसह हो, तो मंद और भारी; तथा आमजन्य शूल या कृमि प्रकोप हो, तो नाड़ी भारी, तेज और कभी झटका मारती हुई भासती है।

(१७) कफ कास और राजयक्ष्मा में रोग प्रबल हो जाने के पश्चात् नाड़ी अस्थिर (कम्प युक्त), क्षीण और मंद चलती है। शुष्क कास में नाड़ी बारबार अस्थिर-सी हो जाती है।

(१८) श्वास रोग में श्वास उठने पर तेज गति और अन्य समय

पर मंद हो जाती है। नाड़ी की चाल बहुधा जोंक के सदृश रहती है।

(१६) हिक्का में नाड़ी अस्थिर और वेगपूर्वक चलती रहती है।

(२०) कृमिरोग में नाड़ी कभी मृदु, कभी तेज, कभी झटका मारती तथा क्वचित् लोप हो जाती है।

(२१) स्वरभंग में नाड़ी सूक्ष्म या क्षीण हो जाती है।

(२२) गुल्म रोग में नाड़ी चंचल, वेगवती और घूमती हुई विदित होती है।

(२३) रक्तपित्त में नाड़ी मंद, कठिन और सरल होती है।

(२४) वमन रोग में क्वचित् नाड़ी एकदम लोप हो जाती है; और अनियमित रहती है।

(२५) मदात्यय में सूक्ष्म, वेगवती, उष्ण स्पर्श, कठिन और जड़ हो जाती है।

(२६) उन्माद रोग में चंचल, घूमती हुई और अनियमित होजाती है।

(२७) वातरक्त में नाड़ी मंद, वक्र और कठिन प्रतीत होती है।

(२८) प्रमेहादि मूत्र रोगों में नाड़ी कठिन और भारी होती है; और मूत्राघात रोग में बारबार विषमता युक्त अर्थात् अनियमित भी होती रहती है।

(२९) कुष्ठ रोगी की नाड़ी प्रायः कठिन और मंद हो जाती है; किन्तु पित्त प्राधान्य कुष्ठ में गति तेज रहती है।

(३०) विष के तीव्र वेग में नाड़ी अत्यन्त चंचल होती है; और निर्बलता बढ़ने पर नाड़ी शिथिल हो जाती है।

(३१) हृद्रोग में नाड़ी राजहंस के समान मन्द, कठिन, क्वचित् लोप होती हुई एवं कचित् तीव्र गति वाली हो जाती है।

(३२) वातव्याधि में नाड़ी की गति वक्र और मन्द रहती है।

(३३) अपस्मार में नाड़ी क्षीण और तेज चाल वाली हो जाती है।

(३४) ऊरुस्तंभ में नाड़ी स्निग्ध, वक्र, चंचल और गर्म भासती है।

(३५) प्रदर रोग में नाड़ी स्थिर और मन्द गतियुक्त होती है।

(३६) आमवात के तीव्र प्रकोप में नाड़ी की गति तेज और भारी

होने पर भी संकोच क्षम (Compressible) होती है। रोग जीर्ण होने पर नाड़ी शिथिल हो जाती है।

(३७) त्रिदोषज असाध्य व्याधि में नाड़ी कभी मन्द, कभी तेज, कभी शिथिल और कभी रुक-रुककर चलती है; तथा कभी एकदम विलुप्त भी हो जाती है। उपर्युक्त नाड़ी की गति यदि सूर्य के ताप में भ्रमण, अधिक परिश्रम, दौड़ना, गिरना, तीव्र अतिसार, विषूचिका, विष प्रकोप, मानसिक अस्वस्थता, मूर्च्छा, भय, शोक, निर्बलता, मैथुन करने के पश्चात्, क्षय रोग तथा शुक्रक्षयादि हेतु से हो जाय; तो मात्र उतने से ही रोग को सत्वर घातक न मान लें। बालकों की नाड़ी भी अनेक बार ऐसी ही हो जाती है। फिर भी थोड़े समय में वह स्वस्थ हो जाती है।

यदि देह में अति उष्णता हो और नाड़ी में शीतलता हो; या नाड़ी में उष्णता और शरीर में शीतलता हो; या बारबार गति बदलती रहती हो और संज्ञा नाश हो जाय, तो रोग को असाध्य माना जाता है।

(३८) त्रिदोषज रोगी और मुमुर्षु की नाड़ी यदि चल-चलकर बार-बार स्थिर हो जाय और शरीर में शोथ न आया हो, तो रोगी एक सप्ताह जीवित रहता है।

जिसकी नाड़ी अपने स्थान से आधे यव प्रमाण स्खलित हो जाय; वह ३ दिन में मृत्यु की शरण लेता है।

केवल अनामिका नीचे स्पन्दन हो, तो ४ प्रहर में; दो अंगुल दूर होने पर १॥ प्रहर में; २॥ अंगुल अन्तर पड़ने पर १ प्रहर में; और तीनों उँगली के नीचे नाड़ी की अप्रतीति होने पर आध प्रहर में मृत्यु हो जाती है।

जिसकी नाड़ी मात्र तर्जनी के नीचे प्रतीत हो, इतर दो उँगली नीचे न हो, वह ४ दिन जीवित रहेगा।

यदि शरीर अति उष्ण और नाड़ी अति शिथिल हो जाय, तो रोगी ३ दिन में चला जायगा। यदि नाड़ी बार-बार टूट जाती है; या अदृश्य हो जाती है, तो वह उसी दिन चला जाता है।

इस नाड़ी-परीक्षा में रोगी की प्रकृति वातप्राधान्य, पित्तप्राधान्य

अथवा कफप्राधान्य है, इस वात को लक्ष्य में रखकर परीक्षा करनी चाहिये। अनेक-अनेक व्याधियों में नाड़ी की चाल में समानता भासती है। जैसे चिन्ता और भय से नाड़ी क्षीण होती है। मन्दाग्नि और क्षीण धातुवालों की नाड़ी मन्द-मन्द चलत है। इसलिये नाड़ी-परीक्षा के अतिरिक्त अन्य परीक्षाओं की सहायता भी लेनी चाहिये।

पाश्चात्य विधि—आयुर्वेदीय नाड़ी परीक्षा के समान डाक्टरी में भी नाड़ी परीक्षा की विचारणा हुई है; और हो रही है। इस मत अनुसार नाड़ी परीक्षा के निम्नानुसार ५ विभाग होते हैं।

(१) गति—स्पन्दन संख्या (Frequency, Rate)।

(२) यति—ताल या हंसादि वोधक सम-विषम गति (Rhythm)।

(३) संहति—दृढ़ता-कोमल या कठोर नाड़ी (Tension)।

(४) आकृति—स्थूल कृश नाड़ी (Volume)।

(५) रक्तवल (Force)।

(१) गति—स्पन्दन संख्या प्रकृति और शरीर वल के भेद से न्यूनाधिक हो जाती है। स्वस्थ स्थिति में सामान्य रीति से नाड़ी के ठोके एक मिनट में निम्नानुसार प्रतीत होते हैं।

आयु	ठोके	आयु	ठोके
गर्भस्थ वच्चों के	१४०	१४ वर्ष तक	६०
जन्म लेने पर	१३०	२० ,,	८५
प्रथम वर्ष में	१२०	४० ,,	७५
द्वितीय वर्ष में	११०	६० ,,	७०
तृतीय वर्ष में	१००	अति वृद्धावस्था में	७५ से ८०
७ वर्ष तक	६५		

पुरुप की अपेक्षा स्त्री की नाड़ी के स्पन्दन में १०–१५ ठोके अधिक होते हैं। अति वृद्धावस्था आने पर निर्वलता वढ़ जाने के हेतु से नाड़ी अधिक अनियमित हो जाती है। एवं इतर समय में निर्वलता वढ़ जाने पर नाड़ी के ठोके वढ़ जाते हैं। कचित् स्वस्थावस्था में भी स्वाभाविक स्पन्दन-संख्या में वहुत अन्तर हो जाता है। जैसे फ्रान्स के सम्राट् नेपो-

लियन बोनापार्ट की नाड़ी के ठोके केवल ४० ही होते थे। इसके विरुद्ध कतिपय मनुष्यों के हृत्पिण्ड द्रुतगामी होने से उनकी नाड़ी में स्पन्दन-संख्या स्थायी या सामयिक भाव से १०० से १२० तक प्रति मिनट हुआ करती है। सामान्य रीति से हृदय जितना सबल होगा, उतने ही स्पन्दन कम होते हैं; और जितना हृदय निर्बल होता है, उतनी ही स्पन्दन-संख्या बढ़ जाती है। इस नियमानुसार किसी भी व्याधि में बल-क्षय हो जाने पर गति तीव्रतर हो जाती है।

निद्रितावस्था की अपेक्षा जागने पर, सायंकाल की अपेक्षा प्रातः-काल में, लेटे रहने की अपेक्षा बैठने पर और बैठने की अपेक्षा खड़े रहने पर नाड़ी के स्पन्दन बढ़ जाते हैं। लेटे रहने पर ६६ ठोके हों, तो बैठने पर ७०, और खड़े होने पर ८० हो जाते हैं।

क्रोध या भय की उत्पत्ति होने पर स्पन्दन-संख्या बढ़ जाती है; और मानसिक आघात होने पर स्पन्दन-संख्या कम हो जाती है। व्यायाम के प्रारम्भ में स्पन्दन बढ़ जाते हैं, फिर थकावट आजाने पर कम हो जाते हैं।

नाड़ी गति के अनुरूप श्वासोच्छ्वास (Respirations) संख्या प्रति मिनट २ मास से २ वर्ष तक ३५, ६ वर्ष तक ३०, १२ वर्ष तक २०, १५ वर्ष तक १८ और युवा पुरुष की १६ से १८ होती है। स्त्री के श्वास दो अधिक चलते हैं।

इस हिसाब से श्वासोच्छ्वास से नाड़ी के ठोके बहुधा ४ गुने होते हैं। यह स्थिति स्वस्थता और अस्वस्थता, दोनों स्थिति में कायम रहती है। किन्तु न्युमोनियादि कतिपय व्याधियों में इस नियम का भंग हो जाता है। न्युमोनियाँ में श्वासोच्छ्वास से नाड़ी के स्पंदनों की संख्या केवल १॥ से २ गुनी होती है। ऐसे ही इतर फुफ्फुस विकृति जन्य रोगों में भी अन्तर हो जाता है।

श्वासोच्छ्वास के अतिरिक्त नाड़ी के स्पंदनों का शारीरिक उत्ताप के साथ भी घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। जब नाड़ी में ८ से १० स्पन्दन बढ़ जाते हैं, तब उत्ताप एक डिग्री बढ़ जाता है। इस नियमानुसार नाना

प्रकार के ज्वरों में उत्ताप के अनुरूप नाड़ी के ठोके की संख्या में भी वृद्धि हो जाती है।

किन्तु शारीरिक उत्ताप न बढ़ने पर स्पन्दन-संख्या वृद्धिंगत होती जाय, तो समझना चाहिये, कि हृत्पिण्ड दिनों-दिन क्षीण होता जाता है।

हृदय के वामखण्ड में रहे हुए द्विपत्रकपाट से रक्त का प्रत्यावर्त्तन (Mitral regurgitation), धमनी कपाट से रक्त का पुनरागमन (Aortic regurgitation) या इतर हृत्पिण्ड विकार, हिस्टीरिया, रक्त की अति न्यूनता और गलगण्डादि रोगों में उत्ताप न बढ़ने पर भी नाड़ी के ठोके की संख्या बढ़ जाती है।

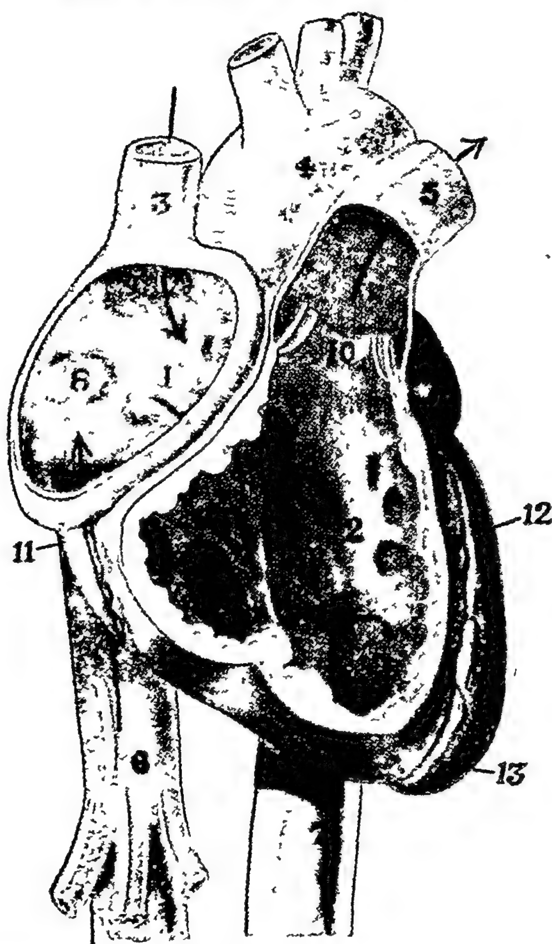
राजयक्ष्मादि व्याधियाँ और रक्त हीनता, जिनमें रक्त-भार कम हो जाता है; इनमें उत्ताप और श्वासोच्छ्वास की अपेक्षा नाड़ी की गति तीव्र हो जाती है। किन्तु किसी कारणवश रक्त-भार की वृद्धि होजाय; तो अपेक्षा कृत स्पन्दन-संख्या कम हो जाती है।

मस्तिष्कावरण प्रदाह (मेनिञ्जायटिस Meningitis), फुफ्फुस प्रदाह और हृदयावरण प्रदाह (पेरिकार्डायटिस Pericarditis) से ज्वर, मोतीझरा (Typhoid), इन्फ्ल्युएञ्जा, संतत विषमज्वर, इन रोगों में उत्ताप की अपेक्षा नाड़ी के स्पन्दन की संख्या कम हो जाती है।

कामला, पाण्डु, संन्यास, जीर्ण-अजीर्ण, अर्धावभेदक, मूत्र-यन्त्र में विकृति, धमनी कोप काठिन्य, अपस्मार, श्लैष्मिक उन्माद, मधुमेह, उग्र रोगों के पश्चात् निर्बलता और फुफ्फुस-कोष विस्फारण (एम्फाई-सिमा Emphysema), इन रोगों में नाड़ी क्षीण हो जाती है; तथा हृदय के मांसरज्जु-अलिन्दनिलय सेतु (Auriculo-Ventricular Bundle) के स्नायुओं में विकृति, अलिन्द खण्ड में विकृति, डिजिटे-लिसादि विष-औषधि का सेवन या इतर कारण से जब हृदन्तराय (Heart-block) हो जाता है; तब नाड़ी की गति अति शिथिल हो जाती है। स्पन्दन-संख्या प्रति मिनिट ३० तक घट जाती है; क्वचित् २० ही रहती है। ऐसे ही उपदंशज अर्बुद (गूमा *Gumma*), विद्रधि (Abscess), कृमि, संसर्गजनित विषमय रक्तविकार (इन्फेक्शन

चित्र नं० ३

हृदय के दक्षिण अलिन्द-निलय



१ दक्षिण अलिन्द Right Auricle
२ दक्षिण निलय Right Ventricle
३ उत्तरा महासिरा Superior Vena Cava
४ आरोहिणी महाधमनी Ascending Aorta
५ फुफ्फुसाभिगाधमनी Pulmonary Artery
६ अधरा महासिरा Inferior Vena Cava
७ अवरोहिणी महाधमनी Descending Aorta
८ शुक्तिखात Fossa Ovalis
९ त्रिपत्रकपाट Tricuspid Valve
१० अर्धचन्द्राकार कपाटिका Semilunar Valve
११ हार्दिकी धमनी (दक्षिण) Right Coronary Artery
१२ हार्दिकी धमनी (वाम) Left Coronary Artery
१३ हृदयाग्र भाग Apex of the Heart

श्री डिग्गी पुराधीश्वर श्री महाप्रभु कल्याणराय



डिग्गी (जयपुर स्टेट)

टॉक्सीमिया Infection toxemia) आदि रोगों में भी नाड़ी की गति कम हो जाती है।

इस नाड़ी स्पन्दन-संख्या की न्यूनाधिकतानुसार नाड़ी की गति के ३ विभाग किये हैं। १ द्रुतगति (क्विक पल्स Quick pulse), २ तेज गति (शार्प पल्स Sharp pulse) और ३ मन्द गति (स्लो पल्स Slow pulse) । इनमें द्रुत गति वाली नाड़ी दौड़ती हुई; तेज गति युक्त नाड़ी चंचल; और मन्द नाड़ी धीरे-धीरे चलती हुई प्रतीत होती है।

(२) यति—नाड़ी की गति तालबद्ध (नियमपूर्वक) होने को यति कहते हैं। नाड़ी की इस सम-विषम गति (यति या यतिभंग) का सम्बन्ध हृदय के निलय संकोच के साथ अधिक रहता है। अलिन्द खण्डों के संकोच के साथ यति का सीधा सम्बन्ध नहीं है। निलय संकोच के पश्चात् नाड़ी स्पन्दित होकर कुछ ठोके होकर क्षणिक विराम लेती है। इस तरह स्वस्थ अवस्था में स्पन्दन और विराम तालबद्ध होते रहते हैं। इस ताल की समता हृदयविकृति होने पर भंग हो जाती है।

हृदय मांस-पेशियों से बना है। अपनी इच्छानुसार हाथ-पैरादि के समान उससे क्रिया नहीं करा सकते, अतः उसे अस्वाधीन (Involuntary) कहा है। यह वक्षस्थल के भीतर कुछ बांयी ओर रहा है। इस हृदय का माप अपनी बन्द मुट्ठी की लम्बाई चौड़ाई जितना रहता है ; अथवा बड़े मनुष्य के हृदय की लम्बाई ६ अंगुल, चौड़ाई ४ अंगुल और गहराई ३ अंगुल लगभग होती है। युवा पुरुष के हृदय का वजन लगभग ३० तोले और स्त्री के हृदय का वजन २० तोले होता है। हृदय के भीतर एक मांसमय दीवार से दक्षिण और वाम ऐसे २ विभाग होते हैं। इन दोनों भागों के बीच में एक-एक पर्दा रहा है, जिससे दोनों के भी दो-दो विभाग हो गये हैं, अर्थात् हृदय के ४ खण्ड हैं। इनमें दोनों ओर के ऊपर के खण्डों को अलिन्द (Auricle) और नीचे के खण्डों को निलय (Ventricle) संज्ञा दी हैं। इन अलिन्दों में बाँये की अपेक्षा दाहिना कुछ बड़ा है ; और ऊपर की अपेक्षा नीचे के खण्ड बड़े हैं।

इनमें से दक्षिण अलिन्द में उत्तरा महासिरा (मस्तिष्कादि में से) और अधरा महासिरा (उदरादि भागों में से) अशुद्ध रक्त लाती हैं। फिर अलिन्द भाग में से रक्त दक्षिण निलय भाग में होकर फुफ्फुसाभिगा धमनी की दो शाखाओं द्वारा अधिक शुद्ध होने के लिये फुफ्फुसों में चला जाता है।

इस तरह चार फुफ्फुसिया सिराओं द्वारा (दोनों ओर रही हुई दो-दो सिराओं द्वारा) शुद्ध रक्त हृदय के बायें अलिन्द खण्ड में आता है। फिर बायें निलय में होकर महाधमनी द्वारा सारे शरीर में पहुँचा दिया जाता है। इस तरह इस धमनी का सम्बन्ध हृदय और सारे शरीर के साथ रहा है। इसी हेतु से इसे 'जीव साक्षिणी' नाम मिला है।

वाम दक्षिण दोनों अलिन्दों की संकोच-विकास-क्रिया एक साथ होती हैं। पहले दोनों अलिन्द खण्ड बलपूर्वक बन्द होते हैं। इस अलिन्दसंकोच को (एट्रियल सीस्टोल Atrial Systole) संज्ञा दी है। फिर दोनों निलयसंकोच होते हैं। इसे (वेण्ट्रीक्यूलर सीस्टोल Ventricular Systole) नाम दिया है। इन दो क्रियाओं के हो जाने पर हृदय आध सेकिण्ड से कम समय तक विश्रान्ति लेता है। इस तरह अलिन्द संकोच, निलय संकोच और विश्रान्ति, ये क्रियाएँ स्वस्थावस्था में क्रमशः नियमित होती रहती हैं।

इन क्रियाओं में जब दोनों निलय संकोच होने से उनके कपाट बन्द होते हैं, तब लब् (ल..........ब्) जैसी गहरी आवाज़ सुनने में आती है, फिर दोनों निलय का प्रसारण होने पर महाधमनी और फुफ्फुसाभिगा धमनी के द्वार बन्द होने पर 'डब्' ऐसी तीव्र आवाज़ प्रतीत होती है। हृद् रोग, पाण्डु, आमवातादि रोगों में इस आवाज़ में अन्तर हो जाता है। इस बात का बोध नाड़ी परीक्षा से हो जाता है।

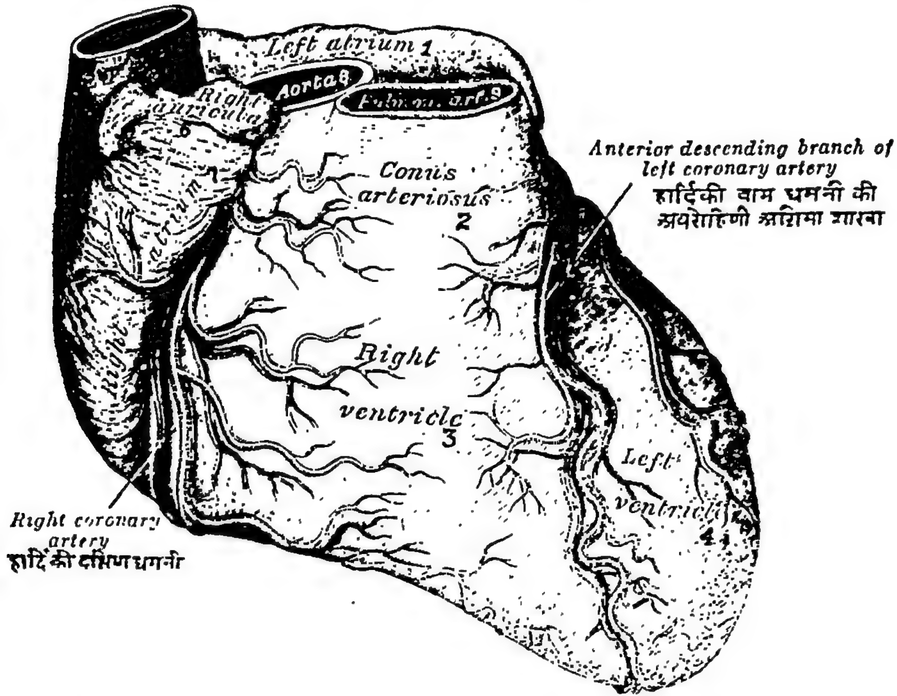
हृदय के दक्षिण अलिन्द-निलय के बीच जो पर्दा है, उसे त्रिपत्रकपाट और वाम अलिन्द-निलय के बीच के पर्दा को द्विपत्र-कपाट संज्ञा दी है। इन कपाटों का कार्य रक्त को वापस लौटने न देना है। जैसे हृदय में कपाट हैं, वैसे ही धमनियों के मुख पर कपाटिकाएं रहती हैं। जिससे धमनियों में से रक्त वापस हृदय में लौट न सके। किन्तु कपाट या कपाटिका जब दूषित हो जाते हैं; तब बन्द नहीं हो सकते या अपूर्ण बन्द होते हैं; अथवा असमय पर बन्द होते हैं; या खुल नहीं सकते। जिससे शरीर में नाना प्रकार की विक्रिया हो जाती है; जो नाड़ी पर से जानी जाती है।

हृदय के भिन्न-भिन्न रोगों के समय अति परिश्रम से श्वास भर जाने पर एवं चाय, तमाखू आदि के सेवन से ताल में विषमता हो जाती है। ताल विषम होने पर नाड़ी कभी जोर से, कभी मन्द और कभी रुक-रुक कर चलती है। इस ताल की विषमता का बोध, उँगलियों से या यंत्र के रेखा-चित्र द्वारा मिल सकता है।

चित्र नं० ४

हृदयतल

(उरःफलक और पर्शुकाओं से सम्बन्ध वाला)

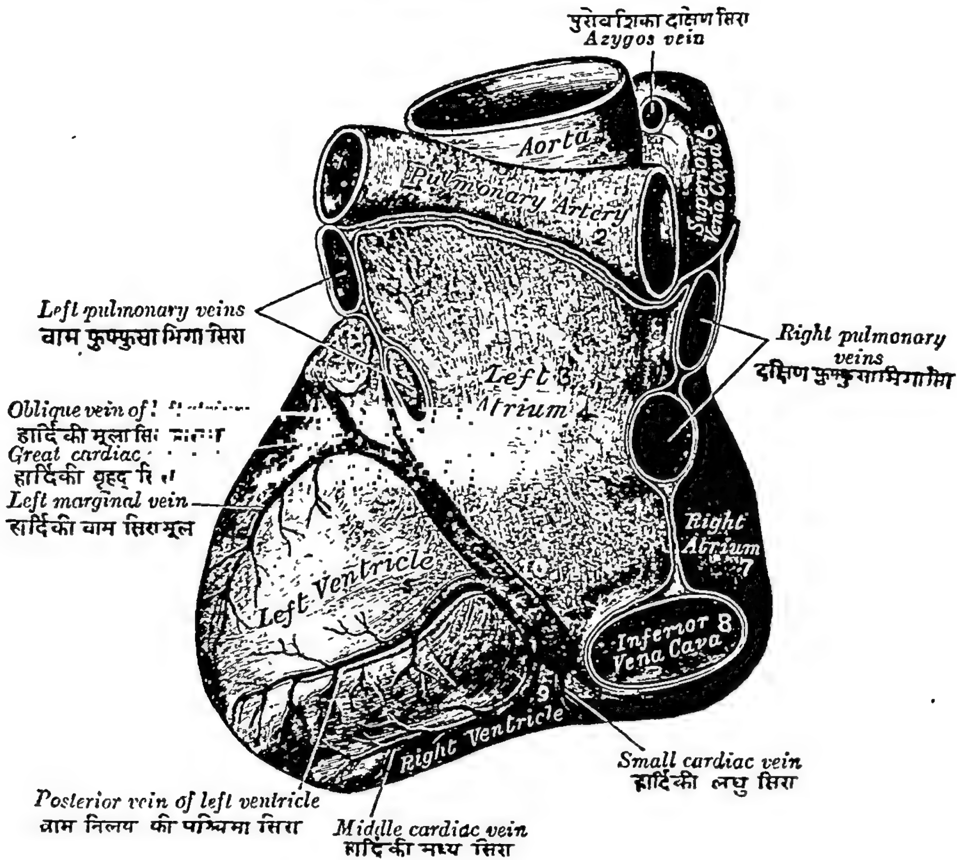


१ वाम अलिन्द Left Atrium	६ दक्षिण अलिन्द शीर्षक Right auricula
२ दक्षिण निलय शीर्षक Conus arteriosus	७ दक्षिण अलिन्द Right Atrium
३ दक्षिण निलय Right ventricle	८ महाधमनी Aorta
४ वाम निलय Left Ventricle	९ फुफ्फुसाभिगा धमनी Pulmonary artery
५ उत्तरा महासिरा Superior Vena Cava	

चित्र नं० ५

हृदय की पीठ और पश्चिम अधरतल

(वाम अलिन्द—निलय सह)



१ महाधमनी Aorta	७ दक्षिण अलिन्द Right Atrium
२ फुफ्फुसाभिगा धमनी Pulmonary artery	८ अधरा महासिरा Inferior Vena cava
३–४ वाम अलिन्द Left Atrium	९ दक्षिण निलय Right Ventricle
५ वाम निलय Left Ventricle	१० हार्दिकी मूलसिरा Coronary sinus
६ उत्तरा महासिरा Superior Vena cava	

यदि हृत्पिण्ड ही आकुंचित (स्वाभाविक या अस्वाभाविक) हो जाय, तो स्पन्दन और विराम अनियमित होते हैं। क्वचित् दो या तीन वार स्पन्दन होकर एक वार विराम होता है; तथा क्वचित् स्पन्दन में प्रतिवन्ध हो जाता है।

हृदावरण प्रदाह होने पर श्वास लेने के समय श्वास छोड़ने की अपेक्षा स्पन्दन क्षीण हो जाता है; जिससे नाड़ी विषम हो जाती है। हृदय के अलिन्द खण्ड (Auricle) की संकोचन शक्ति क्षीण हो जाने से उसमें कम्पन होता रहता है; जिससे निलय खण्ड (Ventricle) भी नियमित रीति से संकोचित नहीं हो सकता। फलतः यतिभंग और बल में न्यूनता हो जाती है। हृदय के वाम भाग में रहे हुए द्विपत्र कपाट से रक्त का परावर्त्तन (वापस लौटना) होने पर नाड़ी असमान, निर्वल और अनियमित (कभी मंद, कभी तेज) हो जाती है।

संन्यास, मस्तिष्क में जल संचय, शिर भारी हो जाने, मादक पदार्थों के सेवन और हृदय के वामनिलय खण्ड की वृद्धि होने पर नाड़ी मन्द और अति कठोर हो जाती है; जिससे ताल भंग हो जाता है। तीव्र ज्वर, सन्निपात, क्षय और हृदय की जीर्ण व्याधियों में नाड़ी स्पन्दन के पश्चात् एक क्षुद्र स्पन्दन होता रहे, तो भी यति में विषमता आ जाती है।

ऊर्ध्वगामी धमनी जो हाथ में गई है; उस पर (दाहिने या बाँयें हाथ में) चोट लगने या अर्बुद होजाने से उस हाथ की नाड़ी क्षीण हो जाती है। जिससे दोनों हाथों की नाड़ी में विषमता हो जाती है।

(३) **संहति**—धमनी की दीवार की कठोरता को संहति और दृढ़ता कहते हैं। दो स्पन्दनों के बीच विराम काल में नाड़ी पर एक ओर से दूसरी ओर तक दबाव दिया जाय, तो नाड़ी की संहति का बोध हो जाता है। धमनी की दीवार की स्थिति स्थापकता अनुसार नाड़ी में कोमलता या कठोरता होती है।

बाल्यावस्था में धमनी की दीवार कोमल रहती है, फिर धीरे-धीरे आयु वृद्धि के साथ कठोर होती जाती है। रोग और प्रतिकूल आहार-

विहार के हेतु से कठोरता में अधिकता होती जाती है। यदि सात्विक आहार का सेवन किया जाय; तो दृढ़ता कम होने लगती है। जब तक धमनी कोमल (Soft) है; तब तक उँगलियों से दबाने पर दीवार की प्रतीति नहीं होती; और स्पन्दन रुक जाता है। परन्तु कठोर हो जाने पर नाड़ी रज्जुवत् दृढ़ (Hard) भासती है; और उँगली से दबाने पर भी स्पन्दनों का रोध नहीं होता।

वृद्धावस्था, चिरकारी वृक्कशोथ, यकृद् वृद्धि, पित्त में रहे हुए(कोलेस्टेरीन Cholesterin) का रक्त में बढ़ जाना, उपदंश और जीर्ण-अजीर्णादि रोगों में नाड़ी की दीवार की स्थिति स्थापकता नष्ट होकर दृढ़ता बढ़ जाती है। हाथ लटकाये रखने और शीतल जल से स्नान करने के पश्चात् नाड़ी की दृढ़ता कुछ बढ़ जाती है। इसके विरुद्ध रक्तस्राव हो जाना, हाथ को ऊँचा उठाये रखना, स्वेदन क्रिया और गरम जल से स्नान, इन कियाओं के पश्चात् नाड़ी की दृढ़ता कुछ कम हो जाती है। विरेचन लेने से रक्तभार कम हो जाता है; जिससे संहति न्यून हो जाती है।

धमनी जितनी मृदु होती है, उतने ही अंश में व्याधियों के प्रतिकार की शक्ति सबल रहती है। नाड़ी कठोर होने पर रोग से संरक्षण करने में अधिक श्रम पहुँचता है। एवं कठोर नाड़ी वालों की आयु भी कम मानी जाती है।

संहति अधिक होने पर नाड़ी में तनाव हो जाता है; जिससे स्फिग्मोग्राफ नामक रेखा यंत्र द्वारा लिये हुए चित्र में निलय संकोच के बल से सुई ऊँची उठने के पश्चात् लहर का कोन विशेष चौड़ा हो जाता है; और धमनी संकोच से होने वाला गड्ढा (Dicrotic Notch) आधार रेखा पर होता है।

(४) आकृति—हृदय के वाम निलय से महाधमनी में जाने वाले रक्त का परिमाण; तथा रक्त में रहे हुये रक्ताणु, तरलद्रव और उत्तापादि का परिमाण, इन दोनों पर नाड़ी की स्थूलता-सूक्ष्मता (पुष्टता-कृशता) का आधार है। यदि हृदय का स्पन्दन सबल है, तो नाड़ी रक्त-

पूर्ण पुष्ट रहती है। स्वस्थ बलवान मनुष्य में नाड़ी पूर्ण रहती है। परिश्रम के पश्चात्, क्रोध, ज्वर की सामावस्था, धमनी में अधिक रक्त जाना, धमनी में रुकावट, धमनी में अर्बुद, मस्तिष्क में रक्तसंचय और मस्तिष्क में शोथादि कारणों से नाड़ी पुष्ट भासती है। किसी भी हेतु से रक्ताभिसरण वेग की वृद्धि हो जाय, तो आकृति स्थूल हो जाती है।

इसके विरुद्ध रक्तस्राव, अतिसार, वमन, विषूचिकादि रोग, जिनमें तरलद्रव निकल जाता है उनमें, हृदय-शक्ति के हरण करने वाले रोग तथा जिनमें हृदय स्पन्दन और रक्ताभिसरण वेग मन्द हो जाते हैं, ऐसी व्याधियों में नाड़ी कृश हो जाती है। यदि हृदय की क्रिया अति मन्द हो जाती है, तो नाड़ी सूत के समान बहुत महीन (Thready or wiry pulse) प्रतीत होती है।

(५) रक्तबल—इस बल का आधार हृत्पिण्ड की संकोचन-शक्ति, महाधमनी में जाने वाले रक्त का परिमाण और धमनी की दीवार की स्थिति के ऊपर रहा है। उँगली से नाड़ी दवाने पर (नाड़ी के स्पन्दन का रोध करने पर) रक्त के बल का बोध हो जाता है। नाड़ी का स्पन्दन बन्द करने में जितनी अधिक शक्ति लगती है; उतना ही अधिक बल माना जाता है।

नाड़ी के बल या रक्त-भार के अनुसार नाड़ी के बलवती (Strong), क्षीण (Weak) और लुप्त (Pulse-less), ये ३ भेद हो जाते हैं। इनमें रक्तभार की वृद्धि होने पर बलवती नाड़ी, रक्तभार की न्यूनता में क्षीण नाड़ी और रक्तक्षय या हृदय की शिथिलता में जब नाड़ी हाथ को नहीं लगती; तब लुप्त नाड़ी कहलाती है।

रक्तभार की जितने अंश में वृद्धि होती है, उतने अंश में रक्तबल बढ़ता है; और रक्तभार की जितने अंश में न्यूनता होती है, उतने ही अंश में रक्तबल का ह्रास होता है। इस बल का सामान्य बोध उँगलियों से नाड़ी दवाने पर हो सकता है। विशेष निर्णय रक्तभार मापक यन्त्र द्वारा किया जाता है।

स्वस्थ मनुष्यों की देह में हृदय के प्रति स्पन्दन के साथ वामनिलय

खण्ड में से ३ औंस रक्त महाधमनी में प्रवेश करता है। इस हिसाब से ८० वार स्पन्दन होने पर ६ रतल रक्त महाधमनी में फैंका जाता है। किन्तु जब उतने ही समय में २० स्पन्दन बढ़ जाता है; तब १॥ रतल रक्त (लगभग १ मिनट में) महाधमनी में ज्यादा जाता रहता है, जिससे नाड़ी पुष्ट हो जाती है और रक्तभार बढ़ जाता है।

आयु बढ़ने के साथ नाड़ी की दीवार मोटी और कठोर होती जाती है, उनमें स्थिति स्थापकता कम होती जाती है। नाड़ी भीतर से संकोचित होने लगती है। फिर हृदय में से आने वाले रक्त का ग्रहण सरलतापूर्वक नहीं कर सकती, परिणाम में रक्तभार बढ़ता जाता है; और नाड़ी रक्तपूर्ण रहती है। अनेक रोगों में रक्तभार कम भी हो जाता है। रक्तभार में अति वृद्धि या अति न्यूनता होना, यह घातक लक्षण माना जाता है।

रक्तभार वृद्धि—तीव्र संक्रामक रोग, अति चिन्ता, अति क्रोध, अति हर्ष, श्रम का अभाव, वातरक्तजन्य जीर्ण रक्त-विकार, चिरकारी वृक्कदाह, मधुमेह, धनुर्वात, सीसा का विष (Lead Poisoning), अति मद्य सेवन, सतत मलावरोध, धमनीकोपकाठिन्य (ॲथिरॉमा ऑफ दी एऑर्टा Atheroma of the aorta), वृद्धावस्था, स्त्रियों के मासिकधर्म की निवृत्ति होना, भोजन-पर-भोजन और अधिक मांसाहार करना, इन कारणों से रक्त का दवाव बढ़ जाता है। यह दवाव १५० से २५० या इससे भी अधिक मिलीमीटर तक बढ़ जाता है।

रक्तभार क्षय—हृदय की नाना प्रकार की व्याधियाँ, मानसिक आघात, अतिसार, मधुरादि सतत ज्वर, राजयक्ष्मादि क्षीणता वर्धक व्याधियाँ, वृक्कप्रदाह, शस्त्रादि लगकर रक्तस्राव होना, शारीरिक निर्बलता, वत्सनागादि औषधि का विष प्रकोप, अधिक परिश्रम और उपवासादि कारणों से रक्त का दवाव घट जाता है; जिससे रक्तभार १०० से ८० मिलीमीटर या इससे भी कम हो जाता है।

स्वस्थ मनुष्य की विश्राम वाली अवस्था में रक्त का दवाव ११५ से १३५ मिलीमीटर तक रहता है। इस दवाव को जानने के लिये आयु की संख्या में सामान्यतः १०० मिलाने पर जितनी संख्या होती है,

उतने मिलीमीटर (Millimeters) ※ स्वाभाविक रक्त का दवाव होना चाहिये। किन्तु जो मनुष्य शराव और मांस का सेवन अधिक करते हैं, उनके रक्त का दवाव अधिक ही रहता है।

रक्तभार मापक यन्त्र—रक्त के दवाव का निर्णय रक्तभार मापक यन्त्र (स्फिग्मोमेनोमीटर Sphygmomanometer) द्वारा किया जाता है। इस यंत्र में थर्मामीटर के समान एक नली रहती है, जिसमें पारा ऊपर-नीचे चढ़ता-उतरता रहता है। यन्त्र की दूसरी ओर मोटे कपड़े की ५ इञ्च मोटी पट्टी है। जिसको मांसपेशियाँ ढीली रह सकें, उस रीति से बाँह पर कसकर लपेट दी जाती है। तीसरा अंश एक रबर की नली का है, जो पारा वाली नली और इस पट्टी, दोनों के साथ जुड़ी रहती है। इस रबर की नली के अन्त में एक वल्व लगाया जाता है। जिसको दवाने पर वायु नली द्वारा उस कपड़े की पट्टी के भीतर से बाहवी धमनी पर दवाव डालती है ताकि पारा चढ़ने लगता है; और रक्तभार को दर्शाता है।

इस यन्त्र का व्यवहार करते समय रोगी को शान्ति से बैठा या लेटा कर पट्टी बाँधे हुए हाथ को छाती की समान ऊँचाई पर रखना चाहिये (लेटाना अधिक हितकारक है)। फिर ढकना हटाकर यन्त्र को सीधा खड़ा कर दें। पश्चात् वाहु पर पट्टी बाँधें। रोगी बैठा हो, तो हाथ को मेज़ पर रक्खे; और लेटा हो, तो बिछौने पर ही रहने दें। फिर नाड़ी चलती रहे, तब तक हृत्पिण्ड के आकुंचन काल के रक्त के दवाव का निर्णय करने के लिये वल्व को वारवार दवा कर वाहु पर बँधी हुई पट्टी में वायु भरते रहें। जब नाड़ी बन्द हो जाय (अँगुली नीचे नाड़ी अनुभव में न आवे); तव वायु भरना बन्द करें। फिर वल्व में रहे हुए कपाट को दवा कर शनैः-शनैः वायु निकालते जाँय; जिससे वायु का दवाव कम होने लगे। वायु निकलते रहने पर जब नाड़ी का

※ मिलीमीटर अर्थात् मीटर का एक हज़ारवाँ हिस्सा। १ मीटर की लम्बाई ३९·३७१ अर्थात् लगभग ३९॥ इञ्च होती है। इस हिसाब से मिलीमीटर की लम्बाई ¹⁄₂₅ इञ्च होती है।

चलना प्रारम्भ हो, उस समय यंत्र में-जहाँ तक पारा चढ़ा हो, उतना हृदय के संकोचन काल में रक्त का दवाव (Blood pressure) माना जाता है। किन्तु रक्तभार दर्शक अंक पढ़ने में ख़ूब सावधानी रखनी चाहिये। कारण, थोड़ा-सा अन्तर हो जाने पर सहज १०-२० अंक न्यूनाधिक हो जाते हैं।

यदि कान से सुन कर परीक्षा करना चाहें; तो आकुंचन और प्रसारण (Systolic and diastolic) दोनों समय के रक्त का दवाव निश्चित हो जाता है। परीक्षा करने के लिये बाहु पर बँधी हुई पट्टी के नीचे केहुनी के ऊपर रही हुई धमनी पर स्टेथस्कोप रखकर आवाज़ सुनते रहें। फिर जब आवाज़ बन्द हो जाय; तव तक वल्व से वायु भरते रहें। आवाज़ बन्द होने पर वल्व को खोल धीरे-धीरे वायु का दवाव कम करते जाँय। जब नाड़ी की गति की सूक्ष्म आवाज़ सुनने में आ जाय; तब पारा कहाँ तक चढ़ा है, यह देख लें। यह आकुंचन काल का रक्त दवाव है। फिर वायु निकलते रहने पर कभी तीव्र, कभी मन्द मर्मर ध्वनि और कभी भिन्न प्रकार की आवाज़ होती रहती है। जब आवाज़ अकस्मात् मृदु हो जाय; तब भार-दर्शक अंक पर से प्रसारण काल का रक्तभार जान लें।

नाड़ी स्पन्दन परीक्षा और स्टेथस्कोप से ध्वनि श्रवण, दोनों द्वारा आकुंचन काल का दवाव लगभग समान ही रहता है, या ध्वनि श्रवण में ५-१० मिलीमीटर की अधिकता रहती है।

स्वस्थ युवा पुरुष के आकुंचन काल का दवाव १०० से १४० तथा प्रसारण काल का ६० से ६० मिलीमीटर रहता है। छोटी आयु में दवाव कम रहता है। सामान्यतः मनुष्य की २० वर्ष की आयु में हृदय के आकुंचन काल में रक्त दवाव १२० मिलीमीटर ऑफ मर्क्युरी गिनना चाहिये। फिर आयु के वर्ष का पाँचवाँ हिस्सा (२० का पाँचवाँ हिस्सा ४) मिलाने पर जितना हो, वह सिस्टोलिक प्रेसर माना जाता है। इस हिसाब से २० वर्ष की आयु में १२० + ४ मिलाकर १२४; ३० वर्ष की आयु में १२० + ६ = १२६ और ५० वर्ष की आयु में १२० + १० = १३०।

हृदय के शैथिल्यकाल में दवाव साधारण रीति से २० वर्ष की आयु में डायास्टोलिक प्रेसर ८० मान लेना चाहिये। फिर ५-५ वर्ष के हिसाव से १-१ वढ़ाते जायँ; अर्थात् ३० वर्ष की आयु में ८०+२=८२; ४० वर्ष की आयु है, तो ८०+४=८४ आदि; किन्तु ६० वर्ष की आयु के पश्चात् ५-५ वर्ष पर २-२ वढ़ाना चाहिये। इस हिसाव से ७० वर्ष की आयु वाले के लिये ८०+८+४=९२ होता है।

रोग के हेतु से अधिक रक्त दवाव (Pathologically high arterial pressure) वढ़ने पर उनको निम्नानुसार संज्ञा पाश्चात्य चिकित्सकों ने दी है।

संज्ञा	सिस्टोलिक	डायास्टोलिक
सीमा से अत्यधिक (Excessively high)	२८०-३२०	१६५-१८०
अत्यधिक (Very high)	२४०-२७५	१४०-१६०
अति (High)	१५०-२३०	१२०-१३०
४० वर्ष की आयु से पहले अति	१४५-१५०	९०-१२०

रक्तभाराधिक्य होने पर मस्तिष्क में (कचित् इतर स्थान में) धमनी के फटने की भीति रहती है। धमनी के फटने पर पक्षाघात (कचित् मृत्यु भी) हो जाता है।

सामान्यतः आयु अनुरूप धमनी का दवाव निम्नानुसार प्रतीत होता है।

आयु वर्ष	आकुंचन रक्तभार	प्रसारण रक्तभार	दोनों के बीच का अन्तर
२	८१	४५	३६
५	९०	५३	३७
१०	१००	६२	३८
१५	११०	७१	३९
२०	१२०	८०	४०
३०	१२४	८२	४२
३५	१२६	८३	४३

आयु वर्ष	आकुंचन रक्तभार	प्रसारण रक्तभार	दोनों के वीच का अन्तर
४०	१२८	८४	४४
५०	१३२	८६	४६
६०	१३६	८८	४८
६५	१४०	९०	५०
७०	१४५	९२	५३

अति वृद्धावस्था में या निर्बलता आजाने पर रक्तभार कम हो जाता है। नाड़ी में जितनी प्रतिरोधक शक्ति (Resistance) अधिक होगी; उतनी ही नाड़ी बलवती (Strong) मानी जाती है। प्रतिरोधक शक्ति कम होने पर नाड़ी क्षीण (Weak) कहलाती है। इस शक्ति का अति ह्रास हो जाने पर नाड़ी लुप्त-सी (Pulse-less) हो जाती है। विषूचिका की निर्बलता बढ़ जाने पर नाड़ी लुप्त हो जाती है। सामान्य रीति से आकुंचन और प्रसारण काल के रक्तभार में ३० से ६० तक अन्तर रहता है। यदि ३० से कम या ६० से अधिक अन्तर हो जाय, तो यह लक्षण अशुभ माना जाता है।

धमनी गति—हृदय के आकुंचन और प्रसारण के आधार पर नाड़ी की गति होती रहती है। सामान्य रीति से हृदय का संकोच-विकास १ मिनट में ७५ समय होता है। इस हिसाब से १ समय के लिये ८/१० सेकण्ड लगती है। इसके भीतर अलिन्द संकोच १/१० सेकण्ड, निलय संकोच ३/१० सेकण्ड और विश्रान्ति ५/१० सेकण्ड होती है। निलय-संकोच के समय धमनी की कपाटिकाएँ खुल जाती हैं; और दीवार चौड़ी हो जाती है। फिर रक्त का धमनी में प्रवेश हो जाने पर कपाटिकाएँ वन्द हो जाती हैं। पश्चात् दीवार संकोचित होकर रक्त को आगे ढकेल देती है। यहाँ पर हृदय का एक क्रम पूरा हो जाता है। इस तरह हृदय के संकोच-विकास अनुरूप नाड़ी की गति सर्वदा होती रहती है।

अलिन्द की अपेक्षा निलय संकोच में समय अधिक लगता है, और धमनी के साथ निलय का सीधा सम्बन्ध होने से (अलिन्द का

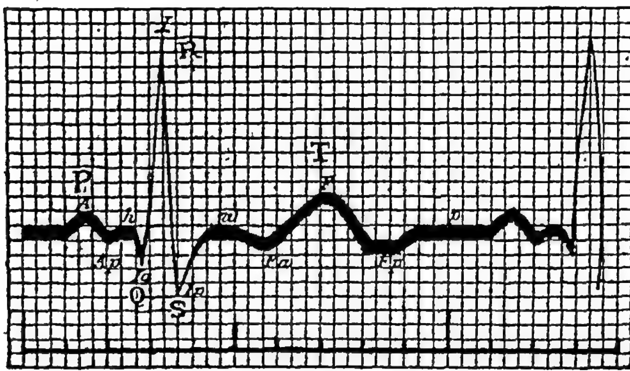
परम्परागत सम्बन्ध होने से) नाड़ी गति पर निलय खण्ड का विशेष प्रभाव पड़ता है।

हृदय जितना सबल होगा, उतनी ही क्रिया शान्त चलती है। इसी हेतु से स्पंदन संख्या कम होती है, किन्तु जैसे-जैसे निर्बलता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे हृदय का सङ्कोच-विकास सत्वर होता रहता है; जिससे नाड़ी की स्पंदन संख्या बढ़ जाती है।

नाड़ी यन्त्र—वर्त्तमान में नाड़ी और हृदय की गति के परीक्षार्थ (स्फिग्मोग्राफ Sphygmograph), (पालिग्राफ Polygraph), (इलैक्ट्रो कार्डियोग्राफ Electro Cardiograph), इन यन्त्रों का आविष्कार हुआ है।

इनमें इलैक्ट्रो कार्डियोग्राफ का प्रचार बहुत कम है। यद्यपि इससे हृदय की विकृति का पूर्ण बोध हो जाता है तथापि इसका मूल्य ५००) रु० से अधिक है; और व्यवहार विधि भी क्लिष्ट है। पालिग्राफ से हाथ में रही हुई बाहवी धमनी और कण्ठ में रही हुई मन्यासिरा, दोनों के चित्र एक साथ अंकित हो जाते हैं। इस हेतु से धमनी और निलय खण्ड के अतिरिक्त अलिन्द विकृति का भी इससे बोध हो जाता है। तीसरा यन्त्र स्फिग्मोग्राफ है। इसका मूल्य इन दोनों से कम है, और व्यवहार-विधि सरल है। फिर भी इस यन्त्र का प्रचार अपने देश में कम ही है।

ये यन्त्र अपने देश में केवल बड़े कालिजों में रक्खे हैं। आकोला और अजमेर जि० सरकारी सफाखाने में भी नहीं हैं। सब बड़े डॉक्टर भी इनको उपयोग में नहीं लेते। हृदयविकार, धमनीविकृति और इतर रोगों में स्टेथस्कोपादि सरल साधनों द्वारा परीक्षा कर लेते हैं। अधिक अनुभवी के लिए इन यन्त्रों की आवश्यकता ही नहीं रहती। फिर भी प्राथमिक अभ्यासियों को कुछ सहायता मिल जाती है।

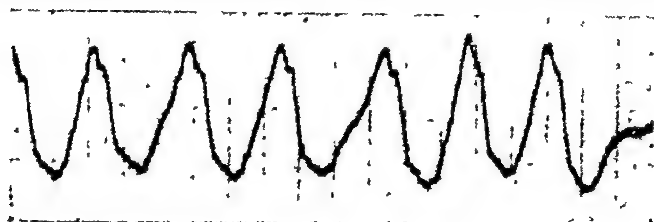


स्वस्थावस्था का नाड़ी चित्र

A.	P.	—अलिन्द क्रिया	प्राइमरी वेव
Ap.		—अलिन्द सङ्कोच बल से उतार	
h.	P. Q.	—अलिन्द सेतु के बल से गति	
I.	Q.R.S.	—निलय क्रिया प्रारम्भ	सेकण्डरी वेव
Ia.	Q.	—निलय सङ्कोच बल से चढ़ाव	
IP.	S.	—निलय सङ्कोच बल से उतार	
w.		—हृदय की दीवार के बल से गति	
F.	T.	—स्नायु-सूत्रों के बल से निलय-खंड के अंतिम चढ़ाव-उतार	डाइक्रोटिक वेव
Fa.		—तृतीय तरङ्ग में चढ़ाव	
Fp.		—तृतीय तरङ्ग से फिर उतार	
P.		—हृदय कार्य की समाप्ति	वेस लाइन

इस चित्र से हृदय की क्रिया सुस्पष्ट प्रतीत होती है। चित्र में P से Q तक प्राइमरी वेव, Q से S तक सेकण्डरी वेव और आगे डाइक्रोटिक वेव कहलाते हैं। यह चित्र इङ्गलिश मेटेरिया मेडिका पर से लिया है।

इस नाड़ी-चित्र में जो आधार रेखा है, उसे रेस्पीरेटरी या वेस-लाइन Respiratory or Base line कहते हैं। अलिन्द गति से उत्पन्न तरङ्ग को प्राइमरी वेव Primary wave; दूसरी तरङ्ग, जो निलय गति से उत्पन्न हुई है उसे सेकण्डरी या टाइडल वेव Secondary or Tidal wave; और धमनी सङ्कोच से होने वाली तीसरी मन्द गति युक्त तरङ्ग को डाइक्रोटिक वेव Dicrotic wave संज्ञा दी है।



हृत्स्पंदवर्धन (Tachycardia) अवस्था का चित्र

यह चित्र कोसर रोवर्टसन कम्पनी के रु० २०००) मूल्य के यन्त्र द्वारा इङ्गलैण्ड में लिया गया है। इस यन्त्र का लाभ केवल धनिक वर्ग ही ले सकते हैं। इस यन्त्र की छोटी साइज का मूल्य रु० ५००) है।

स्फिग्मोग्राफ यन्त्र—*इस यन्त्र के प्रथम भाग में दोनों ओर फीते और उनके साथ एक कमानी (Spring) रक्खी है। इस कमानी को नाड़ी पर सम्हालपूर्वक लगाई जाती है। यह कमानी नाड़ी के कम्पन से हिलकर उससे सम्बन्ध वाले तार को हिलाती है। जिससे सुई ऊपर-नीचे चलने लगती है और नीचे लगे हुए कागज़ पर रेखा अङ्कित करती है।

इस यन्त्र के दूसरे भाग में एक चक्र रक्खा है; जिसको घुमाने पर नाड़ी पर १ से १८ औंस तक दबाव पड़ता है। दूसरी ओर एक वेलन (Roller), और इसके नीचे दो फिरकियाँ लगी रहती हैं। इसके आधार से रेखा निकालने के लिये कागज़ रक्खा जाता है।

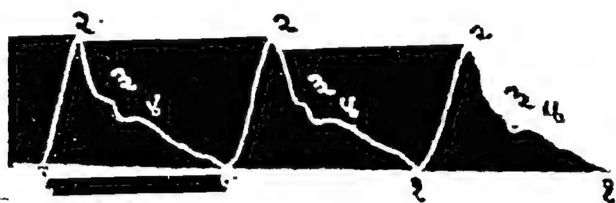
इस यन्त्र के तीसरे विभाग में एक चौकोर पिटारी है; जिस पर यंत्र के चलाने और रोकने का काँटा लगा है। पीछे की ओर कुञ्जी (Key) लगी है; जिसको घुमाकर कुञ्जी लगाई जाती है।

रेखा-चित्र लेने की विधि—प्रातःकाल शौच शुद्धि के पश्चात् थोड़ी विश्रान्ति लेकर प्रसन्न चित्त वाले रोगी को तख्त या पलंग पर सीधा लिटाकर सिर के नीचे एक तकिया रखें। तथा जिस हाथ पर यंत्र बाँधना हो; उस हाथ की कलाई को ऊपर की ओर रखें। यदि बैठे हुए रोगी को यन्त्र लगाना हो, तो रोगी का हाथ मेज़ पर चित रखवा कर यन्त्र लगा सकते हैं। यन्त्र लगाने के पहले नाड़ी के स्थान का निश्चय कर उस स्थान पर स्याही से चिह्न करें। फिर यन्त्र में तालिका लगा फीते को कस यन्त्र को नाड़ी स्थान पर जमा देना चाहिये।

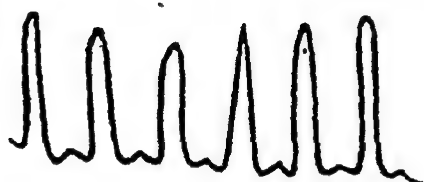
* 'धन्वन्तरि' पत्र के आधार से।

पश्चात् नाड़ी के स्पर्श से कमानी हिलकर जब सुई चलने लगे; तब चक्र को घुमा, जितने परिमाण में दबाव डालना हो, उसी अंक पर उसको लगा देवें। फिर काजल से रंगे हुए ६ इंच लम्बे और रूल पर रह सके उतने चौड़े काग़ज़ को बेलन और फिरकियों के बीच में रखें। पश्चात् सुई को काग़ज़ पर टिका, पिटारी पर लगे हुए काँटे को एक ओर हटा दें। इस तरह यन्त्र को व्यवस्थित लगा लेने से स्वयमेव चलने लगता है, और नाड़ी की गति अनुसार काग़ज़ सुई से अङ्कित होकर हटने लगता है। जब काग़ज रोलर से बाहर निकल जाता है; तब काँटे को बाँयी ओर हटा देने से यन्त्र की गति बन्द हो जाती है।

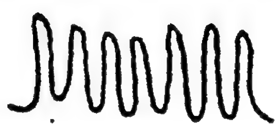
इस रेखा-चित्र को स्थायी करने के लिये लोबान को ५ गुने रेक्टिफाइड स्पिरिट में मिलालें। लोबान गलकर मिल जाने पर सोल्युशन तैयार हो जाता है। इस सोल्युशन में काग़ज़ को डुबो रखने से श्वेत रेखायें दृढ़ हो जाती हैं। इस काग़ज़ पर सुई से रोगी का नाम, आयु आदि लिखकर सुरक्षित रखते जायँ; तो इतर रोगियों की नाड़ीगति के मिलाने में सुविधा मिल जाती है।



स्वस्थावस्था का रेखाचित्र



हाइपर डाइक्रोटिक पल्स
(Hyper Dicrotic pulse)



मोनोक्रोटिक पल्स
(Monocrotic pulse)

जब निलय संकोच होकर धमनी में रक्त जाता है; तब बल पूर्वक सुई का उत्थान होता है जिससे सुई नं० १ से २ तक उठकर ऊँची और कुछ तिरछी खड़ी रेखा बनाती है, फिर दाहिनी ओर नोकदार कोना बनाती हुई नीचे उतर कर नं० ३ तक पहुँचती है। यहाँ तक प्रथम तरंग का वेग है।❀

पश्चात् क्षणिक विश्रान्ति लेकर बृहद् धमनी की कपाटिकाएँ बन्द होने पर द्वितीय तरंग का प्रारम्भ होता है। इस तरंग में झटका लगने पर एक गड्ढा हो जाता है। इस गड्ढे को डाइक्रोटिक नॉच Dicrotic Notch कहते हैं। इस गड्ढे के अन्त में सुई की गति किञ्चित् रुकती है। फिर तृतीय तरंग धमनी संकोच के बल से होता है। इस समय सुई मन्दगति पूर्वक आधार रेखा तक उतर आती है। यहाँ पर हृदय-गति का एक चक्र समाप्त होता है।

जब धमनी की दीवार कोमल रहती है; तब निलय संकोच के प्रथम तरंग का उत्थान बलपूर्वक होता है। दीवार कठोर बनने पर उत्थान न्यून हो जाता है।

तीव्र ज्वरादि व्याधियाँ या रक्तभार न्यूनतादि होने पर जब निलय-खण्ड वेग पूर्वक कार्य करता है, और महाधमनी में अधिक रक्त जाता है तब प्रथम तरंग अधिक ऊँचा और लम्बा होता है।

धमनी विस्तार, महाधमनी-कपाटिका अवरोध, रक्तभार वृद्धि, धमनी में अर्बुद या इतर हेतु से रक्ताभिसरण में प्रतिबन्ध, हृदय दौर्बल्य, हृदय से रक्त न्यून निकलना, रक्त की न्यूनता हो जाना (अतिसारादि रोगों में), इन हेतुओं से इस तरंग की ऊँचाई कम और टेढ़ापन अधिक आ जाता है।

प्रसारण रक्तभार कम होने पर उतार में द्वितीय तरंग लम्बा होता है।

तीव्र ज्वर और उग्र श्वसनक ज्वर में प्रथम तरंग ऊँचा और उसका

❀ यदि रेखा का कोना कम नुकीला हो; तो समझना चाहिये कि यन्त्र की स्प्रिंग नाड़ी पर ठीक मध्य भाग में नहीं लगी। यदि कोना चपटा हो जाय; तो पट्टी अधिक दृढ़ बँध जाने से धमनीछिद्र तंग हो जाने का अनुमान होता है।

अन्त (नं० ३) अस्पष्ट तथा द्वितीय तरंग का अन्त (नं० ४) ऊँचा और अधिक स्पष्ट होता है।

महाधमनी कपाटिका का अवरोध (छिद्र छोटा हो जाने से रक्त को आगे जाने में प्रतिबन्ध Stenosis) होने पर नं० ३ की अपेक्षा नं० ४ का अन्त भाग अधिक ऊँचा और लम्बा होता है।

महाधमनी कपाटिका का अपूर्ण संकोच (Insufficiency) होने पर प्रथम तरंग का उत्थान ऊँचा और लम्बा, द्वितीय तरंग बलपूर्वक होना तथा तृतीय तरंग छोटा-सा (या अभाव) होता है।

हार्दिक क्षीणता, क्षय और उदर्य्या कला का शोथ होने पर नाड़ी गति साँप की तरह होती है; अर्थात् लहर अधिक लम्बी होती है, किन्तु ऊँची नहीं उठ सकती।

जब तीक्ष्ण वृक्कशोथ के हेतु नाड़ी में दृढ़ता (Tension) हो जाती है; तब द्वितीय तरंग विशेष लम्बी और अन्तिम तरंग बहुत छोटी होती है। ऐसी अति दृढ़ नाड़ी को (हार्ड पल्स Hard pulse) कहते हैं।

अनेक रोगों में हृदय निर्बल हो जाने से हृदय का संकोच-विकास अपूर्ण रूप से सत्वर-सत्वर होता रहता है। जिससे नाड़ी स्पन्दन संख्या बढ़ जाती है; तरंग छोटी-छोटी हो जाती है; बहुत ऊँची नहीं उठ सकती और कोई-कोई तरंग की उत्पत्ति ही नहीं होती। विशेषतः तृतीय तरंग का ही प्राधान्य रहता है। ऐसी नाड़ी को (डाइक्रोटिक पल्स Dicrotic pulse) संज्ञा दी है।

तीक्ष्ण सन्धिवात में हृदय अधिक विकृत हो जाता है। स्पन्दन संख्या बढ़ जाती है। नाड़ी की ऊर्ध्वगति बढ़ जाती है, परन्तु तरंग की लम्बाई कम हो जाती है। इस नाड़ी को "फुल डाइक्रोटिक पल्स" कहते हैं।

जब ऊपर के चित्र की अपेक्षा भी तरंग की लम्बाई कम हो जाती है; एओर्टिक नाच बेस लाइन से भी नीचा हो जाता है; तब "हाईपर डाइक्रोटिक पल्स" कहलाती है। भयङ्कर ज्वर में ऐसी नाड़ी हो जाती है। इस नाड़ी का रेखा चित्र पृष्ठ ७६ में दिया है।

जब हृदय स्पन्दन त्वरित होते रहने से तरंग ऊँचें अधिक उठते हैं;

परन्तु लम्बे नहीं बन सकते; और तृतीय तरंग की उत्पत्ति ही नहीं होती, ऐसी नाड़ी को "मोनोक्रोटिक पल्स" कहते हैं। चित्र पृ० ७६ में है।

हृदय में आवश्यक रुधिर न पहुँचने या हृदय क्रिया में इतर प्रतिबन्ध होने से जब हृदय में शूल चलता है, तब वातवहा नाड़ियाँ विकृत हो जाती हैं। शूल विशेषतः बाँयी ओर उत्पन्न होकर कण्ठ या बाँयें हाथ की ओर प्रवृत्ति करता हो, श्वासावरोध होता रहता हो, तब नाड़ी बहुत अनियमित हो जाती है; और तरंग अधिक ऊँची नहीं उठती। ऐसी नाड़ी को (गोट-लीप पल्स Goat-leap pulse) संज्ञा दी है।

जब हृदय के दक्षिण निलय से रक्त उतरा और अधरा महाशिरा में वापस लौट आता है; तथा जलोदर में उदर पर और श्वासावरोध में मुखादि पर नीली सिराएँ ऊपर उठी हुई दीखती हैं; तब मस्तिष्क में से अशुद्ध रक्त को हृदय में लाने वाली मन्याशिरा (Jugular vein) का रेखा-चित्र लेने पर सच्चा निर्णय होता है। स्फिग्मोग्राफ द्वारा लिये हुए धमनी के चित्र से नहीं जाना जाता।

इस मन्याशिरा का चित्र पालिग्राफ से लिया जाता है। स्फिग्मोग्राफ द्वारा नहीं लिया जाता। पालिग्राफ के चित्र में बाहवीं धमनी और मन्याशिरा का चित्र, दोनों एक साथ अङ्कित हो जाते हैं।

मन्याशिरा की गति—मन्याशिरा की गति देखने के लिये रोगी को सीधा रख कण्ठ को थोड़ा पीठ की ओर झुकाना चाहिये। मन्याशिरा का सीधा सम्बन्ध अलिन्द खण्ड के साथ है; और परम्परा सम्बन्ध निलयखण्ड से होता है। इस शिरा-चित्र से निलयखण्ड के सङ्कोच के अन्त तक की स्थिति जानी जाती है।

पाश्चात्य विद्वानों ने नाड़ी गति के चित्रों को समझाने का बहुत प्रयत्न किया है। अभी तक डाक्टरी में इस विषय का पूरा बोध नहीं मिला। अनेक रोगियों के एक ही रोग के दोष और अवस्था भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार हो जाते हैं। कचित् दो दोष और कचित् तीनों दोषों से विकृति हो जाती है। इन बातों का बोध इन यंत्रों द्वारा नहीं हो

सकता। फिर भी सारग्राही बुद्धि से विचार किया जाय; तो अनेक रोगों के निदान में सहायता मिल जाती है।

तापमान-यन्त्र द्वारा परीक्षा

शारीरिक उष्णता के बोध के लिए डाक्टरी में तापमान-यन्त्र (थर्मामीटर Thermometer) का उपयोग किया जाता है। इस यन्त्र में परीक्षा के लिए रेखाएँ निकाली हैं। सब कोई इसको सरलतापूर्वक व्यवहार में ला सकते हैं। परीक्षा के हेतु से इस यन्त्र में ९८॥ फेरनहीट डिग्री स्वाभाविक गर्मी (Normal temperature) रक्खी गई है। परन्तु प्रकृति, देह-बल, देश, कालादि को लक्ष्य में रखकर परीक्षा करनी चाहिये।

किसी-किसी निर्बल मनुष्य में ९७ डिग्री गर्मी रहती है। उसके लिए ९८ डिग्री गर्मी होने पर भी रोग माना जाता है। दिन में निद्रा के पश्चात् एवं परिश्रम करने से प्रस्वेद आकर स्वाभाविक उष्णता की अपेक्षा १॥ डिग्री गर्मी कम हो जाती है। धूप में घूमने से, अग्नि के पास बैठने से, भोजन के पश्चात् और उष्ण स्थान में रहने पर गर्मी बढ़ जाती है। इस तरह नीरोगी मनुष्य के शरीर की गर्मी भी प्रकृति (वात, पित्त, कफ) भेद, आयु, आहार और बल भेद से भी न्यूनाधिक होती है। शीतलदेश और उष्णदेश में अन्तर पड़ता है, तथा ऋतु भेद से भी गर्मी बढ़ती-घटती रहती है। इनके अतिरिक्त दोपहर के समय और परिश्रम करने के पीछे गर्मी बढ़ जाती है। निद्रा और शान्ति के समय गर्मी कुछ कम हो जाती है। इस तरह गर्मी सर्वदा सम प्रमाण में नहीं रहती।

शारीरिक उष्णता की सामान्य मर्यादा निम्नानुसार रहती है

बलक्षय (कोलेप्स Collapse) ९२ से ९६

नैसर्गिक (नॉर्मल Normal) ९७ से ९८॥

उष्णता न्यूनत्व (सब-नॉर्मल Sub-normal) ९६

मंद ज्वर (स्लाइट फीवर Slight Fever) ९९ से १००

मध्यम ज्वर (मोडरेट फीवर Moderate Fever) १०२ तक

तीव्र ज्वर (Severe Fever) १०५ तक

तीव्र तर (Hyperpyrexia) ११० तक

ज्वर आने पर गर्मी बढ़ जाती है। मध्यम ज्वर में ९९ से १०४ डिग्री तक हो जाती है; और किसी-किसी समय तीव्र वेग होने पर गर्मी १०५ से ११० डिग्री तक पहुँच जाती है। यह अवस्था भयंकर है। इसके विपरीत कॉलेरा और शीतांग में गर्मी घटती है। कचित् ८४ डिग्री से भी कम हो जाती है, यह अवस्था भी भयप्रद है।

इस यंत्र को जल से धो, साफ कपड़े से पोंछ, पारा को नीचे उतार, पश्चात् मुँह में जीभ के नीचे, बगल, गुदा या जंघा में १ से ५ मिनट तक रक्खा जाता है। जिस पर आधा मिनट लिखा हो, उसे एक से २ मिनट तक रखें। २ मिनट लिखा हो, उसे २ से ५ मिनट तक रक्खें। ताकि गर्मी के प्रमाण में यंत्र का पारा चढ़ जाता है। अधिक समय तक यंत्र लगा रहे; तो भी पारा मर्यादा से अधिक नहीं चढ़ सकता। किन्तु न्यून समय तक लगाने में उष्णता की अपेक्षा पारा कम चढ़ता है। इस हेतु से न्यून समय तक नहीं रखना चाहिये।

उष्णता न्यून होने में अनेक कारण हैं। वृद्धावस्था या इतर हेतु से बलक्षय, क्षय की प्रथमावस्था में (क्षय में भी विशेषतः मस्तिष्क क्षय में) सुवह, मोतीझरा या ऑपरेशन से अन्त्र में से रक्त स्राव होना (इन्टरनल हेमर्हेज Internal Haemorrhage), आमाशयादि पाचक इन्द्रिय का तीव्रतम शोथ, इन सब रोगों में उष्णता न्यून हो जाना, यह निदानार्थकर लक्षण हैं।

इनके अतिरिक्त उपवास करने पर भी शीत स्थान में बैठना, अतिसार के हेतु से जलद्रव्य अधिक निकल जाना, कर्क स्फोटादि रोगों में शक्ति-क्षय (कॅकेक्सिया Cachexia), वृक्कदाह, मधुमेह और जीर्ण मानस व्याधियों में उष्णता घट जाती है।

जन्मार्जित हृद्विकार, हृत्साह (Failure of heart), मद्यपान, कामला, रक्त में मूत्र-विष वृद्धि (युरीमिया Uraemia), इन रोगों में तथा फॉस्फरस, ॲट्रोपिन, मॉर्फिया, अफीम, कार्बोलिक एसिड और

इतर तीक्ष्ण दाहक विष उदर में जाने पर उष्णता कम हो जाती है।

बगल गीली होवे, तो लगाने के पहले कपड़े से अच्छी तरह पोंछ लेना चाहिये। बगल की अपेक्षा जिह्वा के नीचे थर्मामीटर रखने से प्रायः गर्मी आधी से एक डिग्री ज्यादा आती है।

सामान्य रोगों में ताप निर्णय प्रातः-सायं करना चाहिये। परन्तु जीर्ण बढ़े हुए रोगों में दिन में ३-४ समय या २-२ घण्टे पर निर्णय करना चाहिये। कारण, रक्तस्राव, उपवास, जीर्णरोग, मस्तिष्क आदि मृदु भाग में चोट लगना; हृदय, फुफ्फुसादि महत्व के अङ्गों के जीर्ण रोग, क्षय और मधुरादि रोगों में उष्णता न्यूनाधिक होती रहती है। प्रायः दिन में ताप बढ़ जाता है, तथा रात्रि को कम हो जाता है।

सूचना—उष्ण देशों में ग्रीष्मऋतु के समय यन्त्र बगल में से निकाल कर तुरन्त जल में डुबो देना चाहिये। पश्चात् कितनी डिग्री पारा ऊपर चढ़ा है, यह देखना चाहिये। वातावरण में जब उष्णता अधिक हो, तब पारा उतारने के लिये शीतल जल में थर्मामीटर को डुबोकर उतारना चाहिये।

श्रवण परीक्षा

थर्मामीटर के अतिरिक्त ध्वनिवाहक यन्त्र (स्टेथस्कोप) से फेफड़ा, श्वास नली, मन्यासिरा, धमनियाँ और हृदय की ध्वनि सुनकर इनकी क्रिया, विकृति स्थान, व्याप्ति और स्थान भ्रंश को जाना जाता है। नाड़ी की गति और श्वास के प्रमाण में अन्तर हुआ है या नहीं? श्वासोच्छ्वास क्रिया स्वाभाविक नियमानुसार होती है या त्वरित, मन्द, अनियमित या ऊपर-ऊपर से चलती है? हृदय के स्पन्दनों में कुछ विकृति हुई है या नहीं? तथा धमनी विस्तार हो गया है या नहीं? इन बातों के बोध के लिये ध्वनिवाहक यन्त्र द्वारा श्रवण परीक्षा की जाती है।

इस यन्त्र में २ प्रकार हैं। एककर्णिक और द्विकर्णिक। इनमें से दो नलिका वाले का प्रयोग विशेष रूप से होता है। तथापि परीक्षकों को दोनों यन्त्रों के प्रयोग को अच्छी रीति से समझ लेना चाहिये।

एककर्णिक यन्त्र से आवाज़ एक ही कान से सुनी जाती है और द्विकर्णिक दोनों कानों पर लगाया जाता है।

श्रवण परीक्षा के लिये रोगी को खड़ा रखे या कुर्सी पर बैठावें, या तख्त पर चित लेटावें; और आवश्यकता पर पार्श्व के बल लिटा करके भी परीक्षा करें। परीक्षा के समय रोगी की छाती के ऊपर के वस्त्रों को उतरवा देवें। पश्चात् दीर्घ श्वासोच्छ्वास क्रिया कराकर परीक्षा करनी चाहिये। यदि अनभिज्ञ रोगी जल्दी-जल्दी श्वास लेने लगे, या मुँह से कोई श्वास लेते हैं, तो पहले उनको श्वासक्रिया ठीक करने को समझा कर फिर परीक्षा करें।

परीक्षा के समय यन्त्र के मुख को वक्षस्थान पर सावधानी से और स्थिरतापूर्वक लगाना चाहिये; ताकि बाहर की वायु यन्त्र के मुख में प्रवेश न कर सके। यदि हृदयादि प्रदेश पर अधिक बालों के हेतु से यथोचित् परीक्षा न होती हो; तो बालों को निकलवा देना चाहिये; या छाती पर वेसलाइन या इतर स्निग्ध औषधि लगा कर बालों को चिपका कर परीक्षा करनी चाहिये। हृदय, फुफ्फुस, फुफ्फुस चूड़ा (फुफ्फुसों के शिखर Apex), वाम फुफ्फुस की सीमा पर रहा हुआ हृदयखात, फुफ्फुसमूल (Root of Lungs), अक्षकास्थि (हँसली Clavicle) के नीचे ऊपर, त्रिकोणभाग, बगल, पसलियों के बीच के स्थान, स्वर यन्त्र, श्वास नलिका, इन सब स्थानों की सावधानी से परीक्षा करनी चाहिये।

जब फुफ्फुस चूड़ाओं पर श्रवण परीक्षा करें, तब एक ओर सावधानी से प्रश्वास को सुनें और निश्वास के समय तुरन्त दूसरी ओर समान स्थान पर यन्त्र को लगाकर श्रवण करें। इस रीति से दोनों ओर की तुलना करें। चौथे से आठवें वक्षकशेरू कंटक से बनने वाले अंशफलक के त्रिकोण की परीक्षा के समय रोगी के हाथ को दूसरी ओर के कन्धे पर रखवा कर कुहनी को ऊँची उठवाना चाहिये, जिससे उस भाग का आच्छादन दूर हो जाय।

देह के भीतर होने वाली इन आवाज़ों को उपनिषदों और योगशास्त्र

में 'नाद' संज्ञा दी है। इस नाद के आवाज़ फुफ्फुस, धमनी, स्वरयन्त्र और हृदयादि प्रदेश में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं; जो केवल अनुभव से ही जाने जाते हैं।

इस श्रवण परीक्षा में विशेषतः निम्न ४ बातें जानी जाती हैं।

(१) नैसर्गिक श्वास ध्वनि (Respiratory sound)

(२) शब्दध्वनि (Vocal resonance)

(३) आगन्तुक ध्वनि (प्रश्वास या निश्वास में किस समय और कहाँ से दूसरी आवाज़ आती हैं।)

(४) हृदय के नाद, स्पन्दनों का वहन और मर्मर ध्वनि।

सामान्य रीति से निःश्वास की ध्वनि का विशेष अंश सुनने में नहीं आता। जब सुनने में आता है, तब श्वास और निःश्वास में काल का अन्तर नहीं रहता। बालकों में यह आवाज़ बड़ी आयु वाले की अपेक्षा तीव्र रहती है। कृश शरीर में ध्वनि स्पष्ट और स्थूल शरीर में मन्द होती है।

जब स्टेथस्कोप से ध्वनि मन्द या मृदु सुनने में आती है; तब उसे अधिक स्पष्ट करने के लिये फोनेण्डोस्कोप (Fhonendoscope) का उपयोग किया जाता है।

श्वास ध्वनि—श्वासोच्छ्वास जनित नाद में स्थान भेद से वायुकोष और श्वास नलिकादि के सम्बन्ध से आवाज़ भेद हो जाती है। इस हेतु से फुफ्फुस नाद के मुख्य वायुकोषीय और नालीय ऐसे २ विभाग होते हैं।

वायुकोषीय नाद।

वायुकोषीय नाद (Vesicular sound) अर्थात् वायु कोषों की ध्वनि के रूक्ष, कर्कश, तीव्र, क्षीण, दीर्घ, त्रुटित, कम्पितादि अनेक प्रकार हो जाते हैं। इस तरह इस नाद का लोप भी हो जाता है।

रूक्ष—स्वस्थावस्था में जो नाद सुनने में आता है। इसमें निर्बल फुफ्फुस हो, तो ध्वनि मोटी और सबल फुफ्फुस में मन्द होती है।

बालकों में बड़े की अपेक्षा आवाज़ कुछ मोटी होती है।

कर्कश—सामान्य रीति से दाहिने फुफ्फुस के अग्र भाग पर आवाज़ कुछ कर्कश आती है। यदि प्रकृति में थोड़ी विकृति हो जाय; तो आवाज इतर स्थानों में भी कर्कश हो जाती है।

तीव्र—फुफ्फुसों में घनता (कठोरता) आने पर प्रश्वास और निःश्वास दोनों तीव्र हो जाते हैं। निःश्वास अपेक्षाकृत कुछ लम्बा भी हो जाता है। यह तीव्रता श्वसनक ज्वर, राजयक्ष्मा का प्रारम्भकाल, फुफ्फुस संकोच (Lung Callapse) और अर्बुदादि रोगों में (क्वचित् कास में भी) फुफ्फुस जितने अंश में घनीभूत होता है, उतने अंश में आवाज़ तेज हो जाती है।

क्षीण—स्वस्थावस्था में बहुधा शान्ति से श्वास लेने पर आवाज़ क्षीण होती है। किन्तु फुफ्फुसावरण में वायुसंचय (Pneumothorax) कुछ द्रवसंचय (Pleurisy with effusion) फुफ्फुसावरण की घनता (बहुधा शोथ आने से) तथा श्वास नलिका में से वायु आने में रुकावट हो, तब दीर्घश्वास लेने पर आवाज़ मन्द सुनाई देती है।

दीर्घ—वायु कोप विस्तार (Emphysema) होने पर और तमक श्वास में निःश्वास दीर्घ और शुष्क हो जाता है।

त्रुटित—क्वचित् स्वस्थावस्था में श्वास टूट जाता है; किन्तु राजयक्ष्मा की प्रथमावस्था में दीर्घ श्वास लेने पर भी आवाज़ टूटती हुई और छोटी-बड़ी सुनने में आती है।

कम्पित—शीत लग जाने, कफ चिटकने और वातवहा नाड़ियों में क्षोभ होने पर आवाज़ कम्पनयुक्त भासती है।

नादलोप—फुफ्फुसावरण में द्रव बढ़ने पर आवाज़ का अवरोध हो जाता है। किन्तु द्रव अत्यधिक बढ़ने पर आवाज़ वंशी या नली में से निकलने सदृश आने लगती है। यदि द्रव के ऊपर के भाग में दाह और स्राव होता है; तो आवाज़ बकरी के बोलने के समान (अजाध्वनि सदृश Oegophony) आता है।

नालीय नादि ।

नालीय नाद (Bronchial respiration) बड़ी श्वास-नलिका और स्वरयंत्र पर सुनने में आता है। यह आवाज़ वायु कोषीय ध्वनि की अपेक्षा तीव्र होती है। इसमें भी वायु कोप की अपेक्षा निःश्वास-काल में तीव्रता अधिक होती है। रोगावस्था में स्वस्थावस्था की अपेक्षा जब आवाज़ में भेद हो जाता है; तब पृथक्-पृथक् रोग में पृथक्-पृथक् ध्वनि सुनने में आती है। इनमें मुख्य ३ प्रकार हैं।

(१) **वंशीनाद**—(Tubular) न्यूमोनिया और राजयक्ष्मा की द्वितीयावस्था में रोगक्रान्त फुफ्फुस खण्ड का सम्बन्ध सूक्ष्म श्वास प्रणालिका से होने पर नली या वंशी में से निकलने वाली वायु सदृश आवाज़ आती है। यह नाद विशेषतः श्वास-नलिका पर उरोस्थि के बिल्कुल ऊपर के भाग में या इसके समान्तर पीठ के भाग में सुनने में आता है।

यद्यपि फुफ्फुसावरण में द्रव अत्यधिक बढ़ जाने पर भी वंशी-ध्वनि-सी आवाज़ निकलने लगती है; तथापि इस ध्वनि में प्रश्वास और निःश्वास का समय समान रहता है, किन्तु नाद खण्डित और ध्वनि कर्कश हो जाती है।

(२) **विवरनाद**—(Cavernous) राजयक्ष्मा की तृतीयावस्था में फुफ्फुस खण्ड में छोटे विवर होने के पश्चात् उसका सम्बन्ध संकोचित स्थूल श्वास-नलिका से होने पर उस स्थान में से वंशीनाद की अपेक्षा तीव्र आवाज़ निकलती रहती है। यह नाद प्रश्वास और निःच्छ्वास, दोनों समय अनुभव में आती है। इस तरह फुफ्फुस खण्ड पर शोथ आने से उसका सम्बन्ध स्थूल श्वास नलिका से हो; तो उस शोथ स्थान पर भी विवरनाद सुनाई देता है।

(३) **कौप्यकनाद**—(Amphoric) राजयक्ष्मा की अन्तिमावस्था में फुफ्फुस में बड़ा विवर होकर उसका सम्बन्ध कण्ठस्थ श्वास नलिका के साथ होने पर या फुफ्फुसावरण में वायु आने पर या अर्बुद

होने पर बोतल के मुँह पर से वायु निकले वैसी बड़ी ध्वनि होती रहती है। यह ध्वनि श्वास लेने और छोड़ने, दोनों समय में सुनने में आती है।

शब्द नाद।

शब्द नाद (Vocal Resonance) अर्थात् रोगी के मुँह से (कण्ठ पर आघात पहुँचे इस रीति से) १-२-३ शब्द कहलवाने के समय फुस्फुसों पर यन्त्र रखकर नाद का श्रवण करें। स्वस्थावस्था में दाहिने फुस्फुस में बाँयी ओर की अपेक्षा अधिक स्पष्ट नाद होता है। आगे की ओर की ध्वनि पीठ की ओर से उच्च सुनने में आती है। स्कान्धास्थि पर अतिन्यून बोध होता है। वक्ष की दोनों ओर सम स्थानों पर आवाज़ समान रूप से सुनने में आती है। विकार भेद से इस नाद के मन्द, तीव्रादि अनेक भेद हो जाते हैं। इनमें ४ मुख्य हैं।

मन्द—यह ध्वनि फुस्फुसावरण शोथ और फुस्फुसावरण की स्थूलता में मन्द हो जाती है; तथा फुस्फुसावरण में तरल का स्वल्प संचय होने पर आवाज़ सानुनासिक हो जाती है।

अभाव—फुस्फुसावरण में तरल वृद्धि होने पर नाद का अभाव हो जाता है; तथा श्वास-नलिका में कफ या शोथ के हेतु से वायु जाने में रुकावट होती हो; तो भी नाद श्रवण नहीं होता।

प्रतिध्वनित—फुस्फुसावरण में वायु भर जाने पर नाद प्रतिध्वनि (Echo) सम भासता है।

तीव्र—फुस्फुस ठोस हो जाने से शब्दोत्पन्न नाद मोटा हो जाता है। इस हेतु से श्वसनक ज्वर में और राजयक्ष्मा की अन्तिमावस्था में विवर बढ़ जाने पर आवाज़ बढ़ जाती है। फुस्फुसावरण में द्रव की अति वृद्धि हो जाय; तो बहुत बड़ी ध्वनि सुनने में आती है। इस तरह वक्षस्थ लसीकाग्रन्थियाँ बढ़ जाने पर पृष्ठवंश के ४-५ और ६ वें कशेरुका पर और बालकों के १-२ और ३ रे कशेरुका पर धीमे से उच्चारित शब्द भी स्पष्ट सुनने में आता है।

आगन्तुक ध्वनि ।

क्वचित् आगन्तुक ध्वनि (Accompaniments sounds) मूलनाद के साथ फुफ्फुसादि प्रदेश में से आने लगती है। आवरणों की कलाओं का घर्षण, वायुकोष या श्वासनलिका शाखाओं में द्रव की उत्पत्ति, श्वासनलिका शाखाओं के मार्ग का संकोच हो जाना, फुफ्फुसावरण में द्रवोत्पत्ति होना इत्यादि हेतुओं से घर्षण ध्वनि, द्रवध्वनि, कूजनध्वनि, वस्तिध्वनि और सीत्कार ध्वनि इन ५ प्रकार की आवाज़ की उत्पत्ति होती है।

घर्षण ध्वनि—(Friction rale) फुफ्फुसावरण की कलाओं का घर्षण या हृदावरण की कलाओं का घर्षण होने से इस ध्वनि की उत्पत्ति हो जाती है। इस ध्वनि में स्निग्ध और शुष्क, ये २ भेद हैं। आवरण में द्रव उत्पत्ति से पहले स्निग्ध ध्वनि फिर धीरे-धीरे कला शुष्क हो जाने से आवाज़ शुष्क हो जाती है। यह आवाज़ श्वास लेने और छोड़ने, दोनों समय अनुभव में आती है; किन्तु बीच-बीच में टूट-टूटकर होती रहती है।

यद्यपि स्निग्ध घर्षण ध्वनि और मन्द द्रव ध्वनि में क्वचित् भ्रान्ति हो जाती है; इस तरह हृदय के समीपस्थ फुफ्फुसावरण में शोथ होने पर घर्षण किसमें (हृदावरण या फुफ्फुसावरण में) होता है, यह सत्वर निर्णित नहीं होता; तथापि इनका भेद निम्न लक्षणों पर से स्पष्ट हो जाता है।

घर्षणध्वनि	मंद द्रवध्वनि
१—श्वासोच्छ्वास, दोनों काल में त्रुटित होकर सुनने में आती है।	१—केवल श्वास लेने के अंत में सुनने में आती है।
२—यन्त्र दबाने पर आवाज़ अधिक स्पष्ट होती है।	२—यन्त्र के दबाने से आवाज़ मन्द हो जाती है।
३—खाँसने और कफ निकालने पर भी आवाज़ वैसी ही रहती है।	३—खाँसने आदि में ध्वनि परिवर्तित हो जाती है।

घर्षण (फुफ्फुसावरण) में

१—दीर्घ श्वास लेने तथा श्वासावरोध करने पर घर्षण लुप्त हो जाता है।

घर्षण (हृदावरण में)

१—दीर्घ श्वास लेने तथा श्वासावरोध करने पर भी हृदा-कुंचन काल में घर्षण ध्वनि होती रहती है।

घर्षण ध्वनि

१—श्वास लेते समय एक वार और छोड़ते समय दूसरी वार सुनने में आती है।

कूजन ध्वनि

१—श्वास छोड़ने के समय एक ही वार सुनी जाती है।

द्रवध्वनि—(Crepitation) वायुकोष या श्वास-नलिका में द्रव उत्पन्न हो जाने पर ध्वनि बुदबुदवत् हो जाती है। यह आवाज़ श्वास और निःश्वास, दोनों समय सुनने में आती है। इसमें मंद-मंदतर, मध्यम, बृहद् और मिश्रित ऐसे ५ भेद हो जाते हैं।

मंद द्रवध्वनि—(Crepitant rale) श्वसनक ज्वर का प्रारम्भ और क्षय की प्रथमावस्था में यह मृदु आवाज़ निकलती है। अंगुष्ठ और तर्जनी के बीच में वालों को रखकर रगड़ने से जैसी आवाज़ हो, वैसी लगभग आवाज़ होती है।

कफ से संलग्न हुई वायु-कोष की दीवार जब पृथक् होती है, तब इस आवाज़ की उत्पत्ति होती है। यह आवाज़ बहुधा श्वास लेने के अन्त में प्रतीत होती है। इसकी परीक्षा दीर्घ श्वास लेने पर करनी चाहिये।

मंदतर द्रवध्वनि—(Sub-crepitant rale) अति सूक्ष्म श्वास वाहिनियों में कफ चिटक जाने पर आवाज़ अति मृदु हो जाती है। यह आवाज़ श्वास लेने और छोड़ने दोनों समय में आती है।

मध्यम द्रवध्वनि—(Crepitus Redux) राजयक्ष्मा बढ़ने पर और श्वसनक ज्वर की निवृत्ति काल में द्रवयुक्त छोटे क्षयविवर या श्वासनलिकाओं में से वायु के जाने-आने के समय आवाज़ मंद द्रव से बड़ी होती है। यह ध्वनि श्वास लेने के अन्त में और छोड़ने के प्रारम्भ में भासती है।

बृहद् द्रवध्वनि—(Gurgling rale) राजयक्ष्मा की अन्तिमावस्था में कफलिप्त बड़े विवर में से ध्वनि निकलती है; तब आवाज़ बड़ी हो जाती है। एक फूटे बर्त्तन में से नीचे रक्खे हुए बर्त्तन में जल टपक रहा हो, वैसी आवाज़ प्रतीत होती है। इस तरह श्वसनक ज्वर की निवृत्ति के पश्चात् फुफ्फुस जब द्रवीभूत हो रहे हों, तब भी यह बृहद् द्रवध्वनि सुनाई देती है। एवं वृद्धावस्था में फुफ्फुस दब जाने और श्वासनलिका शाखाओं में द्रव आ जाने पर श्वास के आवागमन काल में भी बृहद् द्रवध्वनि सुनने में आती है।

मिश्रित द्रवध्वनि—जब द्रवध्वनि मंद, मध्यम, बृहद् मिश्रित हो जाती है, तब उसे मिश्रित द्रवध्वनि कहते हैं। सूक्ष्म, मध्यम और बृहद्, तीनों प्रकार या दो प्रकार की श्वास-नलिकाओं में से जब वायुओं आवागमन करती है, तब यह ध्वनि होती है।

कूजनध्वनि—(Rhonchus) जब श्वास-प्रणालिका का मार्ग संकोचित हो जाता है; तब श्वास आने-जाने के समय शुष्क कूजनवत् आवाज़ आती रहती है। इसमें सूक्ष्म और स्थूल, ऐसे २ प्रकार हैं।

सूक्ष्म कूजनध्वनि—फुफ्फुसदाह, तमक श्वास और तीव्रकास के हेतु से जब सूक्ष्म वाहिनियों में शोथ आ जाती है, या उनकी दीवारों में कफ लग जाता है, या इतर हेतु से मार्ग संकोचित हो जाता है; तब कूजनध्वनि मन्द-मन्द आती रहती है। यह ध्वनि विशेषतः निःश्वास के अन्त में सुनी जाती है।

स्थूल कूजनध्वनि—तमकश्वास का आक्रमण, तीव्रकास और क्वचित् राजयक्ष्मा के हेतु से यह आवाज़ होती है। श्वास-नलिकाओं में शोथ आ जाने पर या श्लेष्म चिटक कर मार्ग संकोचित हो जाने पर विशेषतः निःश्वास काल में आदि से अन्त तक कपोत कूजनवत् बड़ी आवाज़ निकलती रहती है। जो अनेक बार दूर खड़े व्यक्ति को भी सुनाई देती है।

बस्तिध्वनि—(Splashing rale)—पायोन्यूमोथोरेक्स (Pyo-Pneumothorax) रोग अर्थात् फुफ्फुसावरण में पूय और वायु दोनों

चित्र नं ७

हृदय के कपाटों के स्थान

2, 3 lungs  फुप्फुस
4, 5 Pleuræ फुप्फुसावरण

A. Aortic valve. धमनी कपाटिका
B. Bicuspid or mitral valve. द्विपत्र कपाट
P. Pulmonary valve. फुप्फुसाभिगा धमनी की कपाटिका
T. Tricuspid valve. त्रिपत्र कपाट

मिल जाने पर मसक में जल हिलने के समान आवाज़ आती रहती है। इस ध्वनि की परीक्षा रोगी को हिलाकर करनी चाहिये।

सीत्कारध्वनि—राजयक्ष्मा की अन्तिमावस्था में फुस्फुस में बड़े विवर हो जाने के पश्चात् जब खाँसने से कफ और वायु बाहर निकल जाती है, तब श्वास लेने पर ऐसा भास होता है, कि वायु उस विवर में प्रवेश कर रही है। उसे सीत्कारध्वनि संज्ञा दी है।

हार्दिक नाद।

हृदय वक्षस्थान के भीतर बाँयें फुस्फुस में कुछ अधिक और दाहिनी ओर कुछ कम रहा है। हृदय का अग्रभाग (Apex) बाँई ओर पाँचवीं पर्शुकान्तर में चुचुक रेखा से सवा इञ्च नीचे और पौन इञ्च भीतर की ओर रहा है; अथवा हृदय की मध्यरेखा से लगभग ३॥ से ४ इञ्च दूर बाँई ओर रहा है। बालकों में १० वर्ष की आयु तक चौथी पर्शुकान्तर में रहता है; फिर शनैः-शनैः नीचे उतरता रहता है। युवावस्था में पाँचवीं पर्शुका और वृद्धावस्था में छठवीं पर्शुका तक उतर जाता है। हृदय के ऊपर की किनारी बाँयीं ओर द्वितीय उप-पर्शुका के नीचे से आरम्भ होकर तृतीय उपपर्शुका के ऊपर की किनारी तक रहती है। उरः फलक अस्थि (Sternum) से आध इंच दाहिनी ओर तथा १ इंच बाँई ओर रहा है। बाँई किनारी चुचुक रेखा से कुछ भीतर की ओर है; तथा दाहिनी किनारी ७ वीं उपपर्शुका तक है।

बाँई ओर रहा हुआ द्विपत्र कपाट चौथी उपपर्शुका और वक्ष-सन्धि के समानान्तर पर वक्षोस्थि के पीछे और मध्यरेखा से कुछ बाँई ओर; तथा दाहिना त्रिपत्र कपाट दाहिनी ओर चौथे पर्शुकान्तर और वक्षसन्धि के समानान्तर एवं वक्षोस्थि के पीछे रहा है।

फुस्फुसाभिगा धमनी की कपाटिका बाँई ओर तीसरी उपपर्शुका और वक्षसन्धि के पीछे; तथा बृहद् धमनी कपाटिका फुस्फुसाभिगा धमनी के कुछ नीचे और मध्य की ओर रही है।

हृदयप्रदेश का स्पंदन पाँचवीं पर्शुकान्तर में १ इञ्च जितने स्थान

में हृदयकोण पर होता है। जब हृदय के पृथक्-पृथक् अङ्गों की ध्वनि सुननी हो, तब द्विपत्र कपाट के लिए हृदय-कोण पर, त्रिपत्र कपाट के लिए उरः फलक अस्थि के नीचे की सीमा पर, फुफ्फुसाभिगा धमनी की कपाटिका के लिए उरोस्थि के बाँयें किनारे से बाहर द्वितीय या तृतीय पर्शु कान्तर पर तथा बृहद् धमनी की कपाटिका की ध्वनि श्रवणार्थ दाहिनी दूसरी उपपर्शु का और उरोस्थि के सन्धि-स्थान पर श्रवण-यन्त्र का मुँह रखना चाहिये। किन्तु जब हृदयविस्तार हो जाता है, तब स्थान बदल जाता है।

हार्दिक नाद में मुख्य २ प्रकार हैं। आकुंचन नाद और प्रसारण नाद। हृदय के दोनों कपाट बन्द होने पर (निलयखण्ड का संकोच होने पर) दीर्घ किन्तु मन्द लब् (ल............ब्) सदृश नाद होता है। इसे प्रथम नाद और आकुंचन नाद (Systolic sound) संज्ञा दी है। तथा हृदय खण्डों के विश्रान्ति (प्रसारण) काल में धमनियों की कपाटिकाएँ बन्द होती हैं। तब डब् सदृश ह्रस्व किन्तु स्पष्ट नाद सुनाई देता है; इसे द्वितीय नाद और प्रसारण नाद (Diastolic sound) कहते हैं।

स्वस्थावस्था में दोनों अलिन्दों के संकोच में १/१० सेकण्ड तथा दोनों निलयों के संकोच में ३/१० सेकण्ड लगती हैं। विश्रान्ति काल भी ४/१० सेकण्ड मिल जाता है। इस तरह हृदय व्यापार अहर्निश चलता रहता है। यदि हर्ष-क्रोधादि मानस वृत्तियों द्वारा हृदय उत्तेजित हो जाय; तो विश्रान्ति काल कम या लोप हो जाता है। संकोच काल बहुधा कायम रहता है। कितनेक रोगों में हृदयकपाटों की विकृति, रक्त में पतलापन या हृदय की शिथिलता हो जाती है; तब हार्दिक गति अनियमित बन जाती है। और हार्दिक नाद के आगे-पीछे घ र् र् र् घ र् र् र् र् सदृश मर्मर ध्वनि (Murmur) होने लगती है। इनके अतिरिक्त हृदयावरण की कलाओं में घर्षण होने पर घर्षण ध्वनि दोनों नाद के साथ (दो बार) सुनाई देती है।

हार्दिक कपाट संकोच से संकोचतरंग (Wave of contraction)

उत्पन्न होता है। इसका प्रारम्भ दक्षिण अलिन्द से होता है। जहाँ उत्तरा महासिरा (Superior vena cava) और हार्दिक मूलसिरा (Coronary sinus) मिलती हैं, उस स्थान को अलिन्द-सिरा ग्रन्थि (Sino-auricular Node) कहते हैं। फिर तरंग दोनों अलिन्दों के मध्य में रही हुई दीवार में अलिन्द-निलय ग्रन्थि (Auriculo-ventricular Node) तक गति करता है। पश्चात् दोनों निलयों के बीच की दीवार में जाता है। तदनन्तर दक्षिण और वाम, ऐसे २ विभाग होकर दोनों निलयों में जाता है। संकोच-तरंग की यह गति अलिन्द निलय सेतु (Auriculo-Ventricular Bundle of his) द्वारा एक से दूसरे भाग में होती है। इस स्पन्दन की सबसे अधिक गति प्रारम्भ स्थान अर्थात् अलिन्द सिरा ग्रन्थि पर और सबसे मन्द गति हृदय की किनारी पर होती है।

स्वस्थावस्था में इस तरह नियमित क्रिया होती रहती है। किन्तु विकार हृदन्तराय (Heart-block) आदि होने पर अलिन्द-सिरा ग्रन्थि के समस्त तरंग निलयखण्डों में नहीं पहुँच सकते। जिससे अलिन्द की गति द्विगुण या इससे भी अधिक बढ़ जाती है; और निलयखण्ड की गति सामान्य गति से भी कम हो जाती है। किसी-किसी व्यक्ति में तो अलिन्द की गति से निलय की गति आधी ही हो जाती है।

इस हार्दिक नाद में स्वस्थनाद और रोगावस्था होने पर दीर्घ, लघु, मृदु, उच्च (Accentuated) या द्विगुणित (Duplicated) ध्वनि, यति (ताल) भंग, घर्षण ध्वनि और मर्मर ध्वनि (Murmur) का बोध होता है। मर्मर ध्वनि होती है, तो स्थान, वाहन, दिशा और स्वरूप (कर्कशता या मृदुता), इन सब बातों पर लक्ष्य दिया जाता है। यदि हृदय से बाहर रक्त-वाहिनियों में ध्वनि सुनाई दे, तो वह स्वाभाविक है या अस्वाभाविक? यदि अस्वाभाविक है, तो स्थानीय है या हृदय से सम्बन्ध वाली? इस बात का निर्णय भी करना चाहिये। इस हार्दिक नाद में निम्न हेतुओं से भेद हो जाता है।

(१) हार्दिक मांसपेशियों की शिथिलता या शोथ होने पर प्रथम आवाज़ लघु हो जाती है।

(२) हृदन्तराय होने पर (क्वचित् तीव्र ज्वरों में भी) प्रथम नाद में मृदुता आ जाती है; और पूर्ण अन्तराय होने पर लोप हो जाता है।

(३) हृदय वलपूर्वक संकोच होने पर पहला नाद तीव्र होता है।

(४) द्विपत्रकपाट का अवरोध (Mitral Stenosis) होने पर प्रथम नाद कर्कश और हृदय के अग्र भाग पर तीव्रतर मर्मर ध्वनि होती है। विकृति वढ़ने पर द्वितीय नाद नहीं आता, केवल मर्मर ध्वनि ही सुनने में आती है। तीव्र ज्वर, अति परिश्रम और गलगण्ड में भी प्रथम नाद अपेक्षा से तीव्र हो जाता है।

(५) रक्तभाराधिक्य—रक्त प्रवाह में रुकावट होने या महाधमनी की कपाटिका का अवरोध होने से कपाटिका पर हृदय-संकोच काल में ध्वनि कर्कश हो जाती है। यह ध्वनि कण्ठस्थ महामातृका धमनी (Carotid art) की दिशा से सुनने में आती है और हाथ लगाने पर भी जानी जाती है।

(६) फुफ्फुसों में से वाम अलिन्द में जाने वाले रक्त में रुकावट होती है; अर्थात् फुफ्फुसाभिगा धमनी या वाम अलिन्द खण्ड में विकृति होती है; तव फुफ्फुसाभिगा धमनी पर आवाज़ कर्कश हो जाती है।

(७) हृत्खण्ड विस्तार में कपाट की अपूर्णता (छिद्र पर पूरा आच्छादन न होने) से रक्त का पुनरागमन होता रहता है; जिससे उस स्थान पर मर्मर ध्वनि सुनने में आती है।

(८) महाधमनी की कपाटिका की अपूर्णता में यदि प्रसारीय रक्तभार रक्त पर न पड़े, तो मृदु मर्मर ध्वनि द्वितीय नाद के साथ होती है। जो हृदग्रस्थान की ओर गति करती है, इस हेतु से द्वितीय नाद में अंतर हो जाता है।

(९) द्विपत्र कपाट की अपूर्णता होने पर मृदु मर्मर ध्वनि हृदय-संकोच काल में कुक्षि की ओर जाने वाली होती है। इस हेतु से प्रथम नाद में भी अंतर हो जाता है।

(१०) त्रिपत्र कपाट और द्विपत्र कपाट पृथक्-पृथक् समय पर बन्द होने से प्रथम नाद में द्विगुणितता; तथा धमनियों की कपाटिकाएं भिन्न-भिन्न काल में बन्द होने से द्वितीय नाद में द्विगुणितता हो जाती है।

(११) हृदय की गति तीव्र हो जाने पर विश्रामकाल कम हो जाता है; और यतिभंग होता है।

(१२) हृदयावरण में द्रव भर जाने पर नाद मन्द हो जाता है, या लुप्त हो जाता है।

(१३) हृदयावरण की कलाओं में घर्षण होने पर हृदय के संकोच-विकास, दोनों काल में घर्षण ध्वनि होती है। यह ध्वनि हृदय के नाद से कुछ दूर स्थान पर होती है।

(१४) हृदयावरण और फुफ्फुसावरण का घर्षण होने पर घर्षण ध्वनि सुनने में आती है, वह संकोच काल में उत्पन्न होती है। (हृदयावरण में भी फुफ्फुसावरण के समान स्निग्ध; रूक्ष, आदि ध्वनि और ध्वनि लोपादि प्रकार होते हैं।)

(१५) प्रथम और द्वितीय नाद का समय सम हो जाय; तो वह भयंकर अवस्था मानी जाती है।

(१६) बृहद् धमनी विस्तार होने पर हृदय-संकोच काल में मर्मर ध्वनि होती है।

(१७) श्वसनक ज्वर में यदि फुफ्फुसाभिगा धमनी पर द्वितीय नाद तीव्र सुनाई दे, तो वह शुभ लक्षण माना जाता है।

(१८) पाण्डु, अग्निमान्द्य, चाय, तमाखू आदि का अत्यन्त सेवन, अपचन, गलगण्ड, संक्रामक ज्वर, आमवात, रोमान्तिका, उपदंश, प्राणदा-नाड़ियों (Vagus nerves) की शक्ति का हीनयोग, इन कारणों से स्पन्दन संख्या बढ़ जाती है। १५० से २०० तक हो जाती है। इस विकार को हृत्स्पंद वर्धन (Tachycardia) संज्ञा दी है।

(१९) कामला, मस्तिष्कदाह, मस्तिष्कार्बुद, डिजिटेलिसादि औषधियों का अतियोग, इड़ा-पिंगला नाड़ियों की शक्ति का ह्रास, इन

कारणों से गति मंद हो जाती है। इस रोग को हृत्स्पंद गतिमंदता (Bradycardia) संज्ञा दी है।

(२०) कपाट विकृति, तमाखू आदि का विष, मानसिक विकृति और मस्तिष्क व्याधियाँ आदि कारणों से हृत्ताल विच्छेद (यतिभंग) होता है। तीव्र ज्वरादि रोगों में भी क्वचित् कुछ समय के लिए समता नष्ट हो जाती है; एवं दौड़ना, पर्वत पर चढ़ना, बोझा उठानादि हेतुओं से भी स्पन्दों का ताल भंग हो जाता है।

(२१) मानसिक विकार, पाण्डुता, अपचन, गर्भाशय विकृति, हिस्टीरिया, तीव्रवासना, तमाखू या शराव का अति सेवन, अति श्रम और अति शुक्र क्षीणतादि कारणों से हृदय स्पन्दन अनेक वार जोर से उछलने लगता है।

(२२) धमनी की दीवार में विकृति होने और रक्तभार चढ़ने पर धमनी विस्तार हो जाता है।

(२३) कृमिज विष, शराव या तमाखू का अति सेवन, मानसिक आघात, अति श्रम, संक्रामक ज्वर, अकस्मात् वलक्षय, पाण्डु, धमनी कपाटिका में विकृति, वृक्कविकार, इन कारणों से हृत्खण्ड विस्तार हो जाता है।

(२४) हृत्खण्ड विस्तार होने पर निलयखण्डों के छिद्र अधिक चौड़े हो जाते हैं।

(२५) धमनी की कपाटिका की विकृति होने पर वाम निलयखण्ड के स्नायुओं की वृद्धि हो जाती है।

सूचना—भिन्न-भिन्न स्थानों की ध्वनिओं की प्रतीति में निम्न हेतुओं से भ्रम हो जाने की सम्भावना रहती है। अतः ध्वनि परीक्षा में इन वातों की सम्हाल रखनी चाहिये।

(१) यन्त्र के कर्णभाग (Ear pieces) कान के छिद्र में ठीक बैठने चाहिये। यन्त्र के क्षितिज भाग, जिनमें कर्ण भाग लगे हैं, वे कान के छिद्र की सीध में होने चाहिये। यन्त्र की कमानी (Spring) अधिक तेज नहीं होनी चाहिये; एवं यन्त्र की रबर भी सुदृढ़ होनी

चाहिये। अन्यथा कर्णछिद्र पर दबाव पड़कर शब्दवहन यथोचित नहीं हो सकेगा।

(२) छाती पर के बाल के साथ नलिका का घर्षण हो जाने से सूक्ष्म बुदबुद समान घर्षण ध्वनि उत्पन्न हो जाती है; एवं इस यन्त्र की नलिकाओं का परस्पर घर्षण हो जाने से भी घर्षण ध्वनि हो जाती है।

(३) अति कृश शरीर में ध्वनि स्पष्टतर और अति स्थूल देह में अस्पष्ट होती है।

(४) एक फुफ्फुस का वध हो जाने पर दूसरे फुफ्फुस को अधिक कार्य करना पड़ता है। जिससे फुफ्फुसकोष विस्तार युक्त रोग (Emphysema) हो जाने का भ्रम होता है।

(५) खाँसी चलने लगती है; तो भी भ्रम हो जाने की सम्भावना है।

ठेपन परीक्षा।

ठेपन परीक्षा को (पर्कशन Percussion) कहते हैं। श्रवण परीक्षा के पहले अंगुलि ठेपन द्वारा आन्तर विकृति की परीक्षा की जाती है। अंगुलि से ठेपन करने पर जो आवाज उत्पन्न होती है, उस पर से फुफ्फुसादि इन्द्रियों की स्वस्थता-अस्वस्थता का सामान्य बोध हो जाता है। फिर श्रवण यन्त्र द्वारा विशेष निर्णय किया जाता है।

इस परीक्षा के लिये बाँये हाथ की मध्यमांगुलि को रोगी के फुफ्फुसादि भाग पर रख, उस पर हथोड़ी से ठोकने के सदृश दाहिने हाथ की ३री उँगली के सिरे से ठेपन करना चाहिये। यह क्रिया इस कदर सम्हाल पूर्वक की जाती है, कि अग्र बाहु और कोहनी, स्थिर रहे; मात्र दक्षिण मणिबन्द सन्धि (Wrist joint) से अंगुलि तक के भाग का ही चलन हो।

इस क्रिया में आघात केवल अंगुलि के मृदुबल से करने पर मृदु ठेपन, मध्यम बल से करने पर मध्यम ठेपन और कलाई को बलपूर्वक उठाकर प्रहार करने पर कठोर ठेपन कहलाता है।

स्वस्थावस्था में २ प्रकार की आवाज सुनने में आती है। रिक्त, घन और सौषिर या डिण्डिमवत्।

(१) **रिक्तध्वनि**—(Tympanic resonance) जो स्थान वायुपूर्ण रहता है, उस पर ढोल सदृश आवाज़ आती है। यह आवाज़ विशेषतः आमाशय और अन्त्र पर आती है।

(२) **घनध्वनि**—(Dull resonance) यकृत्प्लीहादि ठोस स्थान में से पत्थर पर प्रहार करने समान घनध्वनि निकलती है।

(३) **सौषिरध्वनि**—(Tymanitic resonance) रिक्त और ठोस मिश्रित स्थान पर सौषिरध्वनि उत्पन्न होती है। ऐसी आवाज़ फुफ्फुसों में चारों ओर से वायु वन्द होने से हो जाती है।

फुफ्फुस परीक्षा—फुफ्फुसों पर अंगुलि ठेपन करने पर नीरोगी अवस्था में जो आवाज़ आती है, वह फुफ्फुसों में विकार होने पर परिवर्तित हो जाती है।

स्वस्थावस्था में सौषिरध्वनि दोनों ओर के फुफ्फुस-शिखर, जो अक्षकास्थि से २ अंगुल ऊपर रहा है, वहाँ से पीठ की ११ वीं पर्शुका तक आती है। यदि श्वास वलपूर्वक लिया जाय; तो यह आवाज़ १ इञ्च नीचे तक सुनी जाती है। अतः इस ठेपन परीक्षा का प्रारम्भ अक्षकास्थि (हँसली Clavicle) से करना चाहिये। फिर नीचे-नीचे उभय वाजू के समान्तर भाग में परीक्षा करते जायँ। एक समय एक ओर की एक पर्शुका और पर्शुका मध्य भाग की परीक्षा करने पर दूसरी ओर उसी प्रदेश की जाँच करनी चाहिये। जिससे दोनों के अन्तर का वोध हो सके।

आगे की ओर परीक्षा के लिये रोगी को समान स्थान पर चित लेटावें। पार्श्व भाग की परीक्षार्थ रोगी वैठ सके तो स्वस्थ वैठा दें; तथा हाथ कण्ठ पर रखने को कहें। पीठ की ओर ठेपन करने पर दोनों हाथ परस्पर विरुद्ध कन्धे पर रखने की सूचना करें। फुफ्फुसशिखरों पर परीक्षा करने पर रोगी को ग्रीवा समस्थिति में रखने को कहें। कारण, ग्रीवा थोड़ी-सी मुड़ जाने पर ध्वनि में अन्तर पड़ जाता है।

फुफ्फुसों की ठेपन परीक्षा से निम्न ३ वात का वोध हो जाता है।

१—शिखर और अधोधारा अपने स्थान पर हैं या नहीं ?

२—फुफ्फुस पर उत्पन्न होने वाली ध्वनि स्वस्थवत् सौपिर है या नहीं ?

३—फुफ्फुसावरण और वक्ष की दीवार में कोई प्रतिबन्ध है या नहीं ?

अक्षकास्थि और फुफ्फुसशिखर पर मृदु ठेपन करना चाहिये; एवं दाहिनी ओर यकृत के सामने मध्यम और नीचे की ओर मृदु प्रहार करें। वक्षस्थान पर आगे और पार्श्व पर मध्यम आघात; तथा पीठ की ओर दृढ़ मांस-पेशियों पर कठोर ठेपन करना चाहिये। बाँयी ओर फुफ्फुस के नीचे आमाशय रहता है। वहाँ पर ध्वनि रूपान्तरित हो जाती है, इस बात को लक्ष्य में रक्खें।

इस सौपिरध्वनि में स्थान भेद से अन्तर हो जाता है। किसी स्थान पर मन्द, किसी स्थान पर घन। यह सौपिरध्वनि फुफ्फुसशिखरों पर आगे और पीछे से और स्थानों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होता है। यह ध्वनि वायुकोप विस्तार होने पर तेज हो जाती है। मांस-पेशियों पर शोथ आ जाने पर आवाज़ घन हो जाती है। इस तरह यकृत् और हृदय पर भी घन ध्वनि होती है।

यदि फुफ्फुस में खड्डा होकर वायु भर जाय; तो सौपिरध्वनि अधिक तीव्र (रिक्तवत्) हो जाती है। यदि फुफ्फुसों की मांसपेशियों पर दाह-शोथ होने पर स्थान ठोस हो जाता है; तो आवाज़ घन हो जाती है। इस तरह द्रवसंचित हुआ हो; तो भी ध्वनि घन बन जाती है। यदि खड्डे के समीप घन भाग हो, या तरल पर फुफ्फुस तैरने लगते हैं; तो मिट्टी के फूटे वर्त्तन के समान आवाज़ (Cracked pot resonance) आती है। (यह फूटे वर्त्तन जैसी आवाज स्तनपान करने वाले छोटे शिशुओं के फुफ्फुसों में नीरोगावस्था में भी होती है)। यदि फुफ्फुसों में नीचे घन भाग और ऊपर अधिक तरलता हो; तो सौपिर-ध्वनि तीव्र हो जाती है। इस ध्वनि को शोधक के नाम पर से अँगरेजी में स्कोडा ध्वनि (Skodaic resonance) संज्ञा दी है। तथा टूटी अस्थि पर जो आवाज़ आती है, उसे (ओस्टील रेजोनेन्स Osteal resonance) कहते हैं।

फुस्फुसावरण में द्रव भर जाने पर या फुस्फुसावरण अधिक घन हो जाने पर आवाज़ घन हो जाती है।

कास रोग (Bronchitis) में कूजनध्वनि (Rhonchus) की उत्पत्ति होती है, वह अंगुलि-ठेपन से भी प्रतीत हो जाती है। फुस्फुसावरण शोथ और हृदावरण शोथ से कलाओं में घर्षण होने पर घर्षण ध्वनि (Friction rale) का बोध हो जाता है; तथा स्पर्शासहत्व भी जानने में आ जाता है।

आमाशय परीक्षा—स्वस्थावस्था में आमाशय उरःपंजर के भीतर बाँईं ओर रहा है। आमाशय में भोजन से पहले वायु रहने से अंगुलि ठेपन द्वारा परीक्षा करने पर आवाज़ रिक्तवत् आती है। परन्तु आमाशय विस्तार (Dilatation) हो जाने पर आवाज़ चारों ओर बढ़ जाती है। इससे विपरीत अर्बुदादि कारणों से आमाशय का संकोच हो जाने पर या यकृत अथवा प्लीहा वृद्धि होकर आमाशय प्रदेश पर आवरण आ जाने से रिक्त आवाज़ का स्थान न्यून हो जाता है। वाम फुस्फुस में द्रवसंचय अथवा अर्बुद हो जाने पर आमाशय नीचा हो जाता है; तथा जलोदर और वाम फुस्फुस सङ्कोच हो जाने पर आमाशय ऊपर चढ़ जाता है। ये सब अंगुलि ठेपन से विदित हो जाता है। आमाशय पर ठेपन बीच में से प्रारम्भ कर अन्त भाग की ओर जाना चाहिये। आमाशय परीक्षार्थ बाँयें हाथ की मध्यमांगुलि को चित रख, उस पर दाहिने हाथ की तर्जनी द्वारा ठेपन करना चाहिये। इसी विधि से सारे उदर प्रदेश की परीक्षा की जाती है।

अनेक बार कृमि (डॉग टिनिया Dog-Taenia) के विष का आमाशय में प्रवेश हो जाने पर सद्रवग्रन्थि-कृमिकोपज ग्रन्थि (हाइडेटिड सीस्ट Hydatid cyst) बनाता है। उसकी ठेपन परीक्षा करने के लिये उस पर बाँयें हाथ की ३ उँगलियाँ रक्खें। फिर बीच की मध्यमांगुलि पर दाहिनी मध्यमांगुलि से आघात करें और आध सेकिण्ड तक उँगली को रक्खी रहने दें। इससे यदि बाँयें हाथ की तर्जनी और अनामिका को तरङ्ग की प्रतीति होती है, तो कृमिकोपज ग्रन्थि की

विद्यमानता समझनी चाहिये। कदाच यह ग्रन्थि न हो; तो इस परीक्षा का कोई उपयोग नहीं है।

उदर परीक्षा—आमाशय के समान आन्त्र में भी खाली होने पर वायु भरी रहने से उदरगुहा के आगे के भाग पर अंगुलि प्रहार से परीक्षा करने पर रिक्तवत् आवाज़ आती है। जहाँ ऐसी ध्वनि न आवे; वहाँ पर मल या इतर पदार्थ रहा है, ऐसा समझना चाहिये। जब उदर में जल भर जाता है और करवट बदलने पर जल नीचे आ जाता है; तब ऊपर रहा हुआ भाग खाली हो जाता है, फिर अंगुलि ठेपन करने पर आवाज़ रिक्तवत् भासती है।

यकृत परीक्षा—यकृत उरःपंजर के दाहिने भाग में रहा है। वह ठोस होने से नीरोगावस्था में ६ वीं पर्शुका से ८ वीं पर्शुका तक परीक्षा करने पर आवाज़ घन आती है। रोग होने पर आवाज़ में परिवर्त्तन हो जाता है। यकृत् बढ़ने पर आवाज़ के स्थान की वृद्धि हो जाती है। परीक्षा के लिए फुफ्फुस की सौषिर ध्वनि जहाँ तक आती हो; वहाँ से प्रारम्भ कर उँगली को धीरे-धीरे नीचे सरकाते जाना चाहिये। दक्षिण उरःपंजर के ऊपर स्तन-रेखा (Nipple line), कुक्षिमध्यरेखा (Mid-axillary line) और कन्धे की पीछे की ओर रहे हुए अंसफलक की रेखा (Scapular line), इन तीन रेखाओं के अनुरोध से अंगुलि ठेपन करना चाहिये। पहले प्रत्येक पर्शुका पर, पश्चात् पर्शुका के मध्यप्रदेश पर धीरे-धीरे परीक्षा करें। यकृत के नीचे की सीमा समझने के लिये कटिप्रदेश से ऊपर बढ़ना चाहिये, जिससे यकृत आ जाने पर ध्वनि घन हो जाती है।

पुरोधारा निर्णयार्थ कठोर ठेपन दूसरी पर्शुकान्तर से प्रारम्भ करें। जहाँ ठोस ध्वनि आवे वहाँ चिह्न लगादें। फिर पर्शुकाओं के ऊपर ठेपन कर चिह्न करें। इन दोनों चिह्न वाले स्थानों में से जो ऊपर हो, वही सीमा दर्शाता है। इस ठेपन में पर्शुकान्तर और पर्शुकाओं की ध्वनि में भेद होने से पृथक्-पृथक् परीक्षा करनी चाहिये।

पश्चिम धारा निर्धारित करने के लिये श्रोणि प्रदेश से मृदु आघात

प्रारम्भ कर ऊपर की ओर आगे बढ़ें। जहाँ पर रिक्त ध्वनि में से किंचित् घन हो, वहाँ ही पश्चिम सीमा मान लें। इस तरह सीमा बोध से स्थान भ्रष्टता, यकृद् वृद्धि, संकोच, शोथ, विद्रधि और अर्बुदादि व्याधि जानी जाती हैं।

पुरुषों की दहिनी स्तनरेखा से २ इंच नीचे से यकृत् का मृदु और घन ध्वनि प्रारम्भ होता है; तथा ३॥ से ४ इंच नीचे तक प्रतीत होता है। इस यकृत् की बांयी ओर की सीमा निश्चय करने में अनेक कारणों से अन्तर रह जाता है। पूर्ण भोजन करने पर, आमाशय जड़ हो जाने से, वृहदन्त्र के आड़े भाग में मल संचित हो जाने से, तथा उदर्य्या कला मोटी हो जाने से कुछ अन्तर पड़ जाता है। इस तरह अनेक बार यकृत् की नीचे की सीमा का निर्णय भी इस परीक्षा द्वारा नहीं हो सकता। एवं स्पर्श परीक्षा में यदि शीतल उँगली का स्पर्श, भय, लज्जा या इतर हेतु से उदर के स्नायु खिंच जाते हों; तो यकृद् वृद्धि होने पर भी निम्न सीमा का निश्चय नहीं हो सकता।

प्लीहा परीक्षा—प्लीहा परीक्षार्थ मृदु ठेपन नाभि से वाम दशम-पर्शुका की ओर से प्रारम्भ करना चाहिये। जहाँ ध्वनि घन हो जाय; वहाँ ही प्लीहा की किनारी मानें। यदि प्लीहा पर्शुका के नीचे तक ही रही है; तो ध्वनि रिक्त ही रहेगी।

स्वस्थावस्था में प्लीहा वाम कक्षा रेखा से पीछे हो रहती है। इसके आगे दाहिनी ओर आमाशय स्कन्ध है; तथा पीछे और ऊँचे बाँयी ९—१० और ११ वीं पर्शुकाओं को लगी हुई महाप्राचीरा पेशी है। जब दीर्घकाल तक मद्यपान या विषम ज्वरादि हेतु से प्लीहा वृद्धि हो जाती है; तब ठेपन परीक्षा द्वारा बढ़ी हुई सीमा का निर्णय किया जाता है।

हृदय परीक्षा—हृदय पर ठेपन करने पर घन ध्वनि होती है। इस घन ध्वनि वाले प्रदेश की ऊँचाई उरोस्थि की ओर से २॥ से ३ इंच, और चौड़ाई ३ से ३॥ इंच लगभग होती है। यह प्रदेश लगभग त्रिकोणाकृति का है। हृदय के इस परिमाण को जानने के लिये बाहर से हृदय की ओर कठोर ठेपन करते हुए आगे बढ़ना चाहिये। जहाँ सौषिर

में से कठोर आवाज़ हो जाय; वहाँ से हृदय का आरम्भ मानें। फिर हृदय प्रदेश के मध्य में से मृदु ठेपन द्वारा फुफ्फुस की ओर बढ़ें; जहाँ से सौपिर ध्वनि निकलने लगे, वहाँ फुफ्फुस से आच्छादित अंश मानें। इस तरह हृदय की सीमा का निर्णय करें। केवल यकृत् पर स्थित धारा का ज्ञान पूर्ण रूप से नहीं हो सकता। कारण, दोनों ठोस होने से दोनों पर आवाज़ घन निकलती है।

फुफ्फुस कोषों के विस्तार होने पर हृदय पर भी आघात पहुँचता है। यदि वाम फुफ्फुस का संकोच हो जाय; तो हृदय का विस्तार होने की भ्रान्ति हो जाती है। इस तरह हृदय प्रदेश पर रहे हुए फुफ्फुसावरण में वायु भर जाने से हृदय की परीक्षा का बिल्कुल बोध नहीं होता। यकृत् या उदर में कहीं अर्बुद होना, उदर रोग, फुफ्फुसावरण में द्रवसंचय तथा आध्मान होने पर हृदय स्थान भ्रष्ट हो जाता है; यह परीक्षा से विदित हो जाता है। इस तरह जब हृदय वृद्धि हो जाती है, या हृदावरण में द्रव भर जाता है; तब यह घन आवाज़ अधिक प्रदेश तक होती है, जिससे व्याधि का बोध हो जाता है। फिर अधिक निर्णयार्थ श्रवण परीक्षा की जाती है।

मूत्र परीक्षा।

जैसे ज्वरादि रोगों में नाड़ी परीक्षा मुख्य है; वैसे ही प्रमेह, मूत्रकृच्छ्रादि रोगों में मूत्र परीक्षा को विशेष माना है। मूत्र की उत्पत्ति वृक्क स्थानों में होती है। दोनों वृक्कों का कार्य यकृत् में उत्पन्न मल और आहार में रहे हुए अनावश्यक क्षारों को बाहर निकालने का है। यकृत् में नाइट्रोजन युक्त युरिया, यूरिक एसिड और इतर त्याज्य पदार्थों की उत्पत्ति होती है; भोजन में सल्फेट, क्लोराइडादि क्षार होते हैं; तथा वृक्क स्थान में (हिप्युरिक एसिड Hippuric Acid) और एमोनिया क्षार बनते हैं।

वाडचर्ड की शोध के अनुसार स्वस्थ मनुष्य के मूत्र में निम्न ६ प्रकार के विष (यूरोटॉक्सिन्स Urotoxins) सर्वदा बाहर निकलते

रहते हैं। (१) मूत्रल, (२) स्वापक (नशा लाने वाला Narcotic), (३) लालास्रावी, (४) नेत्र की पुतली संकोचक, (५) उष्णता न्यून करने वाला और (६) आक्षेपक। इनके अतिरिक्त रोग होने पर रोगानुरूप संक्रामक ज्वरादि के विष भी मूत्र द्वारा बाहर निकलते रहते हैं। मूत्रावरोध होने पर या वृक्कविकार होने पर इन विषों सह इतर सब त्याज्य पदार्थ शरीर में ही रह जाते हैं।

स्वस्थावस्था में दिन की अपेक्षा रात्रि में मूत्र आधा या इससे कम होता है। यदि रात्रि में मूत्र दिन की अपेक्षा $\frac{2}{3}$ या इससे अधिक हो जाय; तो जीर्ण वृक्क विकार या इतर कोई रोग समझना चाहिये। किसी दिन आहार में परिवर्त्तन हो जाने से या रात्रि को अधिक जल पी लेने से ऐसा हो जाय, तो उसे रोग न मान लें। यदि रात्रि को सो जाने के पश्चात् १–२ या अधिक समय लघुशंका के लिये उठना पड़ता है; तो वृक्क विकार या इतर रोग होने का सन्देह होता है।

मूत्र परिमाण—शीत और वर्षा काल में पेशाव का प्रमाण अधिक और उष्ण काल में कम हो जाता है। रक्त-भाराधिक्य, उदकमेह, हिस्टीरिया (अपतन्त्रक), जलोदर, फुफ्फुसावरण में द्रव भर जाना और चिरकारी वृक्कशोथादि व्याधियों से मूत्र परिमाण में वृद्धि हो जाती है।

विषविकार, ज्वर, तीव्र वृक्कदाह, शोथ, अतिसार, प्रवाहिका, विसूचिका, रक्तभार न्यूनता और प्रस्वेद अधिक प्रमाण में आता हो; ऐसी पित्त प्राधान्य व्याधियाँ, इन सबमें मूत्र का परिमाण न्यून हो जाता है।

स्त्रियों का मूत्र पुरुषों की अपेक्षा ज्यादा और गाढ़ा होता है। परन्तु समय में कुछ कमपना होता है।

अधिक जलपान, मूत्रल औषधि सेवन; बहुमूत्र, मधुमेह, हिस्टीरिया, मूत्राशय के इतर रोग और तीक्ष्ण रोग शान्त हो जाने पर पेशाव अधिक समय होता है।

मूत्र वर्ण—कतिपय औषधियों के सेवन से पेशाव के रङ्ग में परिवर्त्तन हो जाता है। (क्राइसोफेनिक एसिड Crysophanic Acid),

सनाय (सोनामुखी), और रेवाचीनी (Rhubarb) से पेशाव कुछ मैला लाल; सेन्टोनीन से मैला पीला; फोस्फेट से सफेद; कार्वोलिक एसिड और क्रियोसोट से काला और (हिमेटॉक्सिलीन Haematoxylin) से अति लाल (Dark red) रंग हो जाता है। हाइड्रोक्वीनाईन, सेलोल (Salol), कार्वोलिक एसिड, रेजॉर्सिन (Resorcin) और नेफथेलीन (Naphthalene), इन औपधियों से मूत्र नीला काला हो जाता है। नील (Indigo) से रंग विल्कुल नीला हो जाता है। मेथिलीनव्ल्यु (Methylene Blue) से वैंजनी रंग आ जाता है। रंग वाली मिठाई खाने से उसके रंग के अनुरूप मूत्र का वर्ण हो जाता है। अम्लीय मूत्र का वर्ण क्षारीय की अपेक्षा सर्वदा गाढ़ा रहता है।

स्वस्थावस्था में मूत्र में पीतवर्ण लाने वाले मुख्य २ द्रव्य हैं। यूरोवाईलीन और यूरोएरीथ्रीन। इनमें यूरोवाईलीन की उत्पत्ति रक्तरंग के पित्त रंजक द्रव्य विलीरुवीन (Bilirubin) से होती है।

यूरोवाईलीन—मूत्र परीक्षा द्वारा (यूरोवाईलीन Urobilin) का निर्णय कर लेने पर साधारण ज्वर है या विपमज्वर, इस वात का निर्णय हो जाता है। विपमज्वर होने पर पेशाव में यूरोवाईलीन अधिकांश में जाता है। यूरोवाईलीन जिन रोगों में रक्तकण का अधिक नाश होता हो, उनमें अधिक मात्रा में आता है। यूरोवाईलीन वाला मूत्र कुछ समय पड़ा रहने से गाढ़ा हो जाता है। जव पेशाव शरीर से वाहर आता है; तव यूरोवाईलीन की मूलभूत वस्तु यूरोवाईलीनोजन (Urobilinogen) मूत्र में मिला हुआ रहता है। वही मूत्र को गाढ़ा कर यूरोवाईलीन का रूप धारण कर लेता है। इसकी परीक्षा विधि निम्नानुसार है।

मूत्र में अमोनिया डालकर फिल्टर पेपर से छान लें। फिर जिंक क्लोराईड (Zinc Chloride) १० प्रतिशत के प्रवाही के थोड़े बूँद मिलाने पर मूत्र का वर्ण हीरे के समान चमकदार होजाता है।

यूरोवाईलीन को छायादर्शक यन्त्र (Spectroscope) द्वारा

देखने से सीधा प्रकाश आने पर रक्तरंग और परावृत प्रकाश (Reflected light) द्वारा हरा रंग प्रतीत होता है।

यूरोएरीथ्रीन—(यूरोएरीथ्रीन Uroerythrin) रक्तरंजक द्रव्य या इतर अज्ञात द्रव्य से उत्पन्न होता है। यह स्वस्थावस्था में कम मात्रा में होता है। अनेक प्रकार के ज्वर की आमावस्था, आमवातिक ज्वर, यकृत् के रोग और अग्न्याशय (Pancreas) की विकृति में यह बढ़ जाता है। इसका रंग ईंट के समान (Reddish Colour) हो जाता है। फिर यूरेट्स, जो रंग रहित पदार्थ है, वह इसके रंग को धारण कर लेता है। अनेक प्रकार के ज्वरों की आमावस्था में मूत्र गाढ़ा होने का कारण बहुधा यूरोएरीथ्रीन और यूरेट्स होते हैं।

मेलेनीन—(मेलेनीन Melanin) संज्ञक केश समान काला पदार्थ असाध्य अर्बुद (मेलेनॉटिक सार्कोमा Melanotic Sarcoma), अर्थात् नेत्र मध्यपटल—कोराइड Choroid आदि नैसर्गिक रंगित कोषों में होने वाले काले रंग के अर्बुद में मूत्र के साथ जाता है। जिससे वायु स्पर्श होने पर मूत्र गाढ़ा बन जाता है। यदि इस मूत्र में थोड़ा फेरी क्लोराइड सोल्युशन (Ferri Chloride Solution) मिलाया जाय; तो मेलेनीन तलभाग में बैठ जाता है और नाईट्रिक एसिड डाले; तो मूत्र का रंग काला हो जाता है।

प्रोटीन का विश्लेषण भली भाँति न होने से पेशाब करने पर मूत्र का वर्ण स्वस्थावस्था सदृश प्रतीत होता है; परन्तु कुछ समय रह जाने पर कुछ मैले रंग का हो जाता है। इसमें थोड़ा-सा क्षार मिलाने पर रंग बदल जाता है। एवं फेहलिंग सोल्युशन मिलाने पर शर्करा की भ्रान्ति कराता है, किन्तु मधुमेह की इतर परीक्षा करने पर शक्कर नहीं मिलती।

कभी क्षारीय मूत्र के ऊपर मलाई समान पतली-सी पपड़ी आ जाती है; यह केल्शियम फॉस्फेट्स (Calcium Phosphates) की पपड़ी होती है।

मूत्र को हिलाने पर फेन उत्पन्न होकर कुछ समय तक रह जाय; तो

उसमें अम्लता या एल्ब्युमिन होने का सन्देह होता है। मूत्र में पूय जाने पर धागे के समान पदार्थ प्रतीत होता है।

यदि मूत्र का रंग लाल-पीला हो, कुछ समय तक रह जाने से तलभाग में गँदला हो जाय; तो उसमें रक्तवारि के छिछड़े (Fibrin) होते हैं। यदि ये छिछड़े वहुत अधिक हों, तो सव मूत्र जम जाता है।

मूत्र में कार्वोलिक एसिड निकलता हो; तो मूत्र थोड़ा समय तक रक्खा रहने पर हरे रंग का हो जाता है।"

मूत्र परीक्षा ३ प्रकार से होती है। १ भौतिक परीक्षा (ज्ञानेन्द्रिय द्वारा), २ रासायनिक परीक्षा और ३ अणुवीक्षण यन्त्र (Microscope) द्वारा परीक्षा। इनमें से आयुर्वेद में केवल भौतिक परीक्षा का उपयोग किया जाता है। वर्त्तमान में कुछ रासायनिक रीति से परीक्षा आयुर्वेदिक चिकित्सक गण करने लगे हैं, अतः अत्र रासायनिक चिकित्सा भी संक्षेप में दी है। अणुवीक्षण यन्त्र का मूल्य अधिक होने से उसका उपयोग सव नहीं कर सकते; अतः वह परीक्षा नहीं दी।

आयुर्वेदीय परीक्षा।

आयुर्वेद की रीति से मूत्र परीक्षा करने के लिये रोगी को सूर्योदय से लगभग घण्टे डेढ़ घण्टे पहले उठाकर काँच या काँसी के वर्त्तन में पेशाव करावें। किन्तु प्रथम धारा और अन्त की धारा को वाहर निकाल दें। मात्र वीच की धारा को वर्त्तन में लें। वाद में शीशी या पात्र को ढककर रख दें। फिर २-३ घण्टे वाद सूर्य के प्रकाश में पात्र को रख कर परीक्षा करें।

आयुर्वेदीय मूत्र परीक्षा के लिये पहले एक मोटी सलाई से मूत्र को चला कर, फिर सूक्ष्म तृण शलाका से तैल की केवल एक ही बूँद डालनी चाहिये। यदि ज्यादा तैल गिर जायगा; तो परीक्षा यथोचित नहीं हो सकेगी।

पेशाव में तैल की बूँद डालने से फैल जाय, तो रोग साध्य; स्थिर रहे तो कष्टसाध्य और डूव जाय, तो रोग असाध्य समझना चाहिये।

यदि मूत्र में चालनी सदृश या दो मस्तकवाली मनुष्याकृति बन जाय; तो प्रेत वा भूत बाधा जानें। ऐसे ही देवाकृति पर से देव-बाधादि का बोध हो जाता है। क्वचित् वंशागत रोग में भी चालनी सदृश तैल फैल जाता है।

यदि रोग वात प्राधान्य है, तो मूत्र ज्यादा परिमाण में होता है; तथा मैले रंग का या कुछ पीले रंग का रूक्ष होता है। पित्ताधिक्य रोगों में मूत्र लाल-पीला, दुर्गन्धयुक्त, बहुत गरम और थोड़े परिमाण में होता है। कफ प्राधान्य रोगों में पेशाब गँदला, मैला सफेद और झागयुक्त होता है। कफ वात में पेशाब काँजी के समान; वात-पित्त में थोड़ा मैला पीला; कफ-पित्त में कुछ पीला और चिकना; तथा त्रिदोषज व्याधियों में सबके मिश्रित लक्षण होते हैं। सन्निपात में बहुधा मूत्र का रंग रक्त या कृष्ण हो जाता है। यदि इसमें वात का अधिक प्रकोप हो, तो मूत्र का वर्ण कृष्ण होता है। पित्त विकृति अधिक हो, तो थोड़ा समय पड़ा रहने पर ऊपर पीतवर्ण और तले में रक्तवर्ण भासता है। यदि कफाधिक्य हो, तो मूत्र थोड़ा समय रहने पर नीचे श्वेत वर्ण या गँदलापन प्रतीत होता है।

रोग के हेतु से पेशाब के रंग में नीचे अनुसार अन्तर हो जाता है।

(१) पेशाब में रक्त जाने से रंग धुआँ जैसा हो जाता है।

(२) पाचन क्रिया की विकृति और रक्त में अम्लता बढ़ जाने पर मूत्र में खट्टापन (अम्ल प्रतिक्रिया Acidic Re-action) बढ़कर रंग पीला-लाल और भोजन के बाद पेशाब पीला तैल मिला-सा होता है।

(३) पित्त वृद्धि से गहरा पीला रंग का पेशाब बन जाता है।

(४) पाण्डु, कामला और पित्त विकार में हरा-पीला पेशाब होता है।

(५) भयंकर असाध्य रोग में गहरा काला रंग आ जाता है।

(६) मूत्रातिसार में मूत्र पानी जैसा और बार-बार विशेष परिमाण में होता रहता है।

(७) ताप, यकृद्विकार और मगज के दोष में पेशाब पीले-लाल रंग का और थोड़े परिमाण में होता है।

(८) आम और पित्त दूषित रोगों में तैल जैसे पीले रंग का और दुर्गन्धयुक्त होता है।

(९) क्षयरोग में मूत्र का रंग काला हो जाता है; और असाध्य अवस्था में पेशाव का रंग सफेद हो जाता है।

(१०) हृदय की कमजोरी और मूत्राशय के दर्द में मूत्र मांस के धोवन के समान हो जाता है।

(११) सगर्भा स्त्री का मूत्र स्वच्छ रहता है, परन्तु उसमें रुई के अणु समान परमाणु दीखते हैं।

(१२) वातज्वर में पेशाव का रंग थोड़ा नीला-पीला, पित्तज्वर में पीला और कफज्वर में किंचित् पीला झागदार होता है। त्रिदोष में मूत्र का रंग प्रायः लाल या काला हो जाता है। पित्त प्राधान्य सन्निपात में लाल रंग का पेशाव होता है। निरामज्वर में मूत्र ईख के रस के समान हो जाता है; तथा जीर्णज्वर में पेशाव बकरी के मूत्र सदृश प्रतीत होता है।

(१३) प्रसूति रोग में पेशाव नीचे काला, ऊपर में पीला और बुद्बुदे वाला होता है।

(१४) वृक्क विकृति जन्य शोथ रोग में पेशाव अति जलन के साथ बूंद-बूंद पीले रंग का उतरता रहता है।

(१५) जलोदर रोग में मूत्र पीले रंग का होता है; और मूत्र में घी के दाने समान दाने प्रतीत होते हैं।

(१६) अतिसार में पेशाव कम परिमाण में और पीले रंग का होता है। बोतल में भरकर देखने पर नीचे का रंग ज्यादा पीला दीखता है।

(१७) हारिद्र प्रमेह में पेशाव हल्दी के समान और उष्ण; उदकमेह में पेशाव स्वच्छ, श्वेत, गन्ध रहित और जल समान (किन्तु थोड़ा चिकना); काल प्रमेह में पेशाव काला; मांजिष्ठमेह में मजीठ के रंग का और रक्त की दुर्गन्ध युक्त; वसामेह में पेशाव चरबी मिला; तथा मूत्र शर्करा, शल्य जनित मूत्रकृच्छ्र, वस्तिशोथ, उष्णवात (मूत्राघात) और पूयमेह (सुजाक) में पेशाव भयंकर जलन के साथ बूंद-बूंद होता

है। मज्जामेही का पेशाब पीला, दुर्गन्धयुक्त, उष्ण और मज्जाधातु मिला हुआ होता है।

(१८) रसधातु के प्रकोप से पेशाब ईख के रस के समान, और रक्त प्रकोप से पेशाब नीला-लाल हो जाता है।

(१९) मूत्र को बोतल में भरकर चलाने पर झाग उत्पन्न होकर स्थिर रहे; तो उसमें पित्त या अॅल्ब्युमिन की उपस्थिति है, ऐसा मानना चाहिये।

(२०) मूत्र में रक्तवारि मिल जाने पर छिछड़े (Fibrin) प्रतीत होते हैं। यदि रक्तवारि अधिक हो, तो सब मूत्र दही सदृश जम जाता है।

मूत्र गन्ध—पृथक्-पृथक् हेतु से पेशाब की गन्ध में अन्तर हो जाता है। गन्ध परीक्षा पर से भी कतिपय रोगों का निश्चय हो जाता है।

(१) मूत्र कुछ समय तक पड़ा रहे; तो उसमें से गन्ध तीव्र निकलने लगती है।

(२) जीर्णज्वर में बकरे के मूत्र के समान दुर्गन्ध आती है।

(३) अजीर्ण में मूत्र दुर्गन्धयुक्त पीले रंग का और थोड़े परिमाण में बारबार होता है। यदि नित्य घृत का अधिक सेवन करने से अजीर्ण हुआ हो; तो मूत्र तैल के समान चिकना, दुर्गन्धयुक्त और पीला होता है।

(४) मलाशय और मूत्राशय में छिद्र हो जाने पर मूत्र में मल मिल जाता है। जिससे मूत्र में मल की दुर्गन्ध आने लगती है।

(५) उदक मेह में मूत्र गन्ध रहित, सुरामेही के पेशाब में शराब जैसी दुर्गन्ध, रक्त मेह में रक्त की दुर्गन्ध तथा क्षार-प्रमेही के मूत्र में खारी दुर्गन्ध आती है।

(६) वृक्क स्थान या मूत्राशय में से पीप जाने पर पेशाब में दुर्गन्ध विशेष रहती है; और मूत्र प्रतिक्रिया क्षारीय है, तो धागे के समान पदार्थ की प्रतीति भी होती है।

(७) मधुमेह के मूत्र में एसिटोन विद्यमान होने पर ताजे फलों के सदृश मधुर वास आती है।

(८) सेन्टोनीन, शीतल मिर्च का तैल, टारपीन तैल, केवल दूध

का भोजन और इतर गन्ध युक्त पेय का अधिक सेवन करने पर सेवित पेय सदृश गन्ध आती है।

मूत्र को थोड़े समय रख देने से पैंदे में मैला हो जाय; तो क्षार, रक्त, पीप अथवा चरवी जाने का अनुमान होता है। पेशाव में शक्कर जाने से पेशाव पर चींटी अथवा चींटे लगते हैं।

रासायनिक परीक्षा—रासायनिक परीक्षा के लिये मूत्र, भोजन के ३ घण्टे पश्चात् होने वाला लेवें या २४ घण्टे का मूत्र संग्रह करें। यदि परीक्षा के लिये २४ घण्टे का मूत्र इकट्ठा कराना हो; तो प्रातःकाल से सन्ध्या तक और सायंकाल से प्रातःकाल तक अलग-अलग रखावें। मूत्र में अधिक विकृति न हो जाय; इसलिये मूत्र को अन्धकार युक्त शीतल स्थान में रखना चाहिये, और प्रातःकाल में पहली समय होने वाला मूत्र दूसरे दिन सुबह मिलावे; पहले दिन के सुबह का मूत्र न लें।

यदि पाश्चात्य ढंग से परीक्षा करना हो; तो यूरिया की निश्चित परीक्षा के लिये यूरियामीटर (Uriameter), अल्व्युमिन की परीक्षा में मूत्र शुद्धि के लिये परिभ्रामक यन्त्र (Centifuge machine), अल्व्युमिन निश्चयार्थ अल्व्युमिनीमीटर (Alluminimeter), रंग के निश्चयार्थ छायादर्शक यन्त्र (स्पेक्ट्रोस्कोप Spectroscope), शर्करा की परीक्षार्थ सेक्रोमीटर (Saccharometer) तथा दर्शन परीक्षार्थ अणुवीक्षण यन्त्र (माइक्रोस्कोप Microscope) आदि यन्त्र और अनेक प्रकार की औषधियों की आवश्यकता रहती है।

इतने से ही समाप्ति नहीं होती। मूत्र परीक्षा के पश्चात् सन्देह निवृत्ति के लिये रक्तादि की परीक्षा करनी पड़ती है; और एक्स-रे द्वारा भीतर के अवयवों के फोटो लिये जाते हैं। किन्तु ये सब विधि इस भारतवर्ष के सामान्य स्थिति वालों के लिये भार रूप है; एवं आयुर्वेदिक चिकित्सकों को पराधीन बनाने वाली है। अतः इन साधनों के मोह में न पड़कर सर्वत्र सुलभ प्राचीन विधि अनुसार परीक्षा से रोग निर्णय कर चिकित्सा करनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त पाश्चात्य परीक्षा में दूसरी आपत्ति यह है, कि जो

पदार्थ मूत्र में से पृथक् हो जाता है; वह शरीर में से अधिक मात्रा में निकलता रहता है; ऐसा निश्चय पूर्वक अनुमान नहीं हो सकेगा। जैसे यूरिक एसिड मूत्र में अधिक आने पर उसकी उत्पत्ति ही अधिक होती है; या लीन करने वाले पदार्थ की न्यूनता है ? इन दो में से सत्य क्या है, यह निर्णय केवल मूत्र परीक्षा पर से नहीं हो सकता। इस तरह और उदाहरण भी डाक्टरी ग्रन्थकारों ने लिखे हैं।

मूत्र में सोडियम क्लोराइड न्यून मात्रा में है; तो यूरिक एसिड और सोडियम यूरेट्स अधिक मात्रा में लीन रहते हैं। यदि सोडियम लवण अधिक मात्रा में है; तो परिणाम इससे विपरीत होता है; अर्थात् कम मात्रा में लीन होते हैं, और अधिक मात्रा में निक्षेप रूप से पृथक् हो जाते हैं।

यदि मूत्र का परिमाण अधिक है; तो सोडियम क्लोराइड न्यूनांश में लीन होता है; तथा यूरिक एसिड और सोडियम यूरेट्स अधिकांश में मिल जाता है।

क्षारीय मूत्र में यूरिक एसिड के यूरेट्स लीन और अम्लीय मूत्र में पृथक् रहते हैं।

इस तरह और भी अनेक नियम बनाये हैं; और नूतन नूतन बनाते जाते हैं। यदि इसकी विधि का पूर्ण बोध न हो, थोड़ी-सी भूल हो जाय; तो यह विद्या क्रूर काली नागण के समान क्रुद्ध होकर काट लेती है। अतः इस विद्या का उपयोग न हो, या कम-से-कम हो, वही भारत के लिये हितावह माना जाता है।

साधारणतया रक्त की प्रतिक्रिया किञ्चित् क्षारीय होती है; किन्तु किसी-किसी रोग में अम्लीय बन जाती है। रक्त अम्लीय बनने पर मूत्र भी अम्लीय हो जाता है। अतः उसको क्षारीय बनाने के लिये डाक्टरी में कार्बोनेट आफ सोडियम (सज्जीखार) खिलाते हैं। इसकी मात्रा ५ से ३० ग्रेन तक है। किन्तु मधुमेह की मूर्च्छादि तीव्र प्रकोप में प्रति घण्टे पर यह औषधि पूर्ण मात्रा में या इससे भी अधिक दी जाती है।

क्षारीय मूत्र पदार्थ—क्षारीय मूत्र में १ केल्शियम और मेग्नेशियम फॉस्फेट्स, २ अमोनिया फॉस्फेट्स, ३ अमोनियम मेग्नेशियम फास्फेट्स, ४ अमोनिया यूरेट्स, ५ कार्बोनेट्स, ६ कोलेस्ट्रेरोल (Cholestrerol चरबी जैसा पदार्थ) आदि पदार्थ प्रतीत होते हैं।

अम्लीय मूत्र पदार्थ—अम्लीय मूत्र में १ यूरिया, २ यूरिक एसिड, ३ आक्सलेट्स, ४ हिप्युरिक एसिड, ५ सिस्टीन, ६ जेन्थीन (Xanthin), ७ टाईरोसिन (Tyrosine), ८ ल्यूसिन (Leucine) इत्यादि पदार्थ मिलते हैं।

मूत्रमापक यन्त्र—मूत्रमापक यन्त्र (यूरिना मीटर Urinameter) द्वारा देखने से आरोग्यावस्था में पेशाव का आपेक्षिक गुरुत्व (Specific gravity) प्रायः १०१० से १०२५ तक रहा करता है। कचित् पेशाव का गुरुत्व ठण्डी अवस्था में १०३५ तक बढ़ जाता है। साधारण रीति से १०२५ से ऊपर या १०१० से नीचे जाय; तब रोग की सम्भावना की जाती है। मूत्र कुछ काल पड़ा रहने से आपेक्षिक गुरुत्व २-५ अंश की वृद्धि हो जाती है। मधुमेही के मूत्र में शकर जाने से गुरुत्व १०४५ से १०६० तक हो जाता है; इसके विरुद्ध उदकमेह, हिस्टीरिया और चिरकारी वृक्कदाह-शोथादि व्याधियों में आपेक्षिक गुरुत्व न्यून हो जाता है।

मूत्र में पदार्थ मिश्रण—स्वस्थावस्था में साधारणतया मूत्र १ दिन में ५० औंस (लगभग १५०० सी. सी. या क्युबिक सेण्टी मीटर C. C.—Cubic Centimeter) उत्पन्न होता है। उसमें पदार्थ का मिश्रण (Composition of normal urin) निम्नानुसार प्रतीत होते हैं। देश भेद, प्रकृति भेद, ऋतु भेद, आयु भेद और आहार भेदादि कारणों से कुछ अन्तर हो जाता है।

द्रव्य	भाग	
जल	१४३०	
यूरिया (Uria)	३३॥।	३५ भाग कुछ इत्यादि सेन्द्रिय (Organic) द्रव्य।
यूरिक एसिड (Uric Acid)	॥।	
हिप्यूरिक एसिड (Hippuric Acid)	।	
क्रीटिनिन (Creatinine)	।	

सोडियम क्लोराइड (नमक Sodium Chloride)	१३।	२५ भाग क्षारादि निरिन्द्रिय (Inorganic) द्रव्य।
फॉस्फ्योरिक एसिड (Phosphoric Acid)	३	
सल्फ्यूरिक एसिड (Sulphuric Acid)	२	
केल्शियम (चूना Calcium)	।	
मेग्नेशियम (Magnesium)	।	
एमोनिया (Ammonia)	।।।	
पोटास (Potassium)	१।।।	
सोडा (Sodium)	३।।।	
जहरी वायु (Chlorine)	१०	
	१५००	

मूत्र पदार्थ के वृद्धि-ह्रास—पेशाव का परिमाण और यूरियादि द्रव्य निम्नानुसार रोगादि हेतुओं से न्यूनाधिक हो जाते हैं।

द्रव्य	वृद्धि	ह्रास
पेशाव का परिमाण	हृदय के वामनिलय खण्ड का विस्तार, रक्तभाराधिक्य, वृक्कशोथ का प्रारम्भ, हिस्टीरिया, फुस्फुसावरण में जल भर जाना, जलोदर, मधुमेह, इक्षुमेह, उदकमेह, बहुमूत्र, अधिक जलपान, शीतकाल, व्यायाम का अभाव और प्रस्वेद कम आना इत्यादि।	ज्वर, अतिसार, प्रवाहिका, विसूचिका, तीक्ष्ण वृक्कशोथ, अति जीर्ण वृक्कशोथ, मूत्रावरोध, मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, मूत्र-यन्त्र की विकृति, धूप में घूमना, अग्नि सेवन, व्यायाम, अधिक रक्तस्राव, वमन, उष्णऋतु, मद्यपान, हृत्कपाट की विकृति, रक्तभार न्यूनता और यकृद्दाल्युदर (Cirrhosis of Liver) इत्यादि।

द्रव्य	वृद्धि	ह्रास
पेशाब का वजन (स्पेसिफिक ग्रेविटी)	मधुमेह, इक्षुमेह, मांसाहार, यूरिया की वृद्धि, पक्का भोजन, मूत्र का परिमाण कम हो जाना और शीतकालादि।	हिस्टीरिया, उदकमेह, मूत्र-नलिका या गवीनी के जीर्ण रोग और जल में ज्यादा तैरनादि।
क्रियेटी-नीन	श्वसनक ज्वर, आन्त्रिक ज्वर और हनुस्तंभादि।	पक्षाघात, विलोहितता, रक्त में श्वेताणु वृद्धि, वृक्क और यकृत् की अपक्रान्ति और मांसक्षय (Atrophy of Muscles) आदि।
यूरिया	मांसाहार, पक्का भोजन, मधु-मेह, वातरक्त (Gout), न्यूमोनियादि ज्वर, क्षय, सगर्भा का वमन रोग, और खट्टे पदार्थों का अधिक सेवनादि।	अपचन, नाइट्रोजन रहित भोजन, वृक्क विकार, यकृत् विकृति, सतत वमन, अति-सार, ज्वर का अन्त समय, ज्वर के अतिरिक्त सब प्रकार के जीर्ण रोग और यकृद्वि-द्रधि आदि।
यूरिक एसिड	तीव्र ज्वर, यकृत् के रोग, अतिमांसाशन, पौष्टिक अन्न का अधिक सेवन, रक्ताभि-सरण और श्वासोच्छ्वास में प्रतिवन्ध करने वाले रोग, प्लीहा के रोग और वात-रक्तादि व्याधियाँ।	जीर्ण वातरक्त और कीनाई-नादि औषधि सेवन।
हिप्यूरिक एसिड	आम, वेर, तूत, अंगूरादि खट्टे पदार्थों का सेवन और अम्लपित्तादि रोग।	क्षारीय औषधि का अति सेवन।

द्रव्य	वृद्धि	ह्रास
क्लोराइड (नमक)	न्यूमोनिया, शीतज्वर, विषम-ज्वरादि के शमन होने पर।	विषम ज्वर से इतर ज्वर, जिन रोगों में थोड़ा ज्वर रहता हो, तीक्ष्ण आम वात और न्युमोनियादि। (इनमें न्युमोनिया में तो अति कम हो जाता है।)
फॉस्फेट्स	कितनेक जीर्ण रोग, जिसमें मूत्र में स्नायुओं के टुकड़े जाते हों और मधुमेहादि व्याधियाँ।	फुम्फुसावरण में द्रव-संचय।

मूत्र प्रतिक्रिया—मूत्र की प्रतिक्रिया अम्लीय, क्षारीय और उदासीन त्रिविध होती है। इनमें अम्ल प्रतिक्रिया अम्लीय लवण (विशेषतः एसिड सोडियम फॉस्फेट्स) के हेतु से और क्षारीय प्रतिक्रिया क्षारीय लवण (बहुधा बेसिक सोडियम फॉस्फेट्स) के कारण से होती है। क्वचित् उदासीन। इसमें दोनों का अस्तित्व रहता है; अर्थात् पेशाब करने पर अम्लीय; फिर वह अमोनिया के हेतु से क्षारीय बन जाता है। इस हेतु से प्रतिक्रिया की परीक्षा उसी समय करनी चाहिये।

यदि पेशाब में क्षार अधिक जाता है, तो टरमेरिक पेपर या हल्दी के जल में भिगोकर सुखाये हुये सफेद ब्लॉटिंग पेपर को पेशाब में भिगोने से काग़ज़ का रंग पीले के बदले लाल हो जाता है।

यदि पेशाब की प्रतिक्रिया अम्ल हो; तो लिटमस पेपर या गोभी (Cobbage) के रस में भिगो, सुखाये हुये ब्लॉटिंग पेपर को पेशाब में डुबोने से काग़ज़ का रंग नीले के बदले लाल हो जाता है।

उदासीन (Neutral) प्रतिक्रिया में लाल कागज़ डालने से नीला और नीला डालने से लाल हो जाता है।

यूरिया—दूध, दही, मांसादि मांसवर्धक पदार्थों (प्रोटीन Protein) के मलरूप अंश को यूरिया कहते हैं। मूत्र में यदि यूरिया कम निकले; तो यकृत् या वृक्क विकार माना जाता है। तीव्र तापादि रोगों में प्रोटीन का अधिक क्षय होने से मूत्र में यूरिया का परिमाण बढ़ जाता है।

इस यूरिया की परीक्षा सोडियम हाइपोब्रोमाइड से होती है; एवं डोरिमस के यूरिया मापक यन्त्र से सरलतापूर्वक होती है। सामान्य रीति से पेशाव के कुछ वूँद को काँचपट्टी (Slide) पर रख, एक वूँद एसिड डालकर गरम करने से यूरिया की षट्कोणीय सलाइयाँ बन जाती हैं। इस यूरिया की मात्रा का वोध आपेक्षिक गुरुत्व द्वारा हो सकता है। जैसे मूत्र का गुरुत्व १०२० है, तो २० के अङ्क को १० से विभक्त करने पर २ रहते हैं; अतः १०० भाग मूत्र में २ भाग यूरिया का है। किन्तु मूत्र में शर्करा या एल्ब्युमिन रहने पर और ज्वर काल में इस सामान्य परीक्षा से यूरिया का निर्णय नहीं हो सकता।

यूरिक एसिड—अधिक मांसाहारी या प्रोटीन युक्त भोजन, रक्ताभिसरण या श्वासोच्छ्वास क्रिया में प्रतिबन्धक रोग, यकृत् प्लीहा के रोग और वातरक्तादि व्याधियों में यूरिक एसिड की अधिक उत्पत्ति होती है। विशेषतः यह यूरेट्स रूप में रहते हैं। कचित् निक्षेप रूप में पृथक् हो जाता है, तब इसका रङ्ग ईंट के चूर्ण सदृश भासता है। यदि यह वृक्क स्थान में ही पृथक् हो जाता है, तो वहाँ पर अश्मरी वन जाती है। इस तरह कचित् मूत्राशय में भी पथरी वना देता है।

इस यूरिक एसिड की परीक्षा के लिये मूत्र में एसिटिक एसिड के थोड़े वूँद डालकर थोड़ा समय तक रहने देने से यूरिक एसिड तल भाग में वैठ जाता है; अथवा चीनी मिट्टी की कटोरी में या काँचपट्टी में मूत्र के थोड़े वूँद डाल १ वूँद नाइट्रिक एसिड मिलाकर गरम करें। मूत्र सूख जाने पर एमोनिया की एक वूँद डालने से जामुन के रङ्ग के समान रङ्ग हो जाता है।

क्षारीय मूत्र में यूरिक एसिड यूरेट्स (Urates) के रूप में विलीन रहता है; और प्रतिक्रिया अम्ल होने पर निक्षेप रूप में पृथक् हो जाता है। इसकी मात्रा का ज्ञान सामान्य रूप से अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा देखने से हो सकता है। यदि मूत्र में इसकी मात्रा बढ़ गई हो; तो दूध के प्रयोग से कम होने लगती है।

क्षार—(Urates) अति तीव्र अम्ल और गाढ़े मूत्र में अनेक वार कुछ सफेद-सा प्रक्षेप प्रतीत होता है। वह सोडा पोटास या मेगनेशिया होता है। मूत्र कुछ समय तक पड़ा रहने पर यह क्षार तल-भाग में बैठ जाता है। यदि मूत्र को गरम किया जाय, तो यह क्षार मिल जाता है, और शीतल होने पर पुनः पृथक् हो जाता है। यदि इस क्षार पर किसी तेज एसिड को डाला जाय, तो बुद्बुदे उत्पन्न होकर तुरन्त घुल जाते हैं।

शिशुओं के मूत्र में सोडा यूरेट्स अत्यधिक परिमाण में निकलता है। इस यूरेट्स से कपड़े पर पीले धब्बे पड़ जाते हैं। बाल्यावस्था के पश्चात् बहुधा आजीवन मूत्र में इसका अभाव रहता है।

अम्लमूत्र में क्वचित् कुछ पीले रङ्ग के बारीक रेते के समान क्षार प्रतीत होते हैं, वह एसिड सोडा के प्रक्षेप हैं और क्षारीय मूत्र में फॉस्फेट के साथ एसिड एमोनिया मिलता है। उसका स्वरूप भी एसिड सोडा सदृश भासता है।

एल्ब्युमिन—* यदि मूत्र में एल्ब्युमिन (Albumen) की शंका हो; तो फिल्टर पेपर से मूत्र को छान, काँच की नलिका में डाल,

* सूक्ष्म मूत्रवह स्रोतों में आद्य और अन्त्य कुण्डलिका अथवा वलय स्थान (Convoluted tubles) की आन्तर त्वचा जब दाहक विष से विकृत या नष्ट हो जाती है; तब रक्त में रहा हुआ एल्ब्युमिन के अणु उन स्रोतों में से जाने लगता है। जब एल्ब्युमिन के बड़े अणु आजाते हैं; तब अविकृत रूप से नहीं निकल सकते, जिससे वह स्रोतों को विकृत करके निकलता है। फलतः आन्तर त्वचा नष्ट हो जाती है; और मार्ग चौड़ा हो जाता है। जब पेशाब में एल्ब्युमिन जाता है; तब पेशाब का गुरुत्व बहुत कम हो जाता है।

मंदाग्नि पर गरम करें। यदि एल्व्युमिन होगा; तो उसकी घन पपड़ी वन जायगी। इस रीति से फॉस्फेट की भी पपड़ी वन जाती है; परन्तु पपड़ी पर एसिटिक एसिड डालने से एल्व्युमिन नहीं गलता; और फॉस्फेट गल जाता है। अथवा टेस्टट्यूव में पिक्रिक एसिड (Picric Acid) २ इञ्च तक भर कर, ऊपर एक दो वूँद मूत्र इस तरह डाले, कि ट्यूव की किनारी को लगकर धीरे-धीरे नीचे उतरे। यदि मूत्र सफेद गदला हो जाय; तो एल्व्युमिन का अस्तित्व समझना चाहिये। एल्व्युमिन मिश्रित मूत्र में सेलिसिल सल्फोनिक एसिड (Salicyl Sulphonic Acid) के थोड़े वूँद डालने पर तुरन्त मूत्र सफेद गदला हो जाता है। यह उत्तम और निर्दोष परीक्षा है। या नलिका में थोड़ा नाइट्रिक एसिड डालकर, फिर ऊपर नलिका की किनारी को लगकर धीरे-धीरे एक-एक वूँद मूत्र जाने दें। मूत्र और एसिड दोनों मिश्रित न हो जायँ; इस तरह सम्हालपूर्वक डालें, जिससे मूत्र एसिड के ऊपर तैरता रहे। फिर दोनों के सन्धि स्थान में सफेद पपड़ी सम एल्व्युमिन प्रतीत होने लगता है।

सूचना—अनेक वार मूत्र में रक्त जाने लगता है; तव रक्त की मात्रा के अनुरूप अल्व्युमिन भी जाता है। उस समय अल्व्युमिन के वोध से सच्चे रोग का ज्ञान नहीं होता।

मूत्र में पूय होने पर भी एल्व्युमिन होता है। यदि पूय की प्रति-मिलीमीटर १ लक्ष सेल्स हो; तो मूत्र में एल्व्युमिन १ प्रतिशत होता है। कदाचित् इससे अधिक एल्व्युमिन हो; तो इतर कोई स्वतन्त्र कारण मानना चाहिये।

शर्करा—सामान्यरूप से स्वस्थावस्था में रक्त में शर्करा-द्राक्षौज (Glucose) १ प्रतिशत के हिसाव से रहती है; और अधिक शक्कर खाने वालों के रक्त में १॥ प्रतिशत तक भी हो जाती है। जव आन्तर-विक्रिया होकर १॥। प्रतिशत से अधिक हो जाती है; तव रक्त में से निकल कर मूत्र में आने लगती है। यह द्राक्षौज मधुमेहादि कतिपय

मूत्र विकार में जाती है। इसका निर्णय हीडन हिंज्ञ, फेहलिंग, फेनी-भवनादि परीक्षाओं द्वारा किया जाता है।

(१) हीडन हिंज्ञ की विधि (Heiden Hain's test)—नीलाथोथा (Copper sulph) ३० ग्रेन और वाष्पजल आध औंस को अच्छी रीति से मिला, ग्लीसराईन (Glycerine) आध औंस मिलावें। फिर लाइकर पोटास (Liquor Potassii) ५ औंस मिलालें।

इस सोल्युशन में से १ ड्राम टेस्टट्यूब में भर, ऊपर ६ से ८ बूँद पेशाब मिला कर, थोड़ा गरम करें। शक्कर होने पर पीला घोल प्रतीत होता है।

(२) फेहलिंग सोल्युशन (Fehling's solution)—ताजे तैयार किये हुए फेहलिंग सोल्युशन को १ इञ्च तक काँच नलिका में भर, ऊपर थोड़ी ताजे मूत्र की बूँद डाल, गरम करें। शक्कर होने पर नली में पीली पपड़ी द्रव से अलग हो जाती है। अधिक शक्कर होने पर मूत्र के थोड़े बूँद डालने पर ईंट के चूर्ण सदृश रंग आ जाता है। कम शक्कर से रंग पीला हो जाता है। शक्कर बहुत कम हो, तो समान मूत्र मिला, गरम कर, नीचे उतार लेवें। १-२ मिनट पश्चात् हरा रंग हो जाता है।

इस सोल्युशन के २ विभाग होते हैं। दोनों को पृथक्-पृथक् बनाकर रक्खा जाता है। प्रयोग के समय दोनों को समभाग मिलाने से फेहलिंग सोल्युशन तैयार हो जाता है। इस सोल्युशन को पोटासिक कुप्रिक टार्ट्रेट (Potassic cupric Tartrate) भी कहते हैं।

(१) कापर सल्फेट (तुत्थ)* ३४-६४ ग्राम को २०० सी. सी.

---

* १ मिलीग्राम = $\frac{१}{१०००}$ ग्राम = $\frac{१}{६४}$ ग्रेन
१ ग्राम = १५॥ ग्रेन
३४-६४ ग्राम = १ औन्स-५२॥ ग्रेन
१०० ग्राम = ३ औन्स-१ ड्राम—४३ ग्रेन।

१ सी. सी. = १६ मिन्युम
२०० सी. सी. = ६ औ०–६ ड्राम-६ मि०
३०० सी. सी. = १०–,,–१—,,–९ ,,
५०१ सी. सी. = १६–,,–७—,,–११ ,,

उष्ण वाष्प जल में मिलाकर शीतल कर लें। फिर इतना जल मिलावें, कि सब मिलकर ५०० सी. सी. हो जाय।

(२) टारट्रेटेड सोडा (Rochelle salt) १८० ग्राम को ३०० सी. सी. उष्ण वाष्प जल में मिलावें; फिर १०० ग्राम पोटास हाइड्रेट (Caustic Potash) डालें। पश्चात् शीतल होने पर इतना जल मिलावें कि सब मिल कर ५०० सी. सी. हो जाय।

आवश्यकतानुसार दोनों को मिलाकर उपयोग में लेवें।

सूचना—मूत्र में एल्ब्युमिन हो, तो पहले १–२ बूंद एसेटिक एसिड डाल, गरम कर, छान लेना चाहिये।

फेहलिंग सोल्युशन ताजा तैयार किया हुआ लेना चाहिये।

मूत्र बहुत देर का होगा; तो निश्चित परीक्षा नहीं हो सकेगी।

(३) फेनीभवन परीक्षा—(फर्मनटेशन टेस्ट Fermentation test) के लिये परीक्षण नलिका में थोड़ा मूत्र डालकर १० मिनट तक गरम करें। यदि मूत्र क्षारीय हो, अम्लता न हो; तो थोड़ा टार्टरिक एसिड डालें। फिर मटर जितना जर्मन यीस्ट (Yeast) का टुकड़ा डालकर चलावें। पश्चात् उस नलिका को २४ घण्टे तक किसी प्याली या तस्तरी में उलटी रखकर उष्ण स्थान में रख दें। यदि शक्कर होगी; तो उसमें झाग उठने लग जायँगे; पेशाब नलिका से निकलकर प्याले में आ जायगा और यीस्ट के हेतु से कार्बन-डाय-ऑक्साइड (गेस) मूत्र नलिका के ऊपर के खाली स्थान में जमा हो जायगा। (इस गेस के हेतु से नली में जलती हुई दियासलाई रखने पर बुझ जाती है।)

इन परीक्षा विधियों से मात्र शक्कर है, या नहीं? उतना ही बोध हो सकता है। यदि शक्कर कितने परिमाण में है, यह जानना हो; तो शर्करा परीक्षक यन्त्र (सेकरोमिटर Saccharometer) से परीक्षा करनी चाहिये।

एसिटोन यूरिया (Aceton uria)—भोजन में रहा हुआ कार्बोहाइड्रेट्स पचन करने की शक्ति कम हो जाने पर कितनेक रोग, ज्वर, रक्तार्बुद, मधुमेह का अन्त समय, क्लोरोफार्मादि मूर्च्छित करने

वाली औषधि का उपयोग के पश्चात् बार-बार वमन होना, अफीम या सेलिसिलेट का विष रूप से उपयोग करना, इन सब विकारों में मूत्र में एसिटोन द्रव्य मिलता है। यह एसिटोन जाने के पश्चात् रोगी थोड़े समय में मूर्च्छित हो जाता है; और अनेकों की मृत्यु हो जाती है।

इस एसिटोन की परीक्षा के लिये मूत्रनलिका में थोड़ा ताजा मूत्र डाल, उसमें सोडियम नाइट्रोप्रुसाइड के १० प्रतिशत द्रव के एक दो बूंद मिलावें। फिर एमोनिया का तीक्ष्ण द्राव या सोडियम हाइड्रेट का द्राव धीरे-धीरे नलिका की किनारी से डालने से लाल-काला रंग हो जाता है। उसमें एसिटिक एसिड डाले; तो एसिटोन होने से लाल रंग रह जाता है; अन्यथा उड़ जाता है।

अथवा मूत्र में ताजा बना हुआ सोडियम नाइट्रेटप्रुसाइड का तेज द्रव सम परिमाण में मिलावे। फिर पोटासियम हाइड्रो-ऑक्साइड के २० प्रतिशत के द्रव की कुछ बूँदें डालने पर मूत्र का रंग लाल हो जाता है। उसमें थोड़ा तेज एसिटिक एसिड डालने से एसिटोन होगा, तो लाल रंग कायम रहेगा, अन्यथा मूल रंग आजायगा।

पोटास आयोडाइड २० ग्रेन और पोटास हाइड्रो-ऑक्साइड १ ड्राम के घोल में मूत्र मिलाकर उबालने से एसिटोन होगा, तो वह जमने के कुछ समय बाद पीले रंग का हो जायगा।

डाय-एसिटिक एसिड (Diacetic Acid)—जब मूत्र में एसिटोन जाता है; तब साथ में डाय-एसिटिक एसिड भी होता है। मधुमेही के मूत्र में डाय-एसिटिक एसिड जाना, यह प्रधान लक्षण है। उसकी परीक्षा के लिये लाइकर फेरी परक्लोराइड फोर्टिस (Liq. Ferri Perchloride Fortis) के तीक्ष्ण द्रव की कुछ बूँदें डालें। जो क्षार तत्व (Phosphates) जम जाय; उनको छोड़, शेष मूत्र नितार लें। उसमें पुनः फैरिकक्लोराइड मिलावें; ताकि डाय-एसिटिक एसिड होगा; तो मूत्र का रंग गहरा-लाल हो जायगा।

एण्टीपाइरिन आदि औषधि सेवन से भी मूत्र रंग साधारण लाल हो जाता है। अतः इसकी परीक्षा के लिये मूत्र को पुनः गरम करें। यदि

दूसरी वस्तु मिली हुई होगी; तो रंग कायम रहेगा; और डाय-एसिटिक एसिड होगा; तो मूत्र का लाल रंग उड़ जायगा। अर्थात् फैरिक-क्लोराइड से लाल रंग हो जाय; और उबालने से रंग उड़ जाय; तो मधुमेही का मूत्र समझ लें।

फोर्मल डीहाइड (Formol dehyde) का ५ प्रतिशत द्रव मूत्र में डालने पर डाय-एसिटिक एसिड होगा; तो हरी झाँई दिखाई देगी।

पित्त—कामला रोग में मूत्र के साथ पित्त (पित्त रंजक पदार्थ Bile Pigments) जाता है। उसकी परीक्षा के लिये एक चीनी मिट्टी के टुकड़े पर मूत्र के थोड़े बूँद डालें; और समीप में एक बूँद नाइट्रिक एसिड की डालें; फिर दोनों का संयोग कराने पर विविध रंग की उत्पत्ति होती है।

(२) परीक्षण नलिका में मूत्र के थोड़े बूँद भर कर, उस पर थोड़ा-सा टिंचर आयोडीन डालें। इन दोनों द्रव के संयोग स्थान पर हरे चक्र उत्पन्न होते हैं।

(३) यदि मूत्र में पित्ताम्ल (Bile Acid) जाता है; तो मूत्र पर थोड़ा-सा गन्धक का फूल (Flowers of Sulphur) डालें। स्वस्थ मूत्र में गन्धक का फूल तैरता रहता है; और पित्ताम्लयुक्त मूत्र होने पर डूब जाता है।

पूय—(Pus) वृक्क व्रण, वस्ति व्रण और सुजाकादि रोगों से मूत्र प्रसेक में व्रण होने पर मूत्र के साथ पीप जाता है। यदि पीप थोड़ा है; तो मूत्र को परिभ्रमित करें। फिर तलस्थ निक्षेप पर एसिटिक एसिड डालकर अणु वीक्षण यन्त्र से देखने पर स्पष्ट प्रतीत होता है। अधिक हो; तो मूत्र के समभाग लाईकर पोटास (Liq. Potash) मिलाने पर सान्द्र और चिकटा पदार्थ वन जाता है। जो सरलता से नलिका में से वाहर नहीं निकल सकता।

रक्त—रक्तमेह, मांजिष्टमेह या शल्यादि के आघात के हेतु से मूत्र में रक्त आने लगता है। मूत्र में रक्त होने पर अणुवीक्षण यन्त्र से रक्ताणुओं की स्पष्ट प्रतीति हो जाती है। अलावा ताजे तैयार किये हुए

टिंचर ग्वायेकम (Tinct. Guiacum) के २ बूँद मूत्र में डालकर चलावें। फिर ऊपर ओज़ोनिक ईथर डालने से सन्धिस्थान में नीले चक्र (Blue rings) दिखाई देते हैं।

मूत्र में रक्तवारि (Blood-plasma) जाने से छिछड़े (Fibrin) बन जाते हैं। यदि मूत्र में रक्तवारि अधिक मिल जायँ, तो सारा मूत्र जम जाता है। इस छिछड़े के निश्चयार्थ इन छिछड़ों को मूत्र में से पृथक् कर ५ प्रतिशत हाइड्रोक्लोरिक एसिड सोल्युशन से धोकर उस पर थोड़े अजवायन के फूल (Thymol) डालें। फिर १ प्रतिशत हाइड्रोक्लोरिक एसिड सोल्युशन डालने पर फूल जाते हैं, और पेप्सीन (Pepsin) मिलाने पर विलीन हो जाते हैं।

फॉस्फेट्स—फॉस्फेट २ प्रकार का होता है–क्षारीय और खनिज। क्षारीय फॉस्फेट जल में घुल जाता है; खनिज नहीं घुलता। यह खनिज फॉस्फेट उदासीन (Neutral) और क्षारीय (Basic) मूत्र के तल भाग में कुछ सफेद चिकने पदार्थ के रूप में प्रतीत होता है। उस पर मृदु अम्ल द्रव की कुछ बूँद डालें; तो वह मिल जाता है; और उष्णता से नहीं पिघलता। यह फॉस्फेट अम्लीय मूत्र में घुल जाने से प्रतीत नहीं होता।

आक्ज़लेट्स—(Oxalates) मूत्र में आक्ज़लेट जाने से किसी पदार्थ पर सफेद चूर्ण बुरकाया हो, ऐसी प्रतीति होती है। यह बहुधा श्लेष्म के साथ मिश्रित रहता है। इसका बोध अणु वीक्षण यन्त्र द्वारा होता है। जब मूत्र में एसिड सोडा फॉस्फेट की न्यूनता होती है; तब ऑक्ज़लेट निक्षेप रूप से तले में बैठ जाता है।

इनके अलावा मूत्र में इतर क्षारों के अणु (Crystals) भी देखने में आते हैं। उनकी जाँच अणु वीक्षण यन्त्र से करनी चाहिये। मूत्र परीक्षा के साथ आवश्यकतानुसार वस्ति दर्शक यन्त्र (Cystoscope) और मूत्रशलाका (Catheter) आदि साधनों से भी रोग विनिश्चय करें।

मल परीक्षा ।

अतिसार, संग्रहणी, प्रवाहिकादि रोगों में मल परीक्षा मुख्य मानी है। अनेक रोग के साध्य, कष्टसाध्य अथवा असाध्यपन का निर्णय इस मल परीक्षा से हो जाता है। यकृत् में से पित्तोत्सर्ग नियमित होता है या नहीं ? यह मल के रंग से विदित हो जाता है। स्वस्थ मनुष्य का मल नित्य नियमित समय पर साफ़ हो जाता है। मल पीले रंग का बँधा हुआ, दुर्गन्ध और शुष्कता से रहित होता है; तथा एक साथ गिर जाता है। परन्तु रोग के हेतु से स्वाभाविक स्थिति, गति और समय में अन्तर हो जाता है।

मल परीक्षा में पहले भौतिक परीक्षा से मात्रा, रंग; घनता या द्रवता, आकार और गन्ध का निर्णय किया जाता है। फिर रासायनिक प्रतिक्रिया (Chemical reaction) द्वारा अपक्व आहार, आहार का निःसत्व अंश, आम, श्लेष्म, पित्ताश्मरी, कृमि, रक्त, पीप और आंतर त्वचा के टुकड़े की जाँच की जाती है। इनके अतिरिक्त अणुवीक्षण यन्त्र से सूक्ष्म कृमि आदि का अवलोकन किया जाता है।

मल परीक्षा के लिये सुबह उठने पर या कोई भी समय मल का ग्रहण करें। पहले मूत्र विसर्जन कर, फिर स्वच्छ काँच या चीनी मिट्टी के वर्त्तन में मल त्याग करावें।

भिन्न-भिन्न रोगों में नीचे अनुसार मल की स्थिति में अन्तर होता है।

(१) वायु का प्रकोप होने से मल झाग मिला, मैले धुएँ के रंग का और शुष्क हो जाता है।

(२) पित्त विकार से हरा-पीला, दुर्गन्धयुक्त, उष्ण और पतला होता है।

(३) कफदोष से सफेद रंग का, गीला, स्निग्ध और बँधा हुआ रहता है।

(४) दो दोष में दो दोष वाला और त्रिदोष में मल सफेद या काला-पीला, पतला और गाँठ वाला हो जाता है। सन्निपात में यदि मल

अति दुर्गन्ध युक्त, मयूर चन्द्रिका के समान रंग वाला हो; तो रोग को असाध्य समझना चाहिये।

(५) वातज्वर में मलावरोध होकर मल शुष्क और काला हो जाता है। पित्तज्वर में पतला और पीला; कफज्वर में सफेद चिकना; तथा मधुरा में मल पतला, पीला और दुर्गन्ध युक्त होता है। जीर्णज्वर में मल थोड़ा शुष्क और थोड़ा पतला होता है; तथा रंग बहुधा मैला रहता है।

(६) प्रदीप्त अग्नि वालों का मल पीले रंग का बँधा हुआ और मन्दाग्नि वालों का पतला होता है। यदि मलावरोध रहता है; तो शुष्क काला-सा हो जाता है।

(७) अजीर्ण में मल दुर्गन्धयुक्त और ढीला होता है। यदि तीव्र अजीर्ण है, तो शाकाहारियों के उदर में सड़ा होने से अति दुर्गन्धयुक्त, झागयुक्त पीला-हरा मल उतरता है।

(८) अतिसार में मल पतला और पीले रङ्ग का होता है। परन्तु आगे इतर द्रव पदार्थ मिश्र हो जाने से रङ्ग फीका हो जाता है। बालकों के अतिसार में मल का रङ्ग बहुधा हरा-पीला हो जाता है।

(९) पेचिश होने से आम अथवा रक्तयुक्त थोड़ा-थोड़ा मल बार-बार उदर पीड़ा हो करके आता रहता है। इनमें प्रवाहिका तीव्र होने पर और आन्त्र के तीव्र दाह में मल का रङ्ग चावलों के धोवन के समान हो जाता है।

(१०) संग्रहणी में मल कच्चा और दुर्गन्धयुक्त जाता है। (जल में डालने से डूब जाता है)। संग्रहणी (Sprue) में मल फूला हुआ और आहार की अपेक्षा अधिक परिमाण में उतरता है।

(११) हैजे में मल चावल के धोवन समान (Rice water stools) सफेद रङ्ग का और जल जैसा पतला होता है; तथा अति बढ़े हुए तीव्र प्रवाहिका (Severe Dysentery) और तीव्र आन्त्र दाह (Severe Entero-colitis), इन रोगों में भी मल वैसा ही सफेद और पतला हो जाता है।

(१२) कृमिरोग में मल पीला और पतला हो जाता है, परन्तु साथ में उबाक आती रहती है।

(१३) जलोदर में मल सफेद रङ्ग का और वहुत दुर्गन्धयुक्त होता है।

(१४) पित्तावरोध जनित कामला (Obstructive Jaundice) में जल मिश्रित बाजरे के आटे समान मैला या तिलपिष्ट निभ (clay coloured) और अति दुर्गन्धयुक्त हो जाता है।

(१५) अन्त्र के ज्ञानतन्तु निर्वल हो जाने पर मल मैंगनी समान उतरता है; तथा मलावरोध वना रहता है। लघु अन्त्र में दाह होने पर श्लेष्म और आममिश्रित मल तथा बृहद् अन्त्र के कृमि के दाह में श्लेष्म मल से पृथक् प्रतीत होते हैं। श्लेष्म के परिमाण का निर्णय करना हो, तो मल को जल में डालने से श्लेष्म जल पर तैरने लग जाते हैं।

(१६) अग्न्याशय (Pancreas) में से स्राव कम होने पर आहार में रही हुई स्निग्धता, घृत, तैल, चरबी आदि पचन न होकर मल मेद मिश्रित सफेद रङ्ग का हो जाता है। एवं मेद वाले पदार्थ का सेवन अधिक करने से भी मेद मिश्रित सफेद मल हो जाता है।

(१७) फिरङ्ग रोग, कर्कस्फोट, मधुरा (मोतीझरा), क्षय, प्रवाहिकादि रोगों में अन्त्र अथवा गुदनलिका (Rectum) में व्रण हो जाने पर मल थोड़ा परन्तु रक्त और पीप मिश्रित तथा दुर्गन्ध युक्त (सड़ने समान) हो जाता है।

(१८) आन्त्रविद्रधि पककर फूटने के बाद पीप मिला हुआ मल उतरता रहता है।

(१९) आमाशय अथवा लघु अन्त्र में से रक्तस्राव होने पर मल रक्तमिश्रित दुर्गन्ध युक्त काला रङ्ग का हो जाता है।

मल में रक्त है या नहीं ? इस बात का संशय होने पर मल को द्विगुण जल में डाल कर कुछ देर तक रख देने से जल का रंग लाल हो जाय; तो रक्त समझना चाहिये।

(२०) फिरङ्ग रोग, कर्कस्फोट और शुक्रवेग रोधज उदावर्त्त में

गुदनलिका के मार्ग का संकोच हो जाने से मल चपटा-सा होकर निकलता रहता है।

(२१) विलायती लोह-भस्म, मेगेनीस और विस्मथादि औषधियों के सेवन से मल का रङ्ग नीला-काला हो जाता है। ऐसे ही अन्य कितनीक औषधियों से रंग हरा-पीलादि भी हो जाता है।

(२२) मल में से द्रवांश शोषण हो जाने पर बृहदन्त्र में दाह होकर शुष्क, आम लगा हुआ मल निकलता है।

रासायनिक परीक्षा—मल की रासायनिक प्रतिक्रिया किञ्चित् प्रत्यम्ल (Alkaline) होती है। फिर आगे अधिकाधिक अम्ल होती जाती है। रासायनिक प्रतिक्रिया के निर्णयार्थ मल को लिटमस-पेपर पर डालकर नीचे से देखा जाता है।

मल में लाल रक्त जाने के कारण—

(१) अर्श।

(२) गुदभेद (मल विसर्जन में अति कष्ट होता है)।

(३) गुदा पर व्रण (पीपसह रक्त)।

(४) छोटे बच्चों को एक आँत में दूसरी आँत का प्रवेश (इन्टससेप्शन Intussusception) होने पर रक्त मिश्रित श्लेष्म आता है।

(५) बालकों की गुद नलिका में अर्बुद।

(६) मधुरा या आंत्रक्षय से आंत्र में व्रण होना, विशेषतः रक्त-वाहिनी टूटना।

(७) बिलहार्जिया हिम्याटोबिया (Bilharzia haematobia) नामक कृमि से गुदा पर नरम गाँठ होकर अर्श समान रक्तस्राव होना।

(८) अधोरक्तपित्त, इन हेतुओं से लाल रंग का रक्त मल के साथ जाता है।

मल रक्तमिश्रित (Melena) होने के कारण—

(१) आमाशय में व्रण और यकृद्दाल्युदर (Liver cirrhosis) होने पर आमाशय में से रक्तस्राव होता है। इन रोगों में ऊर्ध्व रक्त पित्त अथवा रक्तवमन (Hematemesis) भी बहुधा हो जाती है।

(२) प्रतिहारिणी शिरा का अवरोध (Portal obstruction) होने पर अशुद्ध रक्त हृदय में नहीं खिंच सकता। जिससे अन्त्र भाग रक्तपूर्ण हो जाता है। फिर रक्तवाहिनियाँ भर जाती हैं। पश्चात् इनमें से जो अधिक फूलती है, वह टूट जाती है।

(३) मधुरा, आंत्रक्षय, फिरंग रोग या बाह्य आघात हो जाने से आंत्र व्रण होकर रक्तस्राव होता है।

(४) रक्त पित्त विकार।

(५) एक प्रकार के मुड़े हुए मुँह वाले अंकायलोस्टोमा ड्युओ-डिनिल (Ankylostoma Duodenale) कृमि की उत्पत्ति हो जाने पर अधोगामी रक्त पित्त हो जाता है।

इन कारणों से मल के साथ रक्त मिल जाता है। अन्त्र में जब व्रण हो जाता है; तब कोथ (Gangrene) होकर मल में मांस सड़ने समान दुर्गन्ध आने लगती है।

मल में रक्त लाल रंग का हो, तो वह स्थूलांत्र या गुदनलिका में से आता है; और रक्त का रंग काला हो; तो लघु अन्त्र या आमाशय में से गिरता है, ऐसा समझना चाहिये। काले रंग के मल को जल में डालने पर जल का रंग लाल हो जाता है। इसकी परीक्षा छायादर्शक यन्त्र (स्पेक्ट्रोस्कोप यन्त्र Spectroscope) से निःसन्देह हो जाती है।

इस तरह मल में थोड़ा पीप होने पर अन्त्र या गुदनलिका में व्रण माना जाता है, और अधिक पीप होने पर अन्त्र में विद्रधि फूटने का बोध होता है।

अनेक बार मल में कृमि और उनके अण्डे प्रतीत होते हैं। सामान्यतः कृमि के ७ प्रकार हैं। इनमें से ५ जाति के कृमि नेत्रों से दीखते हैं; इनका वर्णन आगे कृमि रोग में किया जायगा। इनके अतिरिक्त अंकायलोस्टोमा ड्यूओडिनल और अणु वीक्षण यन्त्र से दीखने वाले २ जाति के कृमि हैं। इनमें से एक को हूकवर्म्स (Hook worms) कहते हैं, इस कृमि से पाण्डु रोग की उत्पत्ति होती है। इनके अतिरिक्त प्रवाहिका, विसूचिका, मधुरादि व्याधियों के कृमि भी मल में

जाते हैं। सन्देह होने पर उनकी परीक्षा अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा की जाती है।

जिह्वा परीक्षा।

जिह्वा को देखने से कण्ठ, आमाशय और अन्त्र की स्थिति का बोध हो जाता है। इसलिये जिह्वा परीक्षा भी करनी चाहिये। स्वस्थ मनुष्य की जिह्वा गीली, स्वच्छ और आगे के भाग में लाल रहती है। इस स्थिति में अनेक व्याधियों के हेतु से अन्तर हो जाता है। जीभ के चौड़ाई, मोटाई, पतलापन, व्रण, वर्ण, गीलापन, शुष्कता और मैलादि से व्याधि निर्णय और साध्यासाध्यता सम्बन्धी निश्चय हो जाता है।

यद्यपि सुश्रुत संहिता में 'रसनेन्द्रियविज्ञेया प्रमेहादिषु रसविशेषाः' (सू० अ० १० । १०) इस वचन से परीक्षकों को प्रमेहादि रोगों में अपनी रसना (जिह्वा) से परीक्षार्थ स्वाद का अनुभव करने को कहा है; तथापि भगवान् आत्रेय ने चरक संहिता में इस रासनी परीक्षा का निषेध किया है। यहाँ पर जो जिह्वा परीक्षा लिखी है, वह चिकित्सक की ज्ञानेन्द्रिय (रसना) विषयक नहीं हैं। किन्तु रोगी की वाकेन्द्रिय विषयक है; अतः उस वचन से विरोध नहीं है।

भिन्न-भिन्न रोगों के हेतु से जिह्वा की परिस्थिति में निम्नानुसार अन्तर हो जाता है।

(१) मैली जिह्वा— (श्वेत या पीत मल युक्त) कोष्ठबद्धता, अपचन, आमाशय शोथ, यकृत् शोथ, मस्तिष्कावरण–दाह-शोथ, सब प्रकार के ज्वर, क्षय, आमवात, मसूरिका, यकृद्विद्रधि, विसर्प, अभिष्यन्द, रक्तजमूर्च्छा, कण्ठग्रन्थि विकार, शिरदर्द, वातरक्त, मूत्राघात, मधुमेह और प्रमेहादि रोगों में जिह्वा मल से लिप्त प्रतीत होती है। रोग कम होने पर मैल कम होने लगता है।

तीव्र अजीर्ण, तीव्र आमाशय शोथ, पचन क्रिया विकृति, ज्वर, मलावरोध, पाण्डु और मस्तिष्क बलक्षय (वातवहा नाड़ियों की निर्बलता Nervous depression) में जिह्वा पर पतला सफेद मैल जम जाता है। उपान्त्र शोथ, गलग्रन्थि शोथ और मानसिक चिन्ता से भी जीभ पर सफेद मल लग जाता है।

भोजन अच्छी तरह न चावने तथा ज्वर या प्रस्वेद अधिक आने पर जब लालास्राव कम होता है; तब जीभ के ऊपर गाढ़ा मैल (Plastered) जमता है। इनके अतिरिक्त कितनेक आलसी लोग दातौंन अच्छी तरह नहीं करते; कितनेक निरन्तर पान खाते रहते हैं, और कितनेक मधुर पदार्थ अधिक खाते रहते हैं; जिससे उनकी जिह्वा पर मल जम जाता है। इनमें पान खाने-वालों की जीभ पर लाल मल जमता है।

मल का वर्ण यदि श्वेत है; जिह्वा के मध्य भाग में मल है, तथा किनारी लाल है; तो आमाशयादि पचनेन्द्रिय संस्था की श्लेष्मल त्वचा में विकृति होने का बोध होता है। यदि जिह्वा पर के मल का वर्ण पीत है; तो यकृत् को अपराधी माना जाता है। पित्त प्रकोप होने पर जिह्वा पर पीला मल और कफ प्रकोप होने पर सफेद मल लगता रहता है।

(२) मलयुक्त शुष्क जिह्वा—विषम ज्वर, सन्तत ज्वर, त्रिदोषज ज्वर, वात ज्वर, जीर्ण ज्वर, अजीर्ण, आमाशय विकार, अन्त्र विकृति, विष प्रकोप, दाह, विसर्प, मसूरिका, रोमान्तिका, इतर संक्रामक ज्वर, निद्रानाश, कामला, फुफ्फुस शोथ और अन्त्रावरण शोथादि रोगों में जिह्वा शुष्क मैली हो जाती है।

जब ज्वर, वृक्क संन्यास या इतर कारणों से मस्तिष्क की शक्ति न्यून हो जाती है, तब जिह्वा शुष्क हो जाती है। इनके अतिरिक्त मद्यपान, अफीम, चरस, गांजादि के सेवन से भी जीभ सूखी रहती है।

(३) लाल काँटे वाली जिह्वा—अग्निमान्द्य, अन्त्रक्षत, क्षय और शराब के व्यसनादि कारणों से जिह्वा रक्तवर्ण की और काँटे वाली हो जाती है; एवं विस्फोटक में भी काँटे आ जाते हैं।

(४) शुष्क तेजस्वी जिह्वा—जीर्ण प्रवाहिका, मधुमेह, तीव्र आमाशय शोथ, तीव्र अन्त्र शोथ, आन्त्रिक ज्वर, अन्त्रावरण दाह, राजयक्ष्मा की तृतीयावस्था, इन रोगों में जीभ नीरस और तेजस्वी प्रतीत होती है।

(५) नीली-काली जिह्वा—जीर्ण आमाशय शोथ, सन्निपात,

संतत ज्वर, राजयक्ष्मा, आन्त्रिक ज्वर की भयप्रद अवस्था, विसूचिका की अन्तिमावस्था, फुफ्फुसक्रिया विकृति, हृद्‌विकार, धमनीकोपकाठिन्य, रक्तपित्त, कामला और विसर्पादि रोगों में जीभ का रंग मैला काला या नीला-सा हो जाता है। जिह्वा शुष्क और अधिक काली हो जाना, यह लक्षण अशुभ माना जाता है।

(६) **स्थूल जिह्वा**—रक्तभार की न्यूनता, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, चिरकारी आमाशयशोथ, शोथज्वर, मस्तिष्क विकार और वातवहा नाड़ियों की विकृति आदि हेतुओं से जिह्वा श्वेत मल लगी हुई और शोथयुक्त मोटी भासती है।

(७) **संकोचित जिह्वा**—लाला पिण्ड विकृति; जिह्वा के वातवहा नाड़ियों का विकार, पक्षघात या क्षीणता, अति रक्तस्राव और कण्ठस्थ व्याधियों के हेतु से जिह्वा का संकोच हो जाता है। मस्तिष्क में दाह शोथ होने पर जिह्वा पतली और नोकीली हो जाती है।

(८) **जिह्वाकम्प**—तीव्र ज्वर, अन्त्रक्षत, कम्पवात, सर्वांग वात, मद्य सेवन और अनेक संक्रामक रोग में जिह्वाकम्प रूप उपद्रव हो जाता है। एवं देह अति निर्बल हो जाने के पश्चात् थोड़ी-सी ठण्डी लगने पर, बोलने के समय जिह्वा कम्पती हुई भासती है।

(९) **जिह्वाक्षत, स्फोट और भेद**—पित्तप्रकोप, शुष्क-कास, मदात्यय, अन्त्रभेद, मधुमेह, जीर्ण प्रवाहिका, उपदंश, मुखपाक, विसर्प, अम्लपित्त, क्षार या तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन या इतर हेतु से आमाशय रस अधिक तीव्र हो जाने पर जिह्वा फट जाती है या जिह्वा पर फाले हो जाते हैं।

असाध्य क्षय, यकृत् और प्लीहा विकृति आदि रोगों की अंतिमा-वस्था में जिह्वा पर घाव हो जाते हैं।

बहुधा अपचन से जिह्वा पर व्रण हो जाते हैं। कचित् दाँतों में पूय या कृमि होने पर और उपदंश रोग में भी व्रण हो जाते हैं। किन्तु वे चीरे सदृश या गोल खड्डे समान होते हैं, और प्रायः किनारे पर होते हैं।

(१०) ग्रन्थियुक्त जिह्वा—कृमिविकार और रक्तविकार के हेतु से जीभ पर छोटी-छोटी गाँठ हो जाती हैं।

(११) जिह्वावरोध—स्वरयन्त्र विकृति, लाला पिण्ड विकार, जिह्वागत रोग, जिह्वा की वातवहा नाड़ियों का घात, कण्ठरोहिणी आदि कारणों से बोलने में जिह्वा रुकती है।

(१२) जिह्वान्त में मल भेद—आन्त्रिकादि ज्वरों की भयप्रद अवस्था में से जब रोगबल न्यून हो जाता है, प्रकृति सुधरने लगती है, तब जिह्वा पर लगे हुए मल में भेद हो जाता है; और जिह्वा के पीछे के हिस्से में सूक्ष्म-सूक्ष्म छिद्र प्रतीत होते हैं।

(१३) वायु के कोप से जीभ नीली, काँटे वाली और खरखरी-सी मालूम पड़ती है।

(१४) पित्त प्रकोप से जीभ लाल और मोटी हो जाती है; ऊपर में पीला मल जमता है; मुँह कड़ुवा रहता है; और अनेक समय जीभ पर फाले हो जाते हैं।

(१५) कफ दोष से जिह्वा स्थूल, काँटों से व्याप्त, सफेद, गीली और मृदु होती है; तथा ऊपर में सफेद मैल प्रतीत होता है।

(१६) तीव्र ताप में जिह्वा के आगे के हिस्से और बाजू की दोनों किनारी पर काँटों (Papilla) वाली लाली दीखती है; और पतला मैल रहता है ऐसी जिह्वा को स्ट्रॉबेरी टंग (Strawberry tongue) कहते हैं।

(१७) रक्त विकार युक्त ज्वर और पीप हो जाने पर, जीभ पर भूरा काला लेप प्रतीत होता है।

(१८) मंथर ज्वर में जिह्वा की नोक और दोनों ओर की किनारी लाल हो जाती है, या बीच में लाल रेखा हो जाती है; तथा आँत में क्षत हो जाने पर जिह्वा मैली कम्पती हुई दीखती है।

(१९) जीर्ण ज्वर, प्लीहा, रक्तस्राव और निर्बलता में जीभ सफेद हो जाती है।

(२०) सन्निपात में जिह्वा काली, काँटों वाली और शुष्क दीखती है; तथा किसी-किसी समय जामुन जैसी भी हो जाती है।

(२१) विसूचिका, मूर्च्छा और श्वासावरोध होने पर जिह्वा शीतल स्पर्श वाली होती है। विसूचिका में जिह्वा काली हो जाना, यह अशुभ लक्षण है।

(२२) गर्भिणी स्त्री के अतिसार में जिह्वा लाल-पीली, मैल युक्त और अंकुर वाली; तथा संग्रहणी में अंकुर रहित, चिकनी, कोमल और क्षत-युक्त हो जाती है।

(२३) अरुचि और अतिसार में जीभ सफेद रंग वाली हो जाती है। किन्तु आमातिसार और रक्तातिसार में जिह्वा कालो हो जाना, यह लक्षण भयप्रद माना जाता है।

(२४) पित्तप्राधान्य सामान्य अजीर्ण होने पर जिह्वा लाल और बीच में सफेद मैल लगी हुई होती है; और बहुधा जिह्वा शुष्क रहती है; तथा आमाजीर्ण और आमवात की तीव्रावस्था में सफेद मलयुक्त किन्तु चिकनी होती है।

(२५) वातिक कास और बालकों की काली खाँसी में जिह्वा के नीचे क्वचित् छाले हो जाते हैं; तथा बालकों को बोतल से दूध पिलाने में स्वच्छता न रहने पर मुँह में चारों ओर श्वेत वर्ण के छाले पड़ जाते हैं।

(२६) दाह और रक्तकोप में जिह्वा उष्ण स्पर्श और लाल होती है।

(२७) पित्तज्वर में नीचे के होठ के भीतर की त्वचा लाल ही रहती है; परन्तु कामला होने से वह त्वचा पीली हो जाती है। कामला में यकृत् अधिक विकृत हो जाने पर जिह्वा काली हो जाती है।

(२८) प्लीहा वृद्धि और मलावरोध में जिह्वा मैली, पीली और मल से लिप्त रहती है।

(२९) प्रमेह और संग्रहणी में जिह्वा मैले रङ्ग की और उष्ण हो जाती है।

(३०) संग्रहणी (Sprue) और अति बढ़े हुए पाण्डुरोग में जिह्वा छोटी, पीली-सी और तेजस्वी प्रतीत होती है।

(३१) विस्फोटक रोगी की जीभ काँटों वाली होती है, तथा उसमें से पानी भी झरता है।

(३२) मदात्यय रोग और आँत में सड़ा या जख्म होने से जीभ पर चीरे पड़ जाते हैं; विशेषतः जिह्वा सफेद, मलयुक्त, निस्तेज, मोटी और पिलपिली (Flabby) रहती है।

(३३) उदर शोथ, सोमल का विष, मुख पाक और शीतला में सम्पूर्ण जीभ लाल रहती है। यदि शीतला में जिह्वा काली हो जाय; तो भयप्रद लक्षण माना जाता है।

(३४) मूर्च्छा (संन्यस्तावस्था), आमाशय में कर्कस्फोट (Cancer), अति बढ़ा हुआ क्षय, तीव्र पांडु रोग, इनमें जिह्वा श्वेत और लाल अंकुर वाली हो जाती है। इन रोगों में जीभ पर मैल बढ़ना, काली और शुष्क बनना, ये जितना बढ़ता जाय उतना अरिष्ट माना जाता है। फिर इन रोगों में ऊपर की तह निकल जाती है; और नीचे का मांस दीखने लगता है। उस समय जीभ मुलायम, लाल रंग की और फटी हुई (Denuded red tongue) भासती है।

(३५) मधुमेह में पहले मुँह में से मीठी वास आती है। फिर रोग बढ़ने पर मधुमेह में और अन्य जीर्ण रोगों में जब जिह्वा बहुत फट जाती है; शोथ आ जाता है; तब मांस सड़कर मुँह से दुर्गन्ध (Aphthosa stomatitis) आने लगती है; इस अवस्था को अरिष्ट चिह्न माना जाता है।

(३६) असाध्य पाण्डु रोग (Pernicious Anaemia) में जिह्वा फिक्की, स्थान-स्थान पर से श्लेष्मल त्वचा निकलती हुई और पिलपिली-सी प्रतीत होती है।

(३७) आमाशय या आँतों में दाह-शोथ होने पर जिह्वा खूब लाल बन जाती है।

(३८) सहसा जीभ, कठोर, मोटी, सफेद, शुष्क, गुरु, श्याम रंग वाली, मैल से पूर्ण, अचेतन (रस-ज्ञान को न जानने वाली) हो जाय; तो वह अरिष्ट चिह्न माना जाता है।

(३९) जिह्वा कठिन लकड़ी जैसी जड़, भाग युक्त और मोटी हो जाना, यह मृत्यु काल का बोध कराती है।

शब्द परीक्षा।

वात प्रकोप में शब्द कण्ठ में से निकलता हुआ और हलका; पित्त दोष में स्पष्ट; तथा कफ दोष में जड़ और घरघराहट युक्त होता है। उदर और फुफ्फुसादि की व्याधियों में बोलने के समय व्यथा-सी मालूम होती है। वात या पित्त प्रकोप होने पर प्रलाप बढ़ जाता है। निर्बलता आ जाने पर बोलने में परिश्रम पड़ता है। कण्ठशोथ, स्वर यन्त्र शोथ, प्रतिश्याय कास, कफ युक्त श्वास, क्षय, उपदंश और अर्बुदादि रोगों में आवाज़ भारी हो जाती है। क्षय, उपदंश, अर्बुद या वातवहा नाड़ियों में विकार होने से यदि स्वर यन्त्र अधिक विकृत हो जाता है, तो स्वर का उच्चारण बिल्कुल नहीं हो सकता। जिह्वा के पक्षाघात में स्पष्ट उच्चारण नहीं होता; तथा नासावरोध और तालु फट जाने पर उच्चारण नाक में से होता हुआ भासता है।

स्पर्श परीक्षा।

स्पर्श परीक्षा (पल्पेशन Palpation) से मृदुता, कठोरता, कृशता, शोथ, ज्वर, पीड़ा, उष्णता, शीतलता, शुष्कता और स्निग्धतादि का बोध होता है। वायु दोष में शरीर शुष्क और शीतल स्पर्श वाला; पित्त दोष में उष्ण स्पर्श; तथा कफ प्रकोप में शरीर चिकना और शीतल प्रतीत होता है। शीतांग सन्निपात में शरीर बर्फ के समान शीतल और अन्तकादि पित्तप्राधान्य सन्निपात में भयंकर गरम रहता है। विसूचिका में शरीर बाहर से धीरे-धीरे शीतल होने लगता है; किन्तु गुदा में थर्मामीटर से परीक्षा की जाय, तो भीतर १०० से १०२ डिग्री तक उष्णता प्रतीत होती है।

यकृद्वृद्धि, प्लीहावृद्धि, गुल्म, ग्रन्थि, शोथ, मेदवृद्धि, पक्षाघात, जलोदर, व्रण की पक्वापक्व अवस्था, उरःक्षत, आध्मान, उरस्तोय, विद्रधि, दन्तवेष्ट और शून्यवातादि रोगों में स्पर्श से निश्चय होता है। स्पर्श परीक्षा मृदुतापूर्वक करें। पहले समीपस्थ स्वस्थ प्रदेश पर स्पर्श कर, फिर रुग्ण अवयवों की परीक्षा करनी चाहिये।

उदर की स्पर्श परीक्षा—उदर की स्पर्श परीक्षा के लिये रोगी को स्वच्छ प्रकाश वाले स्थान में पलंग या तख्त पर चित लेटावें। शिर को शिराने पर रक्खें, जिससे स्कन्ध किञ्चित् उन्नत रहे। बीच-बीच में मस्तक को ऊँचे न उठाने के लिये सूचना करें। उदर को शिथिल करने के लिये दीर्घ श्वास लेने को कहें; और दोनों पैरों को मोड़ कर खड़े रखावें। परीक्षक का हाथ शीतल हो, तो थोड़ा सेक लें, या दोनों हथेलियों या उँगलियों को मसल कर शीतलता उड़ा दें। कारण, शीतल हाथ से स्पर्श करने पर स्नायुओं का संकोच हो जाता है।

उदर पर परीक्षा के समय हथेली को सीधी रखकर धीरे-से फिरावें, प्रारम्भ में उँगलियों से स्पर्श न करें। उदर जब सीधा और शिथिल हो; तथा हाथ के स्पर्श को सहन कर लेवे, तब उँगलियों के आगे के हिस्से से भीतर के अवयव, अवयवों की दीवार, स्थान, शोथ, अर्बुद, मल की गाँठ, इन सब बातों की परीक्षा करें। आवश्यकता पर निःश्वास को बाहर निकलवा कर निर्णय करें।

उदरस्थ गुल्म, अर्बुद, अन्त्रविद्रधि, अवयव वृद्धि और शोथादि विकार होने पर निदान में सहायक बने, इस हेतु से उदरगुहा में रहे अवयवों को जानना चाहिये। शरीर में इतर सब गुहाओं से उदरगुहा बड़ी है। ऊपर के बड़े भाग को उदरगुहा कहते हैं, नीचे के छोटे भाग को श्रोणि गुहा कहते हैं। इस उदरगुहा में अनेक यन्त्र रहे हैं।

(१) आमाशय, (२) लघुअन्त्र, (३) बृहदन्त्र, (४) यकृत् (पित्ताशय और पित्तस्रोतसह), (५) प्लीहा, (६) अग्न्याशय, (७) दो बृक्क, (८) दो गवीनी, (९) दो उपवृक्क (अधिवृक्क Suprarenal glands), (१०) मूत्रपूर्णबस्ति (बस्ति खाली होने पर श्रोणिगुहा में ही रह जाती है), (११) अवरोहिणी महाधमनी (Descending aorta), (१२) अधरा महासिरा, (१३) रसप्रपा (Cisterna chyli), (१४) रसकुल्या (Thoracic duct) के प्रारम्भ का भाग, (१५) मणिपुरचक्र, ये सब अवयव उदरगुहा में रहते हैं और उदर्याकला से आच्छादित है।

इस उदरगुहा और उरोगुहा के मध्य में महाप्राचीरा पेशी है। उदरगुहा की पीछे की ओर कटिलम्बिनीदीर्घा और ह्रस्वा नामक ४ मांस-पेशियाँ, कटि चतुरस्रा

नाम वाली दो मांस-पेशियाँ तथा कटिवंश रहे हैं। आगे की ओर दोनों पार्श्व में थोड़ी पर्शुकाएँ, उपपर्शुकाएँ और दोनों श्रोणि कपाल हैं।

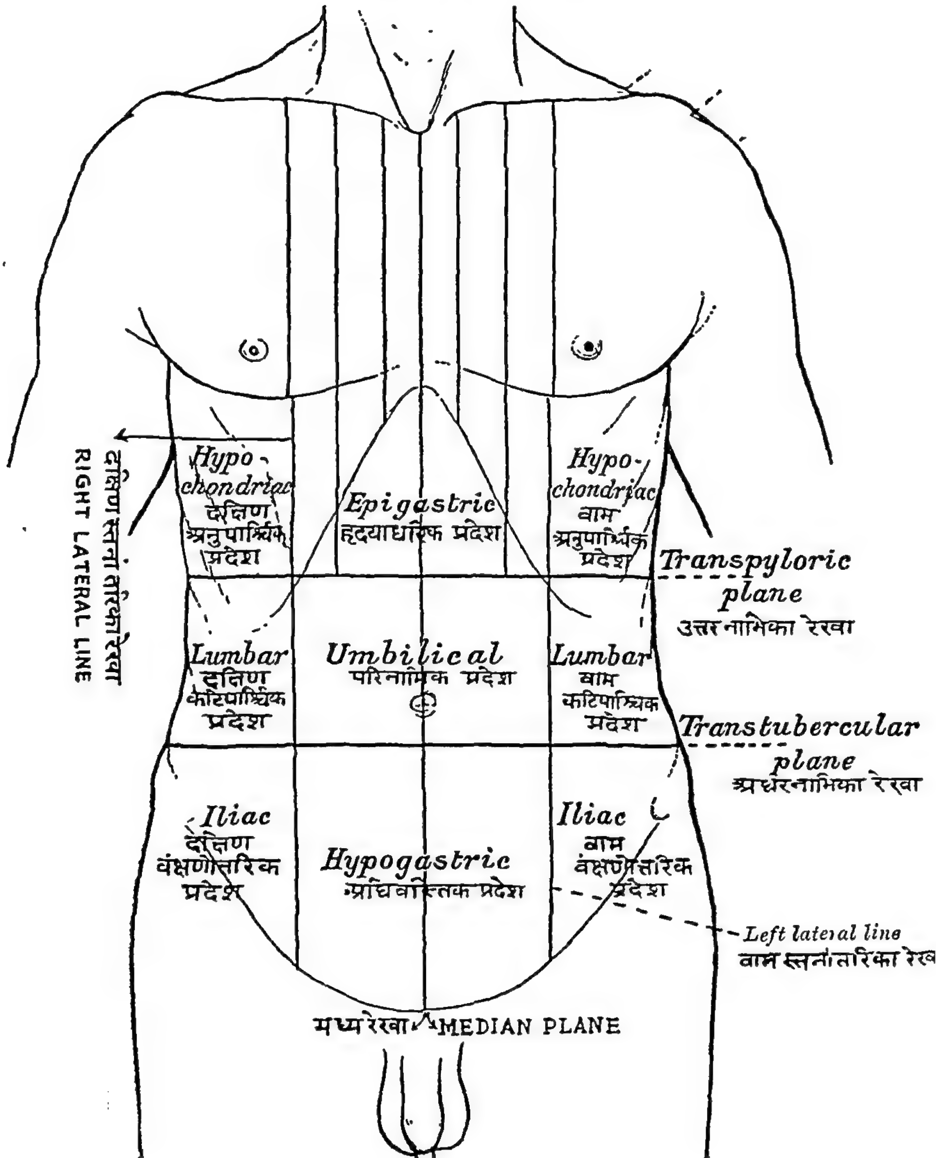
इस उदरगुहा के अवयवों के स्थान का बोध कराने के लिये ४ काल्पनिक रेखाएँ (२ खड़ी और २ आड़ी) खींचकर ६ काल्पनिक विभाग किये हैं। इनमें २ खड़ी रेखाओं को स्तनांतरिका अनुलम्ब रेखा (Lateral line of abdomen) संज्ञा दी है। ये रेखा वंक्षण रज्जु के मध्यबिन्दु से प्रारम्भ होकर ऊपर जाने पर स्तन चूचुक (Nipples) और आठवीं उपपर्शुका के मध्य भाग में से निकलती है; और आड़ी रेखाओं को उत्तरनाभिका (Transpyloric plane) और अधरनाभिका (Transtubercular plane) संज्ञा दी है। उत्तरनाभिका नाभि से ऊपर रही है और अधरनाभिका नाभि के नीचे श्रोणि-फलक के जघनकपाल नामक ऊपर के हिस्से के शिर को छेद कर निकलती है। इन ४ रेखाओं के निम्नानुसार ६ उदर प्रदेश हो जाते हैं।

दक्षिण अनुपार्श्विक देश	हृदयाधरिक देश	वाम अनुपार्श्विक देश
दक्षिण कुक्षि देश	परिनाभिक प्रदेश	वाम कुक्षि देश
दक्षिण वंक्षणोत्तरिक देश	अधिवस्तिक प्रदेश	वाम वंक्षणोत्तरिक देश

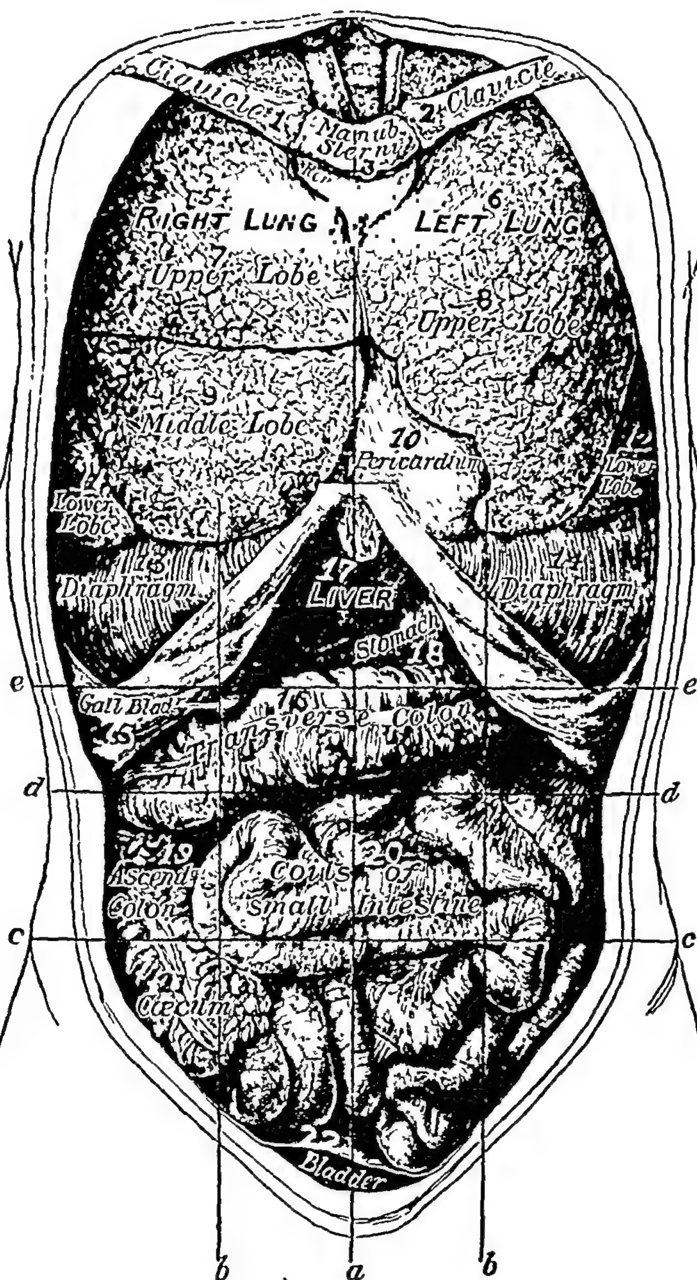
इस उदरगुहा का चित्र ग्रन्थ के प्रारम्भ में इतर शारीरिक आशयों के चित्रों के साथ दिया है। उसको देखने से पाठकों को उदरगुहा में रहे हुये अवयवों के स्थान का सम्यक् प्रकार से बोध हो जायगा।

चित्र नं० ८

उदरगुहा के ९ विभाग



उरोगुहा और उदरगुहा



चित्र नं० ६

उरोगुहा और उदरगुहा

१–२ अक्षकास्थि Clavicle
३ ग्रैवेयक (उरःफलक का ऊर्ध्व भाग) Manubrium of the sternum
४ बाल ग्रैवेयक ग्रन्थि का अवशेष भाग Remains of the Thymius Gland
५ दक्षिण फुफ्फुस Right Lung
६ वाम फुफ्फुस Left Lung
७,८ ऊर्ध्व फुफ्फुस पिण्ड Upper Lobe
६ मध्य फुफ्फुस पिण्ड Middle Lobe
१० हृदयधर कला कोष Peri Cardium
११,१२ अधः फुफ्फुस पिण्ड Lower Lobe
१३,१४ महाप्राचीरा पेशी Diaphragm
१५ पित्त कोष Gall Bladder
१६ अनुप्रस्थ अन्त्र Transverse Colon
१७ यकृत् Liver
१८ आमाशय Stomach
१६ आरोही Ascending Colon
२० लघुअन्त्र की गेंडुली Coils of Small intestines
२१ उण्डुक Coecum
२२ वस्ति Bladder
a मध्य अनुलम्ब रेखा median plane
b-b स्तनांतरिका रेखा Laternal planes
c-c अधर नाभिका रेखा Inter-tubercular plane
d-d मध्य नाभिका रेखा Sub-costal plane
e-e उत्तर नाभिका रेखा Trans-pyloric plane

मध्य नाभिका रेखा और मध्य अनुलम्ब रेखा मध्य भाग से अन्तर दर्शाने के लिये खिंची हैं। उदर गुहा के ऊपर के प्रदेशों का आरम्भ उत्तर नाभिका रेखा के ऊपर के प्रदेशों से होता है। इन गुहाओं के शेष अवयव ऊपर के अवयवों के नीचे ढके रहने से आगे की ओर से नहीं दीख सकते।

इस गुहा में रहे हुए पृथक्-पृथक् स्थानों का वर्णन निम्नानुसार है ।

दक्षिण अनुपार्श्विक देश		हृदयाधरिक देश		वाम अनुपार्श्विक देश
(१) यकृत् का दक्षिण खण्ड (२) अग्न्याशय का थोड़ा अग्र भाग (३) स्थूलांत्र का वक्र भाग (यकृत् कोन) (४) दक्षिण वृक्क का ऊपर का भाग	८ वीं, उपपशु का के मध्य भाग से रेखा	(१) यकृत् का वामखण्ड तथा दक्षिण खण्ड का थोड़ा भाग (२) पित्तकोष (३) ग्रहणी (४) अग्न्याशय (दक्षिण अर्ध भाग) (५) अधिवृक्क ग्रन्थि (दोनों वृक्कों के ऊपर का हिस्सा सह) (६) अधरा महाशिरा (७) प्रतिहारिणीशिरा (८) अवरोहिणी महाधमनी (९) मणिपुरचक्र (१०) रसकुल्या	८ वीं, उपपशु का के मध्य भाग से रेखा	(१) आमाशय स्कन्ध (वामभाग) (२) प्लीहा (३) अग्न्याशय पुच्छ (४) स्थूलांत्र का प्लैहिक कोन (प्लीहागत वक्रभाग) (५) वाम मूत्रपिण्ड का भाग

दक्षिण कुक्षि देश		नवमी पशु का को लगी हुई रेखा परिनाभिक देश		वाम कुक्षि देश
(१) बृहदन्त्र का आरोहि भाग (२) दक्षिण मूत्रपिण्ड के नीचे का आधा भाग (३) लघु अन्त्र की थोड़ी वलय		(१) बृहदन्त्र का आड़ा हिस्सा (२) ग्रहणी (अन्त्रारम्भ) (३) वपा का मध्यप्रदेश (Omentum) (४) अन्त्र बन्धनी का थोड़ा भाग (५) लघु अन्त्र का थोड़ा हिस्सा		(१) बृहदन्त्र का अवरोही भाग (२) वाम मूत्रपिण्ड के नीचे का आधा हिस्सा (३) लघु अन्त्र का थोड़ा हिस्सा

दक्षिण वंक्षणोत्तरिक प्रदेश	जघन कपाल के दोनों शिखरों को लगी हुई रेखा अधिवस्तिक प्रदेश	वामवंक्षणोत्तरिक प्रदेश
(१) दक्षिण गवीनी (२) उण्डुक (बृहदन्त्र का प्रारम्भिक भाग) (Coecum सीकम) (३) उण्डुक पुच्छ—आंत्र पुच्छ (४) अनुवृष्णिका धमनी-(Testicular artery) स्त्री शरीर में इसको अनुबीज कोषिका कहो है।	(१) लघु अन्त्र को कुछ वलय (२) बालक की देह में बस्ति—(युवावस्था बाद मूत्र पूर्ण बस्ति) (३) गर्भाशय (स्त्री सगर्भा हो, तब)	(१) वाम गवीनो (२) बृहदन्त्र का कुण्डलिका भाग (कटिगत वक्र भाग) (३) अनुवृष्णिका या स्त्री शरीर में अनुबीजकोषिका धमनो (Ovarian arteries)

नीरोगावस्था में उदर में कठोरता अथवा द्रव पदार्थ नहीं होते। उदर मुलायम होता है; दबाने पर दबता है; और नीचे ऊपर सरकता है। रोगावस्था में इस स्थिति में अन्तर पड़ जाता है।

उदर के स्पर्श से शोथ, शोथ जनित प्रतिबन्ध, व्रण, असह्य व्यथा, आंत में जल या वायु भर जाना, आध्मान (आफरा) आनाह (मल या आम की गांठ बन्धना), आटोप (वायु की गुड़गुड़ाहट Borborigmi बॉर्बोरिग्माय), द्रवयुक्ततरंग (फ्लक्च्युएशन Fluctuation) अर्थात् द्रव से उदर का हिलना, उदर्य्याकला में जल भर जाना, उदर्य्याकला के दोनों स्तरों का घर्षण (फ्रिक्शनFriction) होना तथा अर्बुदादि का बोध हो जाता है।

वृक्कस्थान की परीक्षा, इतर प्रतिबन्ध और अर्बुद के निर्णयार्थ दोनों हाथों का उपयोग किया जाता है। एक हाथ एक ओर १२ वीं पर्शुका के नीचे स्थिर रक्खें, दूसरा हाथ उदर पर सीधा रक्खें। फिर उदर को सीधे रक्खे हुए हाथ से पर्शुका के नीचे रक्खे हुए हाथ की ओर दबावें, जिससे अर्बुदादि पदार्थ की प्रतीति हो जाती है।

जलोदर के लिये एक हाथ को एक पार्श्व में खड़ा स्थिर रक्खें, फिर दूसरा हाथ दूसरे पार्श्व की ओर से उदर पर सीधा रख, खड़े हाथ की ओर उदर को दबाने से उदर्य्याकला में संचित जल के भीतर तरंग उत्पन्न होकर दूसरे हाथ को लगती हैं। यदि जल का संचय थोड़ा हुआ हो, तो चित लेटाने पर दोनों पार्श्वों में भर जाता है; जिससे दोनों पार्श्व उभरे हुए प्रतीत होते हैं। यदि जल बहुत थोड़ा हो, तो रोगी को औंधा घोड़े के समान मुड़ने को कहें; ताकि चारों ओर फैला हुआ जल नाभि के पास आ जाय, फिर परीक्षा करने पर तरंग की प्रतीति होती है। इस तरह इस जल का निश्चय उँगली-ठेपन से भी हो जाता है।

यदि उदर शूल है, तो पीड़ा कितने स्थान पर है? किस स्थान पर अधिक और स्पष्ट प्रतीति होती है? यदि पित्ताशय में शूल है, तो पित्ताशय पर; उपान्त्र में शूल है, तो दक्षिण श्रोणि प्रदेश में; और विद्रधि है, तो विद्रधि स्थान पर पीड़ा होती है। यदि उदर्य्याकला में शोथ है, तो समस्त उदर में वेदना होती है।

उदर में शोथ है; तो उदर्य्याकला में है या आभ्यन्तर अंग में है? आभ्यन्तर अवयवों में शोथ हो जाने पर उदर की कला को चलाने से निश्चय हो जाता है। वृक्कस्थ अर्बुद स्थिर होते हैं। उदर्य्याकला के संकोच से उसमें अवस्थित अर्बुद भी निश्चल हो जाता है।

यदि ग्रन्थि, अर्बुदादि विकार हैं; तो उनका आकार, परिमाण, स्थान, सम्बन्ध और स्थिति आदि जानने का प्रयत्न करें। उसमें तरल है, तो हिला कर देखें। उदर में जल छलकता है, या वायु गुड़गुड़ाहट करती है, तो उसका निर्णय करें। विशेषतया पेय पदार्थ के अधिक सेवन से आमाशय में जल छलकता है। यदि भोजन के ४-६ घण्टे हो जाने पर भी जल प्रतीत होता हो, तो आमाशय विस्तार समझना चाहिये।

अन्त्र और उदर के इतर अवयवों की स्पर्श परीक्षा करते हुए क्रमशः नीचे से ऊपर की ओर जाना चाहिये। सबसे पहले वाम श्रोणि प्रदेश और अधोगामी बृहदन्त्र देखें, उसमें मल शेष तो नहीं है? फिर अवरोही बृहदन्त्र के मार्ग से ऊपर की ओर बढ़ें। अनुपस्थ बृहदन्त्र,

आरोही बृहदन्त्र, अन्त्रपुच्छ और नाभि के चारों ओर लघु अन्त्र की परीक्षा करें। इस तरह उदर की लसीका ग्रन्थियाँ बढ़ी तो नहीं हैं? इस बात की परीक्षा भी कर लेनी चाहिये। स्वस्थावस्था में उदर में ग्रन्थियाँ प्रतीत ही नहीं होतीं। आमाशय व्रण में आमाशय पर दबाने-स्पर्श करने पर दुःख होता है।

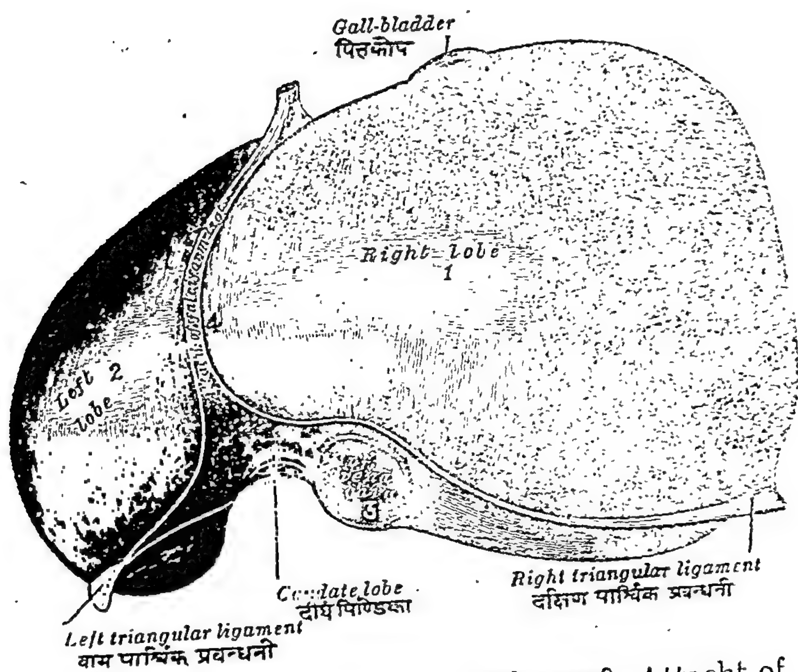
यदि अर्बुद, ग्रन्थि आदि हैं; तो उनकी मृदुता-कठोरता, समता-विषमता, आकार और परिमाण जानना चाहिये। इनके अतिरिक्त चलाने से चलती है या नहीं? श्वासोच्छ्वास से गति होती है या नहीं? यह भी देख लेना चाहिये।

प्लीहा परीक्षा—जब प्लीहा वृद्धि होती है; तब वह नाभि की ओर बढ़ती है। थोड़ी बढ़ने पर पसलियों की आड़ में ही रहती है; और अधिक बढ़ने पर उदर में आ जाती है। प्लीहा की परीक्षा के लिये रोगी को चित लिटा, पैर मुड़वा कर खड़े रखावें। फिर उदर पर सपाट हाथ रखकर तर्जनी उँगली से वामपर्शुकाओं की ओर दबाते जायँ। फिर प्लीहा पर्शुका से बाहर निकली है या नहीं? यह निर्णय करें। एवं सम-विषम और मृदु-कठोरता को भी जान लेवें।

यकृत्परीक्षा—यकृत् की परीक्षार्थ रोगी को चित लिटा कर, कन्धे के नीचे सिराना रक्खें; तथा पैर मुड़वा कर खड़े रखवावें। यकृत् के ऊपर का हिस्सा पाँचवीं पर्शुका से प्रारम्भ होकर नीचे दशवीं पर्शुका के नीचे तक रहा है। यकृत् लगभग ४॥ से ५ इञ्च जितने प्रदेश में अवस्थित है। सामान्य रूप से यकृद्वृद्धि होती है; तब नीचे की ओर बढ़ जाता है।

यकृत् देह की समस्त ग्रन्थियों में बृहद् और महत्व की ग्रन्थि है। यह भीतर से कुछ पोला है। यह उदर के भीतर दाहिनी ओर पसलियों के नीचे छिपा रहता है; अथवा यह हृदयाधरिक प्रदेश में और कभी बांयें अनुपार्श्विक प्रदेश में फैला रहता है। आकृति कुछ त्रिकोण-सी है। इसका वर्ण काला-लाल है। वज़न पुरुषों में १। से १॥। सेर तक रहता है; स्त्रियों में कुछ कम होता है। इस यकृत् की बाहर की ओर का अधिकांश उदर्याकला से आच्छादित

चित्र नं० १०
यकृत् का ऊर्ध्व प्रदेश



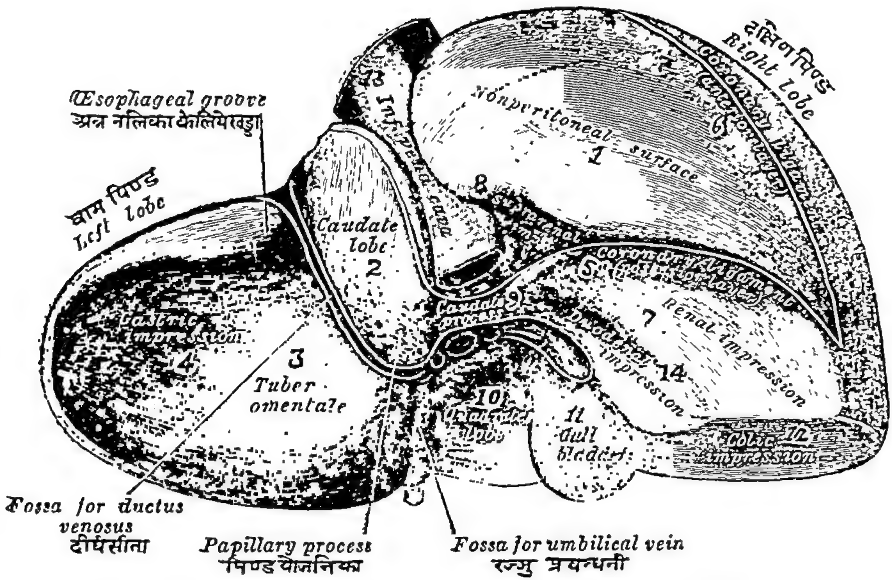
१ दक्षिण पिण्ड Right Lobe
२ वाम पिण्ड Left Lobe
३ अधरा महासिरा Inferior Vena Cava

४ दीर्घा प्रबन्धनी Attacht of falciform ligament

चित्र नं० २१

यकृत्

(निम्न तल)



१ ऊर्ध्वकला रहित प्रदेश Nonperitoneal surface
२ दीर्घ पिण्डिका Caudate lobe
३ पिण्ड कूट Tuber omentale
४ आमाशय के लिये खड्डा Gastric impression
५ पश्चिम प्रबंन्धनी (पश्चिमा Coronary Ligament (Posterion layar)
६ पश्चिम प्रविन्धनी (अग्रिमा) Coronary Ligament (anterior layar)
७ मूत्रपिण्ड का खड्डा Renal impression
८ अधिवृक्क ग्रन्थि का खड्डा Suprarenal impression
९ दीर्घ पिण्डिका शीर्ष Caudate process
१० चतुरस्त्र पिण्डिका Quadrate lobe
११ पित्ताशय Gall Bladder
१२ बृहदन्त्र के कोने का खड्डा colic impression
१३ अधरा महासिरा Inferior Vena Cava
१४ ग्रहणी का खड्डा Duodenal impression

रहा है। दोनों पार्श्वों के बीच चौड़ाई ६ से ८ इञ्च तथा आगे पीछे लम्बाई (विशेषतः दहिने पिण्ड में) ४॥ से ६ इञ्च है। इसके दहिने सिरे की मोटाई ६ से ७ इञ्च होती है। बाँयाँ हिस्सा पतला रहता है।

इस यकृत् में २ तल, २ धारा, २ पिण्ड, २ लघुपिण्ड और ५ प्रवन्धनियाँ हैं।

तल (Surfaces)—यकृत् का ऊर्ध्व तल कछुए की ढाल के सदृश गोल है। महाप्राचिरा पेशी के नीचे रहा है। इस तल पर दीर्घा प्रवन्धनी नामक एक कला से बनी हुई प्रवन्धनी है, जो यकृत् को २ पिण्डों में विभक्त करती है। निम्न तल कुछ अंतर्गोल है; बांयीं तथा पीछे की ओर मुड़ता जाता है। इस पर पाँच खाई हैं; तथा आमाशय, ग्रहणी, वृहदंत्र का याकृत्कोण, दक्षिणवृक्क और अधिवृक्क ग्रन्थि तथा पित्तकोष, इन ५ आशयों के दबाव के चिह्न होते हैं।

धारा (Borders)—पुरोधारा अर्थात् आगे की किनारी जो पतली है, वह दहिने पार्श्व के पर्शुका और उपपर्शुकाओं से बनी है। इसमें २ खड्डे हैं। एक खड्डा पित्तकोष के लिये दूसरा यकृत्प्रवन्धनी के लिये। द्वितीय पश्चिमधारा अर्थात् पीछे की किनारी मोटी और बड़े खड्डे वाली है। वह खड्डा अधरा महा-सिरा को आधार देता है।

पिण्ड—(लोवस Lobes) दहिना पिण्ड बांये की अपेक्षा ६ गुना बड़ा है, वह दाहिने पार्श्व में ढका है। इसकी पश्चिम धारा के बांये भाग में अधरा महासिरा के लिये खड्डा है। इसमें अधि वृक्क, वृक्क, ग्रहणी और वृहदन्त्र, इन ४ आशयों के स्पर्श के चिह्न हैं। बाँयाँ पिण्ड, हृदयाधरिक प्रदेश में रहा है। इस पर आमाशय के स्पर्श से एक खड्डा होता है।

लघुपिण्ड—यकृत के निम्नस्तल पर आगे की ओर चतुरस्रपिण्डिका तथा पीछे की ओर दीर्घ पिण्डिका नामक लघुपिण्ड रहे हैं। इनमें चतुरस्रपिण्डिका के आगे दहिनी ओर पित्त कोष रहा है।

प्रवन्धनियाँ (Ligaments)—यकृत् में ५ प्रन्वधनियाँ हैं। जिससे समीप के अवयवों का सम्बन्ध रहता है।

इस यकृत् में अनेक कोष समूह (Lobules) हैं। एक-एक कोष समूह में अनेक सूक्ष्म कोष या यकृत् कोषाणु (Liver Cells) रहे हैं। वे निम्नानुसार ३ प्रकार के कार्य करते हैं।

१आहार रस शोधन—आंतों में पचन क्रिया के अंत में तैयार हुए आहार रस के उपयोगी अंश का ग्रहण और हानिकर अंश को मूत्रपिण्ड में भेजना।

२ पित्तनिर्माण—प्रतिहारिणी सिरा द्वारा आये हुए रक्त में से पित्त बनाना, जो ग्रहणी में जाकर पचन क्रिया कराता है।

३ मधुरक रत्तण (Glycogenic)—अपन जो शकर, गुड़, चावल, आलू आदि मधुर पदार्थ खाते हैं। उनका सब आँत की पचन क्रिया के परिमाण में ग्लूकोम्फ (Glycose एक प्रकार की शक्कर) के रूप में रूपान्तर हो जाता है, फिर वह प्रतिहारिणी सिराओं द्वारा यकृत् की ओर जाता है, तब याकृत्कोष उसमें से मधुरक (ग्लाईकोजन Glycogen) बनाकर अपने पास संग्रहित कर लेता है। फिर आवश्यकता होने पर इस मधुरक में से पुनः ग्लुकोम्फ बना कर रक्त में भेज देता है।

इस यकृत् में नाना प्रकार की विकृतियाँ हो जाती हैं। टूट जाना, स्थान भ्रष्ट हो जाना, शोथ, अर्बुद, विद्रधि, यकृद्वृद्धि, और यकृत्संकोचादि विकार हो

यकृत् की परीक्षा के लिये उदर के नीचे और श्रोणी-फलक के ऊपर हथेली रख कर तर्जनी से दबाते हुए हाथ को धीरे-धीरे ऊपर सरकाते जाना चाहिये। यदि बड़े मनुष्य को यकृद् वृद्धि हुई होगी; तो यकृत् के नीचे का भाग पर्शुका से बाहर निकला हुआ तर्जनी को लगेगा। (बालकों में तो निरोगी अवस्था में भी उदरगत इतर इन्द्रियों के प्रमाण में यकृत् बड़ा ही होता है। जन्म के समय नाभि तक रहता है, फिर घटता जाता है।) इस हेतु से यकृत् की किनारी विदित हो जाती है। यकृत् बढ़ने पर उसके पीछे वाला हिस्सा नरम, कठोर, गाँठ युक्त या ऊँचा नीचा हो गया है या नहीं? इस बात की परीक्षा करनी चाहिये। सामान्यतया यकृत् मृदु और सम रहता है, किन्तु यकृद्दाल्युदर में कठोर और विषम हो जाता है।

अर्बुद होने पर यकृत् के पीछे का भाग गाँठ युक्त हो जाता है; तथा कुछ गाँठों में व्रण के खड्डे का बोध होता है। फिर यकृत् पर जब शोथ आ जाता है, तब स्पर्श सहन नहीं होता। यकृत् के दुष्टार्बुद के प्रारम्भ काल में बहुधा नाभि पर गौण अर्बुद होता है।

हृदय के दहिने भाग में रहे हुए त्रिपत्र कपाट का अवरोध होने पर रक्त प्रवाह वापस लौटता रहता है। उस समय स्पर्श से यकृत् में स्पंद होता हुआ विदित होता है।

पित्ताशय बढ़ने पर स्पर्श-परीक्षा से दक्षिण ओर की नवम पर्शुका के नीचे एक मुलायम गोल गाँठ हाथ को लगती है।

फुफ्फुस-परीक्षा—फुफ्फुसों की दर्शन-परीक्षा (वक्षपञ्जर की आकृति में अन्तर देखने) और श्वासोच्छ्वास तथा नाड़ी-स्पंदन का प्रमाण जानने के पश्चात् स्पर्शपरीक्षा करें। फुफ्फुसों के कुछ भाग विकारी हो जाने पर निष्क्रिय हो जाते हैं; तब उससे श्वसन क्रिया नहीं होती। उस भाग की इस निष्क्रियता का बोध छाती पर हाथ रखने से हो जाता है। बड़े नीरोगी मनुष्य के बोलने के समय छाती पर हाथ रखने से ध्वनि का स्पंद जाना जाता है। परन्तु रोगी, निर्बल मनुष्य, मृदु आवाज़ वाली स्त्री और बालक के हृदय पर हाथ रखने से इस स्पंद की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती। जिन रोगियों में प्रतीति होती हो, उनके लिये दोनों फुफ्फुसों पर १–२–३ कहलवा कर परीक्षा करें, कि समान स्थान पर ध्वनि समान है या नहीं ? यह स्पंदन बाँयी ओर हृदय प्रदेश की अपेक्षा दाहिनी ओर के भाग में अधिक होता है। यह शब्द स्पर्श फुफ्फुसों में विवर हो जाना, और छाती निर्बल हो जाना, इन कारणों से बढ़ जाता है।

यदि हृदय का स्पर्शस्थान उरःपञ्जर के साथ लग जाय; तो स्पन्दन का आभास स्पष्टतर होता है। इससे विपरीत फुफ्फुसावरण में वायु या द्रवसंचय होजाय; अथवा फुफ्फुस घन बन जाय और स्पर्शस्थान फुफ्फुसों से अन्तरित होजाय; तो स्पन्दन अस्पष्ट होजाता है। परन्तु फुफ्फुसावरण में तरल भर जाने पर तरंग प्रतीत होते हैं। शुष्क कास में शुष्क ध्वनि, फुफ्फुसावरण शोथ और हृदावरण शोथ में घर्षणध्वनि तथा स्पर्श सहन न होना, इन बातों का भी स्पर्श से बोध होजाता है।

फुफ्फुसावरण में तरल का सन्देह है; तो जानने के लिये दोनों हाथ की एक-एक उँगली कुछ दूरी पर रखें। फिर एक उँगली से फुफ्फुसावरण दबाने पर दूसरे हाथ की उँगली ऊपर उठती है; तो तरल है ऐसा मानना चाहिये।

श्वास लेने पर दोनों ओर वक्ष समान फैलता है या न्यूनाधिक ? इस परीक्षा के लिये रोगी के पार्श्व प्रदेश से हृदय तक दोनों हाथ इस तरह

रखें, कि दोनों हाथ के अंगुष्ठ मध्यरेखा में उरोस्थि पर मिल जायँ। फिर रोगी को दीर्घश्वास लिवा कर देखें, कि प्रसार सम है या नहीं ?

फुफ्फुसशिखरों की परीक्षा के लिये रोगी के पीछे खड़े रहकर दोनों हाथ के अंगुष्ठ कण्ठ के पीछे की ओर तथा उँगलियों को आगे की ओर फुफ्फुसशिखरों पर रखें। फिर दीर्घश्वास लेने के समय उँगलियों के उठने पर से निर्णय करें।

फुफ्फुसावरण शोथ और महाप्राचीरा पेशी की गति में प्रतिबन्ध होने पर हृदयाधरिक प्रदेश (कौड़ी प्रदेश) भली भाँति नहीं उठ सकता। इसकी परीक्षा कौड़ी प्रदेश पर हाथ रखकर की जाती है।

छाती कितनी दब सकती है, यह हाथ से दबाव डाल कर परीक्षा करें। उदरवृद्धि, राजयक्ष्मा और फुफ्फुसकोप विस्तार होने पर छाती कम दबती है।

हृदयपरीक्षा—रोगी को चित लिटाकर हृदय पर हाथ (करतल ऊपर, और उँगलियाँ नीचे) रखकर स्पर्श करें। जहाँ स्पन्दन प्रतीत होता है, वह कोण स्वस्थान पर स्थित है या नहीं ? हृदयसंकोच बल-पूर्वक होता है या नहीं ? वामनिलय-खण्ड के संकोच होने पर स्पन्दन हाथ को स्पष्ट प्रतीत होता है या नहीं ? हृदय की गति जब तीव्र हो जाती है; तब बाँयी ओर का द्विपत्र कपाट के संकोच में स्पन्दन का आघात हाथ पर तीव्र और सत्वर होता रहता है। किन्तु अति शिथि-लता आ जाने पर जब हृदयवेग मन्द हो जाता है, तब स्पन्दन का भास नहीं होता। इसके अतिरिक्त स्थूल वक्ष होने पर या फुफ्फुसकोपों का विस्तार होने पर भी धड़कन की प्रतीति नहीं हो सकती।

हृदावरण की कलाओं में घर्षण होने पर तथा हृदय-कपाट की विकृति होने पर स्पन्दन के अतिरिक्त हाथ को तरंग स्पर्श होता है। यदि यह तरंग आरोही बृहद् धमनी के कपाट-स्थान (दक्षिण और द्वितीय पर्शुकासन्धि) पर है, तो बृहद् धमनी कपाट की विकृति मानी जाती है। तथा बाँयीं ओर दूसरी पर्शुकान्तर में तरंग स्पर्श होता है, तो वामनिलयखण्ड की अस्वस्थता मानी जाती है। इस तरह उरः फलक के

ऊपर के सिरे पर उँगली से दबाने पर स्पन्दन प्रतीत हो, तो तोरणी धमनी में विस्तार हुआ है, ऐसा माना जाता है।

वृक्कपरीक्षा—वृक्कों की परीक्षा के लिये रोगी को चित् लिटावें; स्कन्ध के नीचे सिरहाना रख कर ऊँचा रक्खें, और पैरों को मोड़ कर खड़ा रखावें। फिर परीक्षक जिस ओर के वृक्क की परीक्षा करना हो, उस ओर बैठें। एक हाथ पशु का के नीचे और दूसरा उदर पर रख, दोनों हाथों को दबावें। परीक्षाकाल में रोगी को दीर्घ श्वास लेने को कहें; जिससे निःश्वास काल में उदर के साथ वृक्क भी नीचे उतरते हैं। उस समय दबाने से वृक्कस्थिति का बोध हो जाता है।

सामान्य रूप से वृक्कों के नीचे के सिरे कुछ-कुछ प्रतीत होते हैं। यदि अधिक प्रतीत हों; तो वृक्कों को स्थानभ्रष्ट समझना चाहिये। यदि पित्ताशय या प्लीहा की वृद्धि हुई है; तो वृक्कों के चलायमान होने का निश्चय नहीं हो सकता।

मुख-परीक्षा।

जिह्वापरीक्षा के समान मुँह का स्वाद, मुखपाक, तालु, दाँत, मसूढ़े और ओष्ठ की प्रतीति पर से अनेक रोगों के निर्णय में सहायता मिलती है।

(१) वातप्रकोप में मुँह का स्वाद फीका या खारा, पित्तविकार से कड़वा और कफवृद्धि से मधुर हो जाता है।

(२) मुखशोथ, दन्तोद्भव, चिरकारी अजीर्ण रोग, कितनेक प्रकार के आमाशय रोग, गर्भधारण, उन्माद, जलसंत्रास, कितनेक मस्तिष्क-रोग; पारद, आयोडाईड, खट्टी तथा कड़वी औषधियों का सेवन, इन कारणों से मुँह में लालास्राव बढ़ जाता है। इनमें आमाशय के रोग में प्रायः मुखपाक हो जाता है; तथा दाँतों में पीप उत्पन्न होना और मैले हो जाना, ये भी उपद्रव हो जाते हैं।

(३) ताप, मधुमेह, तीव्र अतिसार, जीर्ण वृक्कदाह; बेलाडोना और एट्रोपिनादि औषधियों का सेवन, इन हेतुओं से लालास्राव कम हो जाता है।

(४) मृदु अस्थिरोग, जीर्ण अपचन, तीव्रज्वर, तथा प्रमेहादि रोगों में दाँत मैले और शिथिल हो जाते हैं।

(५) तीव्रज्वर अधिक काल रहना, अस्थिमार्दव, जमालगोटे के तेल का विष (Crotonism) आदि रोगों से दाँत निर्बल होकर गिर जाते हैं।

(६) खूँटी के समान दाँत दीखना, एवं शिथिल रहना, यह आनुवंशिक उपदंश (फिरंग) रोग का चिह्न है।

(७) पाण्डुरोग में मसूढ़े (Gums) फीके होजाते हैं।

(८) शीशा के जहर (Lead poisoning) से मसूढ़े पर नीली काली रेखाएँ होजाती हैं।

(९) मुखपाक, अजीर्ण और मसूढ़े से रक्त गिरना (Scurvy) आदि रोगों में मसूढ़ों पर शोथ आ जाता है; उनमें से रक्त गिरता रहता है, और उन पर घाव भी हो जाते हैं।

(१०) रसकपूरादि (पारद विष) से मसूढ़े फूले हुए और शिथिल होजाते हैं; दाँत हिलने लगते हैं; भोजन चावने में त्रास होता है; तथा मुँह में से दुर्गन्ध भी निकलती रहती है।

(११) शीताद-दन्तवेष्ट (Pyorrhoea) रोग में मसूढ़े में से पीप आता है।

(१२) रोमान्तिका रोग में बाहर पिड़िकाएँ निकलने से पहले गालों के भीतर लाल रंग के पिड़िका समूह दिखाई देते हैं।

(१३) ऊपर में रहे हुए कठिन तालु (Hard Palate) में छिद्र हो जाने पर, उपदंश रोग का उपद्रव जाना जाता है। माता-पिता की देह में उपदंश विष रह जाने पर सन्तानों को भी कचित् यह उपद्रव हो जाता है।

(१४) कतिपय नासारोग, कण्ठास्थि के रोग और दाँतों के कितनेक रोगों में कठिन तालु पर शोथ आजाता है; एवं विद्रधि भी होजाती है।

(१५) कोमल तालु (Soft Palate) जो कठिन तालु के पीछे कण्ठ में कोमल मांस तन्तु में से बना हुआ लटकता है; उस पर कण्ठ रोहिणी

(Diptheria) रोग में पर्दे (Membranes) आ जाते हैं; एवं रोग बढ़ने पर कोमल तालु निश्चेष्ट हो जाता है; जिससे बालक नाक में से मिनमिनाते हुए बोलता है; और भोजन सरलता से नहीं निगल सकता।

(१६) जीर्ण कण्ठशोथ और जीर्ण कासरोग में कण्ठ के भीतर छोटे-छोटे दाने दृष्टिगोचर होते हैं।

ष्ठीवन-परीक्षा।

(१) श्वासनलिका में दाह होने पर थूक या कफ (Mucous) स्वच्छ श्वेत रंग का होता है।

(२) पीप हो जाने पर कफ हरे-पीले रंग का पीपमिश्रित (Muco-purulent) बन जाता है। यह कफ जल में डालने पर डूब जाता है।

(३) फुप्फुसों में आर्द्र शोथ हो जाने पर जल के समान थूक किञ्चित् लाल रंग का बहुत निकलता रहता है।

(४) राजयक्ष्मा के हेतु से फुप्फुस में खड्डे हो जाने पर तथा जीर्ण कास में कफ गोल, गाढ़ा, चिकना, बताशे के सदृश आकृति वाला (Numiform) और दुर्गन्धयुक्त होता है।

(५) फुप्फुस विद्रधि, फुप्फुसों के क्षय के जन्तुओं से खड्डे (क्षयविवर Cavities) और फुप्फुसावरण में पीप का संचय (Empyema) होने के पश्चात् पीप जब फुप्फुस में आने लगता है; तब थूक में केवल पीप ही आता रहता है।

(६) फुप्फुस-कोथ और श्वास-नलिका चौड़ी हो जाने पर कफ अति दुर्गन्धयुक्त निकलता रहता है। इनमें श्वास-नलिका-विस्तार (Bronchiectasis) के कफ में ३ सतह होती हैं। ऊपर पतला झाग वाला भाग, बीच में श्लेष्म और नीचे पीप वाला भाग रहता है।

(७) न्युमोनियाँ में कफ रक्तमिश्रित होने से लाल रंग का चिकना और गाढ़ा होता है। जीर्ण रोग होने पर कफ का रंग मैला हो जाता है। धमनी-अवरोधजकोथ रोग में भी कफ मैले लाल रंग का निकलता रहता है।

(८) कफप्रकोपयुक्त कास रोग (Plastic Bronchitis) में किसी हेतु से श्वासनलिका में कफ जमा होकर खूब चिकट जाता है; तो उसके गोले (Casts) बड़ी कठिनता से निकलते हैं।

(९) यकृद्-विद्रधि फुफ्फुस में फूटने पर कफ मैले पीले या हरे-पीले रंग का हो जाता है।

(१०) मीलों और कोयले की खानों में काम करने वालों के श्वास के साथ धुआँ, धूल, आटा, रंग, रुई के परमाणु आदि वस्तुएँ जाती रहती हैं; फिर ये थूक के साथ या नासिका से निकलने वाले कफ में निकलती रहती हैं।

ओष्ठ-परीक्षा।

जिह्वा और मुँह के समान होठ की दर्शन-परीक्षा पर से भी कितनेक रोगों के निर्णय में सहायता मिल जाती है।

(१) अपचन होने पर ओष्ठ सूख जाते हैं।

(२) पाण्डु रोग में ओष्ठ निस्तेज हो जाते हैं; तथा कामला रोग में काले-पीले हो जाते हैं।

(३) गात्रनीलिमा उत्पन्न करनेवाले जीर्ण कास, हृदय-विस्तार और न्यूमोनियादि रोगों में होठ नीले हो जाते हैं। इस तरह क्वचित् बद्धकोष्ठयुक्त अजीर्ण रोग में भी ओष्ठ नीले हो जाते हैं।

(४) शीत-प्राधान्य विषम ज्वर में होठ के ऊपर से त्वचा निकलती रहती है; तथा ज्वर के अन्त में होठों पर छोटी-छोटी पिड़िकाएँ निकल आती हैं।

(५) शीत अधिक लगने पर होठ फट जाते हैं; और उष्णता अधिक लगने पर होठ सूख जाते हैं।

(६) उपदंश (फिरंग) रोग की द्वितीय अवस्था में होठ की किनारी स्थान-स्थान पर फट जाती है, और भीतर में छोटा कठोर व्रण भी हो जाता है। होठ के ऊपर की दरारें (Fissures) अच्छी हो जाने पर भी उस स्थान पर सफेद दाग़ (Scars) रह जाते हैं।

(७) फिरंग रोगी के भूठें अन्न-जल के सेवन से या चुम्बन से कर्क-स्फोट (Cancer) हो जाता है; और होठ पर उपदंश रोगी के समान उपद्रव हो जाता है; तथा स्फोट मिटने पर भी कुष्ठ समान श्वेत दाग़ रह जाता है।

(८) क्षय-रोग होने पर होठ छोटे-मोटे और लाल हो जाते हैं।

(९) अति निर्बलता आ जाने पर ओष्ठ छोटे और पतले हो जाते हैं; और उनमें कम्प होता रहता है।

(१०) नासा-पश्चिम-ग्रन्थि की वृद्धि, बुद्धिमान्द्यता और पक्षाघात के रोगी के होठ सम अवस्था में नहीं रहते; और मुँह भी खुला रहता है।

गन्ध-परीक्षा।

अन्य परीक्षाओं के समान गन्ध-परीक्षा भी रोगविनिश्चय में सहायक होती है।

(१) मुँह साफ़ न करने से, दन्तवेष्ट रोग, कृमिदन्तक (दाँतों में कृमि होना Caries) ज्वर, मलावरोध, अपचन, ताप में अपचन, पचनेन्द्रिय की विकृति, गलग्रन्थिशोथ, मसूढ़े में शोथ और प्रमेह रोग में मुँह में से दुर्गन्ध आती रहती है।

(२) गलग्रन्थि, जीर्ण मलावरोध, ज्वर, ज्वर में अपचन, पीनसादि नासारोग, मस्तिष्क में व्रण होना, उरःक्षत, श्वास-नलिका-विस्तार-युक्त कास, जीर्ण कास, इन रोगों में श्वास में दुर्गन्ध आती है।

(३) शराव, धूम्रपानादि से कारण अनुरूप मुँह और नाक में से वास निकलती है। इस तरह अफीम, टारपीन तैल, क्लोरल, विसमथादि पदार्थों से कारण अनुरूप गन्ध आती है। शराब, धूम्रपान और लहसुन का अति सेवन किया जाय; तो प्रस्वेद-युक्त वस्त्रों में से भी गन्ध निकलती रहती है।

(४) वृक्कसंन्यास से अर्थात् मूत्रोत्पत्तिकार्य का त्याग हो जाने पर रक्त में मूत्र-विष की वृद्धि (यूरेमिया Uraemia) होकर श्वास में मूत्र के समान दुर्गन्ध आती है।

(५) शरीर में उष्णता अधिक बढ़ने पर श्वास उष्ण और दुर्गन्ध-युक्त चलता है। यह स्थिति ज्यादा दिन तक रहने से श्वास-यन्त्र या नासिका के भीतर की त्वचा फट जाती है; और उसमें से रक्तस्राव होने लगता है।

(६) मधुमेह बढ़ने पर रोगी के मुँह से फलों की वास के समान मधुर वास आने लगती है।

(७) केशर, कस्तूरी, इलायची और कपूरादि या लहसुन, प्याजादि के सेवन से वस्तु के समान मुँह से सुगन्ध या दुर्गन्ध निकलती है।

(८) फुफ्फुसकोथ होने पर मुँह और नाक से दुर्गन्ध आती रहती है।

(९) कोथ, मधुमेह, मधुरा, इतर तीव्रज्वर तथा कामला रोग में दुर्गन्धयुक्त प्रस्वेद आता है।

(१०) मेदवृद्धि वालों के पसीने में दुर्गन्ध अधिक रहती है।

(११) अनेक प्रकार के विष के प्रस्वेद में मूल विष के समान वास आती है।

नेत्र-परीक्षा।

नाड़ी आदि परीक्षा के साथ नेत्र पर से अनेक व्याधियों के निर्णय में सहायता मिलती है। नेत्र बाह्य लक्षणों के अतिरिक्त आन्तरिक भावों को भी प्रकाशित करते हैं। उदर्याकलाशोथ, हृदावरण शोथ, हृदयविकृति तथा न्यूमोनियादि मारक रोगों में भावी विपत्ति का बोध कराते हैं, और अफीम, धत्तुरादि विषप्रकोप को भी स्पष्ट दर्शा देते हैं।

(१) नेत्र वायु-प्रकोप से टेढ़े, रूक्ष, धूम्रवर्ण, दाहयुक्त और चंचल; पित्त-प्रकोप से पीले, ताम्रवर्ण, दाहयुक्त और चंचलवृत्ति (प्रकाश देखने के लिये असमर्थ) युक्त; कफदोष से निस्तेज, चिकने, स्रावयुक्त और स्थिर दृष्टि वाले दीखते हैं। सन्निपात में नेत्र काले या लाल रंग के बैठे हुए तन्द्राच्छन्न प्रतीत होते हैं। न्युमोनियाँ की अरिष्टा-वस्था में नेत्र लाल और खुले रहते हैं; पुतलियाँ ऊपर चढ़ जाती हैं और श्वास बड़ी आवाज़ से चलता रहता है।

(२) जीर्णज्वर के पश्चात् निर्वलता और पाण्डु रोग में नेत्र निस्तेज होजाते हैं; तथा नेत्र की अधोपलक के भीतर देखने से रक्तन्यूनता का स्पष्ट वोध होजाता है।

(३) कामला रोग में नेत्र हल्दी के समान पीले होजाते हैं।

(४) हैज़े में आँख खड्डे में गिरी हुई हो, ऐसी दीखती है; और किञ्चित् लाल हो जाती है।

(५) अपस्मार की मूर्च्छा में नेत्र की पुतली ऊपर चढ़ जाती है।

(६) उन्मादरोगी के नेत्र में चंचलता भासती है।

(७) अफीम के विष से नेत्र की पुतली अति संकोचित होजाती है। फिर अन्तिमावस्था में वहुत फैल जाती है।

(८) संन्यास रोग की मूर्च्छा में नेत्र की पुतली थोड़ी सिकुड़ती है।

(९) पानात्यय रोग में नेत्र लाल हो जाते हैं; और पुतलियाँ चौड़ी हो जाती हैं।

(१०) धत्तूरे के विप से नेत्र की पुतलियाँ चौड़ी हो जाती हैं।

(११) सर्वांगवात में पुतली प्रकाश में नहीं सिकुड़ती, किन्तु समीप की वस्तु देखने में सिकुड़ जाती है।

(१२) मस्तिष्क में रक्त-वृद्धि होना, सूर्य के ताप में फिरना, नेत्र को धुँआँ लगना, पित्तप्राधान्य ज्वर; तमाखू, गाँजा, या चरस पीना, नेत्र में धूल या जन्तु घुस जाना, वमन होना, और दिन में शयनादि कारणों से नेत्र लाल हो जाते हैं।

(१३) आम-प्रकोप होने से नेत्र की पलकें वन्द करने में कष्ट होता है।

(१४) गर्भपात होने के पश्चात् अनेक स्त्रियों को नेत्र के पलकों के नीचे वाजरी के समान दाने हो जाते हैं।

(१५) गलगण्ड होने पर नेत्र के श्वेत पटल अधिक श्वेत हो जाते हैं, और पक्ष्म अधिक काली और लम्बी हो जाती है।

(१६) जीर्ण अजीर्ण, निर्वलता और निद्रानाश में नेत्र के नीचे का भाग काला-सा हो जाता है।

(१७) जीर्ण वृक्कशोथ में सुवह उठने पर नेत्र की ऊपर की पलकों पर शोथ प्रतीत होता है। फिर वह शनैः-शनैः दो तीन घण्टे में दूर हो जाता है।

(१८) काली खाँसी और रात्रि को आने वाली तीव्र शुष्क कास में नेत्र की नीचे की पलकों पर प्रातःकाल शोथ आ जाता है, फिर वह २–३ घण्टे में दूर हो जाता है।

(१९) वातहतवर्त्म रोग में द्विधादर्शन, अन्धत्व और कनीनिका-संकोच प्रतीत होते हैं।

(२०) अधिक अश्रुपात, अधिक पठन, मस्तिष्क में उष्णता पहुँचना, तमाखू सूँघना, अति पित्तवर्धक भोजन, सूर्य पर त्राटक करना, रात्रि का जागरण, विजली की तेज वत्ती के प्रकाश में पठनादि कार्य करना, स्त्रियों के मासिकधर्म में प्रतिवन्ध, पुरुषों के वीर्य में उष्णता और पतलापन, विषप्रकोप, रक्तविकार, मूत्रावरोध, जीर्ण मलावरोध, वार-वार जुलाव लेना, मोतीझरा, पित्तप्राधान्य विषमज्वर अधिक दिन तक रहना, सूर्य के प्रखर ताप में खुले पैर से चलना, शराव तथा धूम्रपानादि कारणों से नेत्र ज्योति निर्वल हो जाती है।

(२१) शुक्रजनित निर्वलता और मस्तिष्क की निर्वलता से दूर देखने की दृष्टि मन्द हो जाती है।

(२२) राजयक्ष्मा वढ़ जाने पर नेत्र निस्तेज मैले सफेद रङ्ग के हो जाते हैं; भवों की आकृति अधिक गोल हो जाती है या गोलाई न्यून हो जाती है; तथा ग्रीवा लम्बी हो जाती है।

(२३) उपदंश और सुजाक रोग के पश्चात् कितनेकों को नेत्र में नाड़ी व्रण हो जाते हैं। तथा नेत्र की पुतलियों में सूक्ष्म रेखा भी हो जाती हैं।

(२४) जलते हुए नेत्रों पर शीतल जल छिड़कने से नेत्र की पलकों के नीचे या पुतली पर फुन्सियाँ हो जाती हैं; नेत्र ज्योति कमज़ोर हो जाती है; और नेत्र में लाली भी आ जाती है।

(२५) मरणासन्न अवस्था में नेत्र खड्डे में घुसे हुए और स्थिर-से

दीखते हैं। पलकें खुली हुई, बैठे हुए गाल तथा मुँह भयानक प्रतीत होता है।

(२६) मस्तिष्कगत दृष्टिकेन्द्र या दृष्टिनाड़ी में विकार हो जाने पर दृष्टिनाश हो जाता है। यदि दाहिने दृष्टिकेन्द्र या दृष्टिनाड़ी में विकृति हो जाय; तो दाँयी ओर का वाँया अर्धभाग और वाँयी ओर का अन्तरीय अर्ध भाग दूषित हो जाता है। इस तरह वाँये दृष्टिकेन्द्र या दृष्टिनाड़ी में विकृति हो जाय; तो वामनेत्र का वाह्य अर्ध भाग और दक्षिण नेत्र का अन्तरीय अर्ध भाग की दृष्टि नष्ट हो जाती है।

(२७) जब दृश्य पदार्थ का प्रतिविम्ब दोनों नेत्रों के ताराओं में सम स्थानों पर नहीं पड़ सकता, तब पदार्थ में द्वित्वाभास होता है। यदि प्रतिविम्ब अनेक पड़ते हैं; तो अनेकाभास हो जाता है।

दर्शन-परीक्षा।

सिर से पैर तक सब भागों को अवलोकन करने को दर्शन-परीक्षा (इन्स्पेक्शन Inspection) कहते हैं। इस परीक्षा से व्याधि और व्याधि-अवस्था के निर्णय में अच्छी सहायता मिल सकती है। अतः दर्शन-परीक्षा का उपयोग स्पर्शादिपरीक्षा से पहले किया जाता है।

(१) वातव्याधि में रोगी तेजोहीन और श्याम वर्ण वाला होजाता है। पित्तप्राधान्य विकार में देह निर्बल, पीली और शुष्क होती है; नेत्र में लाली या पीलापन आ जाता है; तथा पसीना भी ज्यादा आता है। कफप्रकोप में शरीर चिकना, शीतल और कलाहीन हो जाता है।

(२) रक्त की निर्बलता होने पर क्षयरोग, उपदंश और रक्तार्शादि रोगों में नेत्र, मुख, नाखूनादि सफेद हो जाते हैं; और शरीर शिथिल हो जाता है।

(३) पाण्डु रोग में मुँह निस्तेज हो जाता है। कामला रोग में देह और नेत्र पीले हो जाते हैं; तथा पसीने से कपड़े भी पीले हो जाते हैं।

(४) ज्वरादि के पश्चात् निर्बलता, मानसिक चिन्ता, राजयक्ष्मा और धातुक्षीणतादि रोगों में चेहरा तेजोहीन हो जाता है।

(५) राजयक्ष्मा, न्युमोनियाँ और तीव्र श्वासरोग में चेहरे पर व्याकुलता प्रतीत होती है।

(६) हृदयेन्द्रिय की अधिक विकृति होने पर चेहरा निस्तेज और चिन्तातुर भासता है।

(७) उदरशूल, वृक्कशूल, पित्ताशयशूल या इतर स्थान का तीव्र शूल होने पर रोगी अति पीड़ित होता है, जिससे चेहरा विकृत हो जाता है।

(८) जीर्ण अजीर्ण रोग में मुँह कुछ फूला हुआ या शोथ-युक्त भासता है।

(९) सहज उपदंश में नासासेतु बैठा हुआ तथा ललाट चपटा और उभरा हुआ प्रतीत होता है। कुष्ठ और नासाकृमि हो जाने पर भी नासासेतु बैठ जाता है।

(१०) जीर्ण अजीर्ण, शराब का व्यसन, हृदय के वाम द्विपत्रकपाट की विकृति में नासाग्र लाल हो जाता है। न्युमोनियाँ और श्वासमार्ग का अवरोध होने पर श्वासोच्छ्वास क्रिया से नासापार्श्व बार-बार उठते रहते हैं।

(११) बालकों की नासा-पश्चिमग्रन्थि (Nasopharynx) की वृद्धि होने पर तथा जीर्णकास में नासाग्र चिपका हुआ, नासारन्ध्र विस्तृत और नासिका-मार्ग में अवरोध होने से मुख खुला रहता है; तथा श्वासोच्छ्वास की आवाज़ बड़ी हो जाती है।

(१२) जीर्ण विषम ज्वर, रक्तार्श और पाण्डुता लाने वाली व्याधियों में नासासेतु और गालों पर काले दाग़ हो जाते हैं।

(१३) बृहद् कायरोग (Myxedema) में सब अंग बड़े हो जाते हैं, किन्तु इतर अंगों की वृद्धि की अपेक्षा नाक विशेष बढ़ जाता है। इस रोग में सारे शरीर पर शोथ आ जाता है। फिर भी उसमें द्रव न रहने से दबाने पर आर्द्र शोथ समान खड्डे नहीं पड़ते।

(१४) बालग्रह रोग हो जाने के पश्चात् शिर चपटा, अण्डाकार या बैठी आकृति वाला हो जाता है। तथा शीर्षाम्बुवृद्धि होने पर शिर बहुत बड़ा प्रतीत होता है।

(१५) तीव्र शिरदर्द होने से ललाट पर सिलवटें पड़ जाती हैं; और भवें ऊपर खिंच जाती हैं।

(१६) पित्त-प्राधान्य दीर्घ व्याधि से निर्मुक्त होने पर बहुधा बाल झड़ने लगते हैं। फिर रक्त में शीतलता आ जाने पर बाल झड़ना बन्द हो जाता है।

(१७) जीर्ण वृक्कशोथ में देह मलिन-सी हो जाती है; काला आजार में देह का वर्ण काला-सा; बृहद्-धमनी-विकृति से सफेद; पाण्डु में सफेद पीला; हलीमक में पीला और कामला में हरा-पीला हो जाता है।

(१८) न्युमोनियाँ की अन्तिमावस्था, हृदय के वामनिलय-खण्ड से रक्त वापस लौटते रहने और हृदयावसाद होने पर देह का रंग नीला हो जाता है।

(१९) उपदंशरोगी की देह पर लाल धब्बे; तथा अधिवृक्क-क्षय और सोमलविष से लाल या पीले धब्बे हो जाते हैं। इस तरह अधि-वृक्कविकृति से उत्पन्न पाण्डु रोग में मैले रंग के धब्बे तथा होठ और मुँह के भीतर भी नीले काले धब्बे पड़ जाते हैं।

(२०) वातवहा नाड़ियों में विकृति, वातकम्प, निद्रानाश, शीत लग जाना, जराशोष, मदात्यय, तुंगाक्ष गलगण्ड (Exophthalmic goiter or Graves' disease), वृक्कसंन्यास, तमाखू और पारदादि विष के प्रभाव से हाथों में कम्पन होने लगता है।

(२१) वातरक्त-विकार होने एवं रक्ताभिसरण की क्रिया मन्द हो जाने से नखों में लम्बाई के रुख से अनेक रेखायें हो जाती हैं।

(२२) श्वेत प्रदर, मासिकधर्म में अधिक रक्तस्राव और पित्त-प्रकोप के हेतु से हथेलियाँ बहुधा स्वेदयुक्त रहती हैं।

(२३) द्रवसंचय होने पर उदर समान रहता है, और पार्श्वभाग फूले हुए दीखते हैं। परन्तु वायु भर जाने पर पार्श्वभाग नहीं फूलते; और बीच का भाग फूल जाता है।

(२४) उदर्य्याकला (Peritoneum) के दाह-शोथ में उदर पर श्वासोच्छ्वास जनित स्पन्दन की प्रतीति बहुधा नहीं होती। क्वचित्

स्पन्दन होता है, वह हृदय के दक्षिण भाग का अथवा हृत्साद के हेतु से विस्तृत यकृत् का होता है।

अनेक वार चंचल मन वाली स्त्रियों में अकारण स्पन्दन होता रहता है; अथवा आमाशय के अधोमुख (Pylorus) पर अर्बुद या गुल्म होने पर उसके नीचे रही हुई धमनी का स्पन्दन अर्बुद या गुल्म से सम्बन्धित होकर क्वचित् उदर पर भासता है। यदि धमनी-विस्तार हो जाय, तो उदर्य्याकला पर स्पन्दन निःसंदेह दीखता है।

(२५) अधिक उपवास, मस्तिष्क में क्षयविवर, तीव्र अतिसार, कृशता लानेवाले रोग और अर्बुदादि रोगों में उदर में खड्डा-सा दीखता है।

(२६) यकृदाल्युदर और उदर में अर्बुद होने और यकृत् में से ऊपर जाने वाली शिराओं का अवरोध होने पर उदर पर शिरायें नीली दृष्टिगोचर होती हैं। यकृदाल्युदर होने पर श्वासोच्छ्वास के साथ यकृत् के नीचे की किनारी ऊपर नीचे होती रहती है।

(२७) उदर की निम्न महाशिरा के रक्तसंचार में प्रतिबन्ध होने पर उदर पर प्रतीत होने वाली शिराएँ फूल जाती हैं।

(२८) मेदवृद्धि होने पर उदर की त्वचा मोटी हो जाती है।

(२९) बालकों के अस्थिमार्दव (रिकेट्स Rickets) रोग में यकृत्प्लीहा बढ़ जाते हैं; और पर्शुकाएँ ऊपर उठ जाती हैं।

(३०) असाध्य अर्बुद, पूयभाव और उदर्य्याकला के क्षय (Tubercular Peritonitis) से उन स्थानों में रक्त के श्वेत जीवाणुओं में ग्लायकोजन की वृद्धि (अन्तर्भरण Infiltration) हो जाती है। क्वचित् न्यूमोनिया और इतर आशुकारी संक्रामक व्याधियों में भी यह अन्तर्भरण हो जाता है। आयोडीन से इसका वर्ण कुछ लाल और कठोर हो जाता है।

(३१) आमाशय का नाभि के भी नीचे आ जाना, यह आमाशय विस्तृति को दर्शाता है।

(३२) अति भोजन, चिन्ता, परिश्रम और व्यायाम का अभाव, मद्य-

पान और परम्परागत विकार के हेतु से मेदोभरण (Fatty Infiltration) होता है। मेद ईथर में गल जाता है; और ऑस्मिक एसिड (Osmic Acid) में काला हो जाता है।

(३३) धमनी, हृदय के कपाट, जीर्ण क्षयपीड़ित भाग, कितनेक जाति के अर्बुद, हृदय से संलग्न हृदयावरण, विद्रधिकोष, बीजवाहिनी में रहा हुआ मृत गर्भ, कण्ठस्थ पिण्ड (Thyroid) और वृद्ध मनुष्य की पशुकाओं के मृत भागों में बहुधा क्षारभरण (Calcification) हो जाता है।

(३४) बाल्यावस्था में छाती पर चोट लग जाने से छाती की आकृति विकृत हो जाती है; और फुफ्फुस, यकृत्, प्लीहादि अङ्गों में से किसी में न्यूनता हो जाती है। इस तरह क्षय, अस्थिमार्दव रोग, काली खाँसी, नाक के पीछे गाँठ हो जाना, इन कारणों से भी छाती की आकृति दूषित हो जाती है; और छाती का यथोचित विकास नहीं होता।

(३५) फुफ्फुस-कोषों का विस्तार हो जाने पर छाती गोल हो जाती है; और श्वास लेने पर ऊपर उठती रहती है।

(३६) क्षयरोग में छाती समान, लम्बी और गोल हो जाती है, तथा अंश और पार्श्वभाग का संकोच हो जाता है।

(३७) छाती के एक ओर का भाग दूसरी ओर के भाग की अपेक्षा अधिक सीधा समान या अचल हो जाने पर उसके नीचे रहे हुए फुफ्फुस में क्रिया यथोचित नहीं हो सकती।

(३८) फुफ्फुसावरण में द्रवसंचय हो जाने पर छाती की ऊपर की सतह (Surface) या पशुका का निम्नप्रदेश (Intercostal spaces) ऊपर उठ जाता है; तथा श्वासोच्छ्वास क्रिया में अन्तराय आ जाने पर पशुका का मध्य भाग भीतर खिंच जाता है।

उरःपञ्जर की आकृति सामान्यतः लम्बवर्तुल-सी होती है; पूर्व पश्चिम भाग की अपेक्षा दोनों पार्श्वभाग में अधिक अन्तर रहता है। (शिशुओं के उरःपञ्जर की आकृति लगभग वर्तुलाकार होती है)। मनुष्य की ऊँचाई पर से स्वस्थ मनुष्य के छाती के नाप का प्रायः बोध हो जाता है। ५॥ फीट ऊँचाई

के स्वस्थ मनुष्य की छाती का नाप (घेरा-परिधि) लगभग ३४-३५ इञ्च होता है; तथा दीर्घ श्वास लेने पर १॥ से २ इञ्च चढ़ जाता है। यह नाप स्तनों की आड़ी रेखा से लिया जाता है।

(३६) फुफ्फुस-शोथ, फुफ्फुसावरण-शोथ और उरःस्थान के गति तन्तुओं का वध हो जाने पर श्वासोच्छ्वास-क्रिया फुफ्फुसों के तन्तुओं द्वारा नहीं होती; परन्तु उस समय उदरगुहा (Abdominal) के तन्तुओं द्वारा दुःख पूर्वक होती रहती है।

(४०) उदरगुहा में विकार हो जाने पर उदर्य्याकला की विकृति हो जाती है, जिससे उरःपञ्जर (Thorax) ऊपर उठ जाता है; और श्वासोच्छ्वास-क्रिया जल्दी-जल्दी होती रहती है।

(४१) यकृद् वृद्धि होने पर उरःफलक के नीचे के भाग (अग्रपत्र झाइफाइड प्रोसेस Xiphoix process) की शिराएँ ऊपर उठ जाती हैं।

(४२) नाभि-प्रदेश से ऊपर उरःफलक के नीचे का सिरा (Ensiform cartilege), कमर में रहे हुए दोनों ओर के श्रोणिफलक (Hip-bone) के आगे के सिरे और श्रोणिफलक के नीचे आगे की ओर रहा हुआ भगास्थि (Pubic-bone), इन तीनों स्थानों का नाप (Measurement) लगभग समान होता है। जलोदर और उदर में आफरा लाने वाले अन्य रोगों में यह अन्तर न्यूनाधिक हो जाता है।

(४३) नाभि से दोनों स्तनों तक का अन्तर समान रहता है; परन्तु अन्त्र अव्यवस्थित होने पर नाभि टलने पर न्यूनाधिक हो जाता है।

(४४) फिरंग रोगी के होठ पर प्रायः दाग़ हो जाते हैं; नाखून दूषित हो जाते हैं; तथा विष रह जाने पर इसके सन्तानों के ऊपर के और बीच के दो कर्तनक दाँत भिन्न आकृति के प्रतीत होते हैं।

(४५) अधिक उपवास करने पर और रक्त की न्यूनता होने पर त्वचा मुरझा जाती है; तथा शुष्क खुजली होने पर त्वचा शुष्क हो जाती है।

(४६) स्त्रियों के उदर के नीचे दोनों ओर पाण्डु रेखाओं (Linea Albicantes) की प्रतीति गर्भ धारण की साक्षी देती है।

(४७) अति उपवास, अति कृशता, मस्तिष्क में क्षयप्रकोप या अर्बुद होने से उदर बैठ जाता है। इस आकृति को डाक्टरी में बोट शेप्ड (Boat shaped) अर्थात् नौका सदृश आकृति कहते हैं।

(४८) प्रसन्नता, धैर्य, शोक, चिन्ता, क्रोध, भय, द्वेष, लज्जादि भाव चेहरे पर से जाने जाते हैं; एवं वार्तालाप से अधिक निर्णय हो जाता है।

(४९) कटि शूल में रोगी प्रायः दोनों हाथ कमर पर रखकर दण्ड सम सीधा चलता है। उदर शूल में रोगी उदर को दबाकर कुबड़े के समान धीरे-धीरे चलता है। वृक्क वेदना होने पर उस ओर के कन्धे को नीचे झुकाकर चलता है। कमर और पैर के सन्धि स्थानों में मांस-क्षीणता होने पर रोगी हाथी के समान डोलता हुआ चलता है। कलायखंज और पैरों के पक्षाघात में रोगी पैरों को घसीटता हुआ चलता है। शोथ और वात विकार से पैरों के गति तन्तु विकृत होने पर रोगी पैरों को ऊँचे उठाता हुआ कष्टपूर्वक चलता है। इस तरह सुषुम्ना अर्बुदादि अनेक रोगों में रोगी की गति विचित्र-सी प्रतीत होती है।

(५०) लघुमस्तिष्क विकार होने पर रोगी नेत्र को बन्द कर खड़ा नहीं हो सकता। यदि ऐसा करने लगता है, तो वह आगे या पीछे की ओर गिर जाता है। पार्श्वशूल में रोगी पीड़ित पार्श्व की ओर झुककर और उदर शूल में आगे की ओर झुककर खड़ा होता है।

(५१) मन्यास्तम्भ में ग्रीवा सीधी और अकड़ी हुई रहती है; जिससे मस्तिष्क को इधर-उधर फिराने में कष्ट होता है।

(५२) राजयक्ष्मा रोगी को फुफ्फुसों में विवर हो जाने पर विवर का मुँह ऊपर रहे, इस तरह सोने पर वेदना का अभाव प्रतीत होता है। विवर मुख नीचे की ओर रहने से बार-बार श्वास वाहिनियों में कफ आता रहता है, जिससे खाँसी चलती रहती है; और निद्रा लेने में त्रास पहुँचता है।

(५३) शिशुओं को शीर्षाम्बु वृद्धि रोग में मस्तिष्क बहुत बड़ा हो जाता है। निर्बल बालकों में हृदय का स्पन्दन मृदु और ब्रह्मरन्ध्र भीतर की

ओर दवा हुआ होता है। ब्रह्मरन्ध उभरा हुआ हो; तो मस्तिष्क के कोष्ठों में तरल की अधिकता मानी जाती है।

(५४) शिशुओं में श्वास की गति बहुधा अनियमित रहती है, कभी कम और कभी अधिक हो जाती है। इस तरह नाड़ी भी अनियमित देखने में आती है। बालकों का ताप बड़े की अपेक्षा अधिक रहता है; किन्तु बहुत जल्दी घटता-बढ़ता रहता है।

(५५) २ वर्ष से कम आयु वाले बालकों के अस्थिमार्दव रोग में प्रायः लम्बी अस्थियाँ पहले प्रभावित हो जाती हैं; रोग प्रारम्भ होने पर इन लम्बी अस्थियों के सिर मोटे हो जाते हैं। विशेषतः पशुकाओं के सिराओं पर गोल उभार हो जाता है। इस तरह अग्रबाहु की अस्थियों में भी कलाई पर गोल उभार बन जाता है। जिससे आगे और पीछे दोनों ओर फोड़े की माला धारण करने समान भास होता है। इस हेतु से डाक्टरी में इसे रिकेटि रोझरी (Rickety rosary) संज्ञा दी है। इस स्मरणी के ऊपर उठ आने से इसके बाहर का हिस्सा गड्ढे सदृश बन जाता है; तथा उरोस्थि के नीचे के सिर के पास आड़ी एक दरार हो जाती है। इसे डाक्टरी में हॅरिसन्स सल्कस (Harrison's sulcus) कहते हैं।

(५६) गलगण्ड रोग में चुल्लिका ग्रन्थि बढ़ जाती है।

(५७) बाल्यावस्था में नासिका के पीछे होने वाली ग्रन्थि (Adenoids) और काली खाँसी के हेतु से श्वसन क्रिया में प्रतिबन्ध होने पर छाती की आकृति विकृत हो जाती है।

प्रश्न परीक्षा।

अष्टाङ्ग हृदयकार ने 'दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम्' इस वचन से इतर परीक्षा के साथ प्रश्न परीक्षा (Interrogation) को भी महत्त्व का अंग माना है। बिना प्रश्न किये अनेक बातों का बोध कदापि नहीं हो सकता। डाक्टरी में भी प्रश्न परीक्षा को विशेष महत्ता दी है। कचित् रोगी दूर देश में रहा हो, तब उसकी परीक्षा में तो प्रश्नों को ही प्राधान्य दिया जाता है।

रोग के लक्षणज्ञान से और नाड़ी आदि अष्टांग परीक्षा पर से अनेक बातें जानने में आ जाती हैं। फिर भी वंश परम्परा रोग, बालक के लिये *माता का रोग, रोगी को भूतकाल में हुए रोग, रोग के हेतु व्यवसायादि* हैं तो रोग का कारण, रोगी की मानसिक स्थिति, रोगी का आहार-विहार और व्यसनादि बातें जानने के लिये प्रश्नों की आवश्यकता रहती ही है। यदि प्रश्न न किया जाय, तो अनेक रोगों के निदान में अपूर्णता ही रह जाती है।

किन्तु रोगी को केवल आवश्यक प्रश्न ही पूछे; निरर्थक प्रश्न नहीं पूछने चाहिये। रोगी समझ सके, ऐसी सरल भाषा में ही प्रश्न पूछने चाहिये। प्रश्न भी इस तरह के हों, कि जिनके उत्तर में रोगी प्रत्युत्तर में लक्षण, उपद्रव या समयादि का वर्णन करे; केवल 'हाँ' या 'ना' कहना पड़े, ऐसे प्रश्न हो सके उतने कम करें। जैसे बद्धकोष्ठ का सन्देह होने पर मलावरोध है या नहीं ? ऐसे प्रश्न की अपेक्षा शौच कैसा आता है ? शौच कब आया था ? इस तरह के प्रश्न पूछने चाहिये। यदि कब्ज तो नहीं है ? ऐसा प्रश्न किया जायगा, तो अनेक अज्ञानी और लज्जाशील *युवतियाँ बद्धकोष्ठ होने पर भी नकारात्मक प्रत्युत्तर* दे देते हैं।

आयु सम्बन्धी प्रश्न—रोगी की आयु का दुष्टार्बुद, रक्त में श्वेताणु वृद्धि, स्त्रियों के मासिकधर्म की निवृत्ति, तुंगाक्ष गलगण्ड (Graves' disease), उपवृक्क विकार (Addison's disease), मधुमेह, अपक्रान्तिसह ऊरुस्तम्भ (Primary Spastic paraplegia) और धमनी विस्तारादि अनेक रोगों के साथ कुछ अंश में सम्बन्ध रहता है। अतः इन रोगों में आयु सम्बन्धी प्रश्न करना चाहिये।

व्यवसाय सम्बन्धी प्रश्न—व्यवसाय के बोध से अनेक बार रोग ज्ञान में सहायता मिल जाती है। जैसे छापेखाने में शीशे के अक्षरों (Types) का निरन्तर व्यवहार करने वाले कम्पोजीटरों के शरीर में उँगलियों द्वारा शीशे के विष का प्रवेश होकर नागविष रोग (Lead poisoning) की प्राप्ति हो जाने की संभावना है। रंग के कारखानों में कार्य करने वालों को रंग में रहे हुये विष से नागविष सदृश लक्षण या

उदर शूलादि रोग; कपड़े की मिल के मजदूरों को फुफ्फुस विकार और क्षय; गाँजा, चरस और अफीमादि मादक द्रव्य वेचने वालों को उनके विप का असर; तथा ऊन वेचने और बुनने वालों को घातक स्फोटक (एन्थ्रोक्स Anthrax) रोग हो जाने की अधिक संभावना है; अथवा ये व्यवसाय इन रोगों की वृद्धि में सहायता पहुँचाते हैं।

आर्थिक स्थिति—आर्थिक स्थिति प्रतिकूल होने पर मानसिक चिन्ता वनी रहती है। खान-पान अनियमित और शुष्क मिलता है। रहने के लिये अनुकूल स्थान की योजना नहीं होती, परिश्रम अधिक करना पड़ता है। विश्रान्ति कम मिलती है। इन सव प्रतिकूलता से अपचन, निर्वलता, स्मृति लोप, उन्माद, हृदय विकार, कव्ज, अग्निमान्द्य, वल-नाशादि व्याधियाँ सताने लग जाती हैं। अतः ऐसे लक्षणों की प्रतीति होने पर और उदासीनता या निस्तेजता को जानकर आर्थिक स्थिति सम्वन्धी प्रश्न पूछने चाहिये।

व्यसन और आहार-विहार—व्यसन, स्वभाव और आहार-विहारादि के प्रश्नों से कतिपय रोगों का निदान और स्वरूप निर्णीत हो जाते हैं। जैसे शराव के अति सेवन करने वालों को मदात्यय, वातरक्त, यकृद्विकार, निद्रानाश, दाह, उन्मादादि रोग हो जाते हैं। तमाखू और गाँजा के व्यसनी को श्वास, पित्त प्रकोप, अम्लपित्त, वृक्कविकार, मस्तिष्क में उष्णता, निद्रानाश और वद्धकोष्ठादि व्याधियाँ हो जाने की संभावना रहती है। अफीम के अति सेवन से नपुंसकता, मलावरोध, कृशता, तन्द्रा, निस्तेजतादि विकार सहज हो जाते हैं। तेज मिर्च, चटपटे भोजन, वार-वार भोजन और अति गर्म भोजन करते रहने से अग्निमान्द्य, अजीर्ण, मलावरोध, पित्त-प्रकोपादि हो जाते हैं। चाय-काफी के अति सेवन से निद्रानाश, अग्निमांद्य; वद्धकोष्ठ, धातुक्षीणता और कृशता आ जाती है। मिलों के पालिस किये हुये चावल का अधिक सेवन करने वालों को वेरीवेरी (Beri-Beri) रोग की प्राप्ति हो जाती है। अधिक वर्फ और आइसक्रीम के सेवन करने वालों को वातवहा नाड़ियों में विकृति और अग्निमान्द्यादि हो जाते हैं। शाक-भाजी के

अभाव से शारीरिक निर्बलता आकर अनेक रोगों की प्राप्ति हो जाती है। सगर्भा माता के स्तनपान करते रहने से बालक को पारिगर्भिक रोग हो जाता है। जिस बालक को मधुर पदार्थों का अधिक सेवन कराया जाता है, उसे कृमि रोग की प्राप्ति होती है। एवं माता के आहार-विहार से शिशु को स्तनपान द्वारा अनेक रोग हो जाते हैं।

स्थान—नगर निवासी निर्धन लोग जो अन्धकार युक्त मकानों में रहते हैं; उनको मलावरोध, विषमज्वर और राजयक्ष्मादि रोग सहज हो जाते हैं। ज्वर काल में अति तीव्र वायुवेग वाले मकानों में रहने से मुद्दती विषमज्वर बन जाता है। उष्णकाल में सूर्य के ताप से तपे हुये टीन के नीचे सतत काम करने वाले और एञ्जिन के पास कार्य करने वालों को मूर्च्छा, तीव्र ज्वर, उन्माद, ज्ञान तन्तुओं में विकृति आदि व्याधियाँ हो जाती हैं।

वंशागत रोग—अनेक रोग वंश परम्परागत आ जाते हैं; या कितनेक रोग की सहज उत्पत्ति हो सके, ऐसे निर्बल अवयवों की प्राप्ति पूर्वजों (माता-पिता) द्वारा होती है। अतः उपदंश और उसके उपद्रव रूप कुष्ठादि, सुजाक और उसके उपद्रवरूप सन्धिवातादि, सहज रक्तस्राव, अर्श, आमवात, ऊरुस्तम्भ, मधुमेह, अर्बुद, क्षय, कुष्ट, अपस्मार, उन्माद, गूंगापन, मांसशोष (Muscular Dystrophy), मांसक्षय (Muscular Atrophy) इत्यादि व्याधियों में कुल वृत्तान्त पूछना चाहिये। बालकों के अस्थिमार्दव (Rickets) रोग हो, तो माता-पिता को उपदंश रोग हुआ है या नहीं, इस बात को जानना चाहिये।

भूतकाल के रोग—उपदंश हो जाने पर उसके उपद्रव रूप पक्षाघात, कुष्ठ, गुदशूक, नाड़ीव्रण, सन्धिवातादि रोग भविष्य में हो जाते हैं। इस तरह सुजाकादि के विष से भी अनेक उपद्रव हो जाते हैं। शीतप्राधान्य विषमज्वर, काला आजारादि के पश्चात् प्लीहा वृद्धि हो जाती है। नेत्र में शीतला का व्रण होने पर नेत्रशुक्र हो जाता है। इसलिये अनेक रोगों में पूर्व वृत्तान्त जानने की आवश्यकता रहती है।

रोगों का देश सम्बन्ध—विषमज्वर, काला आजार, पीतज्वर,

शोणज्वर, श्लीपद, ग्रहणी, पेचिश, महागुदादि रोगों का सम्बन्ध देश के साथ कुछ अंश में रहता है। अतः दूर देश से आने वाले रोगियों को उपरोक्त रोगों में देश सम्बन्धी या प्रवास सम्बन्धी प्रश्न करना चाहिये।

मानसिक वृत्ति—ज्वर, हिस्टीरिया, मूर्च्छा, अतिसार, उन्मादादि रोग निर्बल मन वाले को भय लग जाने पर हो जाता है। चिन्ता से अग्निमान्द्य, अतिसार, क्षीणतादि व्याधि हो जाती हैं। माता के क्रोध से क्रोधकाल में स्तनपान करने वाले शिशु को ज्वरादि रोग हो जाते हैं। अतः ऐसे रोगों में मानसिक स्थिति और वृत्ति सम्बन्धी प्रश्न करना चाहिये।

बाल रोग—रोगी बालक है, तो माता-पिता को कोई रोग है या नहीं? बालक गर्भ में था, तब माता का स्वास्थ्य कैसा था? बच्चे का जन्म पूर्णकाल (२८० दिन) पर हुआ है या नहीं? प्रसवकाल में माता को अति कष्ट तो नहीं हुआ? प्रसूतावस्था में माता की प्रकृति स्वस्थ रही है या नहीं? माता ने बच्चे को स्तनपान कितने मास तक कराया? अनाज देने का प्रारम्भ कब से हुआ? स्तनपान के अतिरिक्त गौ या बकरी का दूध या विलायती दूध पिलाते हैं या नहीं? बच्चे को दाँत आने का प्रारम्भ कब से हुआ? बालक के और कितने भाई-बहिन हैं? कितने जीवित हैं और कितने मर गये? यदि पहले की सन्तान मर गई हो, तो किस रोग में? पहले मरी हुई सन्तानों का स्वास्थ्य कैसा रहता था?

माता रोगिणी होने से स्तनपान द्वारा बालक को वही रोग हो जाता है।

पामा, खुजली, दद्रु, कुष्ठ, व्युची आदि रोग केवल स्पर्श द्वारा बालकों को हो जाते हैं।

पिता रोगी होने से अनेक रोग भावी संतानों को हो जाते हैं। वंशागत रोग में ऊपर किया है; एवं उपोद्घात में भी विशेष वर्णन लिखा है।

अपूर्णकाल में प्रसव हो जाने से बच्चे रोगी, निर्बल और बहुधा कम आयु वाले होते हैं।

उपदंश रोगिणी माता के सन्तान बहुधा मर जाते हैं; अनेक बार गर्भस्राव या गर्भपात भी हो जाता है।

प्रसूतावस्था में ज्वर या सूतिका रोग हो जाने से शिशु भी रोगी हो जाता है।

यदि बालग्रह, उपदंश या इतर व्याधियों से अति निर्बलता रहती हो, तो दाँत देर से निकलते हैं।

माता के शरीर में अधिक उष्णता, रक्तविकार, सूतिका रोग, या हृद्-रोगादि व्याधि हो, तो बालक कमजोर रहते हैं; और अनेक छोटी आयु में मर जाते हैं।

आमाशय और अन्त्र की शक्ति बढ़े बिना अन्न खिलाने का प्रारम्भ करने से पेट बड़ा बन जाता है; और स्वास्थ्य खराब हो जाता है।

इन प्रश्नों के अतिरिक्त क्षुधा, तृषा, वमन, उद्‌गार, आध्मान, अपचन, अरुचि, शौच, कास, श्वास, कफ, उदर पीड़ा, शोथ, वृक्कदाह, मूत्रविकार, रक्तविकृति, यकृत्प्लीहा विकृति, वातिक वेदना, पित्तप्रकोप और शुक्र क्षीणतादि के सम्बन्ध में आवश्यक प्रश्न पूछना चाहिये।

क्षुधा—अनेक रोगों में क्षुधा न्यूनाधिक हो जाती है। जैसे अग्निमान्द्य, जीर्ण अजीर्ण रोग, चिरकारी आमाशय शोथ, आमाशय विस्तारादि रोगों में क्षुधा मन्द हो जाती है। आमाशय में कर्कस्फोट, ज्वरादि रोग और मानसिक चिन्ता में क्षुधा नष्ट हो जाती है; तथा मधुमेह, भस्मक, उदरकृमि, भाँगादि मादक पदार्थ का सेवन, इन कारणों से क्षुधा अति प्रदीप्त हो जाती है।

हिस्टीरिया में आमाशय स्वस्थ होने पर भी क्षुधा नाश (Anorexia nervosa) हो जाता है। इस तरह कतिपय उन्माद रोगी को भी भोजन की इच्छा नष्ट हो जाती है। क्वचित् चिरकारी आमाशय शोथज अग्निमान्द्य में और विदग्धाजीर्ण में मिथ्या क्षुधा की प्रतीति हो जाती है।

गर्भधारण, हिस्टीरिया और हलीमक रोग में मिट्टी, राख और अभक्ष्य पदार्थ खाने की वासना हो जाती है।

तृषा—कितनेक रोगों में तृषा न्यूनाधिक हो जाती है। अतः

निम्न रोगों में प्यास कितनी लगती है; यह पूछना चाहिये। पित्तप्रकोप, शुष्क या तले हुए पदार्थों का सेवन, मत्स्य भक्षण, सूर्य ताप में भ्रमण, अग्नि सेवन, अपचन, आमाशय विस्तार, विसूचिका, मधुमेह, अधिक वमन, इन हेतुओं से पिपासा बढ़ जाती है; तथा अग्निमान्द्य, आमाशय शोथ, कफ वृद्धि, शीत काल, इन हेतुओं से प्यास कम हो जाती है।

वमन—अनेक रोगों में वमन होती है; और उबाक आती है। *इनका सम्बन्ध मक्षिकादि भक्षण के अतिरिक्त कतिपय रोगों से भी रहता है।* अतः ऐसी शंका होने पर वमन कब-कब हुई? कितने समय हुई? वमन में कफ, पित्त, अन्न, रक्त, क्या-क्या पदार्थ निकलते हैं? दुर्गन्ध कैसी आती है? उबाक और बेचैनी बनी रहती है या नहीं? वमन आने के पश्चात् पीड़ा शमन हो जाती है या नहीं?

दूषित आहार से होने वाली वमन में भोजन के पदार्थ बाहर निकल जाते हैं।

आमाशय विस्तार होने पर आहार आमाशय में सड़ता है, फिर दुर्गन्ध युक्त वमन होती है।

तीव्र आमाशय शोथ और आमाशयिक व्रण होने पर, भोजन कर लेने पर तत्काल वमन हो जाती है; और वमन होने पर व्रण जनित वेदना शमन हो जाती है।

चिरकारी आमाशय शोथ से होने वाली वमन विशेषतः प्रातःकाल होती है; और उसमें कफ निकलता है।

दाहक विष, आमाशयिक व्रण और कर्कस्फोट (Cancer) से होने वाली वमन में बहुधा रक्त आ जाता है। इनमें दाहक विषजन्य वान्ति में केवल रक्त; आमाशयिक व्रण में हाइड्रोक्लोरिक एसिड बार-बार निकलना और क्वचित् रक्त अधिक परिमाण में आ जाना; तथा कर्कस्फोट की वमन में हाइड्रोक्लोरिक एसिड न होना या कम होना, वमन कम समय होना, विशेषतः वमन पिसी हुई कॉफी सदृश (Coffee grounds) होना और रक्त कम होना, ये भेद रहते हैं। इनके अतिरिक्त आन्त्रिक व्रण, यकृद्विकार, महाधमनी विस्तार, ऊर्ध्व रक्तपित्त, रक्त

विकार, रक्त में श्वेताणु वृद्धि, संयुक्त महाशिरा का अवरोध, स्त्रियों के मासिकधर्म में विकृति, चिरकारी वृक्कदाह, इन रोगों के हेतु से भी कभी-कभी रक्त की वान्ति हो जाती है।

और आमाशय विकार न होने पर भी कतिपय रोगों में वमन हो जाती है। पित्तप्राधान्य ज्वर, सगर्भावस्था, हिस्टीरिया, वातवहा नाड़ियों की विकृति जनित कितनेक रोग, शीर्षावरण शोथ; मस्तिष्क में अर्बुद, विद्रधि या चाक्षुषी नाड़ी शोथ, ग्लोकोमा (Glaucoma नेत्र पटलों में तरलाधिक्य से दबाव वृद्धि), तुण्डाक्ष गलगण्ड; उदर्य्याकला, अग्न्याशय या वृक्कस्थान में शोथ हो जाना, विसूचिका, अन्त्र शोथ, तीव्र कास, काली खाँसी, तीव्र शिरदर्द, उदर रोग, रक्त में मूत्रविषवृद्धि, कामला, उपवृक्कशोथ तथा उदर, पित्ताशय या वृक्क स्थान में तीव्र शूलादि रोगों में बिना उत्क्लेश वमन होती रहती है।

उद्गार—अनेक रोगों में वार-वार डकार (Eructations) आती रहती हैं। आमाशय के अधःपतन और अम्लपित्त में कड़वी और खट्टी डकार आती है। अपचन होने पर दुर्गन्धयुक्त भोजन की ही डकार आती है। वातपित्त प्रकोप होने पर वारवार दुर्गन्धरहित डकार आती रहती है। आमाशय शिथिल हो जाने से भोजन का परिपाक न हो, तब तक दुर्गन्धयुक्त; फिर दुर्गन्ध रहित डकार आती रहती है। अतः इन रोगों में उद्गार आती है या नहीं? उद्गार कैसी और कितनी वार आती है? ये प्रश्न पूछने चाहिये।

आध्मान—आमाशय, अन्त्र या उदर्य्याकला में वायु भर जाने से आफरा आ जाता है। आमाशय और अन्त्र में वायु भर जाने को डाक्टरी में (टिम्पनाइटिस Tympanites) कहते हैं। अजीर्ण, अन्त्र-शक्ति क्षय (Atony), चिरकारी आमाशय शोथ, आमाशय विस्तार, आमाशय का अधःपतन, मलनिग्रहज उदावर्त, हिस्टीरिया, उदर्य्याकला का क्षयज दाह, मिथ्या अर्बुद (Phantom Tumour), बद्ध गुदोदर, अन्त्रभेद और वातप्रकोपादि कारणों से आमाशय या अन्त्र में वायु भर कर आफरा आ जाता है। इनके अतिरिक्त गर्भधारण की इच्छा

जिसकी निष्फल गई हो, ऐसी स्त्री को भी कभी आफरा आ जाता है।

अन्त्रभेद या अन्त्रक्षत होने पर उदर्य्याकला में वायु भर जाता है; तथा आमाशय व्रण, आन्त्रिक ज्वर और आघातज सद्योव्रण से भी क्वचित् उदर्य्याकला में आफरा आ जाता है। इस हेतु से इन रोगों में आफरा आता है या नहीं ? यह पूँछ लेना चाहिये।

अरुचि—आमाशय विकृति होने पर प्रायः अरुचि हो जाती है। कफाधिक्य होने पर मुँह में कफलिप्तता प्रतीत होती है। पित्त तीव्र होने पर प्रातःकाल मुँह कड़वा रहता है। इसका विशेष विवेचन अरुचि रोग में किया जायगा।

आमाशयिक वेदना—अनेक रोगों के हेतु से आमाशय में वेदना होने लगती है; इस वेदना के निर्णयार्थ अनेक प्रश्न किये जाते हैं। भोजन से पीड़ा बढ़ती है या नहीं ? भोजन के कितनी देर पश्चात् पीड़ा हुई ? भोजन करने से पहले पीड़ा थी ? किस प्रकार के भोजन से पीड़ा बढ़ती है ?

आमाशय दोष से होने वाली पीड़ा कौड़ीप्रदेश या पीठ की ओर दोनों स्कन्धों के कुछ नीचे प्रतीत होती है। चिरकारी आमाशय शोथ और अग्निमान्द्य होने पर आमाशय में भारीपन मालूम पड़ता है। तीव्र आमाशय शोथ से भोजन कर लेने पर तुरन्त पीड़ा होने लगती है। वात-पित्त प्रकोपजन्य अग्निमान्द्य में भोजन के एक घण्टे पश्चात् भारीपन आ जाता है। चिरकारी आमाशय शोथ में वमन के साथ कफ निकलता है।

अम्लपित्त रोग से आमाशय में दाह होता रहता है; तथा खट्टी, कड़वी और गरम वमन होती रहती है।

आमाशयिक व्रण में व्रण समान असह्य पीड़ा होती है; और भोजन के पश्चात् तत्काल या १-२ घण्टे में वमन होकर पीड़ा शान्त हो जाती है। यदि पक्वाशय में व्रण हो; तो भोजन के ३ घण्टे बाद आमाशय में वेदना होने लगती है; और दीर्घकाल तक बनी रहती है।

आमाशय की दौर्बल्यता से होने वाले अजीर्ण में भोजन कर लेने पर तुरन्त दर्द होने लगता है।

आमाशयिक कर्कस्फोट और आमाशयिक वातवहा नाड़ियों की विकृतिजन्य आमाशय शूल में भोजन के साथ सम्बन्ध नहीं रहता। कर्कस्फोट में दर्द भयंकर होता है। आमाशयिक वातिकशूल में नाड़ियें खिचने सदृश वेदना होती है। इसी तरह आमाशय अधोद्वार के संकोच से भी वैसी ही तीव्र वेदना होती है। वातवहा नाड़ियों की विकृतिजन्य पीड़ा उदर दबाने पर शमन हो जाती है।

पाण्डुरोगी और चंचल मन वाली स्त्रियों को संवेदक वातवहा नाड़ियों की विकृति से होने वाला आमाशय शूल (Gastralgia) में कौड़ी प्रदेश में तीव्र वेदना होती है। इसकी गति पीठ की ओर होती है। इस रोग में सहसा वमन नहीं होती।

अधिक आमाशय रसस्राव (Gastroxia) में खाली उदर होने पर रात्रि के समय आवेग होता है। इस रोग में तीव्र शूल और अम्ल वमन होती है। आमाशयिक रसस्राव अधिक होने पर कुछ खा लेने से उदर पीड़ा शमन हो जाती है; किन्तु फेनीभवनजन्य वेदना खाने पर शमन नहीं होती।

अम्लपित्त प्राधान्य अन्नद्रव शूल में चावलादि खट्टे विपाक वाले भोजन से वेदना बढ़ जाती है।

बद्धकोष्ठ—बद्धकोष्ट से अनेक रोगों की उत्पत्ति या वृद्धि होती है; इस हेतु से शौचशुद्धि विषयक प्रश्न पूछने चाहिये। मलावरोध है तो कब से है ? मल दुर्गन्ध रहित आता है या नहीं ? मल गोल, चपटा, पतला, शुष्क, पीला, सफेद, काला या कैसा आता है ? एक दिन में कितनी वार शौच होता है ? पूर्ण शुद्धि होती है या मलाशय में भारीपना रह जाता है ? अधोवायु सरती है या नहीं ? मल में कृमि, रक्त, आम या कफ है या नहीं ? गुदभ्रंश या अर्शरोग है या नहीं ? गुदा में दाह होता है या नहीं ? गुदा पर खुजली आती है या नहीं ? मल त्याग में जोर से प्रवाहण करना पड़ता है या नहीं ? मलावरोध का सविस्तर विवेचन आगे बद्धकोष्ट रोग में किया जायगा।

मलाशय के स्रोत संकोच होने पर मल चपटा निकलता है।

व्रण होने पर मल के साथ रक्त और पूय जाते हैं।

गुदा पर व्युची, कण्डू, गुदभेद, गुदनलिका विकृति, गर्भाशय में रक्ताधिक्य, अष्ठीलावृद्धि, वस्तिवृद्धि, वस्तिस्थ अर्बुद, अश्मरी, भगन्दर, विद्रधि, मस्तिष्कस्थ दुर्बलता, भय और शोकादि हेतु से रोगी को जोर से प्रवाहण करना पड़ता है।

व्रण, रक्तपित्त, अर्शादि अनेक रोगों में मल के साथ रक्त आता है, उसका वर्णन मल परीक्षा में किया गया है।

उपदंश, कर्कस्फोट, प्रवाहिका, आन्त्रिक ज्वर, आन्त्रिक क्षय, इन रोगों से अन्त्र में कोथ होकर मल में दुर्गन्ध आने लगती है। मांस-भक्षण, अधिक दाल खाना, अथवा मेगनेशिया सल्फास या इतर कितनीक औषधि कम मात्रा में लेने से उदर में दुर्गन्ध हो जाती है।

पाचक रस योग्य परिमाण में न मिलने से मल में सूक्ष्म कृमि की उत्पत्ति हो जाती है; तथा भोजन में पित्त कम परिमाण में मिलने पर कोष्ठ में दुर्गन्ध उत्पन्न होती है।

बड़ी आंत में शोषण क्रिया सम्यक् न होने से या पित्त अत्यधिक मिलने से मल पीला और पतला हो जाता है; कम पित्त मिलने से मल का रंग सफेद होता है; तथा मल का अवरोध होने पर रंग काला-सा हो जाता है।

अतिसार—यदि शौच पतला है, तो कब से है? दिन में कितनी बार शौच होता है? मल का रंग कैसा है? मल झाग, रक्त या आम मिश्रित है या नहीं? मल कच्चा है या नहीं? मल में दुर्गन्ध आती है या नहीं? शौच के समय उदर में मरोड़ी (पेचिश) आती है या नहीं?

मल में श्वेत रंग के झाग होने पर संग्रहणी (Sprue) होने का अनुमान होता है।

मल कच्चा होने पर जल में डूब जाता है। कच्चा मल हो, तब तक मल को रोकने वाली अफीमादि औषधि नहीं देनी चाहिये।

प्रवाहिका में शौच होने से पहले उदर में पीड़ा होती है; तथा मल

त्याग होने पर शमन हो जाती है। किन्तु आमातिसार में उदर पीड़ा शौच हो जाने पर भी बनी रहती है।

उदर पीड़ा—उदर पीड़ा होती है, तो कैसी है, तीव्र या मन्द? किस स्थान से आरम्भ होकर कहाँ जाती है? वेदना कब से हुई? पीड़ा अकस्मात् तीव्र हो गई है या शनैः-शनैः बढ़ी है? इसके पहले कैसी वेदना हुई थी? कितने-कितने समय तक यह पीड़ा पहले रही थी? इस उदर पीड़ा के साथ ताप आता है या नहीं?

पित्ताशय, अन्त्र और वृक्कस्थान, इनके शूल अकस्मात् चलने लग जाते हैं; इन रोगों में वेदना तीव्र होती है; और बार-बार कुछ-कुछ दिनों के पश्चात् वेग उत्पन्न होता रहता है।

उपान्त्र शोथ (Appendicitis) जनित पीड़ा दक्षिण श्रोणिप्रदेश में होती है। इसका प्रारम्भ अकस्मात् होकर आमाशय में से दक्षिण श्रोणि भाग तक गति करके वहाँ स्थिर हो जाती है। इस पीड़ा से ताप भी आ जाता है; और वमन भी हो जाती है।

चलवृक्क (Floating kidney) और उदरस्थ वातवहा नाड़ियों में विकृति होने पर अकस्मात् तीव्र पीड़ा होने लगती है।

उदरस्थ अंगों का फट जाना, तीव्र उदर्य्याकला का दाह (Acute peritonitis), बद्ध गुदोदर, गर्भ धारण हो जाने के पश्चात् गर्भाशय का अर्बुदादि कारण से स्थान भ्रष्ट हो जाना, उदर्य्याकला की धमनी में अवरोध, आशुकारी अग्न्याशय का दाह-शोथ, उपवृक्कशोथ, इन कारणों से उदर पीड़ा अकस्मात् हो जाती है; किन्तु शरीर में उष्णता की वृद्धि नहीं होती।

कफ विकार—अनेक हेतुओं से कफधातु में विकृति होकर कास या श्वास हो जाते हैं। ये रोग स्वतन्त्र रूप से एवं गौण रूप से भी होते हैं। कास है, तो शुष्क या श्लेष्मयुक्त? कफ थोड़ा है या अधिक? कफ पतला झागदार, सफेद, पीला, हरा-पीला, दुर्गन्धयुक्त या दुर्गन्ध रहित, कैसा है? कास रात्रि को अधिक आती है या दिन में? कास के हेतु से वमन हो जाती है या नहीं? वक्षस्थान में पीड़ा होती है या नहीं? रात्रि को शीतल स्वेद आता है या नहीं?

राजयक्ष्मा में कफ बताशे सदृश गोल, पीला और दुर्गन्धयुक्त होता है।

शुष्क वातिक कास से कण्ठ में रही हुई घण्टिका दूषित हो जाती है; फिर कास रात्रि को सोने के समय अधिक त्रास देती है।

काली खाँसी में बहुधा वमन भी हो जाती है।

सामान्य नयी कास में श्वेत कफ, जीर्ण कास होने पर पीले कफ और न्यूमोनिया में रक्त मिश्रित कफ गिरते हैं।

राजयक्ष्मा, हृदय के द्विपत्रकपाट का अवरोध, फुफ्फुस विद्रधि; श्वासनलिका विस्तार, कृमि प्रकोप, स्वरयन्त्र में व्रण या अर्बुद फट जाना, मसूढ़े पक जाना, ऊर्ध्व रक्तपित्त, रक्तविकार, स्त्रियों के मासिकधर्म में विकृति, फुफ्फुसों की रक्त वाहिनियों का अवरोध, इन कारणों से थूक में रक्त आने लगता है।

फुफ्फुसावरण प्रदाह होने पर तोड़ने समान तीव्र पीड़ा होती है; किन्तु न्यूमोनिया में खिंचने सदृश वेदना होती है। फुफ्फुसस्थ धमनियों का अवरोध होने पर अकस्मात् सुई चुभाने समान पीड़ा होने लगती है; और रक्तवमन भी हो जाती है। वक्षस्थान में अर्बुद होने पर वेदना कुछ अंश में निरन्तर बनी रहती है।

श्वास और राजयक्ष्मा रोग से वंश परम्परा फुफ्फुसों में दुर्बलता आ जाती है। राजयक्ष्मा में रात्रि को शीतल स्वेद आता है; और दिन-प्रति दिन निर्बलता बढ़ती जाती है।

शोथ—शोथ होने का हेतु वातज, पित्तज और कफज में क्रमशः हृदय, यकृत् और वृक्कस्थान की प्रायः विकृति होती है। अतः इस विषय में प्रश्न पूछने चाहिये। रोगी को पहले पाण्डुसह ज्वर, उपदंश, शीशा विषप्रकोप, चिरकाल तक पूयोपस्थिति या वृक्कस्थान में अश्मरी रोग तो नहीं हुए? शिरदर्द, वमन, तन्द्रा, संन्यास, पक्षाघात, वात-प्रकोप, दृष्टिमान्द्य और श्वासादि विकारों में से कोई है या नहीं? शोथ होने पर पहले उपत्वचा (Subcutaneous tissue) में, और फिर रसत्वचा (Serous membranes) में द्रव संचय होता है। इस हेतु से सर्वाङ्ग में शोथ प्रतीत होता है।

हृदय विकार से होने वाला शोथ पैरों से ऊपर चढ़ता है; दिन में अधिक रहता है; और रात्रि को आराम मिल जाने से कम हो जाता है। इस तरह प्रारम्भ में वृद्धि-ह्रास होते रहते हैं। हृदय विकृति से अन्न रसवाहिनी का निरोध होकर (शोथ के पश्चात्) जलोदर भी हो जाता है।

यकृद् विकारज शोथ में पहले जलोदर होता है, फिर पैरों से शोथ ऊपर चढ़ता है।

चिरकारी वृक्कदाह होने पर मूत्र मार्ग से विषसह द्रवांश उचित परिमाण में बाहर नहीं निकल सकता। इस कफज शोथ में मूत्र का परिमाण न्यून हो जाता है। इस हेतु से मुँह और हाथ-पैर पर शोथ एकसाथ आने लगता है। चावल और अम्ल पदार्थ खाने से शोथ जल्दी बढ़ता है।

पाण्डु रोग होने पर भी वृक्क विकार सदृश सर्वाङ्गशोथ आ जाता है; किन्तु कम आता है।

वृक्कशूल—वृक्कशूल होने पर प्रश्न पूछना चाहिये कि, किस ओर के वृक्क में पीड़ा होती है ? मूत्र कैसा और कितना होता है ? भूतकाल में वृक्कशूल का वेग आया था या नहीं ? पहले कितनी समय तक शूल रहता था ? शूल चलने पर वमन होती है या नहीं ?

वृक्कस्थान में बारबार कुछ-कुछ दिनों पर अश्मरीकण आ जाने से दौरा होता रहता है। जब कंकड़ी वृक्क में से गविनी में होकर मूत्राशय में चली जाती है; तब शूल शमन हो जाता है। शूल रहे तब तक बार-बार पित्त की खट्टी वमन होती रहती है। वृक्कशूल में पीड़ा बहुधा कुक्षि में पीठ पर पसलियों के नीचे और कचित् आगे नाभि के पास भी होती रहती है। यह दर्द अण्डकोष की ओर गति करता हो, ऐसा भास होता है।

मूत्रविकार—मूत्र में विकृति है, तो मूत्र का वर्ण कैसा है ? मूत्र स्वच्छ है या गँदला ? मूत्र में रक्त आता है या नहीं ? मूत्रत्याग काल में जलन या पीड़ा होती है ? मूत्र में सफेद क्षार, चिकना द्रव या पीप या दुर्गन्धादि है या नहीं ?

प्रमेह रोगी के मूत्र में क्षार, मेद, रक्त, चिकना द्रव, या वसादि पदार्थ जाते हैं। इन सबका विशेष विवेचन प्रमेह रोग में किया जायगा।

पूयप्रमेह (सुजाक) में पेशाब करने के समय भयंकर आग होती है; और पीप जाता है। मूत्र मार्गावरोध, मूत्राशय में अश्मरी, पौरुष-ग्रन्थि की वृद्धि, मूत्राशय शोथ, इन हेतुओं से पेशाब करते समय पीड़ा होती है।

वृक्काश्मरी, वृक्कविद्रधि, मूत्राशय में व्रण और सुजाक होने पर मूत्र में पूय आता रहता है।

हृदयविकार—हृदय क्रिया में विकृति प्रतीत होती है, तो रोगी को पूछना चाहिये कि, माता-पिता को पहले आमवात, वातरक्त, हृदय शूल या इतर हृदय व्याधि हुई थी? रोगी को पहले आमवात, कण्ठ-रोहिणी या ज्वरसह पाण्डुरोग पहले हुआ था? रोगी को बैठने से आराम प्रतीत होता है? श्वास प्रकोप है या नहीं? हृदय में शूल, भारीपना, स्पन्दनों की अतिवृद्धि, व्याकुलता या इतर पीड़ा होती है या नहीं? भोजन पश्चात् या थोड़े से श्रम से स्पन्दन बढ़ जाते हैं? निद्रा कैसी आती है? भयप्रद स्वप्न आते हैं या नहीं? चक्कर आता है या नहीं? हाथ-पैर पर शोथ आ जाती है या नहीं? मुँह या नाक से रक्त-स्राव होता है या नहीं? शुष्क कास है? स्त्री रोगी है, तो मासिकधर्म में रक्तस्राव कितना, कब और कैसा होता है? रक्तविकार है या नहीं?

आमवात, पाण्डु और कण्ठरोहिणी रोग से हृदय यन्त्र में विकृति हो जाती है।

हृद्रोग में थोड़े श्रम से स्पन्दन वृद्धि और श्वास वेग वृद्धि हो जाती है। इस तरह आमाशय में बोझा बढ़ जाने पर भी स्पन्दन का वेग बढ़ जाता है।

हृदय विकार वाले को थोड़ा मानसिक या शारीरिक श्रम पहुँचने पर बहुधा चक्कर आ जाता है; और शुष्क कास भी हो जाती है। रक्त विकार से भी चक्कर आना, श्वास और हाथ-पैरों पर शोथ आ जाता है।

शोशा का विष प्रभाव, विषमज्वर और उदरकृमि से तीव्र मारक पाण्डुरोग (Pernicious Anaemia) हो जाता है।

हृत्स्पन्दन वृद्धि हो जाने पर निद्रा अकस्मात् भंग हो जाती है। रक्त में उष्णता वृद्धि या स्पन्दन अति तेज हो, तो निद्रा अच्छी नहीं आती। निद्रा आने पर जल्दी टूट जाती है। अनेक हृदय-विकार में भयप्रद स्वप्न आते रहते हैं।

वात संस्थान विकार—यदि संवेदक तन्तु, गति तन्तु या इनके केन्द्र स्थानों में विकृति प्रतीत होती हो; तो प्रश्न पूछना चाहिये, कि रोगी के कुटुम्ब में और किसी को उन्माद, अपस्मार, पक्षाघात, मूकत्व, वाग्वध, सर्वांगवात, मस्तिष्क दौर्बल्यता (न्यूरसथेनिया Neurasthenia) या इतर वात संस्थान सम्बन्धी रोग हुए हैं? रोगी को सीसा, संखिया या रसकपूरादि विष दिया गया है? रोगी इन विषों का व्यवसाय करते हैं? रोगी को उपदंश रोग हुआ है? मद्यपान, गांजा या चरसादि का सेवन करते हैं? कान में से पूयस्राव होता है?

अपस्मारादि रोग हैं, तो कब से हुए हैं? रोग का आक्रमण कितने-कितने काल पीछे होता रहता है? निद्रा में आक्रमण होता है? रोगी को रोग प्रारम्भ के पहले चेतावनी मिलती है या नहीं? वेगकाल में मलमूत्र त्याग हो जाते हैं? वेग के शमन होने पर शिरदर्द, निद्रा या उन्माद के लक्षणों में से कौनसा होता है? वेगकाल में ज्ञान रहता है?

अनेक मानसिक रोग कुल परम्परा-प्राप्त होते हैं। विष व्यवसाय वालों को कुछ-न-कुछ विष का असर होता रहता है। उपदंश और शराब सेवन से वातवहा नाड़ियों में विकृति हो जाती है। इस तरह गांजा या चरस का अधिक सेवन करते रहने से उन्माद रोग हो जाता है।

मस्तिष्क में विद्रधि होने पर कान से पीप झरता रहता है।

अपस्मार रोग स्त्री-पुरुष सबको बहुधा छोटी आयु से हो जाता है। हिस्टीरिया विशेषतः स्त्रियों को ही होता है। लगभग १२-१४ वर्ष की आयु के पश्चात् प्रारम्भ होता है। अपस्मार में चेतावनी मिलती है। किन्तु रोगी तुरन्त गिर जाते हैं; सम्हल नहीं सकते। निद्रा काल में भी अपस्मार का दौरा हो जाता है। कभी दाँतों के नीचे जिह्वा आ जाने

से कट जाती है। कभी मल-मूत्र वेहोशी में निकल जाते हैं; रोग काल में कुछ भी भान नहीं रहता; और वेग शमन होने पर निद्रा आ जाती है, या शिरदर्द हो जाता है।

हिस्टीरिया का प्रारम्भ मानसिक उद्वेग से होता है। इसके वेगकाल में कुछ संज्ञा रहती है; कण्ठ में वायु का गोला आ जाने से रोगिणी अचेत-सी हो जाती है; तथा वेग शमन होने पर हंसना, रोना या उन्मत्त-सा वर्ताव प्रतीत होता है।

रक्तभाराधिक्य—रक्तभार वढ़ता है; ऐसा सन्देह होने पर रोगी को पूछना चाहिये, कि उसे शिरदर्द, वमन, भ्रम, व्याकुलतादि लक्षण होते हैं या नहीं? वृक्कविकार, उपदंश या हृद्रोग तो नहीं हुआ? मल शुद्धि नियमित होती है?

रक्तभार वढ़ने के पहले शिरदर्द, वमन, भ्रम, व्याकुलतादि पूर्वरूप होते हैं। वहुधा मल शुद्धि नहीं होती। वृक्कविकार, उपदंश या हृदय-विकृति होकर धमनीकोपकाठिन्य हो जाने के पश्चात् रक्तभाराधिक्य हो जाता है।

पित्तप्रकोप—पित्तप्रकोप होने पर प्रस्वेदवृद्धि, निद्रानाश, अधिक तृषा, मुखपाक, दाह, खट्टी वमन, शिरदर्द, नेत्र में लाली, क्रोध की उत्पत्ति, मलमूत्र में पीलापनादि लक्षण होते हैं। अतः पित्तप्रकोप का संशय होने पर इन लक्षणों में से कौन-कौन हैं, इस वात को जानने के लिये प्रश्न करना चाहिये।

शुक्रक्षीणता—शुक्रक्षीणता होने पर निद्रावृद्धि, तन्द्रा, अग्निमान्द्य, हतोत्साह, व्याकुलता, निस्तेजता, दृष्टिमान्द्य, स्मरणशक्ति की न्यूनता और मानसिक अस्थिरतादि लक्षण हो जाते हैं। अतः शुक्रक्षीणता की शंका होने पर इन लक्षणों को देखना चाहिये; और इसका कारण जानने के लिये प्रश्न करने चाहिये। अति स्त्री-सहवास, प्रमेह, हस्तमैथुन, स्वप्नदोष, तीव्र संक्रामक ज्वर, विष प्रयोग, अम्ल और उष्ण पदार्थों का अति सेवन, प्रतिकूल आहार-विहार और मानसिक चिन्तादि अनेक कारणों में से किस हेतु से रोगोत्पत्ति हुई, यह प्रश्नों द्वारा निर्णय करना चाहिये।

औषधि सेवन—रोग निर्णय और निदान का निश्चय होने पर पूछना चाहिये, कि अभी तक किस-किस औषधि का किस-किस प्रकार से सेवन किया गया ? पहले सेवन की हुई औषधियों का क्या असर हुआ ? औषधि और पथ्य का श्रद्धासह दृढ़ पालन हुआ है या नहीं ?

जो औषधि पहले दी गई हो, इनमें से जो अनुकूल न रही हो, उसके हेतु का विचार द्वारा अनुमान कर, औषधि देनी चाहिये। पहले वाली औषधि का विष प्रभाव देह में रहा हो; तो विष को निर्मूल करने के साथ रोग को शमन करे, ऐसी औषधि देनी चाहिये। पहले दी हुई औषधि से लड़ाई कर, देह को हानि पहुँचाने वाली औषधि न दी जाय, इस बात का सँभाल रखना चाहिये। कचित् औषधि रोग में लाभदायक होने पर भी पहले वाली औषधि के विष प्रभाव, तीव्र रोगबल, या अधिक मात्रा के हेतु से विरुद्ध असर पहुँचाकर रोगी को व्याकुल कर देती है। ऐसे समय सत्य कारण जानकर अनुकूल प्रयत्न करना चाहिये।

स्वप्न परीक्षा।

स्वप्न पर से अनेक बार रोग होने की चेतावनी, रोग का स्वरूप, भावी आपत्ति और मृत्यु की सूचना मिल जाती है। स्वप्न में २ प्रकार हैं। सत्य फलदायी और मिथ्या। सत्य फल देने वालों में भी दिन के स्वप्न और प्रथम रात्रि के स्वप्न भावी लाभ-हानिरूप फल अल्प देते हैं; और रात्रि के अन्त भाग में आये हुये स्वप्न में सत्यता अधिक होती है। जिसको पहले अशुभ स्वप्न आकर फिर शुभ स्वप्न की प्राप्ति होती है; वह शुभ फल ही पाता है।

(१) स्वप्न में यदि भोजन किया जाता है; तो समझना चाहिये, कि पचन क्रिया अशक्त हो जाने से अपचन हो गया है। अतः दूसरे दिन लङ्घन करना चाहिये।

(२) वस्ति मूत्रपूर्ण होने पर या रक्त में विषवृद्धि होने पर नदी, तालावादि जलाशय दीखना, जलक्रीड़ा करना, जल में डूबनादि जल सम्बन्धी स्वप्न आते हैं।

(३) मिर्चादि अधिक चरपरे भोजन, पित्तप्रकोप और क्षयरोग में अग्नि की प्रतीति होती है।

(४) वातवहा नाड़ियों में विकृति होने पर पक्षी की तरह उड़कर आकाश मार्ग से गमन करने के स्वप्न बार-बार आते रहते हैं।

(५) मानसिक विकार या अधिक मानसिक परिश्रम होने पर व्यवहारिक नाना प्रकार के व्यर्थ असम्बद्ध स्वप्न में ही निद्रा की समाप्ति हो जाती है।

(६) मानसिक पापवृत्ति का परिपाक होने पर स्वप्न में नाना प्रकार के कष्ट का अनुभव होता रहता है; और पुण्य संस्कार फलोन्मुख होने पर विविध सुख-सन्तोष देने वाले स्वप्न आते रहते हैं।

(७) हृदय की निर्बलता, मानसिक बलक्षय और महापाप होने पर बार-बार भयप्रद स्वप्न आते रहते हैं। कचित् पूज्यों का अपमान, गरीबों की हाय, दुष्ट अन्न का सेवन या दुष्ट कार्य में प्रवृत्ति का विचार होने पर भी भयप्रद स्वप्न आ जाता है।

(८) रोगी को बार-बार यमराज, देवदूत, स्वर्ग-नरकादि स्थान, अपनी मृत्यु या अमुक सम्बन्धी की मृत्यु हो गई है, ऐसा स्वप्न में बोध होने पर भी उनसे वार्तालाप होना या इतर भावी भय सूचक स्वप्न आते रहते हों, उस रोगी का रोग असाध्य माना जाता है; या मृत्युकाल को समीप समझना चाहिये।

(९) क्षय रोगी यदि स्वप्न में ऊँट, कुत्ते या गधे पर बैठ कर दक्षिण दिशा में गमन करता है; तो वह थोड़े ही दिनों में यमराज के गृह का अतिथि बन जाता है।

(१०) स्वप्न में जो प्रेतों के साथ शराब पीता है; और जिसको कुत्ते घसीटते हैं, वह थोड़े ही दिनों में घोर ज्वर की पीड़ा से ग्रसित होकर मर जायगा।

(११) स्वप्न में जो आकाश को अपने समीप में लाक्षा के वर्ण सदृश रक्त देखता है, वह रक्तपित्त व्याधि से पीड़ित होकर अपनी जीवन-यात्रा को समाप्त कर देता है।

इस तरह के दुष्ट या सूचना करने वाले स्वप्नों पर से विचार कर भावी आपत्तियों से संरक्षण करने के लिये प्रयत्न या प्रबन्ध करना चाहिये। जैसे स्वप्न में भोजन करने पर दूसरे दिन लङ्घन करना चाहिये। मानसिक विकृति जन्य असम्बद्ध क्रिया विषयक स्वप्न आने पर मन-बुद्धि पर से बोझा कम करके विश्रान्ति लेना चाहिये। इस तरह मृत्यु सूचक या व्याधि सूचक स्वप्न आने पर मंगल मन्त्रों का जप करें या करावें; भावी भय की सूचना मिले, तो अनुचित प्रवृत्ति को छोड़ दें; और धर्मशास्त्र कथित इतर पुण्यकर्म करें। रोग सूचक स्वप्न आने पर अपथ्य आहार-विहार का त्याग कर, हितकर औषधि का सेवन करना चाहिये।

अनुमान परीक्षा।

उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त देश, काल, रोग संप्राप्ति, रोग का हेतु, उपद्रव, रोग की गति, रोग का बल, रोगी की जठराग्नि, शारीरिक बल, मानसिक शक्ति, आहार, सात्म्य, रोग बढ़ने-घटने का समय, वंशागत रोग, बालक के लिये माता को रोग है या नहीं? स्त्री रोगी हो, तो सगर्भा है या नहीं? अधोवायु और मल-मूत्रावरोध है या नहीं? मासिकधर्म के रक्त की प्रवृत्ति यथा समय यथोचित होती है या नहीं? गर्भाशय में कष्ट होता है या नहीं? पहले उपदंश-सुजाकादि रोग हुए थे या नहीं? औषधि कौन-कौनसी सेवन की है? इत्यादि आवश्यक बातों की शास्त्र परीक्षा, प्रत्यक्ष परीक्षा, प्रश्न परीक्षादि पर से जो नहीं जाना गया हो; उन बातों का अनुमान द्वारा ही निर्णय किया जाता है। जब परीक्षा के साधनों से भी किसी समय रोग निर्णय न हो सके, तब रोग विनिश्चयार्थ चिकित्सोपयोगी कोई औषधि दी जाती है। फिर औषधि प्रभाव या परिणाम पर से रोगविनिर्णय किया जाता है। ऐसे प्रयोग को डाक्टरी में थिर्याप्युटिक टेस्ट (Therapeutic test) कहते हैं।

बालक, अज्ञानी; सन्निपात, हिस्टीरिया, मूर्च्छावस्था और उन्माद रोग से पीड़ितों के लिये निदान और उपचार में अनुमान का अधिक

आधार लेना पड़ता है। जब अपथ्य सेवन करने पर भी रोगी मिथ्या कहते हैं, तब अनुमान से ही निर्णय करना पड़ता है।

कालज्ञान।

जैसे धुँआ देखने पर अग्नि का बोध और बदल देखकर वर्षा होने का बोध होता है; वैसे कितनेक शारीरिक और मानसिक विशेष लक्षणों पर से मरणकाल का ज्ञान होता है।

(१) भरणी और मघा नक्षत्र में तीक्ष्ण संक्रामक रोग होने पर रोगी की मृत्यु हो जाती है। इस तरह सोमवार और पंचमी, गुरुवार और द्वितीया, शुक्रवार और चतुर्थी, इन दिनों में रोगोत्पत्ति होने पर रोग रोगी को मार डालता है।

(२) दुष्ट वार में ७ दिन, दुष्ट योग में २१ दिवस तथा दुष्ट तिथि और नक्षत्र योग में १ मास पीड़ा भोगनी पड़ती है। यदि तीव्र संक्रामक या संसर्गज ज्वरादि रोगों की उत्पत्ति में वार, तिथि, नक्षत्रयोग, ये सब दुष्ट मिल गये हों; तो रोगी की मृत्यु ही समझनी चाहिये।

(३) कृतिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, अनुराधा, शततारका और रेवती नक्षत्रों में व्याधि आने पर ३ से १० दिन तक पीड़ा रहती है। चित्रा, विशाखा, ज्येष्ठा, उत्तराषाढा, धनिष्ठा और पूर्वा भाद्रपदा नक्षत्रों में रोग होने पर १५ से २० दिन तक दुःख भोगना पड़ता है। पूर्वा फाल्गुनी, उत्तरा फाल्गुनी, स्वाती, मूल, पूर्वाषाढा और श्रवण नक्षत्रों में रोगोत्पत्ति होने पर १-२ मास या दीर्घकाल तक बीमारी बनी रहती है।

(४) जिस मनुष्य को घृत-तैलादि स्निग्ध पदार्थ लगाये बिना बाल और त्वचा तेजस्वी स्निग्ध प्रतीत हो; नेत्र चंचल, स्तब्ध, संकोचित, खड्डे में गिरे हुए या विकृत हो गये हों; भ्रू संकोचित हो गई हो; नेत्र के बाल गिर गये हों; तथा नासिका बड़ी, संकोचित, टेढ़ी, मुड़ी हुई, फूली हुई या इतर विकार युक्त हो गई हो, वह एक वर्ष के भीतर चला जायगा।

(५) स्त्री-समागम करने से वीर्यस्राव का समय होने पर जिसे पेशाब करने का वेग उत्पन्न हो जाता है, वह १ वर्ष के भीतर यमराज के यहाँ चला जाता है। इस तरह जिसके मल, मूत्र और अधोवायु, तीनों एक साथ निकलते रहते हों, वह एक वर्ष में मृत्यु की शरण ले लेता है।

(६) नेत्र नीरोगी होने पर जिसको अपना नाक नहीं दीखता; और नेत्र के समीप बाल सदृश या भ्रमर आने समान भास होता रहता है, उसकी ६ मास में मृत्यु हो जाती है।

(७) जिसके आचार-विचार में अकस्मात् विपरीतता आ जाती है; या स्मरणशक्ति, ज्ञान और क्रिया नष्ट हो जाते हैं, वह ६ मास जीवित नहीं रहता।

(८) जिसका स्वर बाँये नासापुट में से अहोरात्र सतत १ मास पर्यंत चलता रहा हो या दिन में सूर्य स्वर (दक्षिण नासापुट से श्वासोच्छ्वास होना) और रात्रि को चन्द्र स्वर चलता रहे, वह ६ मास में चला जाता है। एवं सतत अहोरात्र दक्षिण स्वर ही चलता रहे, तो १५ दिन में जीवन-यात्रा समाप्त हो जाती है।

(९) जिसका नासाग्र भाग मुड़ जाता है और कर्ण गिर जाते हैं, वह थोड़े ही दिनों में चला जाता है। इस तरह गन्ध, रस, स्पर्श का बोध जिसका चला गया हो, वह मरने के लिये तैयारी कर रहा है।

(१०) रक्ताभिसरण क्रिया जनित आवाज़, जो कान में उँगलियाँ रखने पर सुनने में आती है, वह आवाज़ यदि सुनने में नहीं आती; तो रोगी ७ दिन में चला जाता है।

(११) जिह्वा बाहर निकाल कर देखने पर, जिसको जिह्वा का अग्रभाग नहीं दीखता, वह १ दिन में ही मर जाता है।

(१२) अपस्मार से क्षीण हुए रोगी को तीव्र संक्रामक ज्वर आ जाय; तो वह थोड़े ही दिनों में प्राण त्याग कर देता है।

(१३) शीतल देह, कण्ठ में से कफ की घर-घर आवाज़ निकलना, थूक कर कफ को जो बाहर नहीं निकाल सकता, न कण्ठ से नीचे उतार सकता, वह १२ घण्टे के भीतर संसार से चला जाता है।

(१४) जिसकी देह में से अहेतुक मधुर गन्ध या नाना प्रकार के पुष्पों की सुगन्ध निकलने लग जाय; और इन्द्रियों की शक्ति निर्माल्य हो जाय, वह एक वर्ष के भीतर इस संसार का त्याग करेगा।

(१५) जिस रोगी की दृष्टि में विपरीत आकृति या वर्ण प्रतीत हो, या सब वस्तुएँ केवल एक ही वर्ण की भासें; मेघ रहित आकाश में मेघ दीखें; या जिसे मेघ रहित आकाश में विद्युत्, वायु या भूत-प्रेतादि का दर्शन हो; अथवा जो असमय विना पर्व सूर्य और चन्द्र को ग्रसा हुआ (ग्रहण) देखे; वह शीघ्र ही परलोक में गमन करता है।

साध्यासाध्य लक्षण (Prognosis) ❀—जिसका मुख तेजस्वी, नाड़ी की गति समान, मस्तक शीतल, मन चिन्ता रहित, अग्नि प्रदीप्त और छींकें आना आदि लक्षण प्रतीत हो, उस रोगी का रोग साध्य है।

यदि रोगी को देखने पर मृत्यु लक्षण से विपरीत लक्षण दृष्टिगोचर हो, दूत सम्बन्धी कुलक्षण या रोगी के पास आने के समय रास्ते में कोई अशुभ निमित्त (अपशकुन) प्रतीत न हो; रोगी का वर्ताव, श्रद्धा, वासना, स्वभावादि में परिवर्त्तन न हुआ हो; तो रोग को साध्य मानें।

रोगी का दूत सद्व्यवहार युक्त, प्रसन्न, श्वेतवस्त्र या उचित वस्त्रा-भूषण युक्त हो; वैद्य के समीप ऊँट, गधे या रथ पर न आया हो एवं सायंकाल, क्रूर ग्रहों का उदय, उग्र नक्षत्र, चतुर्थी, नवमी या चतुर्दशी इन रिक्तातिथियां, पूर्ण मध्याह्न काल, अर्धरात्रि, भूकम्प, ग्रहण काल, या इतर अपशकुन प्रतीत न होता हो; तो चिकित्सक को चाहिये, कि रोग को साध्य समझकर श्रद्धा और उत्साह पूर्वक औषधि प्रदान करें। रोगी के घर में प्रवेश करते समय चिकित्सक को शुभ दर्शन हो; तो रोगी को आरोग्य होने की कल्पना करें। इस तरह दूतादि व्यवहार पर से भी कितनेक चिकित्सक साध्यासाध्यता का विचार करते हैं।

❀ अनियमित या अकस्मात् विकृति लक्षण जो प्रतीत हो, उसी को अरिष्ट (Grave prognosis) समझें। कितनेक लक्षण, जो जन्म से या दीर्घकाल से दोष प्रकोप से हो गये हों, उन (लक्षण या लक्ष्य निमित्त विकृति) को आयु परीक्षा में प्रमाण रूप न मानें।

वैद्य शयन कर रहा हो, कुछ काटता-तोड़ता हो, अग्नि में हवन कर रहा हो, पितरों को पिण्डदान दे रहा हो, अशुभ वार्तालाप कर रहा हो; तो उसको अशुभ शकुन माना जायगा।

चिकित्सक के समीप दूत रूप से रजस्वला या व्यभिचारिणी भयभीत होकर आवे, दो-तीन दूत इकट्ठे आवें, या एक के बाद दूसरा और तीसरा आवे, अथवा हीनाङ्ग, नपुंसक, मुण्डन कराया हुआ, बिखरे हुए बाल वाला, नग्न, रोता हुआ, कटुभाषी या मलिन काले वस्त्र वाला दूत आया हो; तो अशुभ फल माना जायगा।

वैद्य को रोगी के घर पर जाते हुए रास्ते में कोई अपशकुन हो, सन्मुख कोई दीपक लेकर चला आवे, सूर्य की दिशा में से क्रूर शब्द सुनाई दें, जाने के रास्ते में से बिल्ली, कुत्ता, सर्पादि आड़े निकल जायँ, अथवा रोगी के घर में प्रवेश करने के समय जल रहित कलश, अग्नि, मृत्तिका, बीज, फल, घृत, बैल, ब्राह्मण, रत्न या पूज्य पुरुषादि घर में से बाहर जायँ; तो अशुभ परिणाम का अनुमान होता है।

जिसके शरीर में अकस्मात् वर्णभेद हो जाय, स्वरभेद हो जाय, गन्ध विकृत हो जाय, मुख का स्वाद विपरीत हो जाय, स्वाद चला जाय, जिसकी एक आँख बन्द और एक आँख खुली हो जाय अथवा पुतली में भ्रम हो जाय, उस रोगी के रोग को असाध्य समझें। जिसके हाथ-पैर ठण्डे, मुँह निस्तेज, बड़बड़ाहट, नेत्र और नाखून अत्यन्त लाल अथवा अत्यन्त पीले, तीक्ष्ण ज्वर (१०६ डिग्री से अधिक), कण्ठावरोध, हिचकी, मूर्च्छादि उपद्रव हो, मन भ्रमित और शरीर भयंकर दीखे, उस रोग को असाध्य समझें।

जिसकी नाक टेढ़ी और स्वर बन्द हो कर मुँह में से जल बहने लगे, वह मर जायगा।

रोगी के चेहरे पर व्यंग, तिल, पिड़कादि अकस्मात् उत्पन्न हो जाय, या देह के एक भाग में प्रसन्नता, दूसरे भाग में ग्लानि; एक भाग में शुष्कता, दूसरे भाग में स्निग्धता, भ्रम और तन्द्रा प्रतीत हो; तो उस रोगी की मृत्यु हो जायगी।

यदि रोग प्रवल होने पर रोगी की जीवनीय शक्ति अति निर्माल्य हो गई हो, फिर निम्न उपद्रवों की उत्पत्ति हो जाय, तो रोग को असाध्य समझें।

(१) आफरा और तृषा;

(२) आफरा, शूल और अतिसार;

(३) अतिसार, प्यास और वातज शोथ;

(४) भयंकर अतिसार के साथ श्वास, शिरदर्द, मोह, आटोप और अति कृशता;

(५) रक्त-मांस का क्षय होने के पश्चात् दोनों मन्या नाड़ियों को व्यथित करके वायु का मस्तिष्क में प्रवेश होना;

(६) वाताष्ठीला होकर हृदय में दारुण वेदना, तथा भयंकर तृषा लगना;

(७) वात प्रकोप से नाक टेढ़ी और दोनों भवों का स्थान भ्रष्ट हो जाना, अन्तर्दाह और हिक्का भी हो जाना;

(८) आमाशय और गुदा में कैंची से कतरने समान व्यथा और तृषा लगना;

(९) वल, ज्ञान, ग्रहणी की शक्ति, मांस और रक्त नष्ट हो जाना;

(१०) प्रातःकाल से ज्वर वृद्धि होती हो; तथा शुष्क दारुण कास और वल-मांस विहीनता हो;

(११) गाँठदार मलमूत्र की प्रवृत्ति, जठर की उष्णता नष्ट होना और श्वास वृद्धि;

(१२) उदर से शोथ प्रारम्भ होकर हाथ-पैर पर फैल जाना; (वह दीर्घ काल दुःख भोग कर चला जायगा।)

(१३) दोनों पैरों पर शोथ, दोनों पिण्डलियों में शिथिलता तथा जंघाओं में तीव्र वेदना होना;

(१४) हाथ, पैर, गुह्य स्थान और उदर, इन पर शोथ, तथा वर्ण वल और अग्नि नष्ट हो जाना;

(१५) कृश और बलक्षीण रोगी के तीनों दोष प्रकुपित होकर भयंकर कष्ट उत्पन्न हो जाना;

(१६) दुर्बल रोगी को ज्वर और अतिसार होकर शोथ या शोथ होकर ज्वरातिसार हो जाना;

(१७) हनुग्रह, मन्याग्रह, तृषा, अत्यन्त निर्बलता और ऊपर-ऊपर श्वास चलनादि उपद्रव हो जाना;

(१८) दोनों होठ जामुन जैसे नीले और दाँत काले या नीले होजाना;

(१९) देह अति कृश हो जाने और आहार अति कम हो जाने पर भी मलमूत्र की प्रवृत्ति अत्यधिक होते रहना;

इन १९ प्रकारों में से कोई भी एक प्रकार के उपद्रव की प्रतीति होने पर रोग को असाध्य माना जायगा।

(१) ज्वर—अति तेज ज्वर (१०६ डिग्री से अधिक), प्रलाप, नेत्र में लाली, शीतल हाथ-पैर, कण्ठावरोध, हिक्का, शरीर भयंकर प्रतीत होना, मूर्च्छा, भ्रम और कम्पादि लक्षण हो, तो रोग को असाध्य मानें।

रात्रि को दाह, दिन में शीत लगना, कण्ठ में कफ की घर-घर आवाज, नेत्र लाल, जिह्वा काली, मुँह से दुर्गन्ध निकलना, अत्यन्त अशक्तता, हितकर औषधि से भी प्रतिदिन निर्बलता बढ़ना और नये-नये उपद्रवों की उत्पत्ति होना, इत्यादि लक्षण प्रतीत होने पर रोग असाध्य समझें।

(२) वंशागत रोग—कुष्ठ, मधुमेह, राजयक्ष्मा, अर्श, ऊरुस्तम्भ, उन्माद, अपस्मारादि रोग जो पूर्वजों से प्राप्त हुए हों, उनको असाध्य माने हैं। ऐसे रोग औषधि सेवन करने पर दबे हुए रहते हैं, किन्तु निर्मूल नहीं होते।

(३) अर्श—ज्वर, शोथ और अतिसार उपद्रवसह हो, तो असाध्य।

(४) रक्तपित्त—यदि जामुन के रंग के समान रक्त गिरता हो, तो असाध्य।

(५) क्षय—वृषण और उदर पर शोथ और अतिसार हो जाने पर असाध्य तथा फुफ्फुस में बड़े विवर हो जाने पर रोग मारक बन जाता है।

(६) मधुमेह और इतर प्रमेह—वंशागत हो तो असाध्य। शेष मधुमेह और वातजमेह कष्टसाध्य।

(७) अपस्मार—ज्वर रूप उपद्रव होने और भोजन का त्याग होने पर रोग असाध्य हो जाता है।

(८) अम्लपित्त—अति जीर्ण होने पर असाध्य।

(९) ऊरुस्तम्भ—दाह, शूल और कम्पसह होने पर असाध्य हो जाता है।

(१०) उदररोग—बहुधा सब प्रकार के उदररोग असाध्य हैं। फिर भी अल्प दोषात्मक नूतन साध्य हो सकता है। यदि अन्नद्वेष, शोथ और अतिसार उपद्रव हो गये हों; तो असाध्य मानें।

(११) हिक्का—वृद्ध, क्षीण और भोजन को जिसने त्याग दिया है, उसका रोग असाध्य हो जाता है।

(१२) अतिसार—वृद्ध मनुष्य का अतिसार असाध्य। मल में यदि सड़े हुए मांस की दुर्गन्ध आती हो, तो असाध्य। इस तरह जीर्ण अतिसार में सारे शरीर में या पैर पर शोथ आ जाने से रोग असाध्य हो जाता है।

(१३) विसूचिका—मूत्रक्षय, आध्मान, बार-बार वमन और श्वेत अतिसार और शरीर बर्फ समान शीतल हो जाना, ये उपद्रव प्रतीत होते हों, तो रोग असाध्य। यदि धनुर्वात हो जाय, तो भी असाध्य।

(१४) अश्मरी—मूत्राघात, नाभि और वृषण पर शोथ तथा अति कृशता आ जाने पर रोग असाध्य हो जाता है।

(१५) कामला—सर्वांगशोथ, वस्त्र पीले हो जाना, मलमूत्र लाल हो जाना इत्यादि उपद्रव होने पर असाध्य माना जाता है।

(१६) कास—वयोवृद्ध और अति क्षीण मनुष्यों का कास रोग असाध्य हो जाता है।

(१७) **श्वास**—अति क्षीण मनुष्य का श्वास रोग अकस्मात् दगा देता है।

(१८) **संग्रहणी**—अतिसार के असाध्य उपद्रव युक्त हो, तो संग्रहणी को असाध्य माना है।

(१९) **स्वरभेद**—अति क्षीण व्यक्ति का जीर्ण स्वरभेद असाध्य।

(२०) **शूल**—मांसक्षय, अत्यन्त अग्निमान्द्य और अति बलक्षय होने पर रोग असाध्य।

(२१) **वमन**—अति वेग पूर्वक मलमूत्र की दुर्गन्ध युक्त वान्ति, तृषा और श्वास वेग वृद्धि आदि उपद्रव हों, तो असाध्य।

(२२) **गुल्म**—अति बढ़ा हुआ गुल्म, अत्यन्त क्षीणता, ज्वर, कास, शोथादि उपद्रवसह हो; फिर अकस्मात् गुल्म विलय हो जाय और शक्ति पात हो जाय; तो वह रोगी तत्काल मर जाता है।

(२३) **तृषा**—छर्दि पीड़ित अति क्षीण रोगी का तृषा रोग असाध्य माना है।

(२४) **दाह**—देह अति शीतल होने पर अन्तर में अति दाह होता हो; तो रोग साध्य नहीं हो सकेगा।

(२५) **पाण्डु**—अति क्षीणता, शोथ, अतिसार, वमन और तृषा से पीड़ित का पाण्डुरोग असाध्य। एवं पाण्डु और उरःक्षत रोगी को अति क्षीणता आ जाने के पश्चात् भयंकर तृषा, श्वासप्रकोप और अत्यन्त व्याकुलता रहती हो; तो रोग को असाध्य समझें।

(२६) **कर्णरोग**—मूर्च्छा, दाह, वमन और ज्वर रूप उपद्रव हों, तो असाध्य मानें।

(२७) **उन्माद**—निद्रा और भोजन का त्याग हो जाने पर रोग असाध्य बन जाता है।

(२८) **उपदंश**—शिश्न का मांस सब गल जाने पर रोग असाध्य। बलवान रोगियों के लिये सोमल युक्त औषधि से क्वचित् साध्य भी हो जाता है। इस तरह शिश्न का मांस गल जाने पर शुक रोग को भी असाध्य माना है।

(२६) **श्वेतकुष्ठ**—ओष्ठ, तलहाथ, पैरों के तल और गुह्य स्थान पर कुष्ठ होने पर असाध्य। बलवान रोगी के लिये कष्टसाध्य होता है।

(३०) **गलगण्ड**—१ वर्ष से अधिक समय हो जाने पर और रोगी क्षीण हो जाने पर असाध्य।

(३१) **राजयक्ष्मा**—राजयक्ष्मा रोगी की देह में अत्यन्त क्षीणता और उरःक्षत होकर दुर्गन्धयुक्त नीले-पीले और लाल रंग के श्लेष्म अत्यधिक परिमाण में बार-बार निकलता रहे, तो रोग असाध्य।

(३२) **प्रमेह**—प्रमेह रोगी के रोम खड़े हो जायँ, मूत्र गँदला ही रहता हो तथा शोथ, ज्वर, कास और मांसक्षय हो जाय; तो रोग को असाध्य समझें।

(३३) **आन्त्रिक ज्वर**—मधुरा में अन्त्रभेद होने पर रोग असाध्य हो जाता है। अन्त्र भेद होने पर आफरा, मरोड़ा, शक्ति क्षय, नाड़ी की तीव्र गति, शीघ्र श्वासोच्छ्वास और शीतांगादि चिह्न प्रतीत होते हैं।

(३४) **हृद् रोग**—हृदय के कपाटों की विकृति और हृदावरण दाह जन्य हृत्स्नायु की विकृति आदि रोग असाध्य हैं। पूर्ण हृदन्तराय और हृदयशूल होते हैं; तो वे रोगी को शीघ्र मार डालते हैं।

(३५) **धमनीकोषकाठिन्य**—रोगी बलवान है, तो रोग याप्य माना जाता है।

(३६) **अस्थिमार्दव**—यदि योग्य चिकित्सा की जाय, तो रोग साध्य हो जाता है; किन्तु निर्बलता कुछ अंश में शेष रह जाती है।

(३७) **भगंदर**—जिस भगंदर में से मलमूत्र और अधोवायु निकलते रहें, वह असाध्य।

(३८) **ग्रन्थि**—मर्म-स्थान पर तीव्र पीड़ा देने वाली बहुत बढ़ी हुई ग्रन्थि असाध्य होती है।

(३९) **विद्रधि**—हृदय, नाभि और बस्तिस्थान पर होने वाले विद्रधि रोग में यदि मूत्रावरोध रहता है, तो रोग असाध्य माना जाता है।

(४०) सूतिका रोग—मुख पर शोथ, अतिसार और ज्वर उपद्रव हो जाने पर रोग असाध्य।

(४१) गण्डमाला—पीनसादि उपद्रव उत्पन्न हो जाने पर असाध्य वन जाता है।

(४२) मस्तकशूल—शंखक शूल तीन दिन का हो जाने पर मारक हो जाता है।

(४३) वातरोग—जीर्ण होने पर असाध्य। नूतनावस्था में कष्टसाध्य।

(४४) वात रक्त—जीर्ण होकर भयंकर दाह और पैरों के तलों में व्रण होकर पूयस्राव होने लगे, तव असाध्य।

ऐसे ही इतर अनेक असाध्य लक्षण शास्त्र पर से विदित होते हैं। रोग को असाध्य जान लेने पर भी अन्तिम श्वास तक उचित प्रयत्न करने में कसर नहीं करना चाहिये। योग्य उपचार से कितनेक रोगी मरणमुख में से भी वच गये हैं; और वच जाते हैं।

जो चिकित्सक उपर्युक्त परीक्षा विधि को जान, रोगियों की सेवा-शुश्रूषा करता है; तथा रोगी के हृदय में श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न करा सकता है; वही सफलता प्राप्त कर सकता है। जो चिकित्सक ऐसा नहीं कर सकता; वह चिकित्सा नहीं कर सकता, ऐसा भगवान् आत्रेय ने निम्न वचन से कहा है।

ज्ञानवुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति तत्त्ववित्।
आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति॥

शरीर शुद्धि प्रकरण।

वमन, विरेचन, वस्ति आदि का उपयोग शरीर शोधनार्थ किया जाता है। अतः इन सवको शोधन क्रिया कही है। इन शोधन क्रियाओं का उपयोग करने के पहले स्नेहन और स्वेदन क्रिया करनी चाहिये। यदि स्नेहन और स्वेदन क्रिया किये विना वमन, विरेचनादि क्रिया का सेवन किया जायगा, तो लाभ के वदले हानि होने की सम्भावना होगी। इन क्रियाओं में स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन और वस्ति को मुख्य; तथा नेत्रशोधन क्रिया, नस्य, धूम्रपान, गंडूप-कवल धारण, प्रतिसारण, कर्ण विधि और शिरोविरेचनादि को गौण माना है। इन क्रियाओं में से आवश्यक क्रियाओं द्वारा यदि रोगोत्पादक मल, विष, जन्तु या विजातीय द्रव्य को दूर कर दिया जाय; तो भावी रोगों की उत्पत्ति ही नहीं हो सकेगी; और जीवनीय शक्ति भी वलवान् वनी रहेगी। इस तरह रोग हो जाने के पश्चात् भी स्नेहन, स्वेदनादि क्रिया द्वारा दोष को दूर कर दिया जाय; तो औषधि सत्वर लाभ पहुँचा सकती है। अतः इन क्रियाओं का उपयोग रोगोत्पत्ति को रोकने और रोगों के मूल को नष्ट करने, इन दोनों कार्यों के लिये होता है।

यदि रोगों की शमन औषधि विना देह शोधन की हो; तो क्वचित् फिर से पहले का रोग या उसके विषजन्य इतर रोग उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु शोधन क्रिया द्वारा रोगोत्पादक मूल को ही निकाल दिया जाय; तो कारण के अभाव से उस विष जनित रोग की कदापि उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी हेतु से शनैः-शनैः वढने वाले रोग की चिकित्सा करने के पहले इस शोधन क्रिया की सहायता का लेना अति हितकर है। किन्तु इन क्रियाओं का सेवन शारीरिक और मानसिक शक्ति, रोग, रोगवल, ऋतु, स्थानादि का विचार कर श्रद्धा और शान्तिसह करना चाहिये।

स्नेहपान विधि।

स्नेह के स्थावर, जंगम भेद से २ प्रकार; तथा घृत, तैल, वसा (चर्बी) और मज्जा (हड्डी के भीतर का घृतवत् रस), भेद से ४ प्रकार हैं। घृत और तैल को एकत्र करने से यमक; घृत, तैल, वसा मिश्रित करने से त्रिवृत; और चारों प्रकार के स्नेह मिलाने से महास्नेह कहलाते हैं। इन स्नेहों में घृत को स्नेहोत्तम कहा है। घृत का उपयोग इतर स्नेहों से अत्यधिक होता है। तैल का उपयोग घृत से कम होता है। शेष स्नेहों का उपयोग पीने के लिये बहुधा चिकित्सकगण वर्त्तमान में नहीं करते। स्नेह कार्यार्थ घृतों में गोघृत और तैलों में तिल तैल को ही उत्तम माना है। (किन्तु विरेचनार्थ एरण्ड तैल को श्रेष्ठ कहा है)।

गुण—घृत अपने स्नेह गुण से वात को, माधुर्य्य और शीतल गुण से पित्त को और संस्कारित होने से कफ को जीत लेता है; तथा रस, शुक्र और ओज को हितकर है।

तैल वातघ्न, कफवर्धक, बलप्रद, त्वचा के लिये उष्ण और स्थिर-कर तथा योनि विशोधक है।

वसा विद्ध, भग्न, आहत, भ्रष्टयोनि, कर्णरोग तथा शिरोरोग में उपयोगी है।

मज्जा अस्थियों के बल को बढ़ाने तथा शुक्र, बल, श्लेष्म, मेद और मज्जा की वृद्धि करने में हितावह है।

अधिकारी विचार—रूक्ष, दाहरोगी, नेत्ररोगी, वृद्ध, बालक, क्षतक्षीण, विषपीड़ित, वातपित्त विकारयुक्त, वातपित्त प्राधान्य प्रकृति वाले, मन्द बुद्धि और मन्द स्मरणशक्ति वाले, तथा स्वर, बल, वर्ण और आयु की इच्छा वाले को घृत पिलाना हितावह है।

कृमिरोगी, उदररोगी, स्थूल, वातरोगी, वातप्रकृति वाले, क्रूर कोठे वाले, कफ और मेद वृद्धि वाले को तैल पिलाना लाभदायक है।

सूचना—जिसे स्नेहपान का अभ्यास है; जो स्नेहपानजनित कष्ट को सहन करने में दृढ़ है; उसे ही स्नेहपान कराना चाहिये।

उपयोग विधि—स्नेहपान शोधन, शमन और बृंहण भेद से त्रिविध प्रकार के हैं। इनमें शोधनकार्य के लिये स्नेहपान उत्तम मात्रा में भोजन जीर्ण हो जाने पर देना चाहिये; कारण, क्षुधा प्रदीप्त होने से स्नेहपान अपना कार्य नहीं कर सकता। सोचने की बात है कि क्षुधा प्रदीप्त होने पर वमन द्रव्यों का भी असर नहीं हो सकता; तब स्नेहपान का असर कैसे हो सकता है?

यदि शमन कार्य के लिये स्नेहपान कराना हो; तो क्षुधा लगने पर मध्यम मात्रा में स्नेहपान कराना चाहिये। इसलिये कि वह (स्नेहपान) सारे शरीर में फैलकर कुपित दोषों को शमन करे। यदि भोजन के जीर्ण होने पर या क्षुधा न होने पर स्नेहपान कराया जायगा; तो स्रोतसों में कफ भरा रहने से उसके साथ स्नेह मिल जायगा और वह सारे देह में फैल नहीं सकेगा, और न उससे दोष शमन ही हो सकेगा। वैद्यों को चाहिये कि वे शमन कार्य के लिये रात्रि के आरम्भ होने पर ही स्नेहपान करावें; तथा रोगी को मांसरस और चावल का भोजन अल्प मात्रा में मध्य रात्रि को दें या उष्ण यवागू पिलावें।

बृंहण हेतु से स्नेहपान कराना हो; तो मांसरस, मद्यादिसह और चावलादि के साथ लघुमात्रा में कराना चाहिये।

जठराग्नि का विचार करके ३ से ७ दिन तक घी अथवा तैल पिलाना चाहिये। इससे अधिक दिनों तक न पिलावें, क्योंकि ७ दिन के बाद स्नेहपान सात्म्य भाव को प्राप्त हो जाता है। कदाचित् ७ दिन तक स्नेह पिलाने पर भी स्निग्धता सम्यक् प्रमाण में न आई हो, तो स्निग्धता आने तक २-४ दिन अधिक स्नेहपान करावें।

पित्त रोगी तथा पित्त प्रकृति वाले को केवल घृतपान कराना चाहिये। वात विकार एवं वात प्रकृति में सैंधानमक मिलाकर, और कफ के रोग में त्रिकटु (सोंठ, मिर्च, पीपल) और यवक्षार मिलाकर घृतपान कराना चाहिये।

स्नेहपान का समय—शीतकाल में स्नेहपान दिन में और ग्रीष्म ऋतु में रात्रि को (शाम को) कराना चाहिये। वातपित्त की

अधिकता हो, तो रात्रि में; और वात कफ की अधिकता में दिन में स्नेहपान कराना चाहिये। यदि वातपित्त प्राधान्यता वाले उष्ण ऋतु में स्नेहपान करेंगे, तो उनको मूर्च्छा, पिपासा, उन्माद, कामलादि रोग हो जाने की सम्भावना होगी। इसी प्रकार वात-कफ प्राधान्य रोगी शीतकाल में रात्रि को स्नेहपान करेंगे, तो उनको आनाह, अरुचि, शूल, पाण्डुतादि रोग हो जाने की संभावना होगी।

मात्रा—यदि घृत तैलादि की मात्रा १ प्रहर भर में पच जाय, तो वह स्नेह जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। अतः थोड़े दोष वालों के लिये न्यून मात्रा ही उपयोगी है। जो मात्रा दो प्रहर में पच सके, वह वृष्य (शुक्र-वर्धक) और बृंहण (शरीर को पुष्ट करने वाली) होने से मध्यम दोष वालों को लाभदायक है। जो मात्रा तीन प्रहर में पचती है; वह स्निग्ध होने से अति दोष वाले को हितावह है। जो मात्रा ४ प्रहर में पचती है; वह ग्लानि, मूर्च्छा और मद की नाशक होनें से दोष शमनार्थ श्रेष्ठ मानी गई है; तथा जो मात्रा ८ प्रहर में पचती है; वह कुष्ट, विष, उन्माद, ग्रह और अपस्मार रोगों को नष्ट करने (शोधन कार्य) के लिये हितावह है।

स्नेह कितना देना चाहिये? इसका निर्णय पाचनशक्ति पर से करना चाहिये। कोई आचार्य उत्तम मात्रा १ पल (४ तोले), मध्यम ३ कर्ष और हीन मात्रा २ कर्ष (आधे पल) की लिखते हैं। तब दूसरे आचार्य ६ पल, ४ पल और २ पल की मात्रा लिखते हैं। परन्तु सामान्य रीति से वर्त्तमान में शोधनार्थ ८ तोले से १६ तोले तक की मात्रा देनी चाहिये; ऐसी मेरी समझ है।

चिकित्सक को चाहिये कि पहले स्नेह कम मात्रा में पिलावें। फिर शक्ति के अनुसार मात्रा बढ़ावें। यदि अधिक मात्रा के सेवन से या अपथ्य सेवन से स्नेह पचन न हो सके; आफरा या मलावरोध हो जाय; तो निवाया कुनकुना जल पिला कर वमन कराना चाहिये।

अनुपान—घी पीने वाले को ऊपर से गरम जल पिलावें; और

तैल पीने वालों को मूँग का यूष पिलावें। जब घृत अथवा तैल पचन होकर गरम जल पीने से शुद्ध डकार आवे; तब भोजन करावें।

यदि वसा या मज्जा पिलाना हो, तो ऊपर से मण्ड या गुनगुना निवाया जल पिलावें; और भल्लातक तैल या तुवरक का तैल पिलाना हो; तो अनुपान रूप से शीतल जल देना चाहिये।

जब स्नेह पचने लगते हैं; तब तृषा, दाह, भ्रम, अनुत्साह, अरुचि और बेचैनी उत्पन्न करते हैं। ये उपद्रव सामान्य हों; तो सहन करना चाहिये। यदि उपद्रव अधिक हों, तो शान्ति के लिये अवश्य उपचार करें। स्नेह पच जाने पर निवाये जल से स्नान कराकर रुचि अनुसार चावलों की थोड़ी निवायी यवागू पिलावें। आवश्यकता हो, तो उसमें थोड़ा घृत भी मिलावें।

वृद्ध, बालक, कृश शरीर वाला और स्त्री आदि सुकुमार (स्नेह पान जनित कष्ट को न सहन करने वालों) को और उष्णकाल में जिनको तृषा बहुत लगती हो, तो उनको भात के साथ स्नेहपान कराना हितकर है। दुहने के बर्तन में मिश्री और घी मिलाकर रक्खें। उसमें गाय का दूध दुहें और उस दूध को पिलावें; इससे तुरन्त शरीर में स्निग्धता आती है।

भुने मांसरस में थोड़े-से चावलों की स्नेह मिश्रित यवागू और शहद मिलाकर सेवन कराने से तत्काल स्निग्धता आ जाती है। पञ्च-प्रसृता पेया (घी, तैल, वसा, मज्जा और चावल सब सम भाग मिला विधि पूर्वक बनायी हुई पेया) पिलाने से सद्यः स्नेहन करती है।

स्नेहपान का फल—इन प्रयोगों द्वारा सम्यक् स्निग्ध होने पर स्वर और मुख की सुन्दरता, दाँत की दृढ़ता और वायु की शुद्धि होती है; जठराग्नि बलवान बनती है; मल चिकना और अलग-अलग निकलता है; तथा शरीर कोमल, हल्का, पुष्ट और स्निग्ध दीखने लगता है।

किन्तु स्निग्धता के अत्यन्त बढ़ने से इसके विपरीत अन्न में अरुचि, लार गिरना, गुदा में दाह, मल पतला, पेचिश और शरीर में आलस्यादि उपद्रव हो जाते हैं।

श्वास के रोगी और निर्बल फेफड़े वाले को (देह में दूषित कफ अधिक न होवे उनको) २-४ मास तक रोज सुबह १० नग सफेद मिर्च निगलवा कर २-२ तोले घी पिलाना लाभदायक है। ऊपर जल अथवा दूध कुछ भी न दें। श्वास रोग मिटने के पश्चात् थोड़े परिमाण में घृतपान करते रहने से दूषित कफ निकल कर फुप्फुस शुद्ध हो जाते हैं; और पाचन-शक्ति बलवान् बन जाती है।

स्नेहपान अधिक परिमाण में करने से यदि अन्न द्वेष, मुँह में पानी आना, बेचैनी, गुदा में जलन और बार-बार दस्त या पेचिश आदि उपद्रव हों, तो स्निग्ध मनुष्य को स्नेहपान के पीछे सांवा, कोदों, तिल, और छाछ युक्त पदार्थ भोजन में दें; अति घृत युक्त भोजन न दें।

यदि स्नेहपान न्यून परिमाण में होगा, तो मल शुष्क हो जायगा; शौच शुद्धि और अन्न पचन होने में कष्ट होगा; वायु ऊपर चढ़ने लगेगी; हृदय में जलन होगी; मुख की कान्ति हीन हो जायगी; और शरीर अशक्त बन जायगा। ऐसी प्रतीति होने पर घृत का सेवन अधिक करावें।

उचित परिमाण में स्नेहपान होने पर अग्नि प्रदीप्त, कोष्ट शुद्धि, धातु, बल और वर्ण की वृद्धि, इन्द्रियाँ दृढ़ तथा जरावस्था मन्द होना इत्यादि लाभ होते हैं।

स्नेहपान के अधिकारी—नित्यप्रति अधिक घृत सेवन करने वाले; गुल्म रोगी, सर्प विष पीड़ित, विसर्प रोगी, उन्मत्त, मूत्रकृच्छ्र रोगी और मलावरोध वालों को उत्तम मात्रा में स्नेहपान करावें। अरुंषिका और फोड़ा-फुन्सी वाले, खाज, खुजली युक्त, कुष्ट रोगी, वात रक्त रोगी, जो बहुत भोजन न करते हों और मृदु कोठे वाले हों, उनको सुख पूर्वक पचन हो सके, उतना ही शोधनार्थ मध्यम मात्रा में स्नेहपान कराना चाहिये। वृद्ध, बालक, सुकुमार, सुखी, जो क्षुधा सहन न कर सकते हों, मन्दाग्नि वाले, जीर्ण ज्वरी, जीर्ण अतिसारी, जीर्ण कासी और स्मरण शक्ति की वृद्धि की इच्छा वाले को ह्रस्व मात्रा देनी चाहिये। अधिक मांस और मेद वाले, अति कफ वाले, विषमाग्नि वाले को यदि शोधन

कराना हो, तो उनको भी स्नेहपान कराना चाहिये। परन्तु पहले उनको लंघनादि उपचारों से रूक्ष करें।

जिनको वमनादि पञ्चकर्म कराना हो, जो शोधन के अधिकारी हों, रूक्ष, वातविकार वाले; व्यायाम, मद्य, या स्त्री का नित्य सेवन करने वाले हों और जो मस्तिष्क का श्रम अधिक करते हैं उनको अवश्य स्नेहपान कराना चाहिये।

स्नेहपान के अनधिकारी—अधिक कफ और मेद वाले, अति तीक्ष्ण अग्निवाले, ऊरुस्तम्भ रोगी, अतिसार पीड़ित, मद्य से पीड़ित, अजीर्ण रोगी, उदर रोगी, नवीन ज्वरी, प्रमेह पीड़ित, मूर्च्छा रोगी, अति निर्बल, अन्न में अरुचि वाले, अति स्थूल शरीर वाले, जुलाब अथवा वस्ति ली होवे, वमन होने वाला, तृषित, कृत्रिम विष पीड़ित, परिश्रमी और अकाल प्रसूता स्त्री को स्नेहपान नहीं कराना चाहिये।

सूचना—जिसको स्नेहपान पचन न हो सके, वह गरम जल पीकर वमन करे। पित्त प्रकृति वाले को स्नेहपान से अधिक तृषा लगे, तो दूध पिलावें। स्नेहपान सेवन करने वालों को चाहिये कि वे व्यायाम, ठंड में रहना, मल-मूत्रादि वेगों का रोकना, रात्रि में जागरण, दिन में शयन तथा रूक्ष और शरीर में गुरुता करने वाले भोजन को त्याग दें।

कुष्ठ, शोथ या प्रमेह रोग वाले को यदि स्नेहपान कराना हो, तो ग्राम्य, आनूप और जलचर जीवों का मांस, मद्य, गुड़, दही, दूध, तिल और उड़द का उपयोग नहीं करना चाहिये। इनके रोगों की शामक औषधियाँ, पीपल, हरड़, गूगल, त्रिफलादि से सिद्ध स्नेह, जो उनकी प्रकृति को अनुकूल हों, विकार न करने वाले हों, उनसे स्नेहन कराना चाहिये।

स्वेदन विधि।

स्नेहपान जिसने किया हो, उसको स्वेदन क्रिया कराने से, मल, मूत्र और शुक्र की प्रवृत्ति प्रतिबन्ध रहित होने लगती है। शुष्क काष्ठ भी स्नेहन स्वेदनादि उपचारों से मृदु बन सकता है, तो जीवित रूक्ष मनुष्य

मृदु स्निग्ध हो जाय, इसमें आश्चर्य ही क्या ? बढ़े हुए रोगों में और अति सशक्त को महास्वेद, मध्यम को मध्यमस्वेद और दुर्बल को हीन स्वेद देना चाहिये।

वातप्रकृति वाले को स्निग्ध स्वेद, कफ प्रकृति वालों को रूक्ष स्वेद और वातपित्त मिश्रित प्रकृति वालों को रूक्ष स्निग्ध मिश्रित स्वेद दें। आमाशय (मेदा) गत वायु होवे, तो पहले रूक्ष स्वेद देकर फिर स्निग्ध स्वेद दें। इसलिये कि आमाशय कफ का स्थान है। यदि कफ पक्वाशय (आंत) में हो, तो पहले स्निग्ध और फिर रूक्ष स्वेद देना चाहिये। क्योंकि पक्वाशय वायु का स्थान है।

स्वेद (सेक—फोमेनटेशन Fomentation) के ४ प्रकार हैं। जैसे कि—तापस्वेद, उष्मस्वेद, उपनाहस्वेद और द्रवस्वेद। इनकी भिन्न-भिन्न क्रिया इस प्रकार से करनी चाहिये।

तापस्वेद—हाथ, काँसी आदि धातुपात्र, कन्द, ईंट, रेती या वस्त्र को गरम कर लेटे हुए मनुष्य के अंग को तपाना और विशेषतः खैर के काष्ठ की निर्धूम अग्नि से तपाना वह तापस्वेद कहलाता है।

चोट लगने, हाथ-पैर मुड़ जाने इत्यादि पीड़ा को दूर करने के लिये इस स्वेद का प्रयोग किया जाता है।

उष्म स्वेद—ईंट, कवेलू (ठीकरा), पत्थर, लोहपिण्डादि को अग्नि में डाल कर, जल या अम्ल द्रव्यों में बुझा कर या अम्ल द्रव्यों से भिगो, गीला कपड़ा शरीर पर रख कर या गीले कपड़े में ईंट, पत्थरादि को लपेट कर स्वेद दें, तो उसे उष्मस्वेद कहते हैं।

अथवा शरीर को कम्बल आदि से ढककर गरम किये हुए मांसरस, दूध, दही, काँजी अथवा वातहर औषधियों के क्वाथादि की वाष्प देना; शरीर पर तैल मर्दन कर रजाई या कम्बलादि वस्त्र उढ़ाकर नली द्वारा स्वेद देना, यह भी उष्म स्वेद कहलाता है।

गड्ढा खोद कर उसमें खैर की लकड़ी जलावें। गड्ढा तप जाने पर अग्नि को निकाल लें, फिर गड्ढे के ऊपर खाट रक्खें और खाट पर एरंडादि वातहर पत्ते बिछा, रोगी को लेटावें। पश्चात् मोटे वस्त्र उढ़ा,

गड्ढे में दूध, काँजी या जल छिड़क कर स्वेद दें। अथवा इस रीति से कुटी में योजना कर रोगी को स्वेद दें, या रेत, गोवर आदि से स्वेद दें; यह भी उष्म स्वेद कहलाता है।

उष्म स्वेद देने के लिये रास्ना, अरंडी की जड़, निगुण्डी के पत्ते इत्यादि की वाफ, काँजी, नमक अथवा गरम तैलादिक द्रव्य, इनसे सेक किया जाता है। कफ नाश के लिये निर्धूम अग्नि अथवा कफ नाशक औषधियों की वाफ से स्वेदन किया जाता है। वात और कफ दोष मिश्र होवें, तो वात और कफ नाशक औषधियों की वाफ दें। यदि पित्त मिश्र होवे, तो सावधानता पूर्वक केवल गरम जल की वाफ दें।

सूचना—उष्म स्वेद देना होवे; तो तैल मर्दन कराने के पश्चात् गले तक मोटा वस्त्र उढ़ा कर निर्वात स्थान में स्वेद दें, ताकि धातुओं में रहा हुआ दोष पतला होकर प्रस्वेद रूप से वाहर निकल जाय।

तापस्वेद और उष्णस्वेद दोनों विशेषतः कफनाशक हैं। उपनाह स्वेद वात शामक है; तथा कफपित्त मिले वात प्रकोप में द्रव स्वेद लाभदायक है।

अनाग्नेय स्वेद—कफ मेदसह वायुरोग में अनाग्नेय स्वेद देना चाहिये। निर्वात स्थान में वैठाना, भारी वस्त्र उढ़ाना, मार्ग चलाना, परिश्रम कराना, वोझा उठवाना, भय दिखवाना, क्रोध उत्पन्न कराना, अधिक मद्यपान कराना, भूखा रखना, धूप में वैठाना, ये १० अनाग्नेय स्वेद कहलाते हैं। विना अग्नि के भी इन १० उपायों से प्रस्वेद आ जाता है।

उपनाह स्वेद—वातनाशक औषधियों को काँजी आदि में पीस, घृत और लवण मिलाकर गरम करें। फिर सहन हो सके उतना गरम लेप करें, या पुल्टिस वाँधें, उसे उपनाह स्वेद कहते हैं।

पुल्टिस की विधि।

पुल्टिस तैयार करने के लिये अलसी, गेहूँ और चावल का आटा, सत्तू, रोटी के टुकड़े, आलू, पपीता, प्याज, राई, कोलसा और मांसादि पदार्थों का उपयोग किया जाता है। यदि गेहूँ, चावल या अलसी के

आटे की पुल्टिस बनाना हो; तो पहले जल को अच्छी तरह उबालें। फिर थोड़ा-थोड़ा आटा डालते जायँ; और चम्मच या लकड़ी से चलाते रहें। गाँठ न हो जाय, इस बात का सँभाल रक्खें। जब अच्छी तरह जल में मिलकर पुल्टिस तैयार हो जाय; तब जहाँ लगाना हो, उस स्थान के अनुरूप या कुछ अधिक बड़ा फलानेल, कपड़ा, कागज या रुई का टुकड़ा काटकर ऊपर में लेप करें; अथवा रोटी या पेड़ा के समान आकृति बनाकर पीड़ित स्थान पर रक्खें और ऊपर रुई, एरंडादि का पत्ता या कपड़ा रक्खें और सावधानतया बाँध लेवें।

यदि आटे को पहले थोड़े घी या तेल में भूनकर फिर उबलते हुए जल में डालकर पुल्टिस बनावें; तो वह सत्वर लाभ पहुँचाती है। आवश्यकता पर जल में आटा डालने पर हल्दी भी मिलाई जाती है। हल्दी से रक्तशोधन में सहायता मिलती है। इस तरह अनेक बार अलसी के आटे में थोड़ा सज्जीखार (Soda Bicarb) भी मिलाया जाता है।

कितनेक दुर्गन्धयुक्त व्रणों की सत्वर शुद्धि होने के लिये आटे में कोयले का कपड़छन चूर्ण मिलाकर रोटी बनाई जाती है; तथा बाँधने के समय पुनः ऊपर में कोयले का चूर्ण बुरकाया जाता है। जिससे सड़ा हुआ मांस जल्दी निकल जाता है।

यदि रोटी के टुकड़े डालकर पुल्टिस तैयार करना हो; तो उनको भी उबलते हुये जल में डाल, पकाकर तैयार करें।

चावल के आटे की रोटी बनाना हो, तो आटे में गर्म जल मिला, गोंद कर बनावें। यदि गेहूँ के आटे में से बनाना हो, तो शीतल जल मिलाकर रोटी तैयार करनी चाहिये।

राई की पुल्टिस बनाना हो, तो जल में पीसकर तैयार करें।

प्याज की पुल्टिस बनाना हो; तो पहले छोटे-छोटे टुकड़े कर या कूट कर उबाल लेवें। फिर हल्दी मिलाकर निवायी (कुनकुनी) पुल्टिस बाँध देवें। इस पुल्टिस से शूल, वेदना और शोथ दूर होते हैं।

यदि थूहर के पान या घीकुँवार के गर्भ की पुल्टिस बनाना हो; तो

गर्भ को गरम कर, हल्दी मिलाकर बाँधनी चाहिये। इस पुल्टिस से तीव्र वेदना, शूल और रक्तविकार का नाश होता है।

आलू की पुल्टिस बाँधना हो; तो गर्म कर, थोड़ा-थोड़ा कपूर और सोहागे का फूला मिलाकर प्रयोग में लावें। इस पुल्टिस से तीव्र वेदना सत्वर शमन होती है।

एरंड ककड़ी (पपीता) की पुल्टिस बनाना हो; तो उसे गरम करने की ज़रूरत नहीं है। इस पुल्टिस से विद्रधि का सत्वर पाक हो जाता है।

यदि दाह अधिक तीव्र हो, तो अफीम को जल में घिसकर या वच्छनाग को घी में घिसकर पीड़ित स्थान पर लेप करें। फिर ऊपर पुल्टिस बाँधने से अफीम या वच्छनाग के सम्बन्ध से "विषस्य विषमौषधम्" इस न्याय अनुसार दाह सत्वर शान्त हो जाता है।

यदि फूटे हुए विद्रधि पर पुल्टिस बाँधना है; तो केवल विद्रधि के मुँह पर ही बाँधना चाहिये। ज्यादा भाग पर बाँधने से विद्रधि के विष का परंपरागत सम्बन्ध होता रहता है। जिससे उस स्थान की त्वचा में विकृति होकर खुजली आने लगती है।

फूटे हुए विद्रधि पर पुल्टिस बाँधने के पहले मुख के चारों ओर जल या घी में मिलाये हुए अफीम का लेप करें, या इतर मल्हम की पट्टी लगाते रहें। कारण, पुल्टिस में से पीप झरता रहता है। वह इतर स्थान में लग जाने पर कण्डू और दाहादि उपद्रव उत्पन्न कर देता है। ये उपद्रव अफीम या इतर मल्हम के लेप से नहीं होते। अफीम के स्थान पर टिंचर ओपियाई (Tinct. Opii) का भी उपयोग हो सकता है।

जब अपक्व विद्रधि पर पुल्टिस बाँधना हो; तब पहले गर्म जल से आध घण्टे तक सेक करें, फिर पुल्टिस बाँधें, तो गुण सत्वर होता है।

विद्रधि के लिये चावल के आटे की अपेक्षा गेहूँ या अलसी के आटे की पुल्टिस अधिक हितकर है।

यदि अधिक गहराई में रहे हुए फुफ्फुस, फुफ्फुसावरण, बृहद् श्वासनलिका, हृदय और अन्त्रावरणादि इन्द्रियों पर दाह-शोथ हो गया हो; तो रोटी के समान बड़ी पुल्टिस बनाकर पीड़ित स्थान पर बाँधें।

यदि इन स्थानों पर पुल्टिस १-१ घण्टे पर निकाल कर नूतन-नूतन बाँधते रहें; तो दोष का सत्वर हरण हो जाता है। बालकों के लिये भी यह पुल्टिस अति उपकारक है।

सूचना—अपक्व या पच्यमान स्थान पर पुल्टिस बदलने के समय दूसरी पुल्टिस तैयार होने पर ही पहली पुल्टिस को निकालना चाहिये। यदि पहली पुल्टिस खोलने पर नयी पुल्टिस तैयार न हुई हो; तो तैयार होने तक गरम जल से सेक करते रहना चाहिये। अन्यथा पीड़ित स्थान पर शीतल वायु लगती रहने से पाक होने में देरी होती है।

पुल्टिस को सह सके, उतनी गर्म बाँधनी चाहिये; और अति शीतल हो जाने पर या २-२ घण्टे पर बदलते रहना चाहिये। यदि पुल्टिस पीप से भर जाय; तो निश्चित समय से भी पहले निकाल देनी चाहिये।

यदि पहले वाली पुल्टिस का कुछ अंश पीड़ित स्थान पर लगा हुआ हो, या पीप लगा हो; तो उस स्थान को गर्म जल से धो, साफ कपड़े से पोंछ कर, फिर नयी पुल्टिस बाँधनी चाहिये।

यदि बालकों के लिये फुफ्फुस या श्वासनलिका शोथ पर पुल्टिस (रोटी) बाँधना हो; तो रोटी बहुत बड़ी बनानी चाहिये। कारण, बालक के स्थिर न रहने से रोटी सरक जाती है। हो सके तब तक रोटी पर रुई रखकर मुलायम कपड़े से उस स्थान को सम्हालपूर्वक भली भाँति लपेट लेना चाहिये, ताकि पुल्टिस निकल न सके; और श्वासोच्छ्वास क्रिया में भी प्रतिबंध न पहुँचे।

पुल्टिस सामान्यरीति से एक अंगुल मोटी बनानी चाहिये। किन्तु अन्त्रावरण के दाह शोथ पर पतली पुल्टिस लगा, ऊपर रुई बाँध देना चाहिये।

पुल्टिस फल—पुल्टिस के सेक से त्वचा, आंतरत्वचा, त्वचा के नीचे रहे हुए मांसादि और अधिक गहराई में रहे हुए अवयवों के दाह शोथ की भी निवृत्ति होती है। पुल्टिस में से स्निग्ध और आर्द्र उष्णता पहुँचती है, जिससे पीड़ित भाग में से प्रस्वेद निकलने लगता है; उस

स्थान की कठोरता नष्ट होकर वह शिथिल और मृदु हो जाता है; दाह, शोथ और शूल की निवृत्ति होती है; तथा रक्ताभिसरण क्रिया में वृद्धि होती है।

यदि व्रण, विद्रधि आदि का प्रारम्भ होते ही उन पर पुल्टिस का प्रयोग किया जाय, तो उस स्थान में पूय की उत्पत्ति नहीं होती; और वेदना भी सत्वर शमन हो जाती है। यदि पच्यमान विद्रधि पर पुल्टिस बाँधे; तो वेदना न्यून होती है और पाक भी सत्वर हो जाता है। इस तरह पूय वाले स्थान पर पुल्टिस बाँधने से पूय सरलता पूर्वक बाहर आ जाता है, और विद्रधि स्थान थोड़े ही समय में शुद्ध हो जाता है।

द्रवस्वेद—दूध, मांसरस, यूप, तैल, काँजी, घृत, गोमूत्रादि को गर्म कर कढ़ाही या टब में भर कर उसमें रोगी को बैठावें; अथवा निवाये क्वाथादि का शरीर पर सिंचन करें, उसे द्रवस्वेद कहते हैं।

जो द्रव्य गुरु, तीक्ष्ण और उष्ण हों, वे ही बहुधा स्वेदन द्रव्य कहलाते हैं। इनसे विरुद्ध गुण वाले द्रव्य स्तम्भनकारक होते हैं। अथवा जिस द्रव द्रव्य में स्थिर, सर, स्निग्ध, रूक्ष और सूक्ष्म गुण होते हैं, वे स्वेदनकार्य में हितावह हैं; तथा श्लक्ष्ण, रूक्ष, सूक्ष्म और सर द्रव स्तम्भन करने वाले माने जाते हैं। कड़वा, कसैला और मधुर रस, ये बहुधा स्तम्भन द्रव्य होते हैं। ऐसे स्तम्भन द्रव्यों का उपचार हो जाने से रोगी जकड़ जाता है।

सूचना—वृषण, हृदय और नेत्र पर यदि स्वेद देने की आवश्यकता हो, तो मृदुस्वेद दें, अथवा न दें। नेत्र पर स्वेद देने के लिये कपड़े की पोटली अथवा गेहूँ, कमल या पलासादि की पिंडी से थोड़ा सेक करें, या निवाये जल में कपड़ा डुबोकर नेत्र को धोवें।

स्वेद करने पर शीतल मोतियों की माला या कमलादि पुष्पों की माला हृदय पर धारण करें।

जिसको नस्य, वस्ति, वमन अथवा विरेचन देना होवे; उसे पहले स्नेहन और स्वेदन क्रिया ३-३ दिन तक कराना अति लाभदायक है। शल्य निकाल लेने बाद और मूढ़ गर्भ गिरने बाद रक्तस्रावादि उपद्रव न हो, सुखपूर्वक सन्तान प्रसव हुआ हो, तो स्वेद देने से विकृति शीघ्र

दूर होकर प्रकृति स्वस्थ हो जाती है। ऐसे ही भगन्दर, अश्मरी और अर्श रोगी के मस्से का ऑपरेशन कराना होवे; तो ऑपरेशन के पहले और पश्चात् स्वेद देना चाहिये।

स्वेदन फल—स्नेह पान से स्निग्ध धातु स्थानों में स्थित दोष और स्वस्थान में लीन रहे हुए दोष उष्म स्वेदन से पतले होकर उदर में आ जाते हैं; और वे विशेषतः वमन और विरेचन द्वारा सरलता से बाहर निकल जाते हैं। इसके अतिरिक्त स्वेदन से अग्नि प्रदीप्त होना, शरीर मृदु बनना, त्वचा सुन्दर होना, नाड़ियें निर्मल होना, तन्द्रानाश, मर्यादित निद्रा, मन को प्रसन्नता, तथा जकड़े हुए सन्धिस्थान खुले हो जाना इत्यादि फल होते हैं।

स्वेदन की अवधि—ठण्डी, जड़ता और शूलादि विकार बन्द होवे; और शरीर मृदु होकर पसीना आवे; तब तक स्वेदन दें। उचित स्वेदन होने से पसीना निकलना, पीड़ा शमन होना, शरीर हल्का होना, शीत उपचार की इच्छा होना इत्यादि चिह्न प्रतीत होते हैं। न्यून स्वेदन होने से इसके विरुद्ध लक्षण देखने में आते हैं।

अधिक स्वेदन होने से शरीर पर स्फोट, रक्त और पित्त-प्रकोप, तृषा, उन्माद, मूर्च्छा, भ्रान्ति, दाह, सन्धिस्थानों में वेदना और थकावट आ जाती है। कदाचित् ऐसा हो जाय; तो शीतल उपचार करें। स्वेदन के आध घण्टे बाद निवाये जल से स्नान कराकर निर्वात स्थान में स्वस्थ सुलावें; और हलका पथ्य भोजन खिलावें।

पाश्चात्य चिकित्सकगण भी स्वेदन क्रिया का निम्नानुसार उपयोग करते हैं।

डाक्टरी उष्मस्वेद—बाष्प स्नान अर्थात् (बफारा) देने के लिये रोगी को एक लंगोट पहना कर एक कुर्सी पर बैठाया जाता है, फिर चारों ओर ज़मीन से सिर तक कम्बल लपेट देते हैं। रोगी का मस्तक मात्र खुला रहता है। सिर पर गीला वस्त्र रक्खा जाता है। फिर कुर्सी के नीचे गरम जल से भरा हुआ पात्र रख देते हैं। पश्चात् उस जल में तपाई हुई एक ईंट धीरे से (जल के छींटे न उड़ें इस रीति से)

रख देते हैं; और रोगी को कम्बल अच्छी रीति से उढ़ा देते हैं, जिससे सब वाष्प रोगी को लगती है। कोई-कोई अधिक प्रस्वेद लाने के लिये इस प्रयोग के समय थोड़ा जल पिलाते हैं। इस रीति से १० से १५ मिनट तक वाफ देते हैं। यदि वाफ सहन न हो सके; तो कम्बल थोड़ी खोलने से कुछ वाफ बाहर निकल जाती है। इस प्रयोग के हो जाने पर रोगी को तुरन्त गीले कपड़े से लपेट देते है, या निवाये जल से स्नान कराते हैं।

पक्षाघात, आमवात, जलोदर और शीत लग जाने पर, यह वाष्प स्नान विधि लाभदायक होता है।

अग्नि स्वेद विधि—वाष्प स्वेद के समान रोगी को कुर्सी पर बैठा कर कुर्सी के नीचे जल-पात्र के स्थान पर जलती बत्ती, स्पिरिट लेम्प, गैस लेम्प या स्टोव रक्खा जाता है; अथवा निर्धूम गोबरी की अग्नि रक्खी जाती है। सिर पर शीतल जल से भिगोया कपड़ा रखते हैं। क्वचित् रोगी के पैर गरम जल में रखवाते हैं, जिससे प्रस्वेद आ जाता है।

जिसके शरीर में मेद बढ़ा हो, उसके लिये यह प्रयोग हितकारक है। ३-३ दिन पर यह क्रिया करते रहने से मेद बिल्कुल गल जाता है। इसी तरह प्रसूता स्त्रियों के खाट के नीचे वात शमन और दोष जलाने के लिये भी अग्नि रक्खी जाती है।

पारद स्वेद—रोगी को उपरोक्त विधि से कुर्सी पर बैठा कर कंठ से ज़मीन तक कम्बल सम्हालपूर्वक लपेट लें। फिर कुर्सी के नीचे स्पिरिट लेम्प रक्खें। उस पर एक तस्तरी (Metal plate) रक्खें। तस्तरी में ४ माशे से १ तोला तक पारद (बाई सल्फ्युरेट ऑफ मर्क्युरी By Sulphurate of Mercury) अथवा (केलोमेल Calomal) २० ग्रेन (लगभग १। माशा) रक्खें। इससे पारद के अणु वायु में मिलकर रोगी को लगेंगे। लगभग २० मिनट तक उपदंश (गर्मी) रोग में यह क्रिया की जाती है। इस क्रिया को (मर्क्युरियल वेपर ऑर हॉट एयर Mercurial Vapour or Hot air) भी कहते हैं।

पारद स्नान—जब पारद मिश्रित औषधि खाने में सहन नहीं होती; तब इस स्नान विधि का उपयोग कराया जाता है। केलोमेल

२४० ग्रेन और एमोनिया क्लोराईड ८० ग्रेन, इन दोनों को ४ औंस जल में मिला देवें। फिर इस जल को स्नान करने के लिये जल से भरे हुए टव में डाल दें। पश्चात् रोगी को टव में बैठावें। टव में से औषधि की वाष्प उड़ न जाय, इसलिये एक कम्बल रोगी और टव दोनों के ऊपर आ जाय, इस रीति से ढक दें। केवल मुँह बाहर रक्खें। इस तरह १ घण्टे तक बैठा रक्खें। यह भी एक प्रकार का द्रव स्वेद है।

सूचना—कदाचित् मुँह में थूक का प्रवाह बढ़ने लगे, तो इस प्रयोग को बन्द कर देना चाहिये।

पोस्तदोड़ा का सेक—भगोने में जल भर, उसमें पोस्तदोड़ा डाल, गरम करें। ऊपर में चलनी ढक दें; उस पर एक फलानेल का चौलड़ा कपड़ा रक्खें, उस कपड़े से दर्द वाले भाग पर सेक करें।

इस तरह लिंट (Lint) अथवा फलानेल (Flannel) को गरम जल में भिगो, दूसरे कपड़े से दबा, निचोड़ कर सेक किया जाता है। (दूसरे कपड़े में दबाने से जल का अधिक अंश रहा हो, वह निकल जाता है। अधिक जल रह जाने से त्वचा पर फाला हो जाता है।) फिर वेदना वाले भाग पर सेक किया जाता है। जहाँ स्नायु खिंच कर ऐंठ गये हों; वहाँ पर यह प्रयोग किया जाता है। स्नायु शिथिल होकर इससे वेदना शमन हो जाती है। हृद् रोग और मूत्रकृच्छ्र में यह प्रयोग हितकर है।

उपरोक्त विधि से फलानेल को निचोड़, उस पर २ ड्राम तारपीन तैल डाल कर, वात के दर्द वाले भाग पर रक्खा जाता है।

इस तरह टिंचर ओपीयाई (Tincture Opii अफीम का अर्क) १ ड्राम डाल कर दर्द वाले भाग पर रक्खा जाता है, अथवा पोस्तदोड़ा २-३ नग को जौकुट कर १ सेर जल में अच्छी रीति से उबाल, फिर उस जल में फलानेल डुबो, निचोड़ कर उपयोग में लिया जाता है। इनके अतिरिक्त रबर की थैली या बोतल में गरम जल भरकर के भी सेक किया जाता है; तथा आमवात, वातरक्त, विषमय रक्त-विकारादि रोगों में बिजली से भी स्वेद दिया जाता है।

शीतसेक—ज्वर जब बहुत बढ़ जाता है, तब मस्तिष्क को उष्णता न पहुँचने के लिये वर्फ को रबर की थैली में भर, सिर पर रक्खा जाता है। ऐसे ही इतर वेदना वाले भाग पर भी वर्फ रक्खा जाता है।

ज्वर में सिरदर्द हो, तो शीतल जल में कोलन वॉटर अथवा सिरका मिला, चौलड़ा पतला कपड़ा डुबो, कपाल पर रक्खा जाता है।

यदि कोई घाव जल्दी नहीं भरता, दीर्घकाल लेता है; तो उस पर फ्रायर्स वालसम (Friar's balsam) अर्थात् लोवांन के अर्क को जल में मिला, उससे सेक करने से त्वरित लाभ होता है।

कितनेक चिकित्सक निर्वात स्थान में वात और कफ प्रकृति वालों को गरम जल से भरी हुई कढ़ाही, कोठी अथवा टब में बैठाते हैं। जल गले तक रखते हैं और आध से एक घंटे तक अनेक दिनों तक बैठाते हैं।

पित्तविकृति वालों को रोज सुबह शीतल जल से भरे हुए टब में आधे से एक घंटे तक बैठाते हैं। इससे पित्तदोष, रक्तविकार तथा पित्त मिले वातदोष शमन हो जाते हैं। इस विषय में विशेष विवेचन आगे स्नान क्रिया के अन्त में किया जायगा।

सुजाक या उष्णवात के रोगी को स्वेदन के लिये औषधियुक्त जल में मूत्रेन्द्रिय को १०-२० मिनट तक रोज सुबह डुबो रखावें। पेशाब करने के समय भयङ्कर पीड़ा होती हो, तो वह इससे दूर हो जाती है; और रोग काबू में आ जाता है।

अधिकारी—जुकाम, खाँसी, हिचकी, श्वास, स्वरभंग, कर्णरोग, गले का रोग, अर्दित वायु, पक्षाघात, सर्वाङ्गवात, आध्मान, वातरोग, कमर जकड़ना, पीठ और पसलियों में शूल चलना, वृषण वृद्धि, पैर, सांथल, जंघा, पिंडि अथवा और भाग में दर्द होना, सूजन, आमदोष, चोट लगना, प्लेगादि रोगों की गाँठ, मूत्रकृच्छ्र, अर्बुद (रसोली आदि), शुक्राघात (शुक्रस्राव में प्रतिबन्ध), ऊरुस्तम्भ, कम्प, शोथ, त्वचा की शून्यता, अंग भारी पड़ना, अधिक जँभाई आना और कोष्ट के रोगादि में से कोई होवे, तो उसके लिए स्वेदन क्रिया कराना हितकारी है।

चिरकारी विदग्धाजीर्ण, उन्माद, पैत्तिक सिरदर्द, मूत्रावरोध, स्वप्नदोष, मधुमेह, धातुक्षीणता, त्वचादोष, उपदंश, सुजाक, रक्तविकार और पित्तविकारादि दोषों में शीतल जल में बैठना अर्थात् शीतल जल का स्वेद देना हितकर है। इस शीतल स्वेद से दाह, शूल, अङ्गों का जकड़ना, त्वचा दोष, रक्तविकार, मूत्रदोष, शरीर का भारीपनादि दूर होकर अग्नि प्रदीप्त होती है; शरीर कोमल होता है तथा शान्त निद्रा आने लगती है।

सूचना—समस्त स्वेद निर्वात स्थान में अन्न पचन हो जाने पर देने चाहिये। ऊष्म स्वेद देने के समय नेत्र और हृदय पर शीतल जल से भिगोया वस्त्र बाँधें, और मस्तक खुला रखकर स्वेद दें।

स्वेदन के पहले तैल की मालिश अवश्य करा लेनी चाहिये। स्वेद आ जाने पर रोगी को तुरन्त खुली वायु में न आने दें। विश्राम करने के पश्चात् (पसीना सूख जाने पर) निवाये जल से स्नान करावे।

विदग्धाजीर्ण, अतिरूक्ष, क्षतक्षीण, अतिसार, गुदा रोगी, रक्तपित्त, पाण्डु, उदररोग, पित्त प्रमेह; वमन, तिमिर, मधुमेह, वातरक्त, मदात्यय और क्षत पीड़ितों को ऊष्म स्वेद न दें। तृषातुर, क्षुधातुर, शोकातुर, क्रोधातुर, अति दुर्बल और सगर्भा स्त्री को भी ऊष्म स्वेद न दें।

स्वेद लेने वाले को सात्विक और पथ्य भोजन दें, विशेष घी नहीं देना चाहिये। अधिक स्वेद देने से शरीर शिथिल होता है और विपरीत स्वेद देने से हानि होने की संभावना है। इसलिये रोगी का बल, प्रकृति, ऋतु और व्याधि का विचार करके ही स्वेद देना चाहिये।

वमन विधि।

वमनं रेचनं नस्यं निरूहं सानुवासनम्।
ज्ञेयं पञ्चविधं कर्म विधानं तस्य कथ्यते ॥

वमन, विरेचन, नस्य, निरूह वस्ति और अनुवासन वस्ति, इन क्रियाओं को शास्त्र में पञ्चकर्म कहा है। इन कर्मों का फल शास्त्रकारों ने निम्नलिखित बताया है:—

दोषाः कदाचित्कुप्यन्ति जिताः लंघनपाचनैः ।
जिताः संशोधनैर्ये तु न तेषां पुनरुद्भवः ॥

च० सं० सू० १६ । २० ।

लंघन और पाचन उपचारों से जीते हुए वातादि दोष भविष्य में कदाचित् कुपित हो सकते हैं; किन्तु जो दोष वमनादि शोधन कर्मों से नष्ट हो गये हैं, उनका पुनः उद्भव कदापि नहीं हो सकता। अतः संचित दोषों के समय लंघन-पाचन उपाय करें; और अति वढ़े हुए दोषों को वाहर निकालने के लिये वमनादि पञ्चकर्म का उपयोग करें।

कफप्रकोपजन्य विकार में वमन, पित्तजन्य विकार में विरेचन, वातजन्य विकार में वस्ति तथा आमप्रकोप में लंघन और पाचन प्रशस्त माने गये हैं।

अपक्व दोष को वमन द्वारा और पच्यमान दोष को विरेचन द्वारा निकाल देना चाहिये। वमन कराने योग्य दोषों का पाक न होने देना चाहिये। जिन दोषों का क्षय हुआ हो, उनको बढ़ाना चाहिये। कुपित दोषों का प्रशमन करना चाहिये। वहुत ही वढ़े हुए दोषों को निकाल देना चाहिये और समान दोष का संरक्षण करना चाहिये।

स्नेहपान के पीछे ३ दिन तक घी मिला हुआ भात अथवा घी मिली हुई पतली मधुर राव पिलावें और स्वेदन करते रहें। चौथे दिन उड़द, दूध, गुड़, मछली, मांस, तिल आदि कफवृद्धिकर भोजन देकर दोष को क्षुब्ध करें। फिर वमन की औषधि देना चाहिये।

वमन विधि—सुकुमार, कृश, वालक, वृद्ध या भीरु मनुष्य को छोड़, इतर मनुष्यों को यदि वमन साध्य रोग हो; तो पहले दूध, दही, छाछ या यवागू खूब पेट भरकर पिला दें। फिर औषधि पिलावें; तथा अग्नि से हाथ तपाकर थोड़ा सेक करें। जब उसे पसीना आने से शिथिलता आवे और उबाक आने लगे; तब उकडू वैठाकर उसके सिर, पीठ, पसली को थाम लें। यदि सरलता से वमन न होती हो; तो उँगली, एरंड के पत्ते की डण्डी, कमल की नाल या अन्य वस्तु से

कण्ठ में गुदगुदी करके वमन करावें। इस तरह वमन भली भाँति हो जाय, तब तक थोड़े-थोड़े समय के पश्चात् ४-६ वार करें।

वमन में ४-६ वेग प्रायः आते हैं, और विरेचन की अपेक्षा आधा मल निकल जाता है।

वमन के अधिकारी—विष दोष, स्तनरोग, मंदाग्नि, श्लीपद (हाथीपगा), अर्बुद, हृद्रोग, कुष्ठ, विसर्प, प्रमेह, अजीर्ण, भ्रम, विदारिका (कांखविलाई), अपची (गले पर गांठ या कण्ठमाला), कास, पीनस, अण्ड वृद्धि, अपस्मार (मृगी), ज्वर, उन्माद, रक्तातिसार, नाक, तालु या होठ का पकना, कर्णस्राव, अधिजिह्वक (जिह्वा पर सूजन), गलसुण्डी (तालु-घंटिका का रोग), अतिसार, पित्त अथवा कफ से उत्पन्न रोग, मेदोरोग और अरुचि रोग में से कोई रोग होवे; रोगी वलवान् हो और कफ से व्याप्त हो, तो वमन कराना हितकर है। यदि रोगी निर्वल हो; तो उसे वमन नहीं कराना चाहिये।

रोग के हेतु से वमन कराने के लिये शरद् ऋतु, वसन्त ऋतु, प्रावृट् ऋतु (वर्षा काल से पहले का समय) विशेष अनुकूल है। विष विकार के हेतु से वमन कराना होवे; तो ऋतु का विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

औषधि विचार—भगवान् आत्रेय ने वमन औषधियों के नाम संक्षेप में निम्नानुसार कहे हैं:—

मदनं मधुकं निम्बं जीमूतं कृतवेधनम्।
पिप्पलीकुटजेक्ष्वाकून्येलां धामार्गवाणि च॥
उपस्थिते श्लेष्मपित्ते व्याधावामाशयाश्रये।
वमनार्थं प्रयुञ्जीत भिषग् देहमदूषयन्॥

(च० सं० सू० २। ५-६)

मैनफल, मुलहठी, नीम, देवदाली, तुरई, पीपल, कुड़े की छाल, कड़वी तुम्बी, एला (छोटी इलायची), घियातुरई, इत्यादि औषधियाँ आमाशयगत श्लेष्मपित्त विकार उपस्थित होने पर देह को कष्ट न पहुँचे उस रीति से वमनार्थ दी जाती हैं।

श्री० वाग्भट्टाचार्य ने निम्नानुसार औषधियाँ कही हैं:—

मदनमधुकलम्बानिम्बविम्बीविशाला—
त्रपुसकुटजमूर्वादेवदालीकृमिघ्नम् ।
विदुलदहनचित्राः कोशवत्यौकरञ्जः
कणालवणवचैलासर्षपाश्छर्दनानि ॥

(अ० हृ० सू० १५ । १)

मैनफल, मुलहठी, कड़वी तुम्बी, नीम, विम्बी (कन्दुरी), इन्द्रायण, त्रपुस (कड़वी ककड़ी), कुड़े की छाल, मूर्वा, देवदाली, वायविडंग, जलवेंत, चित्रकमूल, मूपाकानी, घियातोरई, तुरई, करंज, पीपल, सैंधानमक, छोटी इलायची और सरसों आदि औषधियाँ वमन कराने वाली हैं।

कफ अधिक हो, तो मैनफल, पीपल और सैंधानमक गरम जल से तथा पित्त नाश के लिये परवल के पत्ते, अडूसा और नीम की अन्तर छाल का चूर्ण शीतल जल से देना चाहिये।

अजीर्ण नाशार्थ गरम जल में केवल सैंधानमक मिलाकर पिलाना चाहिये।

कफ नाशार्थ औषधियों में शहद और सैंधानमक आवश्यकतानुसार मिला देना अति हितकारक है।

(१) कड़वी तूम्बी के बीज, कूट, मुलहठी और सैंधानमक ३-३ माशे और मैनफल १ तोला लेकर बारीक चूर्ण करें। फिर शहद मिलाकर चूर्ण को चाट लें। ऊपर नीम के पत्तों का क्वाथ पीने से भीतर संचित हुआ कफ वमन के साथ दूर हो जाता है।

(२) मुलहठी के क्वाथ में अडूसा, इन्द्रजव, सैंधानमक और वच का कल्क ६ माशे से १ तोला तक तथा शहद २ तोले मिलाकर पिलाने से दूपित कफ और पित्त बाहर निकल जाते हैं।

(३) कड़वी तूम्बी की छाल १ तोला चावल के धोवन में पीस, निवायी कर, सुबह पिलाने से वमन होकर विप और दूपित कफ-पित्त नष्ट हो जाते हैं।

(४) तुत्थ भस्म २ रत्ती शहद के साथ चटाकर ऊपर निवाया जल या प्रियंगू की छाल को चावल के धोवन में पीस, निवाया करके, पिला देने से कृत्रिम विष और प्रकुपित पित्त-कफ विकार वमन और विरेचन होकर दूर हो जाते हैं।

(५) कुड़े की छाल के क्वाथ में चौथाई हिस्सा मैनफल के बीज का चूर्ण और मिश्री मिलाकर अवलेह बना लेवें। इस अवलेह में से ३ तोले के साथ शहद और सैंधानमक मिला, मुलहठी के निवाये क्वाथ से सेवन कराने से, वमन होकर कफ और पित्त निकल जाते हैं।

वमन के अनधिकारी—तिमिर, गुल्म, उदररोग, उदावर्त्त, उरःक्षत, मूत्ररोग, ऊर्ध्व रक्तपित्त, अति स्थूलता, अर्श, अर्दित वात, आक्षेपक वात, प्रमेह, मदात्यय, पाण्डु और कृमि रोग वालों को वमन नहीं कराना चाहिये। एवं सगर्भा स्त्री, बालक, अति वृद्ध, अति कृश, क्षत पीड़ित, रूक्ष शरीर वाला, दूषित स्वर वाला हो और जिसको अति कष्ट पूर्वक वमन होती हो, ऐसे मनुष्य को भी वमन की औषधि नहीं देनी चाहिये। कदाचित् इनमें से कोई अजीर्ण वाला होवे, अथवा विष पीड़ित होवे; और वमन की औषधि देनी पड़े, तो मुलहठी का क्वाथ मिला सम्हाल पूर्वक देनी चाहिये।

वमन फल—वमन क्रिया योग्य होने पर दूषित कफ निकल कर कफ विकार शमन हो जाता है; तथा हृदय, कण्ठ, मस्तकादि का शोधन, शरीर में लघुता आना और मुँह से कफस्राव बन्द होना इत्यादि फल प्रतीत होते हैं।

वमन करते-करते कफ दूर होकर पित्त आने लगे, तब वमन ठीक समझना चाहिये। योग्य वमन होने पर स्वर भेद, कफ प्रकोप, तन्द्रा, अधिक निद्रा, मुख दुर्गन्धि, विष विकार, आलस्य, खुजली, अपचन, भारीपना आदि विकार शमन हो जाते हैं; और वे पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं।

अतियोग होने से मस्तक की स्तब्धता, वमन का अतिवेग, कंप, पसली और हृदय में जलन, पित्त प्रकोप, बेहोशी, हृदय और कंठ में

पीड़ादि लक्षण होते हैं। वमन कम होने से मुँह में चिकनापन, खुजली, बेचैनी, छाती में भारीपन, शीतज्वर, आफरा, अपचन और मस्तक में भारीपना, ये लक्षण प्रतीत होते हैं।

अतियोग में प्रतिकार—अति वमन होवे, तो शरीर पर घी लगावें; ठंडे जल में बिठावें। मुरमुरे (धान का लावा), शहद और मिश्री मिलाकर खिलावें; सन्तरा, मुसम्बी आदि खट्टे, मीठे फल का रस अथवा जामुन या चन्दन का शर्वत पिलावें। मिश्री शहद मिलाकर चटावें; अथवा आंवला, रसोंत, खस और नेत्रवाला को चन्दन के जल में मथकर घी, शहद और मिश्री मिलाकर पिलावें। इसी प्रकार मृदु हृद्य विरेचन देने से भी वमन रुक जाती है।

थोड़े प्रमाण में आरोग्यवर्धिनी, पञ्चसम चूर्ण, स्वादिष्ट विरेचन या त्रिफला चूर्णादि दे सकते हैं।

सूचना—वमन-विरेचन का अयोग होने पर लंघन करावें; अथवा फिर से स्नेहन, स्वेदन देवें। पश्चात् यथाविधि वमन करावें।

वमन के पश्चात् कर्म—अच्छी प्रकार से वमन होने के ४-६ घण्टे बाद, गरम जल से स्नान करा, कुलथी, मूंग या अरहर की पतली दाल और थोड़ा भात या खिचड़ी खिलावें; या मांसरस का सेवन करावें। इस तरह ३ दिन तक हलका भोजन कराना चाहिये।

वमन के पीछे एक दिन तक शीतल जल का सेवन, व्यायाम (कसरत), अजीर्ण कारक पदार्थ, मैथुन, तैल मर्दन और क्रोध का त्याग करें। अति श्रम, मार्ग गमन, तेज वायु का सेवन, रात्रि में जागरण, मल-मूत्र के वेग का धारण, व्याख्यान देना, जोर से बोलना, इन सबका त्याग कराना चाहिये।

विरेचन विधि।

स्नेहन, स्वेदन और वमन कर्म जिसने किये हों; उसी को विरेचन देना चाहिये; अन्यथा ग्रहणी रोग उत्पन्न हो जाता है। वमन की औषधि देने के पश्चात् पुनः स्नेहन और स्वेदन देवें। फिर जुलाब देना

चाहिये। जिस दिन जुलाव देना हो, उसकी अगली रात्रि को लघु भोजन दें, और फलों की खटाई खिला, ऊपर से गरम जल पिला दें; जिससे सुबह कफ नष्ट हो जाय अर्थात् उदर में आजाय; तव रोगी को विरेचन की औषधि देनी चाहिये।

महर्षि सुश्रुताचार्य ने कहा है; कि:—

पक्षाद्विरेको वातस्य ततश्चापि निरूहणम्।
सद्यो निरूढोऽनुवास्य सप्तरात्राद्विरेचतः॥

"वमन कराने से १५ दिन पीछे विरेचन, विरेचन से ७ दिन पश्चात् निरूहण वस्ति; फिर तुरन्त अनुवासन वस्ति दी जाती है।" विरेचन से पहले स्नेहन, स्वेदन, वमनादि क्रिया करने से सब नाड़ियों में रहा हुआ दोष पकाशय में आ जाता है; और नाड़ियाँ मुलायम हो जाती हैं। अतः विरेचन लेने पर सब दोष सुख पूर्वक वाहर निकल जाता है। जब स्नेहन और स्वेदन से प्रचलित दोष कोठे में आता है; तब फिर १ से ३ दिन तक मधुर, खट्टा, नमकीन और स्निग्ध भोजन करने से दोष क्षुब्ध होता है। पश्चात् विरेचन देने पर सरलता से दोष वाहर निकल जाता है। यदि स्नेहनादि क्रिया कराये विना विरेचन देवें; तो शरीर रोगी वन जाता है। अतः प्राचीन आचार्यों ने कहा है; कि:—

स्नेहस्वेदावनभ्यस्य कुर्यात्संशोधनं तु यः।
दारु शुष्कमिवाऽऽनामे शरीरं तस्य दीर्यते॥

जो मनुष्य स्नेहन और स्वेदन कर्म किये विना ही संशोधन औषधि (वमन और विरेचन) का उपयोग करते हैं; उनकी देह, जैसे सूखी लकड़ी मोड़ने पर टूट जाती है, वैसे ही टूट जाती है।

विरेचन के अधिकारी—पित्त, आमविकार, आफरा, बद्धकोष्ठ, दाह, जीर्णज्वर, वातरोग, भगन्दर, बवासीर, पाण्डु, उदररोग, ग्रन्थि (गाँठ), विस्फोटक, नाक के रोग, कर्णरोग, वमन, कुष्ठ, वातरक्त, मस्तकरोग, मुखरोग, गुदारोग, मूत्रेन्द्रिय विकार, हृद्रोग, अरुचि, योनिरोग, प्रमेह, गुल्म, प्लीहा, विद्रधि, व्रण, नाड़ीव्रण, शोथ, कृमि, क्षारसेवन जन्य विकृति, वातविकार, शूल, मूत्राघात, कृत्रिम विष बाधा,

अरुचि, अलसक, विसूचिका (तीक्ष्ण अपचन), वृषणवृद्धि, अभिष्यन्द (नेत्र पाक), मोतियाविन्दु, तिमिर, मृगी, विसर्प, अर्बुद, अभिघातज-व्याधि, अग्निदग्ध, ऊर्ध्व रक्तपित्त, रक्तविकार, श्लीपद, उन्माद, कास और श्वास, इन रोगों में से कोई भी रोग हुआ हो अथवा विष से पीड़ित हो, तो जुलाब या विरेचन देना हितकर है।

औषधि विचार—भगवान् आत्रेय ने विरेचन औषधियों के नाम संक्षेप में निम्नानुसार कहे हैं—

त्रिवृतां त्रिफलां दन्ती नीलिनीं सप्तलां बचाम्।
कम्पिलकं गवाक्षीं च क्षीरिणीमुदकीर्यकाम्॥
पीलुन्यारग्वधं द्राक्षां द्रवन्तीं निचुलानि च।
पक्वाशयगते दोषे विरेकार्थं प्रयोजयेत्॥

(च० सं० सू० २। ७-८)

निशोथ, त्रिफला, दन्ती (जमालगोटा), नील, सप्तला (सातला), वच, कपीला, इन्द्रायण, सत्यानाशी, उदकीर्या (करंज), पीलु, अमलतास, मुनक्का, द्रवन्ती (दन्तीभेद), निचुल (हिज्जल), ये सब पक्वाशय-गत दोष होने पर विरेचनार्थ दी जाती हैं।

श्री० वाग्भट्टाचार्य ने निम्नानुसार औषधियाँ कही हैं।

निकुम्भकुम्भत्रिफलागवाक्षी स्नुक्शङ्खिनीनीलिनीतिल्वकानि।
शम्याककम्पिल्लकहेमदुग्धा दुग्धं च मूत्रं च विरेचनानि॥

अ० हृ० सू० १५। २

दन्ती, निशोथ, त्रिफला, इन्द्रायण, थूहर, शंखिनी (कालमेघ), नील, तिल्वक (अंकोल), शम्याक, कपीला, सुवर्णक्षीरी (सत्यानाशी), दूध और गोमूत्रादि औषधियाँ विरेचन कराने वाली हैं।

विरेचन विधि—अधिक पित्त वाले को मृदु विरेचन, कफ वालों को मध्यम औषधि और वात प्रकृति वालों का क्रूर कोठा समझ कर तीव्र औषधि देनी चाहिये। मृदु कोठे वाले को एरंड का तैल दूध के साथ अथवा अन्य मृदु जुलाब; मध्यम कोठे वाले को निशोथ, कुटकी, अमलतासादि औषधि; तथा कठिन कोठे वालों को दन्ती, थूहर

का दूध, सत्यानाशी की जड़ और जमालगोटादि तीव्र औषधि देनी चाहिये। शीत प्रकृति वालों को उष्ण और उष्ण प्रकृति वालों को शीतल जुलाव हितकर होता है। प्रकृति और ऋतु के अधिक विचार किये बिना जुलाव देना पड़े; तो एरंड का तैल ५ तोले तक, पाव डेढ़ पाव दूध मिला कर दें। विरेचन देने के लिये वसन्त और शरद्‌ऋतु उत्तम हैं। आवश्यकता हो; तो और ऋतु में भी देवें।

एरंड तैल की दुर्गन्ध दूर करने के लिये—(१) सौंफ का अर्क १० तोले में आवश्यक एरंड तैल मिला कर पिलाने से दुर्गन्ध, बेचैनी और बेस्वाद दूर होते हैं; और वायुशमन में सहायता मिलती है।

(२) जिंजर वॉटर (सोंठ का अर्क मिलाकर बने हुए पेय) में एरंड तैल मिला कर पिला देने से सप्रेम पिया जाता है। रोगी को एरंड तैल पीने का बोध नहीं होता; और आम नष्ट होकर क्षुधा प्रदीप्त होती है।

यदि दुग्ध या क्वाथादि के साथ एरंड तैल लेने से मुँह बे-स्वादु हो जाय; तो १-१ करके २०-२५ भुने चने चाबने से मुख शुद्धि हो जाती है।

पित्त वृद्धि वाले को मुनक्कादि के क्वाथ के साथ निशोथ का चूर्ण दें। यदि पित्त अधिक तेज है; तो अमलतास की फली का गर्भ या केवल दूध पिलाने पर भी विरेचन हो जाता है। अतः ऐसे रोगियों को प्रकृति अनुरूप जुलाव दें। कफ वृद्धि वाले को त्रिकटु के चूर्ण को शहद में चटाकर मुनक्कादि के क्वाथ में गोमूत्र मिलाकर पिलावें; और वात पीड़ितों को खट्टे फलों के रस के साथ निशोथ, सैंधानमक और सोंठ का चूर्ण देना चाहिये।

वमन कराने वाली औषधियों में मैनफल और विरेचन औषधियों में निशोथ को श्रेष्ठ माना है। निशोथ का उपयोग करने से पहले ऊपर से छील लें; और भीतर से डंठल निकाल देना चाहिये।

पित्त प्राधान्य प्रकृति वाले को कसैले और मधुर पदार्थ, कफ वृद्धि वाले को चरपरे पदार्थ तथा वात प्रकृति वाले को स्निग्ध, उष्ण और नमकीन पदार्थों से विरेचन कराना हितकारक है।

अति रूक्ष, अति वात वाले, क्रूर कोष्ठ वाले, व्यायाम करने वाले

और दीप्ताग्नि वाले को विरेचन औषधि देने पर पचन हो जाती है। अतः इनको पहले स्नेह वस्ति देकर फिर विरेचन देना चाहिये। रूक्ष को स्निग्ध विरेचन; और अधिक स्निग्ध है, उनको रूक्ष विरेचन देना चाहिये। जो अधिक स्नेह का उपयोग करते हैं; उसे पहले रूक्ष करें; फिर थोड़ा स्नेहन देकर विरेचन देना चाहिये।

विरेचन में ऋतु विचार—वर्षा ऋतु में निशोथ, इन्द्रजौ, पीपल और सोंठ का चूर्ण देकर ऊपर मुनक्का के रस या क्वाथ में शहद मिलाकर पिलावें।

शरद् ऋतु में निशोथ, धमासा, नागरमोथा, मिश्री, नेत्रवाला और श्वेत चन्दन का चूर्ण लेकर ऊपर शहद मिला मुनक्का का रस पिलावें।

शिशिर या वसन्त ऋतु में पीपल, सोंठ, सैंधानमक, अनन्तमूल और निशोथ के चूर्ण का सेवन करावें।

ग्रीष्म ऋतु में निशोथ और मिश्री को सम भाग मिलाकर देवें।

हरीतक्यादि रेचन—हरड़, वायविडंग, सैंधानमक, सोंठ, कालीमिर्च और निशोथ मिला, चूर्ण कर, गोमूत्र के साथ देने से आंतों में से मल निकल जाता है।

त्रिवृतादि गुटिका—निशोथ ३ माशे, त्रिफला ३ माशे; जवाखार, पीपल और वायविडंग १-१ माशे मिलाकर, घी-शहद के साथ दें; अथवा गुड़ में गोली करके खिलावें। इस विरेचन से कफवात जन्य गुल्म, तिल्ली, उदर रोग, भगंदरादि रोग दूर होते हैं। इस विरेचन से हानि होने की भीति नहीं है।

अभयादि मोदक—हरड़, पीपलामूल, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, दालचीनी, तेजपात, नागरमोथा, वायविडंग और आँवला, ये सब १-१ भाग, दन्तीमूल ३ भाग, निशोथ ८ भाग और मिश्री ६ भाग मिलाकर वारीक चूर्ण करें। बाद में गोली बन सकें उतना शहद मिलाकर ३ से ४ माशे की गोलियाँ वना लें। इनमें से १ से २ गोली सुबह शीतल जल के साथ दें। जब जुलाब बन्द करना हो, तब निवाया जल पिलावें।

उपयोग—इस औषधि के सेवन से पाण्डु, विषविकार, कास, विषमज्वर, मन्दाग्नि, उदरशूल, पार्श्वशूल, वातशूल, दोनों प्रकार के अर्श, मूत्राघात, गलगण्ड, भगंदर, सूजन, गुल्म, प्रथमावस्था का क्षय, उदररोग, भ्रम, दाह, मूत्रकृच्छ्र, प्लीहावृद्धि, नेत्ररोग, वातरोग, आध्मान, अश्मरी, कुष्ट और प्रमेहादि रोगों में मल विकार दूर होकर सत्वर लाभ पहुँचता है।

जैसे आयुर्वेद में स्नेहन स्वेदनादि क्रिया का विधान किया है; वैसे यूनानी मत में मुञ्जिस देने के पश्चात् जुलाब देने का रिवाज है। यूनानी विधि निम्नानुसार है*।

पित्तप्रकोप में मुञ्जिस—नीलोफर, कासनी के बीज, कासनी की जड़, परशियावशां (हंसराज), रेशाखतमी, खुब्बाजी, गुलबनफशा, शाहतरा (पित्तपापड़ा) और गुलाब के फूल, इन ९ औषधियों को ३–३ माशे मिला, जौकुट कर, रात्रि को जल में भिगो दें। सुबह तुरंजबीन १ तोला थोड़े जल में अलग भिगो दें। फिर थोड़ा मल-छानकर पिला दें। इस रीति से ३ से ५ दिन तक रोज मुंजिस दें।

कफवृद्धि में मुंजिस—सौंफ, सौंफ की जड़, मुनक्का, मुलहठी, बादरंजबोया, परशियावशां, शकाई, बादियानरूमी, अंजीर, मकोह, तुख्म करफस, उस्तखदूस, गुलाब के फूल, इन १३ औषधियों को ३–३ माशे लेकर जौकुट करें। फिर मुनक्का ५ नग और अंजीर १ नग मिला, रात्रि को जल में भिगो दें। सुबह क्वाथ कर, आधा जल जला डालें। बाद में उतार, गुलकन्द २ तोले मिला, मसल-छानकर पिलावें। ऐसे ९ दिन तक मुंजिस दें।

वात प्रकोप में मुंजिस—गावजवां, ल्हेसुवा, उन्नाव, सौंफ, शाहतरा, उस्तखदूस, परशियावशां, मुलहठी, बिसफायज, इन ९ औषधियों को ३–३ माशे ले, जौकुट कर, भिगो दें। फिर सुबह उबाल, ३ तोले गुलकन्द मिला, छान कर पिलावें। इस रीति से १५ दिन तक मुंजिस देना चाहिये।

---

* सुश्रुत संहिता की हिन्दी टीका के आधार से।

इस तरह प्रकृति के अनुरूप मुंजिस देने के पश्चात् आगे लिखी हुई विधि से जुलाव देवें।

सूचना—मुंजिस देने पर रोगी को शीतल वायु, अधिक परिश्रम और भारी भोजन से बचना चाहिये; तथा आग्रह पूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये। यदि रक्तविकार है, तो उसवा, उन्नाव और चोपचीनी आदि रक्तशोधक औषधियाँ भी मिला लेवें।

मृदु जुलाव—सनाय २ तोले, मुनक्का १५ दाने, इलायची १० दाने और सौंफ ६ माशे लेकर रात्रि को भिगो दें। सुबह उबाल, गुलकन्द ३ तोले मिला, मल-छान कर पिला दें। इससे मृदु कोठे वाले को ८-१० जुलाब लग जायँगे। प्रति जुलाब के बाद थोड़ा-थोड़ा सौंफ का अर्क या निवाया जल पिलावें। इस रीति से ३ दिन तक जुलाब दें। बीच में ठंडाई पिलाते रहें। जुलाब लग जाने पर मूँग का यूष दें। फिर ३-४ घण्टे बाद क्षुधा लगने पर खिचड़ी दें; खिचड़ी में घी न डालें।

जुलाब के बीच में लेने योग्य ठण्डाई—वातवृद्धि वाले को रेशाखतमी, बीहदाने और तुख्म खयारैन (खीरा ककड़ी के बीज) को जल में भिगो, लुआब निकाल, थोड़ी मिश्री मिलाकर पिलावें।

पित्तवृद्धि वाले को कासनी, खयारैन, गुलेगावजुवाँ, इलायची और मिश्री की ठण्डाई बनाकर पिलावें।

रक्तविकार हो, तो उन्नाव, मुलहठी, मुनक्का, गोरखमुण्डी, गुलेबनफशा और मिश्री की ठण्डाई बनाकर पिलावें।

कफवृद्धि में सौंफ, गुलाब के फूल, मुलहठी और कालीमिर्च की ठण्डाई बनाकर पिलावें। यदि कफ प्रकोप अधिक हो, तो ठंडाई न दें।

मध्यम जुलाब—सफेद निशोथ को छील, भीतर का डंठल निकाल, १ तोला चूर्ण करें; तथा बादाम का तेल ६ माशे और मिश्री १ तोला लें। सबको मिला, १ तोले सनाय के क्वाथ के साथ दें। जुलाब लगने पर हर दस्त के बाद सौंफ और मकोय का अर्क ५-५ तोले मिलाकर पिलाते रहें। इससे १०-१२ जुलाब लगते हैं। यदि किसी का कोठा कठोर हो, तो २ तोले गुलकन्द और ५ माशे कालादाना

मिला दें। यदि कोठा अति क्रूर हो, तो साथ में १ माशा उसारे रेवन भी मिला दें।

अमलतास का जुलाब—अमलतास का गूदा २ से ४ तोले को जल में भिगो दें, और सनाय १॥ तोले, बड़ी हरड़ का छिल्का ६ माशे, मुनक्का १५ दाने, आलू बुखारे १५ दाने, (या इमली २ तोले), खतमी, खुब्बाजी, बनफ़शा, सौंफ, सफेद चन्दन का चूर्ण, गोरखमुण्डी, ये ६ औषधियाँ ६-६ माशे और उन्नाव ७ दाने लें। इमली को अलग भिगो दें। शेष औषधियों को जल में मिलाकर उबालें। अमलतास को मलकर छान लें। फिर सबको मिला लें। तथा तुरंजबीन २ तोले और शीरखिस्त १ तोले अलग पानी या अर्क़ गुलाब में भिगो-छानकर मिला लें। तत्पश्चात् गुलकन्द २ तोले मिलाकर मसल लें। फिर थोड़ी बादाम की गिरी का चूर्ण डालकर पिला दें। हर दस्त पर सौंफ का अर्क़, गुलाब का अर्क़ और मकोय का अर्क़ मिलाकर आध-आध पाव पिलाते रहें। इस रीति से ३-४ दिन जुलाब दें। बीच में १-१ दिन ठंडाई देते रहें। इस जुलाब से अनेक रोग दूर होकर पाचनशक्ति बलवान् बनती है।

यह जुलाब उत्तम है। इसमें पहले विधिवत् मुंजिस लेना चाहिये; और खूब पथ्य पालन करना चाहिये।

जमालगोटे का जुलाब—शुद्ध जमालगोटा, इलायची के बीज और सफेद कत्था ६-६ माशे तथा कालीमिर्च ३ माशे मिलाकर, जल में खरल कर आध-आध रत्ती की गोलियाँ बना लें। १ से २ गोली देने से ३-४ दस्त साफ आ जाते हैं। ज्यादा दस्त लाना हो; तो ज्यादा गोलियाँ देवें। बारबार सौंफ का अर्क़ पिलावें।

सूचना—इस औषधि पर गरम जल नहीं पिलाना चाहिये।

वमन-विरेचन एक साथ कराने के लिये—(१) विषप्रकोप में वमन-विरेचन कराने के लिये करेले के पत्ते का रस ४ तोले और एरण्ड तेल ४ तोले मिलाकर देने से वमन और विरेचन होकर आमाशय और अन्त्र, दोनों की शुद्धि हो जाती है।

उतार के लिये घी-भात, घी-मिश्री, दही-भात या गर्म जल पिलाना चाहिये।

(२) जमालगोटे का १ बीज और २ एरण्डबीज को ताम्रपात्र में थोड़े मट्ठे के साथ पीस, फिर पी सके उतना मट्ठा मिलाकर पिला देवें। आवश्यकता हो, तो शीतल जल इच्छानुसार पिलाने से पाव-आध घण्टे में वमन और विरेचन होकर विष निकल जाता है। २-३ बार जुलाब लग जाने पर दही-भात या घी-भात खिलावें; तथा निवाया जल पिलावें।

(३) मैनफल का मग्ज और अजवायन को समभाग मिला, आक के दूध में ३ दिन तक खरल कर, २-२ रत्ती की गोलियाँ बना लेवें। आवश्यकता पर १ से २ गोली निवाये जल के साथ देने से तुरन्त वमन-विरेचन होने लगते हैं। यदि जल्दी वमन-विरेचन न हों; तो निवाया जल पेट भर पिला देने से वमन-विरेचन होकर विष निकल जाता है।

उतार—दही-भात, घी-भात या मिश्री मिला मट्ठा पिलाना चाहिये।

इनके अतिरिक्त रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग संग्रह में इच्छाभेदी रस, अश्वकंचुकी रस, जलोदरारि रस, आरोग्यवर्धनी वटी, नारायण चूर्ण, नाराच चूर्ण, पंचसम चूर्ण, विरेचन चूर्ण, पंचसकार चूर्ण, मंजिष्ठादि चूर्ण, लघुमंजिष्ठादि क्वाथ, बृहद्मंजिष्ठादि क्वाथ, आरग्वधादि क्वाथ, मुंजिस और जुलाब की औषधि, ऐसे अनेक प्रयोग लिखे हैं। इनमें से प्रकृति का विचार कर रोगानुसार किसी एक का उपयोग करें।

वमन कराये विना विरेचन देने से अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। यूनानी में स्नेहन, स्वेदन और वमन के बदले मुंजिस देने का रिवाज है। यद्यपि मुंजिस से स्नेहन, स्वेदन और वमन क्रिया जितना लाभ नहीं होता; तथापि मल पककर फूल जाता है। पश्चात् जुलाब देने से कोठा साफ हो जाता है। परन्तु कोई भी जुलाब की औषधि स्वेच्छानुसार ले लेना, अथवा डाक्टरी रीति के अनुसार चाहे जब (शरीर बल, खानपान, आयु, देश, काल, प्रकृति और रोग का विचार किये विना) जुलाब ले लेना, यह अति हानिकर है।

विरेचन के अनधिकारी—बालक, वृद्ध, अत्यन्त स्निग्ध,

क्षतक्षीण, भयभीत, थका हुआ, तृषा से पीड़ित, अति स्थूल, सगर्भा स्त्री, नवीन तापयुक्त, प्रसूता स्त्री, मन्दाग्नि वाला, अधो रक्तपित्त का रोगी, अतिसारी, शोथ रोगी, क्षय रोगी, अत्यन्त क्रूर कोठे वाला, शल्य पीड़ित, नूतन प्रतिश्याय (नये जुकाम) वाला, शोकसंतापित, मदात्यय रोगी और रूक्ष शरीर वाले को विरेचन देना हानिकारक है।

अति विरेचन के दोष—अति जुलाब लगने पर आमाशय में दाह, अरुचि, उबाक, चक्कर आना, बेहोशी, मूर्च्छा, गुदा का बाहर आ जाना, शूल, आम का अधिक निकलना, मांस के धोवन समान जल जैसा रक्त-मिश्रित दस्त होना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

विरेचन फल—अच्छी रीति से योग्य जुलाब लगने से अन्त में कफ गिरने लगता है। शरीर में लघुता, मन में प्रसन्नता, शुद्ध डकार, और अपानवायु साफ़ होते हैं। विरेचन उत्तम होने पर जठराग्नि प्रदीप्त होना, धातुएँ स्थिर होना, इन्द्रियों का बल बढ़ना, बुद्धि तीक्ष्ण होना, तथा पित्तजन्य विकारों का शमन होना, इत्यादि लाभ प्रतीत होते हैं।

अयोग्य विरेचन प्रतिकार—जुलाब अच्छा न लगे, तो पहले आरग्वधादि क्वाथ मिलाकर आम का पाचन करावें। पश्चात् स्नेहपान करा, पुनः विरेचन दें। कदाचित् जुलाब पचकर, मूर्च्छा, भ्रम, दाह, शोथादि उपद्रव हो जायँ; तो शीतल, मधुर और पित्तशामक प्रयोग करें।

अधिक जुलाब लगे तो:—(१) पद्मकाष्ठ, नेत्रवाला, नागकेशर और चन्दन का क्वाथ पिलावें। उसी काढ़े को शरीर पर छिड़कें; और उसी के चूर्ण से मालिश करें।

(२) आम की गुठली या आम के वृक्ष की छाल काँजी में पीस कर, नाभि पर लेप करें।

(३) चावलों के धोवन में थोड़ा-सा शहद मिला कर पिलाने से अंत्र में संग्राहक शक्ति की वृद्धि होकर विरेचन रुक जाता है।

यदि विरेचन औषधि देने पर भी जुलाब न लगे; तो निवाया जल पिलावें; तथा रोगी को हाथ तपा कर पसवाड़े और उदर पर सेक करने

को कहें। फिर भी जुलाब कम लगे; तो उस दिन भोजन करा दें। पुनः दूसरे दिन या ५-१० दिन बाद (स्नेहन, स्वेदन देकर) विरेचन देवें। कदाचित् जुलाब के दिन समय बहुत रहा हो, रोगी बलवान् हो; तो उसी दिन पुनः दूसरी बार विरेचन औषधि देकर कोष्ठ शुद्धि कर लेना चाहिये।

सूचना—विष पीड़ित, क्षत पीड़ित, पिड़िका शोथ, पाण्डु, विसर्प, कुष्ठ और प्रमेह, इन रोग वालों को अति स्निग्ध न करें। थोड़ा-सा स्निग्ध करके विरेचन की औषधि देवें।

जुलाब की औषधि लेने पर शीतल वायु, शीतल जल से हाथ-पैर धोना, स्नान करना, शीतल जलपान,* शयन (निद्रा), अजीर्णकारक भोजन, व्यायाम, मैथुन और तैलमर्दन का त्याग करना चाहिये। दस्तों के वेग को न रोके; निर्वात स्थान में बैठे या लेटे रहे; शौच के समय अधिक जोर लगाकर प्रवाहण न करे; हाथ निवाये जल से धोवे; तथा नेत्र पर शीतल जल लगावें।

यदि जुलाब के दिन बद्दल हो जाय या शीत हो जाय; तो पेट पर रुई या गरम वस्त्र बाँध लेना चाहिये; तथा आवश्यकता हो, तो निवाये जल से पेट पर सेक करना चाहिये।

विरेचन हो जाने के पश्चात् जिसकी अग्नि प्रदीप्त न हुई हो, ऐसे क्षीण रोगी को या सम्यक् विरेचन न होने पर, उस दिन पथ्य न देना चाहिये। मात्र सायंकाल को अग्निप्रदीप्त करने वाली पेया पिलाना चाहिये; किन्तु जिनके पित्त और कफ कम निकले हों, ऐसे शराबी और बढ़े हुए वात-पित्त वाले को पेया नहीं देना चाहिये। पहले चावल का सत्तू, फिर पुराना शालि चावल, तीसरे समय मांसरस और भात, इस क्रम से भोजन देना चाहिये।

जुलाब के पीछे सामान्य रीति से खिचड़ी खाना लाभदायक है।

---

* शीतल जलपान की मनाही होने पर भी दन्ती और जमालगोटा मिश्रित विरेचन में शीतल जलपान की आज्ञा दी है।

जुलाब के साथ में सौंफ का अर्क पिलाने से आम विकार नष्ट होने में बड़ी सहायता मिलती है।

बार-बार जुलाब लेने की आदत से मन्दाग्नि, निर्बलता, नेत्रों की कमजोरी आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। इसलिये जरूरत के विना जुलाब नहीं लेना चाहिये।

जुलाब लेने पर ग्लानि दूर करने के लिये इलायची, लौंग, दालचीनी, सौंफ, सुपारी या पान देवें। यदि एरंड तेल पिलाया हो, तो भुने हुए चने १-१ करके २०-२५ दाने चबाने से मुख शुद्धि हो जाती है।

वस्ति विधि।

शास्त्रकारों ने वस्ति ३ प्रकार की कही है। (१) स्नेह (अनुवासन) वस्ति, (२) निरूह (आस्थापन) वस्ति, (३) उत्तर वस्ति।

वस्ति मूत्राशय को कहते हैं। पहले मृगादि पशुओं की वस्ति द्वारा पिचकारी दी जाती थी। इसलिये इस विधि का रूढ़ नाम वस्ति विधि प्रचलित हो गया है।

अनुवासन वस्ति—इन वस्तियों द्वारा घृत-तैलादि स्नेह रोज गुदा में चढ़ाया जाता है; अतः इसे अनुवासन वस्ति कहते हैं। अनुवासन का अर्थ 'अनुवसन्नपि न दूष्यति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस स्नेह युक्त वस्ति का घृत-तैलादि स्निग्धांश कोठे में रह जाने पर भी दोष उत्पन्न नहीं करता; एवं अधिकारी अनुदिन (विना नागा मर्यादित दिनों तक) वस्ति ले सकते हैं, इन दोनों हेतुओं से इस विधि को अनुवासन वस्ति कहा है।

आस्थापन वस्ति—जो वस्ति निवाया जल, क्वाथ, तैल या दूध आदि को मिश्रित करके दी जाती है; और शरीर में रहे हुए दोष को निकालती है; और वयःस्थापन कराती है, उसे आस्थापन वस्ति कहते हैं। मल और दोषों को बाहर निकालती है, इसलिये इसे निरूह वस्ति भी कहते हैं।

निरूह वस्ति संशोधन और लेखन है, और स्नेह वस्ति बृंहण है।

निरूह वस्ति द्वारा मार्ग को शुद्ध कर स्नेह वस्ति देने से स्नेह अपने मार्ग पर ठीक गमन कर सकता है, अतः मलिन देह वाले को दोष दूर करने के लिये निरूहण वस्ति देकर पश्चात् स्नेह वस्ति देना चाहिये। शुद्ध देह वाले को और रूक्ष कोठे वाले को पहले अनुवासन वस्ति से स्निग्ध कर, पश्चात् निरूहण वस्ति देनी चाहिये।

सब स्नेहादि कर्मों में वस्ति कर्म को आचार्यों ने प्रधानतम कहा है। इसलिये कि इस एक वस्ति क्रिया से ही अनेक कार्यों की सिद्धि होजाती है। यह वस्ति कर्म यदि दोष, औषधि, देश, काल, सात्म्य, अग्नि, सत्व, वय और बलादि बातों का विचार कर सम्यक् प्रकार से दी जाय; तो यह नाना प्रकारों के द्रव्यों के संयोग से दोषों का संशोधन, संशमन और संग्रहण रूप सिद्धि प्रदान करती है, यह महर्षि चरक का उपदेश* है। इतना ही नहीं, वस्ति क्षीण वीर्य वाले को वाजीकरण शक्ति प्रदान करती है; कृश को स्थूल बनाती है; नेत्रों को तृप्त, वलीपलित का नाश, वय की स्थापना, शरीर की पुष्टि; तथा वर्ण, बल, आरोग्यता और आयु की वृद्धि करती है।

वस्ति के अधिकारी—जीर्णज्वर, पक्वातिसार, तिमिर, पक्व-प्रतिश्याय, शिरोरोग, अधिमन्थ (नेत्ररोग), अर्दितवायु, आक्षेपकवायु, पक्षाघात, एकांगवात, सर्वांगवात, आध्मान, उदररोग, शर्करा (मूत्र में रेती के कण जाना), शूल, वृषणवृद्धि, उपदंश, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, गुल्म, वातरक्त, वातरोग, बद्धकोष्ठ, बद्धकोष्ठजनित रोग, उदावर्त; शुक्र, आर्तव और स्तन्य (दूध) की न्यूनता, विकृति या नाश होना; हृदय, ठोड़ी और मन्या का रुक जाना; अर्श, अश्मरी और मूढगर्भादि रोगों में वस्ति का उपयोग अवश्य करना चाहिये। इस विषय में प्राचीन आचार्यों का कथन है, कि—

---

* समीक्ष्य दोषौषधदेशकालसात्म्याग्निसत्त्वावयोबलानि। वस्तिः प्रयुक्तो नियतं गुणाय स्युःसर्वकर्माणि च सिद्धिमन्ति॥ ९॥ च० सं० सिद्धिस्थान अ० ३। ९

वस्ति वाते च पित्ते च कफे रक्ते च शस्यते ।
संसर्गे सन्निपाते च वस्तिरेव हितः सदा ॥
(सु० सं०)

वस्ति कर्म वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, द्वन्द्वज एवं त्रिदोषज रोगों में सर्वदा हितकारी है।

अनुवासन बस्ति के अनधिकारी—उदरकृमि, आढ्यवात (ऊरुस्तम्भ), अपची, श्लीपद, गण्डमाला, पाण्डु, कामला, पीनस, प्लीहावृद्धि, अतिसार, अभिष्यन्द, प्रमेह, उदररोग, इन रोगों से पीड़ित; स्थूल शरीर वाले, विष पिये हुए, कृत्रिम विष प्रकोप वाले और भोजन न करने वाले, इनमें से किसी को भी स्नेह वस्ति नहीं देनी चाहिये।

दोनों बस्तियों के अनधिकारी—अति स्निग्ध, वमन की इच्छा वाले, उरःक्षत रोगी, अतिकृश; आध्मान, वमन, हृल्लास (उबाक), प्रसेक (मुँह में पानी आना), अति मन्दाग्नि, हिक्का, अर्श, कास, श्वास, गुदा के रोग, शोथ, अतिसार, छिद्रोदर, बद्धोदर, जलोदर, मधुमेह, विसूचिका और महाकुष्ट के रोगी, ७ मास की सगर्भा स्त्री तथा संशुद्ध, ये सब निरूह और स्नेह वस्ति के अनधिकारी हैं। इन्हें भूलकर भी वस्ति नहीं देनी चाहिये।

भयभीत, उन्माद रोगी, तृषा रोगी, शोष, अजीर्ण, अरुचि, प्रमेह, मूर्च्छा, महाकुष्ठ, उदर, मेद रोगी (स्थूल शरीर वाला), श्वास, कास, क्षय, शोथ, भ्रम, मदात्यय, वमन, इनमें से किसी भी रोग से पीड़ित और जिनसे वस्ति सहन न होती हो; उनमें से यदि कोई वात रोगी न हो, (तीक्ष्ण वात प्रकोप वाले न हों); तो आस्थापन या अनुवासन-वस्ति में से एक भी नहीं देनी चाहिये।

उदर, प्रमेह, कुष्ठ और मेद रोगी को अति आवश्यकता हो, तो आस्थापन वस्ति दें। परन्तु अनुवासन वस्ति कदापि नहीं देनी चाहिये।

वस्ति का सम्यक् उपयोग होने से वह पक्वाशय, कमर और नाभि के नीचे के समस्त भाग में स्थित हो जाती है। इनमें पक्वाशय (अन्त्र) द्वारा सारे शरीर के सूक्ष्म छिद्रों में इस रीति से पहुँच जाती है, जैसे कि

वृक्ष के मूल में सिंचन किया हुआ जल वृक्ष के समस्त भागों में पहुँच जाता है। फिर वही वस्ति द्रव्य तुरन्त केवल दोष या मल को लेकर वापस लौट आती है; और अपानादि वायु द्वारा वह मलदोप वाहर निकल आता है। जैसे आकाश में रहते हुए सूर्य पृथ्वी पर से रसों को आकर्षित कर लेता है। ठीक इसी प्रकार वस्ति पक्वाशय में स्थित रहकर मस्तक से लेकर पैरों तक के दोषों को खींच लेती है। सम्यक् उपयोग की हुई वस्ति कटि, पीठ और कोष्ठ स्थानों में संचित दोषों का विलोडन कर मूल से उखाड़ कर फेंक देती है। तीनों दोषों का कोप होने में प्रधान प्रेरक वात धातु ही है; यह वात धातु प्रकुपित होकर जब देह को नष्ट करने लगती है; तब वात के वेग का निरोध करने के लिये वस्ति से इतर कोई भी उत्तम साधन नहीं है।

इस वस्ति के उपयोगार्थ शास्त्रकारों ने बैल, बकरे, भैंस, सूअर आदि की वस्ति को रंगाकर उपयोग में लेने का लिखा है। तथा नेत्र (नली) विशेषतः मूल में अंगुष्ठ समान और अग्रभाग में कनिष्ठिका के समान, बीच में मूंग, मटर और छोटे वेर के समान छिद्र वाली अर्थात् गोपुच्छ सदृश चढ़ाव-उतार वाली वनवाने का लिखा है। यह नेत्र (नली) कारीगर को समझाकर सुवर्ण, चाँदी, ताम्रादि धातु या वृक्ष की शाखा में से वनवा लें। फिर नेत्र को सूत्र से यथाविधि वस्ति के साथ बाँध दें। अथवा साम्प्रत में वस्ति के लिये जो विदेशी चमड़े और रबर की एनीमा तथा ऐनमल और काँच के ड्यूश आते हैं, उनमें से एक का उपयोग करें।

सूचना—स्नेह वस्ति या निरूहण वस्ति किसी का भी अधिक सेवन नहीं करना चाहिये। स्नेह वस्ति का अतियोग होने पर पित्त कफ की वृद्धि होकर वेदना और अग्निमांद्य; तथा निरूहण के अतियोग से वात प्रकोप का भय रहता है।

स्नेह (अनुवासन) वस्ति।

विधि—अनुवासन वस्ति रूक्ष शरीर, तीक्ष्ण अग्नि और केवल

वात प्रकृति वाले को दी जाती है। उनमें भी जिन्होंने शरीर को वमन-विरेचन से शुद्ध किया होवे, केवल उन्हीं को विरेचन लेने के ७ से १० दिन बाद, शरीर में अच्छी शक्ति आने पर, भोजन कर लेने के पश्चात् हाथ गीले हों उतने में (तुरन्त) दें। यदि कोई जुलाब न देने योग्य रोगी होवे; तो उनको पहले कोठे का मल दूर करने के लिये निवाये जल वाली निरूहण वस्ति तीसरे-तीसरे दिन पर ३ बार दें। फिर अनुवासन वस्ति दें।

शीतकाल और वसन्त ऋतु में दिन में; तथा ग्रीष्म, वर्षा और शरद्-ऋतु में रात्रि में वस्ति देना विशेष हितकर है। अनुवासन वस्ति लेने वाले रोगी को भोजन हलका (तुरन्त पचन हो जाय ऐसा) थोड़ा कम प्रमाण में (पौना), एवं थोड़े घृत वाला कराना चाहिये। अधिक घृत युक्त भोजन कराकर वस्ति न दें। (अन्यथा स्नेह द्विगुण हो जाने से मद या मूर्च्छा हो जायगी) एवं रूक्ष भोजन के पश्चात् भी वस्ति न दें।

वस्ति कम मात्रा में देने से इच्छित लाभ नहीं होता; और अधिक मात्रा में देने से उदर में आफरा, ग्लानि और अतिसार उत्पन्न होते हैं। इसलिये देश, काल और प्रकृति का विचार करके वस्ति दें।

वस्ति देने के समय शौच और लघुशंका कराकर रोगी को बांयी करवट सुलावें। रोगी बाँयाँ पैर फैलावे और दाहिना मोड़ ले। फिर गुदा पर घी-तैलादि स्नेह लगाकर वस्ति दें। पश्चात् १-२ मिनट तक चित लिटाकर रोगी के पैरों के तलुओं में वैद्य अपनी उँगलियों से ३-३ बार धीरे-धीरे ठोकें। फिर इच्छानुसार सोने या बैठने दें। वेग उत्पन्न होने पर स्नेह सहित मल त्याग करे। दो या तीन प्रहर तक तैल भीतर रह जाय, तो अच्छा लाभ पहुँचता है। क्योंकि तुरन्त स्नेह को निकाल देने से इच्छित लाभ नहीं होता।

वस्ति की मात्रा—वस्ति द्वारा शरीर में घृत-तैलादि चढ़ाने के लिये ६ से २४ तोले तक की मात्रा प्राचीन ग्रन्थों में लिखी है। यह वस्ति क्रिया की प्राचीन विधि अति हितकर है। तथापि वर्त्तमान में यह प्रथा बहुधा नष्ट हो गई है। क्वचित् कोई चिकित्सक मात्र भयंकर

मलावरोध के समय ५ से २० तोले तक एरण्ड तैल चढ़ाते हैं।

घृत-तैलादि स्नेह के साथ सौंफ और सैंधानमक बारीक पीस कर मिला दें। यह चूर्ण ४ तोले स्नेह में १ माशा मिलावें। फिर थोड़ा निवाया कर वस्ति दें। वस्ति देने के समय वस्ति में रहे हुए सब तैल न चढ़ा दें। थोड़ा शेष रहने दें। अन्यथा बाहर से वायु भी भीतर प्रवेश कर जाती है।

जिस मनुष्य को बिना उपद्रव ६ से ९ घण्टे बाद मल सहित स्नेह बाहर निकल आवे; उसको अच्छी रीति से अनुवासित हुआ जानें। कदाचित् २४ घण्टे तक स्नेह भीतर रह जाय, फिर बाहर आवे; तो भी कोई दोष नहीं। परन्तु स्नेह वापस न आने पर अन्य स्नेह वस्ति नहीं देनी चाहिये। कदाचित् स्नेह पाचन हो जाय; तो गुण कम करेगा। किन्तु हानि का लेश मात्र भय नहीं है।

कदाचित् अनुवासन वस्ति का स्नेह भीतर रह जाने से त्रास होता हो; तो निम्न वर्त्ति को चढ़ाकर स्नेह को बाहर निकाल डालें, या लङ्घन करावें।

आगारधूमादि वर्त्ति—घर का धुआँ, बड़ी कटेली, पीपल, मैनफल, सैंधानमक और सोंठ को मिला, काँजी, गोमूत्र या शराब में खरल कर वर्त्तियाँ बना लें। यदि अनुवासित तैल वापस न आता हो; तो इस वत्ती का उपयोग करें। इस वत्ती के उपयोग से यदि गुदा में दाह हो जाय, तो स्नेह वापस आने पर मुलहठी के क्वाथ को शीतल कर, शक्कर और शहद मिला कर वस्ति दें। अथवा गूलर, वटादि दूध वाले वृक्षों की छाल के क्वाथ की या शीतल दूध की वस्ति दें। या इस क्वाथ को छिड़कते रहें।

प्रदीप्त अग्नि वाले को अनुवासन वस्ति देने के बाद प्रातःकाल का भोजन पचन हो जाने पर सायंकाल को हलका भोजन दें।

उपरोक्त विधि से अधिक से अधिक ९ समय तक अनुवासन वस्ति दें। कफ विकार वाले को ३, पित्त प्रकृति वाले को ७ और वात प्रकृति वाले को ९ वस्ति तक देनी चाहिये।

यदि स्नेहन ठीक न हुआ हो, तो और स्नेहन वस्ति देनी चाहिये। हीन अनुवासन में वायु, मल, मूत्र और स्नेह स्तब्ध हो जाते हैं; तथा अति अनुवासित होने पर दाह, ज्वर, प्यास और बेचैनी होजाती है।

अनुवासन वस्ति अधिक लेने से पित्त, कफ की वृद्धि होती है। अतः प्रकृति का विचार कर उपयोग करना चाहिये।

प्राचीन आचार्यों ने लिखा है कि पहली वस्ति से वंक्षण (पेड़ू) में स्निग्धता, दूसरी से मूर्धस्थान का वातशमन, तीसरी से वल और वर्ण की उत्पत्ति, चौथी और पाँचवीं से रस-रक्त में, छठी से मांस में, सातवीं से मेद में तथा आठवीं-नवमी से अस्थि और मज्जा में स्निग्धता उत्पन्न होती है। परन्तु शुक्रदोष नाशार्थ द्विगुण वस्ति (१८ वस्ति) साधनी चाहिये। इस रीति से जो पुरुष १८ दिन १८ वस्तियों का सेवन करेगा, तो वह हाथी के समान वलवान्, घोड़े के समान वेगवान् और देवों के सदृश कान्तिवान् वन जाता है।

रूक्ष शरीर, अधिक वात वाले अथवा तीक्ष्ण अग्निवाले को नित्य प्रति वस्ति दें। मन्दाग्नियुक्त रोगी को स्नेह वस्ति देने के वाद, दूसरे दिन वस्ति न दें; स्नेह विकार नष्ट होने के लिये धनियाँ और सोंठ का क्वाथ षडंगपानीय विधि से करके पिलावें और तीसरे दिन पुनः वस्ति दें।

यदि कोई रोगी तीव्र वात विकार से पीड़ित हो; वमन-विरेचनादि से संशोधन न किया हो और अनुवासन वस्ति देना हो; तो प्रकृति का विचार कर किसी भी समय (दिन या रात्रि को) एक-एक दिन छोड़ कर अनुवासन करावें। यदि वायु से पीड़ित रोगी स्निग्ध न हो; तो भी उसे स्नेह मिश्रित निरूहण वस्ति दे सकते हैं। ठीक निरूहण होने पर वायु में बिल्वतैल, पित्त में मुलहठी तैल और कफ में मैनफल के तैल से अनुवासन करें।

वहुधा रात्रि को वस्ति नहीं दी जाती, इसलिये कि रात्रि में दोषों का उत्क्लेश होता है और उससे आध्मान, भारीपन तथा ज्वर आजाने की भीति रहती है; फिर भी रोगी अधिक पित्त, क्षीण कफ, रूक्ष शरीर वाला और वातपीड़ित हो, तो रात्रि में भी वस्ति दी जाती है। उष्णकाल में तो

पित्त प्रकृति वाले को रात्रि के पहले पहर में ही वस्ति देना हितकर है।

कोई मनुष्य वमनादि क्रिया से शरीर शुद्ध न करे, केवल वस्ति का ही प्रयोग करे; उसको यदि मल सहित तैल निश्चित समय पर बाहर न आवे; शिथिलता, अफरा, शूल, श्वास और आँतों में भारीपन (बद्धकोष्ठ) हो जाय; तो निरूह वस्ति द्वारा दोष को बाहर निकाल लें, या तीक्ष्ण औषधि की फलवर्त्ति द्वारा मल को त्याग कराने का प्रयत्न करें।

यदि वायु स्नेह और मलसहित अनुलोम हो जाय, तो विरेचन और तीक्ष्ण नस्य देवें।

स्नेह वस्ति देने के पीछे तुरन्त केवल स्नेह ही बाहर निकल आवे (मल न निकले); तो पुनः थोड़े परिमाण में वस्ति देनी चाहिये।

अति रूक्ष और भयंकर वातविकार वाले को २-३ स्नेह वस्ति देकर निरूह वस्ति में स्नेह मिश्रित करके देना चाहिये।

अनुवासन वस्ति के लिये रास्ना, देवदारु, बेल, मैनफल, सौंफ, श्वेत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, गोखरू, अरणी और श्योनाक, ये १० औषधियाँ विशेष उपयोगी हैं। इनमें से अनुकूल औषधि और व्याधिशामक औषधियों को मिला, यथा विधि तैल सिद्ध करके, वस्ति कर्म में उपयोग करें और वस्ति के तैल में थोड़ा सैंधानमक भी मिला लें।

वात, पित्त और कफ दोषों के शमनार्थ शास्त्र में सहस्रशः सिद्ध प्रयोग लिखे हैं। उनमें से यहाँ केवल ६ प्रयोग ही दिये हैं; तथा कुछ प्रयोग रोगों की चिकित्सा के साथ भी आगे दिये जायँगे। यदि किसी को वस्ति के अधिक प्रयोगों का उपयोग करना हो, तो वे मूल शास्त्रीय ग्रन्थों का अवलोकन करें।

गुडूच्यादि तैल—गिलोय, एरंड की जड़, पूतिकरंज, भारंगी, वासा, रोहिष घास, शतावर, पियावांसा और काकजंघा ५-५ तोले; जौ, उड़द, अलसी, बेर और कुलथी १०-१० तोले लें। सबको कूट ६४ सेर जल में क्वाथ करें। चतुर्थांश रहने पर उतार कर छान लें। फिर इस क्वाथ के साथ जीवन्ती, काकोली, क्षीर काकोली, जीवक, ऋषभक,

मेदा, मुद्गपर्णी, मापपर्णी और मुलहठी, इन ६ औषधियों का एक-एक छटाँक कल्क तथा ४ सेर तिल तैल मिला, यथा विधि तैल सिद्ध करें।

इस वस्ति के तैल के साथ देवदारु, वच, रास्ना, सोया, कूठ और सैंधानमक का चूर्ण २-२ माशे मिला, देना हितकर है। इस तैल की वस्ति से सम्पूर्ण वात विकार नष्ट हो जाते हैं। दोष शमन के लिये धनियाँ और सोंठ का क्वाथ पिलावें।

शठ्यादि तैल—कचूर, पुष्करमूल, पीपल, मैनफल, देवदारु, सोया, कूठ, मुलहठी, बच, बेल की छाल और चित्रकमूल, इन ११ औषधियों को सम भाग लेकर दुगुने दूध के साथ पीसकर कल्क करें। फिर कल्क, कल्क से ४ गुना तैल और कल्क से चतुर्गुण जल मिलाकर यथाविधि पाक करें। इस तैल का वस्तिकर्म में उपयोग करने से मूढ़ वात का अनुलोमन होता है; तथा अर्श, ग्रहणी-दोष, आनाह, विपमज्वर, कटि, उर, पृष्ठ, कोष्ठ, इन सब स्थानों के वातरोग नष्ट हो जाते हैं।

बचादि तैल—बच, पुष्करमूल, कुष्ठ, इलायची, मैनफल, देवदारु, सैंधानमक, काकोली, क्षीर काकोली, मुलहठी, मेदा, महामेदा, अमलतास की छाल, पाठा, जीवक, जीवन्ती, भारंगी, सफेद चन्दन, कायफल, सरला (सफेद निशोथ), अगर, बेलछाल, नेत्रवाला, असगन्ध, चित्रकमूल, वृद्धि, बायविडंग, अमलतास की फली का गूदा, वृद्धदारू, काली निशोथ, पीपल, ऋद्धि, इन ३२ औषधियों को समभाग मिलाकर कल्क बनावें। फिर कल्क १ सेर, बृहत्पंचमूल १६ सेर का क्वाथ, दूध ८ सेर और तिल का तैल ४ सेर मिलाकर यथाविधि सिद्ध करें।

इस तैल का वस्ति में उपयोग करने से गुल्म, आफरा, अग्निमांद्य, अर्श, ग्रहणी, मूत्र में प्रतिबन्ध, ये सब रोग दूर होते हैं। यह तैल वातरोगी के लिये उत्तम लाभदायक है।

चित्रकादि तैल—चित्रकमूल, अतीस, पाठा, दन्तीमूल, बेलछाल, वच, गूगल, श्वेत निशोथ, शालपर्णी, रास्ना, काली निशोथ, अमलतास की फली का गूदा, चव्य, अजमोद, सोया, रेणुकबीज, असगन्ध, मजीठ, कचूर, पुष्करमूल, गठौना, इन २१ औषधियों को समभाग

मिलाकर कल्क करें। फिर कल्क १ भाग, दूध १६ भाग, जल ४ भाग और तैल ४ भाग मिला, यथाविधि पाक करें।

यह तैल गृध्रसी, खञ्जवात, कुब्जवात, ऊरुस्तंभ, मूत्रदोष, उदावर्त्त, इन सब रोगों के लिये श्रेष्ठ है। मंदाग्नि वालों के लिये भी वस्ति कर्म में हितावह है।

मधुकादि घृत—मुलहठी, खस, गंभारी, कुटकी, कमलगट्टा, चन्दन, श्यामा (प्रियंगू), पद्माख, नागरमोथा, इन्द्रजौ, अतीस, नेत्रवाला, इन १२ औषधियों को समभाग मिलाकर कल्क करें। फिर इस कल्क के साथ ४ गुना घृत और ८ गुना जल मिलाकर यथाविधि सिद्ध करें। पकने के समय कल्क से चतुर्थांश तैल और अठगुना दूध मिलावें।

इस घृत में न्यग्रोधादि गणका क्वाथ मिलाकर वस्ति कर्म में उपयोग करने से पित्त प्रकोप जनित दाह, रक्त प्रदर, विसर्प, वातरक्त, विद्रधि, रक्तपित्त और ज्वरादि रोग दूर होते हैं।

मृणालादि तैल—कमल की नाल, कमल, कमलकन्द, श्वेत अनन्तमूल, कृष्ण अनन्तमूल, नागकेशर, सफेद चन्दन, लाल चन्दन, चिरायता, कमलगट्टे, कसेरु, पटोलपत्र, कुटकी, मजीठ, प्रियंगू, पित्तपापड़ा, अडूसा, इन १७ औषधियों को समभाग मिलाकर कल्क करें। फिर कल्क, कल्क से ४ गुना तैल, तैल से द्विगुण दूध तथा तैल से ४ गुना तृण पंचमूल का क्वाथ मिलाकर, यथाविधि तैल सिद्ध करें। इस तैल का वस्ति, नस्य, मर्दन और पीने के लिये उपयोग करने से पित्त के अनेक प्रकार के रोग नष्ट हो जाते हैं।

त्रिफलादि तैल—हरड़, वहेड़ा, आँवला, अतीस, मूर्वा, निशोथ, चित्रकमूल, अडूसा, नीम की अन्तर छाल, अमलतास की फली का गूदा, पीपलामूल, सातला, हल्दी, दारुहल्दी, गिलोय, इन्द्रायण की जड़, पीपल, कूठ, सरसों, सोंठ, इन २० औषधियों को समभाग मिलाकर कल्क करें। फिर कल्क, कल्क से ४ गुना तैल, तैल से ४ गुना सुरसादिगण* का क्वाथ मिलाकर यथाविधि तैल सिद्ध करें।

* सुरसादिगण—तुलसी, श्याम तुलसी, मरुवा, अजवला, वन तुलसी,

इस तैल की योजना पीने, मर्दन करने, गण्डूप (कुल्ले करने), नस्य देने और वस्ति कर्म में उपयोग करने से स्थूलता, आलस्य और खुजली आदि कफ प्रकोपजन्य रोग नष्ट हो जाते हैं।

पाठादि तैल—पाठा, अजमोद, महाकरंज, पीपल, गजपीपल, सोंठ, निशोथ, काला अगर, भारंगी, चव्य, देवदारु, कालीमिर्च, छोटी इलायची, हरड़, कुटकी, कचूर, पीपलामूल, कायफल, इन १८ औषधियों को समभाग मिलाकर कल्क करें। फिर कल्क, कल्क से ४ गुना तिल तैल या एरंड तैल तथा वल्ली पंचमूल (विदारीकन्द, अनन्तमूल, हल्दी, गिलोय और मेंढ़ासिंगी) और कंटक पंचमूल (करौंदा, गोखरू, कटसरैया, शतावर और महाशतावर); इन १० औषधियों का क्वाथ तैल से २-२ गुना डाल, यथाविधि तैल सिद्ध करें। इस तैल की अनुवासन वस्ति देने से सर्व प्रकार के कफ रोग नष्ट होते हैं।

जीवन्त्यादि यमक—जीवन्ती, अतिबला, मेदा, काकोली, क्षीर काकोली, जीरा, पीपल, काकजंघा, कौंच के बीज, कचूर, काकड़ासिंगी, जीवक, सफेद सारिवा, काली सारिवा, पियाबाँसा, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, पीपलामूल, इन २० औषधियों को समभाग मिलाकर कल्क करें। फिर कल्क, कल्क से २ गुना तैल, २ गुना घी और १६ गुना दूध मिलाकर यथाविधि पाक करें। इस यमक का स्नेह वस्ति द्वारा उपयोग करने से वीर्य, अग्नि और बल की वृद्धि होती है। यह यमक बृंहण गुण पहुँचाता है। वात-पित्त विकार, गुल्म और आनाह को नष्ट करता है। इस यमक के पान और नस्य से गले के ऊपर के रोग नष्ट हो जाते हैं।

सामान्य औषधि—वातशमन के लिये सौंफ, करंज और कांजी आदि पदार्थों से सिद्ध किये हुये तैल का उपयोग हितकारक है। इस तरह सैंधेनमक को गरम कर तैल में मिलाकर वस्ति देने से

रोहिषतृण, सुगन्धित तृण, क्षुद्र तुलसी, काले पत्ते की छोटी तुलसी, कसौंदी, नकछिकनी, भारंगी, काकजंघा, खरपुष्पा-वर्बरी, वायविडंग, कायफल, श्वेत निर्गुण्डी, लाल निर्गुण्डी, तालमखाना, मूषाकर्णी, मकोय और राजनिम्ब, इनमें से जितनी औषधियाँ मिल जायँ, उनको मिला लें।

वात प्रकोप दूर होता है। वात-शमनार्थ किंचित् उष्ण तैल की वस्ति देनी चाहिये।

श्लेष्म-नाशार्थ बिल्वादि बृहद् पञ्चमूल और इतर कफघ्न औषधियों से सिद्ध किये हुये तैल की वस्ति देवें। इस तरह मैनफल और कांजी को मिला, तैल सिद्ध कर वस्ति देने से भी कफ नाश हो जाता है।

सूचना—उष्णता से पीड़ितों के लिये शीतल औषधियों की; तथा शीत प्रकोप से पीड़ितों के लिये उष्ण औषधियों की वस्ति की योजना करनी चाहिये।

शोधन साध्य रोगों पर कदापि बृंहण औषधि नहीं देनी चाहिये।

निरूह (आस्थापन) वस्ति।

इस निरूह वस्ति का सेवन विशेषतः अनुवासन वस्ति से कोठा स्निग्ध होने पर किया जाता है; अतः इस निरूह का विवेचन अनुवासन के पश्चात् किया है। अनुवासन के जो अनधिकारी हों, उनको वमन-विरेचनादि से शुद्ध करके निरूह वस्ति दें; तथा अनुवासित (स्निग्ध) पुरुष को प्रायः तीसरे दिन निरूहण वस्ति दी जाती है। इस निरूह वस्ति का प्रयोग स्नेहन और स्वेदन क्रिया जिसने की है; उसको मल-मूत्र का त्याग करने के पश्चात् और भोजन के पहले मध्याह्न काल में करना चाहिये।

वस्ति मिश्रण—आस्थापन वस्ति में सामान्य रीति से वातरोगी के लिये शहद १२ तोले, स्नेह २४ तोले और प्रक्षेप १२ तोले मिलावें।

पित्तरोगी के लिये शहद १६ तोले, स्नेह १६ तोले और शेष प्रक्षेप १६ तोले लेवें।

कफ रोगी के लिये शहद २४ तोले, स्नेह १२ तोले और आवाप (प्रक्षेप) १२ तोले मिलाये जाते हैं।

कल्क ८ तोले, गुड़ ४ तोले, सैंधानमक १ तोला और क्वाथ ४० तोले, ये तीनों प्रकृति के लिये बहुधा समान मिलाये जाते हैं। फिर भी शक्त्यानुसार देश काल का विचार कर मात्रा न्यूनाधिक की जाती है। वस्ति में

शहद, स्नेह, कल्क, गुड़, क्वाथ और सैंधानमक से इतर काँजी, गोमूत्र, मट्ठा, दूध, मांसरस, नीबू का रसादि मिलाये जाते हैं, उन्हें प्रक्षेप कहते हैं।

शास्त्रोक्त निरूह वस्ति तैयार करने के लिये १ तोला सैंधेनमक को १६ तोले शहद के साथ मिलावें। बाद में घी अथवा तैल मिलाकर मथन करें। पश्चात् ८ तोले औषधियों का कल्क और क्वाथ का जल ३२ तोले मिलावें। यदि दूध, गोमूत्र, कांजी, मांसरसादि औषधि मिलाना होवे; तो उसको भी ३२ तोले तक अच्छी रीति से मसल-कूटकर मिलावें।

इस तरह मिश्रण तैयार कर वस्ति लेने से शरीर शुद्ध होता है। इतना ही नहीं; जो-जो औषधियाँ मिलाई जाती हैं; उनका गुण भी शीघ्र ही प्रतीत होने लगता है। इस निरूह वस्ति में क्वाथादि वस्तु कुछ गर्म लेवें, किन्तु अधिक गर्म न लें। शीतल वस्ति से आफरा और शूलादि उपद्रव होते हैं; तथा अधिक उष्ण वस्ति से दाह, शुक्राशय को हानि और मूर्च्छादि उपद्रव हो जाने का भय रहता है।

मात्रा—निरूहण की मात्रा पहले वर्ष में ४ तोले, फिर १२ वर्ष तक प्रति वर्ष ४-४ तोले बढ़ाता जाय; अर्थात् पहले वर्ष में ४ तोले, दूसरे में ८ तोले, ५ वें वर्ष में २० तोले और १२ वर्ष होने पर ४८ तोले लेवें। पश्चात् १८ वर्ष की आयु तक ८-८ तोले बढ़ाना चाहिये; अर्थात् १३ वें वर्ष में ५६ तोले, १५ वें वर्ष में ७२ तोले और १८ वें वर्ष में ९६ तोले लेवें। फिर यही मान ९६ तोले ७० वर्ष की आयु तक कायम रक्खें। पुनः अति वृद्धावस्था में मात्रा थोड़ी कम (८० तोले) करनी चाहिये।

सूचना—वस्ति देने के पहले रोगी को तैल की मालिश करा स्वेदन करालें। फिर भोजन से पहले मध्याह्न काल में वस्ति क्रिया करावें।

निरूह बस्ति के अधिकारी—वातरोगी, उदावर्त्त, वातरक्त, विषम ज्वर, मूर्च्छा, तृषा, जलोदर से अन्य उदर रोग, आफरा, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, अण्डवृद्धि, रक्त प्रदर, अग्निमांद्य, शूल, अम्लपित्त, और हृद्रोग से पीड़ितों को विधिपूर्वक निरूह वस्ति देनी चाहिये; तथा आवश्यकता पर उदर रोगी, प्रमेह पीड़ित, कुष्ठ रोगी तथा स्थूल शरीर वाले को भी निरूह वस्ति दी जाती है।

क्षय रोगी, उरःक्षत पीड़ित, अशक्त, मूर्च्छित, इनमें से जो वमन-विरेचनादि से अति कृश हुए हों और जिनको शोधन वस्ति देने से दोष दूर होने पर मृत्यु हो जाने की भीति हो, उनको शोधन वस्ति नहीं देनी चाहिये।

निरूह वस्ति लेने के बाद आध पौन घंटे तक उकड़ू बैठे रहने से आम सहित मल और क्वाथादि द्रव्य सब बाहर आ जाते हैं। क्वाथ या जल का कुछ अंश शोषण हो जाता है, वह मूत्रमार्ग से निकल जाता है।

शास्त्रकारों ने इस निरूह वस्ति के भिन्न-भिन्न गुणों की प्राप्ति के लिये निम्नानुसार अनेक विभाग किये हैं। जैसे कि—

उत्क्लेशन वस्ति—एरंड के बीज, मुलहठी, पीपल, सैंधानमक, वच और हाऊबेर का कल्क मिलाकर तैयार की हुई वस्ति से दोष पृथक् हो जाते हैं। इस हेतु से इस वस्ति को उत्क्लेशन वस्ति कहते हैं।

दोषघ्न वस्ति—सोया, मुलहठी, बेल की छाल और इन्द्रजव के कल्क को कांजी और गोमूत्र में मिलाकर वस्ति देने को दोषहर वस्ति कहते हैं। इस वस्ति से दोषों के वृद्धि-क्षय दूर होकर वायु अनुलोमन होती है।

माधुतैलिक वस्ति—शहद, तेल और एरंडमूल का क्वाथ, तीनों सम भाग; सौंफ २ तोले, सैंधानमक १ तोला तथा मैनफल (१नग) का गर्भ मिलावें। फिर रई से मथ, निवाया कर वस्ति देवें। यह वस्ति दोष बाहर निकालने और बल-वर्ण की प्राप्ति के लिये राजा, स्त्री, सुकुमार, बालक और वृद्ध, सबको दी जाती है। इस वस्ति के सेवन काल में सवारी, स्त्री-सेवन या खानपान में अधिक बन्धन नहीं है।

शोधन वस्ति—दन्तीमूल, त्रिफला, थूहर का दूधादि विरेचन कराने वाली औषधियों को घृत-सैंधवादि के साथ मिला, मथन कर जो वस्ति तैयार की जाय, या निशोथादि औषधियों के क्वाथ से बनाई जाय, उसे शुद्धिकर और शोधन वस्ति कहते हैं। इस वस्ति के सेवन से भीतर रहे हुए मल निकल जाते हैं; और अन्त्रादि अवयव शुद्ध हो जाते हैं।

संशमन वस्ति—प्रियंगु, मुलहठी, नागरमोथा और रसौंत के कल्क को दूध में मिलाकर वस्ति देने से दोषों का शमन होता है; अतः इस वस्ति को संशमन वस्ति कहते हैं।

लेखन वस्ति—त्रिफला का क्वाथ, गोमूत्र, शहद और जवाखारादि मिश्रित वस्ति को लेखन वस्ति कहा है। इन औषधियों की वस्ति से भीतर रहे हुए मेद, कफ और आमादि सूक्ष्म दोष सूख जाते हैं; और स्थूल दोष बाहर निकल जाते हैं।

यापन वस्ति—शहद, घृत और तेल ८-८ तोले तथा हाऊबेर और सैंधानमक १-१ तोला लें। सबको यथाविधि मिलाकर वस्ति तैयार करने को यापन वस्ति कहते हैं। यह वस्ति पाचक और शोधक है।

बृंहण वस्ति—मांसरस, घृत, काकोली आदि बृंहणीय औषधियों की वस्ति को बृंहण कहा है। इस वस्ति के सेवन से अंग पुष्ट होता है।

एरंडमूल का क्वाथ; शहद और सिद्ध तैलादि मिश्रित वस्ति, वृष्य, दीपन और बृंहण है; तथा उदर, उदावर्त्त, मेद, गुल्म, कृमि, प्लीहा आदि रोगों को दूर करती है।

दीपन वस्ति—दीपनीय औषधियों की वस्ति को दीपन वस्ति कहा है।

अर्धमात्रिक वस्ति—दशमूल क्वाथ में सौंफ और सैंधानमक १-१ तोला, शहद ८ तोले, तेल ८ तोले और मैनफल ४ तोले मिलाकर वस्ति देने से क्षय, कृमि और शूलरोग को नष्ट करती है; शुक्र की वृद्धि करती है; तथा वातरक्त को दूर करती है। यह वस्ति बल वर्णकारक, वृष्य तथा शक्ति देने वाली है।

मुस्तादिक वस्ति—नागरमोथा, पाठा, गिलोय, कुटकी, खिरैंटी, रास्ना, पुनर्नवा, मजीठ, अमलतास की फली का गूदा, खस, त्रायमाण, गोखरू, शालपर्णी, पृष्टपर्णी, छोटी कटेली, बड़ी कटेली और गोखरू, इन १७ औषधियों को ४-४ तोले और मैनफल ८ नग लें। इन सबको २५६ तोले जल में क्वाथ कर चतुर्थांश शेष रहने पर उतार कर छान लें। फिर जंगली जीवों का मांसरस, शहद और घी १६-१६ तोले लें; तथा सौंफ, प्रियंगु, मुलहठी, इन्द्रजौ, रसौंत, सैंधानमक १-१ तोला लेकर कल्क करें। पश्चात् सबको यथाविधि मिला वस्ति देवें।

इस वस्ति के सेवन से वातरक्त, मोह, शोथ, अर्श, गुल्म, मूत्रदोष,

मलावरोध, विसर्प, ज्वर, अतिसार और रक्तपित्त रोग नष्ट होते हैं। यह वस्ति बलकारक, जीवनीय, वृष्य, नेत्रों को हितकारक और शूलनाशक है। यह योग सब आस्थापन योगों में राजा के तुल्य है।

यष्ट्यादि वस्ति—मुलहठी ५ तोले लेकर ८ गुना दूध और ३२ गुना जल मिलाकर दुग्धावशेष क्वाथ कर छान लें; तथा सोया, मैनफल, की गिरी और पीपल को समभाग मिला १६ तोले कल्क करें। फिर उपरोक्त क्वाथ में कल्क, घी और शहद १६-१६ तोले और सैंधा नमक १ तोला मिला, यथाविधि मथन करलें। पश्चात् शीतल होनेपर यह वस्ति देने से वातरक्त, स्वरभंग और विसर्प रोग नष्ट होते हैं।

द्वितीय विधि—मुलहठी, लोध, खस, रक्त चन्दन, कमल और नीलोफर १-१ तोला लेकर ४० तोले दूध और १६० तोले जल के साथ मिला, दुग्धावशेप क्वाथ कर छान लें। पश्चात् जीवनीयगण (जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, जीवन्ती, काकोली, क्षीर काकोली, मुद्गपर्णी, मापपर्णी और मुलहठी) को मिला ८ तोले कल्क करें। फिर क्वाथ में कल्क, सैंधानमक १ तोला, घी और शहद १६-१६ तोले मिला, यथाविधि मथन कर शीतल होने पर वस्ति देवें। इस वस्ति से पित्तप्रकोप जनित रोग दूर होते हैं।

क्षार वस्ति—सैंधानमक १ तोला, सौंफ १ तोला, गोमूत्र ३२ तोले और गुड़ ८ तोले लें। सबको खूब मसल-छान, गरम कर वस्ति क्रिया में उपयोग करें।

इस वस्ति के सेवन से शूल, मलावरोध, आफरा, दारुण मूत्रकृच्छ्र, कृमि, उदावर्त्त और गुल्मादि रोग तुरन्त नष्ट हो जाते हैं। यह वस्ति भोजन कर लेने पर (सायंकाल को) भी दी जाती है।

वैतरण वस्ति—इमली १ तोला, गुड़ २ तोले, सैंधानमक १ तोला, गोमूत्र ३२ तोले, और तैल १ से ४ तोले तक आवश्यकतानुसार मिलाकर वस्ति कर्म में उपयोग करें।

इस वस्ति के सेवन से शूल, आनाह और आमवात नष्ट होते हैं। यह वस्ति भोजन के पश्चात् सायंकाल को भी दे सकते हैं। यदि रोगी

अधिक वलवान् न हो, तो भोजन से पहले ही देनी चाहिये।

इस रीति से भिन्न-भिन्न औषधियों के क्वाथ से निरूह वस्ति के अनेक भेद प्राचीन आचार्यों ने दिखाये हैं। जिस रोग में जो औषधि हितावह हो, उसके क्वाथ का निरूह वस्ति में उपयोग करना चाहिये।

वस्ति मर्यादा—निरूह वस्ति (दोष वाहर निकालने के लिये) प्रायः वातवृद्धि वाले को स्नेहयुक्त, उष्ण, मांसरस सहित १; पित्तवृद्धि वाले को मधुर शीतल औषधि और दूध सहित २; और कफ प्रकोप वाले को गोमूत्र में चरपरे और रूक्ष पदार्थ मिला, गरम कर ३ वस्ति देना चाहिये।

इनसे अधिक की आवश्यकता रहे तो एक वार अधिक शोधन करें। यह लक्ष्य में रक्खें, कि वस्ति में हीनक्रम भले ही हो; किन्तु अतिक्रम न होना चाहिये (सु० सं० चि० अ० ३८। ६); ऐसा भगवान् धन्वन्तरि का कथन है।

इस मत का समर्थन करने के पश्चात् नाना प्रकार की जीर्ण व्याधियों में उतने से कार्य सिद्धि न हुई तो क्या करना? इस प्रश्न के उत्तर में श्री० वाग्भट्टाचार्य अन्य आचार्यों के मत से उत्क्लेशन, शुद्धिकर और शमन, ये त्रिविध वस्ति कहते हैं। फिर स्वमत से चरक संहिता में कहे अनुसार कर्म, काल और योग रूप त्रिविध वस्ति का वर्णन करते हैं। इनमें यथा क्रम ३०, १५ और ८ वस्ति कही हैं।

कर्म वस्ति में पहले १ स्नेह वस्ति, फिर १२ निरूह और १२ अनुवासन (निरूह के वाद देने योग्य स्नेह वस्ति); तथा अन्त में ५ स्नेह वस्ति मिलाकर ३० वस्ति देना चाहिये।

काल वस्ति विधान के लिये १ स्नेह वस्ति, फिर ५ निरूहण और ६ स्नेहन; तथा अन्त में ३ स्नेह वस्ति मिलाकर १५ वस्ति देना चाहिये।

योग विधान में पहले १ स्नेह वस्ति, ३ निरूहण, ३ स्नेहन तथा अन्त में १ स्नेह वस्ति मिलाकर ८ वस्ति देना चाहिये।

यद्यपि इन कर्मादि योगों का अधिक व्यवहार शास्त्रों में नहीं है; तथापि वस्ति की योजना करनी हो, तो कर सकते हैं। यदि उत्क्लेशनादि

वस्ति क्रिया का सेवन करना हो, तो पहले उत्क्लेशन, संशोधन और शमन क्रम से देना चाहिये।

सूचना—निरूह वस्ति के प्रयोग से आंतों में से मल निकल कर स्थान ख़ाली हो जाता है, जिससे उसमें वायु प्रविष्ट होने का प्रयत्न करता है। इसलिये निरूह वस्ति कराने के पश्चात् निवाये जल से स्नान करा, भोजन करा देवें; और सायंकाल को स्नेह वस्ति देवें या नारायण तैलादि (वातहर तैल) की हलके हाथ से पेट पर मालिश करावें।

पित्त रोगी को दूध-भात का भोजन; श्लेष्म प्राधान्य रोगी को यूष-भात का भोजन; और वात प्रकृति वाले को मांसरस और भात का भोजन करा, सायंकाल को बृंहण कार्यार्थ स्नेह वस्ति देवें।

निरूह वस्ति का क्वाथ, अथवा जल, मल सहित निकले; मल पित्त, आम (कफ) और वायु, क्रम से निकले; तथा शरीर में हल्कापन प्रतीत होवे, तो निरूह वस्ति उत्तम प्रकार से हुई जानें। यदि पानी, मल और वायु थोड़े-थोड़े प्रमाण में निकले; मूर्च्छा, पीड़ा, जड़ता और अरुचि उत्पन्न होवे; तो निरूह वस्ति दोष वाली जानें।

यदि निरूह वस्ति के क्वाथादि द्रव्य पौन घण्टे से अधिक समय भीतर रह जाय; तो मल-मूत्रावरोध, शूल, अस्वस्थता, ज्वर, श्वास, उदर-वातादि विकार होने लगते हैं। इसलिये अति निर्बल को निरूह वस्ति न दें। कदाच वस्ति द्रव बाहर न निकले, तो फलवर्त्ति (र० त० सा० पृ० ७८२) को गुदा में प्रवेश कराकर दोष को दूर करें; स्वेदन करावें; या २ माशे सोंठ की चाय (क्वाथ) कर घी और सैंधानमक मिलाकर पिलावें।

यद्यपि भोजन करने के बाद निरूह वस्ति देने से खाया हुआ अन्न बाहर निकलता है; और वातादि दोष प्रकुपित भी होते हैं; तथापि तीव्र उदर शूल, विष प्रकोप अथवा आफरा आने पर फलवर्त्ति देकर बाद में निरूह वस्ति देना चाहिये।

दाह प्रतिकार—वस्ति में द्रव्यों की तीक्ष्णता अधिक होने से दाह हो जाय, तो गोदुग्ध में घी मिलाकर वस्ति दें, या बीज निकाली

मुनक्का अथवा गुलकन्द २ तोले खिला, ऊपर से गोदुग्ध पिलाना चाहिये।

रक्तस्राव प्रतिकार—रक्तस्राव होने लगे; तो वड़, पिलखन, पीपल और गूलर की कोंपल या तृण पंचमूल (कुश, कास, शर, दर्भ और ईख) के साथ वकरी के दूध को सिद्ध कर वस्ति देवें। गुदा पर शीतल पदार्थ का लेप करें। अधिक आवश्यकता हो; तो रक्तातिसार नाशक औषधि का सेवन करावें।

आध्मान प्रतिकार—आंतों में वायु भर जाय; तो उदर पर तैल की मालिश करें, या दारुपट्क लेप करें; तथा हिंग्वाष्टक या शिवाक्षारपाचन चूर्ण घृत के साथ देवें।

अपथ्य—अधिक भोजन, भारी भोजन, विरुद्ध भोजन, अधिक शीतल पदार्थ का सेवन, दिन में शयन, रात्रि को जागरण, मैथुन, मलमूत्रादि वेग का धारण, शीतल वायु या सूर्य के ताप का सेवन, प्रवास, व्याख्यान देना, क्रोध, शोक और चिन्तादि का त्याग करना चाहिये।

स्नेह पान, वमन, विरेचन, शिरावेध और निरूह वस्ति, इन क्रियाओं करने पर जठराग्नि मन्द हो जाती है। अतः लघु अन्न का सेवन कर शनैः-शनैः अग्नि को प्रदीप्त कर लेना चाहिये। इन वस्ति आदि क्रियाओं और आहार-विहार के यथोचित करने से सव रोग दूर होते हैं; तथा मनुष्य कान्तिवान् और वलवान् होकर पूर्ण आयु भोगता है।

आधुनिक वस्ति—आयुर्वेद के समान एलोपैथिक में भी वस्ति देने का रिवाज है। यह वस्ति वहुधा आंतों की शुद्धि या मलावरोध दूर करने के लिये दी जाती है।

अधिकारी—रक्तविकार, उपदंश, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, वृषणवृद्धि, रक्त प्रदर, जीर्ण वातरोग, उदावर्त्त, वातरक्त, जीर्ण विषम ज्वर, शूल, अम्लपित्त, हृद्रोग, रक्तभाराधिक्य, कुष्ठ, गुल्म, प्लीहा, उदर रोग, विप दोप, मेद वृद्धि, कृमि, आमवात, शूल, आफरा, व्रणरोग इत्यादि रोगों में मलावरोध होने पर वस्ति देते हैं।

वस्ति देने के लिये अमेरिकन चमड़े का यन्त्र आता है; जिसके वीच में एक छोटी-सी नली लगी रहती है। उस यन्त्र में जल भरकर उस यन्त्र

पर वैठकर वस्ति ली जाती है। इसके अलावा अमेरिका, इङ्गलैण्ड, जर्मनी आदि देशों से अनेक जाति के छोटे-बड़े ड्यूश (Douche) आते हैं। ये इस देश में अधिक प्रचलित हैं।

वस्ति विधि—वस्ति लेने के लिये १ से २ सेर निवाया जल (साबुन आसरे ४–६ माशे मिला हुआ) ड्यूश में भरकर लगभग ३–४ फ़ीट ऊँचाई पर दीवार में लटका देवें। पश्चात् नली के मुख पर घी अथवा तैल का हाथ लगा, थोड़ा जल बाहर निकाल, नली को गुदा में प्रवेश करावें। वस्ति लेने वाले को चित सोकर लेना चाहिये। शिर ऊँचा रक्खें; तथा घुटनों से दोनों पैरों को मोड़, घुटनों को रखकर वस्ति लेवें। जल आंतों में प्रवेश करते समय शुष्क मल के हेतु से किसी-किसी समय रुकता है। ऐसे समय पर १ सेकिण्ड नली का मुख (नल) बन्द कर दें; फिर तुरन्त जलप्रवाह चालू करें। जितना ज्यादा जल ले सके; उतना ही विशेप लाभ माना जाता है। (वस्ति लेने के समय ड्यूश में शेप थोड़ा जल रह जाना चाहिये; अन्यथा गुदा में वायु भी प्रवेश कर जाती है।) वस्ति लेने के पीछे थोड़े समय तक (५ से १० मिनट तक) जल को आंतों में रोककर निकाल देने से जल के साथ वड़ी आंत में रहा हुआ पुराना मल निकल जाता है; और आंत साफ हो जाती है।

वस्ति के जल में एरंड तैल या जैतून तैल ५ तोले मिला लिया जाय; तो पुराने मल को निकालने में विशेप सहायता मिल जाती है। ड्यूश का उपयोग एक-एक दिन छोड़कर करें। ८–१० समय वस्ति लेने से आंत शुद्ध हो जाती है।

सूचना—किन्तु इस बात का स्मरण रक्खें, कि गर्म जल और साबुन से बड़ी आंत की श्लेष्मल त्वचा क्षुब्ध होती है; इस हेतु से साबुन अधिक न डालें, एवं जल भी अधिक गर्म न लेवें।

इसके अलावा रबर की एनिमा (Enema) आती है। उसके द्वारा जल, दूध, औपधि, ग्लीसराईन या तैल गुदा से बड़ी आंत में चढ़ाया जाता है। इस एनिमा में रबर के बॉल को दबाने से नली द्वारा प्रवाही औपधि आंत में चली जाती है। अस्वस्थ हालत में यह अधिक उपकारक है।

यदि वातप्रकृति वालों का शरीर शुष्क हो और ज्ञानतन्तु में विकृति हो; तो सिद्ध घी अथवा तैल की पिचकारी इससे दी जाती है।

पित्त प्रकृति वालों को आंत में उष्णता और दाह होवे, शरीर निर्बल हो तथा खाया हुआ अन्न न पचता हो; तो दूध की वस्ति देवें।

कफ प्रकृति वालों को कसैले और चरपरे पदार्थ मिले जल की वस्ति देना हितकर है।

किसी रोगी को भोजन में कांच अथवा तीक्ष्ण विष आजाने से आंत में दाह होकर रक्त निकलता हो; तो ऐसी स्थिति में घी की पिचकारी देनी चाहिये।

बालकों और सन्निपातादि व्याधि पीड़ितों के लिये एरंड तैल की पिचकारी अथवा गुदा में चढ़ाने लायक वर्त्ति का प्रयोग करना चाहिये। विलायती औषधि वेचने वालों के पास ग्लीसराईन की सपोझीटरी मिलती है; वह सत्वर मल को दूर करती है।

सूचना—निरूह वस्ति लेने वालों को अथवा ड्यूश का उपयोग करने वालों को गरम जल से स्नान कराकर थोड़ा भोजन करा देवें, जिससे वात प्रकोप न हो; और वस्ति का शेष रहा हुआ दूषित जल नाड़ियों के भीतर प्रवेश न करे।

वस्ति सेवन काल में मैथुन, दिन में निद्रा, अश्वादि वाहन पर प्रवास, मार्गगमन, शीतल वायु का सेवन, सूर्य के तेज ताप का सेवन और विरुद्ध भोजनादि का त्याग करें। हल्का और पथ्य भोजन करें।

उत्तर वस्ति।

पुरुषों के लिङ्ग अथवा स्त्रियों की योनि द्वारा मूत्राशय और गर्भाशय में पिचकारी देने को उत्तर वस्ति कहते हैं। निरूह वस्ति लेने के थोड़े दिन पश्चात् यह वस्ति दी जाती है। इसलिये इसे उत्तर वस्ति कहते हैं।

प्राचीन काल में उत्तर वस्ति के लिये मेंढ़े, शूकर या वकरे की वस्ति या पक्षियों के गले के चमड़े या अन्य साफ किये मुलायम चमड़े में से वस्ति के आकार का यन्त्र वनवाने का रिवाज था। इस उत्तर वस्ति के

लिये नली पुरुषों के लिये (उस रोगी के) १२ अंगुल लम्बी लें। यह नली सुवर्ण, रौप्य या शीशादि धातुओं में से मालती के पुष्प की डंडी जैसी पतली, अन्त का भाग मोड़ा हुआ, सरसों का दाना घुस सके ऐसे चौड़े छिद्रवाली, खूब साफ़ बनवानी चाहिये। इस नली द्वारा तैल २ से ४ तोले तक प्रकृति के अनुसार विचार कर चढ़ाना चाहिये। वर्त्तमान में जर्मनसिल्वर, काँच और रबरादि की नली विदेश से बहुत प्रकार की तैयार आती हैं। इनसे भी उपयोग हो सकता है।

स्त्रियों के लिये उत्तर वस्ति की नली में (गर्भाशय में अधिक नली न चली जाय इसलिये) ४ अंगुल पर किनारी रक्खें; और अन्त भाग में मूंग प्रवेश कर सके इतने चौड़े छिद्र वाली दश अंगुल लम्बी बनवावें। इसको गर्भाशय में ४ अंगुल; स्त्रियों के मूत्राशय में २ अंगुल; और कन्याओं के मूत्राशय में १ अंगुल तक ही प्रवेश कराना चाहिये। (यह अंगुल उस रोगी के अंगुल सदृश समझना चाहिये)। मूत्राशय शोधनार्थ स्नेह की मात्रा २ तोले से ४ तोले तक और गर्भाशय शोधनार्थ ८ तोले लें।

मूत्रमार्ग से आगे मूत्राशय और गर्भाशय, ये दो विभाग होते हैं। उनको अच्छी रीति से समझ कर वस्ति क्रिया करें।

वस्ति विधि—निरूह वस्ति से शुद्ध हुए पुरुषों को उकडू बैठा कर तथा स्त्रियों को चित लेटा, पैरों को मोड़, घुटने को ऊपर करा, उत्तर वस्ति देनी चाहिये। ३ दिन तक नित्य प्रति वस्ति देवें; और मात्रा थोड़ी-थोड़ी वढ़ाते जायँ। फिर आवश्यकता हो; तो पुनः ३ दिन तक देवें। शेष विधि अनुवासन वस्ति समान है।

स्त्रियों को यदि गर्भाशय में उत्तर वस्ति देना हो; तो ऋतुकाल में (मासिकधर्म आने के पश्चात् १२ दिन के भीतर) गर्भाशय का मुँह खुला हो; तब देना चाहिये। इन दिनों में योनि स्नेह ग्रहण कर लेती है। अन्य समय में मुँह आवृत रहने से स्नेह का ग्रहण नहीं कर सकती। यदि योनिभ्रंश, योनिशूल, रक्तप्रदरादि रोगों में उत्तर वस्ति देना हो; तो ऋतुकाल के पश्चात् भी दे सकते हैं।

पुरुषों को स्नेहन-स्वेदन कराकर जब मार्ग साफ़ हो जाय; तथा उत्तर वस्ति की नली को प्रवेश कराने में प्रतिवन्ध न होता हो; तब प्रातःकाल दूध और घृतयुक्त यवागु शक्ति अनुसार पिलाकर उत्तर वस्ति दें। उत्तर वस्ति देने से पहले नाभि के नीचे वस्ति भाग तक अच्छी रीति से तैल की मालिश करें। और इतर समान आकृति वाली नली के मुँह पर घृत चुपड़, प्रवेश कराकर मार्ग प्रतिवन्ध रहित है, या नहीं, इस वात की परीक्षा कर लें। फिर उत्तर वस्ति की नली को धीरे-धीरे ६ अंगुल मेढ् में प्रवेश करा वस्ति को दवावें, जिससे स्नेहादि द्रव्य भीतर मूत्राशय में पहुँच जायँ। वाद में नली को निकाल लेवें। जब स्नेह वापस निकल आवे; तव तीसरे प्रहर को दूध पिलावें; अथवा मूँग का यूप या मांसरस मिला, हलका भोजन करावें। यदि उत्तर वस्ति का स्नेह द्रव्य वापस न निकले; तो चिकित्सक को चाहिये कि शोधन वस्ति दें। अथवा निम्न आरग्वधादि वर्त्ति का उपयोग करें; शोधन वर्त्ति को गुदा में प्रवेश करावें; या वस्ति मार्ग में नली डाल कर स्नेह आकर्षित करें; अथवा नाभि के नीचे के भाग को युक्तिपूर्वक धीरे से दवाकर स्नेह निकाल लें। यदि मूत्रेन्द्रिय में औषधि या नली लग जाने से दाह हो जाय; तो गूलरादि दूध वाले वृक्षों के क्वाथ या शीतल हिम की पिचकारी लगावें।

आरग्वधादि वर्त्ति—अमलतास के पत्तों को पहले निगुण्डी के स्वरस में १ दिन तक खरल करें। फिर सैंधानमक मिला, गोमूत्र में पीसकर वत्तियाँ वनावें। अवस्था और शक्ति का विचार कर, सरसों, मूंग या इलायची के दानों जैसी वनावें। फिर शलाका द्वारा मूत्राशय में से स्नेह द्रव्य को वाहर निकालने के लिये पहुँचावें; और गर्भाशय में से स्नेह द्रव्य खींच लेना हो; तो वर्त्ति ४ अंगुल लम्बी और पेंसिल सदृश पतली वना कर प्रवेश करावें।

डाक्टरी में मूत्ररोगी का पेशाव ज़व रुक जाता है; तव मूत्रमार्ग में नली (Catheter) प्रवेश कराकर पेशाव को निकाल लेते हैं। इस कार्य के लिये ५ प्रकार की नली आती हैं। चाँदी, लोह, मोम, गोंद और

रबर की होती हैं। इनमें चाँदी, रबर और गोंद (मसाले) की नली पोली रहती हैं। उसमें एक चाँदी का तार रहता है; जो पेशाव निकालने में सहायक होता है। ये नली १ से १२ नंबर तक छोटी-बड़ी आती हैं। इनमें से जिसका उपयोग करना हो; उसको गरम जल में उबाल-पौंछ, उस पर घी, तैल या वेसलाईन लगावें। फिर मूत्रेन्द्रिय के ऊपर का भाग लोशन से साफ कर सम्हालपूर्वक धीरे-धीरे नली को भीतर प्रवेश करावें। पौनी नली भीतर जाने से पेशाव निकलने लगता है। पेशाव निकल जाने पर सम्हालपूर्वक नली को वाहर निकाल लेवें।

जब नली प्रवेश कराना हो, तब रोगी को चित लिटाकर घुटनों से दोनों पैर मोड़, घुटने ऊपर रखावें। शिर के नीचे तकिया रक्खें; और रोगी को उदर शिथिल रखने को कहें। फिर बाँये हाथ में मूत्रेन्द्रिय को रख, दाहिने हाथ से नली प्रवेश करावें। जैसे-जैसे नली प्रवेश करती जाय, वैसे-वैसे दाहिने हाथ को रोगी के पेट की ओर ले जाय; और धीरे-धीरे उठावें, जिससे नली खड़ी होकर प्रवेश करती जाय।

कदाचित् नली भीतर न जाय; तो २४ से ४८ घण्टे तक नली को भीतर रक्खें। फिर, उसको निकाल, मोम की कुछ मोटी सलाई प्रवेश करावें। इस तरह मूत्रमार्ग को चौड़ा करें।

लोहे की नली केवल अश्मरी रोग में और मोम की नली मूत्रमार्ग को चौड़ा बनाने के लिये उपयोग में ली जाती है।

वर्त्तमान समय में सुजाकादि रोगों में मूत्रेन्द्रिय के घाव को धोने और पीप को वाहर निकालने के लिये पीतल अथवा कांच की पिचकारी से प्रवाही औषधि मूत्रमार्ग में प्रवेश कराते हैं; और प्रदरादि रोग में योनि धोने के लिये ड्यूश का उपयोग करते हैं।

प्राचीन विधि अनुसार उत्तर वस्ति के योग्य प्रयोग से पुरुषों के वीर्यदोष, स्त्रियों के रजदोष, रक्तप्रदर और योनिरोग; तथा मूत्रकृच्छ्र, बढ़े हुए मूत्ररोग, प्रसूता की जेर नहीं गिरना, पुरुषों का शुक्र निकलते ही रहना, पथरी, शर्करा (छोटे-छोटे अश्मरी के टुकड़े), वस्तिशूल, वृक्कशूल, मूत्रेन्द्रिय में शूल और मूत्राशय के सब रोग नष्ट होजाते हैं।

सूचना—प्रमेह रोग में उत्तर वस्ति का उपयोग नहीं करना चाहिये।

नस्य विधि।

मस्तिष्क की तरावट, ग्रीवा, स्कन्ध और हृदय में वल वृद्धि या दृष्टि की प्रसन्नता के लिये जो स्नेहादि औपधियों का उपयोग नासिका द्वारा मस्तिष्क में चढ़ाने के लिये किया जाता है, उसे नस्य कहते हैं। यद्यपि गले से ऊपर के भाग के रोगों को दूर करने के लिये वमन, शिरावेधादि क्रियाओं का उपयोग भी होता है; तथापि नस्य का उपयोग विशेष रूप से होता है। नासिका, यह शिर का द्वार होने से श्रोत्र, नेत्र, कण्ठ, मस्तिष्कादि सब भागों के रोगों को दूर करने और उन अवयवों को वलवान् वनाने के लिये नस्य द्वारा औपधि पहुँचाने में विशेप अनुकूल है।

नस्य के बृंहण (स्नेहन), शिरोविरेचन और शमन, ये ३ प्रकार हैं। जो शक्ति वृद्धि करें, वह बृंहण; जो भीतर के दोप को वाहर निकालने में सहायता करे, वह विरेचन; और नीलिकादि क्षुद्र रोगों का शमन करे, वह शमन नस्य कहलाता है। पुनः अन्य रीति से निम्न ५ भेद होते हैं।

(१) **बृंहण नस्य**—मस्तक वल वृद्धिकर घृत-तैलादि नस्य।

(२) **शिरोविरेचन**—मस्तिष्क में रहे हुए दोप को गिराने वाली औषधियाँ।

(३) **प्रतिमर्श**—नासामल को गिराने और मस्तिष्क के वल को वढ़ाने के लिये स्वल्प मात्रा में लेने की तैलादि औपधि। यह प्रतिमर्श बृंहण नस्य का भेद है।

(४) **अवपीड़**—वेहोशी और तन्द्रानाशक क्वाथ अथवा स्वरस का नस्य यदि तीक्ष्ण औपधि से वना हो, तो विरेचन नस्य का भेद कहाता है; और दोप शामक औपधि से वना हो, तो शमन नस्य कहलाता है।

(५) **प्रधमन**—मूर्च्छित अवस्था में नली द्वारा तीक्ष्ण औपधि का चूर्ण नाक में फूँकना (यह विरेचन नस्य का भेद है)।

विधि—नस्य देने में एक-एक या दो-दो दिन छोड़कर ७ वार नस्य दें। पुनः थोड़े दिन छोड़कर १५ समय नस्य दें। कतिपय आचार्यों का मत

है, कि स्नेहपान के समान नस्य भी ६ दिन बाद सात्म्य भाव को प्राप्त हो जाता है।

बृंहण नस्य के अधिकारी—वातिक अथवा पैत्तिक शिरोविकार, दन्त रोग, मस्तक अथवा दाढ़ी के बाल झड़ने, भयङ्कर कर्णशूल, कान में शब्द गूँजना, सूर्यावर्त्त, तिमिर, स्वरभेद, नासारोग, मुखशोष, मगज की वृद्धि रुकना, अकाल में बाल सफेद होना, मुखरोग, अपबाहुक (हाथ वातप्रकोप से स्तम्भित होना), रक्ताभिसरण क्रिया मन्द होकर मुँह पर निस्तेजता आना और असमय मुँह पर झुर्री पड़ना इत्यादि विकारों में वातपित्त नाशक द्रव्यों से सिद्ध किये हुए तैल का नस्य कराया जाता है। स्नेह की मात्रा ४ से ८ बूँद तक दें।

शिरोविरेचन नस्य के अधिकारी—तालु, गला, मस्तक में कफ भर जाना, अरुचि, मस्तक का भारीपन, मस्तकशूल, पीनस, अर्धावभेदक (आधाशीशी), कृमि, जुकाम, अपस्मार, कुष्ठ, गन्धज्ञान न होना और गले के ऊपर के भाग के कफजन्य विकारों पर शिरोविरेचन द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ तैल नस्य के लिये देना चाहिये।

सूचना—रक्तपित्त के क्षीणरोगी को घृत, दूध, ईख का रस, मिश्री इत्यादि का नस्य देवें। भीरु, स्त्री, कृश और बालकों को शिरोविरेचन नस्य देना हो;तो रेचन औषधियों में सुगन्ध वाली औषधि मिला तैल सिद्ध करके दें।

शिरोविरेचन नस्य के नियम—स्नेहन, स्वेदन क्रिया जिसने की है, उसको मल-मूत्र विसर्जन करने के बाद, भोजन से पहले बद्दल रहित आकाश होवे, तब नस्य देवें। पहले नाक साफ करा लें। फिर हाथों को तपा कर गला, गाल और कपाल को थोड़ा सेक लें। पश्चात् निर्वात स्थान में चित सुला, मस्तक कुछ नीचा रखा, नेत्रों को वस्त्र से ढक, बांयें हाथ की तर्जनी और अँगूठे से नाक के अग्रभाग को कुछ मोड़, दूसरे छिद्र बन्द कर, तैल का नस्य दें। नली द्वारा नाक में थोड़ा-थोड़ा तैल २-३ समय डालें; और नेत्र में तैल चला न जाय यह सम्हालें*।

---

* वर्तमान समय में आइड्रोपर (नेत्र में औषधि के बूँद डालने की कांच की रबर लगी हुई नली) आती है; वह अधिक अनुकूल रहती है।

कफ विरेचनार्थ नस्य भोजन से पहले सुबह ६ वजे; पित्त शमनार्थ मध्याह्न के समय और वात हरण के लिये तीसरे पहर (दोपहर के २ वजे) में दें। कारण, इन समयों में ये दोप उत्क्लेशित होते हैं; और इतर समय में प्रायः धातुओं में लीन रहते हैं। यदि उत्कट रोग हो, तो रात्रि के समय भी नस्य दें; अर्थात् दिन में २ समय तैल चढ़ावें।

प्रकृति स्वस्थ है, तो शरद् और वसन्त ऋतु में, पूर्वाह्नकाल को; हेमन्त और शिशिर ऋतु में मध्याह्न काल को; ग्रीष्म ऋतु में सायंकाल को; तथा वर्षा ऋतु में सूर्य का दर्शन हो सके उस समय पर नस्य कराना चाहिये।

मस्तिष्क में वातविकार, आयाम, अपतानक, मन्यास्तंभ और स्वरभ्रंश में नस्य समय निश्चित नहीं है। इनसे इतर रोगों में १-१ दिन छोड़ कर ७ वार नस्य क्रिया करायी जाती है।

नस्य के पश्चात् कर्तव्य—नस्य देकर कान, कपाल, तालु, गर्दन, कमर, हाथों के तलुवे, पैरों के तलुवे इत्यादि भागों में थोड़ी-थोड़ी मालिश करें। नस्यौषधि को गले के नीचे न जाने दें। ऊपर के हिस्से में ही रहने दें। मुँह में आ जाय, तो थूक दें। नस्य देने पर गाल ऊपर थोड़ा स्वेदन करें। नस्यौपधि देने के आधे मिनट बाद रोगी को वैठा कर कण्ठ शुद्धि के लिये निवाये जल से कुल्ले करावें। फिर शास्त्रोक्त विधिपूर्वक धूम्रपान* करा, पथ्य भोजन (अनभिष्यंदी भोजन) और गरम जल पीने के लिये दें।

अपथ्य—धूली, धुँआ, धूप, शराब, तेल, प्रवाही वस्तु लेना, सिर पर स्नान, क्रोध और मन को ग्लानि होवे ऐसे कर्त्तव्यों का त्याग करें।

नस्य फल—स्नेहयुक्त नस्य का उपयोग योग्य परिमाण में होने से नाड़ियें स्वच्छ होकर सब विकार दूर होते हैं। अच्छी शान्त निद्रा आना, मस्तक शुद्धि, इन्द्रिय शुद्धि और मन में प्रसन्नता होना, ये फल प्रतीत होते हैं।

हीन शिरोविरेचन होने से मस्तक में खुजली, भारीपन, मस्तक के

* यदि १८ वर्ष से आयु कम हो; तो धूम्रपान नहीं कराना चाहिये।

भीतर कफ रह जाना, नाक में से कफ गिरना, इत्यादि प्रकोप होते हैं।

अतियोग होने से वातप्रकोप, चक्कर, मगज़ में से चरबी और मांसादि का स्राव, मस्तक खाली होना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

हीनशुद्धि हो, तो पुनः यथोक्त कफघ्न स्नेहन नस्य का उपयोग करें; और अतियोग हो जाय, तो वातशामक उपचार करें।

नस्य के अनधिकारी—भोजन किया हुआ, उपवासी, नूतन तीक्ष्ण जुकाम वाला, जिनकी शिरा का वेधन कर रक्तस्राव कराया हो, सूतिका, सगर्भा स्त्री, मदिरा पिया हुआ, ज्वर रोगी, अपचन होवे तब, वस्ति किया हुआ, क्रोधावस्था युक्त, शोकातुर; स्नेह, जल या आसव तुरन्त पिया हो, कृत्रिम विष से पीड़ित, तृषातुर, ७ वर्ष से छोटी आयु वाला बालक, अत्यन्त वृद्ध (८० वर्ष से अधिक आयु वाला), थका हुआ, मल-मूत्र के वेग को रोका होवे तब, स्नान किया हुआ, सिर पर स्नान की इच्छा वाला, इत्यादि मनुष्यों को नस्य न दें। (आवश्यकता हो, तो प्रतिमर्श नस्य देने में बाधा नहीं है)।

असमय के बदल होने पर और अति शीत या अति गर्मी होने पर भी नस्य न दें।

प्रतिमर्ष नस्य का समय—सुबह उठने के समय, दाँतुन करके मुँह धोने पर, घर से बाहर जाने पर, मार्ग गमन के समय, रात्रि में विश्रान्ति लेने के समय; मल त्याग, मूत्र विसर्जन, मैथुन, कसरत, कवल धारण (मुँह में औषधि का कुल्ला धारण करना), अञ्जन, भोजन, वमन होना, दिन में शयन, इन सब कार्यों के पश्चात् और सायंकाल को प्रतिमर्ष नस्य दे सकते हैं। इस नस्य का उपयोग नित्य प्रति मरण पर्यन्त स्वस्थावस्था में हो सकता है। नित्य सेवन करते रहने से बृंहण नस्य के समान लाभ पहुँचाता है।

प्रतिमर्श नस्य से नाक के मल निकल जाते हैं। जिससे मन में प्रसन्नता उत्पन्न होती है। मुँह में सुगन्ध आती है; इन्द्रिय शुद्धि होती है, गले के ऊपर के रोग दूर होते हैं; तथा दाढ़ी, दाँत, मस्तक, गला, हाथ और हृदय का बल बढ़ता है। युवावस्था में बाल सफेद हो जाना

और व्यंगादि दूर होते हैं। जिस नस्य की मात्रा स्वल्प (२ से ४ बूँद) होवे, वह प्रतिमर्श नस्य कहलाता है। नाक में डाला हुआ नस्य किञ्चित् भीतर खींचने से कण्ठ अथवा मुँह तक जाता है, वह प्रतिमर्श कहलाता है।

यह नस्य बैठकर अथवा खड़े-खड़े लिया जाता है। चित सोकर मस्तक नीचा रखकर लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। कफ और कफवात दोष में तैल का नस्य दें। केवल वात में चरबी; पित्त प्रकोप पर घृत तथा वात-पित्त विकार पर मज्जा (हड्डी में रहे हुए स्नेहयुक्त सत्व) का नस्य लाभदायक माना गया है। अथवा कफ विकार को छोड़ कर अन्य सब विकारों में सिद्ध घृत का प्रतिमर्श नस्य २-२ बूँद दें।

सूचना—प्रतिमर्श की मात्रा लघु होने से यह नस्य दुष्ट पीनस रोग में, मद्यपान करने पर जिनके कान का मार्ग रुक गया हो, शिर में कृमि हो, बढ़े हुए रोग में और प्रचलित हुए दोषों में नहीं देना चाहिये।

अणु तैल—श्वेत चन्दन, अगर, तेजपात, दारुहल्दी की छाल, मुलहठी, खरैंटी, कमल, छोटी इलायची, वायविडङ्ग, बेल छाल, नीलोफर, नेत्रवाला, खस, जंगली मोथा, दालचीनी, नागरमोथा, कृष्ण सारिवा, शालपर्णी, जीवन्ती, पृश्नपर्णी, देवदारु, शतावरी, रेणुक बीज, बड़ी कटेली, छोटी कटेली, वन तुलसी, कमल केशर, इन २७ औषधियों को समभाग (३०-३० तोले) लेकर जौकुट करें। फिर ८ गुना जल मिलाकर क्वाथ करें। चतुर्थांश जल शेष रहने पर उतार कर छान लें। पश्चात् १८० तोले तिल तैल और क्वाथ का नववाँ हिस्सा जल (अर्थात् १८० तोले) मिलाकर पाक करें। पानी जल जाने पर पुनः १८० तोले क्वाथ मिलावें। इस रीति से ६ बार क्वाथ मिलाकर तैल पाक करें। दशवीं बार बकरी का दूध १८० तोला मिला, यथाविधि पाककर तैल छान लें।

इस तैल का नस्य यथाविधि एक-एक दिन छोड़कर ७ बार कराने से तथा पथ्य पालन करने से मस्तिष्क के वात, पित्त, कफ तीनों दोष दूर होते हैं; तथा इन्द्रियों के बल की वृद्धि होती है।

यदि स्वस्थ मनुष्य इस तैल का नस्य प्रति वर्ष प्रावृट् ऋतु (आषाढ़

श्रावण), शरद् ऋतु (कार्तिक-मार्गशीर्ष) और वसन्त ऋतु (फाल्गुन-चैत्र) में जब आकाश में बद्दल न हों तब करते रहें; तो नेत्र, घ्राणेन्द्रिय और श्रवणेन्द्रिय की शक्ति क्षीण नहीं होती, बाल नहीं गिरते, किन्तु बढ़ते जाते हैं। मन्यास्तम्भ, शिरःशूल, अर्दित, हनुग्रह, पीनस, आधाशीशी और शिरकम्प रोग शमन हो जाते हैं। नस्यकर्म द्वारा तर्पित हो जाने से शिर और कपाल की शिराएँ, सन्धियाँ, स्नायु और कण्डराएँ अधिक सुदृढ़ हो जाते हैं। मुख प्रफुल्लित और तेजस्वी होता है। स्वर मधुर, स्थिर और सबल बन जाता है। समस्त इन्द्रियाँ बलवान् बनती हैं। गले के ऊपर सहसा रोग की उत्पत्ति नहीं होती। वृद्धावस्था में भी मस्तिष्क, नेत्रादि इन्द्रियाँ और मुख पर वलीपलितादि लक्षण या जरा के बल का प्रभाव नहीं पड़ता।

अवपीड़ नस्य के अधिकारी—गले के ऊपर के भाग के रोग, विषम ज्वर, सन्निपात, विषप्रकोप, संन्यास (मूर्च्छा का एक प्रकार), मूर्च्छा, मोह, अपतन्त्रक (हिस्टीरिया), मेद, अपस्मार, शोक, उन्माद, दुःख, चिन्ता, क्रोध, भय, मानसिक विकार, भ्रम, व्याकुलता और बेशुद्धि दूर करने के लिये अवपीड़ नस्य दिया जाता है।

पीपल, कायफल, वायविडङ्ग, नकछिकनी आदि औषधियों का क्वाथ अथवा स्वरस के ४-८ बूँद नाक में डालने को अवपीड़ नस्य कहते हैं।

इसमें शोधक और स्तम्भन दो भेद हैं। इनमें रक्तपित्तादि रोग में स्तम्भन अवपीड़ और शेष दोषों में शोधक और उत्तेजक नस्य उपकारक माना गया है।

प्रधमन नस्य—सर्पदंश, मृगी और हिस्टीरिया जन्य मूर्च्छावस्था, विष प्रकोप और कृमि रोग में तीक्ष्ण चूर्णों को नली द्वारा नाक में फूँकना या ऊपर चढ़ाना, यह प्रधमन नस्य कहलाता है। सैंधानमक, सफेद मिर्च, सरसों और कूठ को बकरे के मूत्र की भावना देकर तैयार किया हुआ चूर्ण; अथवा पीपल, सुहिंजने के बीज, वायविडङ्ग और श्वेतमिर्च का चूर्ण; या नौसादर और चूना मिलाकर सुँघाना, अथवा इतर शुद्धि लाने वाली उग्र औषधि का नस्य देना, ये सब प्रधमन

नस्य हैं। इस नस्य का फल रोगी को शुद्धि पर लाना उतना ही है।

डाक्टरी नस्य—डाक्टरी में कितनेक रोगों में श्वासोच्छ्वास द्वारा फुफ्फुसों में वाष्प (Vapours) पहुँचाई जाती है, उसे इन्हेलेशन्स (Inhalations) कहते हैं। कास, श्वास और प्रतिश्याय में लोवान का अर्क (Tincture Benzoic Co) एक ड्राम को गरम उबलते हुए १० छटाँक जल में मिला कर सुँघाते हैं। जुकाम में लोवान का अर्क और नीलगिरी तैल (Oil Eucalyptis) २०-२० बूँद १० छटाँक उबलते जल में मिलाकर सुँघाते हैं।

इन्फ्ल्युएन्जा में मेन्थौल (Menthol) २॥ ग्रेन और लोवान का अर्क १ ड्राम को १० छटाँक उबलते जल में मिलाकर उपयोग करते हैं।

क्षयरोग में निम्नानुसार औषधि मिला कर सुँघाते हैं।

क्रियासोट (Creosote)	१० बूँद
एसिड कार्बोलिक (Acid Carbolic)	१० बूँद
टिंचर आयोडीन (Tincture Iodine)	५ बूँद
स्पिरिट इथर (Spirit Aetheris)	५ बूँद
स्पिरिट क्लोरोफॉर्म (Spirit Chloroform)	१० बूँद
गरम उबलता हुआ जल	२० औंस

इस तरह और भी अनेक प्रकार की औषधियों की वाष्प देने का डाक्टरी में रिवाज है।

धूमपान विधि।

शास्त्रकारों ने कफ और वात रोगों की अनुत्पत्ति अर्थ और उत्पन्न रोगों को नष्ट करने के लिये धूमपान लिखा है। किन्तु वर्त्तमान में मर्यादा रहित तमाखू के धूमपान से (बीड़ी, सिगरेट, हुक्का, चिलमादि से) नाना प्रकार के रोगों की उत्पत्ति दृष्टिगोचर हो रही है। अतः भावी रोगों की अनुत्पत्ति के लिये इस दुर्व्यसन के जाल में फँसना, यह अति हानिकर माना जाता है। रोगशमन के लिये कदाच आवश्यकता हो; तो शास्त्रोक्त विधि अनुसार हितकर औषधियों में से वर्त्ति तैयार करा,

थोड़े दिन सेवन कर लेने में आपत्ति नहीं है। यद्यपि प्राचीन पद्धति का धूमपान बहुधा वर्त्तमान में कोई नहीं करते; तथापि रोग के हेतु से किसी को उपयोग करना हो, तो कर सके; इस हेतु से अत्र विवेचन किया है।

इस धूमपान के ५ प्रकार हैं।

(१) **प्रायोगिक**—कफ को पतला करने, पतले हुए को बाहर निकालने तथा वात को शमन करने वाला धूम। इसको शमन धूम और मध्यम धूम भी कहते हैं।

(२) **स्नेहन**—स्निग्धता पहुँचाने और वात को शमन करने वाला धूम। इसका पर्याय नाम बृंहण और मृदु भी है।

(३) **विरेचन**—अपने रूक्ष, तीक्ष्ण और उष्ण गुण के हेतु से कफ को पिघला कर बाहर निकालने वाला धूम। इसका नामान्तर शोधन और तीक्ष्ण भी है।

(४) **कासहर**—कफ, कास, कंठ रोग और हिक्का का नाश करने वाला धूम।

(५) **वामनीय**—छाती और कंठ में चिटके हुए कफ को पतला करके बाहर लाने वाला धूम।

विधि—इस शास्त्रीय धूमपान के लिये कनिष्ठिका उँगली जैसी मोटी सोना, चाँदी, ताम्बा आदि धातु की नली ३ स्थान से घूमी हुई, अग्र भाग में मटर जितना छिद्रवाली, मूल में अंगुष्ठ समान मोटी और जिसमें धूम द्रव्य की वत्ती आ सके, ऐसे छिद्रवाली बनानी चाहिये। (अथवा हुक्के को ही प्रयोग में लावें)। वर्त्ति प्रायोगिक धूम के लिये ३६ से ४८ अंगुल की लम्बी; स्नैहिक के लिये ३२ अंगुल; वैरेचनिकार्थ २४ अंगुल; कासहर और वामक धूम के लिये १६-१६ अंगुल लम्बी बनावें।

धूम का सेवन स्वस्थ बैठ कर, प्रसन्न चित्त से नीचे दृष्टि रख, सावधान होकर करना चाहिये। पहले धूम द्रव्यों की वर्त्ति को थोड़ा घृत वाला हाथ लगा, वत्ती की नोक को अग्नि से जला, नली के ऊपर के छिद्र में रख कर धूमपान करे। पहले मुँह से धुँआ खींचे। फिर

नाक के एक-एक छिद्र से खींचें; तथा मुख और नाक से खींचे हुए धुँए को मुख से ही निकालें। नाक से कदापि न निकालें। अन्यथा नेत्र दृष्टि को हानि होती है।

इन धूमपानों में से प्रायोगिक धूमपान विशेपतः नाक से; स्नेहन मुख और नाक, दोनों से; वैरेचनीय धूम नाक से ही; तथा वामनीय और कासघ्न धूम मुख से ही सेवन करें।

हृदय और कण्ठ में दोप संचित होने पर पहले नाक से, फिर मुँह से धूमपान करें। मस्तिष्क, कण्ठ, नाक और नेत्र में दोप हो, तो नाक से ग्रहण करें। स्नेहन धूम हृदय और कण्ठ के दोप में मुख और नाक से; तथा मस्तिष्क में दोप हो; तो केवल नाक से लें।

सूचना—वामनीय धूम कदापि नाक से न लें।

प्रायोगिक धूम को ३ समय नाक से खींचें। स्नेहन धूम ३-४ समय खींचें। वैरेचनीय धूम नेत्र में जल आवे तब तक खींचते रहें। वैरेचनीय धूम लेने से पहले तिल और चावल की पतली काँजी पिलावें; किन्तु कासघ्न धूम भोजन के प्रत्येक ग्रास के साथ लेते रहें। इस रीति से धूम ३ से ६ समय तक लेवें। स्नेहन धूम दिन में १ वार, प्रायोगिक २ वार और तीक्ष्ण धूम ३ या ४ वार सेवन करें।

वर्त्ति बनाने की विधि—पहले मुञ्ज (सरकंडे) की शलाकाओं को १२-१२ अंगुल लम्बी काटकर ऊपर से साफ करें। फिर वत्ती की औपधियों के खूब महीन चूर्ण को जल के साथ मिला, अच्छी रीति से खरल कर कल्क बनावें। पश्चात् सण के ८ अंगुल लम्बे और ३ अंगुल चौड़े कपड़े पर १ तोले कल्क को फैला, उक्त मुञ्ज शलाका पर दोनों ओर २-२ अंगुल छोड़ कर १ वार लपेट लें। फिर सम्हालपूर्वक छाया में सुखा, वीच में से मुञ्ज शलाका निकाल लें। इस वर्त्ति की नोक को जला, नली में रखकर धूम पीवें। धूम लेने के समय वीच में घी मिलाई हुई वत्ती रक्खें।

प्रायोगिक वर्त्ति—छोटी इलायची, जटामांसी, दालचीनी, तेजपात, नागकेशर, प्रियंगु, रेणुका, खुरासानी अजवायन, थूनेर, सरल वृक्ष

का गोंद, लौंग, गठौना, नेत्रवाला, गूगल, राल, गंधा विरौजा, अगर, कपूरीमाधुरी, खस, देवदारु, केसर और कमल-केशरादि औषधियों को मिला, कूट, जल से खरल कर वत्तियाँ बना लें।

स्नेहन वर्त्ति—नारियल या एरण्ड के बीज का मगज (जिह्वा निकाला हुआ), मोम, राल, गूगल और घृत मिलाकर वत्तियाँ बनालें। घृत वत्ती बन सके उतना ही मिलावें।

वैरेचनिक वर्त्ति—कायफल, वायविडङ्ग, सुहिंजने के बीज, सूर्यफल के बीज, मकोय के फल, पीपल, राई तथा तुलसी, जंगली तुलसी और अपामार्ग के बीज इत्यादि शिरोविरेचनीय औषधियों में से तैयार करें।

तीक्ष्ण गुण के लिये बनाना हो, तो मालकाँगनी, हल्दी, दशमूल, मैनशिल, हरताल, लाख, पाटला, त्रिफला और सुगन्धि द्रव्य मिलाकर वर्ति तैयार करना चाहिये।

कासघ्न वर्त्ति—बड़ी कटेली, छोटी कटेली, त्रिकटु, कसौंदी, हींग; हिंगोट, दालचीनी, मैनसिल, गिलोय, काकड़ासिंगी आदि कफघ्न औषधियों में से तैयार करें।

वामनीय वर्त्ति—मैनफलादि वामक औषधियों से बनावें; या स्नायु, चर्म, खुर, सींग, ककेड़े, अस्थि, सूखी मछली और सूखा मांसादि में से तैयार करें।

प्रायोगिक, स्नेहन और विरेचन वर्त्ति के भीतर की शलाका निकाल कर धूमपान करें। कासघ्न और वामनीय धूमपान के लिये एक सराव में गोबरी या लकड़ी के अँगारे रख, उन पर वत्ती की औषधि डालें। फिर बीच में छेद किये दूसरे सराव से ढक दें; और उसके छेद में नली की मूल को लगाकर धूमपान करें। जब तक दोष की शुद्धि न हो; तब तक अनेक बार धूमपान करें।

धूमपान समय—मल-मूत्र त्याग, छींक, क्रोध और मैथुन के पश्चात् स्नेहन धूमपान; स्नान, वमन और दिन में शयन के पश्चात् वैरेचनीय; तथा दाँतुन, नस्य, स्नान, भोजन और शस्त्रकर्म के पश्चात्

प्रायोगिक धूमपान करें। इन समयों में कफ और वात का उत्क्लेशन होता है। अतः इन समयों में धूम पीना चाहिये।

कासघ्न तथा वामनीय का समय नियत नहीं है। कासादि व्याधियों में कासघ्न; और वमन कराना हो, तो वामनीय धूमपान करावें।

धूमपान से वाणी, मन और इन्द्रियों की प्रसन्नता होती है; केश, दाँत, दाढ़ी और मूँछ दृढ़ होते हैं; तथा मुख साफ रहता है। इनके अतिरिक्त कास, श्वास, अरुचि, मुँह में चिकनापन, स्वरभंग, मुँह से लार गिरना, मुँह में पानी भर जाना, तन्द्रा, अति निद्रा, हनु (ठोड़ी) और ग्रीवा जकड़ना, पीनस, शिरोरोग, कर्ण और नेत्र के शूल, वात और कफ के इतर रोग तथा मुखरोग नष्ट होते हैं।

धूमपान फल—धूमपान से रोग की सम्यक् प्रकार से शान्ति होना, कोई उपद्रव नहीं होना, यह सम्यक् योग है। तालुशोष, कण्ठ-शोष, दाह, तृषा, मूर्च्छा, भ्रम, मद; कर्ण, नेत्र-दृष्टि और नासिका में रोग हो जाना, निर्बलता आ जाना, इत्यादि को अयोग और अतियोग जानें।

इस धूम का व्रण के शोधन-रोपण के लिये भी उपयोग होता है। व्रण को धुआँ देने के लिये एक सराव में अग्नि रख ऊपर औषधि डालें। फिर छिद्रवाला दूसरा सराव ऊपर रख, उसके छिद्र में नली रखकर धुआँ दें। इस धूम से सत्वर जन्तु मर जाते हैं, पीड़ा शमन होती है; तथा व्रण साफ़ होकर सूख भी जाता है।

इनके अलावा अनेक प्रकार के धूम, जीर्णज्वर, क्षय, बालग्रह, ग्रन्थि सन्निपात (प्लेग), विसूचिका (कॉलेरा), कर्णपीड़ा, दन्तकृमि आदि रोगों के नाशार्थ उपयोग में लिये जाते हैं। इनमें से कतिपय प्रयोग रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग संग्रह के अन्तिम प्रकरण में दिये हैं।

धूमपान के अनधिकारी—शोक, श्रम, भय, क्रोध, उष्णता, विषप्रकोप, रक्तपित्त, मद, मूर्च्छा, दाह, तृषा, पाण्डुरोग, शोष, वमन, उरःक्षत, क्षय, उदर, प्रमेह, तिमिर, ऊर्ध्ववात, आफरा, रोहिणी (जिह्वा मूल पर शोथ), पाण्डुरोग, इन रोगों से पीड़ितों को; विरेचन पश्चात्

आस्थापन वस्ति दी हो; मत्स्य, मद्य, दही, दूध, शहद, घृत, तैल, या यवागु, इनमें से कोई एक पदार्थ जिनने सेवन किया हो; जिनके शिर में चोट लगी हो, उपवासी, १२ वर्ष (वाग्भट्टाचार्य के कथनानुसार १८ वर्ष) से कम आयु वाले, वृद्ध, सगर्भा, शुष्क मनुष्य, क्षीण, जिनके शरीर में कफ अधिक न हो और रात्रि जागरण करने वाले को धूमपान नहीं कराना चाहिये।

असमय पर या अधिक धूम पीने से रक्तपित्त, आन्ध्य, बहिरापन, तृषा, मूर्च्छा, मद या मोह उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसा किसी को हो जाय; तो दुग्धपान, घृतपान और इतर नस्य, लेप, परिषेकादि शीतोपचार करें।

भयभीत, क्रोधी और शोकातुर, धूमपान करें; तो उनको आन्ध्यता, भ्रम और निर्बलता आ जाती है।

सूर्य के ताप में परिश्रम करके धूमपान करें; तो निर्बलता, तृषा, शोष और मोह विकार उत्पन्न होते हैं।

क्षीण शुक्र वाले धूमपान करें; तो उनको क्षय और वातपित्तज व्याधियाँ हो जाती हैं।

रक्तशोष और पित्तप्रकोप के रोगी धूमपान करें; तो उनके वे ही रोग दिवसानुदिवस बढ़ते जाते हैं।

तृषा रोगी धूमपान करें; तो उनके तालु में त्वचा फट जाती है।

ज्वर और मदात्यय रोगी या शराब पीने पर धूमपान करें; तो मूर्च्छा, तृषा, शोष, दृष्टिनाश और शिरदर्दादि व्याधियाँ हो जाती हैं।

रात्रि को जागरण करने वाले धूमपान करें, तो उनको शिरोरोग हो जाता है; और वातवहा नाड़ियों में विकृति होती है।

धूमपान से तिमिर वाले को दृष्टिनाश; व्रण रोगी को अधिक व्रण की उत्पत्ति; गर्भिणी को शोष, गर्भ को निर्बलता आना, दाह और इन्द्रिय व्यथादि रोग हो जाते हैं।

मद्यसेवन करने वाले को धूमपान करते रहने पर नाक में शोष, पित्तप्रकोप, निद्रानाश, मगज की विकृति और त्वचा विकार हो जाते हैं।

दही, तैल, घृत, दुग्ध और मत्स्यादि विरुद्ध गुणवाला भोजन करके

धूमपान करने वाले को अन्धता, मूर्च्छा, हृदय में पीड़ा और उवाक रोग उत्पन्न होते हैं।

गण्डूष, कवल और प्रतिसारण विधि।

प्राचीन आचार्यों ने नित्यप्रति दाँतुन करके तैल के गण्डूप (कुल्ले गार्गल्स Gargles) करने की आज्ञा की है। इस क्रिया से हनुवल, स्वरवल, मुखकान्ति, रसज्ञान, रुचि और दाँतों की दृढ़ता, ये सव लाभ होते हैं। कण्ठशोप, होठ फटना, दन्तक्षय, दन्तशूल, दन्तहर्प या इतर मुखरोग कदापि नहीं होते।

इस तरह रोग हो जाने पर नाना प्रकार की औपधि के रस, तैलादि के गण्डूप, कवल और प्रतिसारण का सेवन कराया जाता है। इनमें गण्डूप और कवल की औपधि मुँह में धारण की जाती है; तथा प्रतिसारण की औपधि से मुख, जिह्वा और दन्त पर लेप या घर्पण किया जाता है।

इनमें मुँह को पूरा औपधि द्रव से भर देना, उसे गंडूप (कुल्ला); और सुखपूर्वक घुमा सके उतनी औपधि (कल्कादि) को धारण करना, उसे कवल (ग्रास) कहते हैं। कुल्ले करने के लिये, दूध, क्वाथ और तैलादि द्रव पदार्थ का एवं कवल धारणार्थ विशेपतः औपधि के कल्क का उपयोग होता है।

इन गंडूप और कवल को जव तक सहन हो सके; या मुँह में कफ आ जाय; अथवा भीतर के दोप का छेदन होने तक; अथवा नेत्र और नाक में से पानी गिरने लगे और गले में कफ आ जाय, तव तक मुख में धारण करें; अर्थात् स्वस्थता पूर्वक कपाल, कण्ठ और गाल पर प्रस्वेद आ जाय, या दोप नष्ट हो जाय, तव तक औपधि धारण करें। इस तरह ३-५ या ७ कुल्ले करें।

गंडूप और कवल के ४-४ प्रकार हैं। स्नेहन (वातशमनार्थ), शमन (पित्तशमनार्थ), शोधन (कफशमनार्थ), और रोपण (व्रण के लिये)। इनमें शमन को प्रसादी भी कहते हैं। जव वात अधिक हो, दन्तहर्प या

दन्त कृमि हो; तब स्निग्ध और उष्ण औषधियों के; पित्ताधिकता में मधुर और शीतल औषधियों के; कफ की वृद्धि हो; तो चरपरी, खट्टी, नमकीन और उष्ण औषधियों के; तथा व्रण हो, तो निवायी, कसैली, कड़वी और मधुर औषधियों के गण्डूष और कवल धारण करें।

इनमें कवल की औषधि को धारण समय के पश्चात् चावकर थूक देना चाहिये। गण्डूष में औषधि का चूर्ण या कल्क ६ माशे और कवल में १ तोला कल्क लेवें।

वातशामक गण्डूष—तिल कल्क, तिल तैल, दूध और जल मिलाकर गण्डूप धारण करावें; अथवा मांसरस या इतर वातघ्न औषधियों के तैल, क्वाथादि का उपयोग करावें।

पित्तशामक गण्डूष—घी, दूध, मिश्री, कमल, तिल, शहदादि औषधियाँ मिलाकर गण्डूप करावें।

दुर्गन्ध शमनार्थ—कांजी का गंडूप करने से मुख की विरसता, मल और दुर्गन्ध दूर होती है।

शोष शमनार्थ—नमक मिली हुई कांजी का गंडूप धारण करें।

विष विकार या क्षारप्रकोप पर—घी या दूध के गंडूप धारण करने से चूना, क्षार, तिजाब या विष प्रभावजन्य मुखपाक, दाह और जीभ फटनादि विकार शमन होते हैं।

मुखपाक नाशार्थ—(१) शहद धारण करने से दाह और तृषासह मुखपाक दूर होता है।

(२) जातीपत्रादि क्वाथ (रसतन्त्रसार पृ० ६२८) में शहद मिलाकर गंडूप धारण करने से त्रिदोषज मुखपाक की भी निवृत्ति हो जाती है।

विरसता नाशार्थ—निवाये जल के कुल्ले करने से चिकनापन और विरसता दूर होकर लघुता आती है।

कवल धारण विधि—कफनाश के लिये त्रिकटु, वच, सरसों और हरीतकी का कल्क बना; घृत, तैल, काँजी, शराब, गोमूत्र, क्षार, दूध, जल या शहद में से रोगानुसार हितकारक वस्तु मिला, मथ, थोड़ा

नमक डाल, कवल तैयार करें। पश्चात् रोगी के कंठ, कपोल और कपाल को थोड़ा स्वेदित कर, इन भागों पर थोड़ा सेक और मर्दन करा, फिर कवल को निवाया कर मुख में धारण करावें।

कवल-फल—कवल के योग्य धारण से व्यंग, असमय में पलित रोग, तिमिर और मुँह पर दागादि व्याधियों का घटना; तथा तृप्ति, मुख शुद्धि, हल्कापन और इन्द्रियों में प्रसन्नतादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

हीनयोग होने पर भारीपन, कफ का उभार, रस का ज्ञान पूरा न होना, इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं।

अतियोग होने पर मुखपाक, शुष्कता, तृपा, अरुचि, ग्लानि इत्यादि चिह्न होते हैं। ये चिह्न विशेषतः शोधनीय कवल में दृष्टिगोचर होते हैं।

दाह नाशक कवल—तिल, नीलकमल, घृत, शक्कर, दूधादि में शहद मिलाकर कवल ग्रहण करने से मुँह में दाह, फाला, जीभ कट जानादि पित्त विकृतिजन्य दोप; तथा विप, क्षार या अग्नि से दग्ध विकार दूर होते हैं।

सूचना—गण्डूप और कवल ५ वर्ष से छोटी आयु वाले, अति वृद्ध, पीनस, अजीर्ण, हनुग्रह और अरुचि रोगियों को; तथा नस्य लेने पर और जिनने जागरण किया हो, उनको नहीं कराना चाहिये।

प्रतिसारण विधि—मुखरोग में रोगानुसार जिह्वा और दाँतों को घिसने के लिये कल्क, रसक्रिया (काढ़ा को औटाकर अवलेह समान बनाया हुआ), शहद और चूर्ण, ये ४ प्रकार की औपधियाँ प्रतिसारण रूप से उपयोग में आती हैं। औपधियों को उँगली पर लगाकर ५–७ या ६ समय घिसना चाहिये।

प्रतिसारण फल—प्रतिसारण प्रयोग से मुख की दुर्गन्ध, विरसता, शोप, तृपा, अरुचि और दन्तपीड़ा नष्ट होते हैं; तथा कण्ठ तक के कफ और मल खींचकर बाहर आ जाते हैं।

हीनयोग से रसज्ञान कम हो जाता है और कफ प्रकोप होता है।

अतियोग से मुखपाक, मुखशोप, तृपा, वमन, कण्ठदाह अथवा ग्लानि उत्पन्न होती है।

प्रतिसारण रूप से कफनाशार्थ कफघ्न और मुखपाक दूर करने के लिये गण्डूष और कवल में कही हुई दाहशामक औषधि को प्रयुक्त करें।

पाठादि चूर्ण (रसतन्त्रसार पृ० ६०२) तथा जातीपत्रादि चूर्ण (र० पृष्ठ ६०३) को प्रतिसारण रूप से उपयोग करने से मुख, जिह्वा, दाँत और मसूढ़े के सब दोष दूर होते हैं।

कर्णतर्पण विधि।

स्वस्थावस्था में कान की शक्ति सुरक्षित रखने के लिये कान में नित्य-प्रति तैल डाला जाय, उसे कर्णतर्पण कहते हैं। इस क्रिया के सेवन से वातप्रकोपजनित कर्णरोग, मन्यास्तम्भ, हनुग्रह, श्रवणेन्द्रिय की निर्बलता या बधिरता की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

मस्तिष्क, कर्ण और कण्ठ के रोगों में रोगशमनार्थ कान में औषधि भरी जाती है, उसे भी कर्णतर्पण विधि कहते हैं। इस क्रिया के लिये रोगी को करवट सुला, कान पर थोड़ा स्वेद देकर कर्ण के छिद्र में तैल, निवाया मूत्र या रस भरें। नीरोगी अवस्था में १०० मात्रा (३२ सेकण्ड) तक; कर्णरोग या कण्ठरोग हो, तो ५०० मात्रा (लगभग २॥ मिनट) तक; और मस्तिष्क रोग हो, तो १००० मात्रा (५। मिनट) तक औषधि रहने दें।

यदि कर्ण में गोमूत्र या रस भरना हो, तो प्रातःकाल भोजन से पहले; और तैल डालना हो, तो सूर्यास्त हो जाने पर डालें।

यदि कर्ण में शूल चलता हो और पीप हो गया हो, तो सैंधानमक मिला हुआ किंचित् उष्ण बकरे का मूत्र डालें।

कान में दर्द होता हो; तो अदरख का रस, शहद, सैंधानमक और तैल को मिला, निवाया करके डालें।

लहशुन, अदरख, सुहिंजना, लाल सुहिंजना, मूली या केले का खंभा, इनमें से किसी एक औषधि का रस या सबके रस को मिला, निवाया कर कान में डालने से वेदना दूर होती है।

कान में मात्र शूल चलता हो; तो आक के पीले पत्तों को घी से चुपड़, निर्धूम मन्दाग्नि पर सेक, निचोड़ कर रस कान में डालें; या

सुहिंजने के गोंद के चूर्ण को तिल तैल में मिला, गरम करें। फिर छान, निवाया रहने पर कान में डालने से कर्णशूल सत्वर दूर होता है।

नेत्र शोधन क्रिया।

नेत्र की शुद्धि और शक्ति वृद्धि के लिये सेक, आश्च्योतन, पिण्डी, विडाल, तर्पण, पुटपाक और अंजन क्रियाओं से उपचार किया जाता है।

सेक—सेक के २ प्रकार हैं। धारा सेक और उपनाह। इनमें नेत्र को वन्द कर ऊपर में प्रवाही औषधियों की धारा डालें, वह धारा सेक; और औषधियों को कपड़े में (पोटली) बाँध, निवाया कर, सेक करने को उपनाह सेक कहते हैं।

धारा सेक—इस सेक के स्नेहन, रोपण और लेखन भेद से ३ प्रकार हैं। वातरोग में घृतादि की धारा डालें, यह स्नेहन सेक; पित्त और रक्त की वेदना में त्रिफलादि के हिम की धारा डालें, वह रोपण सेक; तथा कफ प्रकोप में मलदोष को निकालने के लिये सोंठ कालीमिर्चादि के क्वाथ की धारा डालें, वह लेखन सेक कहलाता है। यह धारा प्रायः प्रातःकाल ही डाली जाती है। यदि तीक्ष्ण प्रकोप है; तो सायंकाल या रात्रि को भी डाल सकते हैं।

स्नेहन सेक ६०० मात्रा (३। मिनट) तक, रोपण सेक ४०० मात्रा (२ मिनट) तक और लेखन सेक ३०० मात्रा (१।। मिनट) तक करें। धारा को ४ अंगुल ऊँचाई से डालें।

इस उपाय से नेत्र की लाली, पीड़ा और शूलादि दोष दूर होकर नेत्र स्वच्छ हो जाते हैं।

इस धारा सेक करने के पश्चात् एरण्ड के पत्तों को कूट, वकरी के दूध में मिला, उवाल, छान कर नेत्र पर छिड़कें अथवा उस दूध में रुई के फोहे भिगो, थोड़ा निवाया सेक करें; फिर नेत्र पर बाँध देवें और त्रिफलादि से उदर शुद्ध रक्खें तो नेत्रशूल, वेदना और वात सम्बन्धी पीड़ा नष्ट हो जाती है।

रुई के फोहे को त्रिफला के हिम या फिटकरी के जल में भिगो,

निचोड़, गोघृत में पूरी समान तल, फिर उस निवाये फ़ोहे से १०-२० मिनट तक सहन हो उतना मन्द सेक कर, नेत्र पर बाँध देने से लाली, शूल, पीड़ादि शमन हो जाते हैं।

आश्च्योतन विधि—रोगी के नेत्र में क्वाथ, स्वरस, शहद, आसव, गोघृतादि औषधि की बूँद डालने को आश्च्योतन कहते हैं। इस आश्च्योतन विधि से नेत्र पीड़ा, लाली, दाह, खुजली, अश्रु आना इत्यादि दोष दूर होते हैं। लेखन क्रिया के लिये ८ बूँदें, रोपणार्थ १० बूँदें और स्नेहन क्रिया के लिये १२ बूँदें डालने का शास्त्र में लिखा है। परन्तु वर्त्तमान में उतनी अधिक मात्रा सहन नहीं हो सकेगी। अतः आईड्रोपर से २ से ५ बूँद डालें।

वात पीड़ा में कड़वी और स्नेह युक्त औषधि की बूँदें थोड़ी-सी (धारोष्ण दूध समान) निवायी कर डालें।

पित्तज व्यथा में मधुर और शीतल बूँद डालें।

कफप्रकोप में कड़वी, गरम और रूक्ष औषधि की बूँदें (थोड़ी निवायी कर) डालें।

इस औषधि को १०० मात्रा (३२ सेकण्ड) तक नेत्र में धारण करें। फिर साफ मुलायम कपड़े से पोंछ कर नेत्र को साफ करें। पश्चात् कफ और वात के शमनार्थ गरम जल में कपड़े को डुबो, मृदु सेक करें।

सूचना—अधिक गरम तथा तीक्ष्ण आश्च्योतन उग्र पीड़ा और दृष्टि नाश करता है। अधिक शीतल हो; तो सुई चुभाने समान पीड़ा और जकड़ाहट उत्पन्न करता है। अधिक परिमाण में आश्च्योतन करने से जकड़ाहट, किरकिरी; नेत्र खोलने में कठिनतादि दोष उत्पन्न होते हैं। अति न्यून परिमाण होने पर रोग को बढ़ाता है। इस तरह वस्त्र से उचित सफाई नहीं की जाय; तो शोथ और लाली उत्पन्न हो जाती है।

नेत्र की आमावस्था में अतिशय वेदना, नेत्र में लाली, खुजली, शोथ, शूल, वेदना, गरम अश्रु निकलना और मल आना इत्यादि लक्षण होते हैं। फिर जब मन्द वेदना, खुजली, शोथ, अश्रु आदि कम हो जाते हैं; तब पक्वदशा (निरामावस्था) कहलाती है।

वातज और पित्तज नेत्ररोग में जब निरामावस्था आ जाय; तब आश्च्योतन क्रिया करें। परन्तु कफज नेत्ररोग में तो आमावस्था में ही तीक्ष्ण औषधि से आश्च्योतन क्रिया की जाती है।

सूचना—वात-पित्तज आमावस्था में आश्च्योतन क्रिया न करें; सेक, पिण्डी, लङ्घन और पाचन उपचार किया जाता है।

विल्वादि क्वाथ—वातज प्रकोप पर आश्च्योतनार्थ विल्वादि बृहद् पंचमूल, छोटी कटेली, एरंड की मूल या पत्ती और सुहिंजना की छाल, इन ८ औषधियों के क्वाथ को फिल्टर पेपर से छान कर नेत्र में आश्च्योतन करें। इस आश्च्योतन से वाताभिष्यंद की व्यथा (वातजन्य नेत्र की लाली) दूर होती है।

बिल्वपत्र स्वरसादि आश्च्योतन—विल्वपत्र का स्वरस, समभाग घी, थोड़ा सैंधानमक और कालीमिर्च का चूर्ण मिला, ताँबे की परात में कौड़ी से आध घंटे तक घोटें। फिर बीच में से औषधि को हटाकर गोवरी की निर्धूम अग्नि परात में रक्खें। पश्चात् अग्नि पर घी डाल, तुरन्त दूसरी परात से ढक दें। कुछ देर बाद अग्नि को निकाल दें। फिर औषधि में दूध मिला कर नेत्र में डालने से नेत्र शोथ, शूल, लाली, अधिमन्थ, पानी गिरना, नेत्रपाक, ये सब रोग दूर हो जाते हैं।

एरण्डपत्रादि आश्च्योतन—एरंड के कोमल पत्ते, मूल, छाल और छोटी कटेली की मूल को समभाग मिला ८ गुना बकरी का दूध और ८ गुना जल मिला, क्षीरपाक विधि से क्वाथ कर, दुग्धावशेष रहने पर छान, शीतल कर आश्च्योतन क्रिया में उपयोग करने से वातज और पित्तज लाली, वेदना, दाह और नेत्रशूलादि व्यथा सत्वर शमन होती है।

पिण्डी—औषधियों के कल्क की टिकिया या पुल्टिस जैसी आकृति बना, नेत्र पर रख, ऊपर वस्त्र बाँधने को पिण्डि-क्रिया कहते हैं। इस क्रिया से नेत्रपीड़ा शमन हो जाती है।

वातप्रकोप में घृत मिली हुई निवायी पिण्डी; पित्तज व्याधि में बकरी के दूध या अन्य शीतल रसयुक्त पिण्डी; और कफज व्यथा में रूक्ष

औषधियों की सहन हो सके ऐसी गरम पिण्डी बाँधें।

एरंड के पत्ते, मूल और छाल की टिकिया वातज को; आँवलों की टिकिया पित्तज को; और सुहिंजने के पत्ते की पिण्डी कफप्रकोप को नष्ट करती है।

अथवा आमावस्था के प्रारम्भ में निम्नलिखित श्रीवासादि पिंडी बाँधें।

श्रीवासादि पिण्डी—श्रीवास (इसेस-सरल का गोंद), अतीस, और लोद के चूर्ण में थोड़ा सैंधानमक मिला, पिण्डी बांध, नेत्राभिष्यन्द होने के पूर्वरूप प्रतीत होने पर, नेत्र पर फिराते रहने से नेत्र व्यथा की उत्पत्ति ही नहीं होती।

बिडालक विधि—नेत्र की भांफणी (पलकों) के बाल को छोड़, *शेष भाग पर औषधि के लेप करने को बिडालक विधि कहते हैं।* मुलहठी, सोनागेरू, सैंधानमक, दारुहल्दी और रसोंत को जल में पीस, नेत्रपर लेप करने से लाली, वेदना और शूलादि का शमन हो जाता है।

हरड़, सोनागेरू, सैंधानमक और रसोंत को जल में पीसकर नेत्र पर लेप करने से सब नेत्ररोग नष्ट होते हैं।

रसाजनादि लेप (र० त० सा० पृष्ठ ७५६) को जल में घिस, नेत्र पर लगाने और अंजन करने से नेत्र लाली, शूल, व्रण, वेदना, जल गिरना और नेत्रपाक दूर होते हैं।

तर्पण विधि—सूर्य का ताप, अग्नि, तेजवायु, धुआँ, धूली आदि उपद्रव से रहित सुखकारक घर में क्रोध और भय जिसका चला गया है, जिसने वमन, विरेचन और शिरोविरेचन किया है, ऐसे रोगी को भोजन पच जाने पर सुबह या शाम को स्वस्थ चित सुला, उड़द के आटे को जल में सान, दोनों नेत्रों के चारों ओर मजबूत सुन्दर १ अंगुल ऊँची, नीचे २ अंगुल चौड़ी तथा ऊपर आध अंगुल चौड़ी बाड़ बनावें। फिर १०० बार जल से धोये घृत अथवा गोदुग्ध में से निकाले हुए मक्खन के घृत को गरम जल में रख, पिघलाकर नेत्र पर पलकों के बाल डूब जायँ, उतना घृत भ्रू तक भर देवें। पश्चात् हरे कपड़े या पान से ढककर सम्हालपूर्वक नेत्र खुलवावें। स्वस्थ मनुष्य को ५०० मात्रा (२॥ मिनट)

तक, कफज व्याधि में ६०० मात्रा (३। मिनट) तक, पित्तज में ८०० मात्रा (४। मिनट) तक, और वातज में १००० मात्रा (५। मिनट) तक धारण करें ।

अथवा अन्य आचार्यों के मतानुसार सन्धिगत रोग में ३०० मात्रा (१।। मिनट) तक, वर्त्मगत (भाफणी के) रोग में १०० मात्रा तक, शुक्ल भाग के रोग में ५०० मात्रा तक, कृष्णगत पीड़ा में ७०० मात्रा (३।।। मिनट) तक और नेत्रशूल या अधिमन्थ (दृष्टि रोग) में १००० मात्रा (५। मिनट) तक तर्पण करें । फिर मेड में छेद कर घृत को कोये से गिरा, किसी पात्र में निकाल, नेत्र को पोंछ डालें; और भुने हुए जौ के आटे (उबटन) से शेष घृत को दूर करें । तत्पश्चात् यथायोग्य शास्त्रोक्त धूमपान करा, नेत्रों में बढ़े हुए कफ का शोधन करें ।

इस तर्पण विधि के सम्यक् प्रयोग से नेत्र की रुक्षता, पानी गलना, मैल आना, पक्ष्म के बाल चले जाना, नेत्र की नसें लाल होना, भयंकर दाह और वेदना होना, तिमिर, अर्जुन (सफेद भाग में लाल बिन्दु होना), फूला, अभिष्यन्द (नेत्र की लाली), अधिमन्थ (दृष्टि रोग), शुष्क नेत्र, नेत्रपाक, नेत्रशोथ, वात के विपर्यय से होने वाले रोग, ये सब नष्ट होते हैं; तथा अच्छी निद्रा आना, नेत्रों में हलकापन, तेजी, निर्मल वर्ण और खोलने बन्द करने में त्रास न होना, इत्यादि लाभ होते हैं।

तर्पण के अतियोग से नेत्र में भारीपन, मैलवृद्धि, अत्यन्त स्निग्धता, अश्रुस्राव, खुजली और दोष उत्क्लेशित हुए प्रतीत होते हैं । जो नेत्र का हीन तर्पण हुआ हो; तो नेत्रों से पानी झरना, शोथ और वेदना होती रहती है; तथा नेत्र में मैल आना, रुक्षता और लाली प्रतीत होती है । तर्पण न्यूनाधिक होने पर दोषों की वक्रता होती है । इसलिये इनकी सत्वर चिकित्सा करनी चाहिये ।

अतियोग में रुक्ष उपचार और अल्पयोग में नस्य, अञ्जनादि स्निग्ध उपचार करके सत्वर दोष को दूर करें । यह तर्पणक्रिया १, ३ या ५ वार करें । स्वस्थ मनुष्य को २-२ दिन छोड़ कर वातज विकार में प्रति दिन, पित्तज और रक्तज विकार में १-१ दिन पश्चात्; तथा कफ

प्राधान्य रोगों में २-२ दिन बाद तर्पणक्रिया करनी चाहिये।

सूचना—बद्दल आने पर अत्यन्त उष्ण या अत्यन्त शीतल समय में और मानसिक चिन्ता या भ्रम होने या अन्य उपद्रव होने पर तर्पण-क्रिया न करें।

तर्पण के दिनों से दूने दिनों तक पथ्य पालन करें। एवं रात्रि को मालती या मल्लिका के पुष्पों को नेत्र पर बाँधें।

तर्पण के अनधिकारी—जिनको नस्यक्रिया का निषेध किया है, उनके लिये तर्पण और पुटपाक क्रिया का भी निषेध है।

पुटपाक—पुटपाक का उपयोग तर्पण के ही रोगों में किया जाता है। पुटपाक के स्नेहन, लेखन और प्रसादन भेद से ३ प्रकार हैं। वातज विकार में स्नेहन; कफज में लेखन; एवं पित्तप्रकोप, रक्तविकार, व्रण और दृष्टिदोष दूर करने तथा स्वस्थ मनुष्य की दृष्टि को सबल बनाने के लिये प्रसादन पुटपाक का उपयोग किया जाता है।

पुटपाक के लिये मांस और औषधि के कल्क को मिला, पिण्ड बना, ऊपर एरंड (स्नेहन में), बरगद (लेखन में), या कमल (प्रसादन में) के पत्ते को लपेट, उस पर मिट्टी का लेप करें। फिर निर्धूम गोबरी की अग्नि पर पकावें। जब पुटपाक के ऊपर की मिट्टी अग्नि सदृश लाल हो जाय; तब निकाल, शीतल कर, औषधि का रस निचोड़ लें। फिर दोनों नेत्रों की चारों ओर तर्पण में कही विधि से मेंड बाँध कर रस डालें।

लेखन के लिये १०० मात्रा (३२ सेकण्ड), स्नेहन में २०० मात्रा और प्रसादनार्थ ३०० मात्रा तक नेत्र में धारण करें। लेखन और स्नेहन पुटपाक का रस किञ्चित् उष्ण रक्खें; और प्रसादन का रस बिल्कुल शीतल करें।

सूचना—इस पुटपाक क्रिया के पश्चात् तर्पण विधि अनुसार रस निकालकर धूमपान करावें।

स्नेहन पुटपाक—स्नेह, मांस, चरबी, मज्जा, मेद और मधुर औषधियों से बनाये हुए पुटपाक का रस स्नेहन कहलाता है।

लेखन पुटपाक—जंगली जीवों के यकृत् का मांस, लेखन औषधि

मण्डूर, लोहचूर्ण, ताम्र का चूर्ण, शङ्ख चूर्ण, प्रवाल चूर्ण, सैंधानमक, समुद्रफेन, कसीस, काला सुरमा और दही के जल से तैयार किये हुए पुटपाक का रस लेखन कहलाता है।

प्रसादन पुटपाक—स्त्री दूध, जंगली पशुओं का मांस, मज्जा, घी, नीमगिलोय, अडूसा, परवल और कटेली से बनाये हुए पुटपाक का रस प्रसादन और रोपण कहलाता है।

सूचना—नस्य के जो अनधिकारी हैं, वे तर्पण और पुटपाक के भी अनधिकारी माने जाते हैं।

रोगी को तर्पण और पुटपाक के सेवन के पश्चात् दूने दिनों तक पथ्य पालन और नेत्र का तेज वायु से रक्षण करना चाहिये।

अञ्जन—नेत्र के सम्पूर्ण दोष पक जाने पर अञ्जन करें। अञ्जन के ३ प्रकार हैं। चूर्ण, गोली और रसक्रिया। इनमें चूर्ण से गोली और गोली से रस बलवान् हैं। फिर गुण भेद से सबके ३-३ भेद होते हैं। लेखन, रोपण और प्रसादन। प्रसादन को स्नेहन भी कहते हैं।

लेखन अञ्जन—क्षार, तीक्ष्ण, कसैले और खट्टे रस वाला अञ्जन हो, वह लेखन (लेखन में मात्र मधुर रस नहीं होता)। यह अञ्जन वर्त्म (पलक), शिरा, कोष (नसों के समूह), कान और शृङ्गाटक (कपाल की हड्डी) में रहने वाले दोषों को गिराकर मुँह, नाक और नेत्र से बाहर निकाल देता है।

रोपण अञ्जन—कसैले और कड़वे रस वाले स्नेहयुक्त अञ्जन को रोपण अञ्जन कहते हैं। यह शीतल होने से नेत्र के वर्ण की वृद्धि करता है; और दृष्टि को बलवान् बनाता है।

प्रसादन अञ्जन—मधुर रस और स्नेहयुक्त अञ्जन को प्रसादन अञ्जन कहते हैं। यह अञ्जन दृष्टिदोष को दूर कर नेत्र को स्निग्ध बनाता है।

लेखन कार्य के लिये रसतन्त्रसार में रसकेश्वर गुटिका (पृ० ७४१), चन्द्रोदया वर्त्ति (पृ० ७४१), तुत्थादि वर्त्ति (पृ० ७४१), नेत्ररोगान्तक अञ्जन (पृ० ७४३), शंखादि नेत्राञ्जन (पृ० ७४४), नयनशाणाञ्जन (पृ० ७४४) और पुष्पहर अञ्जन (पृ० ७४६) लिखा है। इनमें से

रोगानुरूप उपयोग करें।

लेखन रसक्रिया—नीलाथोथा, सुवर्णमाक्षिक, सैंधानमक, मिश्री, शंखनाभि का चूर्ण, मैनशिल, सोनागेरू, समुद्रफेन और काली-मिर्च, इनको खरल कर ४ गुने शहद में मिला, अञ्जन करने से वर्त्म रोग, अर्म, तिमिर, काच और शुक्ररोग नष्ट हो जाते हैं।

रोपण कार्य के लिये रसतन्त्रसार में जसदभस्म (पृष्ठ १८१), चन्दनादि वर्त्ति (पृष्ठ ७४५), दार्व्यादि रसक्रिया (पृष्ठ ७४२), बब्बूलादि स्वरस (पृष्ठ ७४०), ये औषधियाँ लिखी हैं। इनमें से रोगानुसार प्रयोग में लावें।

स्नेहन कार्य के लिये रसतन्त्रसार में नेत्रप्रभाकर अञ्जन (पृष्ठ ७३८), श्वेत नेत्राञ्जन (पृष्ठ ७३६), पथ्यादि अञ्जन (पृष्ठ ७४५) और नेत्र-सुदर्शन अर्क (पृष्ठ ७४३) लिखे हैं। इनमें से प्रकृति अनुरूप दृष्टिदोष नाशार्थ योजना करें।

नेत्रशलाका—लेखन अञ्जन के लिये ताम्र, लोह, पत्थर या बारहसिंगे की; रोपण के लिये काले लोहे की; तथा प्रसादन के लिये सोने या चाँदी की शलाका बनावें, या उँगली से रोपण और प्रसादन अञ्जन करें। शलाका बनावें वह ८ अंगुल लम्बी, बीच में मोटी, दोनों शिरा पर पतली और मटर सदृश गोल, चिकनी बनावें।

अंजन काली पुतली के नीचे नेत्र के कोने तक आँजें। अंजन सदा निर्मल आकाश होने पर प्रातः और सायंकाल को करें। मध्याह्न काल या रात्रि को न करें। इनमें लेखनांजन प्रातः तथा रोपणांजन और प्रसादनांजन सायंकाल को करें।

दूसरे आचार्यों का मत है, कि तीक्ष्ण अंजन दिन में न डालें; रात्रि में सोने के समय अंजन करने से सुबह तक क्षोभित दृष्टि शान्त हो जाती है। इस मत का वाग्भट्टाचार्य ने स्वीकार नहीं किया। नेत्र में आमविकार और कफ प्राधान्यता तथा शिशिर ऋतु हो; तो रात्रिकाल सौम्य होने से दोष स्रवण में अयोग्य माना है, इस हेतु से रोग शमन होने के बदले कण्डु, जाड्यतादि की वृद्धि हो जाती है। परन्तु अनेक देशों में तीक्ष्ण

अंजन रात्रि को सोने के समय ही डालने का रिवाज परम्परागत चला आया है।

अंजन के अनधिकारी—परिश्रम करने पर, उदावर्त्त रोगी, रोया हुआ, शराब पिया हुआ, क्रोधित हुआ, भयभीत, ज्वर पीड़ित, मल-मूत्रादि वेग धारण किया हुआ और शिरोरोग से पीड़ित, इनको अंजन नहीं लगाना चाहिये। इनके अतिरिक्त वमन, विरेचन या भोजन करने पर, जागरण करने पर, शिरस्नान करके तुरन्त, सूर्य के ताप से संतप्त होने पर, अजीर्ण होने पर, प्यास लगने पर, दिन में शयन के पश्चात्, बदल आये हुए हों और अधिक शीतलता या अधिक उष्णता हो, तब भी अंजन नहीं करना चाहिये।

सूचना—सोकर उठने पर तुरन्त अंजन करने से नेत्र खोलने-मींचने में निर्वलता आती है।

प्रचण्ड वायु चलने पर अंजन किया जाय; तो दृष्टिवल में न्यूनता; तथा धूल या धुँए से व्याकुल होने पर अंजन करें; तो नेत्र लाली, आँसू आना और अधिमन्थ (दृष्टिविकार) हो जाना सम्भव है।

नस्य करने पर तुरन्त अंजन लगाने से शोथ और शूल उत्पन्न होते हैं।

सिरदर्द होने पर अंजन करने से सिरदर्द की वृद्धि होती है।

सिर पर स्नान करने के पश्चात् अति शीत लगने पर, सूर्योदय से पहले या असमय में बदल होने पर अंजन करने से दोष उत्क्लेशित होकर व्यथा की वृद्धि होती है।

अजीर्ण में अंजन लगाने से भी स्रोतसों के मार्ग रुके होने से दोष उत्क्लेशित होता है। जिससे दोष की वृद्धि होती है।

जब दोष का वेग तीव्र हो; तब अंजन लगाने से वात, पित्त और कफ दोष अधिक प्रकुपित होते हैं। इसलिये इन दोषों से बचाकर अंजन का उपयोग करें।

अंजन लगाकर नेत्र को तुरन्त नहीं धोना चाहिये।

सिराव्यध विधि।

अपथ्य आहार-विहार से रक्त में विकृति होने पर सिरा (फस्द) को खोलकर रक्तस्राव कराने को सिराव्यध कहते हैं।

सुश्रुत-संहिता शारीरस्थान में लिखा है, कि इस शरीर में ७०० प्रधान सिराएँ हैं। बाग़ नालियों द्वारा जैसे सींचा जाता है, वैसे इन सिराओं द्वारा शरीर का पोषण किया जाता है। इन सब सिराओं का मूल नाभि है। इन सिराओं में मूल सिरा ४० हैं। १० वातवहा, १० पित्तवहा, १० कफवहा और १० रक्तवहा। फिर चारों की १६५-१६५ उपसिराएँ हो जाती हैं। इनमें रक्तवाहिनी सिरा समस्त शरीर में फैलकर यकृत् और प्लीहा को प्राप्त होती हैं। इन सिराओं में से कितनीक सिराओं को खोलकर रक्त निकाला जाता है।

वर्त्तमान में प्रत्यक्ष शारीर में जिनको 'सिरा' संज्ञा दी है, और भगवान् धन्वन्तरि ने जिन्हें 'सिरा' संज्ञा दी है, उन दोनों की परिभाषा में अन्तर है। प्रत्यक्ष शारीरकार ने रक्त को हृदय में लाने वाली रक्तवाहिनियों को सिरा कहा है। फुफ्फुस प्रभवा ४ सिराओं के अतिरिक्त समस्त सिराओं में अशुद्ध रक्त ही बहता है।

इस चिकित्सातत्त्वप्रदीप में प्रत्यक्ष शारीर की परिभाषानुसार (वेइन्स Veins) को ही सिरा लिखा है।

यदि औषधि से असाध्य और सिराव्यध से साध्य रोगों में यथा समय सिराव्यध नहीं कराया जाय; तो विसर्प, विद्रधि, प्लीहा, गुल्म, दाह, मन्दाग्नि, ज्वर, मुख, नेत्र, शिरोरोग, मद, तृषा, मुँह का नमकीन स्वाद हो जाना, कुष्ठ, वात, रक्तपित्त; रक्तगन्ध वाला चरपरा या अम्ल-डकार, भ्रम, सरलता से साध्य न हो सके ऐसे कष्टसाध्य रक्त प्रकोपज रोगादि उत्पन्न हो जाते हैं। अतः सत्वर सिराव्यध कराना हितकर माना गया है।

किन्तु विद्रधि आदि रोगों में जब तक पककर पीप न हो जाय, तब तक वेधन नहीं कराना चाहिये।

सिराव्यध विधि—जिस रोगी की सिरा वेधन करनी हो, उसे स्नेहन दें। या स्निग्ध मांसरसादि भोजन करा या यवागू आदि पिला स्वेदन देकर रक्त निकालें। रक्त निकालने के समय अधिक शीत और अधिक उष्ण न हो, ऐसे दिन के समय में अनुकूलतानुसार बैठाकर या लेटाकर हाथ, पैर, सिर आदि अंगों में से उचित स्थान को मुलायम

कपड़े से बाँधकर शस्त्र से सिराव्यध करें। अथवा सिंगी, निर्विष जोंक या तूम्बी लगवाकर रुधिर निकालें।

एक दोष से दूषित रक्त को सिंगी आदि से निकालें; और दो या तीन दोष से दूषित को सिरा खोलकर निकालें।

सिराव्यध करने पर अशुद्ध रक्त शेष रह गया हो; तो सायंकाल अथवा दूसरे दिन पुनः सिराव्यध कराना चाहिये। यदि दुष्ट रक्त अधिक रह जायगा; तो खाज, सूजन, पाकादि व्याधियों की उत्पत्ति कराता है।

रक्त अधिक निकल जायगा; तो शिरदर्द, अन्धापन, अधिमन्थ, चक्कर, धातुक्षय, आक्षेपक वात, पक्षाघात, एकांगवात, तृषा, दाह, हिक्का, श्वास, कास, पाण्डु आदि रोगों की उत्पत्ति करा देता है; अथवा मृत्यु-कारक हो जाता है।

यदि रक्त निकलकर आप ही बन्द हो जाय; तो शुद्ध और सम्यक् प्रकार से उचित रक्त निकला जानें।

सिरा खोलकर देहव्यापी पतला रक्त निकाला जाता है। वातदूषित नाड़ियों के भीतर रहे हुए रक्त को शृङ्ग से; इसके नीचे में रहे हुए रक्त और कफ से विकृत रक्त को तूम्बी से; तथा इसके भी अन्तर में रहे हुए और पित्त दूषित रक्त को जोंकों से निकाला जाता है, और जहाँ रुधिर जम जाता है, वहाँ उस्तरा लगाकर निकालना चाहिये।

सिंगी १० अंगुल से, तूम्बी १२ अंगुल से और जोंक १८ अंगुल से रक्त खींच सकती है; तथा पछना से एक अंगुल तक का रुधिर निकल सकता है।

जलौका विधि—दूषित रक्त को शोषण कर बाहर निकालने के लिये जोंकें (लीचिस Leaches) लगायी जाती हैं। जोंकों में विषैली और निर्विष २ प्रकार हैं। निर्मल जल, कमल और शैवाल वाले तालाव में जो जोंकें रहती हैं; वे बहुधा निर्विष होती हैं। इसके विपरीत कीचड़ या मेंढक जिसमें रहते हैं, ऐसे क्षुद्र तालाव में रहने वाली जोंकें प्रायः विषैली रहती हैं। इनमें से निर्विष जोंकों को ही प्रयोग में लाना चाहिये। निर्विष जोंकों में भी जो जोंक बीच में से मोटी हो अथवा रोगपीड़ित,

निर्बल, या सांसर्गिक ग्रन्थि ज्वरादि (प्लेगादि) रोगों में प्रयुक्त हुई हो, उनको उपयोग में नहीं लाना चाहिये।

जलौका की लम्बाई अधिक से अधिक १८ अंगुल तक होती है। इनमें से मनुष्यों के लिये ४ से ६ अंगुल लम्बी जोंक उपयोग में आती है। अधिक लम्बाई वाली जोंक घोड़ादि पशुओं के लिये काम में ली जाती हैं।

जोंक में नर और मादा २ भेद हैं। इनमें स्त्री जाति की जोंक नाजुक, पतली त्वचा वाली, छोटे कण्ठ वाली और मोटी पूंछ वाली होती है। नर जाति की जोंक अर्ध चन्द्राकृति होती है; और उनके आगे का हिस्सा गोल होता है। इनमें से जीर्ण या सबल रोगों के लिये नर जोंक और मुलायम स्थान के लिये मादा जोंक को उपयोग में लेवें।

जोंकें लगाने से पहले उन पर हल्दी और सरसों लगा, आध घण्टे तक स्वच्छ जल में रख दें। जिससे वे उत्तेजित हो जाती हैं। फिर जहाँ पर जोंकें लगाना हो, उस भाग के बालों को उस्तरा से निकाल, साबुन से धो देवें। पश्चात् कपड़े से जोंक को पकड़, रक्त निकालने के स्थान पर उसका मुँह लगादें। कदाच जोंक न चिपके, तो वहाँ पर थोड़ा शहद, शर्बत या दूध लगावें; अथवा सुई से जरा-सा रुधिर निकालें। जिससे जोंक सत्वर लग जाती हैं। फिर बारीक कपड़ा जल से भिगो कर ढक दें। कपड़ा सूखने पर फिर थोड़ा जल डाल लेवें। इस तरह करने से पौन से एक घण्टे में जोंक रक्त को पी, तृप्त हो कर, स्वयमेव गिर जाती है।

एक जोंक लगभग १ तोला रक्त का शोषण कर लेती है; इस हिसाब से आवश्यकता हो, उतनी जोंकें लगावें। अधिक लगाने पर हानि होती है।

हो सके तब तक जोंकों को हड्डी के समीप के स्थान पर लगानी चाहिये। यदि अधिक गहराई वाले स्थान पर लगाई जायगीं; तो उस स्थान के रक्तप्रवाह को बन्द करने में कठिनता होती है। अतः खूब सम्हालपूर्वक उपयोग करना चाहिये।

यदि जोंक कण्ठ या गुदा पर लगानी हो; तो उसे काँच की नली के भीतर डाल कर लगाना चाहिये। जिससे वह भीतर घुस न सके; केवल अपने मुँह को ही बाहर निकाल कर रुधिर शोषण कर सके।

विल्कुल सूजन के ऊपर या विषैले घावों के अति समीप में जोंक नहीं लगानी चाहिये।

यदि जोंक लगाने के पश्चात् पीड़ा या खुजली होने लगे तो समझना चाहिये कि वे जोंकें शुद्ध रक्त खींच रही हैं। ऐसी जोंकों के ऊपर नमक डालकर तुरन्त छुड़ा देना चाहिये।

रुधिर शोषण हो जाने पर उस स्थान को थोड़ी देर तक उँगली से दवाए रखने से रक्तस्राव वन्द हो जाता है। यदि इतने से रक्त वन्द न हो तो वहाँ पर शहद लगावें; अथवा वोरिक लोशन या त्रिफलाक्वाथ के जल से धोकर पट्टी वाँध दें।

जिन जोंकों ने रुधिर पिया है; उनके मुँह पर नमक का जल लगा कर पोंछ देने से वे वमन कर, दूषित रक्त को वाहर निकाल देती हैं। फिर इन जोंकों को प्रयोग में लाना हो तो उन्हें शीतल जल में रख देवें। यदि जोंकों को नमक वाले जल में रक्खी जायगीं; तो वे मर जाती हैं।

सूचना—कदाचित् जोंक को किसी हेतु से वीच में ही छुड़ाना हो; तो उसके मुँह पर नमक का चूर्ण डाल देना चाहिये। कितनेक लोग जोंक चिपक जाने पर उसके मुँह पर थूकते हैं; जिससे वह छूट जाती है। जवर्दस्ती खींच कर जोंक को कदापि नहीं छुड़ाना चाहिये, क्योंकि जवर्दस्ती करने से उसके दाँत टूट कर वहाँ रह जाते हैं और फिर उनसे पक कर घाव हो जाता है।

एक समय प्रयोग में लाई हुई जलौकाओं का उपयोग पुनः सात दिन तक नहीं करना चाहिये।

यदि दुष्ट रक्तस्राव योग्य न हुआ हो; तो दंश-स्थान पर हल्दी, गुड़ और शहद मिलाकर लगाने से अवशिष्ट दुष्ट रुधिर का स्राव होने लगता है।

जोंकें पकड़ने के लिये ताजे चमड़े को जल में रख देवें। थोड़े समय पश्चात् जोंकें चमड़े को काटने के लिये चिपक जाती हैं। पश्चात् चमड़े को वाहर निकाल, जोंकों को कोरे घड़े में शुद्ध मिट्टी के कीचड़ में रख देवें। इनको खाने के लिये कमलकन्द, कमल के वीज, काई और सिंघाड़े

आदि कीचड़ में उत्पन्न होने वाले पदार्थ देते रहें; तथा वारवार स्वच्छ जल डालते रहें और ३-३ दिन पर मिट्टी वदलते रहें; खाने के पदार्थ डालते रहें। इसी प्रकार ५-५ या ७-७ दिन पर घड़े को भी वदलते रहें, जिससे दुर्गन्ध उत्पन्न न हो। २-३ घड़े रक्खें; वारवार निकालकर धूप में रख देवें; तो दोष सब उड़ जाता है।

जो जोंक घड़े के जल में खाने के लिये चपलता पूर्वक फिरती रहती है, ऐसी जोंकों को निकाल, थोड़े समय तक हल्दी के जल में डालें। फिर खट्टी छाछ में डालकर क्षुधा प्रदीप्त करें। तत्पश्चात् उपयोग में लेवें।

ग्लास लगाने की विधि—जैसे सिंगी और तूम्बी लगाई जाती है, वैसे दर्द वाले भाग में से रक्त खींच लेने के लिये और वेदना शमन करने के लिये काँच के ग्लास का प्रयोग किया जाता है। इस ग्लास की पेटी को कपिंग केस (Cupping case) कहते हैं। इसमें छेदन के शस्त्र भी रहते हैं। इस कपिंग ग्लास में थोड़ा-सा स्पिरिट जलाकर तुरन्त त्वचा पर उलटा लगा देने से दृढ़ लग जाता है; तथा त्वचा में रक्त भर जाता है। ग्लास में स्पिरिट वहुत थोड़ा डालें और ग्लास को ज्यादा गरम न होने दें; अन्यथा चमड़ी जल जाती है। कमर, पीठादि भाग पर ग्लास लगाया जाता है। फिर ग्लास १५-२० मिनट वाद खुल जाता है; या छुरी या नख से दवाने से खुल जाता है। ३-४ समय इस रीति से ग्लास लगाने से रोग दूर हो जाता है।

यदि पहले पीड़ित स्थान पर छेद करलें, तो प्याले में रक्त आ जाता है।

दाह, शोथ, वातप्रकोपजन्य शूल, रक्त दूषित हो जाना, इत्यादि हेतु से सिंगी या कपिंग ग्लास लगाये जाते हैं। यदि उस स्थान पर दाह हो, तो छेद करे, जिससे रक्त और जल निकल आते हैं।

लोटे का प्रयोग—कपिंग ग्लास के वदले लोटे का प्रयोग भी किया जाता है। जव तीव्र उदरपीड़ा हो, तव एक कपड़े को लपेट, मोटी वत्ती वना, एरण्ड तैल में डुवो, पेट पर रख कर जलावें; फिर ताँवे का लोटा उस पर उल्टा रख देने से दृढ़ चिपक जाता है। पश्चात्

१५-२० मिनट बाद वह खुल जाता है, और पीड़ा शमन हो जाती है।

सिरा मेंसे दूषित रक्त न्यूनांश में निकले तो;—कपूर, हरड़, कूट, तगर, पाठा, देवदारु, वायविडंग, चित्रकमूल, त्रिकटु, सैंधानमक, धुआँ, हल्दी, आक की कोंपल, डहरकरंज के फल, इनमें से जो मिले, उन ३-४ या अधिक औषधियों को पीस, सरसों का तैल और नमक मिला, घाव के मुँह पर मलें। इससे सम्यक् प्रकार से रक्त निकल आवेगा।

रक्तस्राव बन्द करने की विधि—रुधिर अधिक निकलता रहता है; तो उसे सत्वर बन्द करने के ४ उपाय हैं। संधान (कसैले रस से जोड़ देना), स्कन्दन (शीतलता पहुँचा कर जमा देना), पाचन (भस्म से पका देना), दहन (नस को जला कर रक्त बन्द करना)। पहले तीनों उपायों से रक्त बन्द न हो; तो दग्ध कर, सिरा के मुख को बन्द कर देना चाहिये। इस तरह बर्फ की शीतलता पहुँचाने से भी रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

दूषित रक्तस्वरूप—यदि वातविकार से रक्तविकृति हुई हो; तो रक्त लाल, झागों वाला, रूक्ष, कठोर, पतला और अति वेग वाला होता है; और उसमें सुई चुभने के समान पीड़ा होती है।

पित्तप्रकोप से दूपित रक्त गरम, नीले, हरे, काले रँग वाला, पतला, मक्खियों और चींटियों को अप्रिय और दुर्गन्धयुक्त होता है।

कफप्राधान्य विकृति होने पर रक्त शीतल, स्निग्ध, गाढ़ा, गेरू के पानी जैसे रंगवाला और मन्द गति वाला होता है।

यदि दो दोप से रक्त बिगड़ा है, तो दो दोप के लक्षण प्रतीत होते हैं; और तीनों दोपों से बिगड़ने पर रक्त अधिक दुर्गन्धवाला, काँजी के सदृश और सम्पूर्ण लक्षण वाला होता है।

विप से दूपित होने पर भिन्न-भिन्न विप के प्रभाव अनुसार रक्त-विकृति प्रतीत होती है।

शुद्ध रक्त का स्वरूप—शुद्ध रुधिर पतला, वीरबहूटी या शशे (खरगोश) के रक्त सदृश रंग वाला होता है। शुद्ध रक्त का रस मधुर और किंचित् खारा होता है। रंग लाल, वीर्य मन्दोष्ण, जड़, स्निग्ध

तथा आमगन्धी होता है। इनकी दाह-शक्ति पित्त समान होती है।

रक्त में आमगन्धपना भूमि का, पतलापन जल का, रक्तवर्ण अग्नि का, चलन गुण वायु का और विलयगुण आकाश का है। इस तरह रक्त में पाँचों भूतों के गुण अवस्थित हैं। रासायनिक रीति से परीक्षा करने पर रक्त के १००० भाग में जल ७८४, रक्तकण १३१, एल्व्युमिन ७०, क्षार ६, और इतर द्रव्य ६ भाग होते हैं।

अनुचित रक्तवृद्धि—रक्त में अनुचित वृद्धि होने पर नेत्र में लाली, नसें फूलना, देह में भारीपन, निद्रावृद्धि, बेचैनी और प्रमेह रोग की उत्पत्ति हो जाती है; तथा रक्त विकृति हो जाने पर प्रायः शोथ, लाली, चकत्ते, गाँठ, पीड़ा, दाह, फोड़े-फुन्सियाँ होना, खुजली चलना, इत्यादि विकार होते हैं।

सिराव्यध के अधिकारी—शोथ, दाह, अंगपाक, त्वचा लाल होजाना, वातरक्त, कुष्ट, वातप्रकोपजन्य तीक्ष्ण पीड़ा, पाण्डु, श्लीपद, विष विकार से रक्तविकृति, गाँठ, अर्बुद (रसोली), अपची (गले की गाँठ), क्षुद्ररोग, अधिमन्थ (नेत्र रोग), विदारी (काँख-बलाई), स्तन रोग, अङ्ग का भारी होना, रक्ताभिष्यन्द (नेत्र पककर भयंकर लाल हो जाना), तन्द्रा, विद्रधि, फोड़ा, कान, होठ, नाक और मुँह का पकना, मस्तक रोग, मस्तक में रक्त की वृद्धि, रक्तभाराधिक्य, उपदंश और रक्तपित्त विकार, इन रोगों में सिराव्यध कराना हितकारक है।

भिन्न-भिन्न रोगों में भिन्न-भिन्न सिरा खोलने का भगवान् धन्वन्तरिजी ने लिखा है। इन सिराओं को खोलने के समय हाथ-पैर या शरीर कैसे रखना, कहाँ बंध बाँधना, किन-किन सिराओं को न खोलना, मर्मस्थानों* को छोड़ सुगम स्थानों पर सिराव्यध करना, शस्त्र कितना

* सिराव्यध करने के समय मर्मस्थानों की रक्षा करनी चाहिये। शरीर में सब मिल कर १०७ मर्मस्थान हैं। इनमें ११ मांसमर्म, ४१ सिरामर्म, २७ स्नायुमर्म, ८ अस्थिमर्म और २० सन्धिमर्म हैं। इनमें से १९ सद्य प्राणहर और ३३ कालान्तर में प्राणहर हैं; (इनकी पूर्ण रक्षा करनी पड़ती है।) ३ विशल्यघ्न, ४४ विकलताकर और ८ रुजाकर हैं।

प्रवेश करना; किस शस्त्र से कहाँ वेधन करना, इन सब बातों का विवेचन सुश्रुत संहिता के शारीरस्थान में विस्तार से लिखा है। वर्त्तमान में उस विधि का प्रयोग न होने से अत्र विवेचन नहीं किया।

वर्त्तमान में सिरावेधन में विशेषतः हाथ में रही हुई अन्तर्वाहुका (कनिष्ठिका के मूल से ऊपर जाने वाली सिरा (Besilic vein), वहिर्वाहुका (अंगुष्ठ के मूल से आगे जाने वाली सिरा (Cappalic vein) और मध्यवाहुका (उक्त दोनों सिराओं को जोड़ने वाली कूर्पर के पास की सिरा Median cubital vein), इन तीन सिराओं को अधिक अनुकूल मानी हैं। अलावा अनेक मारक रोगों के शमन के लिये इन सिराओं में इन्जेक्शन भी किया जाता है।

सिरा संधान विधि—रक्त निकालने के पीछे घाव के मुँह को वन्द करने के लिये शीतल उपचार करें। राल, रसौंत, जव का आटा, गेहूँ का आटा, धाय के फूल का चूर्ण, लोध, प्रियंगू, रक्तचन्दन, उड़द, मुलहठी, सोनागेरू, मिट्टी के पके हुए वर्तनों का चूर्ण, सुरमा, रुई, रेशमी कपड़ा या अलसी की भस्म, क्षार वृक्षों की छाल और अंकुर, संगजराहत, सोहागे का फूला, या गन्धक का चूर्ण, इनमें से जो अनुकूल हो, उसको व्रण के ऊपर बुरकावें।

वर्फ रखना आदि शीतल उपचार करने से भी रक्त निकलना वन्द हो जाता है।

क्षार डालने से उसका मुँह जुड़ जाता है।

दाग देने से नस सिकुड़ जाती है। (डाक्टरी में साधारण रीति से ऑपरेशन करके घाव वाले भाग को कास्टिक से जलाकर वोरिक लोशन की पट्टी बाँध देते हैं।)

रुधिर योग्य प्रमाण में निकलता है; तो व्यथा शमन, उपद्रवों-सह रोग का क्षय तथा देह और मन में स्वस्थता प्रतीत होती है।

सूचना—रक्तस्राव कराने में रोगी के वल, प्रकृति, व्याधि और ऋतु का विचार करना चाहिये। अवेध्य और अदृष्ट शिराओं का वेधन न करें। वेध्य योग्य शिरा, यन्त्रसाध्य और ऊपर को उठी हो, उसका

ही वेधन करें। घाव में जन्तु या विजातीय परमाणु प्रवेश न कर जाँय, इस बात की सम्हाल रखना चाहिये। व्रण के वेधन में चीरा ऊभा ही लगाना चाहिये; आडा चीरा लगाया जायगा तो अनेक रक्तवाहिनियाँ कट जायँगी। जब रुधिर थोड़ा-सा दूपित शेष रह जाय; तभी रक्तप्रवाह को बन्द कर देना चाहिये; शेष थोड़े दोष को औषधियों से ही शान्त करें। रात्रि के समय, अति शीत लगती हो, ऐसे समय पर और जब मल-मूत्रावरोध हो, तब रक्त नहीं निकालना चाहिये। रक्तस्राव कराने के पहले मल-मूत्र की शुद्धि अवश्य करा लेनी चाहिये।

रक्त निकालने के पीछे अत्यन्त परिश्रम, मैथुन, क्रोध, ठंडे जल से स्नान, अधिक खुली वायु का सेवन, खट्टा, क्षारादि तीक्ष्ण पदार्थ, अजीर्ण-कारक भोजन, शुष्क भोजन, कम भोजन और उपवास, ये सब शरीर में बल न आ जाय; तब तक नहीं करना चाहिये।

रक्त निकल जाने से अग्निमांद्य हो जाती है; और वायु का परम कोप होता है। अतः रोगी को स्निग्ध और रक्तवृद्धिकर भोजन देना चाहिये; या दुग्धादि लघुपौष्टिक भोजन देवें।

सिराव्यध के अनधिकारी—दुर्बल, १६ वर्ष से कम आयु वाला, अति वृद्ध, रूक्ष, क्षीण, भीरु, मदोन्मत्त, वमन, विरेचन या वस्ति करने पर तुरन्त जिसने स्नेहन और स्वेदन न किया हो, अति मैथुन करने वाला, वातरोगी, अर्शरोगी, निर्बल, रक्तपित्त वाला, नपुंसक, कामान्ध, परिश्रान्त, रात्रि को जिसे निद्रा न आती हो, सगर्भा, प्रसूता स्त्री, पाण्डु रोगी, अम्ल भोजन से उत्पन्न शोथ, सम्पूर्ण शरीर में सूजन युक्त उदर रोगी, तृपा पीड़ित, मूर्च्छा वाला; या श्वास, कास, शोप, प्रवृद्ध ज्वर, आक्षेपक और पक्षाघात, इन रोगों में से किसी एक से पीड़ित; तथा उपवासी की सिराओं में से रक्त निकालना हानिकारक है। यदि आवश्यकता हो; तो सम्हाल पूर्वक निकालें।

दम्भ विधि।

दम्भ अर्थात् दाग देना, यह अनेक असाध्य रोगों में हितकर है। जो रोग औषधि, शस्त्रकर्म और क्षारक्रिया द्वारा साध्य नहीं होते; उन

पर दाग दिया जाता है। कितनेक रोगों में त्वचा पर्यंत, कितनेक रोगों में रक्त तक, कितनेक में मांस तक और कतिपय रोगों में अस्थिपर्यंत असर पहुँचाया जाता है।

दम्भक्रियार्थ लोहे के शस्त्र अथवा सुवर्ण या ताम्र की शलाका को अग्नि में तपा कर लाल करें। फिर दाग देने के स्थान पर पेंसिलादि से निशान कर, रोगी को नेत्र वन्द करने को कहकर सम्हालपूर्वक दाग लगा देवें। यह दाग चमड़ी जल कर धुँआ और दुर्गन्ध आने तक देवें; अति गहराई तक घाव हो जाय, ऐसा न देवें।

इस दम्भक्रिया के ४ प्रकार हैं। सुदग्ध (अच्छी तरह जलाना), हीनदग्ध (थोड़ा जलाना), अतिदग्ध (अति जलाना) और तुच्छदग्ध (किञ्चित् जलाना)।

सुदग्ध अर्थात् सम्यक् दम्भ होने पर वह स्थान पक्के तालफल के समान ऊपर उठा हुआ और नीले रंग का हो जाता है। यह व्रण जल्दी भर जाता है; और दम्भ होने पर पीड़ा भी कम हो जाती है। हीनदग्ध होने पर न्यूनता; और अतिदग्ध होने पर अधिकता प्रतीत होती है। तुच्छदग्ध होने पर त्वचा लाल या विवर्ण हो जाती है।

हीनदग्ध में दाह और स्फोट हो जाता है। अतिदग्ध होने पर मांस में शिथिलता, अति दाह, वेदना और उस स्थान में से वाष्प निकलती हो, ऐसा भास होता है; तथा संकोच, शिरादि रक्तवाहिनियों का नाश, तृषा, मूर्च्छा और कचित् मृत्यु भी हो जाती है। क्षुद्रदग्ध होने पर केवल दाह होता है; स्फोट भी नहीं होता।

सुदग्ध होने पर पहले घी-शहद लगावें; फिर वंशलोचन, रक्तचन्दन, गिलोय, सोनागेरू और पीलखन की छाल का चूर्ण कर, धोये घी में मिलाकर लेप करें; या इतर स्निग्ध और शीतल उपचार करें। एवं पित्तविद्रधि पर कहे हुए उपचार भी लाभदायक हैं।

अतिदग्ध होने पर पहले शीत और उष्ण, पश्चात् केवल शीतोपचार करना चाहिये। रसतन्त्रसार में कहे हुए चन्दनादि यमक (पृ० ७३४) और अग्निदग्ध व्रणहर मल्हम (पृ० ७७४) लाभदायक है।

तुच्छदग्ध होने पर अग्नि से सेक करें; पश्चात् उष्णोपचार करें। पृथक्-पृथक् रोगों में पृथक्-पृथक् स्थान पर दम्भ लगाने की आचार्यों की आज्ञा है। यह क्रिया अनुभवी द्वारा ही करानी चाहिये।

अपस्मार, उन्माद और धनुर्वात पर—दोनों नेत्रों पर दो, कण्ठ पर एक, ब्रह्मरन्ध पर एक और दोनों पैरों पर दो मिलकर ६ दाग दिये जाते हैं।

सन्निपात पर—दोनों नेत्रों पर भ्रू के २ अंगुल ऊपर २ गोल दाग; नासिका के अग्रभाग से ६ अंगुल ऊपर (ब्रह्मरन्ध्र पर) एक वर्तुल दाग; तथा जत्रुस्थान में दोनों शिराओं के मध्य भाग में एक दाग '+' इस आकृति का देना चाहिये। शिरःशूल में भी इसी तरह दाग दिये जाते हैं।

क्षय पर—ब्रह्मरन्ध पर १, जत्रुस्थान पर २, हृदय के मध्यभाग में एक चतुष्कोण दाग, पसलियों पर ४ गोल दाग और उदर पर ४ गोल दाग (सब मिलकर १२ दाग) देना चाहिये।

श्वास, कास, हृद्रोग पर—वक्षस्थान पर दम्भक्रिया की जाती है।

रक्तभारवृद्धि पर—मस्तिष्क और फुफ्फुस में जब रक्तवृद्धि होती है; अथवा पूय उत्पत्ति का भय रहता है; तब वक्षस्थान और कान पर दाग दिये जाते हैं।

अतिसार और ग्रहणी पर—नाभि के चारों ओर ३ अंगुल स्थान छोड़कर कछुए के पैर के अग्रभाग समान ४ गोल दाग देवें; और पाँचवाँ दाग नाभि के ३ अंगुल नीचे ४ अंगुल लम्बा देवें।

उदररोग पर—शोफोदर और जलोदर में नाभि के चारों ओर १ अंगुल स्थान छोड़कर १ गोल दाग तथा दोनों पार्श्वभाग में २ ऊभे दाग देवें।

वमन पर—जब वमन बार-बार होती रहती है; थोड़ा जल पीने पर भी आमाशय में नहीं रहता; तब नाभि के २ अंगुल ऊपर दाग देना चाहिये।

पाण्डुरोग पर—नाभि के चारों ओर १ अंगुल स्थान छोड़कर एक गोल दाग देवें।

प्लीहावृद्धि पर—प्लीहा पर एक चतुष्कोण दाग लगावें।

गुल्म और उदरशूल पर—इन स्थानों पर चतुष्कोण निशान करें।

मदात्यय पर—बाँयी पसली पर दाग लगा, ऊपर थूहर के दूध का लेप करें; ताकि घाव न भर जाय, और जल निकलता रहे।

कामला पर—बाँयें हाथ के अंगुष्ठ से ६ अंगुल ऊपर अर्ध-चन्द्राकृति एक दाग देवें।

विसूचिका पर—(१) पहले दोनों पैरों के तल पर राख मसलें, फिर गरम लोहे की पत्ती को जल्दी-जल्दी फिराकर सेक देवें। लोह-पत्ती फिरा लेने बाद तुरन्त ज़मीन पर पैर को दबाने को कहें; जिससे दाह न हो।

(२) इमली के पने या मट्ठे में थोड़ी हल्दी और थोड़ा नमक मिलाकर पैर पर लगा लेवें। फिर ऊपर कही हुई विधि से सेक देवें; इससे चटका नहीं लगता, उलटा रोगी को अच्छा लगता है।

सूचना—रोगी के पैर को दृढ़तापूर्वक पकड़, दूसरे हाथ से अति त्वरित वेग से तपी हुई लोहे की पट्टी या सांठ को चलाना चाहिये। धीरे से चलाने पर पैर जलते हैं। जब त्वचा जलने की बास आने लगे; तब सेकक्रिया बन्द करें। फिर पैरों को पोंछकर कपड़े से लपेट लेवें।

पसली आदि भाग पर मूठमार लगने पर—पीड़ित स्थान पर तेल लगावें। फिर ऊपर मोटा कपड़ा तेल मिलाये हुए जल से भिगो कर लपेटें। पश्चात् विसूचिका में लिखे अनुसार लोहे की सांठ को जल्दी-जल्दी फिराकर सेक देने से अति बढ़ी हुई वेदना त्वरित शमन हो जाती है।

यकृद् विद्रधि पर—यदि यकृत् में पाक होकर पूय होजाने का चिह्न प्रतीत होता हो; तो यकृत् पर चतुष्कोण दम्भ देने से आराम हो जाता है।

कटिवात पर—कमर के दोनों कसेरुकाओं पर दाग देवें।

अन्तरविद्रधि पर—हृदय के मूल से १ अंगुल नीचे एक गोल

दाग; पीठ पर जहाँ अधिक वेदना हो, वहाँ पर एक गोल दाग; और विद्रधि स्थान पर चार अंगुल लम्बा दाग देना चाहिये।

वृषणवृद्धि पर—बाँये वृषण पर शोथ आने पर दहिने पैर के अंगूठे की शिरा पर; और दहिने वृषण पर शोथ आने पर बाँये पैर के अंगुष्ठ की शिरा पर दाग देवें; तथा उस पैर के घुटने के चारों ओर छोटे-छोटे ५ दाग देवें। यदि पैरों की पिण्डी या उदर में वेदना होती है; तो पीड़ित स्थान पर भी दम्भक्रिया करें।

हल्दी से दम्भक्रिया—अग्निमान्द्य, अजीर्ण, आफरा, गलग्रह, हाथ-पैर या कटि आदि स्थानों का वातरोग जब जीर्ण हो जाता है; औषधि से लाभ नहीं होता; तब यह क्रिया की जाती है। इस दम्भविधि के लिये एक बड़ी हल्दी की मूल लेकर जलावें, फिर हाथ और पैर पर दाग देवें। पश्चात् मक्खन लगावें और ऊपर हल्दी की गोली बाँध देवें। इस गोली पर नागरवेल का पान रक्खें, फिर रुई या कपड़ा रख, पट्टी से बाँध देने से एक-दो दिन में बहने लग जाता है। पश्चात् सीसमादि गीले लकड़े की गोली बनाकर ऊपर बाँधें; और व्रण में से जल २–४ या ६ मास तक बहने देवें। जब रोग दूर हो जाय, तब लकड़ी की गोली को निकाल कर मल्हम लगावें।

इस दम्भक्रिया करने पर २–३ दिन तक इच्छानुसार अपथ्य भोजन करे; (अपथ्य से दोष प्रकुपित होकर आंतों में आ जाता है) फिर जुलाब लेने से दोष सब निकल जाता है।

यह दम्भ पुरुषों के हाथ और पैर, दोनों स्थान पर किया जाता है। पैरों में घुटनों के ४ अंगुल नीचे पिण्डी पर दिया जाता है। स्त्रियों को केवल पैरों पर देते हैं।

यदि कण्ठ के ऊपर नेत्र, नासा, कर्ण, मुख या मस्तिष्कगत रोग हो; तो हाथ या कण्ठ पर दम्भ दिया जाता है।

सूचना—बालक, वयोवृद्ध, निर्बल हृदय वाले, कोमल प्रकृतिवाले, कृश और जिनकी सहनशीलता कम हो; उनको दम्भक्रिया नहीं करनी चाहिये। उनको पीड़ित स्थान पर भिलावा के तेल से निशान करें।

जो रोगी क्षार लगाने के लिये अयोग्य हो, उनको यह दम्भक्रिया कदापि नहीं करनी चाहिये।

स्फोट विधि।

जैसे कितनेक रोगों में दम्भक्रिया की जाती है; उस तरह कतिपय रोगों में स्फोट-फाला किया जाता है। जीर्णरोग, जीर्णताप, मस्तिष्क के रोग, नेत्ररोग, कर्णरोग, उन्माद; फुफ्फुस, फुफ्फुसावरण और स्वरयन्त्र के रोग, दुःखदायी खाँसी, रक्ताशय का जीर्णरोग, वमन, शूल, आमवात, वातरक्त इत्यादि रोगों में पीड़ा शमनार्थ फाला उठाया जाता है; अर्थात् ब्लिस्टर (Blister) लगाया जाता है। ब्लिस्टर तीक्ष्णरोग की अपेक्षा जीर्ण रोगों में अधिक लाभ पहुँचाता है।

वृषण, स्तनादि कोमल त्वचा पर एवं सगर्भा स्त्री के रक्तपित्त (दाँतों के मसूढ़ों में से और अनेक स्थानों की त्वचा में से रक्त जाना स्कर्वी Scurvy) या इतर तीक्ष्ण व्याधि में ब्लिस्टर नहीं लगाना चाहिये।

जहाँ ब्लिस्टर लगाना हो, उस भाग को पहले साबुन से साफ कर, स्पिरिट से धो लेवें। फिर वहाँ पर औषधि लगाना चाहिये। सामान्य ब्लिस्टर से त्वचा लाल होती है; और तेज ब्लिस्टर से फाला उठता है।

ब्लिस्टर प्रयोग—(१) तारपीन के तैल में लिण्ट या फ्लेनल के टुकड़ों को डुबोकर दर्द वाले भाग पर रक्खें। फिर ऊपर तैल वाला चमड़ा या कपड़े का टुकड़ा रखने से चमड़ी लाल हो जाती है। (फाला नहीं होता)।

(२) राई के आटे को गरम जल में मिला, कपड़ा या कागज पर फैला कर दर्द वाले भाग पर लगा दें। अधिक दाह होने पर या २० से ३० मिनट बाद निकाल कर वहाँ पर घी लगा देना चाहिये। इस लेप से त्वचा लाल हो जाती है। अधिक असर हो जाय; तो फाला हो जाता है।

सूचना—बालकों से यह लेप सहन नहीं हो सकेगा। इसलिये लेप और त्वचा के बीच में मलमल का पतला कपड़ा रख लेना चाहिये।

(३) सलाई पर रुई लपेट लाइकर एपीस्पेस्टिकस (Liquor Epispasticus) में डुबोकर जहाँ फाला उठाना हो; वहाँ पर अच्छी

रीति से लगा, थोड़े समय पश्चात् लिण्ट का टुकड़ा चिटका, फिर रुई रख, कपड़े की पट्टी से बाँध देवें। पट्टी थोड़ी ढीली रक्खें। लगभग ४ घण्टे बाद फाला हो जाता है।

इस फाले को कैंची से तोड़कर ऊपर सामान्य मल्हम या वेसलाईन की पट्टी लगा दें; अथवा केले के पत्ते पर मक्खन लगाकर बाँधते रहने से ४-५ दिन में फाला मिट जाता है। परन्तु इस बात का लक्ष्य रखना चाहिये, कि कैंची से तोड़ने के समय चमड़ी निकाल न दें। अन्यथा वहाँ पर घाव होकर अधिक दाह होता है। यदि फाला में दूसरी और तीसरी बार जल भर जाय; तो भी उसे पहले के समान तोड़ कर मल्हम या मक्खन लगाते रहें।

लाइकर एपीस्पेस्टिकस के समान केन्थारिडिस (ज़हरीली मक्खी) के लेप (Emplastar Cantharidis) के पीले काग़ज़ और केन्थारिडिस के मल्हम (Ungventum Cantharidis) को भी प्रयोग में लाते रहते हैं।

सूचना—ब्लिस्टर देरी से उठाना हो; तो औषधि कम लगायी जाती है। जिससे ८ से २४ घण्टे पर फाला होता है।

यदि ब्लिस्टर से फाला पकाकर पानी बहने देना हो; तो ब्लिस्टर पर पुल्टिस बाँधना चाहिये।

छोटे बालक को ब्लिस्टर लगाना हो; तो थोड़ा लगावें। फिर १ घंटा बाद पुल्टिस लगाने से फाला भर जाता है।

यदि ब्लिस्टर जल्दी उठाना हो; तो लाइकर एमोनिया फोर्ट्योर लगाना चाहिये।

कितनेक मनुष्यों को केन्थारिडिस ब्लिस्टर लगाने पर पेशाब में दाह हो जाता है। इसलिये ब्लिस्टर २-४ घण्टे में निकाल, वहाँ पर पुल्टिस लगा देने से भी फाला भर जाता है।

क्षार विधि।

जिन स्थानों पर शस्त्रक्रिया नहीं की जाती, ऐसे स्थानों पर क्षार द्वारा छेदन, भेदन या पाटनादि क्रिया की जाती है।

क्षारक्रिया के अधिकारी—अर्श, अग्निमान्द्य, अश्मरी, गुल्म, उदररोग, विषप्रकोपादि रोगों में क्षार खाने को दिया जाता है; एवं अर्श के मस्से, नाक-कान के मस्से, कुष्ठ, त्वचा की बधिरता, भगन्दर, अर्बुद, ग्रन्थि और दुष्ट नाड़ीव्रणादि रोगों पर इसका लेप किया जाता है।

क्षारक्रिया के अयोग्य काल—हेमन्त और शिशिर ऋतु में अतिशीत, ग्रीष्मऋतु में अतिउष्णत्व और वर्षा ऋतु में जिस दिन बद्दल आये हों, उस दिन को क्षार सेवन या लेप नहीं करना चाहिये।

क्षार योजना—ग्रन्थी ज्वर और वात, श्लेष्म और मेदप्रकोप-जन्य अतिजीर्ण अर्बुदादि विकार पर तीक्ष्ण क्षार लगावें। मध्यम बल वाले विकारों पर मध्यम क्षार की योजना करें। मृदु क्षार का उपयोग रक्तज और पित्तज अर्श के मस्से, नासिकादि कोमल स्थान और निर्बलों के लिये किया जाता है।

मृदु क्षार विधि—मृदु क्षार तैयार करने के लिये छीप, कौड़ी, शंखादि पदार्थों को गरम कर बारबार जल में बुझाते रहें।

मध्यम क्षार विधि—अमलतास, केले के खम्भे, देवदारु, राल, थूहर, पलास, आक, कुड़ा, अर्जुन, करंज, दुर्गन्धयुक्त करंज, अपामार्ग, अरनी, चित्रक और लोध्रादि वृक्षों के हरे पञ्चांग लाकर छाया में सुखावें; फिर छोटे-छोटे टुकड़े करें। इस तरह दोनों प्रकार की कड़वी तुरई, देवदाली, कड़वी तुम्बी आदि पदार्थों का संग्रह करें; और इस समूह में छीपादि या छोटे-छोटे पत्थर (चूने जिसमें से बनते हैं वे) रक्खें। पश्चात् तिलों की लकड़ी चारों ओर रखकर जलावें। चूना तैयार हो जाने पर अलग निकाल लें और राख को अलग रक्खें।

इस राख का ६ सेर वजन कर, ५ सेर जल और ५ सेर गोमूत्र में मिलावें। फिर लाल, पतले और तीक्ष्ण हो, तब तक क्षार जल को मोटे वस्त्र से अनेक बार छानें। पश्चात् छाने हुए जल को एक लोहे की कढ़ाही में डाल, चूल्हे पर चढ़ाकर जलावें। चतुर्थांश रहने पर जल दूसरी कढ़ाही में निकाल, उसमें चूने को गरम कर बुझावें और सबको

उसमें मिला देवें। फिर चूल्हे पर चढ़ाकर मुर्गे, मोर, कबूतर और मांसाहारी पक्षियों की विष्टा को पीस कर मिला देवें; तथा पशु-पक्षी के पित्त, हरताल, मैनसिल, सैंधानमकादि औषधियाँ मिला कर कलछी से चलावें। जब वाफ के साथ बुदबुदे उठने लगें, तब कढ़ाही को नीचे उतार लें। शीतल होने पर लोहपात्र में भरकर सत्तू या जौ के भीतर ७ दिन तक रक्खें; फिर निकाल लेवें।

तीक्ष्ण क्षार विधि—(१) मध्यम क्षार में कही हुई औषधियों के साथ कलिहारी, दन्तीमूल, चित्रकमूल, अतीस, वच, सज्जीखार, सत्यानाशी, हींग, दुर्गन्ध करंज के पान, मूसली और विडलवण मिलाकर क्षार तैयार करें; फिर सत्तू के भीतर ७ दिन रख कर निकाल लेवें।

(२) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोग में लिखा हुआ प्रतिसारणीय क्षार (पृष्ठ ७५३) भी तिजाब सदृश तीक्ष्ण है।

क्षार गुण—तीक्ष्ण क्षार लगाने पर उस स्थान में जोर से खिंचने सदृश और दबाने सदृश पीड़ा तथा दाहसह चारों ओर फैलकर दोषों को मूलसह जला डालता है। अपना कार्य कर लेने पर वह स्वतः शान्त हो जाता है। इस क्षार से शस्त्र और अग्नि का कार्य हो जाता है।

मृदु और मध्यम क्षार में किंचित् तीक्ष्णता, मृदु और सत्वर फैलना, ये गुण हैं; ये अति वेदना नहीं करते।

क्षार प्रयोग विधि—क्षार से साध्य रोगों पर क्षार लगाने के पहले, उस स्थान पर लोहे के शस्त्र या लकड़ी आदि को रगड़ें; अथवा उसमें जल, रक्त या पूय हो; तो स्राव करा देवें। फिर एक शलाका पर रुई लपेट कर, उस पर क्षार लगा, १०० मात्रा (३२ सेकण्ड) तक रहने देवें।

अर्श के मस्से पर क्षार लगाने के पश्चात्, शलाई पर हाथ रख, मस्से के मुँह को ढक देवें। विशेष विधि अर्श रोग में लिखी जायगी।

यदि नाक के मस्से पर क्षार लगाना हो; तो रोगी को सूर्य की ओर मुँह कर बैठावें। फिर नासाग्र भाग को दबा, मस्से पर पतला लेप करें; और ५० मात्रा (१६ सेकण्ड) तक रहने देवें। फिर अच्छी तरह दग्ध हुए हों; तो कपड़े या रुई से पोंछ लेवें; तथा शहद-घी मिलाकर लेप करें।

यदि स्राव कराना हो; तो अभिष्यन्दि पदार्थों का सेवन करावें।

यदि क्षार लगाने पर भी रोग की मूल सबल होने से न गिर गई हो; तो तेज काँजी में मुलहठी और तिल को पीसकर लेप करना चाहिये।

सम्यक् दग्धव्रण पर उपचार—दग्धस्थान सम्यक् जलने पर वह भाग नरम और जामुन सदृश वर्ण वाला हो जाता है। उस स्थान पर तिल कल्क, मुलहठी और घी को मिलाकर लेप करें।

दुर्दग्ध लक्षण—यदि सम्यक् दग्ध न हुआ हो; तो लाली, शूल और कण्डु होते हैं। एवं अति दग्ध हो जाने पर अति दाह होता है; रक्त बहने लगता है, ज्वर आ जाता है; तथा कचित् मूर्च्छा भी आ जाती है।

यदि गुदस्थान पर अतियोग हुआ हो; तो मल-मूत्रावरोध या इनकी अति प्रवृत्ति हो जाती है। कभी पुरुषत्व भी नष्ट हो जाता है; अथवा गुदा गल कर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

नाक में अति दाह होने पर बीच का पर्दा फट जाता है, या संकुचित हो जाता है और उससे गन्धज्ञान नष्ट हो जाता है।

कान में अतियोग होने पर नाक के उपद्रवों के सदृश ही लक्षण प्रतीत होते हैं।

अति दाह पर उपचार—(१) खट्टे पदार्थों में वस्त्र भिगोकर दाह वाले भाग पर रक्खें। क्षार में अम्ल पदार्थ (दही आदि) मिलने पर क्षार मधुर बन जाता है; जिससे वेदना सत्वर शान्त हो जाती है।

(२) शहद, घी और तिल का कल्क मिलाकर लगावें।

(३) अग्निदग्ध व्रणहर मल्हम (रसतन्त्रसार पृष्ठ ७७४ में लिखे हुए) का लेप करें।

तैलाभ्यंग।

सिर और सारे शरीर पर तैल की मालिश करने को तैलाभ्यंग कहते हैं। जो मनुष्य नित्य या २-४ दिन बाद तैल मालिश करते रहते हैं, उनकी दृष्टि विमल, रक्ताभिसरण क्रिया सम्यक्, देह सुदृढ़, शान्त निद्रा, त्वचा मुलायम और तेजस्वी; तथा मन में प्रसन्नता बनी रहती है। कफ-वात का निरोध, धातुओं की पुष्टि और परिश्रम का शमन होता

है। इनके अतिरिक्त जरावस्था आने पर भी देह में बल बना रहता है।

मालिश न करते रहने से या इतर रोगादि हेतुओं से जिस मनुष्य की त्वचा शुष्क होना, बालों की रूक्षता, खुजली चलना, वातविकार, मैल बढ़नादि दोष हो गये हों, उसे तैल की मालिश करना अति हितकर है।

तैलाभ्यंग के अनधिकारी—आमसह व्याधियाँ, कफवृद्धि, तरुणज्वर, अजीर्ण, वमन, विरेचन और निरूहण वस्ति करने पर; तथा संतर्पण जनित रोगों में तैलाभ्यंग निषिद्ध माना गया है।

व्यायाम।

शरीर को श्रम उत्पन्न हो, ऐसी क्रिया को व्यायाम (कसरत) कहते हैं। व्यायाम करने से देह सब ओर से सुडौल बनती है। शरीर की सुदृढ़ता, कांतिवृद्धि, अवयवों की सुन्दरता, जठराग्नि की प्रदीप्तता, आलस्य का अभाव, प्रसन्नता, लघुता और मृदुता की प्राप्ति होती है। परिश्रम, थकान, प्यास, गरमी, सर्दी आदि सहन करने की शक्ति बढ़ती है; तथा परम आरोग्यता की प्राप्ति होती है। स्थूलता कम करने के लिये व्यायाम के समान कोई भी साधन नहीं है। व्यायाम करने वाले को शत्रु का भय नहीं रहता। सहसा जरावस्था का आक्रमण नहीं होता और मांसपेशियाँ सुदृढ़ बनी रहती हैं। जैसे सिंह के पास मृगादि क्षुद्र पशु नहीं जा सकते, वैसे नियमपूर्वक व्यायाम करते रहने से कोई भी व्याधि नहीं आ सकती। व्यायाम अवस्था, रूप और गुणों से हीन मनुष्यों को भी सुन्दर स्वरूप वाला बना देता है।

व्यायाम से विरुद्ध भोजन, विदग्ध (जला हुआ) या अविदग्ध (कच्चा), सब प्रकार के भोजन सुख से पच जाते हैं। बलवान् मनुष्य और पक्के भोजन करने वालों को व्यायाम सदा ही पथ्य है। ऋतुओं में शीतकाल और वसंत ऋतु तो पथ्यतम मानी गई है। अपना हित चाहने वाले मनुष्यों को चाहिये, कि सब ऋतुओं में सर्वदा अपने बल से आधा व्यायाम करता रहे; अन्यथा अधिक व्यायाम मार देता है।

व्यायाम करते-करते जब श्वासोच्छ्वास मुँह से चलने लगे, वह

आधे बल का लक्षण है। वय बल, शरीर, देश, काल और भोजन का विचार कर व्यायाम करना चाहिये; अन्यथा रोग की उत्पत्ति हो जाती है। जब व्यायाम से थकान आ जाय; तब पैरों पर उबटन लगाते रहें। इस बात का स्मरण रखें, कि यदि अधिक व्यायाम किया जायगा तो देह क्षीण हो जायगी। फिर क्षय, तृषा, अरुचि, वमन, रक्तपित्त, चक्कर, थकावट, कास, शोष, ज्वर और श्वासादि रोगों की उत्पत्ति हो जायगी।

व्यायाम के अनधिकारी—रक्तपित्ती, कृश, शोष रोगी, श्वास, कास, उरःक्षतयुक्त, भोजन के पश्चात्, स्त्री-समागम से क्षीण, जिसको चक्कर आता हो, इन सबको व्यायाम नहीं करना चाहिये।

मुख लेप।

मुँह को तेजस्वी बनाने के लिये एवं दोष दूर करने के लिये लेप लगाया जाता है, उसे मुख लेप कहते हैं। लेप के ३ प्रकार हैं। दोषघ्न, विषघ्न और वर्णकर। ये लेप क्रमशः आध, पौन और एक अंगुल ऊँचा लगाया जाता है। गीला लेप रोग-नाशक और सूखने पर रहने देने से कान्ति को हरने वाला होता है। अतः सूखने पर थोड़ा जल लगा कर दूर कर देना चाहिये।

वस्तुतः लेप के प्रलेप, आलेप और प्रदेह, ये तीन प्रकार हैं। इन तीनों लेपों को बहुधा भैंसे के गीले चमड़े जितना मोटा रक्खा जाता है। इनमें जो लेप शीतल, पतला और सूख जाय, ऐसा हो, वह आलेप या प्रलेप कहाता है, वह पित्त शामक है।

जो लेप गाढ़ा, जल्दी न सूखने वाला और गरम हो, वह प्रदेह कहाता है। यह वात और कफ को नष्ट करता है।

दोषघ्न लेप—दोषघ्न लेप (र० त० सा० पृ० ७४८ में लिखा हुआ) और उसके समान गुण वाले इतर लेपों को दोषघ्न लेप कहते हैं।

विषघ्न लेप—(१) दशांग लेप (र० त० सा० पृ० ७४६) और उसके समान लाभ पहुँचाने वाले लेपों को विषघ्न लेप कहते हैं।

(२) तिल को बकरी के दूध में पीस, मक्खन मिला, लेप करने या

काली मिट्टी को जल में मिलाकर लेप करने से भिलावे की सूजन नष्ट होती है।

(३) कलिहारी, अतीस, कड़वी तूम्बी, घिया तोरई के बीज और मूली को कांजी में पीसकर लेप करने से जहरी जन्तुओं के काटने से उत्पन्न विस्फोट दूर होता है।

वर्णकर लेप—(१) रक्त चन्दन, मजीठ, लोध, कूठ, प्रियंगु, वड़ के अंकुर और मसूर को कांजी में पीसकर लेप करने से व्यंग (झांई) दूर होकर मुख की कान्ति सुन्दर होती है।

(२) मसूर के आटे को घी में मिला, फिर दूध से मिश्रित कर ७ दिन तक लगाने से मुँह कमल पुष्प के समान प्रफुल्लित हो जाता है।

(३) सफेद शिरीष, हल्दी, दारुहल्दी, मजीठ, सोनागेरू, घी और बकरी के दूध को यथाविधि मिलाकर लेप करने से मुख शरद् ऋतु के चन्द्र समान तेजस्वी हो जाता है।

सूचना—पीनस, अजीर्ण, हनुग्रह और अरुचि रोग में, नस्य लेने पर, जागरण करने पर; तथा रात्रि को मुख पर लेप न करें।

मुँह पर लेप करने के पश्चात् दिन में शयन न करें।

मूर्द्ध तैल विधि।

सिर पर तेल लगाने के ४ प्रकार हैं। अभ्यंग, परिषेक, पिचु और शिरोबस्ति। इनमें मालिश करने को अभ्यंग कहते हैं। तैल मर्दन से बाल मुलायम, स्निग्ध और काले रहते हैं, अधिक बढ़ते हैं; एवं मगज को पुष्ट, मस्तिष्क की त्वचा को सुन्दर; नासा, श्रवण और नेत्रादि इन्द्रियों को तृप्त; तथा सिर को पूर्ण करता है।

मस्तिष्क पर लगाने के लिये मुलहठी, विदारीकन्द, ब्राह्मी, सोसम, आँवला, नेत्रवाला, गुलाब के फूल, सरल, देवदारु और लघु पंचमूलादि औषधियों को मिलाकर क्वाथ करें, और इन औषधियों का ही कल्क करें। फिर कल्क, कल्क से ४ गुना तिल तैल और तैल से ४ गुना क्वाथ मिलाकर यथाविधि तैल सिद्ध करें।

परिषेक—सिर पर फुन्सियें, जन्तुप्रकोप, दाह, पाक और व्रणादि विकार हो; तो तैल को तपाकर उसमें कपड़ा, रुई या अन्य औषधि की पोटली को डुबो कर निवाया-निवाया सेक किया जाता है। उसको परिषेक कहते हैं।

पिचु—बाल झड़ जाना, सिर पर पीड़ा होना, नेत्र की नाड़ियाँ खिंचना आदि रोगों में रुई को सिद्ध तैल में भिगो, सिर पर बाँध देने को पिचु प्रयोग कहते हैं।

शिरोबस्ति—मस्तिष्क पर यथाविधि तैल धारण करने को शिरोवस्ति कहते हैं। शिरोवस्ति का उपयोग नाक और मुँह के शोष, तिमिर रोग, वातज शिरोरोग, हनुग्रह, मन्यास्तम्भ, नेत्रव्यथा, कान की पीड़ा, अर्दितरोग, मस्तक कम्प और दारुण शिरोरोगों में किया जाता है।

शिरोवस्ति देने के लिये दो मुँह वाली १२ अंगुल ऊँची और रोगी के मस्तक पर अच्छी रीति से बैठ जाय, ऐसी चमड़े की टोपी बनवावें। मस्तक के सब बाल निकलवा कर इस टोपी को पहनावें। फिर उड़द के जल से साने हुए आटे से चारों ओर बाड़ लगाकर सन्धियों को बन्द करें। ऊपर की ओर जहाँ सिलाई की है, वहाँ से भी तैल न निकल जाय, इस तरह ऊपर के सन्धिस्थानों को भी बन्द करना चाहिये। फिर कपाल पर अच्छी रीति से वस्त्र लपेट, निवाया तैल शिर के ऊपर दो अंगुल (मतान्तर में ४ अंगुल) तक टोपी में भर दें। नाक, मुँह और कान से पानी झरने लगे, तब तक या वेदना शमन होने तक तैल को धारण करें।

यह वस्ति सामान्य अवस्था में १००० मात्रा (५। मिनट) तक, वात रोग में १०००० मात्रा (५३। मिनट) तक, पित्तरोग में ८००० मात्रा (४२॥। मिनट) तक और कफरोग में ६००० मात्रा (३२ मिनट) तक धारण करें। ऐसा वाग्भट्टाचार्य ने लिखा है। तब इतर आचार्यों ने १॥ से ३ घण्टे तक धारण करने का लिखा है।

वस्ति धारण का समय पूरा होने या वेदना शमन होने पर सम्हाल-पूर्वक तैल को निकाल लें; और आटे को पृथक् कर टोपी को उतार लें।

फिर स्कन्धादि भाग में मालिश कर, निवाये जल से भरे हुए बड़े जलपात्र में खड़ा (या बैठा) रखकर स्नान करावें। पश्चात् जांगल पशुओं का मांसरस और लाल शालि चावल आदि भोजन दें। रात्रि में मूँग, उड़द और कुलथी या केवल कुलथी की दाल बना, घी मिलाकर खिलावें। आवश्यकतानुसार मिर्च मिलाकर निवायी दाल का भोजन करावें, ऊपर निवाया दूध पिलावें।

यदि पित्तज शिरोरोग हो; तो शीतल पंखे की वायु और कमल पुष्प की मालादि शीतल उपचार करें; और सौ वार धुले हुए घी को सिर पर धारण करें।

पाँच सात दिन तक भोजन से पहले प्रातःकाल इस तरह शिरोवस्ति देने से शिरःशूल और कम्पादि कठिन व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। आवश्यकता हो, तो ज्यादा दिन तक शिरोवस्ति दें। किन्तु यह शिरोवस्ति रोगी को वमन-विरेचनादि से शुद्ध करके देनी चाहिये।

स्नान विधि।

नित्यप्रति स्नान करने की महर्षियों ने आज्ञा की है, उस प्रकार स्नान करने से मनोवृत्ति प्रसन्न होती है; अग्नि प्रदीप्त होती है; आयु, उत्साह, वल और भोजन की वृद्धि होती है; तथा खुजली, मैल, पसीना, परिश्रम, आलस्य, तृषा, दाह, त्वचा और रक्तविकार नाश होते हैं। जो मनुष्य नित्य आँवलों से शरीर को मलकर स्नान करता है, वह पूर्ण आयु भोगता है।

शीतल जल स्नान के गुण—ठण्डे जल से स्नान करने से गरमी भीतर जाकर अग्नि को प्रदीप्त करती है, पचन-शक्ति वलवान् वनती है, देह पुष्ट होती है; तथा रक्त और पित्तजन्य विकार शमन होते हैं।

उष्णादिक स्नान के गुण—गरम (निवाये) जल से नित्य स्नान करने से वात और कफ दूर होते हैं। जीर्णज्वर, जुकाम, मासिक-धर्म विकृति, कफ, कास, श्वास और वातरोग में निवाये जल से स्नान लाभदायक है।

किन्तु सिर पर गरम जल से स्नान करने से वल, केश और नेत्रों को हानि पहुँचती है। (शीतल जल से शिरःस्नान चक्षुओं के लिये लाभदायक है।) किन्तु कफ प्राधान्य प्रकृति वालों को या वात-कफ प्रकोप में निवाये जल से मस्तक धोने में विशेप आपत्ति नहीं है। (सु० सं० चि० अ० २४)।

स्नान करने में अत्यंत शीत न पड़ती हो, ऐसे देश और काल में सूर्योदय से पहले का समय विशेप हितकर है। शौच (टट्टी) जाकर, दन्तधावन और कुल्ला करने के पश्चात् स्नान करना चाहिये। उष्ण ऋतु में स्वस्थ मनुष्य के लिये सायंकाल को दूसरी समय स्नान करना भी लाभदायक है। यदि स्वस्थ मनुष्य शीतकाल में भी शीतल जल से या जलाशय में स्नान करते रहें, तो पूर्णायु तक नीरोगी रहते हैं। किन्तु निर्वल शरीर वाले को हेमन्त और शिशिर ऋतु में या नित्यप्रति निवाये जल से स्नान करना चाहिये। स्नान के पश्चात् तुरन्त मोटे स्वच्छ कपड़े से सारे शरीर को वलपूर्वक अच्छी तरह पोंछ डालें, जिससे त्वचा दोप और रक्तविकार दूर होते हैं; रक्ताभिसरण क्रिया वलवान् वनती है; और कान्ति वढ़ती है।

अत्यन्त शीतल जल से शीत ऋतु में स्नान करने से वात और कफ प्रकुपित होते हैं। एवं अति गरम जल से उष्ण ऋतु में स्नान करते रहने से रक्तपित्त की वृद्धि होती है।

भिन्न-भिन्न स्नान के लिये वहुधा जल में निम्नानुसार उष्णता रक्खी जाती है।

शीतल जल से स्नान	(Cold bath)	३२ से ६० फेरनहीट✻
किञ्चित् शीतल जल से स्नान	(Cool bath)	६० से ७० ,,
किञ्चित् उष्ण (निवाया) ,,	(Tapid bath)	८५ से ६५ ,,
उष्ण जल से स्नान	(Warm bath)	६५ से १०० ,,

✻ वर्फ में ३२ डिग्री फेरनहीट (Fahrenheit) उष्णता रहती है। और अति उवलते हुये गरम जल में २१२ डिग्री उष्णता रहती है। इन दोनों के वीच रहे हुए १८० डिग्री के समभाग करके उष्णता निर्णय किया जाता है।

अधिक उष्ण जल से स्नान (Hot bath) १०० से १०६ ,,

अत्यधिक जल से स्नान (Very hot bath) १०६ से १२० ,,

अधिक शीतल जल से स्नान दाह या ग्रीष्म ऋतु में लाभदायक है। किञ्चित् शीतल नीरोगी मनुष्यों के लिये सर्वदा उपयोगी है। निवाया जल निर्बलों के लिये, उष्ण जल शीतकाल में निर्बलों के लिये; तथा अधिक उष्ण और अत्यधिक उष्ण जल रोगाक्रान्त अवस्था में आवश्यकता पर उपयोग में लिया जाता है। कचित् उष्ण या अत्यधिक उष्ण जल में स्पंज, तोलिया या दूसरा कपड़ा भिगोकर रोगी की देह को पोंछ लिया जाता है। इस क्रिया को टेपिड स्पञ्जिङ्ग (Tapid sponging) कहते हैं। कचित् सिर्का को ४ गुने जल में मिला, स्पञ्जादि को डुबो, निचोड़ कर ज्वर की गर्मी घटाने के लिये कई वार पोंछा जाता है।

इनके अतिरिक्त रोगी को अधिक उष्णता पहुँचानी हो; तब राई को पीस, मिला, जल को गरम कर उसमें पैर डुबो रखते हैं। जिससे पैर की त्वचा थोड़ी लाल हो जाती है; पैर में उष्णता आती है, तथा सिर-दर्द, ज्वर और जुकाम दूर होते हैं। १ गेलन (लगभग ३॥। सेर) जल में २-४ तोले तक राई मिलाई जाती है। राई मिलाने से उष्णता अधिक पहुँचती है। इस रीति से इस जल से स्नान भी कराया जाता है। उसे मस्टर्ड वाथ (Mustard bath) कहते हैं।

सन्ताप शमन विधि—कोई समय ताप बहुत बढ़ जाता है; तब कम करने के लिये शीतल जल में कपड़ा भिगो, निचोड़ कर रोगी के शरीर पर लपेट लेवें। फिर ऊपर २ सूखे कम्बल लपेट लें। जब १०१ डिग्री गरमी रह जाय; तब गीला कपड़ा हटा लिया जाता है। इस क्रिया को वेट पॅक (Wet Pack) कहते हैं।

इनके अतिरिक्त रोगियों को वाष्प स्नान कराया जाता है, वह पहले स्वेदन विधि में लिखा गया है।

सूचना—स्नान हो सके, तब तक एकान्त में करें। स्नान कर लेने पर सब अवयवों को मोटे स्वच्छ वस्त्र से बलपूर्वक पोंछना चाहिये। शरीर गीला रह जाने से सिर में भारीपन, कृमि की उत्पत्ति, दाद,

खुजली, फोड़ा, फुन्सियाँ इत्यादि रोग हो जाते हैं।

ज्वर, अतिसार, आफरा, पीनस, अजीर्ण, अर्दितवायु, तीक्ष्ण नेत्र रोग, तीव्र कर्णरोग और तीव्र वातशूल के रोगियों को स्नान नहीं करना चाहिये और मलशुद्धि होने से पहले भी स्नान न करें।

अति तेज वायु में स्नान करना हानिकर है।

परिश्रम के पश्चात् तुरन्त स्नान करने से न्युमोनियादि व्याधियों की उत्पत्ति हो जाती है; अतः थोड़ी विश्रान्ति लेकर, प्रस्वेद सूख जाने पर स्नान करना चाहिये।

भोजन के पश्चात् ३ घण्टे तक स्नान नहीं करना चाहिये।

उद्वर्त्तन—स्नान से पहले उद्वर्त्तन (उबटन) लगाने से कफ और मेद का विलय होता है, अंग स्थिर और दृढ़ होते हैं, त्वचा तेजस्वी और मुलायम बनती है, सिराओं के मुख खुल जाते हैं। जिससे पसीना नियमित रीति से निकलता रहता है, रक्ताभिसरण क्रिया बलवान् बनती है; और त्वचा की अग्नि उत्तेजित होती है।

उद्घर्षण—स्नान करने के समय समुद्र के झाग, ईंट, मोटा कपड़ा या स्पंज (Sponge) से सब अवयवों का उद्घर्षण करना (घिसना); और आँवले, चिकनी पीली मिट्टी, दही या साबुन आदि स्निग्ध और शुद्धिकर वस्तुओं का उत्सादन करना (मलना), ये स्वास्थ्य के लिये हितावह हैं। उद्घर्षण से शरीर में लघुता और दृढ़ता होती है; खाज, खुजली, कुष्ठ, रक्तविकार, वायु से अंग जकड़ना और मैल आदि दोष दूर होते हैं, त्वचा की अग्नि उत्तेजित होती है। जिससे रक्तवाहिनियों के मुख खुल कर प्रस्वेद निकलता रहता है।

उष्ण जल में बैठना—अनेक रोगों में रोगियों को निर्वात स्थान में गरम जल से भरे हुए टब या कढ़ाही में बैठाया जाता है। उसको हॉट बाथ (Hot bath) कहते हैं। इस क्रिया से जकड़ा हुआ शरीर खुल जाता है, हृदय की बढ़ी हुई गति का बल कम होकर रक्त दबाव और नाड़ी का वेग कम हो जाता है। इससे कभी-कभी अशक्ति बढ़कर रोगी को मूर्च्छा आ जाती है। अतः रोगी को देखते रहें।

सूचना—टब में बैठाने पर रोगी का सिर कुछ पीठ की ओर रहना चाहिये; अर्थात् आगे की ओर नीचा न रहने दें।

बालक के लिये जल ९६ से ९८ डिग्री गरम रक्खें। बड़े मनुष्य के लिये १०० से १०५ तक रखें। ऋतु, दिन और रात्रि के समय भेद से भी थोड़ा अन्तर किया जा सकता है। टब में सामान्य रीति से आध घण्टे तक बैठाना चाहिये। प्रकृति के अनुसार समय में न्यूनाधिक भी कर सकते हैं। स्नान के पश्चात् रोगी को पोंछकर सुला दें।

गर्म जल के टब से लाभ—बड़े मनुष्य के अंग जकड़ना, रक्तविकार, पेचिश, मूत्र में रेती या कंकड़ी जाना, मूत्राघात, अंत्रावरण विकार, मेदोवृद्धि, वातप्रकोप, मलावरोध, आमवातादि रोगों में और बालकों के धनुर्वात, श्वासनलिका में कफ भर जाना, अंत्र में वेदना, दाँत आने की पीड़ा, मेदोवृद्धि आदि विकारों में गरम जल में बैठाया जाता है।

क्वचित् जल में नमक, सोड़ा, एसिडादि मिलाते हैं। प्लीहा और यकृद् के जीर्ण विकार में निम्न औषधि मिलाते हैं।

नमक का तिजाब (म्युरियाटिक एसिड Muriatic Acid) १॥ औंस और कलमी शोरे का तिजाब (नाइट्रिक एसिड Nitric Acid) १ औंस, इन दोनों को सम्हालपूर्वक धीरे-धीरे मिलावें। फिर २॥ औंस जल धीरे-धीरे मिलावें। जब उफाण शान्त हो जाय; तब स्नान करने के (९८॥ डिग्री) गरम जल में मिला लेवें। पश्चात् रोगी को टब में १५ मिनट तक बैठावें। जल के शीतल हो जाने पर उसमें और गरम जल मिला लेना चाहिये।

इस रीति से दाह, पित्तप्रकोप, मन्दाग्नि, स्मृतिलोप, निद्रानाश, रक्तविकार, विषविकार, मूत्रदाहादि विकारों में रोगी को शीतल जल से भरे हुए टब में आधे से एक घण्टे तक बैठाया जाता है।

सूचना—टब में से निकलने पर रोगी को खुली वायु न लग जाय, अतः सम्हालना चाहिये; और जल्दी अंग को पोंछकर कपड़े पहना देना चाहिये।

चिकित्सा सहायक प्रकरण ।

(१) अनुपान वर्णन ।

रोगनाशक मूल औषधियों के साथ अन्य औषधि मिलाई जाती है, उसे अनुपान कहते हैं। अनुपान का मुख्य उद्देश्य मूल औषधि में रहे हुए दोष से रोगी को बचाना; औषधि की उग्रता को कम करना और गुणों की वृद्धि होकर शीघ्र लाभ की प्राप्ति होना, ये तीन हैं। इतना ही नहीं, अनुपान में बड़ी भारी शक्ति होती है। जल पर डाला हुआ तैल-बिन्दु जैसे जल के किसी भाग को खुला न रखकर समस्त जल पर पसर जाता है; ठीक इसी प्रकार अनुपान के साथ मिली हुई औषधि समस्त शरीर में व्याप्त हो जाती है।

जैसे रसकर्पूर-युक्त औषधियाँ दाँतों को नुक़सान पहुँचाती हैं, इसलिये घी में लपेट कर निगलनी पड़ती हैं। जिमीकन्द का चूर्ण कण्ठ और जिह्वा को हानि पहुँचाता है, अतः केपसुल में भरकर या गीला आटा, मलाई, मक्खन आदि किसी में लपेट कर निगला जाता है। अनेक क्षार जिह्वा को लगने पर घाव कर देते हैं। इस हेतु से उनका सेवन घी मिलाकर किया जाता है।

शंख द्रावादि औषधियाँ उग्र होने से जल मिलाकर उनकी उग्रता कम करके सेवन की जाती हैं। इसी प्रकार—कफ प्राधान्य सन्निपात में औपधि अदरख के रस के साथ देने से शीघ्र लाभ पहुँचाती है। इत्यादि अनुपान के प्रयोजन के मुख्य उदाहरण हैं।

और औपधियों के खराब स्वाद को मधुर-स्वादिष्ट शर्वत या शहदादि अनुपान मिलाकर बदल देना, या दुर्गन्ध को कस्तूरी, केशरादि मिलाकर दवा देना, यह गौण प्रयोजन है॥

यद्यपि अनुपान की योजना करने में रोगी को त्रास होता है, तथापि अनुपान संयोग से ही औषधि सेवन करना चाहिये, क्योंकि उससे गुण-

वृद्धि होकर दर्दी को जल्दी लाभ होता है। आयुर्वैदिक एक ही औषधि अनुपान भेद से अनेक रोगों को दूर कर सकती है, क्योंकि मूल सिद्ध औषधियों की कृति और भावना संयोग का निश्चय शास्त्रकारों ने दोष-दूष्यों के पूर्ण विचार और अनुभव के पश्चात् ही किया गया है।

शहद योगवाही और मधुर होने से अनेक औषधियों के साथ अनुपान रूप से मिलाया जाता है। शहद मिलाने से प्रायः देखा जाता है कि उससे मूल औषधियों के गुण की वृद्धि होती है। मधु सुस्वादु होने से उससे खराब स्वाद वाली औषधियाँ भी रुचिकर हो जाती हैं। मेदोवृद्धि, कफ और वात विकार के रोग में तो शहद विशेष हितावह है। पुराना शहद कफ प्रकोप को दूर करने और नया शहद धातुपौष्टिक औषधियों में मिलाने में विशेष उपयोगी है।

यदि शहद और घृत साथ में मिलाने का लिखा हो, तो वहाँ पर विषम भाग में मिलाना चाहिये। वातपित्तजनित रोगों में घृत से शहद आधा और कफ प्राधान्य रोगों में घृत से दुगुना शहद मिलाना चाहिये। औषधि के साथ पहले घृत और पश्चात् शहद के मिलाने से घृत और शहद, दोनों अच्छी रीति से औषधि में मिल जाते हैं। दोनों एक साथ डालने से अथवा पहले शहद मिलाने से घृत और औषधि का संयोग बराबर नहीं होता।

काथादि औषधि गरम होने पर शहद मिलाने का और शहद को गरम करके उपयोग में लेने का प्राचीन आचार्यों ने निषेध किया है। कारण, शहद को शास्त्राचार्यों ने विष रूप माना है। शहद गरम करने से सत्वरूप परमाणुओं का रूपान्तर हो जाता है; और विष रूप होने से प्रकुपित होकर शरीर में पित्तप्रकोप और दाह उत्पन्न करता है।

जिन-जिन औषधियों के साथ अनुपान न लिखा हो, वहाँ-वहाँ पर जल ही को ग्रहण करना चाहिये। किसी-किसी रोग के लिये एक से अधिक अनुपान लिखे हैं। उनमें से अनुकूल अनुपान का विचारपूर्वक ग्रहण करें। औषधि और अनुपान की मात्रा सबको समान नहीं दे सकते; अतः दोष, अग्नि, रोगी का बलाबल, रोगी की आयु, व्याधि,

औषधि, कोष्ठ और ऋतु आदि का विचार कर मात्रा का निश्चय करना चाहिये। सामान्य रीति से अनुपान की मात्रा नीचे लिखे अनुसार ली जाती है।

अनुपान मात्रा—(१) शहद, मिश्री, घी, तुलसी का रस, नीबू का रस, अनार का रस इत्यादि ३ से ६ माशे; अदरख का रस १ से ३ माशे; और इतर साधारण औषधियों के स्वरस ६ माशे से १ तोला तक मिलाये जाते हैं। परन्तु पुटपाक कृति से निकाला हुआ स्वरस (अनुपान रूप से) ६ माशे से अधिक नहीं लिया जाता।

(२) भस्मादि औषधियों के साथ अवलेह ६ माशे से १ तोला, पाक २ से ४ तोले और मुरब्बा १ से २ तोले तक मिलाया जाता है।

(३) गुलकन्द, दूध की मलाई अथवा मक्खन १ तोला लेवें और मक्खन आदि के साथ मिश्री ६ माशे मिलानी चाहिये।

(४) दूध, मट्ठा, निवाया (कुनकुना) जल अथवा चावल का धोवन ५ से १० तोले तक औषधि के ऊपर पिला सकते हैं; किन्तु उष्ण काल में अधिक और शीतकाल में कुछ कम लेना चाहिये। पौष्टिक औषधि के साथ दूध २० तोले तक दे सकते हैं; तथा इससे न्यूनाधिक भी। दूध में मिश्री आवश्यकतानुसार मिलानी चाहिये, जैसे कि पित्तरोगी के लिये कफरोगी की अपेक्षा अधिक मिश्री मिलाई जाती है।

(५) भुनी हींग और सैंधानमक १ रत्ती से ४ रत्ती तक आवश्यकता के अनुसार मिलाये जा सकते हैं। आनाह-आटोपादि उदर के उपद्रवों में हींग, सैंधव या काला नमक इससे अधिक प्रमाण में भी दे सकते हैं।

(६) आसव, अरिष्ट १। से २॥ तोले; अर्क २॥ से ५ तोले; शर्बत १ से ४ तोले और शुद्ध घृत ६ माशे से १ तोले तक लेना चाहिये।

(७) कस्तूरी आध रत्ती, केशर १ रत्ती और पीपलादि तीक्ष्ण औषधियों का चूर्ण २ रत्ती से १ माशे तक लेवें।

उपर्युक्त मात्रा में औषधि, वीर्य की न्यूनाधिकता, रोगबल, रोगी की परिस्थिति, ऋतु और देश भेद से अन्तर हो सकता है।

रोगानुरूप अनुपान ।

वातजन्य रोग—भाँगरे का रस, शहद, अदरख का रस, एरण्ड आदि के तैल, घी या मांसरस इत्यादि ।

पित्तजन्य रोग—गुलकंद, मिश्री, आँवले का मुरब्बा, घीकुँवार का रस, पित्तपापड़ा का काथ, गिलोय का स्वरस, घी, शक्कर या मक्खन-मिश्री या गाय का दूध-मिश्री इत्यादि ।

कफजनित रोग—शहद, अदरख का रस और शहद; शहद-पीपल, बकरी का दूध, कुलथी का काथ, वासा स्वरस या जवाखारादि ।

वातपित्तज रोग—घी और दूधादि ।

कफपित्तज रोग—अदरख का रस-मिश्री या शहदादि ।

कफ और रक्तजनित रोग—गिलोय का स्वरस और शहदादि ।

ज्वर में पाचन—कंटकार्यादि काथ (नागरादि पाचन), या अदरख का रस और शहद आदि ।

वातज्वर—शर्करा और शहद, या गिलोय का स्वरस और गुड़ तथा दही के तोड़ आदि ।

पित्तज्वर—पित्तपापड़ा का काथ, मिश्री या चिरायता का हिम आदि ।

कफज्वर—जवाखार, कालीमिर्च और शहद, पीपल और शहद या अदरख का रस और शहद आदि ।

वातपित्त ज्वर—लघुपंचमूल काथ या पञ्चभद्र काथ आदि ।

वातकफ ज्वर—पंचकोल का चूर्ण, पीपल और शहद या दश-मूल का काथ आदि-आदि ।

पित्तकफ ज्वर—वासा स्वरस शहद-मिश्रीसह, गुडूच्यादि काथ या कुटकी और मिश्री आदि ।

त्रिदोषज्वर—पीपल, तगरादि कषाय, अष्टादशांग काथ, मुस्तादि काथ, शठ्यादि काथ, अदरख का रस, तुलसी का रस, सुहिंजने की छाल का रस, शहद, द्रोणपुष्पी (गूमा) का रस, ब्राह्मी का काथ या नागरवेल के पान का रस आदि ।

शीतांग सन्निपात—शराब, अदरख का रस, लौंग का काथ या कस्तूरी आदि।

मधुरा (मोतीझरा)—मधुरज्वरान्तक काथ या लवंग-ब्राह्मी का काथ आदि।

शीतज्वर—अदरख का रस और शहद; भाँगरे का रस, निर्गुण्डी का रस या कालीमिर्च और लौंग का काथ आदि।

जीर्णज्वर—शहद और पीपल, गिलोय सत्व और शहद, जीरा और पुराना गुड़, जीरा और मिश्री, सितोपलादि चूर्ण और दूध; सितोपलादि चूर्ण, घी और शहद; सोंठ और मिश्री, औटाया हुआ दूध या वर्धमान पिप्पली प्रयोग आदि।

विषमज्वर—द्रोणपुष्पी का रस, धत्तूरे का पान १।। इञ्च गोल, तुलसी का रस, सहदेवी का रस, अदरख का रस, सात्विन की छाल का काथ, गुड़मिश्रित त्रिफला का काथ या शहद-पीपल आदि।

अतीसार (दस्त)—चावल का धोवन, कुड़े की छाल का चूर्ण, वेल का मुरब्बा, कुटजावलेह, मट्ठा, अरलू का काथ, छोटी दूधी का चूर्ण, वकरी का दूध या इन्द्रजव का चूर्ण या काथ।

ज्वरातिसार—शहद, इसवगोले का हिम, अदरख का रस या चावल का धोवन आदि।

प्रवाहिका (पेचिश) और आमातिसार—मट्ठा, चावल का धोवन और शहद, ककड़ी का जल, वेल का मुरब्बा, कुटजावलेह या दाड़िमावलेह आदि।

रक्त मिश्रित पेचिश—मक्खन सहित मट्ठा, मिश्री और अदरख का रस, अफीम, नीबू का रस, अनार का रस, दाड़िमावलेह, वेल का मुरब्बा या कुटजावलेह आदि।

संग्रहणी—मट्ठा, अरलू का काथ, इमली का रस, नीबू का रस, दही का पानी या वेल का मुरब्बा आदि।

रक्तार्श (खूनी बवासीर)—मट्ठा; मक्खन-मिश्री और नागकेशर का चूर्ण, घी-शक्कर, कुटजावलेह, छोटी दूधी का चूर्ण, आँवले

का चूर्ण, मूली का रस, कुकरौंधा का रस, गोजिह्वा का रस या निम्बोली का रस आदि।

शुष्कार्श (बादी बवासीर)—घी, त्रिफला, द्राक्षावलेह, भिलावा, मट्ठा, चित्रकमूल की छाल का क्वाथ, अमलतास की फली के गूदा का रस, जिमीकन्द का चूर्ण (कंठ को यह चूर्ण न लगाना चाहिये), मूली का रस या कुकरौंधा का स्वरस आदि।

अग्निमांद्य—नागरवेल का पान, अदरख और सैंधानमक, मट्ठा, नीबू का रस या अनार का रस आदि।

भस्मक रोग—पक्का केला और घी, भैंस का दही, श्रीखंड या अपामार्ग (आँधीझाड़े) के चावल की खीर आदि।

अजीर्ण—गरम जल, गरम जल के साथ शुण्ठी और सैंधानमक, भूनी हींग और सैंधानमक मिश्रित मट्ठा, नीबू का रस, सोडावॉटर, प्याज का रस, पोदीने का रस, हरड़ का चूर्ण, सौंफ का अर्क़, अजवायन का चूर्ण या चने का क्षार आदि।

आमाजीर्ण—वच और नमक मिलाया निवाया जल आदि।

विदग्धाजीर्ण—मुनक्का, मिश्री और हरड़, तीनों का चूर्ण आदि।

विष्टब्धाजीर्ण—नमक मिला निवाया जल आदि।

विसूचिका (हैज़ा)—भूनी हींग, प्याज का रस, पोदीने का रस, नीबू का रस, अदरख का रस, इमली का रस, या शराब आदि।

उदरकृमि—वायविडंग का क्वाथ, अनार के मूल की छाल का क्वाथ, पलाश के फल का चूर्ण, करंज के भूने फल का चूर्ण, नीम के पत्तों का स्वरस या नागरमोथे का क्वाथ आदि।

पाण्डु और कामला—त्रिफला और शहद, त्रिफला और मिश्री, गोमूत्र, मूली का रस, भूनी हुई कुटकी का चूर्ण और मिश्री, पुनर्नवा का रस, गाय का दूध, अरण्डी के पत्तों का रस या मुनक्का का क्वाथ आदि।

रक्तपित्त—वासा स्वरस, बकरी का दूध, पेठे का मुरब्बा, गूलर के मूल का जल, धमासे का क्वाथ, खजूर का हिम, दुर्वाद्यघृत या

वासाघृत आदि।

क्षय—मक्खन, मिश्री और शहद; शिलाजीत; बादाम का तैल, बकरी का दूध, सितोपलादि चूर्ण, लवंगादि चूर्ण या च्यवनप्राशावलेह आदि।

उरःक्षत—अडूसे का स्वरस, मिश्री मिश्रित पेठे का स्वरस, मुरब्बा, वासावलेह या कुष्माण्डावलेह आदि।

कास (खाँसी) कफयुक्त—अदरख का रस और शहद, नागरवेल का पान, तुलसी का रस और मिश्री, गरम जल या द्राक्षावलेह आदि।

कण्ठ और उपजिह्वा विकार—बहेड़ा का चूर्ण, अकलकरा, मिश्री, सोंठ-मिश्री आदि।

रक्तयुक्त कास—वासा स्वरस और शहद, वासा क्वाथ और मिश्री, पीपल की लाख आदि।

कफ बाहर लाने के लिये—मुलहठी, मुलहठी का सत्व (रब्बीसूस), सितोपलादि चूर्ण या जवाखार आदि।

श्वासवाहिनी का दाह शमनार्थ और श्वासवाहिनी में से कफस्राव ज्यादा कराने के लिये—मिश्री, वासा स्वरस आदि।

श्वासयुक्त कफ-कास—छोटी कटेली और त्रिकटु का क्वाथ आदि।

शुष्क कास—वासा, गुलकन्द, काली मुनक्का या बहेड़ा, मुलहठी और वासे का क्वाथ, बबूल का गोंद-मिश्री या बबूल के गोंद का शर्बत आदि।

वातिक कास—लघु पंचमूल का क्वाथ आदि।

श्वास—भारंगी, पीपल का चूर्ण और शहद, त्रिकटु और शहद, धतूरे के पत्तों का रस १० बूँद और शहद, छोटी कटेली के मूल का क्वाथ या लौंग का क्वाथ आदि-आदि।

हिक्का (हिचकी)—तुलसी का रस, सोंठ या बेंत का क्वाथ, शहद-पीपल, काकड़ासिंगी का चूर्ण, मोरपुच्छ के चन्दलों की भस्म,

वेर की गुठली का मगज और शहद, कुनकुने जल के साथ राई का चूर्ण या हालों का क्वाथ आदि।

स्वरभेद—दूध, मिश्री और आँवले का चूर्ण; मुलहठी और मुनक्का का क्वाथ, सौंफ और मिश्री, चिरमी के पत्ते; पुष्करमूल का चूर्ण और शहद; शहद और मिश्री आदि।

अरुचि—अनार का रस, नमक मिला अदरख, नीबू का रस, पक्की इमली का पना, आम का पना आदि-आदि।

छर्दि (वमन)—चावल की खील, शहद, जामुन का शर्बत, नागरमोथा और धनिये का क्वाथ, नीबू की राख, पीपल की राख का जल, धमासा का क्वाथ और शहद या गिलोय का स्वरस और शहद आदि।

तृषा (प्यास)—तपाकर ठण्डा किया हुआ जल, सुवर्ण को तपाकर बुझाया हुआ जल, चन्दन का अर्क, आँवले का चूर्ण, सितोपलादि चूर्ण, मुनक्का, नीबू का शर्बत, गिलोय का रस, मुनक्का, इमली, धारोष्ण दूध या आलूबुखारा भूना हुआ आदि।

मूर्च्छा—धमासा का क्वाथ और घी, ब्राह्मी स्वरस, मीठे अनार का रस, आँवले का मुरब्बा, गुलकन्द, गरम करके ठण्डा किया हुआ जल और शहद, धारोष्ण दूध, शङ्खाहुली का रस या द्राक्षारिष्ट आदि।

शोकज मूर्च्छा—शराब किंचित् मदकारक और हृद्य पदार्थ या द्राक्षासव आदि।

कृशताजनित मूर्च्छा—मांसरस, बादाम का तैल या धारोष्ण दूध आदि।

मदात्यय—धारोष्ण दूध, मक्खन मिश्री, कल्याण घृत, द्राक्षारिष्ट, शङ्खाहुली का अर्क या ब्राह्मी का क्वाथ और स्वल्प मद्य आदि।

दाह—नेत्रवाले का शर्बत, गूलर के मूल का जल, चन्दन का शर्बत, नीबू का शर्बत, पित्तपापड़ा का हिम, धारोष्ण गोदुग्ध, आँवले का मुरब्बा, गुलकन्द, धनिये का हिम या घीकुंवार का रस आदि।

उन्माद—पुराना घृत, धतूरे के ४ बीज और १ तोला घृत या भैंस का धारोष्ण दूध अथवा मिश्री मिले दूध के साथ सर्पगन्धा का

चूर्ण एक माशा आदि ।

निद्रानाश—ब्राह्मी काथ, वच का चूर्ण और शहद, पेठे का रस, शङ्खाहुली का रस, दशमूल काथ, क्षीर कल्याण घृत, भांग और शहद या भैंस के दूध में पीपलामूल और गुड़ आदि ।

अपस्मार—वच का चूर्ण २ से ४ रत्ती तक और शहद, ब्राह्मीघृत, ब्राह्मी का काथ, केवड़े का केशर, पुराना घी, अकलकरे का चूर्ण या पेठे का रस आदि ।

वातरोग—गूगल, लहशुन, रास्ना का काथ, निर्गुण्डी का स्वरस, एरण्ड तैल, घी या गरम जल आदि ।

अर्दित वात—उड़द का काथ, भैंस का दूध या मक्खन आदि ।

मन्यास्तंभ—दशमूल काथादि ।

पक्षाघात—लहशुन या एरण्ड मूल का काथादि ।

गृध्रसी—एरण्ड तैल या रास्नादि काथादि ।

अपतन्त्रक (हिस्टीरिया)—जटामांसी का काथ, हींग, खोरासानी अजवायन या ब्राह्मी स्वरसादि ।

तीक्ष्ण वातप्रकोप—सन्निपात में लिखे अनुपान की योजना करें ।

वातरक्त—गिलोय स्वरस, एरण्ड का तैल, गोरखमुण्डी का चूर्ण और शहद या छोटी हरड़ और गुड़ आदि ।

ऊरुस्तंभ—एरण्ड तैल, एरण्डमूल का काथ या गोमूत्रादि ।

आमवात—एरण्ड तैल, घी, निवाया जल, निशोथ का क्वाथ, गोमूत्र, करंज के भूने फलों का चूर्ण, घीकुँवार का रस, सोंठ का काथ, रास्नादि काथ, दशमूल का काथ या एरण्डमूल का रस आदि ।

उदरशूल—भूनी हींग और घी, करंज के भूने फल का चूर्ण, दशमूल का काथ, सोडावॉटर, काँजी, प्याज का रस, एरण्ड का तैल और सोंठ का काथ अथवा काला नमक, हींग और सोंठ का चूर्ण आदि ।

उदावर्त्त और आनाह—काला नमक, भूनी हींग, जवाखार और घी, विरेचन की औषधि या मूली का रस आदि ।

आध्मान (आफरा)—भूनी हींग, काला नमक, पीपलामूल का चूर्ण, छोटी हरड़, सनाय, एरण्ड का तैल आदि।

गुल्म—एरण्ड तैल, गोमूत्र, दूध, ताड़ी का रस, कमीला, मुनक्का, भूनी हींग, चने का क्षार, विड़नमक और घी, सज्जीखार और घी, जौ का क्वाथ, त्रिफला का क्वाथ, पुनर्नवादि क्वाथ, सुहिंजने की छाल का स्वरस आदि।

रक्तगुल्म—तिल का क्वाथ, पलाश का क्षार, वरना की छाल का क्वाथ, जवाखार और त्रिकटु, ऊँटनी का दूध या गोमूत्र आदि।

हृद्रोग—दशमूल क्वाथ, सोंठ का क्वाथ, धारोष्ण गोदुग्ध, मक्खन-मिश्री, पुष्करमूल का चूर्ण और शहद या अर्जुन घृत या अर्जुन छाल का क्वाथ (रक्तवाहिनियों की शिथिलता से होवे, तो)।

हृत्शूल—भूनी हींग, पुष्करमूल का चूर्ण या बहेड़े का चूर्ण (कफ वृद्धिजन्य हो, तो)।

हृदय में सूजन और नसों का खिंचाव हो तो कपूर (किन्तु कपूर आधी रत्ती से अधिक न मिलावें)।

पित्तविकृतिजन्य हृद्रोग—पेठे का स्वरस, धारोष्ण गोदुग्ध या द्राक्षारिष्ट आदि।

मूत्रकृच्छ्र और मूत्राघात—छोटे गोखरू का क्वाथ, धमासे का क्वाथ, शिलाजीत, शीतलमिर्च का चूर्ण, मूली के पत्तों का रस, कलमी शोरा, मिश्री और जवाखार, हजरतबेर का चूर्ण, छोटी दूधी का चूर्ण, शतावरी का रस, पेठे का रस, दूध की लस्सी, चावल का धोवन, ईख का रस, तृण पंचमूल का क्वाथ, पलाशपुष्प (केशूला) और धनिये का क्वाथ मिश्री मिला या उशीरासव आदि।

बहुमूत्र—पुराना शहद, दूध, पक्का केला, छोटी दूधी का चूर्ण, धात्रीघृत, बहुफली का चूर्ण, नारियल का जल या जामुन का रस आदि।

अश्मरी (पथरी)—शिलाजीत, कबूतर की विष्टा, बगुले की हड्डी का चूर्ण, वरना की छाल का क्वाथ, गोखरू का क्वाथ, केशूले का क्वाथ, पाषाणभेद का चूर्ण, कुड़े की छाल का क्वाथ, केले का क्षार,

अपामार्ग का क्षार या जवाखार आदि-आदि ।

प्रमेह—आँवले का रस और शहद, गिलोय का रस और शहद, हल्दी और मिश्री, त्रिफला और मिश्री, शहद और मिश्री या गिलोय सत्व और शहद आदि ।

मधुमेह—जामुन की गुठली का चूर्ण, चित्रकमूल का चूर्ण, अफीम, गुड़मार का चूर्ण, बेलपत्र का स्वरस या कड़वी नाई का स्वरस आदि ।

प्रमेहपिड़िका—कचनार की छाल का क्वाथ, मंजिष्ठादि अर्क या विल्वपत्र का स्वरस । यही अनुपान अदीठ (अदृष्ट स्फोटक) में भी देना चाहिये ।

मेदोवृद्धि—शहद और जल, शिलाजीत, गोमूत्र का अर्क या त्रिफला का क्वाथ आदि ।

उदर रोग—विरेचन, गोमूत्र, छोटी हरड़, घीकुँवार का रस, ऊँटनी का दूध, त्रिकटु और सैंधानमक, कुटकी का चूर्ण, मट्ठा, एरण्ड तैल, पुनर्नवादि क्वाथ या सुहिंजने की छाल का क्वाथ आदि-आदि ।

यकृत्-प्लीहा वृद्धि—पीपल का चूर्ण और शहद, गोमूत्र, विरेचन की औषधि, भूनी हुई कुटकी का चूर्ण, त्रिफला, घीकुंवार का रस, सुहिंजने की छाल का क्वाथ या शरपुंखे का क्वाथ आदि ।

शोथ (सूजन)—मकोय का रस, पुनर्नवा का रस, शहद, गोमूत्र, चित्रकमूल का क्वाथ या त्रिफला का क्वाथ आदि ।

वृषण वृद्धि—एरंड तैल, गूगल, त्रिफला का क्वाथ या गोमूत्र आदि ।

गलगंड, अपची, गंडमाला—कचनार की छाल का क्वाथ, गोमूत्र या वरना की छाल का क्वाथ आदि ।

श्लीपद (हाथीपगा-फीलपाँव)—गोमूत्र, पलाश की छाल का स्वरस, पूतीकरंज के पत्तों का रस, गिलोय का स्वरस या कांजी आदि ।

अर्बुद, पक्वविद्रधि, व्रण, नाड़ीव्रणादि—त्रिफला का क्वाथ, इन्द्रायण की मूल का क्वाथ, घी, मंजिष्ठादि क्वाथ या गोमूत्र आदि ।

अंतर्विद्रधि—सुहिंजने की छाल का क्वाथ या पुनर्नवा की मूल और वरना की छाल का क्वाथ आदि।

भगंदर—घी, शहद या रक्तशोधक औषधियाँ आदि-आदि।

उपदंश—घी, सत्यानाशी का स्वरस, चोपचीनी का क्वाथ, अनंतमूल का क्वाथ, चमेली का स्वरस या नागरवेल का पान आदि।

अस्थिभंग (हड्डी टूटना)—भिलावा का पकाया हुआ घी, दूध या गोघृत आदि।

कुष्ठ—खैर (खदिर) की छाल का क्वाथ, गोमूत्र, बावची का चूर्ण, काले गूलर की छाल का क्वाथ, गिलोय का स्वरस, चोपचीनी का चूर्ण या विरेचन की औषधि आदि।

शीतपित्त (पित्ती)—अदरख का रस और घी, छुहारे का क्वाथ, विरेचन, कालीमिर्च का चूर्ण और घी या त्रिफला आदि।

अम्लपित्त—मुनक्का, अनार का रस और मिश्री, अदरख का रस और मिश्री, आँवले का चूर्ण और मिश्री, चन्दन का शर्वत, दूध, घी-शक्कर, द्राक्षावलेह, कड़वे परवल और सोंठ का क्वाथ, पेठे का मुरब्बा या सोनागेरू, गिलोय सत्व और शहद आदि।

विसर्प (छाजन-अकौता)—नीम पंचांग का क्वाथ, त्रिफला, बावची का चूर्ण, घी, विरेचन की औषधि या पटोलादि क्वाथादि।

स्नायु (नारू या नहरुआ)—गोघृत, हींग और दही या निर्गुण्डी के पत्तों का स्वरस आदि।

मसूरिका (छोटी बड़ी शीतला)—नीम के पंचांग का हिम, गधी का दूध, वमन और विरेचन की औषधि, दुरालभादि क्वाथ या पटोलादि क्वाथ आदि।

पार्श्वशूल—पुष्करमूल का क्वाथ, सोंठ का क्वाथ, हल्दी का क्वाथ आदि।

गुदा का शूल—चित्रकमूल का क्वाथ आदि।

मुखरोग—खैर की छाल का क्वाथ, सुहागे का फूला या सेलखड़ी का चूर्ण आदि।

प्रतिश्याय (जुकाम)—निवाया दूध, चाय, अरनी के पत्तों का रस, या इमली के पत्तों का यूप आदि।

नेत्ररोग—त्रिफला का हिम, त्रिफला घृत, गोघृत और शहद या सफेद मिर्च, मिश्री और घृत आदि।

सिरदर्द—गोदुग्ध और मिश्री, गिलोय सत्व और दूध, मक्खन-मिश्री या विरेचनादि।

विषविकार—सुवर्ण का वर्क और मक्खन-मिश्री, मक्खन-सिरस की छाल का क्वाथ, सिरस के फल का चूर्ण, चौलाई का रस या सुहागे का फूला आदि।

रक्तविकार—मंजिष्ठादि क्वाथ, सत्यानाशी की जड़ का हिम, अनन्तमूल का क्वाथ, चोपचीनी का चूर्ण या उन्नाव का शर्बत आदि।

आधासीसी सूर्यावर्त्त—दूध, घी-मिश्री, जलेबी, पेड़ा, पौष्टिक पदार्थ आदि।

प्रदर—चावल का धोवन, सफेद चन्दन का चूर्ण और मिश्री, लोद का चूर्ण, आँवलों का स्वरस, आँवले का मुरब्बा; वासा, गिलोय और दारुहल्दी, इन ३ औषधियों का क्वाथ; अनार शर्बत, पक्का केला, गुलकन्द, अशोक की छाल का क्वाथ, जीरा और मिश्री, गाय का दूध, नेत्रवाला का शर्बत आदि।

सगर्भा को वमन—धनियाँ, नागरमोथा, सोंठ और मिश्री, इन ४ औषधियों का क्वाथ; मुसम्बी का रस, अनार का शर्बत आदि।

स्तन में दूध वृद्धि के लिये—गोदुग्ध, शतावरी का रस या विदारीकन्द का चूर्ण आदि।

स्तन्य शुद्धि—दशमूल क्वाथ से सिद्ध किया हुआ दूध आदि।

अत्यार्त्तव (मासिक-धर्म में रक्त अधिक आना)—भाँग का चूर्ण, हीराबोल, लज्जालू का रस, नागकेशर का चूर्ण (घी शहद-सह), धमासे का क्वाथ, गिलोय स्वरस, गुलकन्द या अशोकारिष्टादि।

कष्टार्त्तव (मासिक-धर्म के समय दर्द का होना)—अशोक छाल का क्वाथ, कुमार्य्यासव, दशमूलारिष्ट, झाऊ का रस आदि।

नष्टार्त्तव (रजोदर्शन का न होना)—चित्रकमूल का क्वाथ, गोखरू का क्वाथ, एलुवा, इन्द्रायण की जड़ का चूर्ण आदि।

प्रसूतिरोग—तुलसी का रस, अदरख का रस, भाँगरे का रस, गिलोय का रस, देवदार्वादि क्वाथ या दशमूल क्वाथ आदि।

वालरोग—माता का दूध, शहद, गोदुग्ध, वकरी का दूध आदि।

मुखपाक—वकरी का दूध, गाय का दूध, घृत आदि।

उत्फुल्लिका—पसली (डव्बा)—विरेचन की ओपधि, गोमूत्र या घोड़े की लीद का रसादि।

धनुर्वात—सुहागे का फूला या कस्तूरी और शहद आदि।

काली खाँसी—अजवायन का क्वाथ, नागफणी थूहर के पत्तों का पुटपाक कृति से निकाला हुआ रस, भाँग की राख और शहद, मक्खन-मिश्री, द्राक्षारिष्ट या पक्का केला आदि।

वालकों की निर्वलता—गाजर का अर्क, वादाम का तैल या गोदुग्ध आदि।

वालकों का ज्वरातिसार—पिप्पल्यादि चूर्ण या चतुर्भद्र चूर्ण आदि।

वालकों का कासरोग—पिप्पल्यादि चूर्ण या काकड़ासिंगी का चूर्ण और शहद आदि।

कृमि—वायविडंग, पिप्पली कल्क आदि।

वालकों का वद्धकोष्ठ (कब्ज)—हरड़ का वासा, एरण्ड तैल, गोमूत्र या चौलाई का रस और गुड़ आदि।

वालकों का अतिसार—अतीस का चूर्ण या चतुर्भद्रावलेहिकादि।

वालकों का उदरशूल—अजवायन का क्वाथ आदि।

नपुंसकता, धातुक्षय—शहद, मिश्री, औटाया हुआ दूध, शतावरी का रस, खरैंटी का चूर्ण, नागरवेल का पान, कस्तूरी, असगंध का चूर्ण, मुलहठी का चूर्ण या मक्खन-मिश्री आदि।

औपधि-सेवन काल।

औपधि-सेवन निमित्त शास्त्राचार्यों ने निम्नानुसार ५ काल कहे हैं।

प्रथम काल—प्रातःकाल में औषधि प्रदान करना, यह प्रथम काल है। पाँचों काल में इसे उत्तम माना है। स्वरस, कल्क, क्वाथ, फाँट और हिम को विशेषतः प्रातःकाल में देना चाहिये।

वातादि दोषों के शमनार्थ स्नेहपान, पित्त नाशार्थ विरेचन, कफप्रकोप पर वमन, मेदोवृद्धि में लेखन औषधि, मूत्रकृच्छ्रादि रोगों में मूत्रल औषधि तथा पौष्टिक, वीर्यवर्धक और रसायन औषधियाँ बहुधा प्रातःकाल में दी जाती हैं।

द्वितीय काल—अपानवायु क्रुद्ध होने पर भोजन के आध घण्टे पहले वातनाशक औषधि प्रदान करनी चाहिये।

आमाशयस्थ प्राणवायु विकृतिजन्य अरुचि आदि रोगों में भोजन के साथ अनेक बार थोड़ी-थोड़ी औषधि देनी चाहिये।

समानवायु के प्रकोपजनित अग्निमान्द्यादि व्याधियों में अग्नि-प्रदीपक औषधि भोजन के मध्य में देनी चाहिये।

व्यानवायु का प्रकोप होने पर औषधि भोजन के अन्त में देवें।

उदानवायु विकृति से पचनसंस्था में दोष हो जाने पर भोजन के आदि और अन्त में औषधि देना चाहिये।

तृतीय काल—उदानवायु के प्रकोप से कण्ठ स्थान में स्वर-भंगादि व्याधियाँ होने पर सायंकाल को भोजन के प्रथम ग्रास में या आरम्भ के दो ग्रास के मध्य में औषधि सेवन कराना चाहिये।

प्राणवायु की विकृति से श्वासयन्त्र में दोष होने पर सायंकाल को भोजन के अन्त में औषधि देना, यह विशेष हितावह है।

चतुर्थ काल—तृषा, वमन, हृल्लास (उबाक), हिक्का, श्वास, विषदोष, सन्निपात, अतिसार, प्रवाहिका, संग्रहणी, विसूचिकादि रोगों में बार-बार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में औषधि देनी चाहिये। वर्तमान में ज्वरादि रोगों में भी दिन में २ या ३ बार औषधि देने का रिवाज है।

वमन, अतिसार, ग्रहणी, प्रवाहिका आदि रोगों में दिन में ३-४ या अधिक बार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में औषधि देना विशेष लाभदायक है।

विसूचिका में आध-आध घण्टे पर औषधि देते रहना चाहिये।

फिर रोगबल कम होने पर समय बढ़ाते जायँ।

विष प्रकोप, हिक्का, तीव्र श्वासवेग और सन्निपातादि में २-२ घण्टे पर या जल्दी औषधि देते रहना चाहिये।

पंचम काल—कण्ठ के ऊर्ध्व भाग के रोग अर्थात् नेत्र, नासा, कर्ण, मुख और मस्तिष्कगत व्याधियों में और प्रवृद्ध वातादि दोषों के ह्रास तथा क्षीण दोषों की वृद्धि के लिये रात्रि को पचन, बृंहण और शमन औषधि प्रदान करना चाहिये।

मधुररसप्राधान्य पौष्टिक औषधियाँ, पाक आदि प्रातःकाल को देना अधिक हितकारक है।

नमक आदि क्षारप्राधान्य औषधि भोजन के पहले या भोजन के प्रथम ग्रास में देने से आमाशयस्थ पाचकरस की वृद्धि होती है।

हींग आदि तीक्ष्ण वातघ्न औषधियाँ भोजन के पहले देने से उदरवात दूर होकर पाचक रस की वृद्धि होती है।

अम्लरसप्राधान्य औषधि भोजन के दो घण्टे पश्चात् अन्न-पचन काल में देनी चाहिये। किन्तु आमाशयरस की तीव्रता कम करने या पित्तशमन करने के लिये औषधि देना हो, तो प्रातःकाल में या भोजन के २-३ घण्टे पहले देनी चाहिये।

कषायरसप्राधान्य औषधियाँ (हरड़, कत्था, लोद, माजूफल, मोचरसादि), अफीम, तथा रसकपूरादि औषधियाँ, जो रसोत्पत्ति में प्रतिबन्ध करती हैं, उनको भोजन के ३ घण्टे पहले लेना चाहिये।

रक्तपौष्टिक लोहभस्म और मण्डूर भस्मादि औषधियाँ भोजन के साथ या भोजन कर लेने पर तुरन्त सेवन करने से बहुत जल्दी उनके परमाणुओं का रक्त में शोषण हो जाता है; तथा सुबह दूध के साथ सेवन कराने पर भी इतना ही या इससे भी अधिक लाभ होता है। यदि सुबह दूध के साथ औषधि दी जाय; तो भोजन कम से कम तीन घण्टे पश्चात् (दूध पच जाने पर) ही करना चाहिये। अन्यथा उचित लाभ नहीं मिल सकेगा।

सोमल आदि दाहक या तीक्ष्ण औषधियाँ भोजन कर लेने पर तुरन्त

दे देनी चाहिये, इसलिये कि उनकी दाहकता से हानि न होवे। यदि अन्त्र पर निश्चित परिणाम जानने के लिये औषधि देना हो, तो सूक्ष्म मात्रा में भोजन के ३ घण्टे पहले देवें।

सूचना—आगन्तुक रोग और तीव्र व्याधियों में औषधि उपचार जल्दी करना चाहिये; अर्थात् ऐसी अवस्था में प्रातःकालादि समय की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये।

कड़वी औषधि भोजन के साथ नहीं देनी चाहिये। अन्यथा वात-प्रकोप होने की या वमन हो जाने की भीति रहती है।

सोमल, हरतालादि उग्र या चाय, काफी आदि निद्रानाशक औषधियाँ रात्रि को नहीं देनी चाहिये; क्योंकि ये मस्तिष्क और वातवहा नाड़ियों को हानि पहुँचाती हैं।

सोनामुखी आदि विरेचन औषधि रात्रि के भोजन के बाद २ घण्टे तक नहीं देनी चाहिये। तीव्र वामक और तीव्र विरेचक औषधि को भी रात्रि में विना विषविकार कदापि प्रयुक्त न करें।

निद्रा लाने वाली औषधियाँ प्रातःकाल को नहीं दी जातीं।

पथ्यापथ्य विचार।

प्रत्येक स्वस्थ मनुष्य का परम कर्त्तव्य है, कि वह आहार-विहार में सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा अपने स्वास्थ्य-संरक्षण का पूरा लक्ष्य रक्खे। जो आहार-विहार अपनी प्रकृति के अनुकूल हों, उनको ही व्यवहार में लाना चाहिये। और जो प्रतिकूल हों, उनका परित्याग करना चाहिये। इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर भगवान् धन्वन्तरि आयुर्वेद का प्रयोजन कहते हैं कि:—

"इह खल्वायुर्वेद प्रयोजनं व्याध्युपसृष्टानां व्याधिपरिमोक्षः स्वस्थस्य रक्षणं च"।

अर्थात् इस समस्त आयुर्वेद का यह प्रयोजन है, कि व्याधि-पीड़ितों के व्याधियों का निवारण और स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य का संरक्षण करना। इस प्रयोजन की सिद्धयर्थ महर्षियों ने स्वस्थ मनुष्यों का आहार-विहार और रोगियों के लिये देश, काल, प्रकृति, स्थिति, वय

और कार्यादि भेद से पथ्यापथ्य का अच्छी रीति से विचार किया है।

जो आहार-विहार परिणाम में वलवृद्धिकर और दुःखशामक हो उसी को पथ्य कहा है। यदि इसको भली-भाँति कहा जाय तो जिस आहार-विहार से शारीरिक और मानसिक क्षय (रोग) की निवृत्ति होकर स्वास्थ्य का संरक्षण; वल, वीर्य, शक्ति और स्फूर्त्ति की वृद्धि; रस-रक्तादि धातुओं की पुष्टि और मानसिक प्रसन्नता की प्राप्ति हो, उसी को पथ्य माना है। सारांश यह है कि जो आहार-विहार परिणाम में अपनी प्रकृति को स्वस्थ रक्खें और सवल वनावें, वह पथ्य है; तथा जो इसके विपरीत हो, वही अपथ्य है।

क्षमा, दया, पथ्य में सदाचार, ईश्वर भक्ति, पूज्यों की सेवा, साधु, ब्राह्मण और दीन जनों का आशीर्वाद, निरभिमान वृत्ति, अल्पाहार, स्वच्छता, शुद्ध जलपान, आवश्यकतानुसार व्यायाम, शुद्ध वातावरण में रहना, और हितकर वर्त्ताव का पालन, इन सब मानसिक और शारीरिक कर्त्तव्यों का भी आहार के साथ समावेश हो जाता है।

निःसत्व और वेस्वादु भोजन को पथ्य नहीं कह सकते एवं रोग में वृद्धि करने वाले स्वादु आहार और मानसिक क्षणिक आनन्द देकर भविष्य में हानि पहुँचाने वाले विहार को भी पथ्य नहीं मानना चाहिये; उनको अपथ्य ही कहा जायगा। ऐसे आहार-विहार से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसीलिये आचार्यों ने इनका आग्रहपूर्वक त्याग करने का उपदेश किया है और वताया है किः—

"अहिताशनसम्पर्कात् सर्वरोगोद्भवो यतः।
अतस्तदहितं त्याज्यं न्याय्यं पथ्यनिषेवणम् ॥"

अर्थात् अपथ्य आहार-विहार से सव प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं; अतः इन अहितकारी अपथ्य आहार-विहारों का त्याग कर पथ्य का ही सेवन करना चाहिये। जिस आहार के सेवन से दोषों का प्रकोप होता है और उससे रसादि धातु क्षुब्ध होकर प्रकृति में विकार उत्पन्न होता है। उनको रोगोत्पत्ति में कारण रूप मानना चाहिये। इतना ही नहीं, ऐसे आहार-विहार का विष रूप समझ कर छोड़ देना चाहिये।

'कन भर दवा और मन भर परहेज' इस वचन का पालन करने से ही रोग का शमन और स्वास्थ्य का संरक्षण होता है। अपथ्य का उपभोग करते रहने से अच्छी से अच्छी औषधि के सेवन से भी रोग का शमन नहीं हो सकता, तब पथ्य के परित्याग से स्वास्थ्य का संरक्षण कैसे हो सकता है ? इस उद्देश्य से ही कहा है कि—

"विनाऽपि भेषजैर्व्याधिः पथ्यादेव निवर्त्तते।
न तु पथ्यविहीनानां भेषजानां शतैरपि ॥"

औषधि सेवन न करते हुए केवल पथ्य पालन से रोगों की निवृत्ति हो सकती है; परन्तु पथ्य का त्याग करने से सैकड़ों हितकारी औषधियों से भी रोग का शमन नहीं हो सकेगा।

सब प्रकार के नये धान्य रोगियों को बहुधा प्रतिकूल होते हैं। अन्न उत्पन्न हो जाने के पश्चात् कम से कम २-४ मास हो जाने पर ही उसका उपयोग करना चाहिये। चावल के अतिरिक्त अन्य धान्य एक या दो वर्ष के बाद हीन-वीर्य हो जाते हैं, अतः ऐसे निःसत्व अन्न को उपयोग में नहीं लेना चाहिये।

सब ही प्रकार के शाक प्रायः मल के भेदक, गुरु और रूक्ष होते हैं। कोई-कोई मधुर शाक (आलू आदि) विष्टम्भकारक और दुर्जर भी है। शाक पुष्प, पत्र, फल, नाड़ी और कन्द भेद से ५ प्रकार के हैं। इनमें पुष्प से पत्र, पत्र से फल, इस क्रम से अधिक गरिष्ट हैं। शाक में जो कठोर हो गये हों, पक कर पीले हो गये हों, जिनमें कृमि हों, उत्पत्ति देश से अन्य देश में उत्पन्न हुए हों, असमय पर हुए हों, इन सब शाकों का त्याग करना चाहिये। वर्षाऋतु में बहुधा पत्र-शाक में कृमि रहते हैं, इसलिये उनका उपयोग नहीं करना चाहिये। यदि सेवन करना ही हो तो बहुत सावधानी के साथ गर्म जल से धोकर उपयोग में लाना चाहिये।

जो वस्तु रोग में पथ्य हो, परन्तु प्रकृति से प्रतिकूल हो, उसका भी परित्याग करना चाहिये।

उदाहरणार्थ जैसे कि किसी मनुष्य को दूध अनुकूल नहीं रहता, दूध पीने पर थूक के साथ या दस्त में रक्त आने लगता है और जीर्णज्वर

में दूध अमृत के समान लाभ पहुँचाता है। परन्तु उस मनुष्य की प्रकृति से दूध विरुद्ध होने से उसे जीर्णज्वर में भी दूध नहीं देना चाहिये। इस दृष्टि से भी पथ्यापथ्य सम्बन्धी सम्हाल रखनी चाहिये।

इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने कहा है कि;—

दोषान्दूष्यान्देशकालौ सात्म्यं सत्वं बलं वयः।
विकृतिं भेषजं वह्निमाहारं च विशेषतः॥
निरीक्ष्य मतिमान्वैद्यश्चिकित्सां कर्त्तुमुद्यतः।
पथ्यानि योजयेन्नित्यं यथास्वं सर्वरोगिषु॥

बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिये कि वातादि दोष, रसरक्तादि दूष्य; देश, काल (ऋतु), सात्म्य, सत्व (मनोबल), देहबल, आयु, रोगबल, औषधि, अग्नि और आहार, इन सबका विशेष निरीक्षण कर के ही चिकित्सा करे और सब प्रकार के रोगियों के लिये नित्य यथोचित पथ्य की व्यवस्था करता रहे।

यदि स्वस्थावस्था में सर्वदा पथ्य का पालन किया जायगा, तो पूर्ण आयु तक कदापि रोग का दर्शन नहीं होगा और उसका जीवन सुखमय ही व्यतीत होगा। इसी हेतु से स्वस्थ मनुष्यों के लिये भी शास्त्र में वात, पित्त और कफ प्रकृति के भेद से पथ्य की विचारणा की है।

वात प्राधान्य प्रकृति के लिये पथ्य—मधुर, अम्ल, लवण रस, गेहूँ, जौ, चावल, उड़द, दूध, घी, तैल, मांसरस, दही, मधुर पदार्थ, पक्वान्न, सज्जीखार, मद्य, पुराना गुड़, परवल, बैंगन, सुहिंजने की फली, नीबू, कोकम (वृक्षाम्ल), पोदीना, सूखा धनियाँ, अदरख, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, मेथी, लौंग, अरंडी का तैल, सोया, अजवायन, लहसुन, हींग, मुनक्का, किसमिस, अंगूर, आंवला, कच्चा नारियल, मीठे आम, अनार, बादाम, पिस्ते, अखरोट, काजू, चिलगोजे, खुरमानी, चिरौंजी, जीरा, काला जीरा, ताम्बूल, तैल मर्दन, निवाये जल से स्नान, आमोद-क्रीड़ा, गाना, बजाना आदि आहार-विहार पथ्य हैं; और ये ही (आहार-विहार) वातप्रकोप होने पर शमन करने के लिये भी हितावह हैं।

पित्त प्राधान्य प्रकृति के लिये पथ्य—मधुर, कड़वा और

कसैला रस, शीतल जल से स्नान, शीतल जलपान, शीतल वायु सेवन, ग्रीष्म ऋतु में रात्रि को चाँदनी में बैठना, मोती या पुष्प की माला धारण करना; शय्या पर कमल, गुलाब, मोतिया, मल्लिका, चमेली आदि के पुष्प डालना; चन्दन का लेप, खस के पंखे की वायु, गेहूँ, जौ, भात, चने, मूँग, मसूर, मिश्री, शक्कर, जौ का सत्तू, चने का सत्तू, घी, दूध; सैंधानमक, परवल, करेले, काशीफल, गूलर, आलू, गोभी, चौलाई, पोई, पालक, बथुआ, चौपतिया, अगस्त्य के फूल, कच्ची ककड़ी, जीरा, धनिया, कोकम, आँवला, नीबू, पक्का कैथ, अंगूर, मुनक्का, किसमिस, सेब, अंजीर, फालसा, पक्के केले, संतरा (नारंगी), मीठा नीबू, सिंघाड़े, कमलगट्टे, खीरे का बीज, खिरनी, नारियल का जल, खजूर, ताड़फल, सब प्रकार के शीतल फल-फूलादि, जलाशय में स्नान, प्रातः-सायं घूमना, गाड़ी-घोड़ा की सवारी करना इत्यादि आहार-विहार पथ्य हैं और पित्तप्रकोप होने पर शमनार्थ भी उपयोगी हैं।

कफप्राधान्य प्रकृति के लिये पथ्य—कड़वा, चरपरा और कसैला रस, क्षार, परिश्रम, व्यायाम, मार्गगमन, कुश्ती, हाथी-घोड़े पर सवारी, समुद्र तट की वायु, रात्रि का जागरण, जल-क्रीड़ा, सूर्य के ताप का सेवन, अग्नि सेवन, पुराने चावल, चना, मूँग, कुलथी, जौ का सत्तू, चने का सत्तू, जुवार, बाजरा, सरसों का तैल, शुष्क भोजन, तेज नमक, हल्दी, लालमिर्च, पोदीना, गरम मसाला, बैंगन, मटर, ककोड़ा, करेला, चौलाई, लोणिका (अम्लोनिया), अदरख, सोंठ, सूखा धनिया, करीर, पीलू, वायविडंग, सुपारी, जायफल, जावित्री, कंकोल, लौंग, कपूर, जीरा, काला जीरा, काली मिर्च, पीपल, शहद, लहशुन, प्याज, राई, मेथी, केले का फूल, अगस्त्य के फूल, कच्चे बेलफल, कंदूरी, सुहिंजना, ताम्बूल, मूली और गरम जलादि आहार-विहार पथ्य हैं; तथा कफ के प्रकोप होने पर उसके दूर करने में भी सहायक होते हैं।

वातप्रकोपक आहार-विहार—बलवान् से लड़ना, अति व्यायाम, अति मैथुन, अति अध्ययन, अग्नि और सूर्य के ताप का

अधिक सेवन, उछलना, कूदना, अति दौड़ना, देह को अति कष्ट पहुँचाना, जख्म होना, चोट लगना, लंघन, अत्यन्त तैरना, रात्रि को जागरण, अति बोझा उठाना; हाथी, घोड़ा, रथ पर या पैदल अति प्रवास करना; अति वमन, अति विरेचन, अधिक रुधिर निकालना; चरपरे, कसेले और कड़वे रस वाले पदार्थ ज्यादा खाना; शुष्क, लघु और शीत वीर्य गुणवाले पदार्थ का अति सेवन; शुष्क शाक, सूखा मांस; चीना, कोदों और शामकादि कुधान्य; मूँग, मसूर, अरहर, काला मटर, सफेद मटर, निष्पाव (शेम), लाख, चौला, चना, बाजरा, ज्वार, मोठ, उपवास, स्वल्प भोजन, विरुद्ध भोजन (जैसे दूध और मूली एक साथ खाना), अध्यशन (भोजन पर भोजन); अधोवायु, मूत्र, मल, शुक्र, वमन, छींक, डकार और अश्रुपातादि वेगों को रोकना; ताड़फल, कच्चा कटहल, गँवारफली इत्यादि के सेवन से वायु प्रकुपित होता है।

इसी प्रकार भैंस का दूध, मकई, मैदा, उड़द के आटे का पदार्थ, कुलथी, कन्दूरी, आलू, रतालू, शकरकन्द, फूलगोभी, पानगोभी, तोरई, लौकी, ककड़ी, तरबूज, मूँगफली, केला, अमरूद, सीताफल, रामफल, ये सब वात वृद्धिकर पदार्थ हैं।

शीत काल में बदल आने पर, वर्षा होने पर और ग्रीष्म ऋतु के अन्त में वायु विशेषतः कुपित होता है। एवं सूर्योदय से पहले और सायंकाल से पहले भी वात का प्रकोप हो जाता है।

पित्तप्रकोपक आहार-विहार—क्रोध, शोक, भय, परिश्रम, उपवास, जले हुए पदार्थ खाना, अधिक मैथुन, दौड़ना, अधिक घोड़े की सवारी; चरपरे, खट्टे, नमकीन, तीक्ष्ण, उष्ण, लघु और विदाही गुण वाले पदार्थ; तिल तैल, खली, उड़द, कुलथी, सरसों, अलसी, ताजे शाक, गोह, मछली, बकरे और भेड़ का मांस; खट्टे दही, खट्टा मट्ठा, कूर्चिका (दही या छाछ के साथ औटाये हुये दूध को मिलाना), मस्तु (दही का जल), काँजी, सिरका, ताड़ी का रस (बासी), शराब, खट्टे फल, दही की मलाई, सूर्य का ताप, सरसों का तैल, तैल में तले हुये पदार्थ, नया गुड़, हींग, मेथी, कच्ची इमली, ताजी मूँगफली, शरद्

ऋतु का नया अन्न; सेम, चाय, काफी, तम्बाखू, गाँजा, चरस, ज्यादा नमक, कच्चा फालसा, पुराना तरबूज, पुराना नारियल आदि आहार-विहार के सेवन से पित्त प्रकुपित होता है।

इसी प्रकार उष्ण पदार्थ से तथा उष्ण ऋतु, शरद् ऋतु, मध्याह्नकाल, अर्धरात्रि और भोजन पचने के समय बहुधा पित्त प्रकोप होता है। क्षुधा-तृषा के वेग को रोकने से भी पित्त प्रकुपित हो जाता है।

कफ प्रकोपक आहार-विहार—दिन में सोना, शारीरिक श्रम न करना, बैठे रहना, आलस्य करना, मधुर, खट्टे, नमकीन, शीतल, स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल (चिकने रेसादार), अभिष्यन्दी (रसवहा-नाड़ियों के मार्गों को रोकने वाले दही आदि), शालि चावल, जौ, उड़द, नया चावल, जंगली धान्य, उड़द, वड़े उड़द, गेहूँ, तिल, मैदे के पदार्थ, खोवे के पदार्थ; दही, ज्यादा दूध, खिचड़ी, खीर, ईख के पदार्थ; अनूप देश के पशु और जलचरों का मांस, चरवी, कमल की नाल, कसेरू, सिंघाड़े; बादाम, पिस्तादि मधुरफल; जामुन, पक्के केले, खट्टे आम, खट्टे वेर, करौंदा, वल्लीफल (वेलों में होने वाले फल), अधिक भोजन, भोजन पर भोजन, तुरन्त की व्यायी हुई गौ और भैंस का दूध; चन्दनादि शीतल लेप, शीतल जल से स्नान और नारियल का जल इत्यादि आहार-विहार से कफ प्रकुपित होता है।

इसी प्रकार बहुधा शीतल पदार्थ का सेवन, शीत समय, वसन्त ऋतु, सूर्योदय, सन्ध्या समय और भोजन के प्रारम्भ में कफ कुपित होता है।

रक्त प्रकोपक आहार-विहार—जिन आहार-विहारों से पित्त प्रकोप होता है उन पतले, स्निग्ध और गुरु पदार्थों का बारबार भोजन; दिन में शयन, क्रोध, अग्नि सेवन, जलना, सूर्य के ताप में परिश्रम करना, चोट लगना, अजीर्ण, विरुद्ध भोजन और अध्यशनादि कारणों से रक्त प्रकोप होता है। चाय, कॉफी, सिगरेट, बीड़ी, गाँजा, चरस, मादक पदार्थ और मद्यादि भी रक्त को कुपित करते हैं।

शीत वीर्य पदार्थ—घी, दूध, शक्कर, गेहूँ, चावल, साबूदाना, मूँग का यूष, चँदलोई की भाजी, परवल, पालक, गिलोय के पत्ते,

लौकी, कमलकंद (भसींडा), टिंडे, तोरई, पेठा, सेमल के फूल, पोई, धनिया, जीरा, हल्दी, कत्था, मीठे नीम के पत्ते, चिरमी के पत्ते; संतरा, मीठा नीबू, अनार, अंगूर, पक्के आम, केला, आँवले, तरबूज़, फालसा, ककड़ी, सिंघाड़े, इलायची, सौंफ और गुलकन्दादि पदार्थ शीतल हैं।

उष्ण वीर्य पदार्थ—तिल तैल (कुछ उष्ण), सरसों का तैल, गुड़, बाजरी, अरहर, मसूर, मेथी, गाजर, सरसों की पत्ती, पुनर्नवा की पत्ती, मूली, बैंगन, करेला, जिमीकन्द, सुहिंजने की फली, लहसुन, प्याज, पोदीना, अजवायन की पत्ती, हल्दी, पपीता, अंजीर, खजूर, छुहारा, काजू, राई, हींग, मिर्च, दालचीनी, लौंग, सोंठ, अजवायन, सोवा, चूना, नागरबेल का पान, कपूर, जायफल, जावित्री आदि पदार्थ उष्ण हैं।

मलशुद्धिकर पदार्थ—दूध, घी, तिल तैल, गुड़, गेहूँ और जौ का मोटा आटा, मूँग, मोठ, मटर, उड़द और सेम आदि का यूष; चौलाई, पालक, बथुवा, अदरख, पपीता, अंजीर, आँवला, मुनक्का, टमाटर और नमक आदि पदार्थ शौच शुद्धि में सहायक हैं।

मूत्रल—जौ, मूँग, उड़द, या कुलथी का यूष; ईख का रस, दूध, दूध की लस्सी, चँदलोई, बथुवा, पालक, कच्चे नारियल का जल, ककड़ी, लौकी, चावल (मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल न हो, तो), ये सब मूत्र को बढ़ाने वाले आहार हैं।

वातादि प्रकोप के लक्षण—वात प्रकोप से विमार्ग में गमन, शुष्कता, कम्प, हड़फूटन, मल-मूत्रावरोध और आफरा आदि होते हैं। पित्त-प्रकोप से मस्तिष्क में उष्णता, चक्कर, बेचैनी, मूर्च्छा, तृषा, दाह, पीला पतला दस्त, पीला मूत्र और कंठ में से धुँवा निकलना आदि लक्षण दिखाई देते हैं; और कफ के प्रकोप से निद्रा वृद्धि, मुँह में मीठापन, आलस्य, अरुचि, अपचन, अङ्गों में शिथिलता और वमनादि होते हैं। ये वातादि धातु कुपित हो कर स्रोतों द्वारा जिस ओर गमन करते हैं और जहाँ स्रोत में अटकाव होता है, वहीं पर व्याधियों की

उत्पत्ति करते हैं।* जैसे कि वायु कोष्ठस्थान में प्रवेश करता है और वह अन्य धातुओं की सहायता या विरोध के हेतु से अपनी अनुकूलता के अनुसार, गुल्म, विद्रधि, उदर रोग, मंदाग्नि, आफ़रा, विसूचिका या अतिसारादि रोगों की उत्पत्ति करता है।

हेमन्त ऋतु में पथ्य—वातावरण में शीतलता हो जाने से जठराग्नि प्रदीप्त होने लगती है, इसलिये हेमन्त में पौष्टिक भोजन हितावह होता है। स्निग्ध, अम्ल, लवण रसयुक्त भोजन; जलचर और अनूप देश के पथ्य पशुओं का मांस; मद्य, दूध, दही, मक्खन, गोघृत, ईख का रस, गुड़, शक्कर, वसा, तैल, नया अन्न, गरम जल; तैल मर्दन, स्वेद, सूर्य का ताप, शीतल न हो ऐसे घरों के भीतर निवास, गुहा में रहना; हाथी-घोड़े पर सवारी करना; सोने, बैठने, पहनने, ओढ़ने आदि में कम्बल, बाघम्बर, रेशमी वस्त्र, रुई भरी हुई रजाई आदि का उपयोग; मैथुन, गेहूँ, उड़द, चावल, अरहर की दाल, मूँग की दाल, मिठाई, पौष्टिक पाक, बादाम, पिस्ता, अखरोट, काजू, चिरौंजी आदि का सेवन लाभदायक है। कफ की अधिकता होने पर हेमन्त ऋतु में शिरोविरेचन, वमन और गरम जल का सेवन करना पथ्य है।

हेमन्त ऋतु में अपथ्य—लघु भोजन, वातवर्धक भोजन, प्रबल वायु का सेवन, अति अल्प भोजन, लंघन, सत्तू का मन्थ, अधिक शक्कर वाला पदार्थ और दिन में शयनादि हेमन्त ऋतु में अपथ्य हैं।

शिशिर ऋतु में पथ्य—शिशिर ऋतु में वर्षा (मावट) के दिनों को छोड़ शेष समय में प्रायः हेमन्त ऋतु के समान ही पथ्य पालन किया जाता है। हेमन्त ऋतु की अपेक्षा वातावरण अधिक शीतल हो जाने से रूक्षता अधिक हो जाती है।

शिशिर ऋतु में अपथ्य—चरपरे, कसैले और कड़वे रसयुक्त भोजन; शीतल, लघु और वातवर्धक अन्नपान, रात्रि को सिर पर शीतल वायु लगना, रात्रि में स्नान, रात्रि को सोने के समय शीतल जल से पैर

---

* "प्रकुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्।
यत्र सङ्गः स्ववैगुण्याद्व्याधिस्तत्रोपजायते॥"

धोना, दिन में सोना और रात्रि में बड़ी देर तक जागरण करना आदि अपथ्य हैं।

वसन्त ऋतु में पथ्य—शिशिर ऋतु का देह में संचित हुआ कफ वसन्त में सूर्य की किरणों से पिघलकर जठराग्नि को प्रतिबन्ध करता है। इसलिये वसन्त ऋतु में कफ प्रकोपक आहार-विहार का त्याग करना ही पथ्य है। इसी प्रकार वमन, लघु भोजन, कफ शामक पदार्थ; गेहूँ, जौ, मूंग, अरहर, मसूर, ज्वार, बाजरा, सेम; खरगोश, हिरण, लावा और तीतरादि पशु-पक्षियों के मांस; अदरख, लहसुन, मेथी, हींग, गरम मसाला, सैंधानमक, क्षार, हल्दी; शास्त्रोक्त विधि से धूम्रपान, व्यायाम, मार्गगमन, तैलाभ्यंग, निवाये जल से स्नान, चन्दन, अगरादि का लेप; बाग़ और वन में रहना और शहद आदि हितकर आहार-विहार का सेवन करना भी पथ्य है।

वसन्त ऋतु में अपथ्य—गुरु, अम्ल, स्निग्ध और मधुर पदार्थों का अति सेवन; दिन में शयन, उड़द, भैंस का दूध, दही और खोवा; शीतल वायु, नया गुड़, बासी भोजन और अन्य सम्पूर्ण कफ-प्रकोपक आहार-विहार, ये वसन्त ऋतु में अपथ्य हैं; अतः इनका त्याग करना चाहिये।

ग्रीष्म ऋतु में पथ्य—इस ऋतु में सूर्य के प्रचण्ड ताप के हेतु से वातावरण में शुष्कता आती है। अतः शरीर के भीतर वातदोष का संचय (अपने स्थान में वृद्धि) होने लगता है। इसलिये शुष्क और उष्ण पदार्थ का सेवन नहीं करना चाहिये। मधुर, शीतल, प्रवाही, स्निग्ध पदार्थ, शर्बत, मिश्री, शक्कर, मन्थ (सत्तू, मिश्री, घी मिलाकर शीतल जल में किया हुआ घोल), जांगल मृगादि पशुओं का मांस; दूध, शालि चावल, गेहूँ, मूँग की पतली दाल, प्याज, आलू, पक्के मीठे आम, धनिया, जीरा, दूध की लस्सी, इमली या आम का पना, सैंधा-नमक, नीबू, पक्की इमली, थोड़ा मीठा दही, आँवला, कोकम, अनार, सन्तरा, मीठा नीबू, अंजीर, अंगूर; चन्दन का लेप, शीतल स्थान में रहना, दिन में थोड़ा शयन, रात्रि को गच्ची पर या शीतल स्थान पर

शयन, ताड़ या खस के पंखे की वायु, मोतियों की माला, पुष्पों की माला, वन-बाग़ में रहना इत्यादि पथ्य हैं।

ग्रीष्म ऋतु में अपथ्य—तेज नमक, तेज खटाई, चरपरे पदार्थ, लालमिर्च, रात्रि को सत्तू खाना, तैल, सरसों, गुड़, खट्टे दही, सूर्य के ताप में भ्रमण, मैथुन, धूम्रपान, मद्य का सेवन और व्यायामादि ग्रीष्म ऋतु में अपथ्य हैं।

वर्षा ऋतु में पथ्य—वर्षा ऋतु में वायु प्रकुपित होने से जठराग्नि मन्द हो जाती है; अतः गुरु, विष्टम्भी और वात प्रकोपक आहार का त्याग कर देना चाहिये। अन्नपान के साथ थोड़े प्रमाण में शहद का सेवन हितकारक है। खट्टे मीठे फल, नमक, घृत, तैल, जौ, गेहूँ, पुराना शालि चावल, जंगल के जीवों का मांसरस, मूँग का यूप, कुलथी का यूप, गरम करके शीतल किया हुआ जलपान, तैल मर्दन, स्नान, पुष्पादि माला धारण, पतले स्वच्छ वस्त्र, उपवास, व्रत पालन और लघु भोजनादि हितकर हैं।

वर्षा ऋतु में अपथ्य—सत्तू का मन्थ, दिन में शयन, नदी का जल, गँदला पानी, व्यायाम, सूर्य के ताप का सेवन, मैथुन, पक्के बेल, अति खट्टे पदार्थ, पूर्व दिशा की वायु, अधिक परिश्रम, वर्षा में भीगना, मल-मूत्रावरोध, गीले वस्त्र, खट्टे दही, मोंठ, मसूर, ज्वार, मटर, चना, नया चावल, आलू, सकरकन्द, सिंघाड़े, पक्का भोजन, मिठाई इत्यादि वर्षा ऋतु में अपथ्य हैं।

शरद् ऋतु में पथ्य—शरद् ऋतु में स्वाभाविक पित्त प्रकोप होता है, इसलिए पित्त प्रकोपक, गरम, विदाही भोजन का त्याग कर देना चाहिये। मधुर, शीतल और कड़वे रसयुक्त भोजन का सेवन, लघु भोजन, कसैले रस का सेवन; लावा, तीतर, मृग, खरगोश, शरभादि पशु-पक्षियों का मांस; पुराना शालि चावल, जौ, गेहूँ, कड़वी औषधियों से सिद्ध किया हुआ घी, विरेचन, रक्त मोक्षण, हंसोदक (दिन में सूर्य के ताप में तपा हुआ और रात्रि को चन्द्रमा की चाँदनी में शीतल हुआ जल), शरद् ऋतु में उत्पन्न होने वाले पुष्पों की माला, पवित्र वस्त्र,

रात्रि के पहले प्रहर में चाँदनी में बैठना; दूध, मूँग, केला, सिंघाड़ा, मुनक्का, मीठे अनार, कमलगट्टा, चौलाई, गोभी, धनिया, जीरा और पित्तशामक पदार्थादि हितकारक हैं।

शरद् ऋतु में अपथ्य—सूर्य के ताप का सेवन, नया अन्न, वसा, तैल, पिछली रात्रि को ओस में सोना, जलचर और अनूप देश के पशुओं का मांस; क्षार, दही, दिन में शयन, पूर्व दिशा की वायु; राई, सरसों, गुड़, लाल मिर्च, करेला, धूमपान, पक्का भोजन, गुरु अन्न, वासी भोजन, खट्टे पदार्थ, गरम चाय, कॉफी इत्यादि शरद् ऋतु में हानिकारक हैं।

ऋतु दोष से संरक्षणार्थ—शिशिर ऋतु के अन्त में या वसन्त ऋतु का प्रारम्भ होते ही वमनादि द्वारा संचित कफ को दूर करें। ग्रीष्म ऋतु के अन्त में वर्षा ऋतु प्रारम्भ के पहले ही वस्ति आदि द्वारा वात को शान्त करें। एवं शरद् ऋतु का प्रारम्भ होते ही सिद्ध घृत और पित्त विरेचकादि औषधियों द्वारा पित्त को दूर करें। इस रीति से वातादि दोषों को कुपित होने के पहले ही प्रतिकार करने का प्रयत्न करना चाहिये।

हिताहितीय विचारणा।

इस अनादि त्रिगुणात्मिका प्रकृति में वात, पित्त और कफ, ये तीनों दोष मिश्रित रहते हैं। अतः इनसे उत्पन्न हुये संसार के सम्पूर्ण सेन्द्रिय और निरेन्द्रिय पदार्थों में ये तीनों दोष न्यूनाधिक प्रमाण में मिले हुये ही रहते हैं। त्रिभुवन में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसमें केवल एक अथवा दो दोष ही होते हों। सारांश यह है कि सब पदार्थों में वात, पित्त और कफ न्यूनाधिक अंश में मिश्रित होने से ही सृष्टि में विविधता दृष्टिगोचर होती है। फलतः मनुष्य शरीर में वात, पित्त तथा कफ, ये तीनों सम्मिलित रहते हैं। इन वातादि धातुओं का मिश्रण पृथक्-पृथक् देह में पृथक्-पृथक् रूप से होने से और विविध आहार-विहार के हेतु से, प्रकृति में रूपान्तर हो जाने से एक ही वस्तु एक के लिये लाभदायक और दूसरे के लिये हानिकर होती है। जैसे कि केला मधुर और शुक्रवर्धक है; परन्तु मन्दाग्नि वालों के लिये दुर्जर और कफ-

कारक होने से हानिकर है और तीक्ष्णाग्नि वाले के लिये लाभदायक है। दूध मधुर और पौष्टिक है, परन्तु नये पित्त ज्वर के रोगी के लिये विष रूप है। कुएँ का ताजा जल सामान्य रीति से सबके लिये हितावह माना जाता है; किन्तु वही नूतन ज्वर वालों को हानि पहुँचाता है। इस तरह प्रकृति भेद से या रोग के हेतु से सब औषधियाँ नाना प्रकार के गुण-दोषों को उत्पन्न करती हैं।

भगवान् धन्वन्तरि के मतानुसार स्वस्थ मनुष्यों के लिये समस्त द्रव्य स्वभाव से अथवा संयोग से सर्वदा हितकर, अहितकर या हिताहितकर होते हैं। जल, दूध, घृत, भात, गेहूँ, मूंग आदि मनुष्यमात्र के लिये हितकारी होते हैं, किन्तु वे ही अनेक रोगों में हानिकर हो जाते हैं। जलाने के लिये प्रवृत्त हुआ अग्नि, फफोला उठाने में प्रवृत्त क्षार, तथा मारने में प्रवृत्त हुआ विष सर्वदा अहितकर है; किन्तु ये ही अवस्था विशेष में लाभदायक होते हैं। कतिपय हितकर पदार्थ भी संयोग से विष के तुल्य हो जाते हैं। इस तरह कई पदार्थ प्रकृति भेद से एक को पथ्य और दूसरे को अपथ्य हो जाते हैं। अतः प्रकृति, ऋतु, स्वभाव और संयोग का विचार कर द्रव्य का उपयोग करना चाहिये।

हितवर्ग—रक्तशालि, सब प्रकार के चावल, नीवार, कोदों, कूट्टू, शामक, गेहूँ, जौ, चना, मूंग, मोंठ, मसूर, अरहर, मटरादि धान्य विशेष; हिरण, कबूतर, लावा, तीतर, बतख, कुक्कुटादि का मांस; वथुआ, जीवन्ती, चौलाई, पालक, सोवा, चौपतिया, तोरई, परवलादि शाक; गोघृत, शहद, सैंधानमक; अनार, आंवले आदि के फल; ब्रह्मचर्य, निर्वात स्थान में शयन, निवाये जल से स्नान, रात्रि में निद्रा और व्यायामादि आहार-विहार स्वस्थावस्था में सबके लिये हितकर होते हैं।

स्वभाव से अहिततम पदार्थ—वर्षा ऋतु में नदी का जल, सड़ा मांस, रोगी पशु का मांस, विष से मरे हुए पशुओं का मांस, भेड़ का दूध, कसूम का तैल, कटहल के पक्के फल, पक्की मोटी मूली, वासी उतरे हुए शाक और फल-फूल; गुड़ की राव, गोमांस, कपोत मांस, वासी भोजन, ये सब बहुधा स्वस्थ प्रकृति को भी हानि पहुँचाते हैं।

दुग्ध विरोधी पदार्थ—वल्लीफल (तोरई आदि), छत्राक, करीर, आँवले के अतिरिक्त नीबू आदि खट्टे फल, नमक, कुलथी, पिरयाक (तिलकुट्टी), दही, तैल, मछली, पिट्ठी, सूखे साग; गोह, सुअर, वकरी और भेड़ का मांस; शराव, जामुन, मूली, इनमें से किसी के साथ दूध का मेल नहीं है। इन पदार्थों में से किसी एक के साथ खाया हुआ दूध हानिकर हो जाता है।

दुग्ध के मित्र—मिश्री, शहद, घी, मक्खन, अदरख, पीपल, मुनक्का, सोंठ, कालीमिर्च, अदरख, हरड़ और सैंधानमक, ये सब दूध के मित्र हैं। अम्लपदार्थ में आँवला, मधुर पदार्थों में मिश्री, शाक वर्ग में परवल, चरपरे पदार्थों में अदरख, कसैले पदार्थों में जौ और नमक में सैंधानमक का उपयोग दूध के साथ किया जाता है।

दही विरोधी पदार्थ—कोई भी प्रकार के गरम पदार्थ, कोमल कटहल, दूध, तैल, केला, आसव-अरिष्ट, मृग-मांस, ताड़फल, ये सब दही के विरोधी हैं। दही के साथ इनका संयोग होने पर विकार होता है। इस तरह रात्रि को दही नहीं खाना चाहिये। शरद् ऋतु और ग्रीष्म ऋतु में दही से पित्त-प्रकोप होता है; तथा रक्तविकार, पित्त-प्रकोप और कफज व्याधिवालों को भी दही हानिकर होता है।

तक्र विरोधी पदार्थ—घृत, केले, भात के खील, दूध, सत्तू, इन सबके साथ मट्ठे का विरोध है। इस तरह क्षय, क्षीण मनुष्य, मूर्च्छा, भ्रम, दाह और रक्तपित्त विकार वालों को मट्ठा नहीं खाना चाहिये।

शहद विरोधी पदार्थ—शहद के साथ उष्ण पदार्थ या गरम जल नहीं मिलाना चाहिये। शहद और घी समभाग नहीं मिलाना चाहिये। इस तरह शहद, घी, वसा और जल, इनमें से दो, तीन या चारों का समभाग संयोग कराना हानिकर है। शहद को गर्म करने का भी शास्त्रकारों ने निषेध किया है। शहद के साथ सुअर के मांस और मूली का भी विरोध है।

अफीम विरोधी पदार्थ—हींग, तैल या तैल में बने हुए पदार्थ।

कटहल विरोधी पदार्थ—कटहल खाने पर नागरबेल का

पान नहीं खाना चाहिये। दूध, दही, उड़द की दाल, शहद और घी के साथ कटहल का विरोध है। कटहल पचन हो जाने के पहले या पीछे दूध का सेवन करने से परिणाम में हानि होती है।

खिचड़ी विरोधी पदार्थ—दूध और खीर।

गुड़ विरोधी पदार्थ—मकोय, मछली, सूअर का मांस, दूध।

मांस विरोधी पदार्थ—विरुद्ध धान्य (जल में भिगा कर अंकुर निकले मूँगादि अन्न), चरबी, शहद, दूध, गुड़ और उड़द।

कुलथी विरोधी पदार्थ—बगुले का मांस और मद्य।

मकोय विरोधी पदार्थ—पीपल और मिर्च।

नाड़ीशाक विरोधी पदार्थ—मुर्गे का मांस और दही।

पित्त विरोधी पदार्थ—मांस।

खीर विरोधी पदार्थ—शराब और कृशरा (तिल चावल की खिचड़ी)।

मछली विरोधी पदार्थ—ईख, गुड़, शक्कर और गुड़ वाले पदार्थ। इस तरह आम, जामुन, भेड़मांस, सुअरमांस और गोमांस का भी विरोध है। मछली का सबसे अधिक विरोध दूध के साथ है।

केला विरोधी पदार्थ—तालफल, दूध, दही और मट्ठा।

परस्पर विरोधी पदार्थ—जलवासी प्राणियों का मांस, उड़द, शहद, दूध, अंकुर निकले मूँगादि धान्य, मूली, गुड़, ये प्रत्येक पदार्थ एक दूसरों के विरोधी हैं। इस तरह अनेक प्रकार के मांस को एक साथ पकाने से विप सम घातक हो जाते हैं।

ऐसे ही कतिपय विपरीत पदार्थ रोग, देश, काल या प्रकृति भेद से हितकर हो जाते हैं। जैसे अग्नितप्त शहद को विप समान माना है। फिर भी अनन्तवात (मस्तिष्कगत वातरोग) में अग्नि पर पकाये हुए शहद के मालपुए खिलाने से रोग की निवृत्ति हो जाती है।

कर्मविरुद्ध पदार्थ—कबूतर के मांस को सरसों के तैल में नहीं भूनना चाहिये।

चातक, मोर, लावा, तीतर, गोह, इनको एरण्ड तैल में न पकावे;

एवं एरण्ड की लकड़ी से भी न पकावे।

काँसी के वर्त्तन में १० दिन तक घी रहने से विपसम हो जाता है।

शहद गरम पदार्थों के साथ या उष्णऋतु में न खायँ।

मछली या अदरख जिस पात्र में पकाया हो, उसमें मकोय को न पकावे।

तिल के कल्क के साथ पकाया हुआ पोई का शाक न खायँ।

सुअर की चरवी में भूना हुआ वगुले का मांस, नारियल की गिरी-खोपरे के साथ न खायँ।

छोटे गिद्ध को लोह-शलाका से अग्नि पर भून कर न खायँ।

मानविरुद्ध पदार्थ—शहद और जल या शहद और घी समभाग मिलाकर सेवन न करें। दो प्रकार के स्नेहों (घी, तैल, चरवी या मज्जा) को, स्नेह और शहद को या जल और स्नेह को समभाग मिलाकर सेवन न करें।

षड्रस गुण-दोष विचार।

संसार की समस्त औषधियों में रहनेवाले रस ६ प्रकार के हैं। मधुर, अम्ल, तिक्त (कड़वा), लवण, कटु (चरपरा) और कषाय। अनेक पदार्थों में ये सव रस न्यूनाधिक मात्रा में सम्मिलित रहते हैं। इनमें से जो रस विशेष परिमाण में हो; उसका निर्देश किया जाता है। इन रसों में वहुधा निम्नानुसार गुणों की प्रधानता रहती है।

(१) मधुर रस—मधुर रस जल प्राधान्य, वात-पित्त नाशक, कफवर्धक, शीतल और पौष्टिक है। इसके अति सेवन से ज्वर, श्वास, गलगण्ड, कृमि, मेदवृद्धि, अग्निमान्द्य, कफवृद्धि, स्थूलता और मधुमेहादि रोगों की उत्पत्ति होती है।

(२) अम्ल रस—खट्टे रस में पृथ्वी और अग्नितत्व की प्रधानता रहती है और यह वातघ्न, पित्त-कफवर्धक, उष्ण और पाचक है। इसके अतियोग से भ्रम, तृषा, दाह, ज्वर, पाण्डुता, कण्डू, विसर्प, शोथ, तिमिर, विस्फोटक, रक्तविकार और कुष्टादि रोग उत्पन्न होते हैं।

(३) तिक्त रस—तिक्त (कड़वे) रस में वायु और आकाश-

तत्व की प्रधानता होती है और यह वातवर्धक, पित्तकफनाशक, शीतल और अग्नि प्रदीपक है। इसके अति सेवन से मस्तकशूल, कण्ठावरोध, श्रम, पीड़ा, कफ प्रकोप, मूर्च्छा, तृषा, शुक्रनाश और बलक्षय होते हैं।

(४) लवण रस—नमकीन रस में जल और अग्नितत्व विशेष होता है। यह रस वातनाशक कफ-पित्तवर्धक, नेत्र को हानिप्रद, पाचक, दाहक और उष्ण है। इसके अति सेवन से नेत्रव्यथा, रक्तपित्त, रक्त-विकार, क्षतपीड़ा, वलीपलित की प्राप्ति, सिर पर से बाल झड़ते रहना; कुष्ठ, विसर्प, वृक्क दाह-शोथ, कण्डू और तृषावृद्धि आदि विकारों की प्राप्ति हो जाती है।

(५) कटु रस—कटु (चरपरे) रस में वायु और अग्नि की भूयिष्ठता होने से यह वातवर्धक, पित्तवर्धक, कफघ्न, उष्ण, तीक्ष्ण और लघु है। इसके अति सेवन से भ्रान्ति, दाह, क्रोध, मुखशोष, कण्ठशोथ, ओष्ठ की शुष्कता, त्वचा की निस्तेजता और श्यामता, मूर्च्छा, तृषावृद्धि, कफक्षय, वातप्रकोप, मूत्रदाह, शुक्र का पतलापन और बलह्रासादि विकारों की उत्पत्ति हो जाती है।

(६) कषाय रस—कसैले रस में वायु और पृथ्वीतत्व के अंश मुख्य हैं। यह रस कफ-पित्तहर, वातवर्धक, हृदयको हानिप्रद और ग्राही है। यदि इस रस का अतियोग होगा; तो आध्मान, हृदय में वेदना और आक्षेपक वातादि विकार उत्पन्न होते हैं।

इन रसों के सम्यक् योग और अतियोग से ऊपर लिखे अनुसार गुण-दोषों की प्राप्ति होती है। इसलिये जिस गुण की आवश्यकता हो, उसके अनुरूप रसयुक्त पदार्थों का सेवन करना और जिस रस के अति सेवन से रोगोत्पत्ति हुई हो; उसका परित्याग करना तथा उसके विरोधी रस का उपयोग करना चाहिये।

परस्पर रस विरोध—(१) मधुर और अम्ल रस; ये दोनों वीर्य विरुद्ध स्वभाव वाले हैं।

(२) मधुर और लवण रस; मधुर और कटु रस, ये परस्पर विरोधी हैं।

(३) मधुर और तिक्तरस, इन दोनों के रस और विपाक विरुद्ध हैं।

(४) मधुर और कषाय तथा अम्ल और कटु रस, ये सब रस और विपाक में विरुद्ध हैं।

(५) अम्ल और तिक्त तथा अम्ल और कषाय रस, ये सब रस, वीर्य और विपाक में विरोधी हैं।

(६) लवण और कटु रस तथा लवण और कषाय रस, ये सब रस, वीर्य और विपाक में विरोधी हैं।

(७) कटु और तिक्त रस, ये दोनों रस और वीर्य में परस्पर प्रतिकूल हैं।

(८) कटु और कषाय रस तथा तिक्त और कषाय रस, इनके रस में विरोध है।

अतः इनमें से जो रस, वीर्य, विपाक, तीनों में जो विरोधी हों; उन रसों का सेवन एक साथ नहीं करना चाहिये।

इसी प्रकार अति शुष्क, अति स्निग्ध, अति उष्ण, अति शीतल, अति गुरु और अति अभिष्यंदी, इनका भी परित्याग करना चाहिये।

जो मनुष्य तरुण और बलवान् हो, व्यायाम करने वाला हो, उसको विरुद्ध भोजन भी विशेष बाधा नहीं पहुँचा सकता। विरुद्ध पदार्थ की मात्रा थोड़ी होने पर भी वह सामान्य जनों को दुःख नहीं दे सकती। फिर भी कदाचित् किसी विरुद्ध पदार्थ के खाने से कोई विकार हो जाय, तो वमन, विरेचन या शमन पदार्थ का सेवन कर प्रकृति को स्वस्थ बना लेनी चाहिये। सारांश यह है कि विकार होने से पहले ही हितकारक एवं दोषशामक पदार्थ का सेवन कर लेना चाहिये।

विरुद्ध संयोग वाले या स्वाभाविक एवं प्रकृति विरुद्ध पदार्थों के दोषों से बचने के लिये दोषशामक औषधियों के ज्ञान की परम आवश्यकता है। इसलिये कि प्रत्येक मनुष्य भोजन के समय सावधानता रख सके और भूल हो जाने पर बहुत जल्दी दोष को दूर कर सके, जैसे केला दुर्जर है किन्तु वही घी, मिश्री और इलायची को सम्मिलित करके उपयोग में लिया जाता है तो उसकी दुर्जरता दूर हो जाती है और केले

का अजीर्ण भी इलायची के सेवन से शीघ्र ही मिट जाता है। जैसे घी, मिश्री और इलायची केले की दोषशामक औषधि हैं; वैसे ही अखरोट के अजीर्ण को अनारदाना दूर करता है।

इन सबके ज्ञान की आवश्यकता रहती है। अतः कई एक पदार्थों की एक से अधिक दोषनाशक औषधियाँ लिखी हैं। इनमें से जो अधिक अनुकूल हो उसको उपयोग में लेना चाहिये। निम्न उदाहरण के अतिरिक्त मिठाई या फलादि में से जिससे अजीर्ण हुआ हो, उसको जला, राख कर, शहद के साथ सेवन कराने से भी अजीर्ण की निवृत्ति हो जाती है।

यहाँ उदाहरणार्थ कुछ दोषशामक औषधियाँ लिखते हैं। इसी विधि से चिकित्सक अन्यान्य दोषशामक औषधियों की योजना भी देश-कालानुसार कर सकते हैं।

कारण रूप औ०	दोषशामक औ०
अखरोट	अनारदाने
अगर	कपूर, गुलाव का फूल
अदरख	कपूर, शहद
अन्ननास	सौंफ, मिश्री
अफीम	केशर, दालचीनी, हींग
अम्लवेत	लौंग, कालीमिर्च
अलसी	धनिया, सिकंजवीन
अरंड ककड़ी (पपीता)	शकर
असगन्ध	कतिला गोंद
आक	घृत
आम	सोंठ, नमक, सिकंजवीन
आम पक्के	दूध
आमाहल्दी	नारंगी
आलूबुखारा	रूमीमस्तंगी
अंजीर	बादाम
इन्द्रजव	धनिया
इमली	कौड़ी भस्म, वनफसा, नमक
इलायची	गुलाब के फूल
कनेर	घी, मिश्री मिला दूध, शहद
कपूर	एलुआ, केशर, कस्तूरी
करौंदा	नमक
कसीस	दही
कटहर के पक्के फल	नारियल, अनारदाने, केला
कचूर	धनिया, अगर, श्वेत चन्दन

कारण रूप औ०	दोपशामक औ०
कांदा (प्याज)	नमक और सिरका
काच	दही, गोपीचन्दन, घी, बड़ी दूधी
कीनाईन	दूध, च्यवनप्राशावलेह, सुवर्णमाक्षिक भस्म, सितोपलादि चूर्ण
कुचिला	वमन कराना, घी, मिश्री मिला हुआ दूध
कुटकी	घी, शहद-पीपल, जावित्री
केला	घी, मिश्री और इलायची; सोंठ और नमक
कौंच	दही, घी
कैथ	नीम की निवौलियाँ
केरोसीन तेल	बबूल का गोंद, बिहदाना
खजूर (छुहारा)	सोंठ, नागरमोथा, दूध-मिश्री, दही, घी
खिरनी	नीम की निवौलियाँ
गुड़	नाभि पर घी का लेप, मक्खन, दही, चिरायता, गिलोय
गूलर के फल	सोंठ का क्वाथ
गुंजा (चिरमी)	धनिया, दूध
घी	नीवू, कोकम, अनार, नमक, गरम जल, कांजी, निवाया माण्ड, काली मिर्च
चना	दही, घी, गुलकंद
चावल	त्रिकटु, दूध-शक्कर, नमक
चिरौंजी	हरड़
चूना	घी, बादाम का तैल, मक्खन
जसद भस्म (अशुद्ध)	हरड़ और मिश्री मिला दूध, कत्था
जायफल	धनियाँ, बनफशा, शहद
जाम (अमरूद)	नमक, सौंफ, अदरख का मुरब्बा
जामुन	नमक
जव	घी
जमालगोटा	घी, कत्था, मिश्री मिला दही, वमन कराना, गाढ़ा शर्बत पिलाना

कारणरूप औ०	दोषशामक औ०
क्षार	दही, घी, गुलकंद
तक्र	नमक, निवाया माण्ड
तमाखू	दूध, गुलकन्द
ताम्रभस्म की उग्रता	मोतीपिष्टी, शौक्तिक भस्म, चावल का धोवन, मिश्री मिला धनिये का हिम
तांबे का जहर	घी, विरेचन देना, नींबू का शर्वत
थूहर का दूध	घी, मक्खन, दही, शहद
द्राक्षा	गुलकन्द
दही	जीरा-नमक, शक्कर, सोंठ
दूध	शक्कर
धतूरा	घी, दही, मिश्री मिला दूध
नारंगी	मिश्री, नमक
नारियल	शक्कर, गुड़ और नमक
नीबू	नमक
नीलाथोथा	कत्था, नीबू का शर्वत, अनार का शर्वत, मिश्री मिला दूध, तिल तैल, धान के लावा का जल

कारणरूप औ०	दोषशामक औ०
पारद	शुद्ध गन्धक, चौलाई की भाजी, धमासा का क्वाथ, दूध, घी, हरड़
वच	सौंफ, सिकंजवीन, घी
वचनाग	घी, दूध, मिश्री, हृदय पौष्टिक औषधियाँ
बाजरा	घी, शक्कर
बादाम	शक्कर
ब्राह्मी	चन्दन सफेद, गुलाबजल
बेर	गुलकन्द
बैंगन	घी
दूषित वंग भस्म	मेष शृङ्गी (मेंढासींगी) का चूर्ण और मिश्री दूध के साथ
भाँग, गाँजा	तेज कॉफी, दही, घी, निद्रा, शराब
भिलावा	नारियल की गिरी, चिरौंजी, बादाम, घी
मैनफल	शहद मिश्रित दूध
मुरदासंग	घी, बादाम का तैल, वमन, अनारदानों का रस

कारणरूप औ०	दोपशामक औ०	कारणरूप औ०	दोपशामक औ०
मंडूर भस्म (दूपित)	कतीला, शहद, अरंडी के तेल का जुलाव	शतावरी	शहद-पीपल
मद्य	मक्खन-मिश्री, मुनक्का, ताजा मट्ठा, फिटकरी का जल, मीठा अनार	शीशाभस्म (अशुद्ध)	सुवर्ण का वर्क, हरड़ का चूर्ण और मिश्री
		शिलाजीत	घी, दूध, लस्सी
		सिंदूर	नीबू का शर्वत, चिरमी के पत्ते, मुलहठी
मिर्च	घी, नीबू का रस, मट्ठा	सिंघाड़ा	सोंठ और नागरमोथा
रसकपूर	गन्धक, गाय का दूध, चौलाई की जड़, घी, सोहागे का फूला	सुवर्णभस्म (अशुद्ध)	हरड़ और मिश्री दूध के साथ
		सोमल	घी, मिश्री मिला दूध, मलाई, कत्था, सोहागे का फूला
अशुद्ध रौप्य भस्म	मिश्री शहद के साथ	सोपारी	दूध, मिश्री, गुड़
लहसुन	दही, घी, मट्ठा	हल्दी	विजौरे का रस, नीबू का रस
लोहभस्म (दोपवाली)	वायविडंग का चूर्ण अगस्त के पत्तों के रस के साथ, अमलतास की फली के गूदा का जुलाब	हलदिया विप	घी पीकर वमन करें
		हरड़	घी, शहद
		हींग	जीरा, अनारदाने
		हीरा	घी पिलाकर वमन करावें, कतीरा गोंद, बनफशा शर्बत

आवश्यक सूचना ।

(१) रोगी के बिस्तर, वस्त्र, स्थान, जलपात्र और मल-मूत्र के पात्र, इन सबकी स्वच्छता पर पूर्ण लक्ष्य देना चाहिये। देह को सम्हालपूर्वक स्वच्छ रखनी चाहिये।

(२) रोगी को पथ्य भोजन और जलपान नियमित स्थान पर और योग्य परिमाण में ही देते रहना चाहिये। (अपथ्य या अधिक न दें)

(३) रोगी के कमरे में रात्रि को अति ज्यादा प्रकाश वाली बिजली की बत्ती, या वायु दूषित करनेवाली रोशनी न रक्खें और दर्पण भी नहीं रखना चाहिये। यदि दर्पण हो, तो उस पर वस्त्र ढक देना चाहिये। कमरे में दुर्गन्ध की उत्पत्ति न हो जाय, एवं मक्खियों का उपद्रव न हो, इस बात की भी सम्हाल रखनी चाहिये।

(४) दरदी का पलंग दीवार को लगा हुआ नहीं रहना चाहिये।

(५) दरदी के कमरे में ताजे सुगंधित पुष्प रक्खें। वायु शुद्धि के लिये अगरबत्ती या दूसरा धूप सुबह-शाम करते रहें।

(६) सेवा करनेवाले को चाहिये, कि रोगी के मन को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करे। रोगी नाराज होकर क्रोध करे; फिर भी उसे शान्तिपूर्वक समझाना चाहिये।

(७) रोगी के ताप बढ़ना, घटना, दस्त, पेशाबादि की यादि चिकित्सक के कथनानुसार करते रहना चाहिये।

(८) रोगी की इच्छा होने पर भी अपथ्य भोजन नहीं देना चाहिये।

(९) सम्बन्धी वर्ग कदाचित् कोई मिलने आवें तो उन्हें भी चाहिये कि रोगी को धैर्य दें। मिलनेवाले को चाहिये कि रोगी के कमरे में अधिक समय न बैठें। रोगी को अधिक से अधिक विश्रान्ति लेने दें।

(१०) संक्रामक रोग में सेवा करने वालों को अपनी प्रकृति न बिगड़ जाय, इस बात की सम्हाल रखनी चाहिये। अपने शरीर, वस्त्र, भोजनादि की स्वच्छता का पूर्ण लक्ष्य रक्खें। रोगी के बिस्तर को रोज एक घण्टा धूप में निकाल दें। मल, मूत्र और वमन को तुरन्त बाहर दूर भिजवा दें और जमीन में गड़वा दें। कफ के पात्र को खुला न रक्खें और पात्र में थोड़ा मिट्टी का तेल (Kerosene oil) डाल दें, ताकि मक्खियों का त्रास न हो।

(११) रोगी अधिक दिन तक का बीमार हो तो गरम जल में स्पंज को भिगोकर सारे शरीर को साफ़ करते रहें। कदाचित् ज्वर हो तो

निम्बपत्र का क्वाथ, कोन्डिस फ्ल्युड (Condy's Fluid)* या कॉलन वॉटर जल में मिला उससे शरीर को पोंछते रहें ।

(१२) रोगी दीर्घ काल तक शय्यावश रहने से यदि पीठ पर शय्या व्रण हो जाय, तो उस भाग को त्रिफला के क्वाथ या कोन्डिस फ्ल्युड से धोकर, सेलखड़ी की भस्म, सोहागा फूला, वोरिक एसिड, वेसलीन या जात्यादि घृत (र० ७१६) की पट्टी लगाते रहें ।

(१३) जिन रोगियों को मलावरोध रहता हो, उन्हें गेहूँ के मोटे आटे की रोटी, हल्का भोजन, ताजे पत्ती और फूलों का शाक; अंजीर, मुनक्का, संतरा, मुसंबी आदि फल; गरम करके निवाया रक्खा हुआ दूध इत्यादि पथ्य भोजन दें । गरम चाय, चावल, मैदा के पदार्थ, वेसन की मिठाई, वार वार भोजन, असमय पर भोजन, ये सब हानिकर हैं ।

(१४) पतले दस्त लगते हों, तो मट्ठा, भात, खिचड़ी, कच्चे खट्टे फल और थोड़े परिमाण में भोजन हितकर हैं । गरम-गरम भोजन हानिकर है । दूध देना हो, तो बकरी का दूध दें । रोगी को अधिक परिश्रम न करने दें ।

(१५) मूत्र में अम्लता अधिक हो, तो खट्टे पदार्थ, भात, मट्ठा, अधिक घी, तेल, गुड़, पक्का भोजन, शराब, गरम मसाला, इनका त्याग करना चाहिये । दूध, थोड़ा घी, सादा भोजन, ये सब हितकर हैं ।

(१६) मूत्रपिण्ड (वृक्क) में दाह हो, तो चावल, कुलथी, शराब, दही, गरम चाय, गरम मसाला, इनका त्याग करना चाहिये ।

वात-पित्त और कफ प्रकोप में अनुकूल-प्रतिकूल आहार-विहार का, जो कि पहले ही उपोद्घात प्रकरण में लिखा है, विचार करना चाहिये । अधिक विस्तार पृथक्-पृथक् रोगों के साथ किया जायगा ।

वालकों के लिये औषधि की मात्रा ।

वालक की आयु जितने वर्ष की हो, उस संख्या के साथ १२ मिलाकर फिर आयु के वर्ष से भाग करें । जैसे एक वालक की आयु ४ वर्ष

* ११० बूँद जल में १ ग्रेन के हिसाब से पोटास परमेंगनेट मिलाने से कोन्डिस फ्ल्युड या लाइका पोटास परमेंगनेट तैयार होता है ।

की है तो ४ में १२ मिलाने से १६ होता है। फिर ४ से भाग करने पर १/४ होता है। अतः बड़े मनुष्य को जितनी औषधि दी जाय, उसका चौथा हिस्सा देवें। इसी हिसाब से भिन्न-भिन्न आयु वाले को निम्नानुसार मात्रा देनी चाहिये।

३ मास तक	पूर्ण	मात्रा का	१/३६	हिस्सा	४ वर्ष तक	पूर्ण	मात्रा का	१/४	हिस्सा
६	,,	,,	१/२४	,,	८	,,	,,	१/३	,,
१२	,,	,,	१/१२	,,	१२	,,	,,	१/२	,,
२ वर्ष	,,	,,	१/७	,,	२०	,,	,,	२/३	,,
३	,,	,,	१/५	,,	६०	,,	,,	पूर्ण मात्रा	

फिर शक्ति कम होने पर थोड़ी-थोड़ी मात्रा कम करनी चाहिये।

संक्रामक रोगों का चयकाल।

संक्रामक (संसर्गजन्य) रोगों के कीटाणु का प्रवेश होने पर चय अवस्था अर्थात् भिन्न-भिन्न रोगों की उत्पत्ति होने में न्यूनाधिक दिन लगते हैं। उसे डाक्टरी में इन्कुबेशन पीरियड ऑफ इन्फेक्शियस डिसीझिझ (Incubation Period of Infectious Diseases) कहते हैं। इस चयकाल के लिये भिन्न-भिन्न रोगों का समय निम्नानुसार माना है।

रोग का नाम		चय दिन
आंत्रिक ज्वर	Typhoid	३ से २१
वातश्लैष्मिक सन्निपात	Influenza	३ से ४
ग्रन्थिक सन्निपात	Plague	३ से ७
सूतिका ज्वर	Peurperal Fever	३ से १०
विषम ज्वर	Malaria Fever	६ से १७
शीतपूर्वक सविराम ज्वर	Intermittent Fever	आधा दिन
प्रलापक ज्वर	Typhus Fever	८ से १२
परिवर्त्तित ज्वर	Relapsing Fever	४ से १०
पीत ज्वर	Yellow Fever	१ से १८
शीतला	Variola or Smallpox	१२ से २१
मोतिया–लघुमसूरिका	Varicella; Chicken pox	११ से २१

खसरा (रोमांतिका) Measles		७ से १०
कर्णमूलिक ज्वर-पापणगर्दभ Mumps		१२ से २४
दण्डक सन्निपात Dengue		३ से ६
हैजा-विसूचिका Cholera		१ से ६
कण्ठ रोहिणी Diphtheria		२ से १०
विसर्प Erysipelas		३ से ६
काली खाँसी Whooping Cough		६ से १२
घातक स्फोटक* Anthrax		२ से ३
पूय शुक्र (सुजाक)	Gonorrhoea	२ से ३
उपदंश (फिरंग)	Syphilis	१५ से २५
अपतानक (धनुर्वात)	Tetanus	१ से २४
क्षय	Phthisis	कुछ सप्ताह बाद
श्वान विष	Hydrophobia	४० दिन

भिन्न-भिन्न रोगों में रोग हो जाने पर पिटिका कितने काल पश्चात् निकलती हैं और रोग दूर हो जाने के पश्चात् विष शमन में कितना समय लगता है; यह निम्न कोष्ठक में दर्शाया है।

रोग	पिटिका दर्शन	विष शमन काल
आन्त्रिक ज्वर	दूसरा सप्ताह	ताप जाने पश्चात् कितनेक सप्ताह बाद
वातश्लैष्मिक ज्वर		ताप जाने के २ सप्ताह बाद
प्रलापक ज्वर		ताप उतरने के पश्चात् ५ दिन
शीतला	तीसरे दिन	३ से ८ सप्ताह—ऊपर की त्वचा निकल जाय तब
मोतिया	पहले दिन	२ से ४ सप्ताह
खसरा	चौथे दिन	४ से ८ दिन
दण्डक ज्वर	पहले या चौथे दिन	
कण्ठ रोहिणी		कण्ठ खुलने के पश्चात् २१ दिन

---

* भेड़, बकरी आदि को रखने वाले तथा इन पशुओं के ऊन और चमड़े के व्यापार करने वाले को यह अन्यूक्त रोग हो जाता है।

ज्वर प्रकरण ।

ज्वर–ताप–बुखार (फीवर Fever)

नगर नगरस्येव रथस्येव रथी यथा ।
स्वशरीरस्य मेधावी कृत्येष्ववहितो भवेत् ॥

च० सं० सू० ५।१००॥

जैसे नगरपति नगरी के भीतर आन्तर दुष्टजन से होनेवाली पीड़ा के निवारणार्थ तथा रथी (रथ को हाँकने वाला) रथ का बाहर की ओर से खड्डे में गिर जाना और भलते ही रास्ते पर चला जाना आदि विघ्न न आने के लिए सम्हाल रखते हैं; वैसे ही बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये, कि आन्तर बाह्य दोनों ओर से (पथ्य आहार-विहार द्वारा) इस देहरूपी नगरी के संरक्षणार्थ पूर्ण लक्ष्य देता रहे ।

जैसे इस संसार में बुद्धिबल, शरीर बल, उत्पादक शक्ति, व्यापार तथा सेवादि द्वारा समाज का संरक्षण होता रहता है, ठीक वैसे ही इस शरीर में भी ज्ञानपूर्वक, बलपूर्वक, उत्पादक क्रिया और व्यापार द्वारा; तथा परस्पर सहायता द्वारा जीवन के संरक्षण का प्रयत्न अहर्निश होता रहता है । जैसे कि वात नाड़ी समूह (ज्ञानतन्तुओं Nervous System) और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान द्वारा, रक्तादि धातु बल द्वारा, पाचक अग्नि नई रसादि धातुओं की उत्पत्ति द्वारा, प्राण नाना प्रकार के व्यापार द्वारा और गुदा, मूत्रेन्द्रिय आदि दोषों को बाहर निकालने की क्रिया द्वारा इस पुरी को धारण करते रहते हैं ।

अकस्मात् कोई विघ्न आकर देह के किसी एक अवयव (हाथ, पैर, आँख आदि) की शक्ति नष्ट हो जाती है तो दूसरा अंग उसको सहायता करता है, अर्थात् यह उसके कार्य का भार ग्रहण कर लेता है । यदि किसी संस्था की शक्ति में अधिक परिश्रम से क्षीणता आने लगती है, तो उसके साथ रहे हुए नाड़ीतन्तु तुरन्त उसको सहायता करते रहते

हैं। इस तरह इस देह की रक्षा के लिये नाना प्रकार की क्रिया इस शरीर में होती रहती हैं।

पथ्य आहार-विहार द्वारा इस देह की शक्ति का संरक्षण किया जाता है, तो यह देह भी जीवन के अन्त तक सेवा करती रहती है। अन्यथा इसकी शक्ति का दिवाला निकलने पर इस देह रूप नगरी में रोग रूप डाकुओं का अड्डा जम जाता है।

इस नगरी में जीवन के संरक्षणार्थ परमेश्वर ने अनेक यन्त्र (संस्थाएँ) निर्माण किये हैं। जो भिन्न-भिन्न क्रियाओं द्वारा इस शरीर (पुरी) का धारण-पोषण करते रहते हैं। इन यन्त्रों का विभाग पाश्चात्य वैद्यक में निम्नानुसार किया गया है। जैसे कि—

(१) रक्तवाहक संस्था Circulatory System हृदय, धमनी और सिरादि।

(२) श्वासोच्छ्वास संस्था Respiratory System नासिका, स्वरयंत्र, फुफ्फुसादि।

(३) पचनेन्द्रिय संस्था Digestive System आमाशय, यकृत, अंत्रादि।

(४) मूत्रेन्द्रिय संस्था Urinary System वृक्क, मूत्राशय, मूत्रनलिकादि।

(५) प्रजनन संस्था Reproductive System वृषण, शुक्राशय, स्त्री-बीजकोषादि।

(६) नाड़ी संस्था Nervous System वातवहा नाड़ियाँ और केन्द्रादि।

(७) ज्ञानेन्द्रियसमूह Sense-Organs कान, आँख, नाक, जीभ, (रसनेन्द्रिय) और चमड़ी।

(८) रस संस्था Lymphatic System रस (लसीका) वहन करने वाली रसायनियाँ।

(९) मांस संस्था Muscular System सम्पूर्ण शरीर की मांस-पेशियाँ।

(१०) स्नायु संस्था Syndesmology System संधि-स्थान और स्नायु समूह।

(११) अस्थि संस्था Skeletal System सम्पूर्ण शरीर की हड्डियाँ (अस्थिपिंजर)।

(१२) गति-उत्पादक संस्था Locomotor Apparatus गति उत्पन्न कराने और नियम में रखने वाली संस्था।

पाश्चात्य शास्त्रकारों का कथन है कि जब तक इन १२ संस्थाओं का व्यापार वात, पित्त, कफ धातु अविकृत रहने से सम्यक् प्रकार से चलता रहता है; तब तक शरीर नीरोगी रहता है। किन्तु आहार-विहार में परिवर्त्तन हो जाने से या कोई अकस्मात् विघ्न आ जाने से वातादि धातुओं में विकृति होकर इन संस्थाओं में से किसी एक को बाधा पहुँचती है और तब रोग की उत्पत्ति हो जाती है। इनमें अपथ्य आहार-विहार या अन्य किसी (कृमि का हमला, ऋतु या देश प्रकोपादि) हेतु से पचनेन्द्रिय संस्था जब विकृत होती है, तब ज्वर रोग की उत्पत्ति होती है।

मनुष्य की स्वस्थावस्था में शारीरिक उष्णता (Temperature) बहुधा ९७ से ९८॥ डिग्री तक रहती है। इस उष्णता से अधिक वृद्धि होने पर ज्वर कहलाता है। परन्तु भारत उष्ण कटिबन्ध देश है, अतः देखा जाता है कि जिसका तापमान ९७ ही है, उसकी गर्मी ९८॥ डिग्री होने पर भारतीय वैद्य उसे १॥ डिग्री बुखार मानते हैं। रोगी के साधारण तापमान से १ डिग्री उष्णता बढ़ने तक सामान्य ज्वर (Simple Fever) और इससे अधिक बढ़ने पर तीव्र ज्वर (High Fever) कहलाता है। यदि तापमान १०४ डिग्री से बढ़ जाता है, तो वह तीव्रतर ज्वर (Hyperpyrexia) कहलाता है और ज्वर की यह अवस्था भयप्रद मानी गई है। इस प्रकार का ताप लू लगने या तीव्र संधिवात में भी प्रतीत होता है।

आयुर्वेद में ज्वर के निज और आगन्तुक, ये २ विभाग माने गये हैं। इनमें मिथ्या आहार-विहारादि से उत्पन्न निज ज्वर को स्वतन्त्र रोग मान कर अग्रस्थान दिया गया है। परन्तु आधुनिक पाश्चात्य शास्त्र में ज्वर को रोग नहीं कहा है, अपितु इसे कृमिज और संक्रामक अनेक रोगों में महत्त्व का लक्षण माना है। डाक्टरी सिद्धान्तानुसार रोगोत्पादक कारणों में कृमि या कृमि विष को नष्ट करने के लिये देह की प्रतिक्रिया

रूप से ताप व्यक्त होता है। इस तरह आयुर्वेद और एलोपेथिक के नियमों में भेद होने से अनेक रोगों के वर्गीकरण और संज्ञा विषय में मतभेद रहता है।

देह में उष्णता वृद्धि होने के २ प्रकार हैं। प्रथम इतर उपद्रवसह ज्वर और दूसरा केवल उष्णताधिक्य। इन कारणों में से ज्वर की उष्णता बढ़ने पर हृदय और श्वासोच्छ्वास क्रिया में अन्तर, पचन और उत्सर्जन क्रिया में विकृति तथा इतर इन्द्रियों की शक्ति में न्यूनतादि चिह्न होजाते हैं। किन्तु केवल उष्णता वृद्धि (पायरेक्सिया अथवा हाइपरथर्मिया Pyrexia or Hyperthermia), अति परिश्रम, बाहर से उष्णता लगना, मूत्रमार्ग में नलिका (Catheter) डालना; अति क्रोध, मस्तिष्क पर आघात; चरस, गाँजा, कोकेन, कुचिला, वेलाडोनादि औषधि सेवन; रक्त में श्वेत जीवाणु वृद्धि (ल्युकिमिया Leucaemia), अर्बुद और आघातादि कारणों से होती है।

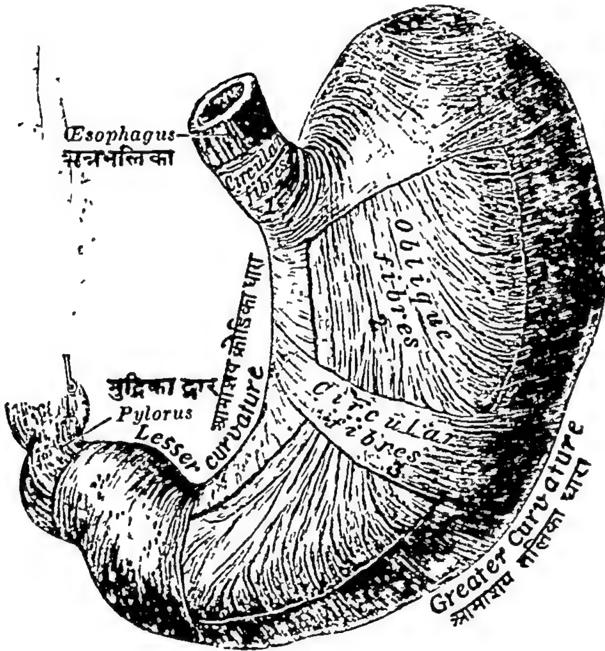
ज्वर सम्प्राप्ति—आयुर्वेद के मतानुसार आहार-विहार के नियमों का भंग करने या अन्य कारणों से वातादि दोष दूषित होकर आमाशय में प्रवेश करते हैं और फिर वे रस धातु को दूषित कर, (रसवाहिनी के मार्गों में प्रतिबन्ध कर) पचन-शक्ति को मन्द करते हैं। इतना ही नहीं, वे पाचकाग्नि को बाहर निकाल शरीर में उष्णता की वृद्धि करते हैं। इसके पश्चात् दूषित धातु बहुधा प्रस्वेद वाहिनियों के मुखों को बन्द करती है; सब शरीर में व्याप्त होकर अपने-अपने प्रकोपकाल में ज्वर की उत्पत्ति और वृद्धि करती हैं; एवं त्वचादि में अपना-अपना वर्ण प्रकाशित करती हैं।

एलोपेथिक के मत में सेन्द्रिय विष उत्पन्न होकर, रक्त में मिल जाने पर उसको बाहर निकालने के लिये रक्त में उष्णता बढ़ती है। प्रायः ज्वर के सब प्रकारों में प्रस्वेद निकलने में प्रतिबन्ध होता है और प्रस्वेद रूप से विष बाहर निकल जाने पर प्रायः सब प्रकार के ताप का वेग शमन हो जाता है।

आयुर्वेदीय दृष्टि से आमाशयस्थ क्रिया की विकृति होने पर ज्वर की उत्पत्ति

चित्र नं० १२

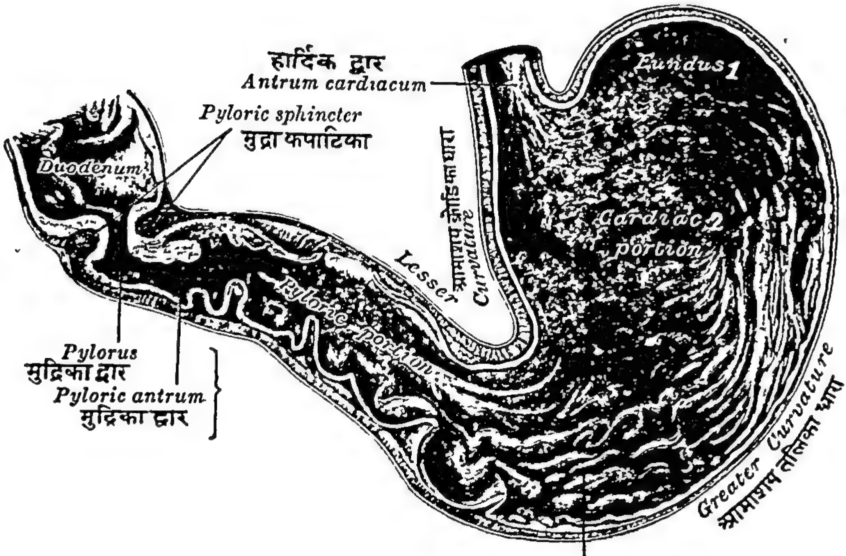
आमाशय की बाह्य आकृति



१,३ वर्तुल तन्तु Circular fibres | २ टेढ़े तन्तु oblique fibres

चित्र नं० १३

आमाशय के अंतर का देखाव



१ आमाशय स्कन्ध Fundus	३ आमाशय प्रणालिका Pyloric Portion
२ आमाशय मध्य Cardiac Portion	४ ग्रहणी Duodenum

होती है। अतः आमाशय के स्थान, आकृति और व्यापार का यहाँ संक्षेप में वर्णन करते हैं। (इस आमाशय का चित्र ग्रन्थ के प्रारम्भ में दिया है।)

आमाशय (पाकस्थली) एक प्रकार के कोमल मांसतन्तुओं से बनी हुई, दो मुँह वाली थैली है। इसको यूनानी वाले 'मेदा' कहते हैं। आहार समय में जो अन्न-जल ग्रहण करते हैं, वह सब इस थैली में जाता है। इस आमाशय की आकृति छोटी मसक के समान है और यह उदर के हृदयाधरिक एवं वामानुपार्श्विक प्रदेश में टेढ़ी रहती है। यह महास्रोत का सबसे अधिक चौड़ा भाग है।

अन्न नलिका जो महाप्राचीरा पेशी का भेदन कर निम्न प्रदेश में आती है, इसका सम्बन्ध आमाशय के ऊपर के मुख के साथ होता है; तथा ग्रहणी कला (अन्त्र के प्रारम्भ का भाग) के साथ इसके नीचे के मुख का सम्बन्ध है। ऊपर के मुँह को हृदय के समीप होने से हार्दिक द्वार (कार्डियाक ओरीफिस Cardiac Orifice) और नीचे के मुँह पर मुद्रिका समान कपाटिका होने से उसे मुद्रिका द्वार (पाइलोरिक ओरीफिस Pyloric Orifice) संज्ञा दी है।

आमाशय लगभग १२ इंच लम्बा और ४ इंच चौड़ा है। आमाशय रीता अर्थात् खाली रहता है तब संकोचित रहता है, और भोजन करने पर विस्फारित होता है। यह मेदा अधिक खान-पान के हेतु से लम्बा-चौड़ा और लगभग गोल नली के समान हो जाता है और उदर के मध्य भाग में नाभि प्रदेश तक आ जाता है। जो मनुष्य जबर्दस्ती अधिक आहार करते हैं, उनका आमाशम चौड़ा और शिथिल (Dilatation of the stomach) हो जाता है।

आमाशय में ४ स्तर हैं। बहिर्वृत्ति, मांसमयवृत्ति, संयोजक तन्तुमयी वृत्ति और स्थूलकलामयी वृत्ति। इनमें स्थूल कलामयी वृत्ति रूप स्तर सबके भीतर मोटी कला में से बना है। इस स्तर में खट्टा पाचक रस (जठर रस Gastric juice) और क्लेदन कफ (Mucin) उत्पन्न करने वाली हज़ारों छोटी-छोटी ग्रन्थियाँ (Glands) रहती हैं और तीसरी संयोजक तन्तुमयी वृत्ति में धमनियों, सिराओं, रसायनियों और वातवहा नाड़ियों की सूक्ष्म-सूक्ष्म अनेक शाखायें फैली हुई हैं। दूसरी मांसमय वृति मांस पेशियों के तन्तुओं में से बनी है। सबके ऊपर की बहिर्वृत्ति यकृत्प्लीहादि यन्त्रों के साथ सम्बन्ध जोड़ती है।

मणिपूर चक्र में से आने वाले इड़ा और पिंगला नाड़ी समूह के तन्तु और प्राणदा नाड़ी (Vagus) के तन्तु, ये आमाशय की नाड़ियों के रूप से कार्य करते हैं। आमाशय में अजीर्णादि विकार उत्पन्न होते हैं, तब इन प्राणदा नाड़ियों में उत्तेजना आ जाती है। फिर हृदय-फुफ्फुसादि आशयों में जाने वाले प्राणदा नाड़ियों के तन्तुओं में भी उत्तेजना आकर वातविकार की उत्पत्ति होती है;

अर्थात् आमाशय की विकृति से वातिक हृद्रोग, श्वास वृद्धि और कासादि विकार हो जाते हैं। बहुधा तमक श्वास का कारण आमाशय की विकृति ही होती है। जब प्राणदा नाड़ियाँ उत्तेजित होती हैं, तब पाचक रस अधिक परिमाण में निकलता है; तथा मेदा की चलनक्रिया जोर से होने लगती है।

हार्दिक द्वार से आहार मेदा में आने पर आमाशय की मांस-पेशियाँ सिकुड़ने लगती हैं और साथ ही साथ पाचक रस भी मिलता रहता है और वह आहार की पाकस्थली में दाहिने-बांयें घूम-घूमकर मथता जाता है, अतः वह पिसकर पतला हो जाता है। इसका कुछ अंश जल के सदृश और कुछ मांड के समान हो जाता है। इस पतले अंश को द्वितीय स्तर (मांसमय वृत्ति) की सूक्ष्म-सूक्ष्म रक्त-वाहिनियाँ चूस लेती हैं और फिर रक्त में परिणत कर, सारी देह में वितरण कर देती हैं; जो रस मांड की तरह होता है, उसे मुद्रिका द्वार में से लघु अंत्र में भेज देते हैं। इस मुद्रिका द्वार पर जो कपाटिका लगी रहती है, वह संकोच विकासशील मांस-तन्तुओं से बनी है। वह आहार रस के पाकस्थली में से अन्त्र में जाने के समय खुलती है; और आहार रस के अन्त्र में चले जाने पर फिर बन्द हो जाती है।

भोजन करने पर आमाशय में प्रारम्भिक पचन-क्रिया इस तरह होती है। इस आमाशय के तृतीय स्तर में रहने वाली रसवलियों के मार्ग में दूषित वातादि धातुओं द्वारा प्रतिबन्ध होता है तब आम की वृद्धि और ज्वर की उत्पत्ति होती है।

ज्वर विभाग—आयुर्वेद में ज्वर के निज और आगन्तुक अर्थात् शारीर और मानस भेद से दो प्रकार हैं। इसी प्रकार ज्वर के शीत और उष्ण, इन दो प्रारम्भिक कारणों से, तथा अन्तर्वेग और बहिर्वेग दृष्टि से, प्राकृत-वैकृत भेद से तथा साध्य एवं असाध्य रूप से भी दो-दो प्रकार हैं। दोष और काल के बलाबल से सन्तत, सतत, अन्येद्यु, तृतीयक और चातुर्थिक, ये ५ प्रकार होते हैं। पुनः ज्वर के रस-रक्तादि धातु रूप आश्रय भेद से ७ प्रकार और पृथक्-पृथक् कारण भेद से ज्वर के ८ प्रकार हैं। पुनः इनके अनेक पेटा विभाग होते हैं।

शारीरिक ज्वर पहले शरीर से और मानस ज्वर मन से प्रारम्भ होता है। मानस संताप, बेचैनी, ग्लानि; शरीर, इन्द्रिय और मन में पीड़ा इत्यादि मानस ताप के और विशेषतः इन्द्रिय-विकृति, ये शारीरिक ज्वर के लक्षण हैं। द्वन्द्वज अर्थात् वात-पित्तात्मक ज्वर में शीत की

इच्छा होने से आग्नेय और वात-कफात्मक ज्वर में उष्णता की इच्छा होने से वह सौम्य कहलाता है। अन्य द्वन्द्वज ज्वरों में भी दो प्रकार के दोष मिश्रित होने से दोषानुरूप उपद्रवों की इसी प्रकार प्रतीति होती है।

अन्तर्वेग वाले ज्वर में अधिक दाह, तृषा, प्रलाप, श्वास, भ्रम, संधिस्थान और अस्थियों में शूल, प्रस्वेद न आना, मल-मूत्रावरोध तथा दोषावरोधादि लक्षण होते हैं। अतः वह कष्टसाध्य होता है तथा बहिर्वेग में संताप अधिक होने पर भी दाह, तृषादि उपद्रव कम होने से सुख-साध्यता मानी गई है।

प्राकृत-वैकृत ज्वर—आयुर्वेद ने ज्वर के ऋतुभेद से २ विभाग किये हैं, जैसे कि प्राकृत ज्वर और वैकृत ज्वर। इनमें ऋतु के अनुकूल आने वाला प्राकृत और ऋतु विपरीत वैकृत ज्वर कहलाता है; अर्थात् वर्षा ऋतु में वात ज्वर, शरद् ऋतु में पित्त ज्वर और वसन्त ऋतु में कफ ज्वर हो; तो वे प्राकृत ज्वर कहलाते हैं। किन्तु जो ताप इस नियम से विपरीत आते हैं, जैसे कि वर्षा ऋतु में पित्त या कफ ज्वर, शरद् ऋतु में कफ या वात ज्वर और वसन्त ऋतु में पित्त या वात ज्वर, तब ये सब वैकृत ज्वर कहलाते हैं। इनमें वात ज्वर से इतर प्राकृत ज्वर प्रायः सुखसाध्य और वैकृत ज्वर कष्ट-साध्य माने जाते हैं। प्राकृत वात ज्वर को भी कष्टसाध्य ही कहा है; और इतर प्राकृत ज्वर भी निर्बलों के लिये कष्टसाध्य हो जाते हैं।

संतत ज्वर में रसवहा नाड़ियों में प्रायः अधिक विकृति होती है; तथा सतत ज्वर में रक्तधातु आश्रय, अन्येद्यु में विशेषतः मेदोवहा नाड़ियों का रोध तथा तृतीयक और चातुर्थिक ज्वर में अस्थि-मज्जा को आश्रय माना है। किन्तु कितनेक आचार्यों ने अन्येद्यु में रक्ताश्रय, तृतीयक में मांसाश्रय और चातुर्थिक में मेद धातु को आश्रय रूप कहा है; अर्थात् ये उत्तरोत्तर विशेष कष्टदायक हैं।

धातु के आश्रय-भेद से रसगत, रक्तगत, मांसगत, मेदोगत, अस्थिगत, मज्जागत और शुक्रगत, ऐसे ज्वर के ७ प्रकार होते हैं।

सामान्य रीति से नीरोगावस्था में शारीरिक उष्णता रात्रि के अन्त

भाग से लेकर सुबह के ७ बजे तक कम रहती है और वह फिर धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। सायंकाल को ६ से ७॥ बजे तक सबसे ज्यादा बढ़ जाती है और पुनः धीरे-धीरे कम होने लगती है। कितनेक ज्वरों में भी यही क्रम रहता है; और कई ज्वरों में इस नियम का भंग भी हो जाता है।

इस उष्णता के वृद्धि-ह्रासानुरूप डाक्टरी में ज्वर के मुख्य ३ विभाग होते हैं। इन ३ विभागों के अन्तर्गत सब प्रकार के ज्वर आ जाते हैं।

(१) समप्रकोपी ज्वर—(कन्टिन्युअस फीवर Continuous Fever) यह ताप अनेक दिनों तक रहने पर भी उष्णता मान का अन्तर नीरोगावस्था के समान (२ डिग्री) ही रहता है; अर्थात् प्रातः-सायं की उष्णता में जितना अन्तर स्वस्थावस्था में रहता था, उतना ही अन्तर ज्वर होने पर भी रहता है।

(२) विषमप्रकोपी ज्वर—(रिमिटण्ट फीवर Remittent Fever) यह ताप बहुधा एक-सा बना रहता है। नीरोगावस्था के प्रातः-सायं के उष्णता मान के अन्तर की अपेक्षा इस ज्वरकाल में अन्तर (२ डिग्री से) अधिक रहता है। न्यूमोनिया, टाइफस, टाइफॉइडादि ज्वर प्रायः इस विभाग में आते हैं।

(३) सविराम ज्वर—(इन्टरमिटण्ट फीवर Intermittent Fever) यह ताप दिन में कभी न कभी उतर जाता है; और नैसर्गिक उष्णता हो जाती है। सतत, अन्येद्यु, तृतीयक, चातुर्थिक, आदि ज्वर इस विभाग में आते हैं।

यदि इस सविराम ज्वर में उष्णता बहुत दिनों तक सायंकाल को २-३ डिग्री या अधिक बढ़ जाती है; तो उस जीर्णज्वर को हेक्टिक फीवर (Hectic Fever) कहते हैं।

पाश्चात्य वैद्यक की दृष्टि से ताप के हेतु का विचार करने पर विशेषतः कृमि या कृमिजन्य विष ही मिलते हैं। इस विष का संचार होने पर मस्तिष्क में रहे हुए उष्णोत्पादक केन्द्र (थर्मोजेनेटिक सेन्टर Thermogenetic centre), उष्णता नियामक केन्द्र (थर्मो टेक्सिक Thermotaxic) और उष्णताशामक केन्द्र (थर्मो लाइटिक Ther-

molytic), ये दूपित होते हैं। इन केन्द्रों की व्यवस्थित क्रिया के आधार पर ही स्वस्थावस्था में शारीरिक उष्णता रहती है। किन्तु जब विष रक्त में फैलकर शरीर के प्रत्येक सेल में पहुँच जाता है; तब उसे निकालने के लिये उष्णता की वृद्धि हो जाती है।

ताप के साथ आंतरविकृति करने वाले कृमि या विष के मुख्य स्थान भिन्न-भिन्न ताप में भिन्न-भिन्न हैं; जैसे कि मधुरा में अन्त्र, न्यूमोनिया में फुफ्फुस और मेनिञ्जायटिस (मस्तिष्क दाह) में मस्तिष्क में प्राधान्यता से कीटाणु रहते हैं। वे जीर्णज्वर होने पर रक्त, स्नायु, हृदय, फुफ्फुसावरणादि अनेक भाग में विक्रिया कर देते हैं।

विष या कीटाणु जो कि ज्वर के उत्पादक कहलाते हैं, उनको नष्ट करने के लिये उनके साथ रक्त के रक्ताणुओं (Cells) का युद्ध होता है। यदि रक्ताणु वलवान् और विप निर्वल है, तो ज्वर कम होता है। दोनों वलवान् होते हैं, तो ज्वर अधिक होता है। इस नियमानुसार वालकों में रक्ताणु सवल होने से विप प्रकोप अधिक हो जाने पर तीव्र ज्वर आ जाता है। किन्तु वृद्ध और निर्वल रोगियों में रक्ताणु निर्वल होने से वलपूर्वक युद्ध नहीं कर सकते। इसलिये ताप का वेग मन्द रहता है। रोग प्रचण्ड और ज्वर का वेग कम हो, तो ऐसी अवस्था को भयप्रद माना है।

रक्ताणु युद्ध करके जब विप को नष्ट कर देते हैं; अर्थात् विप को प्रच्छ्वास, स्वेद, मूत्र और मल द्वारा वाहर फेंक देते हैं या जला डालते हैं, तव ताप उतर जाता है। ज्वर के अधिक काल तक रहने से रक्ताणुओं की अधिक मृत्यु होकर रक्त न्यून हो जाता है; यकृत् और प्लीहा वढ़ जाते हैं; और देह में दुर्वलता आ जाती है। यकृत् और प्लीहा की वृद्धि अधिक काल (अनेक मास) तक रहने से उनमें सौत्रिक तन्तु (Fibrous Tissue) उत्पन्न होकर, वे कठिन हो जाते हैं और ताप में स्वेद अधिक आने से प्रस्वेद ग्रन्थियों के मुख पर छोटी-छोटी पिटिकाएँ हो जाती हैं।

किन्तु आयुर्वेदीय दृष्टि से केवल कृमि से रोग नहीं हो सकता।

धातु वैपम्यता होगी तब ही कृमि अपना प्रभाव दिखा सकेंगे। अथवा रोग-निरोधक शक्ति के निर्बल हो जाने पर ही कृमि आक्रमण कर सकेंगे, अन्यथा नहीं। इस रोग-निरोधक शक्ति (इम्युनिटी Immunity) के न्यून होने का अथवा धातु वैपम्यता होने का कारण विशेषतः मिथ्या आहार-विहार ही हैं। आहार-विहार में पथ्य के त्याग तथा अपथ्य के सेवन से ही धातु विकृति होती है और इसके पश्चात् ही कृमि, विप या रोग की उत्पत्ति होती है।

डाक्टरी में जिन ज्वरों को कृमिजन्य माना है; उनका क्रम (कोर्स Course) बहुधा नियमित रहता है। जब तक कृमि-विप रक्त में चारों ओर फैल नहीं जाते; तब तक संचयावस्था रहती है। इस स्थिति में व्याकुलता बनी रहती है। फिर विष प्रकुपित होकर शीत लगना प्रारम्भ हो जाता है। सर्वाङ्ग कम्प होने तक यह अवस्था रहती है। छोटे बच्चों में कम्प के बदले आक्षेप (कन्वलशन्स Convulsions) होकर ताप आ जाता है। इनमें कतिपय जाति के ज्वरों में निश्चित दिनों पर पिटिका (इरप्शन्स Eruptions) भी हो जाती है।

आयुर्वेद में विकृत वातादि दोष भेद से ज्वर के मुख्य ८ प्रकार हैं, जैसे कि—(१) वात ज्वर, (२) पित्त ज्वर, (३) कफ ज्वर, (४) वातपित्त ज्वर, (५) वातकफ ज्वर (६) पित्तकफ ज्वर, (७) सन्निपात (त्रिदोप) ज्वर (८) आगन्तुक ज्वर।

सब प्रकार के ज्वरों की चिकित्सा के मुख्य २ विभाग हैं (१) प्रतिबन्धक चिकित्सा, (२) शमन चिकित्सा।

प्रतिबन्धक चिकित्सा—भावी होने वाला रोग जिस चिकित्सा से रुक जाय, उसे प्रतिबन्धक चिकित्सा कहते हैं। शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा करना, यह रोग प्रतिबन्धक चिकित्सा है। इसके अतिरिक्त किसी रोग की प्राप्ति के भय से उस रोग विरोधी औपधि के सेवन या इन्जेक्शनादि कृत्रिम साधनों द्वारा प्रतिविप उत्पन्न करके रोग क्षमता उत्पन्न की जाती है; वह भी प्रतिबन्धक चिकित्सा ही कहलाती है।

यदि ज्वर के पूर्वरूप में बेचैनी, जँभाई, हाथ-पैर का ऐंठना, शरीर

का भारी होना, इत्यादि होने से पहले ही वमन, विरेचन या उपवास करा लिया जाय; तो ताप आना प्रायः रुक जाता है। कदाचित् ताप आ जाय; तो भी अधिक वलपूर्वक नहीं आ सकता।

किन्तु पूर्वरूप या रूप के प्रारम्भ हो जाने पर यदि व्याधि-प्रतिवन्धक चिकित्सा की जायगी, तो वह अधिक हानिप्रद होगी। केवल लङ्घनादि द्वारा रोग का वल हरण किया जाय; तो उसे हानिकर नहीं माना जायगा।

ज्वर के रूप की प्राप्ति होने से पहले ज्वर के दोष जव तक आमाशय में हों; तव तक यदि उपचार किया जाय, तो स्वल्प काल में ही लाभ हो जाता है। अल्प दोष कुपित हुआ हो, तो वह केवल लंघन करने से दूर होता है। मध्यम दोष में सहन हो सके उतना लंघन और पाचन देना चाहिये और अत्यन्त वढ़े हुए दोषों में वमन-विरेचनादि कर्म कराना चाहिये।

ज्वर का वेग उत्पन्न हो जाने पर रोगी को वमन नहीं देना चाहिये। क्योंकि ऐसी अवस्था में वमन देने से हृद्रोग, श्वास, आफरा और मोह उत्पन्न होते हैं और दोष धातुओं में प्रवेश कर जाता है। जिससे धातुगत ज्वर विषमज्वर वनकर वहुत समय तक त्रास पहुँचाता है।

अत्यन्त भारी भोजन कर लेने पर तुरन्त ज्वर हो आया हो; दोष आमाशय में ही स्थित हों; और हृल्लास (उवाक) आती हो, तो सम्हालपूर्वक वमन करा लेने में प्राचीन आचार्यों ने आपत्ति नहीं मानी है। (च० सं० चि० स्था० ३। १४४)।

शमन चिकित्सा—विष को नष्ट करने के लिये जव शारीरिक उष्णता वृद्धिगत हुई है; तव वलात्कार से उसका शमन करना, यह हितकर नहीं हो सकता, वल्कि हानिकर है। इस वात का अनुभव कर प्राचीन महर्षियों ने ज्वर का प्रारम्भ होते ही, उसको दूर करने वाली औषधि का उपयोग न करने की; और दोष को जलाकर आंतर शक्ति वलवान् वने उस तरह चिकित्सा करने की आज्ञा की है।*

* वर्त्तमान में पाश्चात्य विद्या वाले क्वीनाईनादि तीव्र औषधि देकर ताप को तुरन्त दूर कर देते हैं, उसका परिणाम आन्तरिक शक्ति और रक्त पर वहुत

ध्यान रहे कि—आहार का साररूप रस, अग्नि की मंदता के कारण जब नहीं पचता है तब वही अपक्व रस विकृत होकर आम बन जाता है। यह चिकना और दुर्गन्धयुक्त होता है। इस आम के साथ वातादि दोष और रक्तादि दूष्यों के संयोग होने से जो रोग उत्पन्न होते हैं, वे सब साम अर्थात् आमसह कहलाते हैं। इस आम के सम्बन्ध से ज्वर की निम्न ३ अवस्थाएँ हो जाती हैं। सामावस्था, पच्यमानावस्था और निरामावस्था।

ज्वर की सामावस्था—नूतन ज्वर की सामावस्था में मुँह से लार गिरना, उबाक, हृदय का भारीपन (आमाशय की अशुद्धि), भोजन का पाक न होना, अरुचि, क्षुधा नाश, मुख की विरसता, अङ्गों में भारीपन, जकड़ाहट, शून्यता, तन्द्रा, बारबार लघुशंका की इच्छा होना, शौच शुद्धि न होना, मांस में क्षीणता न आना, इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं। इस अवस्था में रोगी को ज्वर शामक औषधि नहीं देनी चाहिये। (वृद्ध व्यवहारानुसार आम पचन के लिये रसादि औषधि देने में बाधा नहीं है।)

पच्यमान अवस्था—आम की पच्यमान अवस्था में ज्वर का वेग बढ़ना, तृषा, प्रलाप, श्वास, भ्रम, प्रस्वेद, मल-मूत्रादि की सम्यक् प्रवृत्ति, हृदय में बेचैनी और वमन करने की इच्छा आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

निरामावस्था—निराम ज्वर होने पर क्षुधा लगना, देह का हलका होना, ज्वर का कम हो जाना, वातादि दोषों की स्वाभाविक

खराब आता है। कारण, क्वीनाइन विषमज्वर के कीटाणुओं को मारने के साथ ही रक्त के रक्ताणुओं को भी मार देती है। इतना ही नहीं, क्वीनाइन जीवनीय शक्ति को भी निर्बल और पराधीन बना देती है। अतः ऐसी तीव्र औषधियों का उपयोग, हो सके तब तक नहीं करना चाहिये। यदि रोगी से ताप का वेग न सहा जाता हो, या शमन उपचार न करने से ज्वर घातकरूप धारण करेगा, ऐसा अनुमान होता हो, तो रोग को सत्वर दूर करने की चिकित्सा करनी चाहिये। यह चिकित्सा दोषरूप नहीं मानी जायगी।

प्रवृत्ति होना, मन में उत्साह आना, इत्यादि लक्षण प्रतीत होने लगते हैं। (च० सं० चि० अ० ३ । १३२ । ३५) ।

यह अवस्था प्रायः ६, ७, ८ या १० दिन में आती है। दोष प्रकोप के कम होने पर सत्वर निरामावस्था आ जाती है। जब तक सामावस्था हो; तब तक शमन औषधि न दें; पचन औषधि दें और निरामावस्था आने पर शमन औषधि देवें।

ताप के अधिक दिनों तक रहने से निम्नलिखित विकृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

ताप जीर्ण होने पर विकृतियाँ—(१) रक्त अधिक पतला और कुछ काले रंग का हो जाता है; तथा रक्त के जीवाणु कम हो कर श्वेत जीवाणुओं की संख्या बढ़ जाती है।

(२) मांसपेशियाँ (Muscles) काली-सी और कुछ शोथयुक्त (Cloudy Swelling) हो जाती हैं।

(३) हृदय शिथिल (Softened) और कचित् विस्तृत (Dilated) हो जाता है। हृत्केन्द्र दूषित हो जाने से उसका वेग भी बढ़ जाता है। नाड़ी एक मिनट में ८० से १२० स्पन्दन तक चलती है।

(४) फुफ्फुसों में रक्त शेष रहकर शोथ-सा हाइपोस्टेटिक कन्जेशन (Hypostatic congestion) हो जाता है। श्वासोच्छ्वास केन्द्र दूषित हो जाने और हृदय का वेग बढ़ जाने से श्वासोच्छ्वास क्रिया अधिक वेगपूर्वक अर्थात् १ मिनट में ३० से ४० तक हो जाती है।

(५) त्वचा उष्ण, रूक्ष या प्रस्वेद के हेतु से चिपचिपी हो जाती है। रोमान्तिकादि पिटिकायुक्त ताप में पिटिकाएँ निकल आती हैं। प्रारम्भ में मुँह लाल और तेजस्वी, फिर हृदय-क्रिया मन्द हो जाने पर निस्तेज काला-सा हो जाता है।

(६) सब रसोत्पादक पिण्डों को दूषित रक्त मिलते रहने से उनमें से नैसर्गिक स्राव कम हो जाता है; तथा पचनेन्द्रिय विकृत हो जाती है।

(७) जिह्वा पर सफेद मैल की तह आजाती है। जिह्वा पहले गीली और उसकी किनारी लाल रहती है। फिर रूक्ष काली-सी जड़ हो जाती है;

और चीरे भी पड़ जाते हैं। होठ, दाँत और मसूढ़ों पर मैल (Sordes) जमता है; और वे शिथिल हो जाते हैं। आमाशय और आंत्र की क्रिया दूषित होने से क्षुधा नहीं लगती; क्वचित् वमन होती है; मलावरोध रहता है और यकृत्प्लीहा भी कुछ अंश में बढ़ जाते हैं।

(८) वृक्कों की मूत्रोत्पादक शक्ति बिगड़ जाती है; तथा प्रस्वेद अधिक निकलने और श्वासोच्छ्वास क्रिया बढ़ जाने से भीतर का जल-द्रव्य न्यून हो जाता है। इन दोनों कारणों से मूत्रोत्सर्ग कम होता है। मूत्र लाल होता है; और कुछ काल तक पड़ा रहने पर तले में क्षार (Urates) बैठ जाता है। पेशाब में यूरिया (Uria) बढ़ जाता है; और क्लोराईड कम हो जाता है।

(९) मस्तिष्क जड़ होना, शिरदर्द, बुद्धिमांद्य (डलनेस Dullness), तन्द्रा (ड्राउसिनेस Drowsiness), प्रलाप (डिलिरियम Delirium) और मूर्च्छा (Coma) हो जाते हैं।

अनेक बार ज्वर में सन्निपात (तीनों दोषों का) प्रकोप होने पर वातवहा नाड़ियों में विकृति हो जाती है; तब डाक्टरी-मत अनुसार उसके निम्नानुसार २ प्रकार होते हैं।

पहले प्रकार के सन्निपात में नाड़ी त्वरित, मृदु और अनियमित होती है। जिह्वा रूक्ष, काली-सी, कम्पयुक्त और शिथिल (मुँह से जल्दी बाहर नहीं निकल सकती) हो जाती है। दाँतों पर मैल जम जाता है। मुँह से दुर्गन्ध निकलती है। मांस की शक्ति हीनता-निर्माल्यता (मस्क्युलर प्रॉस्ट्रेशन Muscular prostration), मांस-पेशियाँ आदि गात्रों का कम्पना (सब्सलटस टेन्डिनम Subsultus tendinum), नेत्र की पुतली बड़ी हो जाना, बेशुद्धि, प्रलाप, बेशुद्धि में ही मल-मूत्रोत्सर्ग हो जाना इत्यादि लक्षण हो जाते हैं। ऐसे लक्षण वाले सन्निपात को (टाइफॉइड स्टेट Typhoid state) कहते हैं।

दूसरे प्रकार के प्रकोप में रोगी अति प्रलाप और भयंकर तूफान करते हैं। इसको (वायोलन्ट डिलिरियम Violant Delirium) कहते हैं।

शमन चिकित्सा—ज्वर की चिकित्सार्थ महर्षि आत्रेय ने कहा है कि,—

ज्वरादौ लङ्घनं प्रोक्तं ज्वरमध्ये तु पाचनम् ।
ज्वरान्ते भेषजं दद्याज्ज्वरमुक्ते विरेचनम् ॥

ज्वर के प्रारम्भ में शक्ति और दोषादि का विचार कर, आम पाचन, जठराग्नि प्रदीप्त और स्रोतसों की शुद्धि (निरामावस्था की प्राप्ति) के लिये लङ्घन कराना चाहिये। फिर दोष नष्ट होने पर शेष दोष को पचाने के लिये यवागू पान और पाचन औषधि आदि की योजना करें। पश्चात् ताप संशमन के लिये ज्वरघ्न औषधि और ज्वर के चले जाने पर विरेचन औषधि दें।

सर्वदा नूतन ज्वर में दोष पाचनार्थ क्रिया सबसे पहले करनी चाहिये। शारीरिक शक्ति का संरक्षण हो, इस तरह सम्हालपूर्वक उपवास, स्वेदन क्रिया (प्रस्वेद निकालना), आठ दिन की प्रतीक्षा करना, यवागू, तिक्तरस (पेया, यवागू आदि के संस्कार में पीपल, सोंठ आदि चरपरे पदार्थ मिलाना) इत्यादि क्रिया का उपयोग तरुण ज्वर में (एवं मध्य ज्वर में भी) आमदोष को पचाने के लिये करें। (च० सं० चि० अ० ३। १४०)।

इनके अतिरिक्त आम को पचाने के लिये सब प्रकार के ज्वरों में कंटकार्यादि (छोटी कटेली, बड़ी कटेली, धनिया, सोंठ और देवदारु इन ५ औषधियों का) क्वाथ दिया जाता है। इस कषाय को नागरादि पाचन भी कहते हैं। यह कच्चे दोषों को पकाने में अति हितकर है।

लङ्घन करने से आम और अपचन की निवृत्ति, पित्त शमन, कफ नाश, वातक्षय, क्षुधा प्रदीप्त, उत्साह वृद्धि, ज्वर पचन, ज्वर निवृत्ति और सर्व दोष विनाश, ये सब कार्य अनुक्रम से होते हैं। सामान्यतः बलवान् देह वालों को ये सब १-१ दिन के पश्चात् होते हैं; जिससे इन लाभों के लिये ६ दिन व्यतीत हो जाते हैं। इस बात को लक्ष्य में रख कर शास्त्राचार्यों ने वात-पित्तादि ज्वरों में लङ्घन मर्यादा बाँधी है।

वर्तमान में जनता की शारीरिक और मानसिक शक्ति निर्बल हो

जाने से उतने उपवास नहीं कराये जाते। शक्ति देखकर उपवास कराने चाहिये। ज्वर में उपवास कराने से रक्तादि धातुओं में लीन दोष भी जल जाता है, और आन्तरिक शक्ति सबल बन जाती है। किन्तु कितनेक दुराग्रही और मन्दमति रोगी एक समय का भोजन छोड़ने को भी तैयार नहीं होते। जिससे वे दिनों तक दुःख भोगते रहते हैं, और ज्वर जाने के पश्चात् भी निर्बल रहते हैं।

यद्यपि नूतन ज्वर के रोगी को उपवास कराना, यह अति हितकर है; तथापि बालक, वृद्ध, सगर्भा स्त्री और अति निर्बलों को लङ्घन नहीं कराना चाहिये। अलावा क्षय (राजयक्ष्मा या धातुक्षय) ज्वर, निराम वात-ज्वर एवं आगन्तुक ज्वर (भय, क्रोध, काम, शोक, श्रम या कीटाणु जन्य ताप) में उपवास न कराने का चरक संहिताकार ने लिखा है। (चि० ३।१३७)। उपवास कराने में इस बात का भी लक्ष्य रखना चाहिये, कि चेतना-शक्ति का क्षय न हो, कारण इसी पर सारे शरीर का आधार है। चेतना-शक्ति (बल) का संरक्षण होने से ही आरोग्य प्राप्त होता है।

ज्वर के रोगी को जल पिलाने के लिये, वात और कफ ज्वर में, औटाकर आधे रहे हुए जल में से इच्छानुसार थोड़ा-थोड़ा जल देते रहें। शराब के पीने से आये हुए ज्वर में और पित्तज्वर में, कड़वे रसयुक्त औषधि के साथ औटाकर शीतल किया हुआ जल देना चाहिये।

उबाले हुए जल को अपने आप ठण्डा होने दें। वायु डालकर शीतल नहीं करना चाहिये। इसलिये कि बाहर की वायु के योग से शीतल हुआ जल जल्दी नहीं पचता। सुबह को औटाया हुआ जल शाम तक, और शाम को औटाया हुआ जल सुबह तक, कार्य में लाना चाहिये। १२ घण्टे बाद औटाया हुआ जल सदोष बनने लगता है।

जिस ज्वर में प्यास अधिक लगती हो, उसमें निम्न "षडंग जल" देने का आचार्यों ने लिखा है।

षडंग जल—नागरमोथा, पित्तपापड़ा, खस, लालचन्दन, नेत्रबाला और सोंठ, इन सबको समभाग मिला, २ तोले लेकर १२८ तोले

जल में औटावें। आधा जल शेष रहने पर उतार लें। शीतल होने पर छान कर थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहें।

प्राचीन आचार्यों ने ज्वर को ७ दिन तक तरुण, ८ से १२ दिन तक मध्यम, पश्चात् पक्व ज्वर और २१ दिन बाद जीर्ण ज्वर कहा है। वातज्वर प्रायः ७ दिन में, पित्तज्वर प्रायः १० दिन में, और श्लेष्मिक ज्वर प्रायः १२ दिन में पकते हैं। ज्वर के पक्व होने पर थोड़ा-थोड़ा दूध, घी और भोजन देने का आरम्भ करना चाहिये; अथवा ताप दूर होने तक दूध और फलों के रस पर ही रोगियों को रखना चाहिये। अनान की अपेक्षा दूध और फलों का रस विशेष लाभदायक सिद्ध हुआ है।

यद्यपि आयुर्वेद ने तरुण ज्वर की आमावस्था में रोगी को दूध देना, विष सदृश हानिकर माना है। (सु० सं० उ० अ० ३६।१३५); तथापि वर्त्तमान में शारीरिक और मानसिक निर्बलता और व्यावहारिक अधिक चिन्ता के हेतु से जो रोगी उपवास नहीं कर सकते, उनको एलोपैथिक मतानुसार दूध देना पड़ता है। यद्यपि भोजन (अनाजादि) की अपेक्षा, दूध से अधिक हानि नहीं होती। फिर भी उपवास करा, आन्तर शक्ति को बलवान् बनाकर ताप को विदाय करने में जो लाभ होता है; वह दूध पिलाने से कदापि नहीं होता।

आन्त्रिक ज्वर अर्थात् २१ दिन के मुद्दती ताप (Typhoid fever) के आरम्भ में ३–४ दिन तक केवल जल पर, पश्चात् दूध पर रक्खा जाय; तो रोगी तीसरे सप्ताह में अधिक अशक्त नहीं होता, नये उपद्रव नहीं होते; और ताप भी मुदत पर या मुद्दत पूरी होने से २–४ दिन पहले ही चला जाता है। यदि आरम्भ से ही दूध देते हैं, तो तीसरे सप्ताह में अनेक रोगी निर्बल हो जाते हैं; उपद्रव की वृद्धि होती है; एवं स्वस्थ होकर बल आने में बहुत ज्यादा समय लगता है। ऐसा सैकड़ों रोगियों की चिकित्सा से अनुभव मिला है।

जब तक दोष साम और विरुद्ध हों; तब तक औषधि नहीं देना चाहिये; ऐसा प्राचीन आचार्यों का कथन है। परन्तु वर्त्तमान में बहुधा चिकित्सक गणों को ताप आने के साथ ही औषधि देकर ताप को दूर

करना पड़ता है। परिणाम में आंतर शक्ति दीर्घकाल तक निर्बल रहती है; और अनेक वार थोड़े-थोड़े दिनों के अन्तर पर वार-वार ज्वर आता रहता है।

एक दोपज और द्विदोपज ज्वरों में दोपानुरूप चिकित्सा की जाती है। किन्तु सन्निपातिक ज्वर में विशेषतः आमनाशक और कफशोपक औषधि को ही पहले देना चाहिये। पश्चात् पित्त और वात को शमन करना चाहिये। यदि कोई समय इस विधि में थोड़ा परिवर्त्तन प्रकृति भेद से करना पड़े; तो अत्यन्त सोच विचार कर करें। जैसे मधुरा (Typhoid) में आरम्भ से ही प्रायः पित्तशमन के लिये विशेष लक्ष्य देना पड़ता है।

इन क्रियाओं से यदि ज्वर का प्रशमन न हो; वल, मांस और अग्नि का क्षय न हुआ हो; तो विरेचन देकर मल को दूर करें। यदि रोगी अधिक क्षीण हो गया है; तो दूध की निरूह वस्ति द्वारा मल का हरण करें। इस तरह जीर्ण ज्वर में कफ-पित्त का क्षय हुआ हो, पाचक अग्नि अच्छी हो और वद्धकोष्ठ हो; तो अनुवासन वस्ति दें; तथा तैल मर्दन और स्नान भी प्रकृति के अनुरूप करा सकते हैं।

विपम ज्वर में पहले वमन और विरेचन कराकर औषधि देने से सत्वर लाभ पहुँचता है। फिर भी प्रकृति, दोप-दूष्य और देश-काल का विचार करना चाहिये। अनुचित वमन से हृदय में वेदना, श्वास, आफरा तथा मूर्च्छा की उत्पत्ति होती है। इस तरह अनुचित विरेचन से धातुओं में विकृति होकर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह में लिखे हुए पंचसम चूर्ण (पृष्ठ ३६२), आरग्वधादि क्वाथ दूसरी विधि (पृष्ठ ६२१), ज्वर केसरी वटी (पृष्ठ ३७३) या अश्वकंचुकी रस (पृष्ठ ३७७) आदि औषधियाँ विरेचन के लिये और नीलकण्ठ रस (पृष्ठ ४०५) वमन के लिये दिया जाता है।

सूचना—सर्वदा नये ज्वर रोगी को तेज वायु से रहित किन्तु शुद्ध वातावरण वाले स्थान में रखना चाहिये। यदि तेज वायु लगती रहेगी; तो प्रस्वेद वाहर नहीं आ सकेगा; और रोगी को अशुद्ध वातावरण में रखा जायगा, तो श्वासोच्छ्वास में दूपित वायु आती रहने से रोग

जल्दी दूर नहीं हो सकेगा।

रोगी को तरुण ज्वर में कसैले रसयुक्त औषधि का कषाय (क्वाथ) नहीं देना चाहिये, क्योंकि कषाय देने से बढ़े हुए दोष अपने मार्ग को छोड़कर आम में सम्मिलित हो जाते हैं और फिर उनको दूर करने में या पचन करने में बहुत त्रास पहुँचता है। (च० सं० अ० ३। १५६–१६०)

सब प्रकार के ज्वरों में विशेषतः पहले पित्त प्रकोप होता है, अतः पित्तप्रकोपक चिकित्सा नहीं करनी चाहिये।

नये ज्वर में स्नान, तैल मर्दन, स्नेहपान, वमन, विरेचन, शीतल जलपान, दिन में निद्रा, क्रोध, व्यायाम, मैथुन, खुली तेज वायु का सेवन, कच्चे आम दोष हों तब तक भोजन और कसैले पदार्थ का सेवन, इन सबसे आग्रहपूर्वक रोगी को बचाना चाहिये। (च० सं० चि० अ० ३।१३६)

जलपान और भोजन कर लेने पर, अथवा जिसने लंघन किया है; जो क्षीण और अजीर्णयुक्त है, या जिसे तृषा अधिक लगती है, उसे संशोधन या संशमन, इनमें से एक भी औषधि न दें (मात्र पाचन औषधि दें)। किन्तु, बालक, वृद्ध, स्त्री और सुकुमारों के लिये यह नियम नहीं है।

नये ज्वर प्रकोप में दिन में नहीं सोना चाहिये, कारण दिन में सोने से कफ वृद्धि होती है। किन्तु निर्बल, चिन्तातुर, बालक और वृद्धों के लिये यह नियम नहीं है। एवं ग्रीष्मऋतु में थोड़े समय दिन के शयन में आपत्ति नहीं मानी।

अनेक रोगियों को निद्रा नहीं आती या बहुत कम आती है, अतः निद्रा लाने के लिये कस्तूर्यादि वटी या पीपलामूल और गुड़, अथवा भांग को शहद के साथ मिलाकर देना चाहिये। अलावा पैरों के तल में कांसी की कटोरी से घी की मालिश करनी चाहिये।

ज्वर चला जाने के पश्चात् भी जब तक शरीर में बल न आ जाय; तब तक व्यायाम, मैथुन, स्नान, भ्रमण, परिश्रम, शीतल जल और शीतल वायु का सेवन, इन सबसे आग्रहपूर्वक बचना चाहिये। अन्यथा पुनः ज्वर आ जायगा; या इतर नूतन रोग की उत्पत्ति हो जायगी;

अथवा बहुत काल तक निर्बलता बनी रहेगी।

जिस रोगी का हृदय कमजोर हो, उसको भूलकर भी बच्छनाग प्राधान्य औषधि न दें। यदि दें तो बहुत कम मात्रा में दें। गदमुरारि रस (रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह पृष्ठ ३८६) में बच्छनाग का परिमाण बहुत कम है। एवं लक्ष्मीनारायण रस (पृष्ठ ३८८) में हृदय पौष्टिक औषधि (हिंगुल और अभ्रक भस्म) मिलाई है, इससे हृदय को बाधा नहीं पहुँचती। यदि निर्बल हृदय वाले रोगी को बच्छनाग प्राधान्य औषधि दी जाय, तो साथ में लक्ष्मीविलास रस (पृष्ठ ३६२) या अभ्रक भस्म की योजना करनी चाहिये।

(१) क्षुद्र ज्वर

क्षुद्र ज्वर-हरारत-फेब्रिक्युला (Febricula)

निदान—सूर्य के ताप का अधिक सेवन, जागरण, अधिक श्रम, ऋतु परिवर्त्तन और अपचन से आमवृद्धि और बद्धकोष्ठ होते हैं। फिर वातादि धातु का आम से सम्बन्ध होने पर रस-रक्तादि दूष्यों में विकृति होकर ताप आ जाता है। इस क्षुद्रज्वर में वात, पित्त अथवा कफ में से एक या दो के मिश्रित अस्पष्ट लक्षण प्रतीत होते हैं।

लक्षण—अरुचि, अजीर्ण, पेट में भारीपन, बेचैनी, तन्द्रा, आलस्य, क्षुधानाश, मलावरोधादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

क्षुद्रज्वर चिकित्सा—इस ज्वर में अधिकारी के लिये उपवास सर्वोत्तम औषधि है। इस ज्वर के प्रारम्भ में भोजन और शमन औषधि नहीं देना चाहिये। बहुधा एक दिन लंघन करने पर ही आम पक जाते हैं। फिर क्षुधा, कृशता, लघुता, ज्वर के वेग में कमी, मन में बेचैनी का अभाव, अधोवायु की प्रवृत्ति इत्यादि निरामज्वर (पके ज्वर) के लक्षण प्रतीत होने पर शमन औषधि देवें। जब तक दोष कच्चे हों; तब तक संशमन औषधि नहीं देनी चाहिये; पाचन औषधि देवें।

उपवास करने पर नमक और कालीमिर्च लगाकर १०-२० मुनक्का खाने को दें। जल गर्म कर शीतल किया हुआ पिलावें। दूसरे दिन चाय,

थोड़ा दूध अथवा मुसंबी का रस दें। तीसरे दिन (बिलकुल ताप चला जाने पर) खाने को गेहूँ की रोटी, मूँग की दाल, परवल या चौलाई का शाक, पोदीने की चटनी, आरग्वधादि कल्क (पृष्ठ ६३६), अदरखादि का आचार तथा सोंठ, लौंगादि मसाला देवें।※ इनके अतिरिक्त पृथक्-पृथक् उपद्रवों के लिये अनेक औषधि लिखी हैं, उनमें से आवश्यकता अनुसार विचारपूर्वक उपयोग करें।

आम पाचनार्थ—(१) धनिया और परवल के पत्ते १-१ तोला ले, जौकुट कर १६ गुने जल में उबाल, अर्धावशेष क्वाथ करके पिलावें। इससे आम पचन, अग्नि प्रदीप्त, मलभेद, कफनाश और वात-पित्त का अनुलोमन होता है।

(२) आँवला, चित्रकमूल, हरड़, पीपल और सैंधानमक, इन ५ औषधियों को मिला, कूटकर ४ माशे निवाये जल के साथ देने से मलावरोध दूर होकर ज्वर का शमन हो जाता है।

(३) चिरायता, कुटकी, नागरमोथा, गिलोय, सोंठ, पाठा, खस और नेत्रवाला, इन ८ औषधियों को मिला, २ तोले का क्वाथ कर पिला देने से मलावरोध सह ज्वर दूर हो जाता है।

दोष संशमनार्थ सब ज्वरों पर—(१) श्वेत पुनर्नवा, बेल छाल और लाल पुनर्नवा को १-१ तोले लेकर २४ तोले दूध और ९६ तोले जल मिला, उबाल, दूध शेष रहने पर उतार, छान कर पिलावें।

(२) शीशम की छाल २ तोले को जल ६४ तोले और दूध १६ तोले के साथ मिला, उबाल, दुग्धावशेष क्वाथ करके पिलाने से सब प्रकार के ज्वर शमन हो जाते हैं।

(३) नरसल, बेंत की जड़, मूर्वा और देवदारु का क्वाथ करके पिलावें। या त्रिफला के क्वाथ में घी मिलाकर पिलाने से सब प्रकार के

※ ज्वर निकल जाने पर रोगी को हल्का-सा पथ्य देना चाहिये। पथ्य बिगड़ने से ताप फिर आ जाता है; अतः उस समय बड़ी सावधानी रखनी चाहिये। केवल पञ्चमुष्टि यूष पर रोगी रह जाय, तो उत्तम है। न रह सके, तो रोटी आदि सम्हालपूर्वक दें।

ज्वर दूर हो जाते हैं।

(४) अनन्ता (जवासा), नेत्रवाला, नागरमोथा, सोंठ और कुटकी का चूर्ण ६ माशे सूर्योदय के पहले निवाये जल के साथ देने से सम्पूर्ण प्रकार के ज्वर का शमन होकर अग्नि प्रदीप्त होती है।

(५) गिलोय, धनिया, नीम की अन्तर छाल, पद्माख और लाल-चन्दन को मिला, २॥ तोले का क्वाथ कर पिलाने से सब प्रकार के ज्वर का शमन हो जाता है; तथा मंदाग्नि, दाह, उवाक, तृषा, वमन और अरुचि, ये सब दूर होते हैं।

शास्त्रोक्त सिद्ध औषधियों में से इस ज्वर पर दोष पचन और ताप शमनार्थ निम्न औषधियाँ दी जाती हैं।

ज्वरघ्न औषधियाँ*—मृत्युञ्जय रस (र० ३८५), प्रवाल-पिष्टी (र० २४६), महासुदर्शन चूर्ण (र० ५८२), जया वटी (र० ५४५), जयंती वटी (र० ५४५), कंटकार्यादि क्वाथ (र० ६२२), गुडूच्यादि क्वाथ (र० ६२३), कपित्थादि यवागू (र० ६३८), ज्वरहर अर्क (र० ६६८), करंजादि वटी (र० ५४४), इनमें से अनुकूल औषधि का उपयोग करें। इनमें से मृत्युञ्जय रस और महासुदर्शन चूर्ण का उपयोग हम अधिक परिमाण में करते हैं।

मलावरोध हो, तो—आरग्वधादि क्वाथ द्वितीय विधि (आरोग्य पंचक र० पृष्ठ ६२१), ज्वरकेशरी वटी (र० ३७३), अश्वकंचुकी रस (र० ३७७), त्रिवृतादि कषाय (र० ६२६), इनमें से एक औषधि देवें। ये सब औषधियाँ बद्धकोष्ट को दूर कर ताप को शमन करती हैं। इनमें से ज्वरकेशरी का उपयोग हम अधिक प्रमाण में करते हैं।

दाह, तृषा और वमन हैं, तो—गुडूच्यादि क्वाथ (र० ६२३), या गोदन्ती भस्म (र० २२६) देवें।

* इस ग्रन्थ में औषधियों के नाम के साथ जहाँ-जहाँ पृष्ठांक दिये हैं। वे सब औषधालय की ओर से प्रकाशित "रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह" द्वितीय संस्करण में से लिखे हैं। अतः उन औषधियों की बनाने की विधि, मात्रा, गुणादि का वर्णन उस ग्रन्थ में देखें।

पतले दस्त, कफ और जुकाम है, तो—आनन्दभैरव रस (र० ४०७), दुर्जल जेता रस (र० ३८२), गदमुरारि रस (र० ३८६), नागगुटिका (र० ५५१), संजीवनी वटी (र० ५४०), इनमें से एक औषधि देवें। इनमें से आनन्दभैरव रस और संजीवनी वटी को हम विशेष रूप से उपयोग में लेते रहते हैं। कोई-कोई समय इतर औषधियों को भी प्रयोग में लाते हैं।

जो ताप जल्दी नहीं उतरता, खूब भरा रहता है, उसको उतारने के लिये हम पाचन रूप से रत्नगिरी रस (र० ३७६) देते हैं। इस रसायन के सेवन से उष्णता की वृद्धि होकर ४–६ घण्टे में भीतर का विष जल जाता है; और प्रस्वेद आकर ताप उतर जाता है। अधिक दिनों तक त्रास पहुँचाने वाले ताप में बालक, प्रसूता और वृद्धों के लिये भी यह रत्नगिरी रस निर्भयतापूर्वक दिया जाता है।

ज्वर-उपद्रव चिकित्सा—ज्वर रोग में प्रायः श्वास, मूर्च्छा, अरुचि, वमन, प्यास, अतिसार, उदरशूल, आफरा, मलावरोध, हिक्का, कास, दाह, शिरदर्द, जुकाम, कर्णनाद, निद्रानाश, प्रलापादि उपद्रवों में से न्यूनाधिक साथ में रहते हैं। इनमें से जब कोई उपद्रव अधिक दुःखदायी होता है; तब मूल रोग की चिकित्सा के साथ-साथ उपद्रव-नाशार्थ निम्नानुसार औषधि दी जाती है।

(१) श्वास हो, तो—(१) पीपल, कायफल और काकड़ासिंगी का चूर्ण ४–६ रत्ती दिन में ३ समय शहद के साथ दें।

(२) मुख्य औषधि को ही अदरख के रस और शहद में दें।

(३) अभ्रक भस्म १ रत्ती और ६४ प्रहरी पीपल २ रत्ती को शहद के साथ दिन में ३ समय चटावें।

(४) दशमूल क्वाथ में पुष्करमूल का चूर्ण डालकर पिलावें; अथवा अष्टादशांग क्वाथ (र० ६२०) दें।

कफ सुखाने की आवश्यकता हो, तो—मल्लसिन्दूर (र० ३२६), या शृंगभस्म (र० २८२) शहद के साथ दें। अथवा वातेभकेसरी (र० ५३३) या अचिन्त्य शक्ति रस (र० ५३५) दें।

दूषित कफ बाहर निकालना हो, तो—समीर पन्नग रस (र० ३३५), शृंगभस्म (मिश्री के साथ) या कफ-कर्त्तन रस (र० ५३२), इनमें से कोई एक औषधि देवें।

(२) मूर्च्छा हो, तो—संचेतनी वटी (र० ३६१), कस्तूरी भैरव रस (र० ३७१), हेमगर्भ पोटली रस (र० ३८३), इनमें से उपद्रवों का विचार कर उचित औषधि दें। इनमें संचेतनी वटी अधिक उग्र है, अतः सम्हालपूर्वक दें; अथवा कस्तूरी आध से एक रत्ती या ६४ प्रहरी पीपल २-२ रत्ती शहद के साथ देने से वेहोशी दूर होती है। यदि रोगी विल्कुल अचेत है; तो पहले सूचिवेध, अंजन और नस्य का प्रयोग करें।

सूचिवेध—सूचिका भरण रस (र० ३७१) या लघु सूचिका-भरण रस (र० ३७२), इनमें से एक को सुई के अग्रभाग पर रहे, उतना लेकर सिर के मध्य में वाल निकाल, रक्त निकाल, उस पर मसल देने से तत्काल मूर्च्छा दूर होती है।

नस्य—मूर्च्छान्तक नस्य (र० ७८०) या श्वासकुठार रस (र० ४४७) के सुँघाने से वेहोशी दूर होती है।

अंजन—प्रचेता नाम गुटिका (र० ७४५) या अञ्जनरस (र० ७४२) का अञ्जन करने से चेतना आ जाती है।

अरुचि हो, तो—(१) विजौरे की केशर, घी और सैंधानमक मिलाकर थोड़ा-थोड़ा चाटें।

(२) आँवला, मुनक्का और मिश्री मिला, चटनी पीसकर मुँह में रखें।

(३) अदरख के रस में शहद मिलाकर चाटें।

(४) आरग्वधादि कल्क (र० ६३६) चाटने से रुचि उत्पन्न होती है।

(५) यदि ताप जीर्ण होगया हो, तो पीपल ६४ प्रहरी और गिलोय-सत्व २-२ रत्ती शहद के साथ देते रहने से जीर्णज्वर, अग्निमांद्य, श्वास, कास, शिरदर्द, दाह, व्याकुलतादि सब विकार नष्ट होते हैं।

(६) पित्तवृद्धि से अरुचि हो, तो—सितोपलादि चूर्ण २ माशे के

साथ प्रवालपिष्टी १ से २ रत्ती या वराटिका भस्म ३ रत्ती मिलाकर शहद के साथ देने से सूक्ष्मज्वर, दाह, निद्रानाश, मुखपाक, खट्टी डकार आना, अग्निमान्द्य और शोष शमन होते हैं।

(७) अरुचि, मन्दाग्नि, मलावरोध और कफाधिकता हो, तो—लवणभास्कर चूर्ण ३-३ माशे दिन में २ समय देवें।

(८) मुँह में दुर्गन्ध और चिकनापन हो, तो—त्रिकटु के क्वाथ या अदरख के रस के कुल्ले करें।

(४) वमन—(१) पित्तपापड़े के क्वाथ में शहद मिलाकर पिलावें।

(२) वान्तिहृद् रस (र० ४५०) या एलादि चूर्ण (र० ५८६) शहद-मिश्री के साथ दें।

(३) पीपल (अश्वत्थ) की छाल को जला, राख कर १६ गुने जल में ३ घण्टे भिगो, ऊपर से नितरे हुए जल में से थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहने से सब प्रकार की वमन दूर हो जाती है।

(४) पतले दस्त और वमन हो, तो बेलगिरी और आम की गुठली के क्वाथ में शहद-मिश्री मिलाकर पिलावें।

(५) हिक्का और वमन हो, तो—जायफल को चावलों के धोवन में घिसकर पिलावें या हिक्कान्तक रस (र० ४५०) १–१ रत्ती बिजौरे के रस या शहद के साथ देवें।

(६) तृषा हो, तो—बड़ी इलायची को भूनकर थोड़े-थोड़े दाने खिलाने से तृषा और अतिसार दूर होते हैं।

(२) बड़ की जटा, आँवला, धान की खील, कूट और कमलगट्टे की गिरी को समभाग मिला, चूर्ण कर शहद में १–१ माशे की गोली बनाकर मुँह में रक्खें।

(३) मुँह में आलूबुखारा, मुनक्का, या आँवला रखने से भी तृषा शमन हो जाती है।

(४) सौंफ को कूट १६ गुने जल में १ घण्टे भिगो, मसल कर छान लें। फिर शहद मिलाकर पिलावें; या सौंफ का अर्क पिलावें।

(५) पडंगपानीय (र० ६३८) पिलावें; या कंटकार्यादि क्वाथ दूसरी विधि (र० ६२२) देने से दाह, तृषा, अरुचि, वमन, कास और शूल नष्ट होते हैं।

(६) कुमुदेश्वर रस (र० ४५२) या रसादि चूर्ण (र० ४५१) देने से सब प्रकार की प्यास दूर हो जाती है।

(७) अतिसार हो, तो—ज्वरातिसार में कही हुई औषधि दें। यदि पित्त ज्वर में पतले दस्त लगते हों; तो नागरादि क्वाथ चौथी विधि (र० ६२४), आनन्द भैरव रस (र० ४०७), सूतराज रस (र०३७०) और कनकसुन्दर रस (र० ४०६) में से एक औषधि देवें। यदि मल में दुर्गन्ध हो; तो सूतराज या कनकसुन्दर रस देवें। इन दोनों में सूतराज रस अधिक उग्र है। इसलिये इसका उपयोग सम्हालपूर्वक करें।

सूचना—अतिसार बलात्कार पूर्वक जल्दी बन्द करने का प्रयत्न न करें। ताप उतरने पर अतिसार न मिटे; तो लघु गंगाधर चूर्ण या इतर ग्राही औषधि देना चाहिये।

अफीम वाली औषधि दूषित मल हो; तब तक नहीं देनी चाहिये।

(८) उदरशूल और आफरा हो, तो—(१) देवदारु, सफेद वच, कूट, शतावर, हींग और सैंधानमक को नीबू के रस या कांजी में पीस, गरम कर उदर पर लेप करें। इस लेप को देवदार्वादि पट्क कहते हैं। आफरा दूर करने के लिए अति हितकर औषधि है।

(२) पंचसम चूर्ण निवाये जल के साथ दें; या त्रिकट्वादि वर्त्ति (र० ७८३) गुदा में चढ़ाने से आफरा का शीघ्र ही शमन हो जाता है।

(३) एरण्ड तैल उदर पर धीरे हाथ से मलें। फिर रबर की थैली, बोतल या लोटे में गरम जल भर कर सेक करें।

(९) मलावरोध हो, तो—(१) निशोथ का चूर्ण शहद के साथ दें।

(२) ज्वर केसरी वटी (र० ३७६), अश्वकंचुकी रस (र० ३७७) या आरग्वधादि क्वाथ दूसरी विधि (र० ६२१), इनमें से एक औषधि दें।

(३) अरण्डी का तैल या अन्य सारक औषधि विचार करके दें।

बालकों को ग्लीसराइन की बत्ती (सपोझीटरी) गुदा में चढ़ाने से दस्त साफ़ आ जाता है।

(१०) हिक्का हो, तो—(१) बकरी के दूध में सोंठ डाल, औटा, निवाया कर १०-१० तोले दो-दो घण्टे पर पिलावें।

(२) पीपल के काथ में हींग डाल कर पिलावें।

(३) हालों (चन्द्रसूर) का काथ कर पिलावें।

(४) उड़दों का धूमपान करावें; या हींग की धूनी दें।

(५) १-१ माशा सोंठ २-२ माशे गुड़ में मिलाकर २-२ घण्टे पर २-३ बार खिलावें; और सोंठ का चूर्ण सुँघावें।

(६) जिह्वा पर त्रिकटु मिला हुआ त्रिफला लगाकर दोहन करें।

(७) हिक्कान्तक रस (र० ४५०), सूतशेखर (र० ५०६) या आरोग्य वर्धिनी (र० ४६३) में से एक औषधि देवें।

(११) कास हो, तो—कफ रहित शुष्क वात प्राधान्य कास में कर्पूरादिवटी (र० ५४७) या अतिविषादि वटी (र० ५४७) मुँह में रक्खें; और अभ्रक भस्म १-१ रत्ती दिन में २ समय शहद, पीपल के साथ देते रहें।

पित्त प्राधान्यता हो तो कासमर्दन वटी (र० ५५६) मुँह में रख-कर रस चूँसें; अथवा लऊक सपिस्तां (र० ६६४) चटावें; या शुष्क-कासहर काथ (र० ६४०) पिलावें।

कफ सहित कास हो, तो—शृंगभस्म (र० २८२) २-२ रत्ती दिन में ३ समय शहद के साथ दें। यदि कफ बाहर निकालना हो तो मिश्री के साथ देवें; अथवा अभ्रकभस्म (र० २१२) शहद-पीपल के साथ दें; या मरीच्यादि वटी (र० ५४७) दें।

(१२) दाह हो, तो—(१) मौक्तिक पिष्टी १ रत्ती या प्रवाल पिष्टी २ रत्ती और गिलोयसत्व ४ रत्ती दोनों को मिलाकर शहद के साथ दें।

(२) कामदुधा रस (र० ४५२), पर्पटादि क्वाथ (र० ६२६) या अमृताष्टक काथ (र० ६२२) दें।

(३) कुकरोंधे के रस या बकरी के दूध की मालिश करें; अथवा पलास, वेर या नीम के कोमल पत्तों को नीबू के रस में पीस, शरीर पर लेप करने से दाह शमन होकर पित्तज्वर दूर होता है।

(४) काली गूलर (काकोदुम्बर) और मुनक्का का काथ कर पिलाने से अन्तर्दाह, पित्तप्रकोप और कण्ठशोप दूर होते हैं।

(१३) सिरदर्द—पित्तप्रकोपजनित हो, तो शतधौत घृत सिर पर मालिश करें; या चन्दन और कपूर पीसकर कपाल पर लगावें; अथवा केशर को घृत में पीसकर सुँघावें; या अन्य शीतल उपचार करें।

शिरोरोग वातज या कफज है, तो शिरः शूलान्तक मल्हम लगावें। या लौंग को जल के साथ पीस, गरम कर कपाल पर लेप करें; और यदि मलावरोधजन्य है, तो मलावरोध को दूर करने का उपयोग करें। तीक्ष्ण दर्द में सुँघाने के लिये शिरःशूलान्तक नस्य (र० ७८०) सुँघाने से जुकाम, सिरदर्द, तन्द्रा और श्वासावरोध दूर होते हैं।

(१४) जुकाम हो, तो—प्रतिश्याय हर क्काथ (र० ६३६); सुदर्शन चूर्ण (र० ५८२), नागगुटिका (र० ५५१), आनन्द भैरव रस (र० ४०७), मृत्युञ्जय रस (र० ३८५), इनमें से एक औपधि देवें; पित्तप्राधान्य है, तो मधुकादि हिम (र० ६४२) देवें।

सुँघाने के लिये नजलानाशक नस्य या शिरःशूलान्तक नस्य (र० ७८०) को प्रयोग में लावें।

(१५) कर्णनाद हो, तो—पीपल, हींग, वच और लहसुन को कड़वे तेल में पका २-२ बूँद कान में डालने से, कान में शब्द होने की व्यथा दूर होती है; अथवा क्षार तैल (र० ७२३) की २-२ बूँदें डालें।

(१६) निद्रानाश—(इन्सोम्निया Insomnia) में सूतशेखर (र० ५०६), मौक्तिक पिष्टी या प्रवाल पिष्टी दें। अथवा वात कुलान्तक रस (र० ४५८), या कस्तूर्यादि वटी (र० ५४३) देवें।

(२) सिर पर कद्दू तैल (रोगन कद्दू), काहू के तैल या चन्दनादि तैल की मालिश करें।

(३) एरंड के भौंरा (मंजरी Bunch) को दूध के साथ मिला,

पीसकर कपाल और कान के पास थोड़ा मर्दन करें।

(४) मकोय, काकजंघा, काकनासा (कौआठोडी) या सहदेवी, इन ४ में से किसी की जड़ को सिर पर बाँध देवें।

(१७) प्रलाप—(डिलिरियम Delirium) में मौक्तिक पिष्टी, सूतशेखर या कस्तूर्यादि वटी (र० ५४३) दें। इन में कस्तूर्यादि वटी में अफीम आता है, इसलिये मलावरोध न हो तो देवें। कस्तूर्यादि वटी से प्रलाप, उन्माद और निद्रानाश सत्वर दूर हो जाते हैं। सूतशेखर वात-पित्तप्रकोप जनित दोष में अति हितकारक है। यदि केवल पित्तप्रकोप है, तो मौक्तिक पिष्टी को प्रयोग में लाना चाहिये।

तीव्र वातप्रकोपज हो, तो—महावात विध्वंसन रस (र०४६१) या अष्टादशांग क्वाथ दूसरी विधि (र० ६२०) देना चाहिये।

(२) वातज्वर

लक्षण—वातज्वर में कम्प, विषम वेग (क्वचित् ज्वर अधिक क्वचित् कम); कण्ठ, होठ और मुँह का सूखना, निद्रानाश, छींक आने में प्रतिबन्ध, त्वचा का शुष्क होना, शिर, हृदय और सारे शरीर में पीड़ा, मुँह का स्वाद बिगड़ जाना, मल का रंग काला हो जाना, मलावरोध, बारबार जम्भाई आना, आफरा और शूल, ये चिह्न प्रतीत होते हैं। उष्णता प्रायः १०२ से १०४ डिग्री तक हो जाती है।

इस ज्वर में पहले कच्चे आम को पाचन कराने का ही प्रयत्न करना चाहिये। आम पाचन कराने के लिये अच्छी क्षुधा न लगे तब तक (२-३ दिन तक) लंघन कराना उत्तम है। फिर पाचन औषधि देने से सत्वर लाभ हो जाता है। वात ज्वर के रोगी को बहुधा मलावरोध रहता है, इसलिये मृदुविरेचन (एरण्ड तैलादि) देने से या ज्वर केसरी वटी देने से कोष्ठशुद्धि होकर ताप शमन हो जाता है।

वात ज्वर चिकित्सा।

ज्वर पाचन—(१) शतावरी और गिलोय का स्वरस आध-आध तोला और गुड़ ३ माशे मिलाकर खिलावें।

(२) गिलोय, पीपलामूल और सोंठ; या सोंठ, चिरायता, नागरमोथा और गिलोय; अथवा धनियाँ, देवदारु, छोटी कटेली और सोंठ, इन ३ में से कोई भी एक प्रकार का काथ कर, शहद मिलाकर पिलाने से वातज ज्वर का दोष पचन होकर ताप निवृत्त हो जाता है।

(३) पीपलामूल, पित्तपापड़ा, अडूसे के पत्ते, भारंगी, सोंठ और गिलोय का काथ पिलाने से उपद्रवोंसह तीव्र वातज्वर नष्ट हो जाता है।

(४) गिलोय, सोंठ, नागरमोथा और धमासा का काथ पिलाने से कच्चे आम का पचन होकर ज्वर दूर हो जाता है।

(५) लवंगादि कषाय—लौंग १ माशा, कालीमिर्च ३ माशे; सौंफ, पोदीना, मुलहठी, सोंठ और गिलोय १-१ तोला, इन सबको मिला, काथ कर ३ हिस्से करें। दिन में ३ समय ३-३ माशे मिश्री मिला कर पिलावें। इस लौंगादि काथ से प्रस्वेद आता है; तथा आम पचन और वात शमन होकर ताप उतर जाता है।

(६) रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह में दी हुई निम्न औषधियाँ इस ज्वर में आम पचनार्थ हितकारक हैं।

रत्नगिरी रस (र० ३७६), बृहत्पंचमूल काथ, कंटकार्यादि काथ, (र० ६२२), आरग्वधादि काथ दूसरी विधि (र० ६२१), पिप्पल्यादि काथ (र० ६२६), महासुदर्शन चूर्ण (र० ५८२), लघु सुदर्शन चूर्ण (र० ५७३), ज्वरहर अर्क (र० ६८८), प्रवालपिष्टी और मृत्युञ्जय रस (र० ३८५), इनमें से अनुकूल औषधि को प्रयोग में लावें। इनमें मृत्युञ्जय रस आम का पचन कर ताप को बहुत जल्दी दूर कर देता है।* यदि रसायन औषधि न देनी हो; तो सुदर्शन चूर्ण हितावह है। सुदर्शन चूर्ण के उपयोग में ताप की जाति, प्रकृति, ऋतु या आयु के विशेष विचार की आवश्यकता नहीं है।

यदि मलावरोध है; तो आम पक जाने पर—

* किन्तु चढ़ते ताप में मृत्युञ्जयरस या इतर ताप उतारने वाली औषधि नहीं देनी चाहिये। ताप उतरने लगे उस समय या उतर जाने पर औषधि देने से शारीरिक शक्ति को हानि नहीं पहुँचती।

ज्वरकेसरी वटी (र० ३७६) या अश्वकंचुकी रस (र० ३७७) देवें। इस ज्वरकेसरी वटी से कब्ज, आम और आफरादि उपद्रव दूर होकर ताप का शमन हो जाता है। यदि ३-४ घण्टे में दस्त न आवें; तो पुनः दूसरी मात्रा देनी चाहिये। ज्वरकेसरी यह अश्वकंचुकी का ही सौम्य पाठ है, केवल हरताल कम की है। वातप्रकोप अधिक हो और हरताल की उष्णता सहन हो सके, तो अश्वकंचुकी रस देना, यह विशेष अनुकूल रहता है।

ज्वरघ्न अन्य औषधियाँ—महाज्वरांकुश रस प्रथम विधि (र० ३७५), विश्वतापहरण रस (र० ३६८), त्रिभुवन कीर्ति रस (र० ३७८), सूतराज रस (र० ३७७) अदरख का रस और मिश्री के साथ या चित्रकमूल और त्रिकटु के क्वाथ के साथ, करंजादि वटी तीसरी विधि (र० ५४४) जया अथवा जयन्ती वटी (र० ५४५)।

ये सब औषधियाँ उपकारक हैं। इन सबका अनेक वार हमने अनुभव किया है।

विशेषतः सहन हो सके उतने अंश में लंघन करा या लवंगादि कषाय देकर मलावरोध हो; तो ज्वरकेसरी या अश्वकंचुकी; और बद्धकोष्ठ न हो, तो मृत्युञ्जय, महाज्वरांकुश और सञ्जीवनी में से एक औषधि रोग की अवस्थानुसार हम देते रहते हैं। किन्तु—

जिनसे वच्छनाग वाली औषधि सहन नहीं हो सकती, उनको करंजादि वटी या सुदर्शन चूर्ण और ऊपर लिखे हुए लवंगादि कषाय ही देते हैं।

सन्धिस्थान में पीड़ा हो, तो—वालुका स्वेद दें। वालुका को मिट्टी के वर्तन में गरम कर, कपड़े की पोटली में बाँध, काँजी में बुझा उससे सेक करें। इस स्वेद से वात-कफप्रकोप, शिरःशूल, हृदय-व्यथा, जम्भाई, पैर शून्य हो जाना, हड़फूटन, जड़ता, ठोडी जकड़ना, रोंगटे खड़े होना इत्यादि उपद्रव शमन होते हैं।

आफरा हो, तो—पहले धीरे हाथ से एरंड तैल मलें, फिर रबर की थैली, बोतल या लोटे में गरम जल भरकर सेक करें। या उपद्रव चिकित्सा में लिखा हुआ दारुपटक लेप उदर पर करें।

शुष्क कास हो, तो—कर्पूरादि वटी (र० ५४७) अथवा कास मर्दन वटी (र० ५५६) की १-१ गोली मुँह में रखकर रस चूँसते रहें; या बहेड़ा का छिल्का मुँह में रखें; अथवा नागरवेल के पान में पीपल, वच, अजवायन डाल, मुँह में रखकर रस चूँसें।

सूचना—पीने को जल औटाया हुआ कुछ गुनगुना थोड़ा-थोड़ा देते रहें। ताप अधिक हो, तब ताड़ के पंखे से धीरे-धीरे वायु डालें।

(३) पित्तज्वर।

लक्षण—ज्वर का तीक्ष्ण वेग (१०४ डिग्री या क्वचित् इससे भी अधिक), अतिसार (पतले पीले दस्त), निद्रा कम हो जाना, पित्त की वमन; कण्ठ, होठ, मुख और नाक पक जाना, अति पसीना, प्रलाप (क्वचित् तीव्र ज्वर होने पर वात संसर्ग से प्रलाप, सर्वत्र नहीं), मुँह कड़वा रहना, मूर्च्छा (मोह), दाह, मद, तृषा; मल, मूत्र और नेत्र में कुछ पीलापन, भ्रम (चक्कर), शिरदर्द, अरुचि और शीतल जल-वायु की इच्छा, इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं। यह ज्वर विशेषतः भोजन पचने के समय दोपहर को, मध्यरात्रि में और शरद् ऋतु में आता है। इन लक्षणों में से कुछ-कुछ लक्षण प्रतीत होते हैं, सब नहीं। सब लक्षण वात-पित्त प्राधान्य सन्निपात में मिलते हैं।

अतिसारसह भीषण अवस्था में ज्वरातिसार की भ्रान्ति हो जाती है; किन्तु ज्वर वेग, ज्वरातिसार की अपेक्षा पित्तज्वर में अधिक रहता है; तथा तृषा, दाह, प्रलापादि चिह्न भी विशेष रूप में रहते हैं।

क्वचित् त्वचा के ऊपर रक्त के चकते भी हो जाते हैं। क्वचित् इस पित्तज्वर के लक्षण विषमज्वर और रोमान्तिका में दृष्टिगोचर होते हैं। जिससे प्रारम्भकाल में इनका पूर्णरूप से विवेक नहीं हो सकता, दो दिन बाद लक्षणों के भेद हो जाने पर तीनों पृथक् हो जाते हैं।

पित्तज्वर चिकित्सा।

आम पचनार्थ—(१) कण्टकार्यादि क्वाथ (र० ६२२), महासुदर्शन चूर्ण (र० ५८२), लघुसुदर्शन चूर्ण (र० ५८३), किरातादि

अर्क (र० ६६६), पित्तज्वरांतक वटी (र० ५४२), गदमुरारि रस (र० ३८६), नागरमोथा के क्वाथ के साथ, इन औषधियों में से कोई भी एक देने से कच्चे आम का पचन होकर ज्वर शमन हो जाता है।

(२) कायफल, इन्द्रजौ, पाठा, कुटकी और नागरमोथा १-१ तोला मिला, क्वाथ कर ६-६ माशे मिश्री मिलाकर, २ या ३ भाग कर दिन में २ या ३ समय पिलाने से सम्पूर्ण उपद्रवसह पित्तज्वर दूर हो जाता है।

(३) पित्तपापड़े का काथ; या पित्तपापड़ा, रक्तचन्दन, नेत्रवाला और सोंठ का क्वाथ; अथवा धमासा, अडूसा, कुटकी, पित्तपापड़ा, प्रियंगू और चिरायता का क्वाथ कर, ६ माशे मिश्री मिलाकर पिलाने से दाहसह पित्तज्वर दूर हो जाता है।

(४) परवल के पत्ते, इन्द्रजौ, धनिया और मुलहठी का क्वाथ कर, २ तोले शहद मिलाकर पिलाने से दाहसह पित्तज्वर शमन हो जाता है।

(५) शर्बत बजूरी, शर्बत नीलोफर या शर्बत अनार, जल में मिलाकर पिलाने से दाह शान्त हो जाता है।

(६) शाम को २ तोले धनिये को जौकुट कर २० तोले जल में भिगो दें। सुबह छान, शक्कर मिलाकर पिलाने से अन्तर्दाह शमन हो जाता है।

(७) तृषा, वमन और दाह हो, तो—नागरमोथा और पित्तपापड़े का क्वाथ पिलावें।

(८) चिरायता, गिलोय, धनिया, रक्तचन्दन, पित्तपापड़ा और पद्माख का क्वाथ कर पिलाने से अरुचि, वमन, तृषा, बेचैनी और दाहादि उपद्रवसह पित्तज्वर दूर होता है।

(९) गन्धक का तिजाब (एसिड सल्फ्युरिक Acid Sulphuric) ४५ ग्रेन (३ माशे), मिश्री ४ तोले, वाष्प जल १६ औंस (१ रतल) लें। पहले बोतल में जल और मिश्री को मिला, ऊपर से तिजाब डालकर हिलावें। जल शीतल हो जाने पर उपयोग में लें। इस मिश्रण में से १-१ औंस दिन में ३ बार पिलाते रहने से ज्वर की तीव्रता, तृषा, शोष, दाह, अतिसार, अपचन, अरुचि, उदरशूल और बेचैनी आदि दूर होते हैं।

(१०) गिलोय, पित्तपापड़ा और आँवला का क्वाथ या गंभारी की छाल का क्वाथ या अमलतास के फल के गूदा का क्वाथ कर, ६ मासे मिश्री मिला कर पिलाने से तृषा, भ्रम और दाहसह पित्तज्वर दूर होता है।

(११) गिलोय, चिरायता, नेत्रवाला, खस, नागरमोथा, निशोथ, आँवला, खरैंटी, मुनक्का और पित्तपापड़ा का क्वाथ कर पिलाने से संपूर्ण उपद्रवसह पित्तज्वर नष्ट हो जाता है।

दाह, प्रलाप और वमन होवे, तो—गदमुरारि रस (र० ३८६), (शहद मिश्रित जल या नागरमोथा के क्वाथ के साथ) दें; अथवा सूतशेखर रस (र० ५०६) शहद के साथ देवें; या पर्पटादि क्वाथ (र० ६२६) या गुडूच्यादि क्वाथ (र० ६२२) दें।

अरुचि हो, तो—मुनक्का और आँवले, या मीठे अनारदाने अथवा धनिये को पीस, कल्क कर मुँह में कवल धारण करें।

वमन और अरुचि को बन्द करने के लिये एलादि चूर्ण (र० ५८६) २-२ माशे देते रहें।

मालिशार्थ—शतधौत घृत या निम्ब के पत्तों के रस की मालिश करें। अथवा पीला चन्दन, सफेद चन्दन, धमासा, मुलहठी, बेर की पत्ती, इनको पीस, घी और काँजी मिलाकर सिर पर लेप करें।

जल पीने के लिये—(१) षडंग पानीय (र० ६३८) देते रहें।

(२) बनफशा का शर्बत—गुल बनफसा ५ तोले, सौंफ २ तोले, लौंग, लाल चन्दन, गुलेगावजवाँ, खूबकला, ये चारों ६-६ माशे; उन्नाव और मुनक्का ११-११ दाने लेवें। इन सबको मोटा-मोटा कूट, मिट्टी के पात्र में शाम को ३ पाव जल में भिगो दें। सुबह अर्धावशेष क्वाथ कर छान लेवें। फिर ३ पाव मिश्री मिला, शर्बत बना लेवें। इसमें से २-२ तोले शर्बत थोड़ा जल मिलाकर पिलाने से तृषा, कण्ठशोथ, शिर-दर्द, दाह, घबराहट, मूत्र में दाह, ये सब दोष दूर हो जाते हैं।

रोग शामक इतर शास्त्रीय औषधियाँ—कासीस गोदंती भस्म (र० २२६), गोदंती भस्म (र० २२६), प्रवाल भस्म (र० २४३ गिलोय सत्व के साथ), ज्वरारिवटी (र० ५४१), इन औषधियों में

से कोई भी एक, जो अधिक अनुकूल हो, वह देवें। सितोपलादि चूर्ण और गिलोयसत्व मिलाकर दिनमें ३-४ समय शहद के साथ देने से भी पित्तज्वर दाहसह दूर हो जाता है।

पर्पटादि क्काथ, सुदर्शन चूर्ण, किरातादि अर्क, गदमुरारि, सूतशेखर, इन औषधियों को हम अधिक प्रयोग में लाते हैं। पित्तज्वरांतक वटी सामान्य औषधि होने पर भी बहुत अच्छा काम देती है। बालक, स्त्री और सुकुमार प्रकृति वालों के लिए गोदन्ती भस्म, कासीस गोदन्ती भस्म और प्रवाल पिष्टी बिल्कुल निर्भय और उत्तम उपाय है। यदि आम दोष है; तो कासीस गोदन्ती भस्म का उपयोग विशेष हितकारक है।

पित्तज्वर में मुँह और गले में छाले, नाक पर शोथ, होठों के भीतर छाले, भयङ्कर प्रलाप, भयंकर तृषा, मल-मूत्र पीले, ताप १०५ डिग्री से अधिक होना इत्यादि चिह्न होने पर भीषण अवस्था समझकर प्रवाल-पिष्टी २ रत्ती, गिलोयसत्व ४ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण २ माशे, तीनों को मिलाकर अनार शर्बत से दें। ऐसी अवस्था में सूतशेखर भी सत्वर लाभ पहुँचाता है।

बाह्य उपचार—(१) अधिक बढ़ा ताप कम करने के लिये केले के खम्भे का रस या कलमी शोरा के जल में भिगोया हुआ कपड़ा मस्तक पर रखें, किन्तु ताप १०१ या १०० होने पर इस प्रयोग को बन्द कर देना चाहिये।

(२) सिरका में जल मिला, उसमें कपड़ा भिगोकर कपाल पर रक्खें। एवं पैर या समस्त शरीर को पोंछने से व्याकुलतासह ज्वर की अधिकता शान्त होती है।

(३) रोगी को चित लेटा, सारे शरीर को कपड़े से ढक, नाभि के चारों ओर से कपड़ा काट (या सम्हालपूर्वक चारों ओर से हटा) फिर नाभि पर कांसी का कटोरा रक्खें। उस पर धीरे-धीरे शीतल जल की धारा डालें। मात्र मुख (नेत्र, नाक और मुँह) खुला रक्खें। इस उपाय से तत्काल पसीना आकर ताप कम हो जाता है। कांसी का पात्र न हो; तो अभाव में ताम्बे का पात्र लेवें।

निद्रा लाने के लिये—कस्तूर्यादि वटी (र० ५४३) या भुनी हुई भांग का चूर्ण शहद में मिलाकर शाम को खिलावें।

(४) कफज्वर।

लक्षण—अंग में भारीपन, ठण्डी लगना, उबाक, रोंगटे खड़े होना, निद्रा वृद्धि, स्वेद वाहिनियों में रुकावट, मल-मूत्रादि में प्रतिबन्ध, शिर में भारीपन, मुँह से लार गिरना, मीठा मुँह, शरीर चिपचिपा, अधिक गर्म न रहना (१०० से १०१ डिग्री तक उष्णता रहना), वमन, सारा बदन जकड़ जाना, जुकाम, अरुचि, कफयुक्त कास, त्वचा और नेत्र सफेद होना, गरम वायु और गरम पदार्थ की इच्छा, आवाज में भारीपन, भोजन का परिपाक न होना, मल-मूत्र सफेद होना, चिकना दस्त, आलस्य, ज्वर का वेग कम होना इत्यादि रूप दीखते हैं। कचित् साम कफज्वर में मूत्र की अधिकता प्रतीत होती है। कचित् कफज्वर में १०२–१०३ डिग्री तक ताप बढ़ जाता है; किन्तु नाड़ी की गति मन्द ही प्रतीत होती है।

कफज्वर चिकित्सा।

दोष पाचन के लिये—(१) छोटी कटेली, गिलोय और अडूसे के पत्ते; या सोंठ, अडूसा, नागरमोथा और जवासा, इनका क्वाथ करके पिलावें।

मुस्तादि कषाय—नागरमोथा, इन्द्रजौ, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला) कुटकी और फालसा, इन ७ औषधियों का क्वाथ करके पिलावें।

(३) **निम्बादि क्वाथ**—निम्ब की अन्तर छाल, सोंठ, गिलोय, देवदारु, कचूर, चिरायता, पुष्करमूल, गजपीपल, पीपल, बड़ी कटेली, इन सबको मिला, क्वाथ कर पिलाने से दोष पचन होकर कफज्वर का शमन हो जाता है।

(४) **कटुकादि क्वाथ**—कुटकी, चित्रकमूल, निम्ब की अंतर छाल, हल्दी, अतीस, वच, कूट, इन्द्रजौ, मूर्वा, परवल के पत्ते, इन १० औषधियों का क्वाथ कर, कालीमिर्च और शहद मिलाकर पिलाने

से उपद्रवोंसह कफज्वर दूर होता है।

(५) मृत्युञ्जय रस (र० ३८५); कण्टकार्यादि क्वाथ (र० ६२२), पिप्पल्यादि क्वाथ (र० ६२६), दशमूल क्वाथ (र० ६१८), रत्नगिरी रस (र० ३७६), महासुदर्शन चूर्ण (र० ५८२), लघुसुदर्शन चूर्ण (र० ५८३), अमृत चूर्ण (र० ५८३), इनमें से कोई भी एक औषधि देने से आम पचन होकर कफज्वर दूर हो जाता है।

(६) ज्वर केसरी वटी (र० ३७३), अश्वकंचुकी रस (र० ३७७) या आरग्वधादि क्वाथ दूसरी विधि (र० ६२२) देने से आम पचन और मलशुद्धि होकर कफज्वर नष्ट हो जाता है।

(७) *प्रतिश्यायहर कषाय (र० ६३६) देने से जुकामसह मन्द कफज्वर दूर हो जाता है।*

(८) तापशमन होने पर अरुचि रहे, तो—आरग्वधादि कल्क (र० पृष्ठ ६३६) भोजन के साथ देवें।

(९) अष्टांगावलेह (र० ६८०) अथवा चातुर्भद्रावलेहिका, काकड़ासिंगी, पीपल, कायफल और पुष्करमूल के चूर्ण को शहद मिला, चटनी बना कर, ४-४ माशे दिन में ३ समय या शाम को १ तोला चटाने से श्वास, काससह कफज्वर का शमन होता है।

(१०) ४ रत्ती ६४ प्रहरी पीपल को ६ माशे शहद में मिलाकर चटाने से कास, श्वास, हिक्का, प्लीहा और ज्वर दूर होते हैं। बालकों के लिये भी यह हितकर औषधि है।❀

शास्त्रीय रोगनाशक औषधियाँ—शीतभंजी रस प्रथम विधि (र० ३६८), महाज्वरांकुश रस तीसरी विधि (र० ३७४), नारायण ज्वरांकुश रस (र० ३७३), त्रिभुवनकीर्त्ति रस (र० ३७८), दुर्जल जेता रस (र० ३८२), आनन्द भैरव रस (र० ४०७), सूतराज रस (र० ३७०), मृत्युञ्जय रस (र० ३८५), संजीवनी वटी (र० ५४०),

❀ गले से ऊपर के रोगों को नष्ट करने के लिये अवलेह बहुधा सायंकाल को दिया जाता है; और अधोगामी रोगों को दूर करने के लिये भोजन के पहले देने की प्राचीन प्रथा है।

ज्वरारिवटी (र० ५४२), करंजादि वटी प्रथम विधि (र० ५४४), जया या जयन्ती वटी (र० ५४५), इनमें से आवश्यकता पर कोई भी औषधि कफज्वर को दूर करने के लिये दी जाती है। ज्वर अधिक तेज हो, शीतसह हो; तो शीतभंजी रस देना विशेष हितकर है। पसीना लाकर ताप उतारने में त्रिभुवनकीर्ति रस सत्वर काम देता है। सूत-राज रस अधिक तेज है, इसलिये सम्हालपूर्वक प्रयोग में लाना चाहिये।

कफज्वर शमनार्थ हम कटुकादि क्वाथ, पिप्पल्यादि क्वाथ, संजीवनी-वटी, अश्वकंचुकी (मलावरोध हो, तो), मृत्युञ्जय, शीतभञ्जी (अधिक शीत पूर्वक ज्वर हो, तो), त्रिभुवनकीर्त्ति (वातविकार भी साथ में हो, तो), दुर्जल जेता (पाचक पित्त बिगड़ा हुआ हो, तो), इन औषधियों को बार-बार वर्त्तते रहते हैं।

सूचना—जब तक कफ पचन न हो जाय, अग्नि प्रदीप्त न हो और भोजन की रुचि न हो, तब तक लंघन कराना चाहिये।

(५) वात-पित्त ज्वर लक्षण—इस ताप में तृषा, मूर्च्छा, भ्रम, दाह, निद्रानाश, सिरदर्द, कण्ठशोष, वमन, रोंगटे खड़े होना, अरुचि, साँधों में पीड़ा, जँभाई, और चक्करादि लक्षण प्रतीत होते हैं। यह ज्वर प्रायः दोपहर और मध्यरात्रि को अधिक रहता है। इस ज्वर में ज्वरशामक औषधि पाँचवें दिन देने का शास्त्रीय विधान है।

दोष पाचनार्थ—महासुदर्शन चूर्ण (र० ५८२), लघुसुदर्शन चूर्ण (र० ५८३), कण्टकार्यादि क्वाथ (र० ६२२), पंचमूलादि कषाय (र० ६२४), पर्पटादि क्वाथ दूसरी विधि (पंचभद्रादि कषाय र० ६२६) जया और जयन्ती वटी (र० ५४५); ये सब आम को पचाने वाली हैं। इनमें से एक औषधि देने से आमपचन होकर ज्वर शान्त हो जाता है।

पित्तप्रकोप की प्राधान्यता हो, तो—मधुकादि शीतकषाय (र० ६४०) या महाज्वरांकुश रस प्रथम विधि (र० ३७४) देवें।

मलावरोध होवे, तो—ज्वर केसरी वटी (र० ३७३), अश्वकंचुकी रस (र० ३७७) या पटोलादि क्वाथ (र० ६२४) देवें। यदि पित्तप्रकोप अधिक हो; तो अश्वकंचुकी रस नहीं देना चाहिये।

हम पंचभद्र क्वाथ, मधुकादि शीतकषाय, ज्वर केसरी और सुदर्शन चूर्ण को वारवार उपयोग में लेते रहते हैं।

इस रोग में आम पचन हो जाने पर अनार या आँवले मिला हुआ मूँग का यूप हितकर है। यदि पित्तप्रकोपजन्य दाहादि लक्षण विशेष हो; तो चने का यूप देना चाहिये। मूँग और करेलादि कफघ्नातन्न पदार्थ नहीं देना चाहिये। कारण ये विष्टम्भ, शूल और आफरासह ज्वर को उत्पन्न करने वाले हैं।

(६) वात-कफ ज्वर लक्षण—इस ज्वर में शरीर गीला जैसा रहना, सन्धियों में दर्द, निद्रा वृद्धि, शरीर में भारीपन, मस्तक जकड़ा हो ऐसी वेदना, जुकाम, खाँसी, पसीना अधिक आना, व्याकुलता, मल में मैलापन, चिकनापन और ज्वर का मध्यवेग, आदि चिह्न प्रतीत होते हैं।

वात ज्वर और कफज्वर, इन दो में से एक में भी प्रस्वेद नहीं आता, किन्तु इन दोनों का संयोग होने पर इस ज्वर में (मूल कारणों के विरुद्ध) खूब पसीना आने लगता है।* यह ज्वर दोपहर को प्रायः कम हो जाता है। इस ज्वर में संशमन औषधि नववें दिन देने का विधान है।

---

* आयुर्वेद में समवाय कारण (उपादान कारण) दो प्रकार के माने हैं। (१) प्रकृतिसमसमवाय कारण और (२) विकृतिविषम-समवाय। जैसे सफेद तन्तु रूप समवाय कारण में से बना हुआ वस्त्र सफेद (कारण अनुरूप) होता है। वह प्रकृतिसमसमवाय कहलाता है, वैसे वातविकार से उत्पन्न वात ज्वर वात के कम्पादि गुणों से युक्त रहता है। किन्तु हल्दी और चूना, इन दोनों का संयोग होने पर कारणों से भिन्न रक्त रंगरूप कार्य की उत्पत्ति होती है, वह विकृति विषमसमवाय का उदाहरण है। इस नियमानुसार इस वात-कफ ज्वर में संताप और प्रस्वेद अधिक आना, इन लक्षणों की उत्पत्ति होती है। एवं वात-पित्त ज्वर में अरुचि और रोमहर्ष, ये लक्षण; कफ-पित्त ज्वर में थोड़े-थोड़े समय पर दाह और शीत; तथा त्रिदोष ज्वर में मस्तक को पटकना, ये सब उपद्रव विकृति विषम समवायरूप हैं।

दोष पाचनार्थ—(१) पंचकोल (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रक और सोंठ) का चूर्ण शहद के साथ देने से अग्नि प्रदीप्त होती है और वात-कफ ज्वर दूर होता है।

(२) छोटी पीपल या नागरमोथा, सोंठ और चिरायता का क्वाथ करके पिलावें।

(३) रत्नगिरी रस (र० ३७६), संजीवनीवटी (र० ५४०), जया या जयंतीवटी (र० ५४५), महासुदर्शन चूर्ण (र० ५८२), लघु-सुदर्शन चूर्ण (र० ५८३), दशमूल क्वाथ (र० ६१८ पीपल का चूर्ण मिलाकर), कंटकार्यादि क्वाथ (र० ६२२), पिप्पल्यादि क्वाथ (र० ६२६), नागरादि क्वाथ प्रथम विधि (र० ६२३), इनमें से कोई भी एक औषधि देने से दोष पचन होकर ज्वर दूर हो जाता है।

(४) आरग्वधादि क्वाथ दूसरी विधि (र० ६२१) देने से दोष सत्वर पचन हो जाता है। यदि मलावरोध रहता हो; तो थोड़ा निशोथ का चूर्ण मिलाकर पिलाना चाहिये। इस क्वाथ को 'गिरिमाला पञ्चक' और 'आरोग्य पञ्चक' भी कहते हैं।

इस ज्वर को शमन करने के लिये प्रारम्भ में मृत्युञ्जय रस (र० ३८५) बहुत अच्छा काम देता है। प्रस्वेद अधिक लाकर आम या सेन्द्रिय विष को जलाने की आवश्यकता हो, तो रत्नगिरी रस हम देते हैं। रत्न-गिरी रस से एक समय उष्णता बढ़ जाती है, किन्तु ४-६ घण्टे में ही प्रस्वेद आकर ताप का वेग शमन हो जाता है। रत्नगिरी रस बालक, युवा, वृद्ध, सबके लिये निर्भय औषधि है।

मलावरोध हो, तो—ज्वर केसरी वटी (र० ३७३) या अश्व-कंचुकी रस (र० ३७७) दें।

शास्त्रीय इतर औषधियाँ—हरताल गोदन्ती भस्म (र० २६३), शृंगभस्म (र० २८२), मल्लभस्म तीसरी विधि (र० २७६), त्रिभुवन-कीर्त्ति रस (र० ३७८), त्रैलोक्य चिन्तामणि रस (र० ३७६), पंच-वक्त्र रस (र० ३८४), नारायण ज्वरांकुश रस (र० ३७३), जया या जयन्ती वटी (र० ५४५), अचिन्त्य शक्ति रस (र० ५३५), इनमें से

किसी एक की विचारपूर्वक योजना करने से वात-कफज्वर संपूर्ण उपद्रवोंसह दूर हो जाता है।

रोग प्रबल है; तो—मल्लादि वटी (र० ३६७), पंचवक्त्र रस, सूतराजरस, अश्वकंचुकी (बद्धकोष्ठ हो, तो), समीरपन्नग या अचिन्त्य शक्ति रस (कफ अधिक हो, तो), इन औषधियों का प्रयोग विशेष लाभदायक है। इनमें से जो अधिक अनुकूल औषधि हो, वह देवें।

यदि विष रहित औषधि देनी हो, तो दशमूल क्वाथ, शृङ्ग भस्म और आरग्वधादि क्वाथ (मलावरोध हो, तो) में से अनुकूल औषधि की योजना करनी चाहिये।

प्रस्वेद लाने के लिये—इस ताप की चिकित्सा में पहले पसीना लाकर छिद्रों को मुलायम बनाना चाहिये। इसलिये वालुका (रेती) को किसी मिट्टी के बर्त्तन में गरम कर, कपड़े की पोटली बाँध, काँजी में डुबो, हाथ-पैरादि अङ्गों को सेक करने से मस्तक शूल, जुकाम, जकड़ाहट और अङ्ग टूटनादि पीड़ा दूर होती हैं।

प्रस्वेद बहुत हो, तो रोकने के लिये—भूनी कुलथी का आटा या चूल्हे की जली हुई मिट्टी पीसकर मालिश करें। अथवा भूनिम्बादि उद्‌धूलन (र० ७८१) से मालिश करें।

अरुचि हो, तो—बिजौरे नीबू की केशर, सैंधानमक और कालीमिर्च को पीस, नीबू का रस और शहद मिला, मुँह में कवल धारण करें। या आरग्वधादि कल्क (र० ६३६) चटनी रूप से भोजन के साथ खाने को देवें।

पथ्य भोजन—इस ज्वर में बृहत्पंचमूल क्वाथ में बनाया हुआ यूप ७ वें दिन देने का शास्त्रकारों ने विधान किया है। यूपार्थ क्वाथ १२८ गुना जल मिलाकर करना चाहिये। भोजन का विशेष विवेचन ज्वर के अन्त में पथ्यापथ्य में किया जायगा।

(७) पित्तश्लेष्मज्वर लक्षण—इस ज्वर में मुँह चिकना और कड़वा, तन्द्रा, मोह, कास, अरुचि, तृषा, शिरदर्द, संधिस्थानों में पीड़ा, बार-बार थोड़े समय में दाह और ठण्डी; अथवा पहले ठण्डी बाद

में पसीना, इत्यादि लक्षण होते हैं। यह ज्वर रात्रि और दिन के अन्त भाग में प्रायः कम हो जाता है।

शास्त्रकारों ने इस ज्वर में १० वें दिन (दोष पचन होने पर) संशमन औषधि देने की आज्ञा की है।

दोष पाचक और ज्वर शामक औषधियाँ—(१) परवल के पत्ते, लाल चन्दन, मूर्वा, कुटकी, पाठा और गिलोय का क्वाथ कर पिलाने से पित्त-कफज्वर, अरुचि, वमन, खाज, विषप्रकोप, इन सबको नष्ट करता है।

(२) चिरायता, सोंठ, नागरमोथा और गिलोय का क्वाथ बनाकर पिलाने से दोष पचन होकर कफाधिक्य ज्वर दूर हो जाता है।

(३) ऊपर कही हुई चिरायतादि औषधियों के साथ रक्त चन्दन, नेत्रवाला और खस मिला, क्वाथकर पिलाने से पित्ताधिक ज्वर शमन हो जाता है।

(४) अमृताष्टक क्वाथ (र० ६२२), महासुदर्शन चूर्ण (र० ५८२), लघुसुदर्शन चूर्ण (र० ५८३), कण्टकार्यादि क्वाथ दूसरी विधि (र० ६२२), गुडूच्यादि क्वाथ (र० ६२३), नागरादि क्वाथ दूसरी विधि (र० ६२३), इनमें से एक औषधि का सेवन कराने से दोष पचन होकर ज्वर शान्त हो जाता है।

(५) प्रवाल पिष्टी २-२ रत्ती गिलोय सत्व के साथ मिला दिन में ३ समय शहद के साथ देवें, और कासमर्दनवटी (र० ५५६) या कर्पूरादिवटी (र० ५४७) मुँह में रखकर चूसते रहें; तो पित्तश्लेष्म ज्वर और शुष्क कास दूर हो जाते हैं।

(६) अडूसे का १ तोला स्वरस, मिश्री और शहद मिलाकर दिन में ३ समय पिलाते रहने से अम्लपित्त और कामलासह पित्त-श्लेष्मिक ज्वर निवृत्त हो जाता है।

(७) कण्टकार्यादि क्वाथ दूसरी विधि या अमृताष्टक क्वाथ (र० (र० ६२२) देने से पतले दस्त, वमन और श्वासादि उपद्रवसह पित्त-कफ ज्वर शमन हो जाता है।

(८) प्रवालपिष्टी और शृङ्ग भस्म (पिया बाँसे के पत्तों के रस के साथ) २-२ रत्ती दिन में ३ बार देते रहने से २-३ दिन में दूषित कफ, श्वास, वमन और दाहसह पित्तश्लेष्मज्वर निवृत्त हो जाता है।

बद्धकोष्ठ होवे, तो—कुटकी का चूर्ण ६ माशे समान मिश्री मिलाकर निवाये जल से देवें। अथवा ज्वर केसरी वटी (र० ३७३) या अश्वकंचुकी रस (र० ३७७), इनमें से एक औषधि देवें।

शास्त्रीय इतर औषधियाँ—महाज्वरांकुश रस दूसरी विधि (र० ३७५), विश्वताप हरण रस (र० ३६८), जया या जयंती वटी (र० ५४५), शीतभंजी रस (र० ३६८), इनमें से कोई भी एक देने से उपद्रवोंसह ज्वर शमन हो जाता है।

हम इन औषधियों में से अमृताष्टक क्वाथ, सुदर्शन चूर्ण, विश्वताप हरण रस और ज्वरकेसरी वटी (मल शुद्धि अर्थ) को प्रयोग में अधिक रूप से लाते हैं। रोगी की अवस्था और उपद्रवादि भेद से इतर औषधि भी दी जाती है।

ज्वर उतरने पर पथ्य—परवल के पत्ते और धनिये के क्वाथ में यूप सिद्ध करके पिलाने की शास्त्रकारों की आज्ञा है।

(८) त्रिदोषज ज्वर।

त्रिदोषज ज्वर-सन्निपात ज्वर—(सेवर टोक्सीमिया और सेप्टीसिमिया Sever Toxaemia or Septicemia)।

इस ज्वर के उपद्रव भेद से अनेक प्रकार होते हैं। इस सन्निपात की उत्पत्ति वात, पित्त, कफ, तीनों दोष दूषित होने पर होती है; तथापि जिस दोष के लक्षण अधिक प्रबल हों, उसको उल्बणता (प्राधान्यता) मानकर चिकित्सा की जाती है।

लक्षण—इस ज्वर में माधवाचार्य के लिखे अनुसार सामान्य रूप से निम्न लक्षणों में से कुछ-कुछ प्रतीत होते हैं। क्वचित् नये विचित्र लक्षण भी दीखते हैं। क्षण में दाह और क्षण में शीत; अस्थि, सन्धि और शिर में दर्द; अश्रुस्राव युक्त मैले, लाल और फटे हुए नेत्र; कानों में शब्द और तीक्ष्ण पीड़ा, कण्ठ में काँटे आ जाना; तन्द्रा, मोह, उन्माद, प्रलाप,

कास, श्वास, अरुचि, भ्रम (चक्कर), जिह्वा काली और खरखरी, सम्पूर्ण अंगों में शिथिलता, चेतना-शक्ति कम होना, (क्वचित् मक्खी आदि के स्पर्श का अनुभव सम्यक् न होना), थूक में कफ, पित्त और रक्त आना; पीड़ा के हेतु से शिर को इधर-उधर पटकना, तृषा, निद्रानाश (क्वचित् दिन में निद्रा और रात्रि में जागरण), हृदय में पीड़ा, प्रस्वेद और मल-मूत्र वहुत कम आना (क्वचित् प्रस्वेद वहुत ज्यादा आना), व्याधि के वल से अंगों में अधिक कृशता न भासना (क्वचित् वात प्रकोप होने से असाधारण वल की प्रतीति होना), निरन्तर गले में से घर-घर आवाज आते रहना, शरीर में लाल-काले चकते होना, अधिक शिथिलता आ जाने पर ज्यादा वोलने की इच्छा न होना; मुँह, नाक, कानादि पक जाना, उदर में भारीपन और दोष (आम की अधिकता होने से), दोष का परिपाक दीर्घकाल में होना इत्यादि इस सन्निपात ज्वर में लक्षण होते हैं।

इस सन्निपात ज्वर के चरक संहिता में दोषों के विकृतिभेद से निम्न अनुसार १३ विभाग किये हैं।

(१) वातोल्वण, (२) पित्तोल्वण, (३) कफोल्वण, (४) वात-पित्तोल्वण, (५) वात-कफोल्वण, (६) कफ-पित्तोल्वण, (७) वाताधिक मध्यपित्त हीन कफ, (८) वात मध्य पित्ताधिक हीन कफ, (९) वात हीन पित्ताधिक कफ मध्य, (१०) वाताधिक हीन पित्त मध्य कफ, (११) वात मध्य हीन पित्त कफाधिक, (१२) वात हीन मध्य पित्त और कफाधिक, (१३) त्रिदोषोल्वण।

इन सवके पृथक्-पृथक् विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं है। कारण, जिस दोष के उपद्रव अधिक वढ़े हों, उनका शमन किया जाता है।

सुश्रुत संहिता और अष्टांगहृदय में सन्निपात का पृथक्-पृथक् विभाग नहीं किया है। एक अभिन्यास संज्ञा ही दी है। उसके लक्षण निम्नानुसार दिये हैं।

सुश्रुपोक्त लक्षण—शरीर अति गरम या अति शीतल न होना, संज्ञा—चेतना कम हो जाना, उन्मत्त के समान देखना, वोलने की शक्ति

लुप्त हो जाना, जिह्वा खरदरी, मोटी और शिथिल हो जाना, कण्ठ सूखना, प्रस्वेद, मल और मूत्र रुकना, अश्रुपूर्ण नेत्र, चित्त की मूढ़ता, भोजन-पानादि की इच्छा का अभाव, कान्ति हीनता, श्वास का प्रबल वेग, जिस ओर सुलाओ उस ओर लकड़ी के समान अचेतन होकर पड़ा रहना और प्रलाप (कचित् असम्बद्ध वचन बोलना) इत्यादि उपद्रव होते हैं। इस सन्निपात को हतौजस भी कहते हैं।

यदि कफाधिकता है, तो अभिन्यास; और वात या पित्त की प्राधान्यता है, तो हतौजस कहलाता है। हतौजस में ओज का क्षय हो जाता है। इस सुश्रुत संहिता के अनुरूप सिद्धान्त निदानकार ने भी सन्निपात के भेद नहीं किये। किन्तु चिकित्सा वात, पित्त और कफ के वृद्धि-ह्रासानुरूप ही की जाती है, इस विषय में सबका एक ही मत है।

रक्त में कृमि या सेन्द्रिय विष प्रवेश कर जब चारों ओर फैल जाता है; तब इस रोग की उत्पत्ति होती है। फिर विषप्रकोप शमन हो जाने पर रोग की शान्ति हो जाती है।

अन्य आचार्यों ने सन्निपात के प्रकारान्तर से उपद्रव अनुसार १३ भेद किये हैं। (१) शीतांग, (२) तन्द्रिक, (३) प्रलापक, (४) रक्तष्ठीवी, (५) भुग्ननेत्र, (६) अभिन्यास, (७) जिह्वक, (८) सन्धिक, (९) अन्तक, (१०) रुग्दाह, (११) चित्त विभ्रम, (१२) कर्णक, (१३) कण्ठग्रह (कण्ठकुब्ज), यह क्रम चिकित्सा में उपयोगी है।

इन सन्निपातों के दोष प्राधान्यता, साध्यासाध्यता और परिपाक समय निम्नानुसार शास्त्र में लिखा है।

रोग	साध्यासाध्यता	दोष प्राधान्य	परिपाक दिन
१ शीतांग	असाध्य	कफ	१५
२ तन्द्रिक	कष्टसाध्य	वात	२५
३ प्रलापक	असाध्य	पित्त	१४
४ रक्तष्ठीवी	,,	,,	१०
५ भुग्ननेत्र	,,	,,	८

६	अभिन्यास	असाध्य	वात	१६
७	जिह्वक	कष्टसाध्य	पित्त	१६
८	संधिक	साध्य	वात	७
९	अंतक	असाध्य	पित्त	१०
१०	रुग्दाह	अति कष्टसाध्य	"	२०
११	चित्तविभ्रम	कष्टसाध्य	वात	२४
१२	कर्णक	"	पित्त	३०
१३	कण्ठकुब्ज	"	"	१३

शास्त्रकारों ने इन सन्निपातों की संज्ञा प्राधान्य उपद्रव अनुसार दी है। जिससे उनका बोध नाम पर से भी हो जाता है।

इन सन्निपातों के लक्षणों में काल भेद से कुछ-कुछ अन्तर हो गया है। कितनीक जाति के सन्निपात प्रतीत नहीं होते। फिर भी कौनसे समय, कहाँ और किस जाति का सन्निपात हो जाय, इसका कोई नियम नहीं।

इन सन्निपातों में से तन्द्रिक की वातश्लेष्म प्राधान्य इन्फ्ल्युएञ्जा (Influenza) से, प्रलापक की वातपित्त प्राधान्य टाईफस (Typhus Fever) से, रक्तष्ठीवी की कफ-पित्त प्राधान्य न्यूमोनिया (Pneumonia) से, भुग्न नेत्र को गर्दन तोड़ बुखार सेरीब्रो स्पाइनल फीवर और मेनिञ्जायटिस (Cerebro Spinal Fever or Meningitis) से, संधिक की आमवात प्राधान्य ज्वर र्‌ह्यूमेटिक फीवर (Rheumatic Fever) से (मतांतर में डंडक ज्वर डेंग्यु फीवर Dengue Fever) से और रुग्दाह की पित्त प्राधान्य मोतीझरा टाईफॉईड फीवर (Typhoid Fever) से अधिकांश में साम्यता प्रतीत होती है।

(१) शीतांग—शरीर बर्फ समान शीतल होना, श्वास, कफयुक्त कास, हिक्का, मोह, कम्प, प्रलाप, अंगों की शिथिलता, धीमी आवाज, भीतर में उग्र संताप, थकान, कफवात बढ़ना, दाह, मानसिक बेचैनी, वमन और अतिसारादि लक्षण होते हैं। इसकी अवधि १५ दिन की मानी गई है।

(२) तन्द्रिक—अत्यन्त तन्द्रा (रात्रि-दिन तन्द्रा में ही पड़ा रहना), प्यास, अतिसार, भयंकर घबराहट, श्वास, कास, दाह, जिह्वा श्याम, मोटी, कठोर और काँटोंवाली, हो जाना, ग्लानि, सन्ताप, कानों से कम सुनना, कण्ठ में कफ भर जाने से जड़ता और घर-घर आवाज़ आना, इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं। इसकी अवधि २५ दिन की मानी है।

(३) प्रलापक—सब दोषों का कोप, भूतकाल के बोधानुसार पठित विषय का अभिमान पूर्वक प्रलाप, कम्प, सन्ताप, भयंकर शिरदर्द, दूसरों के लिये चिन्तातुर, बारबार गिर जाना, बेहोशी, दाह, विकलता और अत्यन्त बकवादादि लक्षण होते हैं। इस सन्निपात की मर्यादा १४ दिन की है।

(४) रक्तष्ठीवी—थूक में रक्त आना, लाल नेत्र, प्यास, मोह, शूल, अतिसार, हिक्का, आफरा, चक्कर, सन्ताप, वमन, श्वास, संज्ञानाश, जिह्वा काली और लाल हो जाना, शरीर पर रक्त विकार के काले चकते होना, बारबार गिर पड़ना इत्यादि लक्षण होते हैं। इस सन्निपात की मुद्दत १० दिन की है।

(५) भुग्ननेत्र—नेत्र फटे-से रहना, बलनाश, स्मृतिनाश, श्वास, कास, तन्द्रा, बेहोशी, प्रलाप, भ्रम, कम्प, कानों से बहुधा न सुनना, मूर्च्छा और शोथादि लक्षण होते हैं। इस सन्निपात की मर्यादा ८ दिन की मानी है।

(६) अभिन्यास—इस सन्निपात में सब दोष तीव्रतर बलवान् होते हैं। संज्ञा—चैतन्यता का विशेषांश में त्याग हो जाना (ज्ञान कम हो जाना), निद्रा, चेष्टा हीनता, दाह, मुँह पर घी या तैल लग गया हो ऐसी स्निग्धता, बेहोशी, बोलने में कष्ट होना, बल क्षय, श्वासावरोध, मल-मूत्रावरोध, हृदय और नाड़ी की गति का रोध होना इत्यादि लक्षण होते हैं। इस सन्निपात की अवधि १६ दिन की मानी है।

(७) जिह्वक—जिह्वा अत्यन्त कठिन, काँटों से व्याप्त, श्वास, कास, सन्ताप, घबराहट, बहरापन, गूँगापन और बल हानि आदि लक्षण

होते हैं। यह सन्निपात बहुधा १६ दिन तक रहता है।

(८) सन्धिक—इस त्रिदोषज ज्वर में सन्धिस्थानों में शोथ सहित अत्यन्त पीड़ा, वातप्रकोप जनित शूल, मुँह में बहुत कफ आना, निर्बलता, निद्रा नहीं आना और कफ-कासजनित अधिक पीड़ा होना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं। इसकी मुद्दत ७ दिन की है।

(९) अन्तक—भयङ्कर दाह, शिरदर्द, अत्यन्त सन्ताप, बेचैनी; प्रलाप, निरन्तर शिर कम्पन, बेहोशी, हिक्का, कास और श्वासादि लक्षण होते हैं। इसकी मुद्दत १० दिन की है। यह ज्वर बड़ा मारक होने से इसका नाम 'अन्तक' रक्खा है।

(१०) रुग्दाह—दाह, तीव्र तृषा, श्वास, प्रलाप, अरुचि, भ्रम (चक्कर), बेहोशी, नाड़ी मन्द; मन्या (नाड़), ठोड़ी और कण्ठ में दर्द; शरीर में शिथिलता और क्वचित् हिक्का, कास, श्वासादि लक्षण होते हैं। इसकी मुद्दत २० दिन की है।

(११) चित्तविभ्रम—मानसिक भ्रम, हँसना, नाचना, गाना, बकना, मोह, संताप, बेहोशी, दाह, घबराहट और नेत्र की व्याकुलतादि लक्षण होते हैं। इसकी मुद्दत २४ दिन की है; और कितनेक चिकित्सकों के मत में १७ दिन की है।

(१२) कर्णक—कान की जड़ में त्रिदोषज शोथ होना, शोथ के हेतु से भयङ्कर व्यथा, बहरापन, प्रलाप, मोह, दाह, कण्ठ जकड़ना, श्वास, कास, लार गिरना, पसीना आना और सन्तापादि लक्षण होते हैं। इसकी मुद्दत १ मास और मतान्तर में ३ मास की है।

(१३) कण्ठकुब्ज—कण्ठ सैकड़ों तिनकों से रुका हुआ-सा जान पड़ना, अति श्वास, प्रलाप, अरुचि, सारे शरीर में वेदना, दाह, मोह, कम्प, तृषा, वात प्रकोप, रक्त में विकृति, ठोड़ी अकड़ जाना, शिरदर्द, संताप और मूर्च्छादि उपद्रव होते हैं। इस सन्निपात में श्वास लेने में तकलीफ होती है; और जल को कण्ठ से नीचे उतारने में भयंकर पीड़ा होती है। इसकी अवधि १३ दिन की मानी है।

इन सन्निपातों में संधिक साध्य है। तन्द्रिक, कर्णक, कण्ठकुब्ज,

जिह्वक और चित्तविभ्रम को कष्टसाध्य माना है। रुग्दाह अति कष्टसाध्य तथा शेष ६ को असाध्य माना है। परन्तु इस विषय में शास्त्रकारों के मत-भेद हैं।

वाताधिक, पित्ताधिक और कफाधिक सन्निपातों का प्रायः अनुक्रम से ७-१० और १२ दिनों में मलपाक होता है। यदि मलपाक न हुआ और धातुपाक हुआ, तो सन्निपात रोगी को मार डालते हैं।

यह अवधि अग्निवेश आचार्य के मत से है। हारीताचार्य ने द्विगुण मर्यादा मानी है; अर्थात् ७-६-११ या १४-१८-२२ दिन भी हो जाते हैं। इस मर्यादा में त्रिदोष रोगी को छोड़ देता है या मार डालता है।* दूसरे सप्ताह में ज्वर बहुधा अति संताप देने वाला होता है।

सारांश यह है कि मलपाक होने से उपद्रवों का बल उत्तरोत्तर कम होकर रोगी बच जाता है, परन्तु धातुपाक होने पर उपद्रवों का बल बढ़ता जाता है और रोगी मर जाता है।

मलपाक-धातुपाक परीक्षा—त्रिदोषज ज्वर की साध्यासाध्यता का अनुमान उपद्रवों के बल के वृद्धि-ह्रास अनुसार किया जाता है; अर्थात् निद्रानाश, हृदयावरोध, मल-मूत्र का निग्रह, जड़ता, अन्नद्वेष, बलनाश, और दर्द वाले भाग को हाथ से दबाना इत्यादि में रोगी को पहले दिन की अपेक्षा अधिक पीड़ा प्रतीत हो, तो उसे धातुपाकी ज्वर समझना चाहिए; और ज्वर की न्यूनता, शरीर में हलकापन तथा पीड़ा कम होती जाय, तो ज्वर को मलपाकी समझना चाहिये।

जिन रोगों में दोष विरुद्ध हो जाय, अग्नि नष्ट हो जाय और सम्पूर्ण उपद्रवों की उत्पत्ति हो जाय; तो वे समस्त रोग असाध्य हो जाते हैं। उपर्युक्त लक्षण न्यून होवें तो कष्टसाध्य या साध्य माने जाते हैं।

ज्वर उपशम—ज्वर का उपशम दो रीति से होता है। शनैः-शनैः और एकदम। इनमें शनैः-शनैः ज्वर उतरता है, उसे अनुक्रमोपशम

---

* "सप्तमी द्विगुणा प्रोक्ता नवम्येकादशी तथा।
एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च।"

(लायसिस Lysis) और एकदम अकस्मात् ज्वर उतरता है, उसे आकस्मिक उपशम (क्रायसिस Crisis) कहते हैं। सिद्धान्त-निदानकार ने इनको अदारुण और दारुण संज्ञा दी है।

इनमें दोष स्वभाव के आश्रय से संतापादि उत्पन्न होकर शनैः-शनैः ताप शमन होता है, उसे अनुक्रमोपशम कहते हैं। व्याधि जीर्ण होने पर इस प्रकार से ज्वरों की मुक्ति होती है। आंत्रिक ज्वर इसी तरह उतरता है।

आकस्मिक (दारुण) उपशम होने में रोग तीव्र क्षोभ उत्पन्न करता है। जैसे श्वसनक ज्वर (न्युमोनिया) में ७ वें या ८ वें दिन अकस्मात् अत्यंत प्रस्वेद आकर ज्वर उतर जाता है; या रोगी की मृत्यु हो जाती है।

जो ऊपर ज्वर-मुक्ति की मर्यादा कही है; वह आकस्मिक उपशम के निमित्त ही कही है। जो विषमज्वर हैं, वे भी त्रिदोषज होनेसे इनमें तृतीयकादि ज्वर में प्रायः आकस्मिक उपशम हो जाता है।

रोगी वलवान् है, तीव्र संतापादि लक्षण और तीव्र दोष प्रकोपसह नूतन ज्वर है; तो प्रस्वेद या अतिसारादि क्रिया उत्पन्न होकर सद्य दोषपाक हो जाता है; और ज्वर का उपशम अकस्मात् हो जाता है।

कभी-कभी सन्निपात ज्वर के अन्त में वधिरता, हाथ-पैर नष्ट हो जाना, उन्माद, अन्धता, मूकता (वाक् शक्ति का लोप या मिनमिनत्व) इत्यादि उपद्रव हो जाते हैं। इसी प्रकार कभी कानों के मूल में दारुण शोथ हो जाता है। इस कर्णशोथ के हो जाने पर कोई भाग्यशाली जीव ही वचता है।

यद्यपि सन्निपात की चिकित्सा में दोप-दूष्य विवेक मुख्य हैं; तथापि मुख्य उपद्रवों के शमनार्थ भी ध्यान देना पड़ता है। सामान्य रीति से चिकित्सा में पहले कफ और आमशोषणकारक उपचार और इसके पश्चात् पित्त-वात शमन का प्रयत्न किया जाता है। साथ ही साथ सन्निपात के रोगी का वल-क्षय तो नहीं हो रहा है ? इस वात का पूरा ख्याल रखना चाहिये।

सन्निपात चिकित्सा विधि।

समस्त सन्निपातों में चिकित्सा करने के लिये आचार्यों ने कहा है किः—

"लङ्घनं वालुकास्वेदो, नस्यं निष्ठीवनं तथा।
अवलेहोऽञ्जनं चैव प्राक् प्रयोज्यं त्रिदोषजे।
सन्निपातज्वरे पूर्वं कुर्यादामकफापहम्।
पश्चाच्छ्लेष्मणि संक्षीणे शमयेत् पित्तमारुतौ॥"

अर्थात् सन्निपात में लंघन, वालुका-स्वेदन, नस्य, निष्ठीवन, उद्धूलन, अवलेहन और अंजन, ये उपचार प्रथम करने चाहिये। इन उपचारों द्वारा ज्वर में आम और कफ को नष्ट करने के पश्चात् (कफ के क्षीण होने पर) पित्त और वात को शमन करना चाहिए। जब तक दोष साम अर्थात् कच्चे हों, तब तक ३ से १० दिन तक लंघन कराना अत्यन्त हितावह होता है।

वात और कफ का आधिक्य हो तो वालुका-स्वेद या अन्य सूखे पदार्थों का सेक करना; तथा वातोल्वण प्रकोप में स्निग्ध सेक करना चाहिये। श्लेष्मा को दूर करने के लिये नस्य, बेहोशी दूर करने के लिये अंजन, कफ को बाहर निकालने के लिये निष्ठीवन (त्रिकटु और सैंधेनमक को अदरख के रस में मिला, मुँह में भर-भर कर बार-बार थूकने की क्रिया) कराना चाहिये। हिक्का, श्वास, कास और कण्ठ में कफ भर जाना इत्यादि पर अवलेहन (अष्टाङ्गावलेह अदरख के रस या शहद के साथ चटाना) इत्यादि उपचार किये जाने चाहिये। (यहाँ कतिपय आचार्यों ने शहद के शीतल होने से शहद देने का निषेध किया है।)

सन्निपात होने पर प्रायः एक उपद्रव बढ़कर वह अन्य अनेक उपद्रवों को उत्पन्न कर देता है। जैसे प्रबल वमन से हिक्का, हिक्का से श्वास, प्रस्वेद से शीत (शरीर शीतल हो जाना), मल-मूत्रावरोध से आनाह, आनाह से श्वास प्रकोप, कास से श्वास इत्यादि। इसलिये बलवान् उपद्रवों को बहुत जल्दी शमन करने का प्रयत्न करना चाहिये। जिससे वात का अनुलोमन हो और अग्नि-बल की वृद्धि हो उस चिकित्सा को करनी चाहिये। उरःस्थान (छाती) में संचित कफ को तरल बनाकर जल्दी बाहर निकालने का प्रयत्न करना चाहिये। हो सके तब तक कफ को सुखाने का प्रयत्न न करें और न विरेचन औषधि ही देवें। आवश्यकता

ही हो, तो मल शुद्धि के लिये एरंड तैल की वस्ति या ग्लीसराईन की वत्ती (Suppositoria Glycerini) का उपयोग कर सकते हैं।

वातोल्वण सन्निपात चिकित्सा।

(१) २॥-२॥ तोले पञ्चमूल का क्वाथ कर, निवाया रहने पर दिन में २ से ३ वार पिलावें।

(२) कस्तूरी, केशर, लौंग, जायफल और पीपल को समभाग मिला, अदरख के रस में २ दिन खरल कर, २-२ रत्ती गोलियाँ बना लें। फिर १-१ गोली अदरख के रस और शहद के साथ दिन में २ से ३ वार देने से वातप्रकोप सत्वर शमन होता है।

(३) सुवर्णभूपति रस (र० ३३६), सूतराज रस (र० ३७०), वातेभकेसरी रस (र० ५३३), कस्तूरीभैरव रस (र० ३७१), कस्तूर्यादि वटी (र० ५४३), लक्ष्मीनारायण रस (र० ३८८), अर्कादि क्वाथ (र० ६२५), देवदार्वादि क्वाथ (र० ६२५), हरताल गोदन्ती भस्म (र० २६३), इनमें से दोष-बल का विचार कर अनुकूल औषधि की योजना करें।

पित्तोल्वण सन्निपात चिकित्सा।

पित्तोल्वण सन्निपात में निम्नलिखित चिकित्सा करनी चाहिये।

(१) **मुस्तादि क्वाथ**—नागरमोथा, पित्तपापड़ा, खस, देवदारु, सोंठ, हरड़, बहेड़ा, आँवला, धमासा, नील की जड़, कपिला, निशोथ, चिरायता, पाठा, खरैंटी की जड़, कुटकी, मुलहठी और पीपलामूल, इन १८ औषधियों को मिला, क्वाथ कर पिलाने से पित्तप्राधान्य सन्निपात, मन्यास्तम्भ, हृदय, फेंफड़े, पसली और सिर की जकड़न आदि उपद्रव दूर हो जाते हैं।

(२) **परुषकादि क्वाथ**—फालसा, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), देवदारु, कायफल, लालचन्दन, पद्माख, कुटकी और पृष्टपर्णी, इन १० औषधियों का क्वाथ बना, शीतल कर पिलाने से पित्तप्राधान्य सन्निपात शमन हो जाता है।

(३) तुलसी के स्वरस के साथ गोदन्ती भस्म, लक्ष्मीनारायण रस, (र० ३८८), सूत शेखर रस (र० ५०६), मधुरान्तक वटी (र० ३६१), सुवर्णभूपति रस (र० ३३६), इनमें से किसी एक औषधि की योजना करने से शीघ्र ही पित्त प्रकोप जनित उपद्रवों सह सन्निपात शमन हो जाता है।

कफोल्वण सन्निपात चिकित्सा।

(१) **बृहत्यादि क्वाथ**—बड़ी कटेली, छोटी कटेली, पुष्कर-मूल, भारंगी, कचूर, काकड़ासिंगी, धमासा, इन्द्रजौ, परवल के पत्ते और कुटकी, इन १० औषधियों का क्वाथ कर, पिलाने से कासादि उपद्रवसह सन्निपात दूर हो जाता है। विशेषतः यह पित्तकफात्मक सन्निपात पर दिया जाता है।

(२) हरताल भस्म (र० २६८), हरताल गोदन्ती भस्म (र० २६३), अभ्रकभस्म और शृंगभस्म, मल्लभस्म (र० २७७), मल्लसिंदूर (र० ३२६), समीरपन्नग (र० ३३५), शीतभंजी रस (र० ३६८), नारायण ज्वरांकुश (र० ३७३), सूतराज रस (र० ३७०), कालकूट रस (र० ३८७), संचेतनी वटी (र० ३६१), संजीवनी वटी (र० ५४०), कालारि रस (र० ५३१), ये सब औषधियाँ हितावह हैं। इनमें से प्रकृति और रोगबल का विचार करके देने से कफोल्वण सन्निपात जल्दी शमन हो जाता है।

जीर्ण कफाधिक सन्निपात पर—कफ में रक्त भी जाता हो तो गदमुरारि रस (र० ३८६), ब्राह्मी, वासा, अथवा दूर्वा के रस के साथ देना चाहिये।

वातपित्तोल्वण सन्निपात चिकित्सा।

(१) **चातुर्भद्र क्वाथ**—(चिरायता, नागरमोथा, गिलोय और सोंठ का क्वाथ) देने से जल्दी सन्निपात दूर हो जाता है।

(२) सूतशेखर रस (र० ५०६), कस्तूरीभैरव रस (र० ३७१), लक्ष्मीनारायण रस (र० ३८८), इनमें से किसी एक की योजना करें।

वात-कफोल्वण सन्निपात चिकित्सा।

(१) अर्कादि काथ (र० ६२५) या कट्फलादि काथ (र० ६२६) दिन में २ या ३ वार देने से दोप पचन होकर सन्निपात की जल्दी निवृत्ति हो जाती है।

(२) पञ्चवक्त्र रस (र० ३८४), सूतराज रस (र० ३७०), हेमगर्भ पोटली रस (र० ३८३), संचेतनी वटी (र० ३६१), समीर-पन्नग रस (र० ३३५), कालारि रस (र० ५३१), अचिन्त्य शक्ति रस (र० ५३५), वातेभकेसरी रस (र० ५३३), इनमें से प्रकृति का विचार कर योजना करने से त्रिदोपज ज्वर नष्ट हो जाता है।

पित्त-कफोल्वण सन्निपात चिकित्सा।

(१) **पर्पटादि क्वाथ**— पित्तपापड़ा, कायफल, कूट, खस, रक्तचन्दन, नेत्रवाला, सोंठ, नागरमोथा, काकड़ासिंगी और पीपल, इन १० औपधियों का काथ देने से पित्त-कफात्मक सन्निपात दूर हो जाता है।

(२) अष्टादशांग काथ दूसरी विधि (र० ६२०), कफोल्वण सन्निपात पर लिखा हुआ वृहत्यादि काथ, लक्ष्मीनारायण रस (र० ३८८), अश्वकंचुकी रस (र० ३७७), महाज्वरांकुश तीसरी विधि (र० ३७५), ये सव औपधियाँ इस प्रकोप के लिये अति हितकारक हैं।

वात-पित्त-कफोल्वण चिकित्सा।

योगराज क्वाथ—सोंठ, धनिया, भारंगी, पद्माख, लाल चन्दन, पटोलपत्र, नीम की अन्तर छाल, हरड़, वहेड़ा, आँवला, मुलहठी, खिरैंटी, मिश्री, कुटकी, नागरमोथा, गजपीपल, अमलतास का गूदा, चिरायता, गिलोय, दशमूल और छोटी कटेली, इन २१ औपधियों का काथ पिलाने से त्रिदोपोल्वण सन्निपात नष्ट हो जाता है। इनमें चिरायता दुगुना लेना चाहिये।

प्रलापक सन्निपात चिकित्सा।

तगरादि कषाय—तगर, पित्तपापड़ा, अमलतास, नागरमोथा,

कुटकी, खस, असगन्ध, ब्राह्मी, मुनक्का, लालचन्दन, दशमूल और शंखाहुली, इन १२ औषधियों का क्वाथ करके पिलाने से वात-पित्तप्रकोप, मलावरोध और उन्मादादि उपद्रवसह प्रलापक सन्निपात दूर हो जाता है।

रक्तष्ठीवी सन्निपात चिकित्सा।

रोहिषादि कषाय—रोहिषतृण, धमासा, अडूसा, पित्तपापड़ा, प्रियंगु और कुटकी, इनके क्वाथ में मिश्री मिलाकर पिलाने से पित्तप्रकोप जनित उष्णता और रक्तस्रावसह रक्तष्ठीवी सन्निपात शमन हो जाता है।

भुग्ननेत्र सन्निपात चिकित्सा।

(१) असगन्ध, सैंधानमक, वच, महुए का सार, कालीमिर्च, सोंठ और लहसुन, इनको बकरे के मूत्र में पीसकर नस्य देवें; अथवा तन्द्रा में कहे हुए अंजन और नस्य दें।

(२) कालारि रस (र० ५३१) या संचेतनी वटी (र० ३६१), अर्कादि कषाय के साथ दिन में ३-३ समय देते रहने से दोष पचन होकर रोग शान्त हो जाता है।

कण्ठकुब्ज सन्निपात चिकित्सा।

त्रिफलादि क्वाथ—त्रिफला, त्रिकटु, नागरमोथा, कुटकी, इन्द्रजौ, अडूसा और हल्दी, इन ११ औषधियों का क्वाथ करके पिलाने से कण्ठकुब्ज ज्वर सत्वर शमन होता है।

अभिन्यास चिकित्सा।

(१) **कारव्यादि कषाय**—काला जीरा, पुष्करमूल, एरंडमूल, त्रायमाण, सोंठ, गिलोय, दशमूल, कचूर, काकड़ासिंगी, धमासा, भारंगी, पुनर्नवा, इन १२ औषधियों को समभाग ले, ५ गुने गोमूत्र में मिला, क्वाथ कर पिलाने से सब नाड़ियों की शुद्धि होकर घोर अभिन्यास ज्वर दूर हो जाता है।

(२) द्वात्रिंशदाख्य क्वाथ (र० ६४१) और योगराज क्वाथ (ऊपर वात-पित्त-कफोल्वण ज्वर में कहा हुआ), ये दोनों सब प्रकार के सन्निपात ज्वर में लाभदायक है।

हम विशेषतः वात और कफ की प्राधान्यता में सूतराज, कालारि, संचेतनी वटी (उत्तेजना देनी हो, तो), समीर पन्नग, इन औषधियों में से अनुपान भेद से उपयोग में लेते हैं। अनुपान रूप से अर्कादि क्वाथ, तगरादि कषाय, अष्टादशांग क्वाथ, द्वात्रिंशदाख्य क्वाथ का अधिक उपयोग करते हैं।

पित्ताधिकता होने पर सूतशेखर, लक्ष्मीनारायण, महाज्वरांकुश दूसरी विधि, इनमें से किसी भी रस को उचित अनुपान के साथ देते हैं।

उपद्रवों के शमनार्थ अंजन, निष्ठीवन, नस्य, अवलेहादि आवश्यक क्रिया भी साथ-साथ करते रहना चाहिये। उपद्रवों में भी उन्माद, प्रलाप, निद्रानाश, उष्णता की अति वृद्धि, शीतांग, हृदयावरोध, कण्ठावरोध, मल-मूत्रावरोधादि मारक उपद्रवों पर पहले लक्ष्य देना चाहिये। अच्छी निद्रा आ जाने पर उन्माद, प्रलाप, आमवृद्धि आदि अनेक दोषों की शान्ति हो जाती है। मलावरोध हो; तो उसे प्रारम्भ में ही वर्त्ति या वस्ति से एरंड तैल चढ़ाकर दूर कर देना चाहिये। वद्धकोष्ठता जब तक रहेगी, तव तक विष शमन नहीं हो सकता।

सूचना—एक औषधि देने के थोड़े समय वाद उसकी विरोधी दूसरी औषधि न दी जाय, इस बात को अवश्य ध्यान में रखना चाहिये।

आम पाचनार्थ—सूतराज रस (र० ३७०), पिप्पल्यादि क्वाथ (र० ६२६) या आरग्वधादि क्वाथ दूसरी विधि (र० ६२२) पंचकोल मिलाकर दें।

हाथ, पैर, जंघा, ऊरु आदि स्थानों पर वालुका-स्वेद करें। यदि आमाशय आम और कफ से आवृत हो तो आमाशय पर रूक्ष स्वेद देवें।

वातावरण शुद्धि के लिये—अपराजित धूप (र० ७७६); सहदेव्यादि धूप (र० ७७६), जन्तुघ्न धूप (र० ७७६), इनमें से किसी एक का उपयोग करें।

वातशूल हो, तो—यदि आमाशय में वातप्रकोप हो, तो तारपीन तैल लगा, गरम जल से सेक करें। लघु आंत्र (पक्वाशय) और मूत्राशय (वस्ति स्थान) में वात भर जाने से आनाह, कोष्टशूल, मल-मूत्रावरोधादि

उपद्रव हो जाते हैं। वहाँ पर तारपीन लगाकर निवाये जल से सेक करें। पार्श्व और हृदय में शूल हो तो उन स्थानों पर भी इसी तरह सेक करें। किन्तु हृदय पर अधिक सेक न करें।

फुम्फुसादि भाग में कफप्रकोप हो तो पुराना घी, अदरख का रस और कपूर मिला, गरम कर मालिश करें। फिर आक के पत्ते बांध, निवाये जल से सेक करने से संचित श्लेष्मा सरलता से छूटकर बाहर निकल जाता है। इस तरह कण्ठ पर भी उपचार कर सकते हैं।

तन्द्रा—आमाशय में आम और कफप्रकोप बढ़ जाने के पश्चात् जब कफ वायु के मार्ग का रोध कर धमनी में प्रवेश करता है; तब तन्द्रा की उत्पत्ति होती है। तन्द्रा वाले रोगी के नेत्र आधे बन्द रहते हैं; पुतलियाँ फिरती हैं; नेत्रस्राव होता रहता है; भांफणी स्थिर-सी हो जाती है; मुख खुला रहता है; तथा कण्ठरोध होने लगता है। इस तन्द्रा को कष्टसाध्य उपद्रव माना है; अतः युक्ति से इसको दूर करना चाहिये। तन्द्रा रोग ३ दिन तक प्रयत्न किया जाय तो साध्य होता है, इसके पश्चात् अति कष्टसाध्य या असाध्य हो जाता है।

तन्द्रा शमनार्थ—छोटी कटेली, गिलोय, पुष्करमूल, सोंठ और हरड़ का क्वाथ करके पिलावें।

तन्द्रा, मूर्च्छा और बेहोशी में नस्य—श्वास कुठार रस (र० ४४७) या शीतभंजी रस प्रथम विधि (र० ३६८) अथवा सफेद मिर्च, सरसों, कूट और सैंधानमक को बकरे के मूत्र में पीसकर नस्य दें। ये सब नस्य कफ को बाहर निकालकर बेहोशी शमन करने वाले हैं।

सूचना—मस्तिष्क और हृदय यदि निर्बल हो, या मस्तिष्क में उष्णता पहुँचने से शुष्कता आगई हो; तो इन तीक्ष्ण नस्यों को प्रयोग में नहीं लाना चाहिये। सरसों के तैल में लहसुन का स्वरस मिला हुआ नस्य या और कोई स्निग्ध नस्य दें।

तन्द्रा में अंजन—(१) मैनसिल और वच को लहसुन के रस में महीन पीस कर नेत्र में अञ्जन करें।

(२) अञ्जन रस (र० ४४७) अथवा प्रचेतानाम गुटिका (र० ७४५)

को जल में घिसकर अञ्जन करें।

(३) मैनसिल, पीपल और हरताल को पीसकर अञ्जन करें।

(४) लोहभस्म, गोरोचन, कालीमिर्च और सफेद लोध को जल में घिसकर अञ्जन करने से तन्द्रा सत्वर दूर होती है।

तन्द्रा में पट्टी—रोगी के नेत्र निस्तेज-रक्तशून्य हों और निद्रा या तन्द्रा अधिक हो, तो सिर के आगे के हिस्से के वाल कटवा कर अदरख के रस की पट्टी लगावें। जब तक नेत्र में लाली (रक्त) न आ जाय, रोगी को चेतना न व्यापे; तब तक पट्टी लगाते रहें और हृदय-पौष्टिक औषधि देते रहें।

तन्द्रा में रोटिका बन्धन—लहसुन, राई और सुहिंजने के बीज प्रत्येक १०-१० तोले लेकर गोमूत्र में खरल करके रोटी बना लें। इस रोटी को तवे पर घी लगाकर एक ओर से सेक, मस्तक के वाल दूर कर, घी चुपड़ कर गरम-गरम बाँधें। चेतना होने पर रोटी खोल लेवें। यदि १ घण्टे में चेतना न आवे तो उस रोटी को खोल, पुनः दूसरी रोटी बाँधनी चाहिये। ऊपर की कही हुई पट्टी की अपेक्षा यह रोटिका अति तीव्र है। जहाँ पट्टी से लाभ होता हो, वहाँ पर रोटिका का उपयोग नहीं करना चाहिये।

तन्द्रा पर पेट में देने की औषधियाँ—अर्कादि क्वाथ (र० ६२५), प्रतापलंकेश्वर रस (र० ५१६), संचेतनी वटी (र० ३६१), कस्तूर्यादि वटी (र० ५४३), सूतराज रस (र० ३७०), इनमें से अनुकूल औषधि को प्रयोग में लाने से सत्वर शुद्धि आ जाती है।

दाँत खोलने के लिये—आधा या एक मिनट श्वासोच्छ्वास को बन्द करने से अर्थात् नाक को दबाने से दाँत खुल जाते हैं।

वेहोशी में सूचा भेद—सिर पर १ इंच जितने भाग में उस्तरे से वाल निकाल कर, थोड़ा घाव कर सूचिकाभरण रस (र० ३७१) या लघु सूचिकाभरण रस (३७२) को उँगली से घिसकर रक्त में प्रवेश करा देने पर रोगी सत्वर शुद्धि में आ जाता है।

हृदय रक्षण के लिये—पूर्णचन्द्रोदय रस (र० ३१८),

रससिंदूर (र० ३२०), कस्तूरीभैरव रस (र० ३११), त्रैलोक्य चिन्तामणि रस (र० ३७६), लक्ष्मीविलास रस (र० ३६२), ब्राह्मीवटी (र० ३६५), द्राक्षासव (र० ६५६), इनमें से अनुकूल औषधि देते रहना चाहिये।

हृदय की गति १५० से ऊपर चली जाने पर उसे अरिष्ट मानते हैं। अतः हृदय को उत्तेजित करने के लिये पूर्णचन्द्रोदय रसादि के समान डाक्टरी में निम्न औषधियाँ दी जाती हैं।

टिञ्चर डिजिटेलिस	Tinct.	Digitalis	५ से १५ बूँद
टिञ्चर नक्स वॉमिका	„	Nux Vomica	५ से ३० बूँद
टिञ्चर स्ट्रॉफेन्थस	„	Strophanthus	२ से ५ बूँद

इनमें से एक औषधि २॥ तोले जल मिलाकर दें।

इन औषधियों में टिंचर डिजिटेलिस* मूत्रल और हृदय पौष्टिक है, कम मात्रा में रक्तवाहिनियों का संकोच करता है। अधिक मात्रा में हृदय की गति को कम करता है। टिंचर नक्स वॉमिका× (कुचले का अर्क) वातहर, कृमिघ्न और हृदय पौष्टिक है। टिंचर स्ट्रॉफेन्थस मूत्रल, रक्त-शोधक और हृदय पौष्टिक है। ये तीनों औषधियाँ अधिक मात्रा में मारक विषरूप हैं, अतः इनका सम्हालपूर्वक उपयोग करना चाहिये।

इनके अतिरिक्त ब्राण्डी Brandy (स्पिरिट वाइनी गेलिसी Spirit Vini Gallici) १ से ४ ड्राम तक जल या सोडावॉटर मिलाकर पिलाते हैं। ब्राण्डी उत्तेजक, गरम, पौष्टिक और मादक है। उष्णता कम होने पर इस औषधि का उपयोग किया जाता है।

कफ, कास, श्वास, हिक्का और कण्ठदोष शमन के लिये—दशमूल क्वाथ (र० ६१८), अष्टादशांग क्वाथ प्रथम विधि (र० ६२०), द्वात्रिंशदाख्य क्वाथ (र० ६४१), अष्टांगावलेह (र० ६८०), कफकुठार रस (र० ४४५), श्वासकुठार रस (र० ४४७), शृङ्गभस्म

* यदि एक मात्रा ही देना हो; तो २० से ६० बूँद तक देने का सन् १९३२ ई० से विधान हुआ है।

× कुचले के अर्क की मात्रा पहले ५ से १५ बूँद थी, वही सन् १९३२ ई० से ५ से ३० बूँद तक बढ़ा दी है।

(र० २८२), मल्लभस्म (र० २७७), इनमें से अनुकूल औषधि देवें। यदि उष्णता १०१ से अधिक हो, तो मल्लभस्म नहीं देना चाहिये।

दूषित कफ को दूर करने के लिये—मल्लसिन्दूर दूसरी विधि (र० ३२७), समीरपन्नग (र० ३३५), वातेभकेसरी रस (र० ५३३), अचिन्त्य शक्ति रस (र० ५३५), इनमें से अनुकूल औषधि देने से कफ जल्दी निकल जाता है।

हिचकी पर—मोर पंख के चन्दलों की भस्म, ताम्रभस्म (हालों के क्वाथ के साथ), हिक्कान्तक रस (र० ४५०), इनमें से एक को प्रयोग में लावें; या साँप की हड्डियों की भस्म ४-४ रत्ती जल के साथ देने से हिक्का शमन हो जाती है।

वात कफोल्वण में उष्णता कम करने के लिये—त्रिभुवनकीर्त्ति रस (र० ३७८), महाज्वरांकुश रस तीसरी विधि (र०३७४), कटफलादि क्वाथ (र० ६२६), संजीवनी वटी (र० ५४०), जया अथवा जयंती वटी (र० ५४५), सूतराज रस (र० ३७०), कालारि रस (र० ५३१), इनमें से अनुकूल औषधि का उपयोग करें। त्रिभुवनकीर्त्ति रस से पसीना आकर उष्णता सत्वर कम हो जाती है।

पैत्तिकप्रकोप में उष्णता और दाह शमन के लिये—सूतशेखर रस (र० ५०६), चन्द्रकला रस (र० ४३७), मौक्तिकपिष्टी (र० २४०), प्रवालपिष्टी (र० २४३) और दिवालमुश्क (र० ६८६); ये सब हितावह हैं। सूतशेखर वात-पित्त प्रकोप को सत्वर शमन कर मस्तिष्क को शान्त बनाता है। चन्द्रकला रस रक्तस्राव, दाह तथा रक्त की उष्णता और विकृति को दूर करता है। शेष तीनों पित्त प्रकोप जनित निद्रा नाश, मुखपाक, दाह, व्याकुलता, उन्माद, नेत्रस्रावादि विकारों को जल्दी दबा देते हैं।

ज्वर की तीव्रता कम करने के लिये डाक्टरी में निम्न औषधियाँ उपयोग में ली जाती हैं।

एस्पिरीन (Aspirin) ५ से १५ ग्रेन

फेनासिटीन (Phenacitin) ५ से १० ग्रेन*
एण्टीफेब्रीन (Antifebrin) २ से ५ ग्रेन
एण्टीपायरीन (Antipyrine) ५ से १० ग्रेन*

ये औषधियाँ सत्वर प्रस्वेद लाकर ताप को उतार देती हैं। इन औषधियों में ज्वरघ्न, पीड़ा शामक, शान्तिदायक, स्वेदक और निद्रा लाने का गुण है; किन्तु इनमें तीव्र हृदयावसादक दोष भी रहा है। अतः इनका उपयोग सम्हाल कर करना चाहिये। यदि इनमें से किसी का उपयोग करना हो; तो केफीन साइट्रस Caffein Citras २ से ५ ग्रेन (हृदय पौष्टिक औषधि) मिला देना अच्छा है। एण्टीफेब्रीन और एण्टीपायरीन तत्काल गरमी कम कर देते हैं। अतः इनकी अपेक्षा एस्पिरीन और फेनासिटीन अच्छी मानी जायगीं। वे २ घण्टे पर उष्णता को कम करती हैं। इस बात का भी लक्ष्य रखना चाहिये, कि उष्णता अधिक न्यून न हो जाय; इस हेतु से कम मात्रा में उपयोग करना हितकर है।

उष्णता शमनार्थ मालिश—कपूर, सफेद चन्दन और नीम के पत्तों को मट्ठे के साथ पीसकर लेप करें या बकरी के दूध की मालिश करें।

पित्त प्रकोप हो, तो—(१) सिर पर शतधौत घृत १०-२० तोले चुपड़ दें। घृत पिघलने पर पोंछ लें। इस तरह बार-बार लगाते रहें।

(२) पित्तप्राधान्य सन्निपात में गरमी १०४ से ऊपर चली जाने पर, सिर पर गुलाबजल या सिरका की पट्टी या बर्फ की थैली रक्खें।

(३) जब उष्णता १०४ से १०८ डिग्री तक पहुँच जाती है; तब उष्णता को जल्दी शमन करने के लिये दरदी को कपड़ा उढ़ा दें। केवल नाभि का थोड़ा भाग और नासिका का भाग खुला रक्खें। पीछे कांसी की कटोरी में शीतल जल भर कर नाभि पर रक्खें। आध घण्टे में प्रस्वेद आकर गरमी कम हो जाती है।

(४) कोहनी से नीचे दोनों हाथ; और घुटनों से नीचे दोनों पैरों

* फेनासिटीन और एण्टीपायरीन (फेनेझोन Phenazone) की मात्रा पहले ५ से १५ ग्रेन थी, वह १६३२ से ५ से १० ग्रेन निश्चित की है।

को निवाये जल में डुबोये हुए कपड़े से पोंछते रहने से भी उष्णता न्यून हो जाती है।

मुँह में छाले हों, तो—गूलर का दूध २-३ बूँद लगावें।

नाक से या मुँह से रक्त गिरने पर—मिश्री मिले हुए अनार के फूलों का रस १०-१० बूँद नाक में डालें।

रक्तवमन पर—सूतशेखर रस (र० ५०६) वासावलेह के साथ दें; अथवा प्रवालपिष्टी या मौक्तिकपिष्टी गिलोय सत्व और शहद के साथ देवें।

मुखपाक पर—बिजौरे नीबू का रस, सैंधानमक, पीपल, अदरख और कालीमिर्च को मिला, पीसकर मुख में धारण करने या जिह्वा पर मलने से वातकफ दोष से मुँह सूखना, अरुचि और चिकनापनादि दूर होकर मुँह में रुचि उत्पन्न होती है; तथा जिह्वा और कण्ठ में रहा हुआ कफ भी दूर हो जाता है।

जिह्वा विकृति पर—जिह्वा शुष्क होकर फट गई हो; तो किसमिस या मुनक्का को शहद के साथ पीस, गोघृत मिला, जिह्वा पर मालिश करना चाहिये।

यदि जिह्वा में जड़ता आ जाने से बोलने की या स्वाद जानने की शक्ति नष्ट हो गई हो, तो त्रिकटु, आँवला, सैंधानमक और तैल मिला कर जिह्वा पर मलें; और पहले लिखी हुई निष्ठीवन क्रिया करें।

जिह्वा पर काँटे आने पर सोनामुखी (सनाई) के चूर्ण को शहद में मिलाकर मलने से काँटे और रूक्षता दूर होकर जिह्वा मुलायम बनती है।

मूत्रावरोध पर—(१) गोखरू के क्वाथ में शुद्ध शिलाजीत मिलाकर पिलावें।

(२) रबर की नली से मूत्र निकाल लें।

(३) कलमीशोरा और नौसादर को शीतल जल में डाल, कपड़ा भिगो, नाभि के नीचे वस्ति स्थान पर रखने से सत्वर मूत्रशुद्धि हो जाती है।

आधा अङ्ग उष्ण और आधा शीतल हो जाय, तो—क्वचित् हाथ-पैर शीतल हो जाता है या हाथ-पैर गरम और शरीर ठण्डा

हो जाता है, अथवा कमर से नीचे का भाग शीतल हो जाता है, तब द्राक्षासव, अभ्रक भस्म(६४ प्रहरी पीपल के साथ), त्रैलोक्य चिन्तामणि (र० ३७६), जयमंगल रस (र० ३८१), संचेतनी वटी (र० ३६१), कटफलादि क्वाथ (र० ६२६), इनमें से अनुकूल औषधि थोड़ी-थोड़ी मात्रा में २-२ घण्टे पर बार-बार देते रहें। विशेषतः ऐसे समय पर हृदय को उत्तेजना देने वाली औषधि देनी चाहिये; जैसे पूर्णचन्द्रोदय और रससिन्दूरादि जो पहले लिख दी हैं।

उष्णता बढ़ाने के लिये—(१) कालकूट रस (र० ३८७), संचेतनी वटी (र० ३६१), अचिन्त्य शक्ति रस (र० ५३५), सूतराज रस (र० ३७०), हेमगर्भ पोटली रस (र० ३८३), समीर पन्नग (र० ३३५), हरताल भस्म (र० २६६), मल्ल भस्म (र० २७७), मल्ल सिन्दूर (र० ३२६), शीतभंजी रस (र० ३६८), इनमें से अनुकूल औषधियों का उपयोग करें। कालकूट रस शरीर में बहुत जल्दी उष्णता बढ़ा देता है। संचेतनी वटी हृदय को उत्तेजना देती है; और उष्णता भी बढ़ा देती है।

(२) हाथ, पैर और पार्श्व में गरम जल की बोतल से सेक करें।

प्रस्वेद लाने वाली औषधियाँ—(१) चाय या कॉफी सोंठ मिलाकर तैयार करें। फिर निवायी रहने पर छानकर पिला देवें और मोटे कपड़े उढ़ाकर सुला दें; तो खूब प्रस्वेद आ जाता है।

(२) सफेद पुनर्नवा की मूल या काली अनन्तमूल की जड़ १ तोले का क्वाथ कर पिला देने से प्रस्वेद आता है; और पेशाब साफ होकर ज्वर दूर हो जाता है।

(३) अर्कादि क्वाथ (र० ६२५) देने से प्रस्वेद आकर तन्द्रा, शीत, दाँत भिचना और धनुर्वातादि उपद्रव दूर होते हैं।

(४) त्रिभुवनकीर्ति रस (र० ३७८) १ रत्ती अदरख के रस और शहद के साथ देने से वात श्लेष्म प्राधान्य सन्निपात में आध घण्टे में ही प्रस्वेद आने लगता है; हृदय की बढ़ी हुई गति मन्द होती है; पेशाब साफ होता है; और बेचैनी कम हो जाती है।

(५) वड़ के पक्के पान के डींटों का क्वाथ कर शहद मिलाकर पिलाने से सत्वर प्रस्वेद आ जाता है।

प्रस्वेद शामक औषधियाँ—(१) अजवायन और भांगरे का क्वाथ कर पिलाने से अधिक प्रस्वेद आना रुक जाता है।

(२) ब्रह्मदण्डी के मूल का चूर्ण ६ माशे शहद के साथ देने से पित्तप्रकोप शमन होकर प्रस्वेद आना बन्द हो जाता है।

(३) वच, कायफल, काला जीरा, चिरायता, हिंगुल और वच्छनाग १-१ भाग, काली मिर्च ४ भाग और धतूरे के फल की भस्म ८ भाग मिलाकर मालिश करने से अधिक प्रस्वेद निकलना और शीत दोनों बन्द होते हैं।

(४) भुने चने या भुनी कुलथी के आटे से मालिश करने पर अधिक प्रस्वेद आना बन्द हो जाता है।

(५) गोबरी की राख और पुराने घड़े (जिसमें नमक भरा रहता हो) का चूर्ण मिला, कपड़-छान कर मालिश करें।

(६) विषादि उद्धूलन (र० ७८१) या भूनिम्बादि उद्धूलन (र० ७८१) मालिश करने से प्रस्वेद बन्द होकर बाह्य शीतलता दूर हो जाती है।

आन्तर्दाह और बाह्य शीतलता हो, तो—जयमंगल रस (र० ३८१) ६४ प्रहरी पीपल और शहद के साथ चटाकर ऊपर गिलोय का क्वाथ पिलावें; अथवा प्रवालपिष्टी, गिलोयसत्व, पीपल और शहद मिलाकर चटाने से आन्तर्दाह और बाह्य शीतलता दूर होती है।

अतिसार पर—आनन्दभैरव रस (र० ४०७), सूतराज रस (र० ३७०), नागरादि क्वाथ चौथी विधि (र० ६२४), मधुर ज्वरान्तक क्वाथ (र० ६२४), उशीरादि क्वाथ (र० ६२७), इनमें से अनुकूल औषधि का प्रयोग करने से पचन क्रिया सुधर कर अतिसार बन्द हो जाता है।

प्रलाप, उन्माद (दौड़ना, भागनादि) और निद्रा-नाश पर—कस्तूर्यादि वटी (र० ५४३), निद्रोदय रस (र० ४५६), वातकुलान्तक रस (र० ४५८), महा वातविध्वंसन रस (र० ४६२),

कस्तूरीभैरव रस (र० ३७१), अष्टादशांग क्वाथ दूसरी विधि (र० ६२०), इनमें से अनुकूल औषधि देने से रक्त-विष का शमन होकर सब उपद्रव दूर हो जाते हैं। पित्त की अधिकता है; तो पहले लिखा हुआ मुस्तादि या परुषकादि क्वाथ अनुपान रूप से देवें।

वातिक प्रलाप शमन के लिये—प्रलापहर लेप (र० ७५७)।

पैत्तिक प्रलाप शमनार्थ—यदि अत्यन्त उष्णता बढ़ने से प्रलाप, प्यास, पूर्ण बल युक्त वेगवती नाड़ी, उष्ण और शुष्क त्वचा तथा नेत्र में खूब लाली है; तो शिर पर शतधौत घृत का लौंदा (लम्प Lump) रखें। पिघलने पर उसे निकाल दूसरा रक्खें। इस प्रकार कई बार शतधौत घृत के मोटे-मोटे लेप से प्रलाप शमन हो जाता है।

निद्रानाश—इसको प्रबल उपद्रव समझना चाहिये। निद्रा अच्छी मिल जाय; तो रोग-बल सहज कम हो जाता है। निद्रा न आने से अच्छी औषधि देने पर भी रोग-बल घट नहीं सकता। इस हेतु से इस उपद्रव को सत्वर दूर करना चाहिये।

निद्रा उत्पादक अञ्जन—मुगलाई एरण्ड के फल को लेकर घी की बत्ती पर सेक, ऊपर से छिल्टा निकाल, पीस, २ रत्ती कस्तूरी मिला, उसमें से थोड़ा अञ्जन करें। यदि प्रलाप शमन न हो और आवश्यकता हो; तो एक घण्टे बाद पुनः अञ्जन करें।

निद्रा लाने के लिये—(१) दोनों पैरों के तल पर काँसी की कटोरी से घी की मालिश करें।

(२) भाँग को बकरी के दूध में पीसकर लेप करें।

(३) भूनी हुई भाँग का चूर्ण शहद के साथ शाम को खिलावें।

(४) पीपलामूल का चूर्ण ३ से ६ माशे तक गुड़ में मिलाकर शाम को खिलावें।

(५) घी या एरण्ड तैल को काँसी की थाली में काँसी की कटोरी से घोटकर अञ्जन करने से निद्रा आ जाती है।

इनके अतिरिक्त कुछ उपाय पहले ज्वर के प्रारम्भ में उपद्रव चिकित्सा में लिखे हैं।

डाक्टरी में रक्त में विषवृद्धि (टॉक्सिमिया Toxaemia) जनित प्रलाप, उन्माद और निद्रानाशादि उपद्रव होने पर निद्रा लाने के लिये निम्न औषधियों का उपयोग करते हैं।

क्लोरल हाइड्रास	Chloral Hydras	५ से २० ग्रेन
पोटासियम ब्रोमाइड	Pottassium Bromide	१० से ३० ग्रेन
सोडियम ब्रोमाइड	Sodium Bromide	१० से ३० ग्रेन
एमोनियम ब्रोमाइड	Ammonium Bromide	१० से ३० ग्रेन
एस्पिरिन	Aspirin	५ से १५ ग्रेन

इनमें से एमोनिया ब्रोमाइड कफघ्न, स्वेदल, कुछ उष्ण और निद्रा उत्पादक है, तथा हृदय की गति को अधिक मन्द नहीं करता। शेष सब हृदय को हानि पहुँचाते हैं।

क्लोरल हाइड्रास और पोटास ब्रोमाइड मिलाकर भी दिया जाता है। एवं क्लोरल हाइड्रास के बदले उसका शर्बत (Syrup chloral) ½ से १ ड्राम तक दिया जाता है। क्लोरल हाइड्रास में पीड़ा शामक और निद्रा लाने के गुण हैं। यह शूल, आमवात, धनुर्वात, उन्माद, व्याकुलता, निद्रानाश, शिरदर्दादि रोगों में लाभदायक है।

पोटास ब्रोमाइड में स्नायुशैथिल्यकृत, शामक, निद्राकारक और रक्तशोधक गुण हैं।

सोडा ब्रोमाइड रक्तशोधक, कफघ्न और निद्रा उत्पादक है।

यदि उन्माद का असर कम हो; तो केवल निद्रा लाने के लिये सोने के समय से ४ घण्टे पहले (सल्फोनल Sulphonal) १० से ३० ग्रेन तक गरम जल के साथ मिला, घोल, निवाया रहने पर पिला दें। यह औषधि हृदय को हानि नहीं पहुँचाती, किन्तु कुछ मलावरोध करती है। अतः बद्धकोष्टता हो तो नहीं देना चाहिये। अथवा एनिमा द्वारा पहले कोष्ट शुद्धि कर लेवें।

सल्फोनल में से बनी हुई सत्वर निद्रा लानेवाली इतर दो औषधियाँ हैं। एक मेथील सल्फोनल (ट्रायोनल Trional) है। यह १० से २० ग्रेन तक देने से बलात्कार से आध से एक घण्टे में निद्रा ला देती है।

दूसरी एथील सल्फोनल (टेट्रोनल Tetronal) है। यह ट्रायोनल से भी अधिक भयप्रद है।

इनके अतिरिक्त हृदय को हानि न पहुँचाने वाली (पेरेलडीहाइड Paraldehyde) है। इसको ½ से २ ड्राम तक लेवें। किन्तु बेस्वादु होने से किसी शर्बत के साथ मिलाकर पिला देने से १५ मिनट में निद्रा आ जाती है। अथवा बारबिटोनम या वेरोनल (Barbitonum or Veronal) ५ से १० ग्रेन तक ठण्डे जल के साथ देने से १ घण्टे में निद्रा आ जाती है, परन्तु इस औषधि का उपयोग बारबार नहीं करना चाहिये।

शिरःकम्प और शिरःशूल समनार्थ—घिया (लौकी) के बीज की गिरी ५ तोले और कलमीशोरा २ तोले मिला, स्त्री दुग्ध या बकरी के दूध में पीस कर, ब्रह्मरन्ध्र के बाल निकाल कर लेप करें। लेप सूखने पर, उतार कर पुनः-पुनः नूतन लेप करते रहें।

कर्णमूल—सन्निपात ज्वर में अनेक बार रोग-बल अति बढ़ जाने पर कान के मूल के पास एक गांठ या शोथ की उत्पत्ति होती है, उसे कर्णमूल कहते हैं। इस शोथ को प्राण-घातक माना है। इस उपद्रव की उत्पत्ति होने पर कोई भाग्यशाली रोगी ही बचता है। यदि यह शोथ ज्वर के प्रारम्भ के दिनों में देह सबल होने पर होता है तो साध्य; ज्वर की तरुणावस्था में होने पर कष्टसाध्य; और मुद्दती ज्वर के दिन पूरे हो जाने पर हो जाय, तो असाध्य माना जाता है। परन्तु क्वचित् मुद्दती ज्वर के अन्त में भी होने वाले कर्णशोथ वाले रोगी बच जाते हैं।

कर्णमूल चिकित्सा—पहले शोथ मिटाने के लिये विम्लापन क्रिया करें। यदि उतने से शोथ विलीन न हो, तो जलौका द्वारा रक्त-मोक्षण करें। फिर भी कदाचित् पाक होने लगे, तो पकाने के लिये पुल्टिसादि क्रिया करें। अन्त में प्रतिसारणीय क्षार या शस्त्र चिकित्सा द्वारा पीप निकाल कर मल्हमादि की पट्टी लगावें।

कर्णमूल शोथहर लेप—(१) रास्ना, सोंठ, बिजौरे की छाल, चित्रकमूल, दारुहल्दी और अरणी को समभाग मिला, जल के

साथ पीस, लेप करने से कर्णशोथ नष्ट हो जाता है।

(२) गेरू, सज्जीखार, सोंठ, वच और राई को काँजी में पीस, गरम कर, वारबार लेप करते रहने से शोथ शमन हो जाता है।

(३) कुलथी, कायफल, सोंठ, कालीजीरी, सबको समभाग मिला, अदरख के रस में या थूहर के पत्तों के रस में पीस, गरम कर निवाया लेप करें। सूख जाने पर उसको उतार नया लेप करें। इस रीति से वारवार लेप करते रहने से जल्दी पाक होकर फूट जाता है।

(४) हल्दी, इन्द्रायण, कूट, सैंधानमक, देवदारु और हिंगोट की मूल को आक के दूध में पीस, निवाया कर, बैठाने के लिये लेप करें।

(५) सोंठ, देवदारु, रास्ना और चित्रकमूल का लेप करने से दोष सत्वर शमन हो जाता है।

(६) कर्ण-शोथहर लेप दूसरी विधि (र० ७५८) लगाने से शोथ सत्वर शमन हो जाता है।

(७) वच्छनाग को नीबू के रस में घिस कर दिन में ३-४ समय लेप करने से शोथ उतर जाता है।

(८) अलसी २ तोले, सिंदूर ३ माशे, कपूर १ माशा और १ अण्डे की सफेदी लें। पहले अलसी को कूट, जल मिला कर उबालें। पक जाने पर नीचे उतार, सिंदूर और कपूर मिलावें। फिर अण्डे की सफेदी मिला, लेप तैयार करें। इस लेप को कपड़े की पट्टी पर थोड़ा-थोड़ा लगा कर शोथ पर लगा दें। आवश्यकता पर ६-६ घण्टे पर बदल दें। २-३ समय लेप लगाने से शोथ शमन हो जाता है।

(९) पहले स्वेदन कर फिर जौंक लगवा कर दूषित रक्त निकाल डालें। फिर ऊपर लिखे हुए लेप करें।

(१०) कर्णमूल की गाँठ बढ़ती और पकती होवे; तो अलसी के आटे में थोड़ा दूध मिला, गरम कर, पुल्टिस बना कर लगावें। इस रीति से दिन में ८-१० समय पुल्टिस लगावें, या चौलाई की जड़ को दूध में पीस कर लेप करते रहें। पकने पर प्रतिसारणीय क्षार (र० ७५३) लगा या ऑपरेशन कर पीप को निकाल देवें। पश्चात् निम्बादि मलहम

(र० ७७५), वृणामृत मल्हम (र० ७६३), जात्यादि घृत (र० ७१६), या कोशातक्यादि तैल (र० ७२८) की पट्टी लगाते रहने से थोड़े ही दिनों में घाव साफ हो जाता है।

(११) कर्णशोथ, कफ प्रकोप, स्वर भेद और हनुग्रहादि के शमनार्थ कटफलादि कषाय (र० ६२६) पिलाते रहने से भीतर से भी अधिक बलपूर्वक संशोधन क्रिया होने लगती है।

जीर्ण सन्निपात चिकित्सा।

जब त्रिदोषज ज्वर में चिकित्सा योग्य नहीं होती, या पथ्य पालन करने में भूल होती है, या आन्तरिक शक्ति अधिक निर्बल होती है; तब मुद्दत पूरी होने पर भी रोग दूर नहीं होता। किन्तु तीव्र स्वरूप दूर होकर जीर्ण बन जाता है; और रोगी को १-२ मास तक दुःख देता रहता है। ऐसे समय पर चिकित्सा निम्नानुसार की जाती है।

दोषपचन और मलशुद्धि अर्थ—लक्ष्मीनारायण रस (र० ३८८), त्रिवृतादि कषाय (र० ६२६), गदमुरारि रस (र० ३८६), आरग्वधादि क्वाथ (र० ६२१), इनमें से अनुकूल औषधि देते रहने से जीर्ण सन्निपात में दोषपचन होता है। ये औषधियाँ सन्निपात जीर्ण होने पर आँतों में आम और मल भरा हो, तब दी जाती है।

यकृत् प्लीहा की वृद्धि सह जीर्ण सन्निपात पर—(१) महाज्वरांकुश रस दूसरी या तीसरी विधि (पीपल, जीरा और शहद के साथ र० ३७४) में से एक को प्रयोग में लावें। या जयमंगल रस (र० ३८१), लक्ष्मीविलास रस (र० ३६२), सुवर्णभूपति रस (र० ३३६), इनमें से अनुकूल औषधि देने से जीर्ण सन्निपात दूर हो जाता है। ज्वर की अधिकता में जयमंगल रस अधिक हितकर है। वातवहा नाड़ियों में विकृति हो, तो सुवर्णभूपति रस दें। हृदय की निर्बलता अधिक हो, तो लक्ष्मीविलास रस देवें।

सूचना—सन्निपात में पीने के लिये बिना औटाया जल कदापि नहीं देना चाहिये; तथा दूषित कफ-दोष नष्ट होने के पहले कुछ भी खाने को न दें।

कम्प और प्रलापादि वातप्रकोप होने पर भी बृंहण-चिकित्सा (घृतपान) नहीं करना चाहिये।

दाह और प्यास शमन के लिये शीतल जल नहीं पिलाना चाहिये।

दोषपचन हो जाने पर धमासा, गोखरू और छोटी कटेली के क्वाथ में सिद्ध किया हुआ यूप देना चाहिये।

पसीना आता हो, तो उसे बहुत जल्दी बन्द करना चाहिये।

निद्रा नाश और तन्द्रा हो, तो उसे मारक उपद्रव समझ कर सबसे पहले दूर करने का उपाय करना चाहिये।

ज्वर के उपद्रवों की विशेष चिकित्सा ज्वर चिकित्सा के प्रारम्भ में लिखी है। इसलिये वह चिकित्सा अत्र पुनः नहीं लिखी।

(६) आगन्तुक ज्वर।

आगन्तुक ज्वर—(एडवेण्टीशियस फीवर Adventitious Fever)।

इस ज्वर की उत्पत्ति अभिघात, अभिचार, अभिशाप और अभिषङ्ग, इन आगन्तुक कारणों से होती है। अतः इसको आगन्तुक ज्वर कहते हैं। इस ज्वर में अन्य रोगों के सदृश पहले दोष प्रकोप नहीं होता; किन्तु अभिघातादि हेतु से केवल रोगोत्पत्ति होकर फिर कारणानुरूप दोषप्रकोप होते हैं। कारण भेद से इस ज्वर के मुख्य ४ विभाग हैं।

(१) अभिघातज ज्वर निदान—(ट्रॉमॅटिक फीवर Traumatic Fever) शस्त्र, पत्थर, मुक्का, लकड़ी आदि की चोट या अग्नि से जलना, मक्षकादि के दंश इत्यादि से आनेवाला ज्वर। अकस्मात् गिर जाना, मार्गगमन या अधिक परिश्रम से ताप आ जाय, वह भी अभिघातज कहलाता है।

(२) अभिचारज ज्वर निदान—दुश्मनों के प्रेरित दुष्ट संकल्प (मारण, उच्चाटनादि कर्म) से आनेवाला ज्वर।

(३) अभिशापज ज्वर निदान—ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्धादि या पीड़ितों के शाप से होनेवाले ज्वर को अभिशापज ज्वर कहते हैं।

(४) **अभिषंगज ज्वर निदान**—जहरी वृक्षों की वायु का स्पर्श, जहरी या विष मिश्रित औषधियों की गन्ध, सविष कीटाणुओं का स्पर्श, काम, क्रोध, भय, शोकादि हेतुओं से या भूतों* के आवेश से इस ज्वर की उत्पत्ति हो जाती है।

अन्य तापों में पहले दोषप्रकोप होता है; बाद में ताप आता है; और इस आगन्तुक ज्वर में पहले ताप आता है; बाद में दोषप्रकोप होता है; यह दोनों में भेद है।

अभिषंगज ज्वर जिस-जिस हेतु से होता है, उस-उस हेतु के अनुरूप कुपित हुए वातादि दोषों के लक्षण उत्पन्न होते हैं। हेतुप्रत्यनीक चिकित्सा के लिये इनके भेदों का विवेचन किया जाता है।

विषजन्य ज्वर लक्षण—मुँह का वर्ण काला या काला-पीला हो जाना, अतिसार (स्थावर विषजन्य हो, तो), अरुचि, प्यास, तोड़ने समान पीड़ा, हृदय में पीड़ा, सारी देह में या आमाशय में दाह, वमन और उदर शूल, हृदयावरोध, उन्माद या मूर्च्छा तथा बलक्षयादि लक्षण सामान्यरूप से होते हैं। विशेष रूप से तो लक्षण विष प्रभाव अनुसार उत्पन्न हो जाते हैं।

तीक्ष्ण औषधि-गंध ज्वर लक्षण—(हे फीवर Hay Fever) इस ज्वर में मूर्च्छा, शिरदर्द, वमन, छींकें आना, बेचैनी और क्वचित् हिक्कादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

कामजनित ज्वर लक्षण—मानसिक अस्वस्थता, निःश्वास छोड़ना, प्रियजन का बारबार स्मरण करना, तन्द्रा, प्रमाद, आलस्य, अरुचि, बेचैनी, दाह, शरीर सूखना, निद्रानाश; विचार-शक्ति, लज्जा और धैर्य का त्याग; उदासीनता; तथा स्त्री रोगिणी है, तो नेत्र, स्तन और मुँह में चपलतादि लक्षण होते हैं।

---

* आधुनिक विद्वान् भूतों को नहीं मानते, वे तो कीटाणुओं के संस्पर्श से उत्पन्न मानस रोग विशेष कहते हैं। किन्तु मन्त्रादि उपचार से सत्वर शान्ति; और औषधि सेवन से कुछ भी लाभ न होना, ऐसा अनेक समय देखा गया है। यदि केवल मानसिक विकृति ही होती; तो औषधि से भी सर्वत्र लाभ हो जाता।

भयजन्य ज्वर लक्षण—वातप्रकोप होकर प्रलाप, क्वचित् कम्प और उन्मादादि लक्षण हो जाते हैं।

शोकजन्य ज्वर लक्षण—प्रलाप, नेत्र में बारबार अश्रु आ जाना, क्वचित् अतिसार और अधिक निस्तेजतादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

क्रोधजन्य ज्वर लक्षण—वात-पित्त प्रकोप, शिरदर्द, रक्त में उष्णता होकर प्रलाप (असम्बद्ध भाषण), निद्रानाश और कम्प होते रहते हैं। हृदय का वेग बहुत बढ़ जाता है। क्वचित् मूर्च्छा भी आ जाती है। प्रायः पित्त ज्वर के अनेक लक्षण प्रतीत होते हैं।

देव बाधा या भूताभिषंगज ज्वर लक्षण—उद्वेग, हास्य, कम्प, रुदन, उन्माद, प्रलाप, निद्रानाशादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

अभिचारज और अभिशापज ज्वर लक्षण—मोह (जड़ता), मूर्च्छा, उन्माद, बकवाद, दाह और तृषादि लक्षण भयंकर रूप में होते हैं। अथवा जैसे कर्म का प्रयोग किया हो, उसके अनुरूप लक्षण होते हैं।

काम, शोक और भय से आने वाले ज्वर में वातप्रकोप; क्रोध से उत्पन्न ज्वर में पित्तप्रकोप; तथा परिश्रम, क्षय और अभिघातज ज्वर में वातप्रकोप होता है।

अभिघातज में वात दोष रक्त का आश्रय करता है। जिससे वात-दोष और रक्त दूष्य, दोनों दूषित होते हैं। प्रायः आघात वाले भाग में दाह और शोथ होकर पीड़ा होती है। क्वचित् विष लगे हुए शस्त्र से आघात हुआ हो, तो विसर्प, अपतानकादि उपद्रव होकर मरण भी हो जाता है।

विष संसर्ग से ज्वर हो; तो उसमें प्रायः वात और पित्त प्रकोप के उपद्रव होते हैं। भूताभिषंग ज्वर (फीवर ऑफ इविल स्पिरिट्स Fever of Evil Spirits) में तीनों दोष या दो दोष या एक दोष प्रभाव अनुसार कुपित होता है। अभिचारज और अभिशापज में बहुधा वात, पित्त और कफ, तीनों दोष दूषित हो जाते हैं।

उपर्युक्त ४ प्रकार के आगन्तुक ज्वर के अतिरिक्त कीटाणुओं के

विष से उत्पन्न होने वाले आंत्रिक ज्वर (मोतीझरा), ग्रन्थिक ज्वर (प्लेग), वात श्लेष्मिक ज्वर (इन्फ्लुएञ्जा), संधिक ज्वर (आमवात), श्वसनक ज्वर (न्युमोनिया), आक्षेपक ज्वर (सेरिब्रो स्पाइनल फीवर), बृहत् मसूरिका (शीतला), लघु मसूरिका (मोतिया), रोमान्तिका (खसरा), दण्डक ज्वर (डेंग्यु) और कर्णमूलिक ज्वर (पाषाण गर्दभ), इन सबको सिद्धान्त निदानकार ने आगन्तुक ज्वर कहा है।

इनमें विष स्वभाव, आशय (प्रवेश स्थान) और प्रकृति, इन सबकी विचित्रता से उपद्रवों में भेद हो जाता है। आन्त्रिक से आक्षेपक तक ६ ज्वरों को घोर त्रिदोष प्रकोपक माना है। मसूरिकादि ज्वर स्थान, वायु और जल के दूषित हो जाने पर अपनी-अपनी ऋतु में क्वचित् किसी-किसी स्थान पर हो जाते हैं; और कभी-कभी उग्र जानपदिक रोग धारण कर समग्र देश में फैल जाते हैं। अतः इनको भी महामारी रोग कहा है। दण्डक और कर्णमूलिक ज्वर, इनका विष दुर्बल, द्विदोष प्रकोपक और सुखसाध्य है। ये सब रोग कीटाणुओं के संसर्ग मात्र से उत्पन्न हो जाते हैं। अतः इनको संसर्गज और संक्रामक विशेषण दिये हैं।

इनके अतिरिक्त देशान्तर में होने वाले शोण ज्वर (स्कार्लेट फीवर Scarlet Fever), हारिद्र ज्वर (यलो फीवर Yellow Fever) आदि आगन्तु ज्वर हैं। किन्तु ये भारत में बहुधा नहीं होते; अतः इनका विवेचन अत्र नहीं किया।

आगन्तुक ज्वर चिकित्सा—परिश्रम, मार्ग-गमन से थकावट और अभिघातज ज्वर में मूल हेतु का उपचार करने से ज्वर शान्त हो जाता है। इसके अलावा हृदय पौष्टिक औषधि और हलका पौष्टिक भोजन देना चाहिये।

इस ज्वर में उष्णता रहित क्रिया करनी चाहिये। कसैली, मधुर और स्निग्ध वस्तुओं की योजना तथा दोषानुसार चिकित्सा करें। घृत-पान, घृत की मालिश, रक्त जम गया हो; तो रक्त निकलवाना और सेक, लेपादि क्रिया इस ज्वर चिकित्सा में सहायक होती है।

मार्ग-गमन करने वालों को तैल की मालिश, दुग्धपान और पौष्टिक

हलका भोजन देना चाहिये; तथा निद्रा लाने का प्रयत्न करना चाहिये।

भूत-प्रेतादिक कोप में और अभिचारज ज्वर में यज्ञ, जप, देव-पूजा या शुद्ध मानस संकल्प द्वारा दोष को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये; या कोप करने वाले को प्रसन्न कर, आवेश का शमन कराना चाहिये।

सूर्य-फूल या खरैंटी का मूल रविवार को सुबह पवित्रता से लाकर कण्ठ पर धारण करने से भूतावेषज ज्वर की निवृत्ति होती है।

विष संसर्ग से उत्पन्न हुए ज्वर में विषशामक उपचार अथवा पित्त शामक चिकित्सा करनी चाहिये।

सर्वगन्ध (दालचीनी, तेजपात, इलायची, नागकेशर, कपूर, शीतल मिर्च, अगर, केशर और लौंग) को मिला, क्वाथ कर पिलाने से विष-प्रकोप शमन हो जाता है।

इसका विशेष रूप से विवेचन विष चिकित्सा में लिखा जायगा।

क्रोधज ज्वर में शीतल औषधियों का क्वाथ पिलाना और शीतल लेप करना चाहिये।

काम, भय, शोकादि मानसिक विकार जनित उष्णता वृद्धि (पाय-रेक्सिया ऑफ इमोशन्स Pyrexia of emotions) में वातशामक औषधि और हलका पौष्टिक भोजन दें; तथा मधुर विनोदयुक्त वार्तालाप में मन लगवा कर मूल कारण को भुला देना चाहिये। वारबार दुःख हेतु की स्मृति आने पर धैर्य देना तथा मन में शान्ति और प्रसन्नता उत्पन्न कराने का प्रयत्न करना चाहिये। जब तक रोगी को मूल हेतु का स्मरण न हो, तब तक शान्त्वना के लिये भी स्मरण नहीं दिलाना चाहिये।

कामज्वर पर—(१) कामज्वर में नेत्रवाला, कमल, सफेद चन्दन, खस, दालचीनी, धनिया और जटामांसी का क्वाथ करके पिलावें।

(२) रात्रि को धनिया जल में भिगो, सुबह हाथ से मसल, जल को वस्त्र से छान, मिश्री मिला कर पिलावें।

(३) कमल के पत्ते पर या शीतल वायु में सुलावें।

(४) चन्दन, कपूर और नेत्रवाला मिला कर मालिश करने से दाह सह कामज्वर शान्त हो जाता है।

(५) सुरूप, चतुर स्त्री से आलिंगन करावें ।

(६) निद्रा लाने वाली औषधि देवें ।

सूचना—मसालेदार, उष्ण वीर्य और कामोत्तेजक भोजन काम-ज्वर के रोगी को नहीं देना चाहिये ।

निराम वात ज्वर, क्षय ज्वर, आगन्तुक ज्वर, जीर्ण ज्वर और लङ्घन से उत्पन्न हुए ज्वर में उपवास नहीं कराने चाहिये ।

इन ज्वरों में (काम ज्वर से इतर प्रकार में) अग्नि को प्रदीप्त करके मांस-रसयुक्त भात या इतर पौष्टिक भोजन देना चाहिये ।

ज्वर चला गया हो, किन्तु शिर का भारीपन, अरुचि, बेचैनी, मलावरोधादि कोई उपद्रव शेष रह जाय, तो उसको सत्वर दूर करने का प्रयत्न करें और पथ्य का आग्रहपूर्वक पालन करें ।

औषधि-गंधज ज्वर पर—सुगन्धयुक्त शीतल तैल या मक्खन का नथुनों (Nostrils) में लेप करें। या घी को २०-३० बार जल से धोकर नाक के भीतर लेप करें ।

डाक्टरी में अधिक पीड़ा होने पर सेलिसिलिक एसिड का मल्हम (Ointment Acid Salicylic) अर्थात् १० ग्रेन सेलिसिलिक एसिड को १ औंस वेसलीन में मिला कर तैयार किया हुआ मल्हम नाक के भीतर लगाने को देते हैं ।

(१०) आन्त्रिक ज्वर ।

आंत्रिक ज्वर, मन्थर ज्वर, मधुरा, मोतीझरा, मुबारकी, टाइफॉइड ऑर एन्टरिक फीवर (Typhoid or Enteric Fever) ।

विशेषतः दूषित वायु के हेतु से होने वाला २१ दिन का मुद्दती ताप । सब प्रकार के मुद्दती ज्वर की गणना सन्निपात में करनी चाहिये। क्योंकि मुद्दती ज्वर में वात, पित्त और कफ, तीनों दोष कुपित होते हैं ।

निदान—अधिक मार्ग गमन, उपवास से कृशता, सूर्य के ताप में भ्रमण, दुर्गन्धयुक्त स्थान में निवास, इन सामान्य कारणों से और मल-मूत्र के संसर्गयुक्त जलपान, खाने के पदार्थों को मक्षिकादि का संस्पर्श,

इन विशेष कारणों से इस रोग की उत्पत्ति हो जाती है। यह ज्वर विशेषतः कीटाणुओं का अंत्रस्थान में प्रवेश होने पर होता है। फिर वे रस-रक्तादि धातु और वातादि दोषों को अचिरकाल में प्रकुपित कर देते हैं। ये कीटाणु छोटी आँत में आक्रमण करके फैलने लगते हैं। रोग का प्राबल्य होने पर क्वचित् बड़ी आँत में भी प्रवेश कर जाते हैं।

यदि रोग हो जाने पर कठोर आहार का सेवन किया जाय; तो अंत्र में क्षत होकर दस्त में रक्त जाने लग जाता है। कदाचित् योग्य चिकित्सा के अभाव से अंत्र भेद (आंत्र में छेद) हो जाय; तो रोग असाध्य हो जाता है।

पूर्वरूप—शिरःशूल, अरुचि, अङ्ग जकड़ना, मलावरोध, बेचैनी, चक्कर आना और हाड़फूटनादि उपद्रव क्वचित् स्पष्ट भासते हैं। क्वचित् प्रतीत नहीं होते।

रूप—ज्वर सह उपर्युक्त अस्पष्ट लक्षण एक सप्ताह में स्पष्ट दीखने लगते हैं। यह ज्वर प्रारम्भ के ५ दिन तक सोपानवलि न्यायानुसार (जीना में सिढी चढ़ने के समान) पीछे के दिन की अपेक्षा अगले दिन को लगभग १-१ डिग्री क्रमशः बढ़ता जाता है। फिर तीसरे सप्ताह में उसी क्रमानुसार उतरता जाता है। बहुधा पहले सप्ताह में कुछ प्लीहावृद्धि हो जाती है। ७ दिन होने पर गुलाबी रंग की पिटिकाएँ कण्ठ पर हो जाती हैं। किन्तु शरीर श्याम हो, तो पिटिका स्पष्ट नहीं दीख सकती। प्रायः ५ दिन जाने पर चने के घोल समान पीले दस्त होने लगते हैं; और आफरा भी आने लगता है।

दूसरे सप्ताह में ज्वर बढ़कर स्थिर हो जाता है। शाम को घटता है। फिर सुबह मूल स्थान पर आ जाता है। अति तन्द्रा, मुखशोष, बेहोशी, कास, प्रलाप, दुर्बलता, आफरा, जिह्वा की त्वचा फट जाना, जिह्वा की किनारी लाल, जिह्वा पर मैल जमना और मानसिक संताप, ये सब उपद्रव बढ़ जाते हैं। जितना ज्वर का वेग हो, उतनी धमनी में चंचलता नहीं होती (नाड़ी ज्वर की अपेक्षा मन्द रहती है)। इनके अतिरिक्त सन्निपात के ज्वर के उपद्रव भी क्वचित् हो जाते हैं।

तृतीय सप्ताह या चतुर्थ सप्ताह में ज्वर धीरे-धीरे कम होकर उतर जाता है। योग्य चिकित्सा होने पर २२ वें दिन ताप चला जाता है। यदि १० दिन पश्चात् दारुण स्राव होने लगता है; तो रोग अति कष्ट-साध्य हो जाता है। किसी-किसी को बधिरता, मूकता (गूँगापन) आदि उपद्रव हो जाते हैं। वे चिकित्सा करने पर बहुधा शमन हो जाते हैं; क्वचित् शमन नहीं भी होते।

इस सन्निपात में लघु अंत्र के अन्त भाग में विशेष विकृति होती है। एवं यकृत्प्लीहा, पक्वाशय, ग्रहणी और सब पित्त स्थान दूषित हो जाते हैं।

वात और कफ के स्थानों में विकृति कम होती है, या पीछे होती है। विशेषतः विकृति अंत्र में होती है, इस हेतु से सिद्धान्त निदानकार ने इस रोग को आंत्रिक ज्वर संज्ञा दी है। रुग्दाह सन्निपात के अनेक लक्षण इस ज्वर में प्रतीत होते हैं। इस ज्वर में दोषपाचन और पित्त-शामक औषधि का उपचार प्राधान्यता से किया जाता है।

डाक्टरी ग्रन्थों से विशेष निदान—इस ज्वर की उत्पत्ति का कारण (बॉसिलस टायफोसस Bacillus Typhosus) जाति के कीटाणु बाहर से रक्त में प्रवेश कर जाते हैं; अथवा आम (सेन्द्रिय-विष) उत्पन्न होकर इस जन्तु की उत्पत्ति हो जाती है। इन कीटाणुओं की वृद्धि होने पर वे आंत्रिकव्रण, मूत्राशय, पित्ताशय, प्लीहा, रक्त और लसीका ग्रन्थियों में प्रतीत होते हैं। रोगी के मल-मूत्र (क्वचित् स्वेद में भी) निकलते रहते हैं। इस रोग का प्रकोप बहुधा सितम्बर से नवम्बर मास तक होता है। १० से ३० वर्ष की आयु वाले इस रोग के भोग अधिक होते हैं। ४० वर्ष से अधिक आयु वाले को यह रोग क्वचित् ही होता है।

इस रोग के प्रारम्भ में ताप प्रातःकाल १ अंश उतरता है, सायंकाल, २ अंश बढ़ता है। इस तरह धीरे-धीरे बढ़ता है। जिह्वा पर मैल जमना, ऊपर लाल-लाल अंकुर उभरे हुए दिखाई देना, जिह्वा के किनारे लाल हो जाना, प्लीहा वृद्धि, यकृद् वृद्धि, क्वचित् हृदय शिथिल होना; मगज,

वृक्कस्थान और फेफड़ों में दाह, ठण्डी, भ्रम, निद्रानाश, आफरा, नाभि के नीचे दबाने पर दर्द होना, पहले सप्ताह में प्रायः मलावरोध पश्चात् पतले दस्त, कचित् आरम्भ से ही पतले पीले दस्त, शाम को १०४ डिग्री तक ताप बढ़ना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

दूसरे सप्ताह में छोटी आँत* के अन्त भाग में लसीका ग्रन्थियों पर शोथ होकर व्रण हो जाना, एवं आंत्रपुच्छ पर भी शोथ आजाना, निर्बलता वृद्धि, गले पर गुलाबी पिटिकाएँ निकलना, क्वचित् प्रलाप और कम्पादि लक्षण होते हैं। जिह्वा शुष्क और फटी-सी भासती है; होठ और दांतों पर मैल जम जाता है। किसी किसी को शुष्क कास हो जाती है; और क्वचित् सूक्ष्म रक्त वाहिनियां फट जाने से मल के साथ रक्त भी आता है। यदि रोग का बल बहुत हो; तथा पथ्य और चिकित्सा सदोष हो; तो रोग भयानक रूप धारण कर लेता है। फिर रक्त में विष वृद्धि

---

* आमाशय से आगे भोजन रस जिसमें जाता है, उस भाग को अन्त्र (इन्टेस्टाइन Intestine) कहते हैं। यह टेढ़ी-मेढ़ी बहुत लम्बी नली है। बड़े मनुष्य की आँत लगभग २८ फ़ीट लम्बी होती है। इस अन्त्र के २ विभाग हैं। क्षुद्र (लघु) और बृहद्। लघु अन्त्र को पच्यमान आशय और दोनों को पक्वाशय संज्ञा भी दी है। इनमें क्षुद्र (छोटी) आँत की लम्बाई २३ फ़ीट है। इसका व्यास प्रारंभ में लगभग १॥ इंच फिर १ इंच है। यह साँप के समान गेंडुली मार उदर में पड़ी है।

इस लघु अन्त्र के (केवल समझाने के लिये) ३ भाग किये हैं। ग्रहणी, मध्यांत्र और शेषांत्र। इनमें लघु अन्त्र जहां से प्रारंभ होती है, वह पहला भाग लगभग १२ अंगुल लम्बा है, उसको ग्रहणी ड्यु ओडिनम् Deodenum कहते हैं। यह ग्रहणी अग्न्याशय के शीर्ष भाग को लपेट, बड़ी आंत के टेढ़े भाग के पीछे की ओर जाती है। पुनः चक्कर काट कर नाभि की ओर मध्यांत्र के साथ मिल जाती है। मध्यांत्र लगभग ७॥ फ़ीट लम्बी है। यह नाभि के समीप रही है। फिर शेपान्त्र का प्रारंभ होता है, वह अधिवस्ति प्रदेश में रही है। उसके नीचे का सिरा बड़ी आंत के उण्डुक नामक प्रारंभ के भाग के साथ (दक्षिण वंक्षणोत्तरिक प्रदेश में) जुड़ा हुआ है।

बड़ी आंत लगभग ५ फीट लम्बी और २॥ इंच चौड़ी है। यह दाहिनी ओर से यकृत् तक ऊपर चढ़, फिर प्लीहा तक जा, बाँई ओर से नीचे उतरती है।

(शेष भाग पृष्ठ ४२१ में)

हो कर ४–६ सप्ताह तक रोग शमन नहीं होता, क्वचित् रक्त स्राव और उदर्य्याकला पर शोथ आ कर मृत्यु हो जाती है।×

तीसरे सप्ताह में चिकित्सा सदोष हो; तो अंत्र में व्रण हो जाने से दस्त में रक्त जाना, क्वचित् नेत्र और सारा शरीर श्याम होना, पसीना और दस्त अधिक आना इत्यादि लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं।

यदि चिकित्सा शास्त्रानुरूप हुई तो ज्वर शनैः-शनैः कम होने लगता है; और अतिसारादि उपद्रव भी घटने लगते हैं।

दूसरे सप्ताह में दाने छाती और पेट पर उतर आते हैं। जैसे-जैसे दाने नीचे की ओर उतरते हैं; वैसे-वैसे ज्वर का वेग घटता जाता है; और उपद्रव का बल भी कम हो जाता है। यदि इन दानों का छाती के

इनमें छोटी आंतों के भीतर कुछ (२०–३०) लसीकाग्रन्थि समूह हैं, इन ग्रन्थियों का दाह-शोथ होकर व्रण हो जाता है। ये लसीका ग्रन्थियां आंत के अन्त भाग में कमर के ऊपर दाहिनी ओर रही हैं। अलावा अन्त्रपुच्छ पर भी दाह शोथ हो जाता है। दोनों आंत जहाँ मिलती हैं, उस भाग को उण्डुक (सीकम Coecum) कहते हैं। यह ३॥ अंगुल चौड़ा है। दाहिनी ओर रहा है। उसके भीतर ४ अंगुल लम्बी एक पतली नली रहती है। वह पेंसिल जा सके उतनी चौड़ी है। इसकी लम्बाई १ अंगुल से ८ अंगुल तक होती है। किसी शरीर में कम किसी में ज्यादा लम्बी होती है। इसे अन्त्र-पुच्छ और उपान्त्र (अपेण्डिक्स Appendix) कहते हैं। इस पर भी शोथ आ जाता है।

× उदर्य्याकला (पेरीटोनियम Peritoneum) यह अत्यंत पतली, कोमल और सफेद रंग की थैली है। इस थैली के २ विभाग हैं, ऊपर के भाग को महाकोष और भीतर के भाग को लघुकोष कहते हैं। महाकोष की बाह्यकला लगभग समस्त उदर गुहा की दीवारों को ढकती है। और भीतर की कला यकृत्, प्लीहा, आमाशय, ग्रहणी, बड़ी आँत, छोटी आँत, मूत्राशय का शिखर भाग, स्त्री शरीर में गर्भाशय और उसको समीप के छोटे-छोटे अवयवों को ढकती है। लघुकोष यकृत् और आमाशय के बीच, पीछे और नीचे की ओर रहता है। इस थैली में नीचे लम्बा भाग है; उस कला को 'वपा' (ग्रेटर ओमेन्टम् Greater omentum) संज्ञा दी है। यह छोटी आँत और बड़ी आँत के अनुप्रस्थ (यकृत् से प्लीहा तक जाने वाला) भाग को ढकती है। इस वपा द्वारा शोथ आगे बढ़कर सर्वत्र फैल जाता है।

ऊपर निकलना लोप हो जाय; तो यह स्थिति भयप्रद मानी जाती है। ऐसी परिस्थिति में दाने या (विप) को बाहर निकालने के लिये उचित चिकित्सा सत्वर करनी चाहिये।

ज्वर तीन सप्ताह पूरे होने पर चला जाता है। फिर भी अंत्र-व्रण और दुर्बलता शेप रह जाती है। अंत्र-व्रण १-२ सप्ताह तक रह जाते हैं; और कीटाणु इससे भी अधिक दिनों तक रह जाते हैं। अतः ताप जाने पर भी दो सप्ताह के भीतर अपथ्य आहार-विहार का सेवन किया जाय तो पुनः ज्वर आजाता है।

सम्प्राप्ति—इस वेसीलस कीटाणु का हमला प्रारम्भ में लघु अंत्र के अंत्र-भाग में रही हुई छोटी लसीका ग्रन्थियाँ (लिम्फॉइड ग्लेंड्स Lymphoid Glands) पर होता हैं। इसका शोध पेयर साहब ने किया है, इस हेतु से इसे पेयर्स पेचिस Peyer's paches संज्ञा दी है। यह शोथ शनैः-शनैः इतर ग्रन्थियों में बढ़ता जाता है। दूसरे सप्ताह में व्रण हो जाते हैं; और व्रण के ऊपर के श्लैष्मिक कला के टुकड़े झड़ते रहते हैं। तीसरे सप्ताह में उसपर बीजांकुर सदृश मृदु धातु की कला (ग्रेन्युलेशन टिशू Granulation Tissue) आ जाती है। पश्चात् शनैः-शनैः व्रण रोपण हो जाता है।

इस ताप में जैसे ही उष्णता १०४ डिग्री तक बढ़ जाती है; वैसे ही इतर अनेक जाति के तापों में भी बढ़ जाती है। शीत पूर्वक विपम ज्वर, इन्फ्ल्युएन्झा, आक्षेपक ज्वर (मेनिञ्जाइटिस), प्रलापक ज्वर (टायफस), इतर पिटकायुक्त ताप, उपान्त्रशोथ (ॲपेन्डिसाइटिस) और तीव्र क्षयादि के ज्वर में भी उष्णता बढ़ जाती है। किन्तु ताप की अपेक्षा नाड़ी की मन्द गति, ज्वर का क्रमशः चढ़ना-उतरना, इन लक्षणों से इस रोग का स्पष्ट निदान हो जाता है। फिर भी अनेक समय उपद्रवों में भेद हो जाने से सीरम की विडाल परीक्षा (Widal's serum test अर्थात् रक्त, मल या मूत्र से कीटाणु को निकाल वृद्धि करना) के अतिरिक्त और साधन नहीं है। किन्तु प्रथम सप्ताह में जब तक पिटिकायें नहीं होतीं; तब तक इस साधन से भी निश्चित उत्तर नहीं मिलता।

अतः अनुमान से उपद्रव भेद का विचार करके चिकित्सा प्रारम्भ करनी पड़ती है। रोग प्रवल होने पर इस ज्वर के हेतु से निम्नानुसार परिवर्त्तन हो जाता है।

(१) रक्त अशुद्ध, मैला रंग का, अधिक पतला, रक्त में रहे हुए श्वेत जीवाणु और रंजक पित्त (हिमोग्लोबिन Haemoglobin) दोनों की न्यूनता होती है और कृमि विष वलवान् होने से श्वेत जीवाणुओं को नष्ट कर देते हैं। क्वचित् रक्त घनीभूत (थ्रॉम्बोसिस Thrombosis) हो जाता है, जिससे सूक्ष्म रक्त-वाहिनियों में शल्य रूप हो जाते हैं +

(२) मांस में नित्यप्रति ५ से १५ तोले का क्षय, कालापन और थोड़ी सूजन हो जाती है।

(३) नाड़ी क्षीण और ठोके शनैः-शनैः वढ़ते जाते हैं। थोड़े दिन वाद १२०–१३० तक हो जाते हैं।

+ रक्त के भीतर २ प्रकार के कण (कोष) हैं। रक्त-कण (Red cells) और श्वेत कण (White cells)। इन रक्त-कणों का व्यास ·००७७ मिलिमिटर जितना है। ये कण अति मृदु हैं। जिससे दव जाने पर भी पुनः अपनी मूल गोल चक्र जैसी स्थिति में आ जाते हैं। इस हेतु से सूक्ष्म-सूक्ष्म केश वाहिनियों के भीतर से भी निकल सकते हैं। इन कणों के भीतर रंजक पित्त रहता है। इस रंजक पित्त का प्राणवायु के साथ संयोग होता है; इस हेतु से रक्त-कणों (कोषों) को प्राणवायु मिलता रहता है। किन्तु सिराओं में जो रक्त वहन करता है, उसको प्राणवायु नहीं मिल सकता। इस कारण से उसका रंग जामुन के रंग के समान मैला हो जाता है। इन रक्तकणों की संख्या पुरुष शरीर में १ क्युविक मिलिमिटर ($\frac{१}{२५}$ इंच) में लगभग पचास लक्ष है; और स्त्री शरीर में उतने ही स्थान में लगभग पैंतालीस लक्ष होती है। इस हिसाव से इस सारी देह में रक्त-कण कितने होते हैं, यह हिसाव कल्पना से वाहर हो जाता है।

इनमें रंजक पित्त का परिमाण जव कम हो जाता है; तव देह निस्तेज हो जाती है। इस आंत्रिक ज्वर और पाण्डुरोग में यह रंजक पित्त ही कम हो जाता है।

श्वेत कण का वर्ण विल्कुल श्वेत नहीं है, लगभग राख के समान है। इनकी संख्या १ क्युविक मिलिमिटर में लगभग सात हज़ार है; अर्थात् ये श्वेत कोष रक्त-कोष की अपेक्षा सातसौवाँ हिस्सा हैं। अनेक रोगों में इन श्वेत कोषों की संख्या वढ़ जाती है; किन्तु मोतीझरा और क्षय में संख्या घट जाती है।

(४) उदर के दाहिनी ओर नीचे के भाग में स्पर्श सहन नहीं होता। मल पतला दुर्गन्ध युक्त और उदर में गुड़गुड़ आवाज होती रहती है।

(५) फुफ्फुस शोथ (न्युमोनिया Pneumonia), श्वास नलिका में शोथ, श्वासोच्छ्वास वेग पूर्वक चलना; तथा शुष्क कास (ब्रौंकाइटिस Bronchitis) हो जाते हैं।

(६) क्षुधा नाश, तृषा अधिक, सफेद पीलापनयुक्त मैली जिह्वा, मैले दाँत, प्लीहा-यकृत् वृद्धि (क्वचित् यकृत् या प्लीहा में विद्रधि) और आफरा, ये लक्षण हो जाते हैं।

(७) मूत्र लाल-पीले रंग का दुर्गन्ध युक्त थोड़ा-थोड़ा बार-बार होता है। मूत्र में युरिया और फॉस्फेट अधिक प्रमाण में तथा क्लोराइड कम प्रमाण में हो जाता है।

(८) दूसरे या तीसरे सप्ताह में अंत्र, नाक या इतर श्लेष्मल त्वचा में से रक्त जाने लगता है।

(९) शरीर में विशेष प्रकार की वास, नाड़ी में विलक्षणता और सारी देह पर गुलाबी स्फोटादि लक्षण होने पर यह ज्वर निश्चित हो जाता है।

(१०) चक्कर आना, विचार-शक्ति कम होना, निद्रानाश, शिरदर्द, बलक्षय, क्वचित् कानों से कम सुनना, क्वचित् उदर्य्याकला में शोथ, क्वचित् अन्त्र भेद (अन्त्र भेद होने पर रक्त स्राव निश्चित ही होता है), मस्तिष्क और पृष्ठ भाग की वातवहा नाड़ियों में दाह (न्युराइटिस Neuritis), वृक्कदाह (नेफ्राइटिस Nephritis) और हृदय के स्पन्द का अवरोध (Cardiac Failure) हो जाता है।

(११) रात्रि को अधिक प्रलाप होता है।

(१२) इस ज्वर के प्रारम्भ में प्रायः शाम को ताप क्रमशः थोड़ा-थोड़ा बढ़ता है। १०१ डिग्री ताप हो जाने पर ४ दिन पश्चात् या दूसरे सप्ताह में ताप का क्रम स्थिर हो जाता है; अर्थात् सुबह १०१ डिग्री और शाम को १०४ डिग्री लगभग रहता है। साथ-साथ शुष्क कास आती रहती है। किसी-किसी रोगी को तीसरे सप्ताह में शय्या-व्रण (Bed sores) हो जाते हैं। इस ताप की चिकित्सा यथा विधि न हो,

तो २-३ मास पर्यन्त रोग बना रहता है।

असाध्य लक्षण—अन्तड़ी में छिद्र-अंत्रभेद (परफोरेशन Perforation) हो जाना, डामर (कोलटार) के समान काले रंग का रक्त मिला हुआ मल हो जाना, वायु अन्तड़ी के छिद्र में से उदर्य्याकला में जाना, शरीर में कम्प होना, सारा शरीर और दोनों नेत्र काले हो जाना, भयंकर शीत लगना, वृक्क स्थान पर शोथ, अकस्मात् आफरा, मानसिक शक्ति नाश, दोनों फुफ्फुसों की सब श्वास-नलिकाओं में शोथ, शीघ्र श्वासोच्छ्वास चलना, नाड़ी के १३० से अधिक ठोके हो जाना, इत्यादि लक्षण होते हैं।

अति स्थूल काय, अति निर्बल, शराबी, सगर्भा, प्रसूता और केवल दुग्धपान करने वाले शिशु को मधुरा होना, यह भयप्रद है।

मोतीझरा की इतर तापों से विभिन्नता—

२१ दिन का ताप	१४ दिन का ताप (टाइफस)
१—पिटिकाएँ दूसरे सप्ताह में निकलना।	पिटिकाएँ ५ वें दिन निकलना।
२—नाड़ी की गति मंद रहती है।	नाड़ी की गति तीव्र रहती है।
३—उदर में पीड़ा, आफरा और दुर्गन्धयुक्त पीले पतले दस्त।	उदर में व्यथा न होना, केवल कोष्टबद्धता।
४—ताप क्रमशः धीरे-धीरे बढ़ना।	प्रारम्भ से ही तीव्र रहना।
५—बहुधा प्रलाप और मस्तक शूल नहीं होते।	अति प्रलाप; तीव्र मस्तक शूल।
६—न्युमोनिया, रक्तातिसार या अंत्र भेद हो जाने से मृत्यु होती है।	बेहोशी वृद्धि या रक्त जम जाने से मृत्यु होती है।

२१ दिन का ताप	संतत ज्वर-रिमीटन्ट
१—नियमित समय पर ताप उतरना।	अनियमित समय पर ताप उतरना।
२—शीत नहीं लगती।	बहुधा शीत लगकर ताप चढ़ता है।

३—दुर्गन्धयुक्त पोले पतले दस्त, आफरा और नाभि के पास दबाने पर पीड़ा।	मलावरोध, क्वचित् पतले दस्त (अति दुर्गन्ध नहीं) और कौड़ी स्थान (हृदयाधरिक प्रदेश) में दर्द (Epigastric pain)।
४—वमन या कामला नहीं होते।	पित्त की खट्टी वमन और कामला।
५—नाड़ी का वेग उष्णता से कम।	नाड़ी तेज चलती है।
मोतीझरा	**वातश्लैष्मिक (इन्फ्ल्युएन्ज़ा)**
१—ताप धीरे-धीरे बढ़ता है।	ताप बहुत जल्दी बढ़ता है।
२—सन्धि-पीड़ा शक्ति क्षय और जुकाम नहीं होते।	सन्धि पीड़ा, भयङ्कर थकान और जुकाम अवश्य रहते हैं।
आन्त्रिक ज्वर	**आन्त्रिक विद्रधि**
१—शूल का अभाव, जिह्वा की त्वचा फट जाना और किनारी लाल हो जाना।	भयङ्कर शूल, जिह्वा चिकनी और मुलायम।
२—गुलाबी स्फोट, शरीर में विशेष प्रकार की वास, नाड़ी भेद, ताप की नियमित गति और शारीरिक बल क्षय।	स्फोट, वास, नाड़ी, ताप की गति और शारीरिक बल, इन सब बातों में आन्त्रिक ज्वर से भेद हो जाता है।

आन्त्रिक ज्वर चिकित्सा।

इस आन्त्रिक ज्वर (मोतीझरा) में ताप को बलात्कार से शमन करने वाली औषधि नहीं दी जाती। धातु में लीन दोषों को शनैः-शनैः पचन करके उपद्रवों को शमन करने वाली औषधि की योजना करनी चाहिये।

रोगी को पूर्ण विश्रान्ति देनी चाहिये।

प्रारम्भ में कोष्ठबद्धता हो; तो मृदु विरेचन देवें।

परिचारक को स्वच्छता का विशेष लक्ष्य रखना चाहिये।

विशेषतः इस रोग में पित्तशामक चिकित्सा करनी चाहिये। तीव्र

प्रलाप या न्युमोनियादि उपद्रव उत्पन्न हो जायँ तो साथ साथ उपद्रव नाशक चिकित्सा भी करनी चाहिये।

दोष पाचन औषधियाँ—(१) पित्तोल्वण सन्निपात पर कहा हुआ मुस्तादि क्वाथ या परुपकादि क्वाथ; अथवा प्रलापक सन्निपात पर कहा हुआ तगरादि कषाय देवें।

(२) लक्ष्मीनारायण रस (र० ३८८), कस्तूरीभैरव रस (र० ३७१), मधुरान्तक वटी (र० ३६१ और ५४४), सूतशेखर रस (र० ५०६), संजीवनी वटी (र० ५४०), मधुरज्वरांतक क्वाथ (र० ६२४), अमृताष्टक क्वाथ (र० ६२२)। ये सब हितकर औषधियाँ हैं। इनमें से अनुकूल औषधि देवें।

(३) रक्तचन्दन, खस, धनिया, पित्तपापड़ा, सोंठ और नागरमोथे का क्वाथ दिन में २ समय पिलाते रहने से दोष सत्वर पचन हो जाता है।

(४) गिलोय, अजवायन, तुलसी के पान और कालीमिर्च को मिला, जल में भिगो, छान (हिम बना) कर देने से दोष पचन होकर पित्तप्रकोप शमन हो जाता है।

(५) ब्रह्मदण्डी की मूल का रस या क्वाथ पिलाने से अंतर्विष जल जाता है।

प्रलाप, स्वेद, शुष्क कास, अन्त्र शोथ और व्रण शमन के लिये—मौक्तिक पिष्टी या प्रवाल पिष्टी (गिलोय सत्व के साथ) रोगशामक औषधि के साथ दिन में ३ समय देते रहें।

वातवृद्धि और तीव्र प्रलाप हो जाय, तो—महावात विध्वंसन रस (र० ४६१) भाँगरे के रस और तुलसी के रस के साथ दें। किसी समय प्रारम्भ में योग्य प्रबन्ध न होने से तीसरे सप्ताह में ऐसा उपद्रव हो जाय; तो ही वात शामक औषधि दी जाती है।

यदि वातवृद्धि का वेग अधिक न हो; तो अष्टमूर्त्ति रसायन (र० ३४१) प्रवाल पिष्टी के साथ दें। रोगी को पहले उपदंश हो गया हो, तो अष्टमूर्त्ति रसायन अति हितकर है।

शुष्क कास और फेफड़ों की निर्बलता में—(१) पित्त-कफात्मक सन्निपात पर कहा हुआ पर्पटादि काथ दें; अथवा अभ्रक-भस्म, पीपल, गिलोय सत्व और शहद के साथ; या अभ्रक भस्म और शृङ्गभस्म मुलहठी के चूर्ण के साथ देवें; तथा कर्पूरादि वटी (र० ५४७) को मुँह में रखवा कर रस चुसाते रहें; दिन में १०–१५ गोली तक। (२) लवंगादि चूर्ण (र० ५६७) दिन में ३ समय देते रहें।

फुफ्फुस शोथ हो, तो—लक्ष्मीविलास रस (र० ३६२), शृङ्ग भस्म, सितोपलादि चूर्ण और मुलहठी का चूर्ण, इन सबको मिलाकर, दिन में ३ समय शहद के साथ देते रहें।

नाक, मुँह या गुदा से रक्तस्राव हो, तो—प्रवाल पिष्टी या सुवर्णमाक्षिक भस्म २–२ रत्ती दिन में, २-३ समय गिलोय सत्व और हल्दी के चूर्ण के साथ देते रहें; या चन्द्रकला रस (र० ४३७) दें; अथवा मौक्तिक पिष्टी और शंख भस्म वासावलेह में मिलाकर दिन में तीन समय देते रहें।

प्रारम्भ में मलावरोध हो, तो—मुनक्का और सनाय पत्ती को मिला; झड़बेरी के सदृश गोली बनाकर शहद के साथ दें। या ग्लीसराइन की बत्ती गुदा में चढ़ाकर मल शुद्धि करालें। पेट पर एरंड तैल मल दें। अधिक आवश्यकता रहे; तो एरंड तैल ५–१० तोले १ सेर दूध में मिलाकर बस्ति देवें।

सुखपूर्वक दाने निकलने के लिये—(१) मौक्तिक पिष्टी १ रत्ती और शृङ्ग भस्म २ रत्ती मिला, खूबकला और मुनक्का के काथ के साथ दिन में ३ समय देते रहें।

(२) मधुरान्तक वटी (र० ३६१ और ५४४), इन दो में से एक देवें। पृष्ठ ५४४ में लिखी हुई अति सामान्य औषधि में से बनी है, फिर भी अति लाभदायक है।

(३) ब्राह्मी वटी (र० ३६५) मधुर ज्वरान्तक काथ (र० ६२४) के साथ दिन में २ समय देते रहें।

(४) रोगी की शक्ति अनुसार १ से २१ लौंग जल में पीस, उबाल,

छानकर प्रातः-सायं पिलाने से दाने सुखपूर्वक निकलते हैं; प्यास कम हो जाती है; दस्त में दुर्गन्ध न्यून हो जाती है; और अग्नि अधिक मन्द नहीं होती।

प्यास अधिक हो, तो—(१) छिलका सह बड़ी इलायची और कमलगट्टे को भून कर शहद मिला कर चटावें।

(२) षडंग पानीय (र० ६३८) पिलाते रहें।

(३) पाव से आध तोला लौंग २॥-२॥ सेर जल में मिला, प्रातः-सायं उबाल कर, आवश्यकता अनुसार थोड़ा-थोड़ा जल पिलाते रहें। फिर लौंग धीरे-धीरे कम करते जाँय।

आफरा और अन्य वातविकार अधिक हो जाय, तो— महायोगराज गूगल (र० ४६५) दिन में २ समय देते रहें; तथा गरम जल की बोतल से पेट पर थोड़ा सेक करें।

यदि भयंकर परिमाण में अतिसार बढ़ जाय, तो— (१) सूतशेखर, सुवर्णमाक्षिक, प्रवाल पिष्टी, इन तीनों को १-१ रत्ती मिलाकर १-१ माशे लघुगंगाधर चूर्ण के साथ दिन में ३ समय देते रहें।

(२) रस पर्पटी या पंचामृत पर्पटी दूसरी विधि (र० ३६०) बहुत कम मात्रा में दिन में ३ समय देते रहें।

अत्यन्त निर्बलता, प्लीहा-यकृद्वृद्धि और रक्तक्षय हो, तो—अभ्रक भस्म और लोह भस्म (त्रिफला १-१ माशा तथा शहद मिलाकर) दिन में ३ समय रोग शामक औषधि के साथ देते रहें।

निद्रा लाने के लिये—सुवर्णमाक्षिक भस्म १-१ रत्ती या प्रवालपिष्टी २-२ रत्ती दिन में ३ समय सोंठ, आँवला और शहद के साथ देते रहें; अथवा मस्तिष्क पर शीतल लेप करें।

शिरदर्द और व्याकुलता पर—यदि ताप १०५ डिग्री हो जाय, तो मस्तिष्क के संरक्षणार्थ रबर की थैली (Ice bag) में बर्फ भर कर शिर पर रक्खें।

यदि ताप १०२-३ डिग्री हो, तो कोलन वॉटर (Eau de Cologne) में समभाग जल मिला, उसमें कपड़े की ४ तह भिगो,

थोड़ी निचोड़ कर कपाल पर रक्खें। १०० डिग्री ताप हो जाने पर कोलन वॉटर की पट्टी न लगावें।

हृदय रक्षणार्थ—(१) यदि हृदय में शिथिलता आ जाय, तो हृदय क्षीणता, दाह शमन और हृदय क्रिया सुधार कर शक्ति देने के लिये पूर्णचन्द्रोदय रस ½ रत्ती (मौक्तिक पिष्टी के साथ) देते रहें।

(२) सुवर्णभूपति रस (र० ३३६), लक्ष्मीविलास रस (र० ४४१) या सूतशेखर रस (र० ५०६) तुलसी के रस और मिश्री के साथ देवें।

(३) द्राक्षासव (र० ६५६) २॥ से ५ तोले तक दिन में २ समय पिलाते रहने से हृदय दृढ़ होता है; और शान्त निद्रा आती है।

(४) हेमगर्भ पोटली रस (र० ३८३) अदरख के रस के साथ देने से हृदय क्षीणता, नाड़ी मंदता, प्रस्वेद, हाथ-पैर शीतल होना, ये सब लक्षण दूर होते हैं।

आँत में से रक्तस्राव होता हो, तो—पेट पर बर्फ की थैली रख कर शीतलता पहुँचावें; और औषधि में कपूर रस (र० ४०७) आध-आध रत्ती मिलाते रहें; या मौक्तिक पिष्टी और शंख भस्म (लवंगादि चूर्ण या वासावलेह के साथ) देते रहें। आँत में से रक्तस्राव होना, यह उपद्रव क्वचित् तीसरे सप्ताह में विरुद्ध उपचार या अपथ्य सेवन से होता है।

इस रोग पर डाक्टरी में निम्न औषधि दी जाती हैं। इनमें से विचार पूर्वक किसी एक को प्रयोग में ला सकते हैं।

रक्त प्रवाह बन्द करने के लिये :—

(१) टिंचर केटेच्यु Tinct. Catachu	३० बूंद
,, ओपाई ,, Opii	१० बूंद
,, क्लोरोफॉर्म कम्पाउण्ड Chloroform Com.	२० बूंद
तारपीन का तेल Oil Terebinth	१५ बूंद
अरबी गोंद का प्रवाही Mucilage Acacia	२ ड्राम
एक्वा मेन्था पीपरिटा Aqua Menth pip ad १ औंस तक	

इन सबको यथाविधि मिला लें; फिर चलाकर रात्रि को सोने के

समय पिला दें।

अरवी गोंद का प्रवाही तैयार करने के लिये २ औंस गोंद को ३ औंस गरम जल में भिगो दें। फिर २ घण्टे वाद छान कर उसमें ग्लीसराइन ४ ड्राम और रेक्टीफाइड स्पिरिट २ ड्राम मिलाने से तैयार होता है।

(२) तारपीन का तेल	Oil Terebinth	२ ड्राम
टिन्चर लवन्डयुला कम्पाउन्ड	Tinct. Lavandula Co.	४ ड्राम
मिश्री	Sacchari Purificatum	२ ड्राम
अरवी गोंद	Pulv Acacia	२ ड्राम
जल	Aqua ad	६ औंस तक

इन सवको यथाविधि मिला लें। ४-४ घण्टे पर आध-आध औंस आवश्यकता रहे, तव तक देते रहें। रक्त प्रवाह वन्द हो जाने पर वन्द कर दें।

मोतीझरा की सव अवस्था में देने के लिये —

(३) ऑइल युकेलिप्टिस	Oil Eucalyptis	१ ड्राम
अरवी गोंद का प्रवाही	Mucilage Acacia	१ औंस
स्पिरिट एमोनिया ॲरोमे०	Spt. Ammon. Arom.	४ ड्राम
ग्लिसराईन	Glycerine	२ ड्राम
स्पिरिट क्लॉरोफॉर्म	Spt. Chloroform	२ ड्राम
जल	Aqua Ad	१२ औंस तक

इन सवको मिलाकर एक-एक औंस दिन में ३ से ४ समय देते रहें।

आन्त्र में छिद्र होने पर—(१) मुँह से दूध पिलाने की वदली वस्ति द्वारा दूध गुदा से चढ़ावें।

(२) जातिफलादि वटी (र० ४१४) अथवा ग्रहणीकपाट रस (र० ४१०) दिन में ३ समय थोड़ी-थोड़ी मात्रा में देवें।

(३) ईसवगोल को गर्म जल में भिगो, शीतल होने पर अनार का रस या शर्वत मिलाकर थोड़े-थोड़े परिमाण में दिन में ४ समय दें।

सूचना—दरदी को विलकुल विश्रांति देवें। आन्त्र भेद होने पर

मल-मूत्र त्याग भी शय्या में लेटे-लेटे कराना चाहिये।

मूत्रावरोध हो, तो—रबर की नलिका से मूत्र निकाल लें।

मूत्र में दाह होवे, तो—उशीरासव २॥-२॥ तोले समान जल मिला कर दिन में २ समय देते रहें।

भयंकर कफ वृद्धि हो जाय, तो—अभ्रकभस्म, शृंगभस्म और समीरपन्नग (र० ३३५) या मल्लसिंदूर नं २ (र० ३२६) देते रहें।

हाथ-पैर शीतल, सर्वाङ्ग में कंप, हनुस्तंभ, जड़ता, आफरादि उपद्रव हों, तो—महायोगराज गूगल (र० ४६५) २ रत्ती या संचेतनी वटी (र० ३६१) ½ रत्ती दिन में ३ समय देवें।

प्रस्वेद अधिक आवे, तो— सोंठ, कायफल और जव के सत्तू को मिला, हाथ-पैरादि अंगों पर रगड़ते रहें।

ताप चले जाने पर शक्तिवृद्धि के लिये—सुवर्ण मालिनी वसंत, गिलोय सत्व, पीपल और शहद के साथ दिन में २ समय देवें; अथवा लक्ष्मी विलास रस (र० ३६२) देवें।

जीर्ण सन्निपात हो, तो—कदाच योग्य चिकित्सा न होने से २१ दिन से अधिक समय हो जाय, तो लक्ष्मीनारायण रस अमृतारिष्ट के साथ दें। अथवा सुवर्ण मालती वसन्त (र० ३६६), सुवर्णभूपति रस (र० ३३६), सूतशेखर रस (र० ५०६), जयमंगल रस (र० ३८१), इनमें से अनुकूल औषधि देते रहें। सूतशेखर से अन्त्र दोष का संत्वर शोधन हो जाता है। जयमंगल रस हृदय की निर्बलता, आन्त्र-विष, रक्त में रहे हुए विष, इन सबको दूर कर जीर्ण ज्वर की निवृत्ति कर देता है। यदि ज्वर मन्द हो, तो सुवर्ण मालती वसंत हितकर है।

वातावरण शुद्धि के लिये—माहेश्वर धूप प्रथम विधि (र० ७७५), अपराजित धूप (र० ७७६), सहदेव्यादि धूप (र० ७७६), या गूगल की धूप प्रातः-सायं करते रहें।

जब शीत पूर्वक ताप न हो तब हमने लक्ष्मीनारायण रस १-१ रत्ती और मधुरान्तक वटी (र० ५४४) २ से ४ रत्ती मिलाकर दिन में दो समय दिया है। दोपहर को केवल मधुरान्तक वटी दी है। इनमें

मधुरान्तक वटी विष को बाहर निकालने में अच्छी सहायता करती है। इस औषधि योजना से शत प्रति शत मनुष्यों को लाभ ही हुआ है। कितनीक बार ज्वर २१ दिन से २-४ रोज पहले ही उतर गया है।

किसी-किसी रोगी को पथ्य में भूल करने से शीत सहित ताप आजाता है; उनको कस्तूरी भैरव रस कुछ दिनों तक देते हैं; और उलट कर दूसरी बार ताप जिनको आजाता है, उनको पहले ५-७ दिन तक सूतशेखर रस देकर फिर लक्ष्मीनारायण रस देते रहते हैं।

जिन रोगियों की अवस्था पथ्य या चिकित्सा की भूल से भयप्रद हो गई थी, ऐसे भी अनेक रोगी इस लक्ष्मीनारायण रस से अच्छे हो गये हैं।

दूध पीने वाले बालकों को आंत्रिक सन्निपात होने पर लक्ष्मीनारायण रस, प्रवालपिष्टी और मधुरान्तक वटी बालक और माता, दोनों को देते हैं।

दाह शमन के लिये—प्रवालपिष्टी २-२ रत्ती और गिलोय-सत्व ४ रत्ती शहद के साथ दिन में ३ समय (लक्ष्मीनारायण रस और मधुरान्तक वटी सेवन के साथ) दिया है। इस रीति से सैकड़ों रोगियों पर औषधि प्रयोग किया है। प्रारंभ में ३-४ दिन तक उपवास कराये हैं। फिर केवल दूध या प्रातः-सायं दूध और दोपहर को मुसम्बी का रस भोजन में दिया है।

सूचना—आरम्भ में केवल जल पर रखना चाहिये। प्रारम्भ में जल पर रखने से ताप बढ़ने पर निर्बलता नहीं आती, इतना ही नहीं, ताप चले जाने पर अशक्ति ज्यादा दिन नहीं रहती; थोड़े ही दिनों में शक्ति बढ़ जाती है।

दोषपचन होने पर दोपहर को अनार का रस या मुसम्बी का रस तथा प्रातः-सायं गाय के दूध में तुलसी-पत्र डाल, गरम कर फिर छान, थोड़ी मिश्री मिलाकर पिलाते हैं।

यदि दूध अनुकूल न रहता हो, तो उसे छाछ पिला सकते हैं; परन्तु अन्न नहीं देना चाहिये। अनाज खिलाने से शक्ति का क्षय अधिक

होता जाता है। अन्न खाने वाले रोगी बहुत निर्बल रहते हैं; और ताप चले जाने पर भी दिनों तक बलवान नहीं बन सकते। फिर भी कोई रोगी अन्न बिना नहीं रह सकता हो, तो बाजरे का दलिया दें।

कितनेक चिकित्सक दूध के स्थान पर बाजरे का दलिया देने के लिये अति आग्रह करते हैं। किन्तु यह लाभदायक प्रतीत नहीं होता। कारण इस ताप में अधिकांश में अन्त्रविकृति ही होती है। ऐसे समय पर अन्त्र से कम-से-कम कार्य लेना चाहिये; और शान्ति पहुँचानी चाहिये। बाजरी का दलिया खिलाने पर पचन करने के लिये अन्त्र को अधिक श्रम लेना पड़ता है; जिससे वह अधिक दूषित और रोगी होता जाता है।

यदि रोगारम्भ में २-४ दिन केवल जल पर रक्खें; फिर दूध और मुसम्बी का रस दिया जाय; तो उसके अधिकांश सत्व का आमाशय में से ही शोषण हो जाता है। अन्त्र को दूध पचन के लिये बाजरी के दलिया समान त्रास नहीं पहुँचता। इसके अलावा दूध और मुसम्बी के रस पर रहने वाले के मल की अपेक्षा बाजरी के मल में अधिक दुर्गन्ध होती है, तुलना करने पर बाजरी खाने वाले रोगी को निर्बलता भी ज्यादा आ जाती है।

किन्तु जिस रोगी को दूध या मुसम्बी का रस अनुकूल न हो; या जो रोगी न मानता हो, अन्न खाने के लिये चिल्लाता हो; उसे बाजरी का दलिया, धान की लाही और कुट्टू के फूले में से थोड़ा-थोड़ा देते रहना चाहिये। इतर धान्य की अपेक्षा बाजरी सेवन से हानि कम होती है।

यदि बाजरी का दलिया देना हो; तो बाजरी का आटा नित्यप्रति ताजा पिसवा लें। बासी होने पर उसमें रही हुई स्निग्धता दूषित हो जाती है; और दलिया खाने में भी कुछ बेस्वादु हो जाता है।

मकान, वस्त्र, दाँत, होठ और मुँह को साफ रखना चाहिये। शय्या कोमल रक्खें। तीसरे सप्ताह में दूसरे या तीसरे दिन गरम जल में कपड़ा भिगोकर सारे शरीर को पोंछ लेना चाहिये।

विरेचन, ताप उतारने वाली तेज औषधि, अंत्रगतिवर्धक कुचिलादि औषधि और भोजन में अन्न का उपयोग नहीं करना चाहिये।

(११) प्रलापक ज्वर।

प्रलापक ज्वर-कालामधुरा—(टाइफस फीवर Typhus Fever) यह सर्दी वाली गन्दी जगह में रहने से गरीब भूखे मनुष्यों

को बहुधा होने वाला १४ दिन की मुद्दती ताप है। इस ज्वर को जेइल फीवर Jail Fever भी कहते हैं। इस ताप के जन्तु लग जाने पर उसका चयकाल १२ दिन माना है। अर्थात् जूं द्वारा इस रोग का विष देह में प्रवेश होने के पश्चात् १२ दिन में रोग प्रदर्शित करने के लिये सशक्त बनता है।

यह तीव्र आशुकारी और भयंकर संक्रामक ज्वर है। इस ज्वर के कृमि का अभी तक पता नहीं चला। इस पर से इन कृमियों को अणुवीक्षण यंत्र से न दीखने वाले (अल्ट्रामाइक्रॉस्कोपिक Ultra-microscopic) कहा है। रोगी मनुष्य के रक्त को चिम्पांझी (Chimpanzee मनुष्य सदृश विना पूँछ के आफ्रिकन बन्दर) के शरीर में टोंच देने से उसको यह रोग हो जाता है। इस पर से यह ज्वर कीटाणु जन्य है, यह प्रयोग सिद्ध है। यह रोग जुंओं द्वारा फैलता है। रोगियों के वस्त्रों के संसर्ग से इसकी उत्पत्ति हो जाती है। रोग शमन हो जाने पर भी ३-४ सप्ताह तक आहार-विहार में सम्हाल रखनी चाहिये।

यह ताप बालक, वृद्ध, युवा, स्त्री-पुरुषादि सबको हो जाता है। गरम देश की अपेक्षा शीतप्राधान्य देशों में यह ताप अधिक होता है। अनेक दिनों तक स्नान न करना, मैले कपड़े पहनना, अनेक मनुष्यों का एक साथ में सोते रहना इत्यादि प्रकार की मलीनता से गरीब मनुष्यों के कपड़े में बहुधा जुएँ हो जाती हैं। फिर उनके विष का सम्बन्ध रक्त में होता है, जिससे इस ज्वर की उत्पत्ति हो जाती है। जेलखानों, लश्कर, जहाज और अत्यन्त शीतल स्थान में इस ताप की उत्पत्ति अधिक होती है। अपने देश में यह ताप क्वचित् होता है। यूरोप के शीत प्रदेशों में यह अधिकांश में होता रहता है।

पूर्वरूप—भयंकर शिरदर्द, बेचैनी, हाड़फूटन, मलावरोध, उबाक और वमनादि उपद्रव होकर अकस्मात् बड़े जोर से (बहुधा शीत लगकर) ताप आ जाता है।

रूप—भयंकर ताप, पिड़िका निकलने तक बढ़ते जाना, ५ वें दिन

उदर पर फिर २–३ दिन में गला, हाथ, छाती आदि स्थानों पर सरसों समान पिड़िकाएँ हो जाती हैं।❀ शिर में भयंकर दर्द, कटिशूल, सन्धियों में दर्द, तन्द्रा, चक्कर आना, लाल मुँह, लाल नेत्र, अश्रु स्राव, अति तृषा, मल-मूत्रावरोध, क्वचित् गुदा और नाक से रक्त गिरना, मल का रंग काला और सूखा हो जाना, शुष्क शरीर, रात्रि को निद्रानाश, प्रलाप, ताप एक समान बना रहना, जिह्वाशुष्क, कलाशयुक्त, मैली सफेद हो जाना और बलक्षयादि लक्षण प्रतीत होते हैं। इस ज्वर में नाड़ी की गति तेज रहती है। क्वचित् ताप १०५–७ या ६ डिग्री तक बढ़ जाता है।

१४ वें दिन अति पसीना आकर अथवा अतिसार होकर ताप उतर जाता है। जिस रोगी के उपद्रव बढ़ते हैं, वह रोगी १० वें दिन निर्बल संज्ञाहीन होकर पड़ा रहता है; नेत्र खुले रहते हैं; धीरे-धीरे प्रलाप करता रहता है और शरीर पर से कुछ चुनता हो, ऐसी चेष्टा करता रहता है। शनैः-शनैः रक्त में रहे हुए श्वेत अणुओं की संख्या घट जाती है, सूक्ष्म रुधिर वाहिनियों की दीवाल में से झरनेवाली धातु (लसीका Lymph) बहुत कम हो जाती है; और गात्रकोथ होकर रोगी प्राण मुक्त हो जाता है।

असाध्य उपद्रव—मूत्र वस्ति में भरा रहना (Retention of urin), ज्वरातिशय (Hyperpyrexia), गात्रकोथ (मांस सड़ना), शय्या व्रण, सूखी खाँसी या श्वास काण्डिकाओं और वायुकोषों का शोथ (ब्रांको न्युमोनिया Broncho Pneumonia), ये सब घातक उपद्रव हैं। इनके अतिरिक्त गाल पर शोथ, रक्त में पीप (पायेमिया Pyaemia) होकर फोड़े हो जाना, पैर की शिराओं में रक्त जम कर शल्य रूप हो जाना (थ्रॉम्बोसिस Thrombosis), ये सब कष्टदायक

❀ इस रोग में पिड़िकायें पहले गुलाबी रंग की रहती हैं। रक्तस्राव होने पर उसका वर्ण रक्त हो जाता है। फिर रक्त में दोष उत्पन्न हो जाने पर नीली हो जाती है। इस रोग की पिड़िकाओं की जड़ आन्तर त्वचा में चली जाती है, जिससे मृत्यु होने पर भी इनके धब्बे रह जाते हैं।

उपद्रव हो जाते हैं। यह रोग अति भयानक होने से मृत्यु संख्या ३० से ४० प्रतिशत हो जाती है।

चिकित्सा—इस रोग में चिकित्सा बहुधा आंत्र सन्निपात (मधुरा) और शीतलाज्वर में लिखे अनुसार की जाती है। प्रारम्भ में रत्न-गिरी रस (र० ३७६) देकर सेन्द्रिय विष को जला देने से रोग सत्वर काबू में आ जाता है।

रोगशामक मुख्य औषधियाँ—अश्वकंचुकी रस (र० ३७७), महाज्वरांकुश दूसरी विधि (र० ३७५), कस्तूरीभैरव रस (र० ३७१), लक्ष्मीनारायण रस (र० ३६०), प्रलापक सन्निपात पर लिखा हुआ तगरादि कषाय, मधुरांतक वटी (र० ३६१), मधुर ज्वरांतक क्वाथ (र० ६२४), इनमें से अनुकूल औषधि देते रहें। या लक्ष्मीनारायण रस और मधुरान्तक वटी (र० ५४४) दोनों को मिलाकर दिन में ३ समय देते रहें। ये औषधियाँ दोष पाचन कर ताप को शमन करने में अति वीर्यवान् हैं।

मलावरोध को दूर करने के लिये—(१) ज्वरकेसरी (र० ३७३), या त्रिवृदष्टक मोदक (र० ५४३) देवें।

(२) १ तोले त्रिफला का क्वाथ कर ३-४ माशे निशोथ मिलाकर दें; या अरंडी का तैल २॥ से ५ तोले दें।

(३) ग्लीसराइन या अरंडी का तैल १० तोले को आध सेर निवाये जल में मिलाकर वस्ति दें। अथवा ग्लीसराइन की बत्ती चढ़ाकर कोष्ठ शुद्धि करा लेनी चाहिये।

निद्रा लाने के लिये—(१) कस्तूर्यादि वटी (र० ५४३) दें।

(२) घी या एरंड तैल को काँसी की थाली में काँसी की कटोरी से घोटकर अञ्जन करें या सन्निपात चिकित्सा में लिखा हुआ निद्रा उत्पादक अञ्जन का उपयोग करें।

बेहोशी अधिक हो, या कफ प्रकोप हो जाय, तो—श्वास कुठार रस सुँघाना चाहिये।

सूचना—इस रोग में वस्त्र को साफ करा लेना चाहिये। अधिक बाल हो, तो उसे निकलवा देना चाहिये। रोगी को सूर्य की किरणों

वाले स्वच्छ स्थान में रखना चाहिये; तथा आहार रूप से षडंगपानीय (र० ६३८), दूध और मुसंबी का रस ही देना चाहिये (अन्न न देवें)।

(१२) श्वसनक ज्वर।

श्वसनक ज्वर—फुफ्फुस सन्निपात-रक्तष्ठीवी सन्निपात-न्युमोनिया Pneumonia।

इस ताप में श्वास प्रकोप होकर लाख के रस के सदृश लाल-काले रंग का रक्त थूक के साथ निकलता है; इस हेतु से इस ताप को 'रक्तष्ठीवी सन्निपात' संज्ञा दी है। (क्वचित् रक्त नहीं भी निकलता)। श्वसन यन्त्र पर इस रोग का आक्रमण होता है, अतः इसे 'श्वसनक ज्वर' नाम मिला है। कितनेक आचार्यों ने इस रोग में फुफ्फुस दूषित हो जाता है; इसलिये इसको 'फुफ्फुस सन्निपात' कहा है। इस तरह भावमिश्र आचार्य ने इस रोग का नाम 'कर्कटक' रक्खा है।

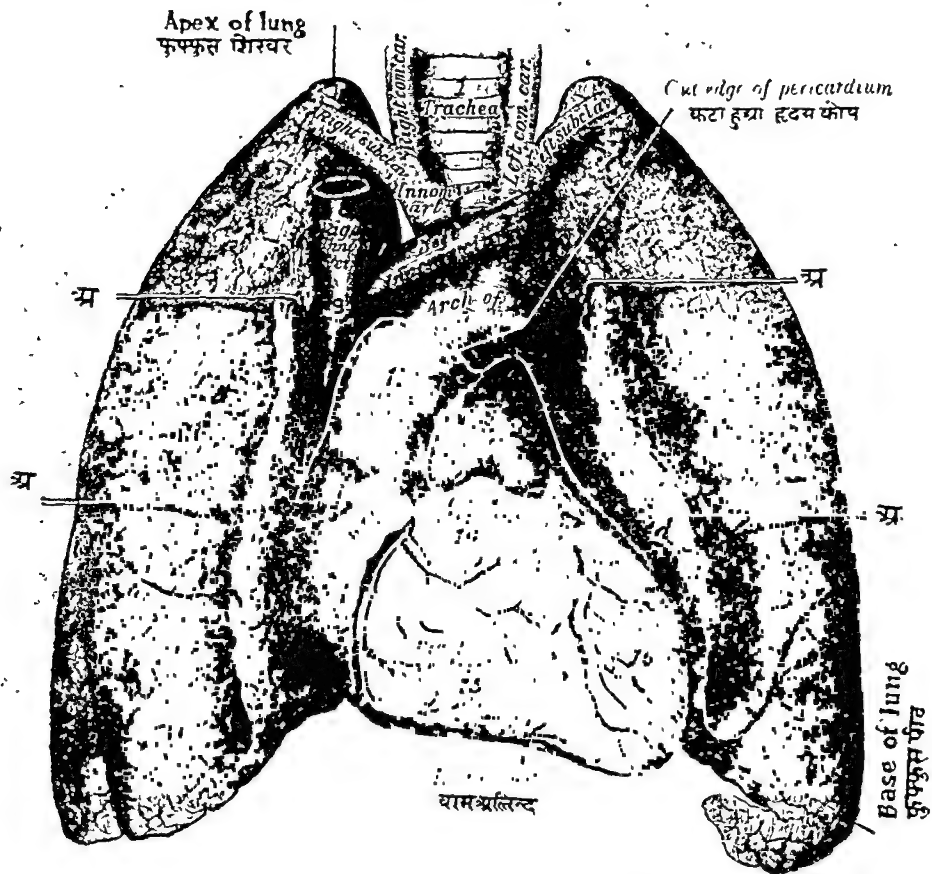
इस ज्वर में २ प्रकार हैं। फुफ्फुस खण्ड प्रदाह और श्वास प्रणालिका प्रदाह। इनमें फुफ्फुस खण्ड प्रदाह विशेष घातक है। यदि इस रोग में स्टेथस्कोप द्वारा फुफ्फुसों की परीक्षा की जाय; तो सूक्ष्म बुदबुदों के समान ध्वनि सुनने में आती है। नाड़ी तीव्र वेगवती चलती है। यदि फुफ्फुसों पर उँगलियों से ताड़न परीक्षा की जाय; तो पत्थर पर आघात होने सदृश घन आवाज आती है। ये सब लक्षण फुफ्फुस के वायुकोषों का अवरोध होकर व्रण शोथ होने पर होते हैं।

श्वासोच्छ्वास क्रिया के मुख्य साधन दो फुफ्फुस—फेफड़े (Lungs लंग्स) हैं। वे उरगुहा में हृदय की दोनों ओर एक एक रहा है। इसलिये उनको दाहिने फेफड़े और बांये फेफड़े कहते हैं। ये मृदु, कुछ तेजस्वी, दबाने पर स्पंज समान दबने वाले और वजन में हलके होते हैं। इनमें स्पंज की तरह अनेक छिद्र होते हैं। स्वस्थ मनुष्य के फुफ्फुस को जल पर रक्खे, तो वह तैरता है। ये फुफ्फुस संकोचन और प्रसरण शील हैं; अर्थात् इच्छा होने पर मनुष्य इनको चढ़ा-घटा सकते हैं।

तुरन्त के जन्मे हुए बच्चे के फुफ्फुसों का रंग कुछ गुलाबी होता है। बड़ी आयु होने पर रंग राख जैसा मैला हो जाता है। चारों ओर काले रंग के धब्बे (विशेषतः धूम्रपान करने वालों को) हो जाते हैं। वृद्धावस्था में अधिक

चित्र नं० १४

फुफ्फुस और हृदय



१ श्वास नलिका Trachea

२ दक्षिण महामातृका धमनी Right Common Caroted artery

३ वाम महामातृका धमनी Left Common Caroted artery

४ दक्षिण अक्षाधरा धमनी Right Subclavian artery

५ वाम अक्षाधरा धमनी Left Subclavian artery

६ गलमूलिका धमनी Innominate artery

७ वाम गलमूलिका सिरा Left Innominate artery

८ दक्षिण गलमूलिका सिरा Right Innominate artery

९ उत्तरा महासिरा Superior Vena Cava

१० तोरणी महाधमनी Arch of Aorta

११ आरोहिणी ,, Ascending ,,

१२ फुफ्फुसाभिगा धमनी Pulmonary artery

१३ दक्षिण अलिन्द और उसका शीर्ष Right Atrium and Auricila

१४ दक्षिण निलय शीर्षक Infundibulun (Conus arteriosus)

१५ दक्षिण निलय Right Ventricle

१६ वाम निलय Left Ventricle

१७ दक्षिण फुफ्फुस Right Lung

१८ वाम फुफ्फुस Left Lung

अ—इन चार स्थानों से फुफ्फुसमूल खिंचता रहता है।

कालापन आ जाता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों के फुफ्फुसों में कालापन अधिक होता है।

पुरुषों के दहिने फुफ्फुस का वजन लगभग ५५ तोले और बांये फुफ्फुस का ५० तोले होता है। स्त्रियों के फुफ्फुस का वजन ५ तोले कम होता है। पुरुष शरीर में फुफ्फुस का वजन शरीर के वजन का ३७ वां भाग जितना और स्त्री शरीर में ४३ वां भाग जितना होता है।

फुफ्फुसों का आकार शंकु समान होता है; अर्थात् ऊपर के भाग की अपेक्षा नीचे का भाग अधिक मोटा होता है। ऊपर के पतले भाग को फुफ्फुस शिखर (ऐपक्स Apex) और नीचे के भाग को फुफ्फुस पीठ (बेस Base) कहते हैं। इन फुफ्फुसों में कितनेक खड्डे हैं, इनमें ३ मुख्य हैं। दो वृन्तखात और एक हृदयखात। इनमें से प्रत्येक वृन्तखात प्रत्येक फुफ्फुसों की भीतर की ओर रहा है। फुफ्फुस मूल इस खड्डे द्वारा भीतर प्रवेश करता है। हृदयखात बांये फुफ्फुस की सीमा पर का दहिने की अपेक्षा अधिक गहरा है।

फुफ्फुस वृन्त (मूल Root) अर्थात् फुफ्फुसों में जाने वाली श्वास नलिका की शाखायें, रुधिर वाहिनियाँ, नाड़ियां, रसायनियां, इन सबका समूह। जिनके द्वारा फुफ्फुस का हृदय और श्वास नलिकाओं के साथ सम्बन्ध रहता है।

फुफ्फुसपिण्ड (लोबस Lobes) दक्षिण फुफ्फुस में ३ और वाम फुफ्फुस में २ पिण्ड हैं। सब पिण्डों के भीतर एक एक श्वास काण्डिका (ब्रोंकिया Bronchia) जाती है। यह काण्डिका अनेक छोटी छोटी शाखाओं में विभक्त हो गई है। ये उपशाखाएँ आगे अति सूक्ष्म हो गई हैं। उनको श्वास प्रणालिका या सूक्ष्म श्वास वाहिनियां (Bronchioles) कहते हैं। इन श्वास वाहिनियों के अन्त के मुख अंगूर के गुच्छे जैसी आकृति वाले होकर वायुकोष समूहों (लोब्युल्स Lobules) के भीतर गये हैं। इन वायुकोष समूहों में ५-६ वायुकोष (एयर सेल्स Air cells) रहते हैं। कोई कोई समूह छोटा है, तो कोई बड़ा। सामान्य रीति से एक कोष संघ का परिमाण लगभग एक अंगुल के सोलहवां हिस्सा बराबर होता है। सब वायु कोषों की पूरी समाई ३४३ घन इंच अर्थात् ७ इंच लम्बाई, ७ इंच चौड़ाई और ७ इंच गहराई है। इतनी वायु गहरी श्वास लेने पर भीतर जा सकती है। जब श्वास बाहर निकाल दिया जाता है; फिर भी, १०० घन इंच वायु भीतर रह जाती है।

ये वायु-कोष अर्धगोलाकार हैं। इन पर स्नायु सूत्र लगे हुए हैं। फुफ्फुसाभिगा धमनि की शाखायें हृदय के दहिने भाग में से अशुद्ध रक्त इन वायुकोषों के पास लाती हैं। फिर वायुकोष के भीतर आई हुई ताजी वायु में रहे हुए ऑक्सि-

जन Oxygen से इस अशुद्ध रक्त की शुद्धि होती है; तथा रक्त में रही हुई दूषित वायु (कार्बोन डाइ ऑक्साइड गेस Carbon dioxide Gas) रेचन (निःश्वास) द्वारा बाहर निकल जाती है। इस तरह रक्त शुद्धि की क्रिया इन फुफ्फुसों के भीतर होती रहती है।

इन फुफ्फुसों के एक ओर के कोई एक या अधिक पिण्ड या दोनों ओर के पिण्डों में दाह शोथ होकर न्युमोनिया हो जाता है। एक ओर को हो, तो लोबर (Lobar) और दोनों ओर को हो, तो डबल (Double) न्युमोनिया कहलाता है।

यदि श्वास काण्डिका और वायुकोषों में दाह शोथ हो जाता है, तो ब्रांको न्युमोनिया (Broncho Pneumonia) कहलाता है।

फुफ्फुसावरण (Pleura)—इस न्युमोनिया रोग में फुफ्फुसों के ढकने वाले फुफ्फुसावरण में भी बहुधा विकृति हो जाती है।

दोनों फुफ्फुस फुफ्फुसावरण नामक थैली के भीतर रहते हैं। इस थैली में दो स्तर हैं। एक स्तर फुफ्फुस को चिटका हुआ है, जब दूसरा स्तर समस्त वक्ष के भीतर की ओर लगा हुआ है। दोनों स्तर मिलकर एक थैली बनी है। जैसे कोष के भीतर तलवार डाला जाय, उसी तरह इन थैलियों के भीतर फुफ्फुस रहते हैं। श्वास लेने पर दोनों फुफ्फुस फूलते हैं, तब फुफ्फुसावरण की दोनों कलाएँ परस्पर समीप में आजाती हैं; और वायु बाहर निकालने पर फुफ्फुसों का संकोच होने से दोनों स्तर विभक्त हो जाते हैं; दोनों स्तरों के भीतर सामान्य संयोगों में थोड़ी पतली लसीका रहती है।

बाह्य आघात से या फुफ्फुसों में विकृति होने पर इस फुफ्फुसावरण के कोई एक भाग पर शोथ आने पर यह लसीका सूख जाती है। फिर पार्श्वशूल होने लगता है। दीर्घश्वास लेने या खांसी आने पर इसमें पीड़ा होती है और सूक्ष्म ज्वर आ जाता है। न्युमोनिया और क्षय में बहुधा यह शोथ हो जाता है। इस शोथ को ड्राय प्लुरिसी (Dry Pleurisy) कहते हैं। फिर उसमें जल भर जाय; तो Wet Pleurisy, रक्त भर जाय तो हिमोथॉरेक्स (Hemothorax), पीप होने पर एम्पायेमा (Empyema) और वायु भर जाने पर न्युमोथॉरेक्स (Pneumothorax) कहलाता है।

यह ताप विशेषतः दुर्बल, निर्धन और शोकातुर मनुष्यों को फुफ्फुसों का वस्त्रादि से योग्य संरक्षण न होने से हो जाता है। बहुधा शिशिर और वसंत ऋतु में शीत या वर्षा के आघात से हो जाता है। क्वचित् यह ज्वर दुर्गन्ध के सेवन से या न्युमोनियां पीड़ित रोगी की

परिचर्या करने के समय अति संसर्ग में आने से अन्य ऋतुओं में भी हो जाता है।

फुफ्फुस खण्ड प्रदाह

निदान—इस श्वसनक ज्वर (Lobar Pneumonia) में ताप तीव्र और आशुकारी होता है। यह रोग छोटे से बड़े तक सबको होता है। परन्तु १० वर्ष के भीतर और २० से ५० वर्ष तक की आयुवाले को विशेष होता है। यदि वृद्ध मनुष्यों को हो जाय; तो यह घातक हो जाता है। स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को अधिक होता है। वायु में शीतलता होने पर भी तेज वायु में घूमना, धूप में घूमने के पश्चात् तुरन्त शीतल स्थान में जा कर शीतल जलपान करना, पंखे से वायु डालना, दोपहर या रात्रि को स्नान करना, अति मद्यपान अथवा कचित् हृदय पर आघात होने से इस रोग की उत्पत्ति होती है। इनके अतिरिक्त दुर्गन्ध वाले या धूलिमय वातावरण में रहना, विषमज्वर, प्रतिश्याय, वृक्कशोथादि जीर्ण रोग होने पर वायु का थोड़ा आघात लग जाना और अपथ्य आहार-विहारादि कारणों से भी इस रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

इस रोग की उत्पत्ति (१) न्युमोकॉकस Pneumococcus (२) बेसिलस Bacillus Pneumoniae (३) स्टफिलोकॉकस Staphylococcus (गुच्छा बनकर रहने वाले कीटाणु), (४) स्ट्रेप्टोकॉकस Streptococcus (जंजीर समान जुड़ कर रहने वाले कीटाणु), इन कृमियों द्वारा होती है। इनमें पहले प्रकार के कृमि नीरोगी मनुष्यों के मुँह में भी प्रतीत होते हैं। इनसे ही अधिकतर इस रोग की उत्पत्ति होती है।

इस रोग के स्थान और उपद्रव भेद से डाक्टरी में इतर कितनेक प्रकार किये हैं। जिनमें से ८ प्रकार निम्नानुसार हैं।

(१) उभय फुफ्फुसग्राही (Double Pneumonia)।

(२) परिभ्रामक अर्थात् स्थान परिवर्त्तन करने वाला (Wandering) विशेषतः यह शराबी और वृद्धों को हो जाता है।

(३) केन्द्रिक अर्थात् फुफ्फुसों के मध्य भाग को दूषित करने वाला (Central)। इसमें परीक्षा योग्य वाह्य चिह्न (Physical signs) अस्पष्ट होते हैं।

(४) घातक प्रलापकादि उपद्रवों सह (Cerebral) अर्थात् इस प्रकार में विषमय रक्त रोग (Toxemia) के चिह्न प्रारम्भ से ही प्रतीत होते हैं।

(५) श्वासप्रणालिका प्रदाह और प्रतिश्याय सह (Lobular)।

(६) फुफ्फुसावरण के दाह सह (Pleuritic)।

(७) फिरङ्ग रोग सह (Syphilitic)।

(८) आन्त्रिक ज्वर सह (Typhoid Pneumonia)।

सम्प्राप्ति—इस ज्वर के कीटाणु या विष श्वास मार्ग द्वारा फुफ्फुस खण्ड में जाने से या वहाँ ही उत्पन्न हो जाने से दाहिने, बाँये या दोनों फुफ्फुसों में रक्त जम कर दुष्ट हो जाता है, और लसीका भी गाढ़ी हो जाती है। फिर वातादि दोष प्रकुपित होकर श्वास यन्त्र को दूषित कर देते हैं। जिससे वहाँ शोथ होकर वह स्थान ठोस हो जाता है। इस हेतु से श्वासोच्छ्वास कष्टपूर्वक चलता है।

इन कृमियों से फुफ्फुस प्रदाह होने पर सामान्य रीति से सम्प्राप्ति की ४ अवस्था प्रतीत होती हैं। (१) रक्ताधिक्य (२) रक्तघनीभवन (३) असितघनीभवन (४) प्रकृति भाव।

(१) रक्ताधिक्य—(हायपरीमिया Hyperaemia) यह फुफ्फुस प्रदाह की प्रथमावस्था है। इसमें फुफ्फुस काला होने लगता है। दबाने पर उसमें से झागयुक्त रक्तस्राव होता है। इस स्थिति में फुफ्फुस जल पर तैरता है।

(२) रक्तघनीभवन—(रेड हेपटिझेशन Red Hepatization) फुफ्फुस के जितने भाग में दाह हुआ हो, वह भाग ५ से २४ घण्टे के भीतर घन (ठोस) हो जाता है। उसमें वायु न रहने से उसको जल में डाला जाय, तो डूब जाता है। फुफ्फुस खण्ड के सूक्ष्म छिद्र (Alveioli) सब लसीका स्राव से भर जाते हैं; और फुफ्फुस

लाल पाषाण समान हो जाता है। यह द्वितीया अवस्था ३ से १० दिन तक रहती है। साध्यावस्था में बहुधा एक सप्ताह के पश्चात् फुफ्फुस मृदु होकर द्रवीभूत होने लगता है; किन्तु कोई कोई वार तो कुछ घण्टों में ही यह कार्य हो जाता है।

(३) असितघनीभवन—(ग्रे हेपटिफ़ेशन Gray Hepatization) इस तृतीयावस्था को प्राप्त होने पर फुफ्फुस का रङ्ग मैला हो जाता है; और वह मृदु हो जाता है। दवाने पर उसमें से पूय निकलता है। रक्ताणुओं में से रक्तरञ्जक द्रव्य नष्ट अथवा रूपान्तरित हो जाता है। रक्त वाहिनियाँ दव कर चिपक जाती हैं। रक्ताभिसरण क्रिया में प्रतिवन्ध आ जाता है। इनके अतिरिक्त श्वेत जीवाणु की सेना कीटाणु या विष को नष्ट करने के लिये फुफ्फुसों में आ जाती है; जिससे फुफ्फुस मैले रङ्ग का हो जाता है। यदि पूय अधिक हो जाता है; तो रोगी की मृत्यु हो जाती है।

इस रोग में लगभग १० प्रतिशत रोगियों में दोनों फुफ्फुस आक्रान्त हो जाते हैं। उसे अधिक भयप्रद माना है।

(४) प्रकृति भाव—(रेझोल्युशन Resolution) यह अवस्था रोग शमन होने पर होती है। जब दूपित मल कफ के साथ मिल कर बाहर निकल जाता है; और स्राव का कुछ अंश रक्त में शनैः-शनैः लीन होता रहता है; तब मूल स्थिति की प्राप्ति होती है।

इस ज्वर में वात, पित्त और कफ, तीनों दोप कुपित होते हैं। इनमें कफप्रकोप अधिक होता है।

पूर्वरूप—इस रोग के पूर्वरूप में फुफ्फुस जकड़ना, श्वास, कास, क्वचित् कम्प, क्वचित् फुफ्फुसावरण में जल संचय, क्षुधानाश, निर्वलता, वेचैनी, नाड़ी में तेजी इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

रूप—यह ज्वर बहुधा शीत सहित आता है। प्रारम्भ से ही ताप तीव्र भासता है। अरुचि, तृषा, पार्श्वशूल, कास, धीरे-धीरे श्वासवृद्धि बढ़ते जाना, वार-वार रक्तमिश्रित चिकना दुर्गन्धयुक्त कफ निकलना, श्वास के वेग से नाक और पसली में कंपन होते रहना, कपाल और सारे

शरीर पर पसीना वार-वार आते रहना, सरसों समान पिडिकाएँ होना, दुर्बलता, मोह, प्रलाप, गले में से घर-घर आवाज निकलना, जिह्वा कठोर, शुष्क और मैली हो जाना, नाड़ी कोमल, स्थूल और चंचल होना, नाड़ी के रेखाचित्र को देखने पर तृतीय तरंग छोड़कर चलने वाली छोटे तरंग युक्त डाइक्रोटिक पल्स प्रतीत होना, ये सब लक्षण उत्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त शिरदर्द, निद्रानाश, पेशाब में क्लोराइड क्षार कम होने से पेशाव थोड़ा और लाल रंग का हो जाना और वद्धकोष्ठादि भी होते हैं। नाड़ी की चाल १०१ से १३० तक हो जाती है। ज्वर १०३ से १०४ डिग्री तक हो जाता है; किन्तु वृद्धों को ताप कुछ कम रहता है।

स्वस्थावस्था में श्वासोच्छ्वास से नाड़ी के ठोके लगभग ४ गुने होते हैं। वे इस अवस्था में त्रिगुण या द्विगुण ही होते हैं। यदि यह रोग शराबी को हुआ हो, तो उसको उन्माद भी हो जाता है। यदि प्रारम्भ से प्रलाप होता रहता है; तो रक्त में विषवृद्धि (टोक्सीमिया Toxaemia) के लक्षण निद्रानाशादि भी हो ही जाते हैं। इस विष का प्रभाव विशेषतः वातसंस्थान, मस्तिष्क और हृदय पर होता है।

प्रारम्भ में थोड़े दिन तक कफ पतला रहता है; फिर फेफड़े करड़े होने पर कफ चिकने पीले रंग का हो जाता है। किसी-किसी को रक्त मिला हुआ कफ आता है। यदि रोग-वल वढ़ जाता है, तो फुफ्फुसों में कोथ होकर अति दुर्गन्धयुक्त पीप सहित किंचित् लाल पतला कफ आता है। पीप अधिक हो जाने पर रोग असाध्य हो जाता है।

यह रोग वालकों को होने पर कर्णपाक, गर्भिणी को हो, तो गर्भ-पतन; तथा सम्यक् चिकित्सा न होने पर या निर्वलता अधिक हो; तो फुफ्फुस कोथ, हृदान्तर त्वग या हृदयावरण का दाह और क्वचित् मस्तिष्क दाहादि उपद्रव हो जाते हैं।

मलपाक नियमानुसार होता जाय; तो ७ वें, ८ वें या ६ वें दिन अकस्मात् खूब प्रस्वेद आकर रोगी ज्वर से निर्मुक्त हो जाता है। स्वेद वृद्धि होने पर शरीर शीतल और क्वचित् नाड़ी लोप हो जाती है। फिर

सम्यक् चिकित्सा करने से रोगी स्वस्थ हो जाता है। यदि मलप्रकोप अधिक हो गया हो; तो रोगी की थोड़े ही दिनों में मृत्यु हो जाती है।

प्रथमावस्था में उँगली ताड़न से मन्द ध्वनि उत्पन्न होती है। नलिका श्रवण से सूक्ष्म मन्द द्रवध्वनि (Crepitant rale बालों को अंगुष्ठ और तर्जनी से पकड़ कर रगड़ने पर जैसी आवाज हो, वैसी) सुनने में आती है। यह ध्वनि श्वास लेने पर प्रतीत होती है। फुफ्फुस कोपों में शोथ होकर कुछ स्राव होने से यह उत्पन्न होती है।

द्वितीय और तृतीय अवस्था में उँगली ताड़न की ध्वनि पत्थर पर चोट लगने समान जड़ हो जाती है। ध्वनि-वाहक यन्त्र से परीक्षा करने पर वायु कोषीय नाद सुनने में नहीं आता, केवल श्वास प्रणालिकाओं में से नालीय नाद आता रहता है। श्वासोच्छ्वास से फुफ्फुसों का संकोच-विकास जो निरन्तर देखने में आता है; अर्थात् श्वास-क्रिया में ऊपर की ओर उठता रहता है; वह इन अवस्थाओं में प्रतीत नहीं होता। किन्तु रुग्ण पार्श्व आगे की ओर उभरा हुआ ही रहता है।

इस रोग में दूसरे या तीसरे दिन पीड़ा कम हो जाती है; खाँसी सुगमता से होने लगती है; कफ पतला हो जाता है; और क्वचित् चौथे या पाँचवें दिन ताप उतर जाता है। किन्तु यह मिथ्या उपशम है। (सच्चे उपशम में नाड़ी और श्वासोच्छ्वास का अन्तर नियमित हो जाता है।) इस हेतु से यह ताप उतर कर पुनः चढ़ जाता है। सच्चे उपशम में पसीना इतना अधिक आता है, कि वस्त्र और बिस्तर भीग जाते हैं; या अतिसार होकर ताप दूर होता है। क्वचित् शनैः-शनैः ताप उतरता है।

ताप चला जाने पर कभी-कभी फुफ्फुसावरण में दाह, फुफ्फुसविद्रधि, या जीर्ण कासादि रोग शेष रह जाते हैं, और फुफ्फुस वर्षों तक निर्बल रह जाता है। जिससे शीत या वर्षा का थोड़ा-सा आघात होने पर पुनः इसी रोग का दर्शन हो जाता है।

इस रोग के प्रभाव से मूत्र में क्लोराईड क्षार बहुत कम हो जाता है। यह इतर फुफ्फुस रोगों में नहीं होता। जब रोग शमन होने लगता है; तब पुनः यह क्षार भी बढ़ने लग जाता है।

साध्यासाध्यता—यदि रोगी सवल है, रोग एक पार्श्व में है, ज्वर मन्द है; चिकित्सा, पथ्यपालन और परिचर्या, तीनों सम्यक् प्रकार से होते रहते हैं; तो रोग को सुखसाध्य माना है। अति प्रस्वेद, तीव्रज्वर और रोगी वृद्ध या निर्बल है; फिर भी भली भाँति सम्हाल की जाती है; तो उस रोगी के भी वच जाने की संभावना की जाती है।

अरिष्ट लक्षण—दोनों फुम्फुसों में सार्द्रशोथ (एकोइड Ecoid) हुआ हो, या एक फुम्फुस के सब खण्ड रोगाक्रान्त हो गये हों, नासिका के छिद्र श्वास के हेतु से फूलते हों; नाड़ी अत्यन्त तेज हो जाती हो, हाथ-पैरों में थोड़ी-सी चेष्टा से कम्पन हो जाता हो; मन्द-मन्द प्रलाप, अत्यन्त प्रस्वेद, अति दुर्बलतादि लक्षण दीखते हों; तो उसे अरिष्ट लक्षण माना है।

यदि श्वसनक सन्निपात के साथ भयङ्कर अतिसार और देह क्षीण हो जाय; तो वह रोगी यमपुरी में जाने को तैयार हो जाता है।

बलक्षय, गात्रनीलिमा या हृदयगति का अवरोध होकर मृत्यु होती है; या दोनों फुम्फुसों की क्रिया बन्द हो जाने से मरण होता है।

शराबी, वृद्ध और निर्बलों के लिये यह ज्वर कष्टसाध्य या असाध्य माना जाता है।

श्वास प्रणालिका प्रदाह।

श्वास प्रणालिका प्रदाह (Broncho Pneumonia)—फुम्फुसों से सम्बन्ध वाली सूक्ष्म श्वास नलिकाएँ (Bronchioles) जो वायु कोप संघात में गई हैं, उनमें दाह-शोथ होता है। यह दाह विशेषतः उपद्रवात्मक होता है। क्वचित् मूल रोग रूप से प्रतीत होता है। रोमान्तिका, काली खाँसी, कण्ठरोहिणी (Diptheria) या वात-श्लेष्म ज्वर आदि इतर विषमय रोग के अन्त में उपद्रव रूप से होता है। यदि अन्न या इतर पदार्थ श्वास नलिका में चला जाता है; तो भी यह हो जाता है। इसको शल्यज फुम्फुसदाह (एस्पिरेशन न्युमोनिया Aspiration Pneumonia) कहते हैं।

यह रोग ५ वर्ष से छोटे बच्चे, क्षीण मनुष्य और वृद्धों को अस्थि-

क्षय, अतिसारादि शरीर क्षय कारक रोगों के अन्त में बहुधा हो जाता है। सामान्य कास रोग के अन्त में, क्षय रोग में और तीक्ष्ण वायु श्वासोच्छ्वास में चली जाने पर इस रोग की उत्पत्ति हो जाती है; तथा शीतवायु में घूमना, यह इस रोग का प्रकोपक कारण बन जाता है।

स्तनपान करने वाले शिशुओं को जब यह रोग हो जाता है; तब उसको उत्फुल्लिका कहते हैं। भाषा में पसली चलना, डब्बा, मसान, भूत बाधा, ससनी, पलरिया आदि अनेक नाम दिये हैं।

बालकों को यह रोग माता के कुपथ्य सेवन से भी हो जाता है। इस रोग के होने से पहले विकारी दूध पिलाने के समय माता के पेट में जलन-सी मालूम होती है। इस रोग में बालकों को श्वास लेने पर दोनों पसलियों के नीचे गड्ढा-सा होता रहता है।

इस रोग में बेसीलस न्युमोनिया और इतर पूयजनक कीटाणु प्रतीत होते हैं। यह रोग तीव्र संक्रामक है।

सम्प्राप्ति—इस रोग में सूक्ष्म श्वास वाहिनियों में शोथ होकर मार्ग संकोचित हो जाता है। फिर दोनों फुफ्फुसों के वायुकोष दूषित होते हैं। सूक्ष्म श्वास वाहिनियों के मुख और वायु-कोषों में दाह होने से वे सब लसीका स्राव से भर जाते हैं। फिर सूक्ष्म वाहिनियाँ स्राव से अवरुद्ध होने पर उनसे सम्बन्ध वाले वायुकोप दूषित होकर संकोचित हो जाते हैं। और समीप के वायुकोष भी फूल जाते हैं।

रूप—यह रोग यदि मूलभूत है; तो उसका आक्रमण अकस्मात् होता है। शीत लगकर थोड़ा ज्वर हो जाता है तथा उरःशूल, कास, श्वासादि उपद्रव फुफ्फुस प्रदाह के समान उत्पन्न हो जाते हैं। फिर कुछ दिनों में धीरे-धीरे ज्वर १०२–१०३ डिग्री तक बढ़ जाता है। क्वचित् प्रारम्भ से ही ज्वर तीव्र रहता है।

इस रोग में अनुभव हो सके, ऐसे चिह्न (Signs) अनिश्चित होते हैं। फुफ्फुसों पर नलिका श्रवण से नाद स्वस्थवत् भासता है। छोटे-छोटे स्थान ठोस होते हैं। परन्तु वे प्रतीत नहीं होते। जब शोथ बहुत बढ़ जाय; अधिक वायुकोप ठोस हो जाय; तब उँगली ताड़न से

जड़ ध्वनि आती है। नलिका से श्रवण करने पर विशेष प्रकार की शब्द ध्वनि (Vocal Fremitus) की प्रतीति होना, इत्यादि चिह्न भासते हैं।

बच्चों को इस रोग से कण्ठ में घर-घर आवाज निकलती है; श्वास जल्दी-जल्दी चलता रहता है। अनेक बालकों का पेट कब्ज होकर फूल जाता है। नाक सूखता है; या नाक से पानी झरता है। मल-मूत्रावरोध हो जाता है; तथा उदर में कफ का जाला-सा बँध जाता है। इस रोग का आक्रमण अकस्मात् होता है। बालक खेलते-खेलते मुँह का रङ्ग बदल देता है; नेत्र फटने लगते हैं और बेहोश हो जाता है। तीव्र ज्वर हो; तो बेहोशी, मुँह लाल हो जाना, चमक उठना, इत्यादि उपद्रव प्रतीत होते हैं।

यदि उपद्रव रूप हो; तो प्रारम्भ में खाँसी होती है। किन्तु इस रोग का प्रारम्भ होने पर ताप एकदम १०२-१०३ डिग्री तक बढ़ जाता है; और कुछ दिनों (१०-१५ दिन) तक संतत के समान रहता है। श्वास जल्दी-जल्दी चलने लगता है। नाड़ी अशक्त और कर्कश, त्रासदायक कास और कफ अति चिकना (रक्त रहित) होता है। श्वास लेने के समय पर्शुकान्तर (Intercostal space) अन्दर की ओर घुसती हुई भासती है।

इस व्याधि में ताप धीरे-धीरे उतरता है; किन्तु बीच-बीच में कुछ बढ़ भी जाता है। रोगी बहुत अशक्त हो जाता है, और शनैः-शनैः स्वस्थ होता है। यदि बलक्षय होता है; तो कास-श्वास बढ़ता है; और शल्यज फुफ्फुसदाह (एस्पिरेशन न्युमोनिया) होकर रोगी प्राणमुक्त हो जाता है; या क्वचित् संज्ञाहीन होकर मृत्यु होती है।

प्रकृति भाव विलम्ब से होता है; तो रोगी के कफ धातु का क्षय होने की सम्भावना है। यह रोग श्वसनक ज्वर के समान भयानक नहीं है। इस रोग में मृत्यु बहुत कम होती है।

तीव्र क्षय रोग, रोमान्तिका, काली खाँसी, सामान्य खाँसी, ये सब रोग भ्रान्ति उत्पन्न करने वाले हैं। किन्तु क्षय रोगी के थूक में कृमि, रोमान्तिका में पिटिका, काली खाँसी में 'हूप-हूप' ध्वनि और सामान्य

कास में तापादि लक्षण तीव्र न होना, इत्यादि लक्षण भेद से निदान सरल हो जाता है।

फुफ्फुसखण्ड प्रदाह चिकित्सा।

फुफ्फुसखण्ड प्रदाह के शमनार्थ सन्निपात में कहे अनुरूप आम कफ का पाचन करें। दोप को वाहर निकालने के लिये स्वेदन, निष्ठीवन, अवलेह, लंघनादि चिकित्सा करें। विपप्रकोप को कम करने का यत्न करें। हृदयावरोध होने लगे; तो उसे रोकने की सत्वर चिकित्सा करें।

रोगी को अन्धकार वाले या शीतल स्थान में न रक्खें; एवं अधिक गरम स्थान में भी नहीं रखना चाहिये। जहाँ तेज वायु न हो, ऐसे सम शीतोष्ण प्रकाशयुक्त स्वच्छ स्थान में रखना चाहिये। कमरे में धुआँ नहीं करना चाहिये। दीपक हो सके, तव तक कड़वे या मीठे तैल का जलावें। फुफ्फुसों को शीत न लग जाय इस वात का ख्याल रक्खें। फुफ्फुसों पर सेक मन्द-मन्द आधे से एक घण्टे तक दिन में दो वार करते रहें; किन्तु हृदय पर सेक नहीं करना चाहिये।

इस रोग में लंघन कराना अति हितकर है। रोग का वेग कम होने पर, प्रातः-सायं गाय या वकरी का दूध देवें। क्षुधा लगे और रोगी की इच्छा हो; तो दोपहर को मुसम्वी, अंगूरादि फल देवें। जल गरम करके शीतल किया हुआ दें, किन्तु अन्न विल्कुल नहीं देना चाहिये।

इस रोग में हृदय निर्वल हो जाता है; अतः हो सके तव तक वच्छनाग युक्त औपधि का उपयोग न करें।

रोगी को पूर्ण विश्रान्ति दें। शौच और लघुशंका के लिये भी वहाँ पर ही प्रवन्ध कराना चाहिये।

प्रारम्भ में विरेचन या वस्ति देकर बद्धकोष्ठता को दूर करें। फिर स्वेदल, मूत्रल और कफघ्न औषधि देते रहें।

यदि तीव्र विपप्रकोप है; तो प्रारम्भ में ही सिराव्यध करके रक्त-मोक्षण कराना हितकर है। निद्रा आने से विपवेग शमन होता है; और निद्रा न आने से विप-प्रभाव प्रवल होता जाता है। इसलिये निद्रा लाने

वाली औपधि की योजना अवश्य करनी चाहिये।

इस रोग की चिकित्सा में कफ जम गया हो तो उसे तरल करने का और वायु को साम्य करने का प्रयत्न करना चाहिये।

रोगवल, उपद्रव और प्रकृति का विचार कर दोप प्रत्यनीक, व्याधि प्रत्यनीक या उभय प्रत्यनीक चिकित्सा करनी चाहिये। सामान्य रीति से मूत्रल, स्वेदल, दीपन, पाचन और कफ को वाहर निकालने वाली औपधि दी जानी चाहिये।

रोग के प्रारम्भ होने पर अश्वकंचुकी रस, सूतराज रस या संजीवनी वटी आदि में से कोई औपधि देकर दोप पचन करा, रोग वल को कम करना चाहिये। यदि मूत्रावरोध रहता है तो मूत्रल औषधि देकर विप को दूर करना चाहिये।

द्वितीयावस्था में कफ सूख गया हो तो उसे पतला करने की क्रिया करें और पसली पर लेप लगावें। आवश्यकतानुसार सेक भी करें। हृदय को सवल रखने वाली, विपशामक और ज्वरघ्न औपधि देते रहें। किसी सवल उपद्रव के उत्पन्न होने पर सन्निपात में लिखे अनुसार चिकित्सा करें।

रोग शमन होकर जव तक रोगी सवल न हो जाय; तव तक शीतल वायु में घूमना, मैथुन, व्यायाम, सूर्य के ताप का सेवन और गुरु भोजन का त्याग करें। रोग शमन होने पर भी कुछ दिनों तक स्नान नहीं कराना चाहिये। किन्तु वस्त्र नित्य वदलते रहना चाहिए।

रोग शामक औषधियाँ—रक्तष्ठीवी सन्निपात पर लिखा हुआ रोहिपादि कपाय, पित्त-कफात्मक सन्निपात पर लिखा हुआ पर्पटादि क्वाथ, मल्ल भस्म तीसरी विधि (र० २७६), समीरपन्नग रस (र०३३५) अडूसा, मुलहठी, वहेड़ा, भारंगी और मिश्री के क्वाथ के साथ, महा ज्वरांकुश दूसरी विधि (र० ३७५), लक्ष्मीनारायण रस (र० ३८६), सूतराज रस (र० ३७०) अदरख के रस के साथ, चन्द्रामृत रस (र० ४४४), रससिन्दूर या समीरपन्नग, शृङ्ग भस्म और अभ्रक भस्म (दालचीनी के चूर्ण और शहद के साथ), हरताल गोदन्ती भस्म

(र० २६३), संचेतनी वटी (र० ३६१), अचिन्त्यशक्ति रस (र०५३५), वातेभकेसरी (र० ५३३)। इन औषधियों में से प्रकृति और रोगबल का विचार कर योजना करनी चाहिये।

हम प्रारम्भ में कोष्ठ शुद्धि, आम पचन और ताप कम करने के लिये अश्वकंचुकी रस देते हैं। फिर मल्लभस्म तीसरी विधि को बार-बार उपयोग में लेते हैं। वह प्रस्वेद लाकर ताप के बल को घटाती है, विष को बाहर फैंकती है; और फुफ्फुसों की जकड़ाहट कम करती है। जिनको खाँसी अधिक हो, उनको चन्द्रामृत रस दिन में २ या ३ समय देते रहते हैं। अथवा निर्बल हृदय और अति दूषित कफ वाले को इस मल्ल भस्म के साथ रससिन्दूर, शृङ्ग-भस्म और अभ्रक भस्म मिला कर देने से रोगी की शक्ति नहीं घटती; हृदय शिथिल नहीं होता और फुफ्फुस में कफ की विकृति होना रुक जाती है। अनुपान रूप से दालचीनी का चूर्ण और शहद मिला देने से कीटाणुओं का नाश होने में अच्छी सहायता मिल जाती है।

जिनका हृदय सबल है, मलावरोध नहीं है, कफप्रकोप और श्वास का वेग अधिक है; उनको वातेभकेसरी रस मिश्री के साथ देना हितकारक है। इस रस से कफशुद्धि बहुत जल्दी होती है।

रोगी निर्बल होने से ताप का वेग कम रहता हो और कफ अधिक हो तो दिन में दो बार अचिन्त्यशक्ति रस दे सकते हैं। साथ ही साथ समीरपन्नग, अभ्रक और शृङ्गभस्म शहद और दालचीनी के साथ देते रहने से श्वास, कास और कफ दूर होकर शक्ति बढ़ती है।

यदि आन्त्रिक ज्वर सह फुफ्फुस प्रदाह हो तो लक्ष्मीनारायण रस देते रहने से दोष पचन होकर ताप का वेग शमन हो जाता है। साथ में रससिन्दूर, अभ्रक और शृङ्ग देते रहना चाहिये। लक्ष्मीनारायण रस अति निर्भय औषधि है। अपना कार्य धीरे-धीरे परन्तु स्थिर करता जाता है।

सरसों का तैल और लहसुन का रस, दोनों को मिलाकर नस्य देने से कफप्रकोप शमन होने में सहायता मिलती है और मोह दूर होता

है। यदि कफ की अधिकता हो तो श्वासकुठार रस का नस्य देना विशेष हितकर है। साथ ही साथ सन्निपात में लिखा हुआ निष्ठीवन देने से मुँह से कफ निकल कर जल्दी लाभ होता है।

फुफ्फुस पर किसी वातहर तैल की मालिश कर, वस्त्र से ढक, ऊपर वालुका, नमक या गरम जल से सेक करें, परन्तु यह ध्यान रहे कि फुफ्फुस पर की त्वचा जल न जाय। आफरा, कोष्ठशूल और मल-मूत्रावरोध की दशा में उदर पर भी सेक करना चाहिये। आठ-दस दिन के बाद जब प्रस्वेद आकर ताप उतरने लगे तब हृदय पौष्टिक पूर्णचन्द्रोदय रस, रस-सिन्दूर या इतर औषधि अवश्य देनी चाहिये।

मलावरोध दूर करने के लिये—त्रिवृदष्टक मोदक (र० ५४३), ज्वरकेसरी वटी (र० ३७३), अश्वकंचुकी रस (र० ३७३), आरग्वधादि क्वाथ (र० ६२१), इनमें से अनुकूल हो, वह देवें; अथवा एरण्ड तैल की वस्ति या ग्लीसराईन की वत्ती चढ़ाकर मल शुद्धि करावें।

निद्रा लाने के लिये—निद्रोदय रस (र० ४५६), कस्तूर्यादि वटी (र० ५४३), या वात कुलान्तक रस (र० ४५८), इनमें से एक औषधि देते रहना चाहिये।

यदि प्रलाप हो, तो—सिर पर से बाल निकलवा कर वहाँ शतधौत घृत का लौंदा रख दें। घृत के पिघलने पर हटाकर पुनः दूसरा घृत रक्खें। इस प्रकार कई वार करने से प्रलाप शान्त हो जाता है।

अलसी योग—१५ तोले अलसी को कूट, ४० तोले जल में भिगो दें। फिर मसल, छान, चूल्हे पर चढ़ाकर पाक करें। गाढ़ा होने पर नीचे उतार, वहेड़ा, मुलहठी, पीपल, अडूसे के पत्ते, सोहागे का फूला और सफेद मिर्च, इन ६ औषधियों के १।-१। तोले का चूर्ण मिला लें। शीतल होने पर डेढ़ पाव शहद मिलावें। इनमें से १-१ तोला दिन में चार समय देते रहने से कफ सरलता से वाहर निकलता रहता है।

कफस्राव कराने के लिये—कफ सरलता से वाहर नहीं आता हो तो रोगी को अति कष्ट होता है। ऐसी अवस्था में श्वास-

वाहिनी और फुफ्फुस-कोषों को उत्तेजित कर कफ बाहर निकालने के लिये कफोल्बण सन्निपात में लिखा हुआ बृहत्यादि क्वाथ, समीरपन्नग रस (र० ३३६), कफकुठार (र० ४४५), वासादि क्वाथ (र० ६३०), मल्लसिन्दूर (र० ३२६), शृंग्यादि चूर्ण (र० ६१०) निवाये जल के साथ, इनमें से आवश्यक औषधि करनी चाहिये। ऐसा करने से कफ पतला होकर सरलता से बाहर आ जाता है।

हृदय की गति शिथिल हो जाने पर—संचेतनी वटी (र० ३७१) कस्तूरी, पीपल और शहद के साथ, पूर्णचन्द्रोदय रस (र० ३१८), त्रैलोक्य चिन्तामणि (र० ३७६) और जयमंगल रस (र० ३८१), इनमें से अनुकूल औषधि की योजना करें।

बेहोशी होने पर—द्राक्षासव किसी औषधि के साथ प्रारम्भ से ही पिलाते रहें तो भी अच्छा होता है। सिर के सामने के बाल निकलवाकर अदरख के रस की पट्टी लगावें। पट्टी बार-बार १-१ घण्टे से बदलते रहें। रोगी को चेतना आकर उसके नेत्र लाल प्रतीत हों, तब पट्टी लगाना बन्द कर देना चाहिये।

फुफ्फुस दाह और कफ में आते हुए रक्त के शमनार्थ—वासावलेह या वासा स्वरस के साथ-साथ अभ्रक भस्म और शृङ्ग-भस्म देते रहें। ये औषधियाँ निरापद एवं हितकर हैं। श्वसनक ज्वर की सब अवस्थाओं में दे सकते हैं। इन औषधियों का इस रोग की इतर औषधियों के साथ विरोध नहीं है। ये रोग शमन में अच्छी सहायता पहुँचाती हैं।

वमन और हिक्का हो, तो—खीरे के बीज को दूध में पीसकर देवें या हिक्कान्तक रस (र० ४५०) शहद के साथ दें।

फेफड़े पर मालिश के लिए—वातहर तैल (र०७२०), युकेलिप्टीस ऑइल या तारपीन के तैल में कपूर मिलाकर मालिश करें; अथवा शिरःशूलान्तक मल्हम (र० ७७३) में अफीम मिलाकर मालिश करें और फिर नमक की पोटली से दिन में २ समय एक-एक घण्टे तक मन्द-मन्द सेक करें।

डाक्टरी में फुफ्फुस पर एन्टीफ्लोजिस्टिन (Antiphlogistine) या एन्टीफ्लेमीन (Antiflamin)की पट्टी लगवाते हैं। इन औषधियों को गरम तथा पतली करने के लिये डिब्बे को किसी भगोने में रख, चारों ओर पानी भर, उबालें; जिससे डिब्बे में की औषधि जल की उष्णता से कुछ मिनटों में ही पतली हो जाती है। फिर फलालेन या किसी ऊनी वस्त्र पर लेप लगाकर दोष वाले स्थान पर एक या दोनों पार्श्व पर चिपका दें। यदि लेप शीतल हो गया हो; तो उसको निवाया करके चिपकावें। २४–२४ घण्टे बाद इस लेप को पुनः-पुनः बदलते रहें या गरम जल की बोतल रखकर पुनः गरम कर लें। इस लेप को छाती की बीच की हड्डी तक न लगावें, किन्तु उससे कुछ दूर रक्खें।

एक प्रकार की ऊन (थर्मोजेनिक वूल Thermogenic wool) आती है, उस पर स्पिरिट छिड़क कर फुफ्फुस पर रखने से भी उष्णता उत्पन्न हो जाती है।

डाक्टरी में निम्न औषधियों का उपयोग विशेष रूप से करते हैं।

ताप हो तब तक—

पोटास नाइट्रास	Pot. Nitras	१ ड्राम
लाइकर एमोनिया एसीटास	Liqr. Ammon. Acit.	१॥ औंस
स्पिरिट ईथरिस नाइट्रोसी	Spt. Aethoris Nitrose	४ ड्राम
टिञ्चर ऑरेन्टी	Tinct. Aurantii	३ ड्राम
एका कम्फर	Aqua Camphore ad	६ औंस

इन सबको मिलाकर ४-४ ड्राम ३-३ घण्टे पर देते रहें।

सन्धिस्थान जकड़े हुए हों, तो—

एमोनिया कार्ब	Ammon. Carb	५ ग्रेन
स्पिरिट क्लोरोफार्म	Spt. Chloroform	१० बूँद
वाइनम् कोलचिसी	Vin. Colchici	५ बूँद
लाइकर एमोनिया एसीटास	Liq. Ammon. Acit.	३ बूँद
एका मेन्था पीपरेटा	Aqua Mentha Pip. ad	१ औंस

इन सबको मिला लें। इस रीति से ६ भाग तैयार कर ४-४ घण्टे पर देते रहें। औषधि देने के समय बोतल हिला लेवें।

लगाने के लिये—

(१) गायाकोल	Guaicol	१ भाग
जेतुन का तैल	Oil Olive	४ भाग

दोनों को मिला कर दिन में दो बार प्रातः-सायं फुस्फुस और छाती पर इसकी मालिश करें। फिर २ घण्टे बाद गरम रुई से सेक करें।

(२) लिनीमेण्ट टेरीबिन्थीनी एसेटिकम् की मालिश करें। इसके बनाने की विधि निम्नानुसार है।

ग्लेसियल ऍसेटिक एसिड	Glacial Acetic Acid	१ भाग
कपूर का तैल	Oil Camphore	४ भाग
तारपीन का तैल	„ Terebinthine	४ भाग

सबको मिला कर दिन में दो बार मालिश करें और दो घण्टे बाद सेक करें।

बाष्प देने के लिये—(१) वेपर बेन्झोइनी Vapour Benzoini दें; अर्थात् Tinct. Benzoin Co. १ ड्राम को २० औंस उबलते हुए जल में मिला लें। फिर एक मिनट में ६ से ८ बार नाक और मुँह से वाष्प लेवें। यह क्रिया १० मिनट तक करें। यह वाष्प लेने के लिये जल को एक देगची (Kettle) में भर लें। फिर उसके मुँह पर रबर की नली लगा लें। इससे वाष्प लेने में सरलता होती है। यदि देगची अग्नि पर ही रहे, तो वाष्प अच्छी मिलती है।

(२) निम्न वेपर युकेलिप्टोस Vapour Eucalypti Co. दें।

निलगिरी का तैल	Oil Eucalyptus	१० बूँद
टिंचर बेन्झोइन कम्पाउण्ड	Tinct. Benzoin Co.	१५ बूँद
थाइमोल	Thymol	३ ग्रेन
स्पिरिट क्लोरोफॉर्म	Spt. Chloroform	३० बूँद
उबलता जल	Boiling Water	२० औंस

सबको मिलाकर ऊपर की विधि अनुसार वाष्प दें।

फुफ्फुस की शक्ति को बढ़ाने के लिये—रोग शमन के बाद फेफड़ों को शक्ति देने के लिये अभ्रक भस्म, शृङ्ग भस्म, सोहागे का फूला और रससिन्दूर (मुलहठी, वासा, बहेड़ा और मिश्री के क्वाथ के साथ) दिन में दो बार १५—२० दिन तक देते रहना चाहिये।

पार्श्वशूल अधिक हो, तो—(१) महावातराज रस (र०५३०) दिन में दो बार देवें।

(२) अफीम और कपूर मिले तारपीन के तैल की मालिश करें।

(३) कुचिला, बारहसिंगा, एलुआ, सोंठ, वच्छनाग और रूमी-मस्तंगी, इन सबका चूर्ण कर, गो घृत में मिला, निवाया कर पार्श्व पर लेप करने से तुरन्त शूल शमन होता है।

(४) गरम जल, नमक या बालुका से भी सेक करें।

अन्य उपद्रव हों, तो—यदि कोई अन्य उपद्रव हो, तो सन्निपात में लिखे अनुसार उपद्रव शामक उपचार करें।

श्वास-प्रणालिका प्रदाह चिकित्सा।

(१) इस रोग में तीव्र कास शामक या सामान्यतः श्वसनक ज्वर के समान चिकित्सा करें। श्वासकुठार रस (र० ४४७), कफकुठार रस (र० ४४५), चन्द्रामृत रस (र० ४४५); रससिन्दूर, अभ्रक भस्म और शृङ्ग भस्म (वासावलेह के साथ), सितोपलादि अवलेह (र० ६७८), द्राक्षासव (र० ६५६), लऊक सपिस्तां (र० ६६५), इनमें से अनुकूल औषधि की योजना करें; तथा शेष लेप, मालिश, सेकादि उपचार श्वसनक ज्वर के समान करते रहें। यदि श्वास-प्रणालिका प्रदाह रोग गौण हो, तो मुख्य रोग शामक औषधि के साथ इन औषधियों में से अनुकूल औषधि की योजना करें।

(२) बालकों के श्वास-प्रणालिका प्रवाह पर—शृंग्यादि चूर्ण (र० ६१०), माणिक्यरसादि वटी (र० ५२३), डब्बा नाशक गुटिका (र० ५७६) और बाल जीवन वटी (र० ५७६), ये सब हितकारक औषधियाँ हैं। इनमें से बालजीवन वटी और डब्बा-

नाशक गुटिका को हम वारवार प्रयोग में लाते रहते हैं।

(३) कमीला १ तोला और भुनी हींग १॥ माशा, इन दोनों को मिला, दही के जल में ६ घण्टे खरल कर, मिर्च समान छोटी-छोटी गोलियाँ वना लें। इनमें से १-१ गोली माता के दूध या निवाये जल से दें। वच्चे की आयु १ वर्ष से अधिक हो, तो २ गोली दें। आवश्यकता पर ४ घण्टे वाद पुनः दें। इस रीति से तीसरे समय भी दे सकते हैं। इस औषधि से डव्वा रोग की सत्वर निवृत्ति हो जाती है।

(४) गोमूत्र निवाया कर पिलावें; या घोड़े की ताजी लीद में थोड़ा जल मिला, छान कर, निवाया करके पिलावें; अथवा कस्तूरी १ चावल भर निवाये नागरवेल के पान के रस में मिलाकर पिलावें। इनमें से जो समय पर मिल सके, उसका उपचार करने से पसली रोग दूर हो जाता है।

फुफ्फुस पर लेप—वारहसिंगे के सींग को गोमूत्र में घिस, हींग मिला, निवाया कर लेप करने से फुफ्फुसावरण का दोष जल्दी दूर हो जाता है।

फुफ्फुस पर मालिश—(१) नारायण तैल (र० ७२४), विषगर्भ तैल (र० ७३३), वातहर तैल (र० ७२०) या तारपीन के तैल में कपूर मिलाकर मलें।

(२) वृहद्सैंधवादि तैल (आमवातिक ज्वर की चिकित्सा में लिखे हुए) की मालिश करें।

(३) एरंड तैल धीरे से मलें; ऊपर वकायन के पत्ते गरम कर वाँध देने से फुफ्फुसावरण का दोष शमन हो जाता है।

(४) कुकरोंधें या प्याज के स्वरस में हींग को पीस, निवाया कर दोनों कनपटियों और हाथ-पैरों के सव नाखूनों पर लगाने से विष शमन हो जाता है।

उदर पर लेप—यदि वद्धकोष्ट और उदर व्यथा हो, तो एलुवा, रेवतचीनी और स्नान करने का सावुन, इन तीनों को जल में मिला, निवाया कर लेप करें। फिर ऊपर नागरवेल का पान रख, कपड़ा लपेट दें। इससे कोष्ठशुद्धि होकर जल्दी रोग का शमन हो जाता है।

आवश्यकता पर फुफ्फुसों पर सुहाता-सुहाता गरम जल से सेक करें।

उत्फुल्लिका (वालकों की पसली चलना) पर डव्वा नाशक गुटिका और वालजीवन वटी का हमने उपयोग हजारों वार किया है। इन औषधियों से एक दस्त और एक वमन होकर रोग दूर हो जाता है।

यदि विष प्रकोप और निर्वलता अधिक हो, तो वालजीवन वटी और प्रकोप अधिक न हो, तो डव्वा नाशक गुटिका देते हैं। यदि आँतें निर्वल हो गई हों, उदर में आफरा रहता हो; तो माणिक्यरसादि गुटिका का उपयोग करते हैं। इस रोग में विशेषतः वद्धकोष्ट रहता है, अतः वद्धकोष्ट को पहले दूर करना चाहिये।

यदि माता के कुपथ्य सेवन से या माता के रोग से वालक को रोग हुआ हो, तो माता को भी साथ ही साथ औषधि देना चाहिये; और भोजन में माता को मसूर की दाल का यूष निवाया पिलावें।

डाक्टरी में केलोमल से कोष्टशुद्धि करने के पश्चात् निम्नानुसार औषधि दी जाती है।

वाइनम् एन्टीमोनियल	Vini. Antimoni	१॥ ड्राम
टिञ्चर वेलाडोना	Tinct. Belladonna	१॥ ड्राम
सामान्य शर्वत	Syrup Simple	४ ड्राम
एका एनेथी	Aqua Anethi ad	२ औंस

इन सबको मिला लें। फिर १-१ ड्राम ३-३ घण्टे पर देते रहें।

इनमें वाइनम् एन्टीमोनियल जहरी औषधि है, अतः सम्हाल कर उपयोग करना चाहिये। इसमें स्वेदल, रक्तस्तम्भक, वमनकारक, कफघ्न, पित्तशामक और शान्तिदायक गुण हैं।

(१३) ग्रन्थिक सन्निपात।

ग्रन्थिक सन्निपात-जनपद विध्वंसक प्लेग—Plague—

इस ग्रन्थिक सन्निपात के सम्बन्ध में चिकित्सक समाज में कई वर्षों से वहुत कुछ ऊहापोह हो चुका है। कई वैद्यों एवं डाक्टरों ने सुश्रुत निदानस्थान के १३ वें अध्याय के—

कक्षाभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसदारुणाः।
अन्तर्दाहज्वरकरा दीप्तपावकसंनिभाः॥
सप्ताहाद् द्वादशाहाद्वा पक्षाद्वाघ्नंति मानवम्।
तामग्निरोहिणीं विद्यादसाध्यां सन्निपाततः॥

इन दो श्लोकों को लेकर लिख दिया है कि सुश्रुत ने इस (प्लेग) को अग्निरोहिणी संज्ञा दी है, परन्तु उनका यह भ्रम है। अग्निरोहिणी की गणना क्षुद्र रोगों में की गई है और प्लेग या ग्रन्थिक सन्निपात महारोग है। अग्निरोहिणी समान प्रकृतिवाले एक या अनेक प्राणियों को मार सकती है, परन्तु ग्रन्थिक सन्निपात या प्लेग असमान प्रकृतिवाले प्राणियों तक को मौत के घाट उतार कर देश-के-देश उजाड़ देता है। इससे स्पष्ट है कि अग्निरोहिणी और प्लेग में बड़ा भारी अन्तर है।

महर्षि आत्रेय ने कहा है कि प्राणियों की प्रकृति आदि भिन्न होने के कारण एक ही समय में एक ही रोग सबको नहीं हो सकता, अपितु समान प्रकृतिवालों को ही हो सकता है। परन्तु देखा गया है कि कभी-कभी ऐसा जनपद विध्वंसक रोग होता है जो एकदम एक ही समय में होकर असमान प्रकृतिवालों तक को मारता हुआ देश-के-देश उजाड़ देता है। अग्निवेश के पूछने पर कि—

अपि तु खलु जनपदोद्ध्वंसनमेकेनैव व्याधिना युगपदसमान प्रकृत्याहार देहबलसात्म्यसत्त्ववयसां मनुष्याणां कस्माद्भवतीति॥४॥

अर्थात् प्रकृति, आहार, देहबल, सात्म्य, सत्त्व और वय के असमान रहते हुए भी एक ही व्याधि एकदम उत्पन्न होकर देश का नाश कर देती है। इसका कारण क्या है? इसके उत्तर में भगवान् आत्रेय ने कहा है कि प्रकृति, आहार, देहबलादि भाव मनुष्यों के भिन्न-भिन्न होने पर भी वायु, जल, देश और काल, ये चार भाव सबके समान रहते हैं। इन चारों के बिगड़ जाने से जनपद विध्वंसक रोग उत्पन्न होकर वह असमान प्रकृतिवालों तक को मारकर देश-के-देश उजाड़ सकता है। ऐसे भयंकर रोग का मूल कारण क्या है? इसके उत्तर में स्पष्ट कहा है कि—

सर्वेषामग्निवेश ! वाय्वादीनां यद्वैगुण्यमुत्पद्यते तस्यमूलम धर्मः; तन्मूलं वासत्कर्म पूर्वकृतं; तयोर्योनिः प्रज्ञापराध एव। तद्यथा—यदा देशनगरनिगमजनपदप्रधानाधर्ममुत्क्रम्याधर्मेण प्रजां वर्तयन्ति········ओषधयः स्वभावं परिहायापद्यन्ते विकृतिं, तत उद्ध्वंसन्ते जनपदाः स्पर्शाभ्यवहार्य दोषात् ॥२३॥

(चरक विमान अ० ३)

हे अग्निवेश ! वायु, जल, देश और काल, इन चारों भावों के एकदम विगड़ जाने का मूल कारण अधर्म है। अधर्म का मूल कारण है प्राणियों के पूर्वकृत असत्कर्म या अदृष्ट। पूर्वकृत बुरे कर्म और अधर्म का मूल प्रज्ञापराध है; जैसे कि—देश, नगर, निगम और जनपदों के अधिकारी राजा धर्म की अवहेलना कर प्रजा में अधर्म फैलाते हैं। इससे अधर्म ही अधर्म का साम्राज्य होकर धर्म छिप जाता है, तब उस देश को देवता भी त्याग देते हैं। वैकारिक वायु बहने लगती है। जल, देश, काल में विगाड़ आकर औषधियाँ भी विगड़ जाती हैं। ऐसी अवस्था में एक-मेक के स्पर्श तथा भोजन दोष को लेकर देश-के-देश उजड़ जाते हैं।

इसी बात को कहते हुये भगवान् धन्वन्तरि ने भी कहा है कि उस अवस्था में मनुष्यों को चाहिए कि वे अपने स्थान को छोड़कर अन्यत्र चले जावें, तथा शान्ति कर्म, प्रायश्चित्त, मङ्गलादि कर्म करें।

तेषां पुनर्व्यापदोऽदृष्ट कारिताः। शीतोष्णवातवर्षाणि खलु विपरीतानि ओषधीर्व्यापाद यन्त्यपश्च ॥१७॥ तासामुपयोगा-द्विविधरोगप्रादुर्भावो मरको वा भवेदिति ॥१८॥

कदाचिद्व्यापन्नेष्वपि ऋतुषु कृत्याभिशापरक्षः क्रोधाधर्मैरुप-ध्वस्यन्ते जनपदाः। विषौषधि पुष्पगन्धेन वायुना उपनीतेन आक्रम्यते यो देशः······॥२०॥ तत्र स्थानपरित्यागशान्तिकर्म प्रायश्चित्तमङ्गलजपहोमोपहारेज्याञ्जलिनमस्कारतपोनियमदया दानदीक्षाभ्युपगमदेवताब्राह्मणगुरुपरैर्भवितव्यमेवं साधु भवति॥२१॥

(सुश्रुत संहिता सूत्रस्थान अ० ६)

सारांश यह है कि आधुनिक प्लेग रोग अग्निरोहिणी नहीं है, किन्तु यह जनपदोद्ध्वंसकारी रोग है। चूहों के पटापट मरने के कारण कोई इसे मूषक विषरोग ही मानते हैं, परन्तु यह मानना भी ठीक नहीं है। चूहे आदि जन्तुओं के मरने का सम्बन्ध भी वायु, जल, देश और काल, इन चार भावों के एकदम विगड़ने से ही है। ग्रन्थ विस्तार भय से हम अधिक न लिखकर प्रस्तुत विषय पर आते हैं।

वर्तमान में इसके तीन प्रकार माने जाते हैं। (१) ग्रन्थिक सन्निपात अर्थात् ब्युबोनिक प्लेग (Bubonic Plague), (२) कृमिमय ग्रन्थिक सन्निपात—सेप्टीसीमिक प्लेग (Septicaemic Plague) तथा (३) फुफ्फुस प्रदाहक ग्रन्थिक सन्निपात—न्युमोनिक प्लेग (Pneumouic Plague)।

इन तीनों में ब्युबोनिक प्लेग ही महामारी रूप से फलकर देश के देश उजाड़ता रहता है। अतः इसी को हमने जनपद-ध्वंसक नाम प्राचीन आचार्यों के मत से दिया है।

इस रोग में बहुधा जाँघ, काँख या कण्ठादि स्थानों में ग्रन्थि होकर अति भयानक ज्वर आ जाता है। इस हेतु से इस रोग को ग्रन्थिक ज्वर नाम दिया है। कचित् विना गाँठ भी यह रोग फुफ्फुसादि उपद्रव सह हो जाता है। यह रोग तीव्र, आशुकारी और संक्रामक है।

इस रोग में लसीका ग्रन्थियों या फुफ्फुसों का कीटाणु जन्य दाह होता है। रक्त मिला कफ निकलना, श्वास, और कास, ये ३ प्रधान चिह्न प्रतीत होते हैं। इन उपद्रवों से यह भयंकर रोग और रोगियों का प्राण उसी दिन या २-३ दिन में हरण कर लेता है। अथवा वात, पित्त, कफ, इन तीनों धातुओं को दूपित कर सान्निपातिक उपद्रवों द्वारा गाँठ की उत्पत्ति किये बिना ही मार डालता है।

निदान—सामान्य निदान रूप से यह रोग मलिनता, एकमेक को छूने, साथ में भोजन करने तथा अनेक पुरुषों के एक साथ रहने से होता है। विशेष निदान रूप से यह रोग कीटाणु के रक्त में प्रवेश होने पर होता है। परीक्षा करने पर इस रोग के कीटाणु रक्त में स्पष्ट रूप से

देखने में आते हैं। ये कीटाणु हाथ-पैरादि से स्पर्श या श्वास द्वारा एवं किसी रोगी के वस्त्रादि के उपयोग करने से दूसरे की देह में प्रवेश कर जाते हैं। इस रोग से पीड़ित चूहों से ज़मीन दूषित होती है। फिर खुले पैर से चलने वालों को ज़मीन पर से कीटाणुओं का स्पर्श हो जाता है। इस तरह मक्खियों द्वारा यह कीटाणु खाद्यादि पदार्थ में आ जाने से भी इस रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

प्रारम्भ में यह रोग विशेषतः चूहों द्वारा ही फैलता है। बीमार चूहों के शरीर पर पिस्सू रहते हैं; वे मनुष्यों को काटते हैं, जिससे इस रोग की उत्पत्ति हो जाती है। ये रोग ग्रस्त पिस्सू मनुष्यों के वस्त्र में लगकर एक से दूसरे स्थान पर चले जाते हैं। इस तरह ग्रन्थिक सन्निपात के लिये पिस्सू (Flea) वाहन हैं; किन्तु न्युमोनिक प्लेग का प्रसर केवल रोगग्रस्त का संसर्ग होने पर श्वासोच्छ्वास द्वारा ही हो जाता है। श्वास लेने पर कीटाणु श्वास-नलिका में प्रवेश कर जाते हैं। फिर शनैः-शनैः अपनी सत्ता जमाकर ३ से ५ दिन में रोग की उत्पत्ति कर देते हैं। इन कीटाणुओं को डाक्टरी में वेसिलस पेस्टिस (Bacillus Pestis) संज्ञा दी गई है।

देश व्यापी संक्रमण के न होने से या गाँठ होने से पहले इस रोग का निर्णय करना कठिन होता है। गाँठ और उपद्रव स्पष्ट हो जाने पर निदान सरलता से हो जाता है। रोग के चारों ओर फैलने से और प्रारम्भिक चिह्न पर से भी निदान कर लिया जाता है।

न्युमोनिक प्लेग में अणुवीक्षणयन्त्र द्वारा कीटाणुओं के प्रत्यक्ष होने पर निर्णय हो सकता है। कीटाणुओं के शोध बिना केवल कल्पना हो सकती है। गाँठ वाला प्लेग बहुधा गन्दे स्थान में रहने वालों को ही अधिक होता है और स्वच्छ वायु में रहने वालों को कम होता है। किन्तु न्युमोनिक प्लेग का आक्रमण सब पर समान होता है; वह निर्धन-धनिक, स्त्री-पुरुष और बाल-वृद्ध सबमें समान रूप से फैलता है।

सम्प्राप्ति—पहले प्रकार के गांठ वाले रोग में लसीका ग्रन्थियों का शोथ और कोष्ठस्थ इन्द्रियों का रक्तस्राव होता है। हृदय, यकृत, प्लीहा

और वृक्कस्थान की अपक्रान्ति या विकृति (डीजनरेटिव चेंज Degenerative Change) हो जाती है।

द्वितीय प्रकार के कृमिमय प्लेग में लसीका ग्रन्थियाँ विप को नहीं रोक सकतीं, जिससे विष बलात्कार से रक्त में प्रवेश कर जाता है। इस हेतु से लसीका ग्रन्थियों का शोथ नहीं होता; तथापि जहाँ शोथ होता है, वहाँ पर पूय की उत्पत्ति हो जाती है। इस तरह कीटाणुओं का रक्त में प्रवेश होने पर जो रोग उत्पन्न होता है, उसे (सेप्टीसीमिया Septicaemia) कहते हैं। इस संज्ञा पर से ग्रन्थिक सन्निपात की इस दूसरी जात को सेप्टीसीमिक प्लेग नाम दिया गया है।

लसीका वहन करने वाली सूक्ष्म नलियाँ सारे शरीर में फैली हुई हैं। केवल नख, बाल, बाह्य त्वचा और तरुण अस्थियों के भीतर प्रतीत नहीं होती। जो लसीका रस निकलता है, वह अणुवीक्षण यन्त्र से देखने पर रुई के तन्तु सदृश मालुम पड़ता है। इस रस के दो प्रकार हैं, एक शुद्ध और दूसरा मिश्र।

शुद्ध रस—रुधिर का पतला स्वच्छ जलरूप अंश, जो केश-वाहिनियों की दीवारों में से टपक कर बाहर निकलता है; वह शुद्ध रस है। यह रस सब धातुओं का पोषण करता है।

मिश्र रस—दुग्धादि भोजन कर लेने पर उसका सार रूप द्रवभाग अन्त्र की दीवारों में से पयस्विनी रसायनियों द्वारा जो शोषण होकर रसप्रपा (लसीका के आधार रूप थैली-सीस्टर्ना कायली Cisterna chyli) में प्रवेश करता है, वह मिश्र रस कहलाता है। यह रसप्रपा पहली और दूसरी कटि कशेरुका की आगे की ओर रहती है।

इन रसायनियों का कार्य लसीका-वहन करने के अतिरिक्त देह को मर्दन करने वाले तैलादि पदार्थों का शोषण करना भी है। काँटों के लगने पर तुरन्त उसका विष इस रसायनी द्वारा समीप की लसीका-ग्रन्थि में आकर्षित हो जाता है, और उससे उस भाग में शोथ आ जाता है।

किसी भी प्रकार का विष रक्त में प्रवेश करने का प्रयत्न करता है, तब उसका प्रतिबन्ध और नाश करने के लिये प्रारम्भ में लसीका में रहने वाले श्वेत कणों के साथ विषका युद्ध होता है। इसकी युद्ध-भूमि लसीका ग्रन्थियाँ बनती हैं। इस स्थिति में शारीरिक उष्णता बढ़कर ताप आ जाता है। रसायनियाँ और ग्रन्थियाँ सूज कर मोटी और कठोर हो जाती हैं। यदि रसायनियो और ग्रन्थियों

की हार हो जाती है तो वे शिथिल होकर पकने लगती हैं; और उनमें पूय की उत्पत्ति हो जाती है।

इस व्याधि में रक्त-प्रवेशित (आगन्तुक) विष या कीटाणु और भीतर के यंत्रों की विकृति से उत्पन्न होने वाले सेन्द्रिय विष (Toxaemia) को नष्ट करने के लिये शारीरिक उष्णता (ज्वर) की वृद्धि जाती है।

तृतीय फुफ्फुस-ग्रस्त प्रकार में फुफ्फुसों का दाह-शोथ और सीहा-वृद्धि हो रूप लक्षण अधिक प्रतीत होते हैं।

रूप—ग्रन्थिक ज्वर में प्रारम्भ से ही वहुधा तीव्र ज्वर होता है। क्वचित् मन्द ज्वर कम्पादि उपद्रव सह भी होता है। गाँठ कहीं-कहीं पहले ही दिन को देखने में आ जाती है; कभी दूसरे या तीसरे दिन भी निकलती है; कभी-कभी एक से अधिक गाँठें भी निकलती हैं।

हाथ-पैर का अति टूटना, अति शिथिलता, तृषा, प्रलाप, उन्माद (वकवाद करना, या पागल की तरह दौड़ना), मूर्च्छा, चक्कर आना, निद्रानाश, वमन, सिरदर्द, नेत्र लाल होना, वल क्षय, चिन्तातुर चेहरा, अतिसार या मलावरोध, व्याकुलता, मोह, संज्ञानाश, सन्निपात के समान उपद्रव होना, जिह्वा काली और कठोर हो जाना, धमनी नाड़ी का अति शिथिल अर्थात् कोमल स्पर्शा और अति चंचला हो जाना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं। गाँठ निकलने के स्थान पर शोथ कभी पहले तो कभी पीछे होता है। गाँठ में सुई चुभाने समान पीड़ा और स्पर्श करने पर तीव्र वेदना होती है। मलपाक हो जाने पर गाँठ कुछ दिन वाद पक जाती है (गाँठ पकने पर रोगी वहुधा वच जाता है;) अथवा रोगी २–३–४ रोज में मर जाता है। जिसके १० से अधिक दिन निकल जाते हैं उस रोगी को वहुधा आराम हो जाता है।

ज्वर के दूसरे अथवा तीसरे दिन चक्कर, ताप का भयङ्कर वेग, वेचैनी, नेत्र में निस्तेजता, क्षुधा नाश और निद्रानाशादि उपद्रव वढ़कर पिस्सू ने काटा हो, उसके समीप प्रदेश में जाँघ, वगल, अथवा कण्ठ पर असह्य पीड़ायुक्त जहरी गाँठ निकल आती है। क्वचित् गाँठें २-३ या

अधिक भी होती हैं। ये गाँठें जल्दी ही सूज कर पक जाती हैं। पक कर फट जाने पर रोग साध्य हो जाता है।

कृमिमय रक्तज-सन्निपात—(सेप्टी सीमिक प्लेग) यह रोग कभी-कभी तो प्रारम्भ से ही तीव्र ज्वरादि उपद्रव सह हो जाता है और कभी उपद्रव पीछे होता है। क्वचित् ब्युबॉनिक प्लेग के कीटाणु पहले गाँठ उत्पन्न करते हैं और फिर ३ दिन के पश्चात् रक्त में चले जाते हैं; तब इस प्रकार की उत्पत्ति हो जाती है। कीटाणु का प्रवेश रक्त में हो जाता है; तब लसीका ग्रन्थियाँ अधिक नहीं सूजतीं। इस विष का रक्त में प्रवेश हो जाने से क्वचित् २–३ दिन में काले-काले चकत्ते सारे शरीर में हो जाते हैं।

इस रोग में ताप कभी १०६ डिग्री तक बढ़ जाता है और नाड़ी की गति अति तीव्र होती है। अति बेचैनी, दाह, प्रलाप, नेत्रों में लाली, मूत्र में लाली आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। इस रोग से पीड़ित रोगी बहुधा ५–७ दिन में ही मृत्यु-मुख में चला जाता है।

फुफ्फुस प्रदाहक ग्रन्थिक सन्निपात—इस व्याधि के आरम्भ में हाथ-पैर टूटना, शिरःशूल, उबाक, चक्कर, व्याकुलता और दाहादि सामान्य लक्षण होते हैं और फिर थोड़े ही समय में शीत लगकर तीव्र ज्वर आ जाता है। इस रोग में गाँठ नहीं होती; किन्तु शुष्क कास, श्वास का तीव्र वेग, रक्तष्ठीवन, फुफ्फुसों में कोथ हो जाना इत्यादि लक्षण होते हैं।

स्टेथस्कोप से परीक्षा करने पर फुफ्फुसप्रदाह के सब लक्षण प्रतीत होते हैं। इस रोग को अति भयानक असाध्य माना गया है।

ग्रन्थियुक्त प्रथम प्रकार में भी एक अति तीव्र प्रकार है; जिसमें रोगी कुछ घण्टों में ही मर जाता है। दूसरा अति सौम्य प्रकार है, जिसमें मामूली ज्वर रहता है। रोगी चलना, फिरना आदि कार्य कर सकता है। गाँठ थोड़ी सूजकर थोड़े ही दिनों में बैठ जाती है।

उपद्रव—मूत्रावरोध, फुफ्फुसों पर हमला होने पर कास, आँतों की विकृति होने पर अतिसार, वमन और रक्तपित्तादि उपद्रव हो जाते हैं।

साध्यासाध्य लक्षण—रोगी के बालक या वृद्ध होने पर गाँठों के बैठ जाने तथा जल्दी या देरी से पाक होने से रोग साध्य हो सकता है; अर्थात् प्रयत्न करने पर रोगी बच जाता है।

जहाँ गिल्टियाँ उत्पन्न होकर थोड़े ही समय में बैठ जाती हैं या पक जाती हैं, ज्वर मन्द हो जाता है, भोजन में रुचि उत्पन्न होती है, पहले मलावरोध होकर फिर बंधा हुआ दस्त आने लगता है, कान्ति बढ़ने लगती है और रोगी १० दिन तक जीवित रह जाता है, तो रोग साध्य माना जाता है। यदि ज्वर तीव्र हो, निर्बलता बढ़ती जाय, गिल्टियाँ न पकें, बेहोशी, मूत्र बन्द, रक्तस्रावादि लक्षण हों, तो रोग असाध्य माना जाता है। सेप्टी सीमिक और न्युमोनिक प्लेग को मारक प्लेग कहा है। इनमें से सुभाग्य से ही कोई बचता है।

बहुत जल्दी श्रवणादि इन्द्रियों की शक्ति का लोप हो जाना, पहले या दूसरे दिन ही संज्ञा का लोप हो जाना, अतिसार हो जाना, इनमें से कोई उपद्रव हो जाय, तो रोगी नहीं बच सकता।

जो रोगी सिन्दूर के समान लाल या उज्ज्वल रक्तयुक्त कफ थूकता है; और जो फुफ्फुस दूषित होने से श्वास पीड़ित होता है, उसके रोग को सब प्रकार से असाध्य ही कहना चाहिये।

श्वसनक ज्वर में काला रक्तयुक्त थूक आता है, वह ग्रन्थिक ज्वर का ही एक भेद है। इसका रोगी बहुधा बच जाता है। जिस रोगी की गाँठ बाहर स्पष्ट रूप से नहीं दीखती, उसे यमराज के घर का अतिथि ही होना पड़ता है। (बाहर गाँठ न दीखने पर शव परीक्षा के समय गाँठ की सूजन देखने में आ जाती है)।

ग्रन्थिक ज्वर चिकित्सा।

इस ग्रन्थिक ज्वर में निश्चित रूप से लाभ पहुँचा सके, ऐसी कोई सिद्ध औषधि नहीं है। गाँठ पर लेप, सेक और ज्वरघ्न विषशामक औषधि देते रहने से अनेक रोगी बच जाते हैं। चिकित्सा का आरम्भ जितना जल्दी हो सके, उतना जल्दी करना चाहिये।

रोग के प्रारम्भ में ही एरण्ड तैल की एनिमा से कोष्ठ शुद्धि कर

लेनी चाहिये। स्थान, वस्त्रादि की सफाई पर लक्ष्य देना चाहिये। महामारी के दिनों में बाहर से घर पर आने पर तैल मालिश करके स्नान करें; और वस्त्रों को गरम जल से धोवें तो बहुत अच्छा है।

जिस मकान में चूहे मरते हों, उस मकान या कमरे में तुरन्त धूप दे कर सफाई भी करा लेनी चाहिये। चूहे पर केरोसीन तैल डाल, दूर ले जाकर उसे जलवा देना चाहिये। या जमीन में गड़वा देवें। हो सके तब तक चूहे वाले मकान में नहीं रहना चाहिये।

रोगी को केवल पंचकोल क्वाथ के उबाले हुए जल पर रक्खें। दोष पचन होने पर मुसम्बी, मीठा नीबू या संतरा का रस या दूध थोड़े-थोड़े परिमाण में देते रहें।

गाँठ पर लगाने के लिये—(१) मल्लादि लेप (र० ७५६), ग्रन्थिभेदन लेप (र० ७५०), या प्रतिसारणीय क्षार (र० ७५३)। इनमें मल्लादि लेप से ग्रन्थिभेदन लेप उग्र है; और ग्रन्थिभेदन से प्रतिसारणीय क्षार अधिक तीव्र है। प्रकृति का विचार करके इन लेपों का उपयोग करें।

(२) अफीम को शराब में मिलाकर ३-३ घण्टे पर लेप करते रहें।

(३) हल्दी, चूना और अण्डे की सफेदी को जल में मिलाकर लेप करें।

(४) सोमल, लहसुन और अफीम, तीनों को सम भाग मिला, लहसुन के रस में या शराब में पीसकर गाँठों पर लेप करें। फिर ५ मिनट बाद १ घण्टे तक सेक करते रहें, फिर १-२ घण्टे बाद पुनः लेप और सेक करें। इस तरह १ दिन में ५-७ समय सेक करने से गाँठ पककर फूट जायगी, या रक्त का शोधन होकर रक्त फैल जायगा।

(५) बर्फ को पोटली में बाँध कर गाँठ पर रक्खें। पिघलने पर बर्फ बदलते रहें। इस रीति से १२ घण्टे शीतलता पहुँचाने से अनेकों की गाँठ बैठ गई है। गाँठ होने पर तुरन्त यह प्रयोग किया जाय; तो लाभ हो जाता है।

(६) प्याज को कूट, हल्दी मिला, तैल में पकाकर दो पोटली करें।

फिर एक पोटली गरम कर सेक करें। पोटली शीतल होने पर वदल दें। इस रीति से १२ घण्टे तक सेक करने से गाँठ वैठ जाती है, किन्तु ३-३ घण्टे पर प्याज को वदल देवें।

(७) गिल्टी पर जौंक लगाकर रक्त निकलवा डालें। फिर रेती या नमक की पोटली से सेक करें। अथवा तैल में पकाई हुई प्याज की लुगदी से सेक करने से विप शमन हो जाता है।

(८) भिलावा का तैल पातालयन्त्र से निकाल कर आध से एक इंच पर लगाने से गाँठ फूट जाती है।

(९) गन्धावीरोजा और सिन्दूर ३-३ तोले, मोम १ तोला, दालचीकना ६ माशे और तिली का तैल ६ तोले लें। यथाविधि मल्हम वनाकर पट्टी लगाने से गाँठ वैठ जाती है।

(१०) ग्रन्थि (प्लेग) हर लेप—जल धनिया (पंजावी लटुकारी वूँटी) की ताजी पत्ती को विना जल मिलाये पीस, १-१ तोले की २ टिकिया वना लेवें। फिर ग्रन्थि ज्वर के रोगी के हाथ की कलाई के वीच में दोनों ओर १-१ टिकिया रख, कपड़े से पट्टी वाँध देवें। ३ घण्टे पश्चात् पट्टी खोल डालें। जिन स्थानों पर छाले हो गये हों, उन पर घी या मक्खन लगा देवें। छालों को स्वयमेव फूटने दें। इस क्रिया से प्लेग का विप शमन हो जाता है; और रोगी को शर्तिया आराम हो जाता है। ऐसा रसायनसार ग्रन्थकार का अनुभव है।

(११) ग्रन्थिहर भल्लातक योग—गोवरी के निर्धूम अंगारे पर सुई से टोचकर एक वजनदार भिलावा रक्खें। टोचने की जगह तुरन्त ही तैल दीखने लगेगा। सुई के अग्रभाग से उस तैल की गाँठ के चारों ओर वारीक रेखाकार वर्तुल खींच दे। वर्तुल के भीतर गाँठ पर सुई से उस तैल की दो आड़ी और दो ऊभी रेखा खींचकर वर्तुल के वाहर भीगे हुए कली के चूने की रेखा कर दें। गाँठ का पता लगते ही इस क्रिया के करने से दूसरे ही दिन ताप, पीड़ा आदि कम होते हैं; गाँठ वैठ जाती है और रोगी निश्चय ही वच जाता है। गाँठ के वैठते

समय भिलावे के कारण उस पर खाज आती है। खाज आने पर उस पर तिल्ली या नारियल का तैल लगा देना चाहिये। एक ही वार इस क्रिया के करने से रोगी बच जाता है। यह हमारे श्रद्धेय मित्र पं० श्री गोवर्धनजी शर्मा छाँगाणी प्राणाचार्य का कई वार किया हुआ अनुभूत प्रयोग है।

वातावरण शुद्धि के लिये—जन्तु धूप (र० ७७६) या अपराजित धूप (र० ७७६) प्रातः-सायं करें। अथवा गूगल का प्रातः-सायं धूप करते रहें।

रोगशामक औषधियाँ—कालकूट रस (र० ३८७), द्वात्रिंशा-दाख्य क्वाथ (र० ६४१), अश्वकंचुकी रस (र० ३७७ खाने और लगाने के लिये), महामृत्युंजय रस (र० ३८६), संजीवनी वटी (र० ५४० सुदर्शन चूर्ण के क्वाथ के साथ), शृङ्गभस्म और मल्लभस्म नं० २ (शहद के साथ), इनमें से रोग-बल और प्रकृति का विचार कर औषधि दिन में २ से ३ समय देते रहने से विष शमन में सहायता मिल जाती है।

बेहोशी आ जाय, तो—हेमगर्भ पोटली रस (र० ३८३) या संचेतनी गुटिका (र० ३६१) देवें।

उन्माद, निद्रानाश और प्रलाप शमन के लिये—वातकुलान्तक रस (र० ४५६) या कस्तूर्यादि गुटिका (र० ५२५) इतर औषधि देते हुए भी दे सकते हैं। या २-२ तोले ब्राह्मी का क्वाथ दिन में तीन समय पिलावें।

डाक्टरी में इस रोग को रोकने के लिये महामारी काल में हाफकिन्स सीरम (Haffkine's serum) लगा लेते हैं। इससे बहुधा रोग नहीं होता। यदि किसी को हुआ भी तो सौम्य रूप में होता है।

इसके अलावा रोग का प्रारम्भ होने पर यदि तुरन्त येरसीन्स सीरम (Yersin's serum) का प्रयोग किया जाय, तो रोगी के बच जाने की सम्भावना होती है। डाक्टरी में इस रोग पर निम्न औषधि दी जाती है।

टिञ्चर सिंकोना कम्पोझिटा	Tinct. Cinchona co.	४ ड्राम
एमोनिया कार्ब	Ammon. Carb	४० ग्रेन

टिञ्चर नक्स वॉमिका	Tinct. Nucis Vomica		१॥ ड्राम
टिञ्चर डिजीटेलिस	,, Digitalis		१ ड्राम
जल	Aqua	ad	४ औंस तक

इन सबको मिला लें। फिर आध-आध औंस समान जल मिलाकर दिन में ३ समय दें।

(१४) वातश्लैष्मिक ज्वर।

वातश्लैष्मिक ज्वर–श्लेष्मकज्वर-इन्फ्लुएन्झा (Influenza)

यह ज्वर तीव्र, आशुकारी, संक्रामक, महामारी रोग है। इस रोग की उत्पत्ति विष के आक्रमण से होती है। इस रोग में प्रायः श्लेष्मज उपद्रवों की प्रतीति अधिक होती है। इस हेतु से सिद्धान्त निदानकार ने इस रोग को श्लेष्मक ज्वर संज्ञा दी है। किन्तु श्लेष्म के साथ वात धातु भी विकृत हो जाती है। इस हेतु से इतर ग्रन्थकारों ने वातश्लैष्मिक ज्वर नाम दिया है। यह रोग समग्र भूमंडल पर सं० १६७५–७६ में महामारी रूप से फैला था। जिससे करोड़ों मनुष्य मर गये थे। इस तरह पहले भी ३ वार इस रोग का आक्रमण हुआ था, ऐसा इतिहास पर से जाना जाता है। इस रोग से श्वास-यन्त्र, अन्न पचन संस्था, मस्तिष्क और नाड़ी-तन्त्रादि दूपित होते हैं; और अतिशय शक्तिपात हो जाता है।

निदान—जब अधर्म वृद्धि होकर वायुमण्डल दूपित होता है; तब अकस्मात् इस रोग के कीटाणुओं की उत्पत्ति हो जाती है। इन कीटाणुओं का प्रवेश श्वास मार्ग से, मुँह से (भोजन के अन्न-पानादि पदार्थों के साथ संसर्ग होने से) एवं दूपित वस्त्रों के संसर्ग से हो जाता है। फिर ३–४ दिन में ही रोग को उत्पन्न कर देते हैं।

यह रोग शरद्, शिशिर और वसन्त ऋतु में फैलता है। बहुधा २० से ४० वर्ष की आयु वाले को अधिक होता है। इस रोग के कीटाणुओं को हीमोफायलस बक्टीरिया (Haemophilus Bacteria) तथा आकृति सरल होने से बसिलस इन्फ्लुएन्झा (Baccillus Influenza) कहते हैं❀। इन कीटाणुओं का शोध ई० सन् १८६२

❀ कृमि के मुख्य २ विभाग हैं। १—बक्टीरिया (Bacteria)

में प्रो० फायफर (Pfeiffer) ने किया था। ये कीटाणु नासास्राव में देखने में आते हैं।

इस रोग के प्रारम्भ में जुकाम होता है। इस हेतु से प्रतिश्याय के सुवर्ण सदृश कीटाणु स्टाफिलोकोकस आरियस (Staphylococcus aureus) रोग वृद्धि में सहायक होते हैं।

इस रोग का चय-काल ३ से ४ दिन है। रोग जाने के पश्चात् भी शक्ति न आवे तव तक थोड़ी-सी भूल होने से यह रोग पुनः आक्रमण करता है। इस हेतु से पथ्य का सम्हाल रखना चाहिये।

सम्प्राप्ति—विशेपतः इन कीटाणुओं का प्रवेश श्वासमार्ग से होने से श्वासनलिका और दोनों फुफ्फुस विकृत हो जाते हैं। दाह-शोथ होकर श्वास नलिकाएँ कफ से भर जाती हैं; तव न्युमोनिया के सदृश रक्तष्ठीवनादि उपद्रव हो जाते हैं। कभी अन्नमार्ग से प्रवेश होने पर आमाशय और पक्वाशय में विकृति होती है, और इससे वमन या अतिसार; और कभी इन दोनों की प्रवृत्ति हो जाती है। यदि कीटाणुओं का प्रवेश मस्तिष्क में हो जाता है; तो वहाँ पर भी दाह-शोथादि विकृति हो जाती है।

२—प्रोटोझोआ (Protozoa)। वक्टीरिया को वनस्पति वर्ग में और प्रोटोझोआ को प्राणिकोटि में माना है।

वक्टीरिया में आकृति भेद से मुख्य ३ विभाग हैं। १—सरलाकृति (वसिलस Bacillus) २—अण्डाकृति (अण्डे समान गोल-कोकस Coccus)। ३—कर्पिणी आकृति अर्थात् घुमावदार स्क्रु सदृश (स्पिरिला Spirilla)।

इनमें वसिलस की अनेक जाति और स्पिरिला की २ जाति हैं। कोकस की आकृति भेद से ५ जाति हैं। (१) युग्मक-डिप्लोकोकस Diplococcus (२) जंजीर सदृश-चिटक कर रहने वाले स्ट्रेप्टोकोकस Streptococcus (३) चतुष्क अर्थात् ४-४ साथ में रहने वाले '×' आकृति सदृश-टेट्रजिनस Tetragenous (४) अष्टक (सारसिना Sarcinae) (५) समुदाय वनकर रहने वाले स्टफिलोकोकस Staphylococcus।

फिर इस कोकस जाति में दूसरे ढङ्ग से बड़ी जाति के मक्रोकोकस और सूक्ष्म जाति के माइक्रोकोकस के अनेक भेद किये हैं।

इस रोग में विकृति विशेषतः कफवातोल्वण सन्निपात के समान ही होती है। कभी शनैः-शनैः तो कभी तीव्र बल से ये कीटाणु धातुओं को दूषित बना देते हैं। रक्त में श्वेत जीवाणुओं की संख्या कम हो जाती है। लसीकाणुओं का निपात बढ़ जाता है। हृदय के दाहिने खण्ड विस्तृत हो जाते हैं; और हृत्स्नायु में दाह होता है। जब अधिवृक्कों (वृक्कों के ऊपर के सिरे पर रहने वाली त्रिकोणाकार ग्रन्थियों Suprarenal glands) पर काला शोथ आ जाता है; तब अत्यन्त शक्तिपात होता है।

रूप—रोग का आगमन अकस्मात् होता है। अच्छी तरह कार्य करते हुए मनुष्य को थोड़े ही समय में सारे शरीर में नाना प्रकार की वेदना होकर ताप आ जाता है। नाक में से जल समान श्लेष्म स्राव, कण्ठ पकड़ा जाना, मुँह में दाह; श्वेत, मैली और फूली हुई जिह्वा और उसके किनारे लाल, नेत्र में लाली, शिरःशूल, क्वचित् शीत लगना और कम्प होना, हाथ-पैर टूटना; कमर, पीठ और उर में तीव्र वेदना, खाँसी, ज्वर, बेचैनी, ४-५ दिनों में ही शरीर का निर्बल हो जाना और सारे शरीर की मांसपेशियों की शक्ति का नष्ट हो जाना (इनमें हृदय पेशी की शक्ति हरण हो जाने के हेतु से कभी-कभी हृदय की क्रिया बन्द होकर मृत्यु भी हो जाती है), ये सब लक्षण सौम्य विकार में प्रतीत होते हैं। ताप बहुधा ५-७ दिन तक १०३ से १०४ डिग्री तक रहता है। फिर अकस्मात् चला जाता है।

तीव्र प्रकार में निम्न ३ विभाग प्रतीत होते हैं।

(१) फुफ्फुस पर आक्रमण होता है तब प्रायः दोनों फुफ्फुसों पर होता है। फुफ्फुसों की विकृति होने पर फुफ्फुसप्रदाह, थूक में रक्त आना, प्रलाप, श्वास और कासादि न्युमोनियाँ के लक्षण प्रतीत होते हैं। क्वचित् फुफ्फुसावरण का प्रदाह होकर उसमें रक्त या पूय भी भर जाता है।

(२) अन्नमार्ग आक्रान्त होने पर वमन, अतिसार, उदरशूल, क्षुधा नाश, प्लीहा वृद्धि, कभी कामला (वमन और अतिसार की निवृत्ति

होने पर भी कामला रह जाता है) इत्यादि विष भक्षण सदृश चिह्न प्रतीत होते हैं।

(३) कभी मस्तिष्क और नाड़ी-तन्त्र पर हमला होता है; तब मूर्च्छा, वातप्रकोप, हाथ-पैर अति टूटना, हृदय की अनियमित मन्दगति और उसमें वेदना होना, निद्रा नाश और प्रलापादि लक्षण सन्निपात के समान दीखते हैं। मृत शरीर को चीर कर देखने से मस्तिष्क दाह भी जाना जाता है।

स्वल्प विकृति होने पर रोग सत्वर चला जाता है; परन्तु बलहानि दीर्घ काल तक रहती है। अधिक विकार होने पर रोग कष्ट से जाता है।

इस रोग का प्रारम्भिक कोई खास लक्षण नहीं है; जिस पर से चिकित्सक निर्णय कर सके। जब महामारी का प्रकोप होता है, अर्थात् देश व्यापी आक्रमण होता है; तब निदान सरलता से हो जाता है; किन्तु और समय में सामान्य वातश्लैष्मिक ज्वर के लक्षण से भेद प्रतीत नहीं होता। शक्तिपात हो जाने पर इन्फ्ल्युएञ्जा जाना जाता है।

उपद्रव—(१) छोटे या बड़े मस्तिष्क का दाह, मस्तिष्क में रक्तस्राव, फिर उसमें से शल्य (Embolism) हो जाना, नाड़ीयन्त्र विकृत होकर अपस्मार, उन्माद, सुषुम्णा में दाह अथवा पक्षाघातादि हो जाना।

(२) मध्य कर्णदाह (Otitis media)।

(३) भयंकर तीव्र ज्वर (Hyperpyrexia)।

(४) फुफ्फुस या हृदय का दाह अथवा हृदय का इतर विकार।

(५) वृक्कों का दाह या मज्जामेह (Albuminuria)।

(६) सन्धि वात।

साध्यासाध्य विचार—उपद्रव रहित रोग साध्य हो जाता है। सौम्य प्रकार में बिना औषधि रोगी स्वस्थ हो जाता है। वृद्ध रोगी फुफ्फुसदाह होने से प्रायः मर जाते हैं; तथा इन्फ्ल्युएञ्जा रोगी को कोई भी जीर्ण रोग पुनः तीव्र बन जाता है।

वात-श्लैष्मिक ज्वर चिकित्सा।

इस महामारी के प्रकोप के दिनों में तुलसी के पत्तों का क्वाथ

पीते रहना, नीलगिरी तैल सूँघते रहना और नमक मिले हुए निवाये जल से कुल्ले करते रहना चाहिये।

रोगी को सम शीतोष्ण स्वच्छ प्रकाश वाले कमरे में रखना चाहिये। रोगी को कपड़े से ढका रक्खें। केवल मुँह खुला रक्खें। शिर पर भी कपड़ा बाँध दें।

कमरे में प्रातः-सायं लोबानादि का धूप देते रहें। स्थान और वस्त्र बिल्कुल साफ़ रक्खें।

रोगी को लङ्घन कराकर फिर दूध पर रक्खें। अन्न नहीं देना चाहिये। रोगी को स्नान न करावें। पीने के लिये गरम किया हुआ जल दें।

बद्धकोष्ठ हो, तो प्रारम्भ में ही एरण्ड तैल की बस्ति देकर कोष्ठ शुद्धि कर लेना चाहिये।

ज्वर उतारने के लिये तीव्र औषधि न दें। कदाच देना हो तो अति कम मात्रा में दें। दोष पचन हो जाने पर ज्वर स्वयमेव शान्त हो जाता है। यदि रोग के आरम्भ से ही त्रिभुवनकीर्त्ति रस, शृंग, अभ्रक और गुडूच्यादि क्काथ का उपयोग किया जाय; तो रोग बढ़ नहीं सकता। यदि रोग बढ़ गया है; तो सूतराज रस, कालकूट रस या संचेतनी वटी में से उपद्रव अनुसार दें।

ताप उतरने पर भोजन हल्का दें। मूंग की दाल, रोटी, बथुवे, पालकादि का शाक और लहसुन मिली हुई पोदीने की चटनी देवें या सप्तमुष्टिक यूप (र० ६४१) दें।

ज्वर शमन के लिये—शृंग भस्म और अभ्रक भस्म १-१ रत्ती तथा त्रिभुवनकीर्ति रस (र० ३७८) आध रत्ती, तीनों को मिला, निम्न गुडूच्यादि क्काथ के साथ या तुलसी के रस और शहद के साथ दें। मलावरोध रहता हो; तो प्रारम्भ में एक या दो दिन त्रिभुवनकीर्ति के स्थान पर ज्वरकेसरी वटी (र० ३७३) मिलावें।

गुडूच्यादि क्वाथ—गिलोय, तुलसीपत्र, बेलपत्र, लौंग, कालीमिर्च, पीपल और सोंठ, इन ७ औषधियों को मिला, २-२ तोले का क्वाथ कर उसके साथ उपरोक्त औषधि दें।

आमाशय और अंत्र में प्रकोप हो, तो—मृत्युञ्जय रस (र० ३८५) या लक्ष्मीनारायण रस (र० ३८८) गुडूच्यादि क्वाथ से दें।

ज्वर की अति तीव्रता में—सूतराज रस (र० ३७०) या पञ्चवक्त्र रस (र० ३८४) दें।

तीव्र अतिसार हो, तो—सूतराज रस (र० ३७०) या कनक सुन्दर रस (र० ४०६) दें। मात्रा बहुत थोड़ी दिन में ४ समय दें।

शुष्क कास अधिक हो, तो—कर्पूरादि वटी (र० ५४७) या कास मर्दन वटी (र० ५५६) एक-एक गोली करके दिन में १० गोली तक चूसने को दें, और अभ्रक भस्म १ रत्ती, अडूसे के पत्ते, मुलहठी और बहेड़ा २-२ रत्ती तथा सोहागा का फूला १ रत्ती को मिला, शहद के साथ दें। इस तरह दिन में ३ समय दें।

शिरःशूल अधिक हो, तो—सोंठ को जल में घिस, निवाया कर, कपाल पर लेप करें।

नाक की श्लैष्मिक कला का शोथ हो, तो—षड्बिन्दु तैल (र० ७२६) की नस्य दें।

निद्रानाश, प्रलापादि उपद्रव हों, तो—वातकुलान्तक रस (र० ४५८) या कस्तूर्यादि वटी (र० ५४३ मलावरोध न हो, तो) शाम को दें। या ब्राह्मी का क्वाथ कर दिन में ३ समय देवें।

बेहोशी या जड़ता हो, तो—कालकूट रस (र० ३८८) या संचेतनी वटी (र० ३६१) देवें।

हृदयविकृति अधिक हो, तो—पूर्णचन्द्रोदय रस, रससिंदूर या त्रैलोक्य चिन्तामणि रस (र० ३७६) दें। अथवा रससिंदूर और सुवर्णभस्म आध-आध रत्ती मिला, १ माशे सितोपलादि चूर्ण के साथ दिन में २ से ३ समय दें।

पक्षाघात या इतर तीव्र वातप्रकोप हो, तो—महावात विध्वंसन १ रत्ती, अभ्रकभस्म आध रत्ती और पीपल ६४ प्रहरी २ रत्ती मिलाकर शहद के साथ दिन में ३ समय दें।

हाथ-पैर और फुफ्फुस पर तारपीन तैल की मालिश करें।

इतर उपद्रव हो जाय, तो—सन्निपात में लिखे अनुसार चिकित्सा करें।

वायु शुद्धि के लिये—माहेश्वर धूप प्रथम विधि (र० ७७५), अपराजित धूप (र० ७७६) या सहदेव्यादि धूप (र० ७७६) प्रातः-सायं करते रहें।

डाक्टरी में इस रोग के लिये निम्नानुसार औषधि देते हैं।

(१) १०-१० बूँद दालचीनी का तैल (Oil cinnamon) ५ तोले निवाये जल में मिला, २-२ घण्टे पर ज्वर न उतरे, तब तक देते रहें।

(२)

लाइकर एमोनियां एसिटास	Liq. Ammon. Acetatis	६ ड्राम
सोडा सेलीसिलास	Sodii Salicylas	४० ग्रेन
पोटास बाईकार्ब	Pot. Bicarb	१ ड्राम
लाइकर स्ट्रिकनिया हाइड्रोक्लोराइड	Liq. Strychnine Hydrochlo.	१० बूँद
पोटास ब्रोमाइड	Pot. Bromide	३० ग्रेन
एक्सट्रैक्ट ग्लीसराइभा लिक्विड	Extract glyceriza Liq.	१॥ ड्राम
जल	Aqua ad	३ औंस

इन सबको मिला, ३ हिस्सा कर, दिन में ३ समय दें।

(३)

सिरप क्लोरल	Syrup chloral	३० बूँद
एमोनिया ब्रोमाइड	Ammon. Bromide	१० ग्रेन
एक्सट्रैक्ट ग्लीसराइभा लिक्विड	Extract Glyceriza Liq.	२० बूँद
जल	Aqua ad	१ औंस तक

इनको मिलाकर पिला दें। इस रीति से ४-४ घण्टे पर देते रहें। इससे निद्रा शान्त आ जाती है; और ज्वर दूर हो जाता है।

(४) यदि निद्रानाशादि उपद्रव हैं, तो—

एमोनिया ब्रोमाइड	Ammon. Bromide	२० ग्रेन
टिंचर वेलेरियन	Tinct. Valerian	२० बूँद

जल	Aqua	ad १ औंस तक

सोने से पहले देवें।

(५) **सुँघाने के लिये**—निम्नानुसार वेपर मेन्थाल (Vapour Menthol co.) बनाकर सुँघाने के लिये दी जाती है।

ऑइल पीपरमेण्ट	Oil Mentha Pip.	१० बूँद
ऑइल युकेलिप्टस	Oil Eucalyptus	१० बूँद
टिंचर वेंझोइन कम्पाउण्ड	Tinct. Bezoini co.	१ ड्राम
उवलता जल	Boiling water	२० औंस

इन सबको केटल (Kettle) में डाल, रबर की नली द्वारा १ मिनट में ७-८ समय सूँघें। इस तरह १० मिनट तक वाष्प दें। दिन में दो समय। सूँघने के समय केटल को अग्नि पर ही रहने देवें।

सूचना—परिचारक वार-वार नीलगिरी तैल सूँघते रहें और इन्फ्लुएन्भा के रोगी के मल-मूल और थूक को तुरन्त राख से दवाते रहें।

(१५) संधिक ज्वर।

आमवातिक ज्वर-संधिक ज्वर—(र्‍यूमेटिक फीवर Rheumatic Eever), इस रोग में हड्डियों के संधि-स्थानों में सुई चुभाने के समान पीड़ा होती है, इस हेतु से इस रोग को सिद्धान्त निदानकार ने 'संधिक ज्वर' संज्ञा दी है।

माधव-निदान कथित निदान—दूध, मछली आदि विरुद्ध आहार और अजीर्ण होने पर व्यायाम, मैथुन, जल में तैरना आदि विरुद्ध विहार करने वाले, मन्दाग्नि वाले, परिश्रम न करने वाले, स्निग्ध भोजन करके व्यायाम करने वाले एवं अति मैथुन सेवन करने वाले, इन सबको वायु से प्रेरित हुआ आम (पचन न होने से शेष रहा हुआ आहार रस) श्लेष्म स्थान (आमाशय, उरः स्थान, शिर और कण्ठसन्धि) में प्राप्त होता है। फिर यह आम पित्त स्थान में न जाने के हेतु से वायु द्वारा अति दूपित होकर धमनियों के मार्ग से गति करता है। पुनः वात, पित्त और कफ, तीनों से अति दूपित होकर रसवाहिनियों के मार्ग का

अवरोध करता है; तब इस नाना वर्ण वाले, अति पिच्छिल आम से अग्निमन्दता और हृदय की गौरवता (हृदय पर बोझा रखने के समान भास होना) आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। व्याधियों के आश्रय रूप यह अति कुपित हुए दारुण आम और वायु, दोनों त्रिक सन्धि (दोनों श्रोणि फलकों के मध्य में रहने वाले कमर के भाग की सन्धि) में संचित होकर गात्रों को जकड़ लेता है; तब यह रोग आमवात कहलाता है।

सिद्धान्त निदानोक्त निदान और सम्प्राप्ति—हेमन्त और शिशिर ऋतु में (इस रीति से वसन्त और वर्षा ऋतु में भी शीतल हवा लगने पर) बाल्य या युवावस्था में शीत वर्षा का निःशंक सेवन करते रहने से जीवनीय शक्ति निर्वल बन जाती है। फिर कीटाणु जन्य विष कण्ठ मार्ग का आश्रय कर या गल-ग्रन्थि Tonsils द्वारा धातुओं में फैलकर वातपित्तोल्वण सन्निपात को उत्पन्न कर देता है।

इस व्याधि में सन्धि-स्थानों की चारों ओर भयङ्कर शोथ तथा सन्धियों के भीतर शोथ के हेतु से श्लेष्म की वृद्धि होकर भयङ्कर दाह होता है। कफ परिमाण से अधिक होने से उसका पचन नहीं होता।

इस व्याधि में बहुधा हृदयावरण में दाहशोथ होकर लसीका का संचय हो जाता है। इस हेतु से हृदय में वेदना होती है। हृदय स्वस्थान से च्युत हो जाता है, अथवा हृदय की मांसपेशी, हृदय खण्ड, हृदय स्नायु या हृदय कपाट, इनमें से किसी में दाहशोथजनित विकार (संकोच, संहनन, अंकुर निकलना आदि) हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त फुफ्फुसावरण में क्वचित् शोथ, वह भी बहुधा आमाशय के समीप रहने वाले बाँये खण्ड में होता है। कभी दाह-शोथ फैलने से फुफ्फुस पर भी आक्रमण हो जाता है।

माधव निदानोक्त लक्षण—अंग टूटना, अरुचि, तृषा, आलस्य, शरीर भारी होना, ज्वर, अपचन, अंगों की शून्यता इत्यादि सामान्य लक्षण प्रतीत होते हैं। जब आमवात अधिक प्रकुपित होता है; तब हाथ, पैर, शिर, गुल्फ, त्रिकस्थान, जानु (घुटने) और ऊरु के सन्धि-स्थानों में अति पीड़ा तथा शोथ उत्पन्न कर देता है। यह आम जहाँ

जहाँ गमन करता है; वहाँ-वहाँ पर विच्छू काटने के समान पीड़ा करता है।

इस रोग से अग्निमांद्य, मुँह में जल आना, बेचैनी, शरीर में भारीपन, उत्साह नाश, विरसता, दाह, बारबार थोड़ा-थोड़ा पेशाब होना, उदर में कठिनता, शूल, निद्रानाश, तृषा, वमन, भ्रम, मूर्च्छा, हृदय जकड़ना, मलावरोध, जड़ता, आंतों का बोलना, उदर के ऊपर-नीचे के भाग का निरोध होना और वात व्याधि में कहे हुए अन्य लक्षणों की प्रतीति होती है।

सिद्धान्त निदान कथित लक्षण—प्रारम्भ में साधारण ज्वर, फिर २–३ या ४ दिन में सन्धि शोथ की वृद्धि होना, अति प्रस्वेद, तीव्र वेदना, पेशाब बहुत कम उतरना, प्रायः विकार के आरम्भ से हृदय में व्यथा, सन्निपात के किसी-न-किसी उपद्रव (श्वास, कास, प्रलाप, निद्रानाशादि होना और क्वचित् अति घोर ज्वर १०६–१०७ डिग्री तक) इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं। यदि इसकी शीतल जल सेकादि चिकित्सा नहीं की जाती है, तो मृत्यु हो जाती है।

युवावस्था (३० वर्ष की वय तक) में सन्धि-स्थानों में अधिक वेदना तथा बालकों (२ वर्ष से १६ वर्ष तक की आयु वालों) को हृदय-यन्त्र की अधिक विकृति निश्चित होती है। यह व्याधि स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को अधिक होती है। स्त्रियों में भी विशेषतः २० वर्ष के भीतर की आयु वाली का परिमाण अधिक होता है। यह रोग क्वचित् वृद्धों को भी हो जाता है। वृद्धावस्था में होने पर चिरकाल तक विकार बना रहता है।

यह रोग क्वचित् वंश परम्परागत भी देखने में आता है। एक समय रोग हो जाने पर वर्षा की शीतल वायु लगने पर बार-बार मरण तक दुःख देता रहता है।

सम्यक् चिकित्सा करने से और इस व्याधि को उत्पन्न करने वाले विष का परिमाण रोगी के बल की अपेक्षा थोड़ा होने से अर्थात् विष के दुर्बल होने से २-३ सप्ताह निकल जाने पर रोगी बच जाता है। किन्तु अधिकांश रोगी हृद् रोग से पीड़ित रह जाते हैं। किसी-किसी को यह

रोग पुनः हो जाता है। और वह एक-दो मास में पथ्य पालन करने से शनैः-शनैः शमन होता है।

रोग चला जाने पर भी बहुधा सबको मास या वर्ष के पश्चात् हृद्रोग के कारण, निर्बलता आ जाने से थोड़ा परिश्रम करने पर श्वास या शोथादि लक्षण होते हैं; और किसी-न-किसी समय अकस्मात् हृदयावरोध होकर मृत्यु हो जाती है।

पाश्चात्य विद्वानों ने इस रोग को संक्रामक और कीटाणुजन्य माना है। कारण, पाश्चात्य डाक्टरों ने प्रो० कॉक के सिद्धान्तानुसार कृत्रिम रीति से इस रोग को पशुओं में उत्पन्न करके निर्णय किया है। पूयमय रक्तरोग (पायीमिया Pyaemia), सुजाक, तीव्र अस्थि शोथ और वातरक्त, इनसे इस रोग की बहुत अंश में साम्यता है। इस रोग में सन्धिस्थानों में पीप नहीं होता। सुजाक में सन्धि शोथ होता है। परन्तु सुजाक के इतर लक्षण भी प्रतीत होते हैं। तीव्र अस्थिशोथ में एक ही सन्धि में पीड़ा होती है; और ज्वर आमवात सदृश अनियमित नहीं होता; तथा वातरक्त में ज्वर नहीं रहता। इस तरह सबके लक्षणों में भेद रहता है।

ये कीटाणु रक्त में खूब बढ़ जाते हैं और फिर विरुद्ध आहार-विहारादि से अपाचित अन्न-रस धमनियों द्वारा सन्धि-स्थानों में जाता है, तब रक्त में दुग्धाम्ल (लेक्टिक एसिड Lactic Acid) बढ़ जाता है। इस हेतु से आमवात की उत्पत्ति होती है।

सन्धि-स्थानों में रहने वाली श्लेष्मधरा कला (साइनोवियल मेम्ब्रेन Synovial membrane) में कीटाणुओं का प्रवेश होकर उसका दाह-शोथ होता है। अस्थिबन्ध पर शोथ आ जाता है। इन कीटाणुओं का फुफ्फुसावरण, हृदयावरणादि जिन-जिन स्थानों में प्रवेश होता है, वहाँ-वहाँ भी दाह-शोथ हो जाता है।

रक्त में रक्त-जीवाणुओं की संख्या और रक्त के घट जाने तथा श्वेत जीवाणुओं की संख्या कुछ बढ़ जाने से शरीर निस्तेज दीखता है; एवं रक्तस्राव होने पर रक्त देर से जमता है।

रोग होने से पहले कुछ काल तक हाथ-पैर टूटते हैं; गलग्रन्थि पर

शोथ आ जाता है और फिर थोड़े समय में पैरों के घुटनों में वेदना आरम्भ होती है। इसके पश्चात् अनेक सन्धि-स्थानों में पीड़ा होने लगती है और शीत लगकर ताप आ जाता है। कभी-कभी एक सन्धि में का दुःख कम होकर दूसरे सन्धि में बढ़ जाता है।

आम वात के तीक्ष्ण प्रकोप में शीत सहित ज्वर १०२ से १०४ डिग्री तक, ताप का अनियमित समय घटना-बढ़ना (साँधों की वेदना स्तम्भित होने पर ताप का कम हो जाना), खट्टी दुर्गन्धवाला अति अधिक स्वेद, अति प्रस्वेद से रोमरन्ध्र का लाल हो जाना, हृदय-विकृति, तेज और भारी नाड़ी, जिह्वा पर सफेद मैल की तह जम जाना, शिरदर्द, श्वास, कमर और सन्धियों में (विशेषतः घुटनों, टकनों और कलाइयों में) जड़ता, मन्दाग्नि, बद्धकोष्ठ, मूत्र* पीला, लाल गाढ़ा और थोड़ा होना, एक सन्धि में शोथ घटने पर दूसरी सन्धि में शोथ वृद्धि होना, हृदय और फुफ्फुसों में दाह, ज्वर और हृदय दाह के हेतु से निद्रानाश, तीक्ष्ण शूल और कण्ठ में रहने वाली ग्रैवेय ग्रन्थि (थाइरॉइड ग्लैण्ड Thyroid Gland) का बड़ा होना, इत्यादि लक्षण होते हैं।

उपद्रव—(१) हृदयावरण दाह, हृदान्तर त्वग्दाह या हृत्स्नायुदाह।

(२) फुफ्फुसावरण दाह।

(३) कण्ठ मार्ग या उपजिह्वा का दाह।

(४) शीर्षावरण दाह।

(५) अति तीव्र ज्वर।

(६) मूर्च्छा।

(७) छोटी आयु की लड़की है, तो बाल कम्प (कोरिया Choria)

(८) स्फोटक, इनमें से कोई-न-कोई उपद्रव उत्पन्न हो जाने की सम्भावना रहती है।

यदि पित्त का अनुबन्ध होता है तो दाह और लाली; वातप्राधान्यता से शूल; तथा कफानुबन्ध से जड़ता, भारीपन और खुजली होती हैं।

---

* मूत्र को रक्खा रहने से कुछ समय के पश्चात् उसके तल भाग में क्षार (यूरेट्स) जम जाता है।

साध्यासाध्यता—एक दोषज आमवात को साध्य, द्विदोषज को याप्य (अति उपचार से साध्य होने वाला) और सारे शरीर में शोथयुक्त त्रिदोषज को अति कष्टसाध्य माना है।

आमवातिक ज्वर चिकित्सा।

इस आमवातिक ज्वर में लंघन, स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, वस्ति तथा कड़वी, दीपन और चरपरी औषधियाँ लाभदायक हैं। इस रोग पर वालुका, चूल्हे की मिट्टी या सैंधानमक की पोटली बनाकर उससे सन्धि-स्थानों पर रूक्ष सेक करें। एवं स्नेहरहित उपनाह स्वेद (वातनाशक औषधियों के क्वाथ से स्वेद) देवें।

पीने के लिये पंचकोल को ६४ या १२८ गुने जल में मिला सिद्ध करके देवें। शुष्क भोजन, मूली का यूष, पंचकोल का यूष या सोंठ का चूर्ण मिलाकर काँजी पिलावें।❀

रोगी को पूर्ण विश्रान्ति दें और नरम विछौने पर लिटावें।

इस रोग में हृदय पौष्टिक, वातघ्न, वद्धकोष्ठ नाशक और मूत्रल गुण युक्त औषधि अधिक हितावह हैं। कारण, इस रोग में बहुधा हृदयविकृति और रक्त में विषप्रकोप हो जाते हैं।

मूत्र की अम्लता दूर कर क्षारीय बनाने का प्रयत्न करें; तथा वृहत्सैंधवादि तैल की अनुवासन वस्ति या क्षार वस्ति भी देवें।

वृहत्सैंधवाद्य तैल—सैंधानमक, हरड़, रास्ना, सोया, अजवायन, सज्जीखार, कालीमिर्च, कूट, सोंठ, कालानमक, विड़नमक, वच, अजमोद, प्रसारणी, पुष्करमूल, मुलहठी, पीपल, इन १७ औषधियों को २-२ तोले लेकर कल्क करें। फिर कल्क, एरंड तैल ६४ तोले, सोया ६४ तोले, काँजी १२८ तोले, दही का तोड़ १२८ तोले; इन सबको मिलाकर मृदु अग्नि से पचन कर तैल सिद्ध करें। यह तैल आमवात

❀ शोष, मूर्च्छा, भ्रम, मद, कण्डु, क्षय, कुष्ट, रक्तपित्त, सुजाक, फीरंग, पाण्डु, अति कृश, परिश्रम से थका हुआ, क्षतक्षीण, मन्द ज्वर रोगी, इन व्याधि वालों को काँजी नहीं देनी चाहिये।

को दूर करने में अति हितकर है। इस तैल का पान, अभ्यंग और वस्ति कर्म में उपयोग करने से सत्वर आमवात शमन होता है; और अग्निबल की वृद्धि होती है। वंक्षण स्थान, कमर, घुटने और जंघा के सन्धि-स्थानों में वातशूल, हृदय शूल, पसलियों का शूल, कफ वृद्धि से वेदना, वाह्यायाम, अर्दित, आनाह, अंत्रवृद्धि और इतर वात सम्बन्धी सब रोगों को यह नष्ट करता है।

तीव्र रोग में आम पाचनार्थ—(१) एरंड तैल सोंठ के क्वाथ के साथ देवें।

(२) **शठ्यादि क्वाथ**—कचूर, सोंठ, हरड़, वच, देवदारु, अतीस और गिलोय का क्वाथ करके पिलाने से आम का सत्वर पचन हो जाता है। (यह वात और कफ की अधिकता पर भी हितावह है।)।

(३) कचूर और सोंठ का कल्क कर, पुनर्नवा के कल्क के साथ ७ दिन तक पिलावें। (यह अधिक शोथ वाले के लिये हितावह है।)।

(४) वैश्वानर चूर्ण (र० ६०७) या अजमोदादि चूर्ण देते रहने से शनैः-शनैः आम पचन होकर रोग निवृत्त हो जाता है।

मूत्र शुद्धि के लिये—अन्य औषधियों के सेवन के साथ ४-४ रत्ती शिलाजीत देते रहने से मूत्र द्वारा विष निकलता जाता है।

कोष्ठ शुद्धि के लिये—बृहत्सैंधवादि तैल की वस्ति दें। या नाराच घृत (र० ७०८), नारायण चूर्ण (र० ५८६), पंचसम चूर्ण (र० ५६२), ज्वर केसरी वटी (र० ३७३), त्रिवृदष्टक मोदक (र० ५४३), इनमें से अनुकूल औषधि देवें।

आमवातारि वटिका—शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक, लोह भस्म, अभ्रक भस्म, तुत्थ भस्म, सोहागा का फूला और सैंधानमक, इन ७ औषधियों को १-१ तोला लें। शुद्ध गूगल १४ तोले, निशोथ का चूर्ण ३॥ तोले और चित्रकमूल की छाल का चूर्ण ३॥ तोले लें। सबको यथा विधि मिला, गोघृत के साथ खरल कर ४-४ रत्ती की गोलियाँ बनावें। इनमें से १-१ गोली २॥ तोले त्रिफला के क्वाथ के साथ प्रातःकाल सेवन कराते रहें।

इस वटी के सेवन से आम का पचन होता है; और मलभेद होकर आमवात सत्वर दूर होता है। इसके अतिरिक्त गुल्म, शूल, उदर रोग, यकृत् रोग, प्लीहोदर, अष्ठीला, कामला, पाण्डु, अरुचि, हलीमक, अम्ल-पित्त, शोथ, श्लीपद, अर्बुद, ग्रन्थि रोग, शिरःशूल, वात रोग, गृध्रसी, गलगण्ड, गण्डमाला, कृमि, कुष्ट, भगंदर, विद्रधि, अन्त्रवृद्धि, अर्श और इतर गुदा के रोगों को भी यह वटी दूर करती है।

सूचना—तीव्र आमवात हो, तो इस वटी के सेवन काल में दूध और मूंग को त्याग देना चाहिये।

तीव्र रोग में ताप शमनार्थ—(१) मृत्युञ्जय रस (र० ३८५ बेलपत्र के स्वरस और शहद के साथ), समीरपन्नग (र० ३३५ नागरवेल के पान के रस के साथ), मल्ल भस्म तीसरी विधि (र० २७७ नागरवेल के पान के रस के साथ), इनमें से अनुकूल औषधि देवें। इनमें मृत्युञ्जय रस सौम्य है; समीरपन्नग उग्र है; और मल्ल भस्म सामान्य किन्तु प्रस्वेद लाने में हितावह है। यदि हृदय में शिथिलता हो, तो समीरपन्नग ही देना चाहिये।

(२) दशमूलादि क्वाथ—दशमूल, गिलोय, एरण्ड की जड़, रास्ना, सोंठ और देवदारु, इनका क्वाथ कर, एरण्ड तैल मिलाकर पिलाने से तीव्र प्रकोप सह अति बढ़ा हुआ आमवात नष्ट हो जाता है।

(३) एरण्ड तैल को दशमूल क्वाथ या सोंठ के क्वाथ के साथ पिलाने से उदर, वस्ति और कटि में शूल तथा मलावरोध सह आमवात थोड़े ही दिनों में दूर हो जाता है।

(४) महारास्नादि क्वाथ (र० ६२८) या लघुरास्नादि क्वाथ (र० ६२६) को एरण्ड तैल के साथ देवें।

(५) सोंठ के चूर्ण में थोड़ा सैंधानमक मिला, काँजी, मट्ठा, या जल के साथ दिन में २ समय देते रहने से आमवात और कफवात नष्ट हो जाते हैं।

(६) पञ्चकोल का चूर्ण निवाये जल के साथ देने से अग्निमांद्य, शूल, गुल्म, आम दोष, कफ और अरुचि का नाश होता है।

(७) सौंफ, वायविडंग, सैंधानमक और कालीमिर्च, इनको सम-भाग मिला, चूर्ण कर, निवाये जल के साथ सेवन कराने से अग्नि प्रदीप्त होकर आमवात दूर होते हैं।

(८) असगन्ध और सौंफ का चूर्ण ६-६ माशे दिन में २ समय निवाये जल के साथ देने से भी आमवात दूर होता है।

(९) भिलावा, तिल और हरड़ का चूर्ण कर, गुड़ मिलाकर सेवन कराने से आमवात और कटिशूल दूर होते हैं।

(१०) त्रिफला और सोंठ का चूर्ण काँजी, मट्ठा, दूध, जल या मांस-रस के साथ दिन में २ समय देते रहने से आमवात, शोथ और सन्धि-स्थानों की पीड़ा दूर होती है।

(११) रसोनादि कषाय—लहसन, सोंठ और निर्गुण्डी का क्वाथ कर पिलाने से तीव्र वेदना सह आमवात दूर होता है।

(१२) तीक्ष्ण प्रकोप पर लेप—सोया, वच, सोंठ, गोखरू, वरना की छाल, पुनर्नवा की मूल, देवदारु, कचूर, गोरखमुण्डी, प्रसारणी, अरनी की छाल, मैनफल, इन सबको सिरके से बनाई हुई काँजी के साथ पीस, निवाया कर लेप करें। फिर ऊपर रुई लपेट देने से तीव्र वेदना सत्वर शमन होती है।

(१३) कलमी शोरा को ८ गुने जल में भिगो दें। फिर उसमें कपड़ा भिगोकर वेदनायुक्त सन्धिस्थान पर बाँधने से वेदना दूर हो जाती है।

(१४) कालाजीरा, पीपल और सोंठ को अदरख के रस में पीस, निवाया कर, दर्द वाले भाग पर लेप करने से भयङ्कर पीड़ा दूर होती है।

(१५) धतूरा के पत्ते को ८ गुने जल में उबालें। फिर कपड़ा निचोड़ कर सन्धिस्थान पर रखें। उष्णता कम होने पर उसे हटाकर दूसरा कपड़ा रखें। इस तरह आध घण्टे सेक करें। फिर रुई या ऊन बाँध देने से वेदना शमन हो जाती है।

(१६) मालिश के लिये—शिरःशूलान्तक मल्हम (र० ७३३)।

(१७) धतूरे के बीज को कूट, ४ गुने तैल में भून लें; फिर मालिश करने से शोथ और तीक्ष्ण वेदना शमन होती है।

(१८) **तीव्र रोग पर**—महा वातविध्वंसन (र० ४६३ एरंड तैल के साथ), आमवात प्रमथिनी वटी (र० ४७२ निर्गुण्डी स्वरस या निशोथ के क्वाथ के साथ) या सुवर्णभूपति रस (र० ३३६ एरंड तैल, निशोथ या हरड़ के क्वाथ के साथ) देने से रोग सत्वर शमन हो जाता है।

(१९) **सिंहनाद गूगल**—हरड़, बहेड़ा और आँवला २४-२४ तोले, शुद्ध गन्धक ८ तोले, शुद्ध गूगल २४ तोले तथा एरंड तैल ३२ तोले लेवें। पहिले त्रिफला को कूट कपड़छान चूर्ण कर ४ गुने जल में मिला क्वाथ करें। चौथा हिस्सा जल कम होने पर त्रिफला को मसल लोहे की कढ़ाही में छान लेवें। फिर गूगल, गन्धक और तैल को मिला पुनः मंदाग्नि पर थोड़ा पाक करें। पश्चात् ऊपर ऊपर से क्वाथ का अधिक जल निकाल कर खरल करें; थोड़ा-थोड़ा जल मिलाते जायँ; फिर कूट कर तैल का शोषण करा देवें। पश्चात् २-२ रत्ती की गोलियाँ बना लेवें। इनमें से २ से ४ गोली तक सोंठ के क्वाथ या निवाये जल के साथ दिन में दो बार प्रातः सायं देते रहने से वात, पित्त और कफाधिक रोग खञ्जरोग, पांडुरोग, दुर्जय श्वास, पाँच प्रकार की कास, कुष्ठ, वातरक्त, गुल्म, शूल, उदररोग और असाध्य आमवात का नाश होता है; तथा वृद्धावस्था और सफेद बाल भी दूर होते हैं। इस औषधि के सेवन काल में घी, तैल, मांसरस सह पुराने शालि और साँठी चावल का भोजन पथ्य है। यह गूगल अग्नि को प्रदीप्त करता है।

आन्तर में दाह, कोष्ठबद्धता और कंडु आदि उपद्रव होने पर इस सिंहनाद गूगल का सेवन अत्यन्त लाभदायक है।

(२०) **रसोनपिंड**—छिल्का साफ किया हुआ लहसन ४०० तोले, तिल १६ तोले, हींग, सोंठ, मिर्च, पीपल, जवाखार, सज्जीखार, पाँचों प्रकार के नमक, सोंफ, हल्दी, कूठ, पीपलामूल, चित्रकमूल, अजमोद, अजवायन, धनिया, इन १८ औषधियों को ४-४ तोले लेवें। इन सबका चूर्ण कर लहसन के कल्क के साथ मिलालें; पश्चात् उसमें कांजी और तिल का तैल ३२-३२ तोले मिला, एक अमृतबान में भर १६ दिन तक रहने दें। फिर इसमें से ६ माशे से १ तोला तक दिन में २ समय शराब या

निवाये जल के साथ देवें। इस रसोनपिण्ड के सेवन से आमवात, वातरक्त, सर्वाङ्गवात, एकांगवात, अपस्मार, अग्निमांद्य, कास, श्वास, विषविकार, उन्माद, पक्षाघात और शूल रोग, ये सब शमन होते हैं। यह आमवात के विष को नष्ट करने के लिये अति हितकर औषधि है।

(२१) आमवात का तीक्ष्ण प्रकोप शमन होने पर— ४ तोले गेहूँ के आटे को १ तोला घी लगा, घीकुँवार के रस में मिला, एक वाटी बनावें। फिर अच्छी रीति से सेक कर घी में डाल दें। १०-१५ मिनट रखकर निकाल लें। इस वाटी का सेवन भोजन करने के समय नित्य प्रति २ समय कराते रहने से मलावरोध, रक्त में रहा हुआ विष, ताप (१०१-१०२ डिग्री तक) और आमवात थोड़े ही दिनों में दूर हो जाते हैं।

जीर्ण रोग पर औषधियाँ—(१) बृहद्योगराज गूगल (र० ४६५ एरंड तैल के साथ), कासीस भस्म (र० २६६ शहद पीपल के साथ), हिंगुल-रसायन (र० ४७४), वृद्धदारुकादि चूर्ण (र० ५६८), अजमोदादि चूर्ण (र० ६०७), मल्लसिंदूर (र० ३२७ पहले लिखे हुए शल्यादि क्वाथ के साथ), सुवर्णभूपति रस (र० ३३६ पंचकोल या दशमूल के क्वाथ के साथ), वातहर गुटिका (र० ५७१), समीर-गजकेसरी (र० ४६४ नागरवेल के पान के रस के साथ), मल्लभस्म दूसरी विधि (र० २७६ नागरवेल के पान के साथ), लक्ष्मीविलास रस (र० ४४१ नागरवेल के पान के रस और शहद के साथ), सिंहनाद-गूगल (रास्नादि क्वाथ के साथ), इनमें से अनुकूल औषधि देते रहने से रक्त में रहा हुआ विष और जीर्ण आमवात शमन हो जाता है।

समीरगज केसरी में अफीम आता है; अतः इसका उपयोग मलावरोध न हो, तो सम्हालपूर्वक करना चाहिये।

(२) अलम्बुषादि चूर्ण—गोरखमुण्डी, गोखरू, गिलोय, वृद्धदारु, पीपल, निशोथ, नागरमोथा, बरना की छाल, पुनर्नवा की जड़, हरड़, बहेड़ा, आँवला और सोंठ, इन १३ औषधियों का बारीक चूर्ण कर, दही के तोड़, काँजी, मट्ठा, दूध या मांसरस के साथ सेवन

कराने से आमवात और सन्धिगत शोथ दूर होते हैं। इनके अलावा प्लीहा, गुल्म, उदर रोग, आनाह (उदर के ऊपर और नीचे आम या मल से अवरोध) और अर्श, इन रोगों को भी दूर करता है; अग्नि को प्रदीप्त, तेज और बल की वृद्धि तथा संधिगत और मज्जागत वातरोग का नाश करता है।

हृदय के रक्षणार्थ—रससिंदूर, अभ्रक भस्म और लोह भस्म (शहद-पीपल के साथ) दें। या लक्ष्मीविलास रस (र० ४४१) दिन में २ या ३ बार शहद-पीपल के साथ देते रहें। सूतशेखर रस आधी रत्ती दूध के साथ घिसकर मिश्री मिले ४-५ तोले ठंडे दूध में मिलाकर पिलाने से हृदय को विशेष दृढ़ बनाता है।

डाक्टरी में इस रोग के लिये विशेषतः सोडी सेलिसिलास (Sodii Salicylas) का उपयोग किया जाता है। बड़े मनुष्य को १०-१० ग्रेन ३-३ घंटे पर, दिन में ६ समय, जल के साथ देने से दोष पचन होकर ताप थोड़े ही दिनों में शमन हो जाता है।

(१) तीक्ष्ण प्रकोप (Acute) **में औषधि—**

सोडी सेलिसिलास	Sodii Salicylas	३ ड्राम
पोटास बाई कार्ब	Pot. Bicarb	४ ड्राम
मेगनेशिया सल्फास	Mag. Sulph.	५ ड्राम
टिंचर नक्स वॉमिका	Tinct. Nucis Vom.	१॥ ड्राम
जल	Aqua	ad ८ औंस तक

इन सबको मिला, ३-३ घण्टे पर आध-आध औंस समान जल मिला कर देते रहें।

(२) मंद प्रकोपी जीर्ण व्याधि (Chronic) **में औषधि—**

पोटास आयोडाइड	Pot. Iodide	२ ड्राम
इन्फ्युझम जेन्शन कम्पोझिटम्	Infus. Gent. Co.	८ औंस

इन दोनों को मिलाकर भोजन के पश्चात् दिन में ३ समय ४-४ ड्राम समान जल मिला कर देते रहें।

(३) मंद प्रकोप में निर्बलता अधिक होवे, तो—

कीनाइन सल्फास	Quinine Sulph.	१ ड्राम
लाइकर सोडा आर्सेनिक	Liq. Soda Arsenic	३ ड्राम
एसिड सल्फ्युरिक डिल्युट	Acid Sulph. Dil.	१ ड्राम
टिंचर सिंकोना कम्पाउन्ड	Tinct. Cinchona Co.	२ ड्राम
सोंठ का शर्बत	Syrup Zingiberis ad	३ औंस तक

इन सबको मिला, एक-एक ड्राम भोजन के पश्चात् जल के साथ दिन में २ या ३ समय दें।

इस रोग में ऑइल विन्टर ग्रीन की मालिश भी अत्यन्त हितकारक है।

सूचना—तीव्र ज्वर हो, तब तक बिल्कुल अन्न न दें। घृत, दूध और फलों पर ही रक्खें तो सत्वर लाभ होता है। ताप कम होने पर स्नेहन (घृत पान) और स्वेदन कराने से जल्दी लाभ होता जाता है। ताप बढ़कर घटने पर (१०१-१०२ डिग्री हो जाने के पश्चात्) थोड़ा-थोड़ा अन्न देने में आपत्ति नहीं है।

पथ्यापथ्य विवेचन ज्वर के अन्त में विस्तारपूर्वक किया है।

१६—क्रकच सन्निपात ज्वर।

क्रकच सन्निपात—मन्याज्वर—गरदनतोड़ बुखार।

डाक्टरी में इसे सेरिब्रो स्पाइनल फीवर और मेनिञ्जाइटिस (Cerebro-Spinal Fever and Meningitis) कहते हैं। यह बड़ा भारी संक्रामक तथा भयङ्कर रोग है।

इस रोग में घोर ज्वर, बेशुद्धि और बारम्बार अङ्गों का आक्षेप होकर तुरन्त संकोच होने से कतिपय ग्रन्थकारों ने इसे आक्षेपक ज्वर संज्ञा दी है। नेत्रभुग्न और भौंहें टेढ़ी देखकर कई इसे भुग्ननेत्र सन्निपात भी कह देते हैं, परन्तु यह उनकी केवल कपोलकल्पना मात्र है। इस रोग में मुख्य विकृति मस्तिष्कावरण और सुषुम्ना के आवरण में दाह, अत्यन्त मलक्षय तथा पीड़ा सहित स्नायुसंकोच तथैव मस्तिष्क की श्लेष्म कला में शोथ हो जाता है। इस रोग में गरदन एकदम अकड़ जाती है और इसी से रोगी का मरण निश्चित होता देखा गया है।

आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में इस रोग का स्पष्ट वर्णन मिलता है। महर्षियों ने इसे अधिक वात-हीन पित्त और मध्य कफ के कारण होने वाला क्रकच सन्निपात माना है; और यह वात साफ तौर से लिख दी है कि—"इस रोग का यह विशेष लक्षण है कि रोगी की मृत्यु गरदन के जकड़ जाने से होती है।" देखिये सन्निपातों के वर्णन में—

"प्रलापायससंमोहाः कम्पमूर्च्छारतिभ्रमाः।
मन्यास्तम्भेन मृत्युः स्यात्तत्राप्येतद्विशेषतः।
भिषग्भिः सन्निपातोऽयं क्रकचः संप्रकीर्तितः॥"

अर्थात् जिस रोग में प्रलाप, श्रम, बेहोशी, कम्प, मूर्च्छा, व्याकुलता और भ्रम हो तथा जिसमें गरदन के जकड़ जाने से ही मृत्यु होती हो, इस विशेषता वाले रोग को वैद्यों ने क्रकच नामक सन्निपात बताया है। यह क्रकच सन्निपात या गरदन तोड़ बुखार भी क्वचित् जनपद विध्वंस-कारी संक्रामक रोग बन जाता है। जिससे देश-के-देश उजाड़ हो जाते हैं।

निदान—धुवाँ, धूली आदि उपद्रव जिस स्थान में हों, ऐसे स्थान में अनेक मनुष्यों का एक साथ रहने के हेतु से विशेषतः निर्धन मनुष्यों को कीटाणुजन्य यह रोग हो जाता है। निर्बल और दूषित धातु वाले छोटे बालक और युवा पुरुषों को यह अधिक होता है। इस रोग के कीटाणु श्वास लेने के समय नाक में से कण्ठ में जाते हैं। फिर अनेक दिनों तक स्थिर होकर रहते हैं। इस रोग के कीटाणु नाक में से निकलने वाली श्लेष्मा में निकलते हैं; फिर श्वास के अतिरिक्त दूसरी वस्तुओं के स्पर्श द्वारा भी अन्य देह में प्रवेश कर जाते हैं। इस रोग के कृमि को मेनिङ्गोकॉकस (Meningococcus) संज्ञा दी है। इस रोग से पीड़ितों की देह में इन कीटाणुओं को देखकर कीटाणुजन्य रोग कहा है। स्वस्थ बलवान मनुष्यों को, इन कीटाणुओं के प्रवेश से कोई बाधा नहीं होती। केवल रोगानुकूल दूषित प्रकृति वालों को ही बाधा पहुँचती है।

संप्राप्ति—इस रोग के कीटाणु नाक और कण्ठ मार्ग से प्रवेश कर सुषुम्णा और मस्तिष्क के आवरणों में पहुँच कर वहाँ अपना अड्डा

जमाते हैं। उन स्थानों पर दाह-शोथ उत्पन्न करते हैं। जिससे मस्तिष्क आवरण मोटा हो जाता है; तथा मस्तिष्क-विवर बड़े होकर उनमें पूय और गाढ़ी लसीका भर जाती है। फिर सुषुम्णा और मस्तिष्क की सेलों पर दबाव पड़ने से चेष्टावह तन्तुओं में उत्तेजना आकर आक्षेपादि रूप प्रगट होते हैं।

पूर्वरूप—पहले अग्निमांद्य, बद्धकोष्ठ और बेचैनी रहकर भयंकर शिरदर्द, गरदन में अति पीड़ा, फिर पीठ में पीड़ा, चक्कर, घबराहट, कान के नीचे शोथ और कमर में पीड़ा आदि चिह्न कुछ समय (कभी-कभी एक या दो दिन) रहते हैं। फिर अकस्मात् शीत सहित ताप आकर इस रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

रूप—तीव्र शिरदर्द, वमन, क्वचित् शीत और कम्प होना, कण्ठ जकड़ना, फिर शिर पीछे की ओर खिंच जाना, ज्वर नित्य बढ़ते जाना, हाथ-पैर आदि किसी-न-किसी शाखा का संकोच हो जाना, सब अङ्गों का संकोच होने से देह का बाह्यायाम या अन्तरायाम के सदृश आगे या पीछे की ओर मुड़ जाना, दृष्टि टेढ़ी हो जाना, तन्द्रा, प्रलाप, मोह, थोड़े-थोड़े समय पर आक्षेप (झटके) आते रहना, जैसे चोट लगने पर रक्त जम जाता है, उस तरह सारे शरीर में रक्त जम जाना, ३-४ दिन में क्रमशः सब इन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो जाना और रोग की दारुण अवस्था में उसी दिन इन्द्रिय-नाश हो जाना, ये सब लक्षण इस रोग में प्रतीत होते हैं।

सामान्य अवस्था में ज्वर १०२ डिग्री और तीव्रावस्था में १०६ डिग्री तक हो जाता है। इस रोग में कभी-कभी पिटिकाएँ निकलने पर रोगी को थोड़ी शान्ति मालूम पड़ती है। किन्तु फिर पूर्वोक्त लक्षण और पक्षाघात, बलक्षय, तन्द्रा या मूर्च्छादि तीव्र लक्षण हो जाते हैं। क्वचित् अतिसार भी हो जाता है।

इस रोग में ज्वर की उष्णता की अपेक्षा नाड़ी की गति मन्द और अनियमित रहती है। रक्त में श्वेताणुओं की संख्या बहुत बढ़ जाती है। बहुधा सारे शरीर में पिटिकाएँ निकल आती हैं।

विशेष निर्णीत लक्षण—(१) रोगी को चित लेटाकर घुटने से पैर मोड़, फिर पैर को ऊँचा उठाने का अर्थात् तल भाग से लेकर पूरा पैर ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया जाय, तो नहीं हो सकेगा। इस चिह्न को कर्निङ्ग चिह्न (Kerning's sign) कहते हैं।

(२) रोगी को चित लेटाकर दोनों पैर सीधे रखवा कर एक पैर को मोड़ने पर दूसरा पैर विना इच्छा मुड़ जाता है।

(३) रोगी को चित लेटाकर ग्रीवा को आगे की ओर मोड़ने पर पैर भी मुड़ने लगते हैं।

(४) रोगी का एक पैर दूसरे पैर पर रखवा कर पैर नीचे लटकाया हो, इस तरह अथवा पलँग पर बैठाकर फिर रोगी के घुटने के पास हथेली की बाजू से ताड़न करने पर पैर बलपूर्वक आगे चला जाता है; अथवा बिल्कुल क्षेप नहीं होता (नीरोगावस्था में जानु क्षेप थोड़ा-सा होता है)। इस चिह्न को डाक्टरी में नी-जर्क (Knee jerk) संज्ञा दी है।

यह रोग महामारी रूप से फैलने पर निदान सरलता से हो सकता है। इतर समय में कर्निङ्ग साइन से हो सकता है। तथापि विशेष निर्णयार्थ पृष्ठ वंश की तीसरी और चौथी कटि-कशेरुका के बीच में सूचिका डाल, पूय निकाल कर, परीक्षा करने पर उसमें इस रोग के कीटाणु प्रतीत होते हैं। इस परीक्षा को क्विन्कस पन्क्चर (Quincke's puncture) कहते हैं।

उपद्रव—फुफ्फुस या उनके आवरणों का दाह-शोथ, सन्धिस्थानों में दाह होकर पूय होना, नेत्ररोग (विशेषतः दाहिनी आँख में) और कर्णरोग, इनमें से कोई हो जाते हैं।

साध्यासाध्यता—यह रोग छोटे बालक और वृद्धों के लिये अति घातक है। ८०-९० प्रतिशत महामारी काल में मृत्यु होती है।

दारुण रोग होने पर कभी १ दिन में कभी ३ दिन में और कभी-कभी ४ से ७ दिन तक दुःख भोगकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। वैद्य, परिचारक, अच्छी औषधि और आज्ञा पालन करने वाला रोगी, इन सबकी सानुकूलता होने पर कोई भाग्यशाली ही बच जाता है।

कच्च सन्निपात चिकित्सा।

इस रोग में वस्त्र, स्थानादि की स्वच्छता का पूर्ण लक्ष्य देना चाहिये। राई का प्लास्टर दर्द वाले भाग पर लगावें। या निर्गुण्डी के पत्तों का स्वेद दें। गरदन और सिर पर सिंगी लगवाकर लसीका या पूय जल्दी निकालें।

रोगी को लंघन करावें। केवल गरम कर शीतल किये हुए जल पर रक्खें। मल शुद्धि के लिये थोड़ी मुनक्का दें।

मलावरोध हो, तो प्रारम्भ में ही उसके दूर करने का प्रयत्न करें।

इस रोग में लहसन के सत्व का इन्जेक्शन लाभदायक है; ऐसा आयुर्वेद के विशेषज्ञों का अनुभव है।*

पूर्वरूप में गर्दन अकड़ जाने पर—बृहद् योगराजगूगल (र० ४६५), १ माशा खिलाकर ४ तोले एरंड तैल और थोड़ा दूध मिलाकर पिला दें। फिर ऊपर ४० तोले तक निवाया दूध पिलावें। उदर शुद्धि होने पर दिन में तीन बार महा योगराज गूगल २–२ रत्ती निवाये जल से देते रहें।

ज्वर में कोष्ठशुद्धि के लिये—अश्वकंचुकी रस (र० ३७७) दें; या एरंड तैल की बस्ति दें।

दोष पचन और ज्वर शमनार्थ—सूतराज रस या मृत्युञ्जय रस (र० ३८५) दशमूल क्काथ के साथ दें।

तीव्र आक्षेप हो, तो—महा वातविध्वंसन रस (र० ४६१) या कस्तूरी भैरव रस (र० ३७१) दिन में ३ समय देते रहें।

कमर, गरदन और सिरदर्द पर—दूषित लसीका, रक्त या पूय निकाल लेने के पश्चात् विषगर्भ तैल या तारपीन तैल की मालिश करें और फिर मस्तिष्क से इतर भाग पर निवाये जल से सेक करें।

---

* अमेरिका के एक विशेषज्ञ फ्लेक्सनर साहब ने इस रोग की सीरम निकाली थी; जो शत प्रति शत लाभदायक उपाय माना जाता था। उस सीरम ने वर्षों तक हजारों या लाखों मनुष्यों का संहार किया है। इतर देशों ने शत प्रति शत घातक जानकर इसका परित्याग किया है, फिर भी दुर्भाग्यशाली भारतवर्ष में अभी तक इस घातक सीरम का उपयोग हो रहा है।

अरुचि, बेचैनी और निद्रानाश पर—द्राक्षासव दिन में दो वार ५-५ तोले पिलाते रहें।

तृषा बढ़ने पर—जहरमोहरा को जल में २-२ रत्ती लगभग घिसकर थोड़ी-थोड़ी देर बाद पिलाते रहें।

तन्द्रादि अन्य उपद्रव पर सन्निपात में लिखे अनुसार चिकित्सा करें।

इस रोग पर डाक्टरी में निम्नानुसार औषधियाँ दी जाती हैं।

(१) पोटास आयोडीड	Pot. Iodide	५ ग्रेन
टिंचर डिजिटेलीस	Tinct. Digitalis	५ बूँद
,, हायोस्यामी	,, Hyoscyami	१५ बूँद
एक्वा मेन्था पीपरेटा	Aqua Mentha Pip.	१ औंस

इन सबको मिलाकर पिला दें। इस तरह दिन में ३ वार देवें।

(२) पोटास आयोडीड	Pot. Iodide	५ ग्रेन
टिंचर बेलाडोना	Tinct. Bellad.	५ बूँद
पोटास बाईकार्ब	Pot. Bicarb	१० ग्रेन
सोडी सेलीसिलास	Sodii Salicylas	५ ग्रेन
एक्वा क्लोरोफॉर्म	Aqua Chloroform	१ औंस

इन सबको मिलाकर पिला दें। इस तरह दिन में ३ वार देवें।

प्रकृति और रोगबल का विचार कर इन दोनों में से अनुकूल हो, उस औषधि का प्रयोग करें।

(१७) दण्डक ज्वर।

दण्डक ज्वर-डेंग्यू फीवर-डण्डी फीवर (Dengue Fever-Dandy Fever)।

यह ज्वर तीव्र, आशुकारी, वात श्लेष्म प्राधान्य और संक्रामक है। विशेषतः बालक और वृद्धों को होता है। यह व्याधि वातावरण दूषित होने पर उष्ण कटिबन्ध प्रदेश में अधिक फैलती है। मादा मच्छर के दंश से इस रोग की उत्पत्ति होती है। अनेक विद्वानों की मान्यता है, कि क्युलेक्स (Culex) या एडिस (Aedes) जाति के मच्छर तथा

पिस्सू (Sandfey) द्वारा इस दण्डक ज्वर की उत्पत्ति होती है।

यह ज्वर दण्ड मारने के समान अस्थि सन्धियों में भयंकर पीड़ा होकर अकस्मात् आ जाता है। इस ज्वर में विसर्प के सदृश त्वचा लाल हो जाती है और ऊपर उठे हुए लाल रंग के चकत्ते (Rash) हो जाते हैं। ये स्फोटक तीसरे या चौथे रोज उत्पन्न होते हैं, और स्वतः ही शीघ्र लीन हो जाते हैं। क्वचित् २-३ दिन तक रहकर मुर्झा जाते हैं। मुर्झाने पर उस स्थान से भूसी-सी निकलती है।

क्वचित किसी की देह श्याम हो जाती है। यह ज्वर १-२ दिन रहकर शमन हो जाता है और फिर ३-४ दिन बाद आ जाता है। रक्त के चकत्ते भी क्वचित् हो जाते हैं। कण्ठ में वेदना, सन्धिशूल और शिरःशूलादि उपद्रव तो ज्वर के साथ रहते ही हैं। प्रतिश्याय और कास भी हो जाती है। बहुधा यह ज्वर ८ वें दिन चला जाता है। फिर भी कई दिनों या मास तक हड्डियों में पीड़ा बनी रहती है, जिससे मनुष्य सम्यक् प्रकार से नहीं चल सकता। इस ज्वर में हड्डियों को अधिक हानि होती है, इस हेतु से इस ज्वर को डाक्टरी में ब्रेक-बोन फीवर (Break-Bone Fever) भी कहते हैं।

रूप—पहले एक सन्धि में पीड़ा होती है, फिर एक के पीछे एक अथवा अकस्मात् सब सन्धिओं में भयंकर पीड़ा होकर ताप का प्रारम्भ हो जाता है। ताप आने के पहले अङ्गमर्द और ग्लानि कुछ समय तक रहती है, फिर शीत लगकर ज्वर आ जाता है। कनपटी और कमर में अति वेदना, सन्धि-स्थान और स्नायुओं में भयंकर पीड़ा, नेत्र और मुँह लाल हो जाना, मलावरोध और क्वचित् फुफ्फुसों में शोथ इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

इस ताप में १०२ से ४ डिग्री तक उष्णता बढ़ जाती है। फिर भी नाड़ी की गति न्यून रहती है। ताप उतरने के समय प्रस्वेद और अतिसार हो जाता है, क्वचित् नाक में से रक्त आ जाता है तथा रोगी ताप उतर जाने पर अतिशय अशक्त हो जाता है।

भारत में आनेवाले युरोपियनों को साप्ताहिक ज्वर (सातवें दिन

आनेवाला ताप (Seven day Fever) में बहुधा इस डेंग्यु फीवर के सदृश लक्षण प्रतीत होते हैं।

कितनेक रोगियों को यह ताप वार-वार आता रहता है और इनमें से कइयों की श्लेष्मल त्वचा में से रक्तस्राव भी होता रहता है।

अनेक चिकित्सकों ने सन्धिक सन्निपात को दण्डक ज्वर माना है।

इस रोग का चयकाल २ से ६ दिन तक और शमनकाल बहुधा ३ से ५ दिन तक का है।

दण्डक और इन्फ्ल्युएञ्जा, ये दोनों वात श्लेष्म प्राधान ज्वर हैं; किन्तु इन्फ्ल्युएञ्जा में प्रारम्भ से ही जुकाम रहता है और दण्डक के प्रारम्भ में जुकाम नहीं होता। इन्फ्ल्युएञ्जा में सन्धियों में अधिक पीड़ा नहीं होती; परन्तु इस दण्डक ज्वर में सन्धियों में भयङ्कर वेदना होती है। इनके अतिरिक्त इस ज्वर में विसर्प सदृश लाल रंग के चकत्ते भी हो जाते हैं। इन हेतुओं से दोनों ज्वरों का भेद हो जाता है।

दण्डक ज्वर चिकित्सा।

इस दण्डक ज्वर में मुख्य वात-श्लेष्महर चिकित्सा की जाती है। सन्धियों में पीड़ा हो, तो सन्धि-स्थानों पर नमक मिलाये हुए गरम जल से सेक करें; और आफरा हो, तो पेट पर सेक करें।

मलावरोध हो, तो—एरंड तैल की एनिमा देकर कोष्ठशुद्धि करलें।

ताप तीव्र हो, तब तक दूध पर रक्खें। दोपहर को अंगूर, संतरा या मुसंबी का रस दें।

ताप उतारने के लिये—(१) लक्ष्मी नारायण रस (र० ३८८) दशमूल क्वाथ के साथ अथवा तुलसी, ब्राह्मी, गिलोय, नीम की अंतर छाल, कड़वे परवल, नागरमोथा और धमासा, इन ७ औषधियों के क्वाथ के साथ दिन में २ समय दें।

(२) पञ्चवक्त्र रस (र० ३८४) या मृत्युञ्जय रस (र० ३८५) बेलपत्र का स्वरस और शहद के साथ दिन में २ समय देते रहें।

(३) वात-कफज्वर में लिखी हुई औषधियाँ रत्नगिरी रस, संजीवनी, जया-जयन्ती वटी, सुदर्शन चूर्णादि इस रोग पर लाभदायक हैं।

डाक्टरी में सोडियम सेलिसिलास (Sodii Salicylas) १० से २० ग्रेन तक दिन में ३ समय जल के साथ दिया जाता है। यह औषधि ज्वरघ्न, स्वेदल, मूत्रल, अम्लता दूर करने वाली, रोपण और जन्तुघ्न है। तीक्ष्ण आमवात, दण्डक ज्वर, वातरक्त, शिरदर्द, न्युमोनिया, इन्फ्ल्युएञ्जा, यकृद्विकार, पित्ताशय में अश्मरी, मधुमेह और विसर्पादि रोगों में उपयोगी है।

निम्नलिखित औषधियों का मिश्रण भी दिया जाता है।

सोडी वाईकार्ब	Sodii Bicarb	१ ड्राम
सोडी सेलिसिलास	Sodii Salicylas	३० ग्रेन
लाइकर एमोनिया एसिटास	Liq. Ammon. Acet.	६ ड्राम
एक्सट्रेक्ट ग्लीसराइझा लिकिड	Ext. Glycyrriza Liq.	½ ड्राम
स्पिरिट क्लोरोफॉर्म	Spirit Chloroform	१॥ ड्राम
एक्वा कॅम्फर	Aqua Camphora ad	३ औंस तक

इन सबको मिलाकर दिन में तीन बार १-१ औंस पिलाते रहें।

मच्छरों को दूर करने के लिये—गन्दगी को दूर करें, प्रातः-सायं धूप करें। दिन में सूर्य का प्रकाश आने के लिये खिड़की और दरवाजा खुला रखें। इनके अतिरिक्त जन्तुघ्न प्रवाही दीवार पर छिड़कते रहें; और रात्रि को मच्छरदानी लगा कर सोवें।

(१८) कर्णमूलिक ज्वर।

कर्णमूलिक ज्वर—पाषाणगर्दभ-मम्प्स-पेरोटाइटिस Mumps or Parotitis)।

माधव निदानोक्त लक्षण—वात और श्लेष्म प्रकोप से हनु (ठोड़ी) के सन्धि-स्थानों पर स्थिर (कठिन) या मन्द पीड़ावाला, स्निग्ध शोथ होता है, उसे पाषाणवत् कठिन होने से प्राचीन आचार्यों ने पाषाणगर्दभ कहा है।

सिद्धान्त निदानोक्त लक्षण—पहले एक कान के मूल के पास शोथ होकर, फिर एक-दो रोज में दूसरे कान पर शोथ हो जाता

है। पश्चात् सामान्य ताप आ जाता है। पीड़ा, शोथ और ताप ५-६ दिन में दूर हो जाते हैं। ७-८ दिन के बाद अनेकों को बहुधा वृषण पर दाह-शोथ हो जाता है। स्त्रियों के गर्भाशय के पास रहने वाले दोनों बीज-कोषों (Ovaries) पर या कभी-कभी स्तनों पर भी शोथ हो जाता है, और वह लगभग १० दिन में दूर हो जाता है।

यह ज्वर तीव्र, संक्रामक, कीटाणुजन्य और फैलनेवाला है; किन्तु इस रोग के कीटाणु अभी तक नहीं मिले हैं। यह ज्वर विशेषतः बालकों को और कभी युवाओं को भी हो जाता है। बहुधा यह रोग शीतकाल में ही होता है। इस रोग में लाला ग्रन्थियों* पर, इनमें भी विशेषतः कर्णमूलिका ग्रन्थियों पर दाह-शोथ होता है। गले की गाँठों पर पत्थर जैसे कड़े शोथ के हो जाने से चाबने और गिटने में त्रास होता है। श्वासोच्छ्वास में दुर्गन्ध आती है। जिह्वा सफेद हो जाती है। कीटाणु-प्रवेश हो जाने पर २-३ सप्ताह का समय चयकाल में लग जाता है।

उपद्रव—वृषण का दाह-शोथ बड़े मनुष्य को होता है। कचित् वृषण नष्ट हो जाता है। स्त्रियों में स्तनों और योनि-मुख पर शोथ हो जाता है। किसी को बधिरता या मस्तिष्कावरण का दाह भी होता है।

कर्णमूलिक ज्वर चिकित्सा।

यह कर्णमूलिक ज्वर प्रायः स्वयमेव चला जाता है। रोगी आराम से रहे, तो अण्डशोथ की उत्पत्ति का भय कम रहता है। यह

---

* लाला ग्रन्थियाँ—मुख के भीतर दोनों ओर ३-३ मिलकर ६ लाला ग्रन्थियाँ हैं। एलोपैथिक में इनको सेलाइवरी ग्लेन्ट्स (Salivary Glands) कहते हैं। दो कर्णमूलिका, दो हनु अधरिया, दो जिह्वा अधरिया, ये ६ ग्रन्थियाँ हैं। इनमें से लाला झरती है, जो भोजन को चाबने और भिगोने में सहायक होती है।

इन ६ ग्रन्थियों में से कर्णमूलिका (पेरोटिड ग्लेन्ड्स Parotid Glands) बड़ी हैं। एक एक का वजन २ से ३ तोले तक होता है। इसका देखाव रुई के गोले सदृश होता है। इन ग्रन्थियां में शोथ आ जाता है। किन्तु इनमें पीप नहीं होता; दुर्भाग्य से क्वचित् पीप हो जाय, तो कह नहीं सकते।

संक्रामक रोग होने से दूसरे बच्चों को रोगी से पृथक् रखना चाहिये।

मृदु विरेचन और ज्वरहर सामान्य औषधि देने से शान्ति बनी रहती है। गाँठों पर स्वेदन देकर दोपघ्न लेप का लगाना विशेष हितकारी होता है।

दोष शमनार्थ—(१) स्वादिष्ट विरेचन चूर्ण (र० ५६० ताप न हो, तो दें) अथवा ज्वरकेसरी वटी (र० ३७३) देने से कोष्ठ शुद्धि होती है।

(२) संजीवनी वटी (र० ५४०), करंजादि वटी (र० ५४४) या गोदन्ती भस्म (र० २२६) दिन में २ या ३ समय देते रहें।

(३) पहले खसखस के डोडे को जल में उबालकर अच्छी तरह स्वेदन दें। (सेक काल में शीतल वायु न लगने देवें।)

लगाने के लिये—(१) दोपघ्न लेप (र० ७४८), दशांगलेप (र० ७४६) या वीजपुरजटादि लेप (र० ७४६) निवाया कर लगावें।

(२) देवदारु, मैनसिल और कूठ को जल में घिस, निवाया कर लेप करें; या दूध में नमक मिला, गरम कर मोटा लेप करें।

डाक्टरी औषधि—

टिञ्चर ओपाई	Tinct. Opii	३ बूँद
ग्लीसराइन	Glycerine	१० बूँद
जल	Aqua	ad १ ड्राम तक

इस हिसाब से १० मात्रा तैयार करें। एक-एक घण्टे पर या इससे भी जल्दी देते रहने से रोग की भयंकर वेदना शमन हो जाती है।

डाक्टरी में दर्द वाले भाग पर लगाने के लिये ग्लीसराइन बेला-डोना (Glycerine Belladona) की पट्टी का उपयोग करते हैं।

सूचना—तीव्र प्रकोप हो, तो जौंकें लगा कर दूषित रक्त को निकलवा देना चाहिये।

(१६) मसूरिका ज्वर।

मसूरिका ज्वर—वसंत-शीतला-माता-चेचक-वेरियोला और स्मॉल पॉक्स Variola or Small pox।

यद्यपि प्राचीन शास्त्र में विस्फोटक और मसूरिका रोग का पृथक्-पृथक् वर्णन मिलता है, तथापि दोनों में ज्वर, रक्तविकार और पिटिकाएँ आदि अनेक लक्षण समान ही होते हैं। त्रिदोषज विस्फोटक और त्रिदोषज मसूरिका, इन दोनों के दाने बीच में नीचे और प्रान्त भाग में ऊँचे रहते हैं; इतर प्रलापादि उपद्रव भी लगभग समान होते हैं। इन दोनों रोगों को असाध्य माना है। इनके अतिरिक्त दोनों रोगों की शास्त्रीय चिकित्सा जो मिलती है वह भी एक-सी होने से एवं विस्फोटक रोग अलग प्रतीत न होने से अनुमान होता है कि विस्फोटक भी मसूरिका का ही एक भेद है।

इस रोग का वर्णन सुश्रुत-संहिता में क्षुद्र रोगों में और चरक-संहिता में श्वयथु चिकित्सा के अन्तर्गत किया गया है। यह रोग १५०० वर्ष पहले वर्त्तमान समय के समान भयप्रद नहीं था। यह रोग क्षुद्र रूप में क्वचित् प्रतीत होता था, ऐसा इतिहास से जाना जाता है। यह रोग पृथ्वी, जल और वायु के दूपित होने पर होता है और यह दूसरे संक्रामक रोगों के समान देश में सर्वत्र फैल जाता है। श्वासोच्छ्वास और वस्त्रादि के स्पर्श से दूसरों को हो जाता है, अतः इसको भी कीटाणुजन्य ही माना है। इस रोग के कीटाणु अभी तक नहीं मिल सके हैं; अतः इन कीटाणुओं को अणुवीक्षण यन्त्र से न दीखने वाले माने हैं। यह रोग विशेपतः वसन्त और ग्रीष्म ऋतु में ही होता है।

यह मसूरिका रोग किसी भी अवस्था में, किन्तु विशेपतः वाल्यावस्था में स्त्री-पुरुप, सबको हो जाता है। वहुधा यह जीवन में एक वार होता है।* मसूरिका रोग होने के पश्चात् इसका विप या कीटाणु रोगी के घर में अनेक दिनों तक रह जाता है और वह दूसरों पर आक्रमण

* जोधपुर और जैसलमेर राज्य के ऐसे मनुष्य देखे हैं, जिनको टीका नहीं निकाला गया और शीतला भी नहीं निकली है। ऐसे मनुष्य भी देखे हैं; जिनको टीका निकाला है उनको ४०-५० और ६० वर्ष की आयु हो जाने पर भी शीतला नहीं निकली। इस पर से जीवन में एक समय शीतला निकलना ही चाहिये, यह नियम दृढ़ नहीं है; ऐसा कहना पड़ता है।

करता है। इस रोग में पहले पिड़िकाएँ लाल वर्ण की होती हैं और फिर तरलमय होकर पक जाती हैं। अन्त में १५ से २० दिन के भीतर उन पर खुरण्ट आकर शनैः-शनैः नष्ट हो जाती हैं।

इस रोग के ३ प्रकार हैं। बृहद् मसूरिका, लघु मसूरिका और रोमान्तिका। इनमें से पहली बृहद् मसूरिका का विवेचन माधव निदान-कार ने इस प्रकार किया है।

बृहद् मसूरिका निदान—चरपरे, खट्टे, नमकीन या क्षार वाले पदार्थों का अधिक सेवन, विरुद्ध पदार्थों (दूध-दही, दूध-खटाई, दूध-मछली आदि) का सेवन, भोजन पर भोजन, वातादि धातुओं को प्रकुपित करनेवाले निष्पाव, शिम्बी, मटर, आलू आदि शाकों का अधिक उपयोग, दुष्ट जल या दुष्ट वायु का सेवन, शनि आदि क्रूर ग्रहों का दृष्टि दोष होने पर देशव्यापी वातावरण दूषित हो जाना, इत्यादि कारणों से वातादि दोप प्रकुपित होकर दूषित हुए रक्त के साथ मिलकर इस रोग की उत्पत्ति करा देते हैं। इस रोग में मसूर की आकृति के सदृश पिड़िकाएँ होने से इस रोग को मसूरिका कहा है।

पूर्वरूप—अकस्मात् छींकें आना, ज्वर, खुजली चलना, अंग टूटना, व्याकुलता, अरुचि, भ्रम, त्वचा पर शोथ, त्वचा का रंग बदल जाना और नेत्रों में लाली इत्यादि चिह्न बहुधा देखने में आते हैं।

शास्त्रकारों ने लक्षण भेद से इस रोग के वातज, पित्तज, रक्तज, कफज और सान्निपातिक ऐसे ५ भेद किये हैं।

वातज मसूरिका लक्षण—काले-लाल, रूक्ष, तीव्र वेदना वाले, कठिन और बहुत दिनों में पकनेवाले दाने होना, संधि, अस्थि और पर्वों में तोड़ने के समान पीड़ा, शुष्क कास, कम्प, व्याकुलता, ग्लानि, तालु, ओष्ठ और जिह्वा का शोष, तृषा, अरुचि, ये सब चिह्न वातज मसूरिका में प्रतीत होते हैं।

पित्तज मसूरिका लक्षण—लाल-पीले या सफेद रंग के दाह और तीव्र वेदना वाले तथा थोड़े ही दिनों में पक जाने वाले स्फोट, पतला मल, अंग टूटना, दाह, तृषा, अरुचि, मुखपाक, नेत्र में लाली,

तीव्र ज्वर, ये सब लक्षण पित्तप्रकोप सह शीतला में होते हैं।

रक्तज मसूरिका लक्षण—पित्तज विकार में कहे हुए लक्षण रक्तज मसूरिका में अत्यधिक बढ़े हुए होते हैं।

कफज मसूरिका लक्षण—बार बार मुँह में कफ आते रहना, देह गीला, चिकना रहना, शिर में दर्द, देह में भारीपन, उबाक, अरुचि, निद्रा, तन्द्रा, आलस्यादि सहित श्वेत-स्निग्ध और बड़े दाने; दोनों में खुजली चलना, मन्द वेदना होना और उसका पाक बहुत दिनों में होना, ये सब चिह्न कफज मसूरिका में देखने में आते हैं।

सान्निपातिक मसूरिका लक्षण—नीले, चपटे, विस्तारवाले, बीच में नीचे, अति पीड़ा वाले, बहुत दिनों में पकने वाले, दुर्गन्धयुक्त स्राववाले और सब प्रकार के दोषों से उत्पन्न बहुत स्फोट, गला पकड़ना, अरुचि, अंग जकड़ना, प्रलाप और व्याकुलता आदि लक्षण सान्निपातिक मसूरिका में होते हैं। इस प्रकार को असाध्य कहा है।

इन दोष भेदों के अतिरिक्त रस-रक्तादि दूष्य भेद से इन स्फोटों में निम्नानुसार भेद प्रतीत होता है।

रसगत मसूरिका लक्षण—त्वचा में स्थित या रसगत मसूरिका थोड़े दोषवाली जल के बुदबुदे समान रहती हैं। फूट जाने पर उनमें से जल का स्राव होता है।

रक्तगत मसूरिका लक्षण—रुधिर में प्राप्त मसूरिका लाल रंग की जल्दी पकनेवाली और पतली त्वचावाली होती है। फूटने पर उसमें से रक्त निकलता है। यदि रक्त दुष्टि अधिक नहीं हुई हो, तो साध्य माना जाता है।

मांसगत मसूरिका लक्षण—यह मसूरिका कठिन, स्निग्ध, चिरपाकी और मोटी त्वचायुक्त होती है। गात्रशूल, तृषा, खुजली, ज्वर और व्याकुलता आदि लक्षण होते हैं। इस प्रकार को कष्टसाध्य माना है।

मेदोगत मसूरिका लक्षण—गोल, मृदु, कुछ ऊँचाई वाली, स्थूल, स्निग्ध और वेदनावाली मेदोगत मसूरिका होती है। ज्वर का वेग अत्यन्त रहना, मोह, व्याकुलता और अति सन्तापादि लक्षण होते हैं; तब यह अति

कष्टसाध्य प्रकार माना जाता है। इससे कोई भाग्यशाली ही बचता है।

अस्थि और मज्जागत मसूरिका लक्षण—इस प्रकार की मसूरिका क्षुद्र, देह के समान वर्ण वाली, रूक्ष, चपटी और कुछ ऊँची होती है। अति मोह, अति वेदना, अति व्याकुलता, ये लक्षण होते हैं। जैसे भ्रमर लकड़ी को छेदता है, उस तरह यह मसूरिका मर्म स्थानों को छेदती रहती है। जब हड्डियों का वेध हो जाता है, तब रोगी को मार डालती है।

शुक्रगत मसूरिका लक्षण—यह मसूरिका पकने के सदृश प्रतीत होती है, किन्तु पकती नहीं है। यह स्निग्ध, कोमल और अति वेदनायुक्त रहती है। शरीर चिपचिपा रहना, व्याकुलता, अति संमोह, दाह और उन्माद, ये चिह्न देखने में आते हैं। इस मसूरिका को भी असाध्य माना है।

साध्यासाध्यता—त्वग्गत, रक्तगत, पित्तज, श्लेष्मज और श्लेष्म-पित्तज, ये सुखसाध्य हैं। विना चिकित्सा के ये शमन हो जाती हैं।

वातज, वात-पित्तज तथा श्लेष्म-वातज को कष्टसाध्य माना है। इसलिये इनकी सम्हालपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये।

सान्निपातिक मसूरिका जिसका रंग प्रवाल, जामुन, लोहा या अलसी के समान हो, वह असाध्य है। दोष-भेद से इस प्रकार में अनेक प्रकार के वर्ण हो जाते हैं।

उपद्रव—कास, हिक्का, प्रमेह, अति तीव्र घोर ज्वर, प्रलाप, व्याकुलता, मूर्च्छा, तृषा, दाह, अति भ्रम; मुँह, नाक और आँखों से रक्तस्राव होना, कण्ठ में से घूर घूर शब्द निकलना, वेदनापूर्वक श्वासोच्छ्वास होना, ये सब लक्षण असाध्य मसूरिका में होते हैं।

जो मसूरिका का रोगी नाक से अति श्वास ले, अर्थात् शीघ्रता से श्वासोच्छ्वास चलें, अति तृषा और वातप्रकोप से युक्त हो, वह प्राण को त्याग देता है।

मसूरिका के अन्त में हाथ की कुहनी, पोंचे, कन्धे अथवा पैरों के घुटने आदि पर दारुण शोथ के आने से रोग असाध्य हो जाता है।

सिद्धान्त निदान में परिचय, निदान, सम्प्राप्ति और रूप आदि का विवेचन निम्नानुसार किया है।

परिचय—जिस रोग में मसूर के समान पिड़िकाएँ घन होती हैं; सारे शरीर में फैल जाती हैं, जिनका पाक होता है और थोड़े ही दिनों में शमन हो जाती है, जिस व्याधि में नाना प्रकार के उपद्रवों सह दारुण ज्वर रहता है, उसको बड़ी मसूरिका और शीतला कहते हैं।

निदान सम्प्राप्ति—वायु, जल या पृथ्वी के दोष से (संक्रमण समय में तो बहुधा वायु द्वारा) या इतर रोगियों के पिड़िका आदि के संस्पर्श से इस रोग का विष वस्त्र या मुँह (कण्ठ) द्वारा भीतर प्रवेश करके वात, पित्त और कफ, इन तीनों दोषों को प्रकुपित करता है। प्रकुपित दोष घोर ज्वर और सारी देह में पिड़िकाएँ उत्पन्न कर पिड़िका द्वारा विष को बाहर फेंकते हैं। जब विष का क्षय हो जाता है; तब पिड़िकाएँ पककर नष्ट हो जाती हैं। दोष प्रकोप की न्यूनाधिकता और विष के बलाबल के अनुसार पिड़िकाएँ दूर, समीप या अति समीप (गाढ़ी) एवं रक्तपूर्ण निकलती हैं।

रूप—इस रोग में शीत, कम्प और शिरःशूल सह ज्वर का प्रारम्भ होकर वह बढ़ता है। कमर और पीठ में अति वेदना होती है। मोह, प्रलाप, निद्रानाश, मलावरोध, वमन, छोटे बालकों में कम्प और इतर इन्द्रिय नाशादि उपद्रव हो जाते हैं; एवं इस अवस्था में कभी मृत्यु भी हो जाती है।

बहुधा तीसरे दिन ज्वर कम हो जाता है और कठोर पिड़िकाएँ त्वचा के नीचे स्पष्ट देखने में आ जाती हैं। मस्तिष्क, ललाट और मणिबन्ध पर उत्पन्न होकर मुँह पर (गले तक) और देह पर (कभी आमाशयादि पर भी) क्रमशः हो जाती हैं और अन्त में पैरों पर उतरती हैं। छठवें दिन पिड़िकाएँ जल से भर जाती हैं। आठवें दिन पूय हो जाता है और फिर विष कम होने पर ताप और इतर उपद्रव शनैः-शनैः कम हो जाते हैं। प्रायः १२ वें दिन पिड़िकाएँ सूख जाती हैं।

एक पक्ष होने पर पिड़िकाएँ स्वयं नष्ट हो जाती हैं और ३ सप्ताह

होने पर रोगी स्वस्थ हो जाता है। किन्तु अति प्रकोप होने पर प्रायः त्वचा पर चिह्न जीवन तक रह जाते हैं।

इस रोग में मलावरोध प्रायः बना रहता है; जिह्वा बहुत शुष्क और मैली हो जाती है। नाड़ी तीव्र और स्थूल चलती है। दूसरे-तीसरे दिन ताप १०३ से १०४ डिग्री तक हो जाता है। वह पिड़िकाएँ निकलने पर (१०० डिग्री तक) कम हो जाता है। ये पिड़िकाएँ प्रान्त भाग में ऊँची और बीच में नीची रहती हैं। पुनः सातवें दिन से पूय बनने पर ताप १०४ डिग्री तक या इससे भी अधिक हो जाता है। फिर पीप सूखने लगता है, तब ताप शनैः-शनैः कम होकर १५-१६ दिन में शमन हो जाता है। इस रोग से बहुधा ३० प्रतिशत रोगियों की मृत्यु हो जाती है। इनमें भी बालकों की हानि अधिक होती है।

डाक्टरी में इस रोग के निम्न ४ प्रकार किये हैं।

(१) सौम्य मसूरिका—(मॉडीफाइड Modified) के दाने जल से भरे हुए रहते हैं; ताप और इतर लक्षण सौम्य होते हैं तथा इसमें ५-७ दिन में ही खुरण्ट आ जाते हैं।

(२) पृथक् मसूरिका—(डिस्क्रीट Discrete) की पिडिकाएँ किसी जगह अधिक तो किसी जगह में कम और दूर होती हैं। इसमें ७-८ दिन में पीप पड़ने का प्रारम्भ होकर ११-१२ दिन में पूय पूरा बन जाता है। फिर मुर्झाने लगता है और ४-५ दिन में खुरण्ट आ जाता है।

(३) सम्मिलित मसूरिका—(कॉनफ्लुएण्ट Confluent) में मसूरिका इतनी अधिक (घन) निकलती हैं कि वे एक दूसरे से मिल जाती हैं। विशेषतः मुँह और हाथ पर दाने मिल जाने से शोथ आ जाता है। इस प्रकार में प्रायः रोगी की मृत्यु हो जाती है।

(४) रक्तस्रावी मसूरिका—(हिमोर्हेजिक Haemorrhagic) में दानों का रंग काला हो जाता है। उपत्वचा, श्लेष्मकला तथा मुँह, गुदा या मूत्रेन्द्रिय से रक्तस्राव होता है। अथवा मसूरिका में से और श्लेष्मत्वचा में से रक्तस्राव होता है। इस प्रकार में बहुधा हृदयावरोध होकर मृत्यु हो जाती है।

इनके अतिरिक्त कभी पिड़िकाओं के गुच्छे बन जाते हैं, किन्तु ऐसा क्वचित् ही होता है।

मुँह पर मसूरिका अल्प संख्या में हों, तो रोग बहुधा साध्य होता है; और मुँह पर जब पिड़िकाएँ घन (गाढ़ी) हो जाती हैं तब रोग को घातक माना जाता है। मसूरिका और रोमान्तिका होने से पहिले ज्वर-काल में पिटिका निकलने से पहले हथेली सूंघने से एक प्रकार की गंध आती है, इस पर से उस रोग की उत्पत्ति का बोध हो सकता है।

उपद्रव—इस रोग में नेत्र गोलक (Cornea) की श्लेष्म त्वचा में दाह-शोथ और व्रण, नेत्रशुक्र, क्वचित् अंधत्व, कर्णदाह शोथ, फुफ्फुस-दाह, कास, वृषणदाह, वृक्कदाह, रक्तस्राव, कोथ, विसर्प, संधिस्थानों में शोथ, व्रण, विद्रधि और इन्द्रलुप्तादि उपद्रव हो जाते हैं।

कृतक मसूरिका और गोमसूरिका—(चेचक का टीका)—प्राचीन काल में मसूरिका (शीतला) रोग के निवारणार्थ मनुष्य की बृहद्मसूरिका की शुष्क त्वचा को ले, विधिपूर्वक स्वस्थ मनुष्य की त्वचा या नासापुट पर घिस, रक्त में प्रवेश करा, मसूरिका के समान कितनीक पिड़िकाएं कराते थे। किन्तु इससे कभी-कभी मृत्यु हो जाती है।

गोमसूरिका—कृतक मसूरिका की तरह वर्त्तमान में (गौ के स्तनों पर मसूरिका उत्पन्न करा उस) के रस द्वारा रोग प्रतिषेधार्थ बाहु पर चेचक का टीका (वॅक्सीनिया Vaccinia) निकाला जाता है। इससे ५–६ दिन बाद उस स्थान पर पिड़िकाएँ हो जाती हैं और १५ दिन में शमन हो जाती हैं। इस विधि में २–३ दिन तक ताप बना रहता है। किन्तु इसमें मृत्यु नहीं होती।

इन दोनों में पहला प्रतिषेध जीवन पर्यन्त रहता है और दूसरा (गोमसूरिका वाला) २–३ वर्षों में निष्फल हो जाता है।

ई० स० १८८० से भारतवर्ष के लिए शीतला का टीका निकालना सरकार ने क़ानूनन अनिवार्य कर दिया है। किन्तु यह हितकर है, या हानिकर, यह विवादास्पद है। सुनने में आता है कि यूरोप के जर्मनी आदि देशों में टीका निकालने या न निकालने में राज्य की ओर से किसी प्रकार का बन्धन नहीं है।

शीतला से रक्षण करने के लिये टीका द्वारा विष रक्त में मिलाया जाता है। वही पहले दुश्मन का कार्य करता है। उसको बाहर निकालने के लिये जीवनीय शक्ति को (देह के अंग-प्रत्यंगों को सुदृढ़ बनाने का कार्य छोड़) युद्ध करना पड़ता है। जिससे ताप आ जाता है, और बढ़ती हुई शक्ति के मार्ग में प्रतिबंध हो जाता है। जैसे लड़ाई होने पर जीतने वाले पक्ष की सेना कुछ-न-कुछ अंश में मरती ही है। इस तरह भीतर की शक्ति भी एक समय कम हो ही जाती है। फिर बल-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करती है। किन्तु जैसे बीज बोने के पश्चात् अंकुर निकलने पर विघ्न डाल दिया जाय, तो बड़ा वृक्ष होने पर उसका विकास कुछ कम ही होता है। इस तरह बाल्यावस्था में शीतला के टीका रूप विघ्न आजाने से पूर्ण विकास में न्यूनता ही रहती है।

टीका लगवाकर अपनी रक्षा की जाय; इसकी अपेक्षा तो जीवनीय शक्ति को बलवान् बनाकर रक्षा करना ही श्रेष्ठ और हितकर माना जायगा।

विलायत में सन् १९३१ दिसम्बर में हिसाब लगाने पर इस रोग से टीका न निकाले हुए ऐसे ५ वर्ष से कम आयु के १०५ बालकों की मृत्यु हुई है, तब इसी रोग से शीतला के टीके निकाले हुए २६२ बालकों की मृत्यु हुई है।

सन् १९२८ में जर्मनी में विशेषज्ञों की कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार शीतला के टीके निकालने का कायदा बन्द किया गया है। इसी तरह डच सरकार ने भी १९२८ में इस प्रथा का त्याग कर दिया; तथा उसी साल कार्डिफ में मिली हुई ब्रिटिश मेडिकल एसोसिएशन की सभा में प्रोफेसर टर्नबुल और मेकिनटोश, इन दोनों ने इस विषय पर निबंध पढ़कर नया प्रकाश डाला है। इसी पर से इङ्गलैंड की सरकार ने भी ४ चिन्हों के बदले एक चिन्ह करने का ही जाहिर किया है, और प्रारम्भिक पाठशालाओं में पढ़ने वाले विद्यार्थियों में से जिनको संक्रामक रोग न हुआ हो, उनको शीतला के टीके निकालने के नियम से मुक्त कर दिया है।

चार चिन्ह के बदले एक चिन्ह कराने पर भी मस्तिष्क और ज्ञानतंतुओं पर अति खराब असर हुआ, और बालक की मृत्यु-संख्या भी अधिक आई। ऐसा निर्णय करके लिस्टर इन्सटीट्यूट के डाइरेक्टर डॉ० लेडिङ्गहाम ने १९३२ के जुलाई मास में ब्राइटन में मिली हुई रॉयल सेनीटरी इन्सटीट्यूट की काँग्रेस में स्पष्ट शब्दों में कह दिया, कि स्कूलों में पढ़ने वाले बालक अथवा बड़ी आयु वाले विद्यार्थी कदाच शीतला के सामान्य आक्रमण का भोग हो जायेंगे; तो भी मैं उनको शीतला के टीके निकालने का आग्रह नहीं करूँगा।

यद्यपि धन्वन्तरि संहिता में लिखा है कि:—

धेनुस्तन्यमसूरिका नराणां च मसूरिका।
तज्जलं वाहुमूलाच्च शस्त्रांतेन गृहीतवान्॥
वाहुमूले च शस्त्राणि रक्तोत्पत्तिकराणि च।
तज्जलं रक्तमिलितं स्फोटकज्वरसंभवम्॥

इस वचन से गोमसूरिका और कृतक मसूरिका के टीका की प्राचीनता विदित होती है ; तथापि हमारे मित्र भिषक्केसरी श्री गोवर्धन शर्मा छांगाणी प्राणाचार्य उपर्युक्त श्लोकों को प्राचीन नहीं मानते अपितु प्रक्षिप्त तथा पीछे से गढ़े हुए मानते हैं। कदाचित् यह प्रथा प्राचीन हो, तो भी मानव समाज के लिये अधिक हितकर न होने से या हानिकर होने से इस विधि का परित्याग हुआ है।

समाज में से सामान्य बुद्धि से जानी जाय, ऐसी प्रथाओं के लोप होने में निम्नलिखित ४ हेतु हो सकते हैं।

(१) विधि पालन में अधिक कष्ट या विघ्न का अधिक भय।
(२) केवल संकोचित वृत्ति वाले विद्वानों के पास ही विद्या का रहना।
(३) कठोर राज-शासन।
(४) स्वल्प लाभ या हानि या संदिग्ध फल।

इनमें से सामान्य क्रिया होने से पहला कारण नहीं हो सकता। स्वार्थ-सिद्धि के साधन रूप या गम्भीर तत्त्वदर्शक क्रिया न होने से दूसरा कारण भी नहीं वन सकता। सामाजिक नीति विरुद्ध न होने से तीसरा कारण भी नहीं कह सकते। तीसरा कारण हो, तो इतिहास से भी जाना जाता। परिशेष से कहना पड़ता है, कि चतुर्थ कारण संदिग्ध फल या हानि का अनुभव होने से ही इस प्रथा का लोप हो गया है।

शीतला प्रतिबंधक उपाय—(१) यदि प्रसव के पश्चात् नाल छेदन के समय बच्चे की नाल में एक-दो चावल कस्तूरी रख दी जाय, तो उसे बहुधा चेचक नहीं निकलता।

(२) चेचक के प्रकोप काल में बड़े रुद्राक्ष को जल में घिसकर एक सप्ताह पर्यन्त रोज सुबह पीते रहने से चेचक का भय नहीं रहता; अथवा रुद्राक्ष और काली मिर्च का चूर्ण १ माशा तक, ७ दिन तक वासी जल के साथ देते रहने से मसूरिका रोग नहीं होता। अथवा वन केले के ७-८ बीजों का चूर्ण दूध के साथ देने से मसूरिका रोग नहीं होता।

(३) रोगी के पास बच्चों को नहीं जाने देना चाहिये। एवं उपदंश,

कुष्ठ, रक्तविकार के रोगी, रजस्वला या अपवित्र मनुष्य को भी रोगी के पास नहीं जाना चाहिये।

(४) परिचर्य्या करनेवाले को भी बाहर इतर मनुष्यों के पास नहीं जाना चाहिये।

(५) शरीर, वस्त्र, भोजन और स्थानादि की सफाई का पूर्ण लक्ष्य रखना चाहिये। मक्खियों को घर में न आने दें। रोगी के कमरे में अधिक सामान न रखें।

(६) कमरे में प्रातः-सायं या अधिक बार धूप करना चाहिये।

(७) कमरे में सूर्य का ताप कुछ समय तक आ जाने से वायु शुद्ध होती है। द्वार पर रोज ताजे नीम की टहनियाँ बाँधते रहें। यदि खिड़की पर लाल कपड़ा लटका कर रोगी के शरीर पर कुछ समय तक रोज रक्त प्रकाश आने दें, तो वह हितकर है। किन्तु रोगी को धूप न लगने दें।

(८) मसूरिका के दाने सब सूखकर खुरण्ट न उतर जाय; तब तक रोगी को स्नान नहीं कराना चाहिये।

(९) आहार-विहार में पथ्य पालन का पूर्ण लक्ष्य रखना चाहिये। रोग शमन के पश्चात् भी १ मास तक पथ्य पालन करना चाहिये।

(१०) पिड़िका पर से खुरण्ट उतरते रहते हैं, तब तक रोगी रोग फैलाने के साधन रूप हैं; अतः और बच्चों को रोगी के पास नहीं जाने देना चाहिये।

पिड़िकाएँ नहीं निकलतीं, तब तक रोग का परिचय नहीं हो सकता। इस हेतु से जो डाक्टर-वैद्य रोग निर्णय होने से पहले विषम ज्वर मान कर क्वीनाइन अथवा इतर त्रिदोषज ज्वर मानकर तीव्र ज्वर शामक औषधियाँ देते हैं, वे रोग को अधिक प्रकुपित कर देते हैं।

सूचना—रोगी के मल-मूत्र पर राख या चूना तुरन्त डालकर बाहर खड्डे में गाड़ देना चाहिये।

मसूरिका निकलने से पहले सौम्य पाचन औषधि दी जाय, तो आपत्ति नहीं आती। मसूरिका के दाने करवट बदलने पर या खुजाने से कोई टूट न जाय; इस बात का ख़याल रखना चाहिये; कारण दाने टूटने

पर विष प्रकुपित होकर अधिक त्रास पहुँचाता है। इतना ही नहीं, वही दाना बड़ा रूप धारण कर लेता है और रोग के शमन हो जाने पर भी दाने का चिह्न रह जाता है।

छोटे बालक को यह रोग होने पर परिचारक को इस बात का लक्ष्य रखना चाहिये कि बालक खुजाकर दाने तोड़ न डाले।

रोगी को नमक न दें। क्योंकि नमक खाने से खाज अधिक होती है; ऐसे ही मिर्च देना भी हानिकर है।

तैल, मिर्च, तेज खटाई, तमाखू, धूम्रपान, बासी पदार्थ और रक्त को दूषित करने वाले पदार्थ २-३ मास तक नहीं खाना चाहिये।

अधिक रक्त दूषित हुआ हो, तो रक्त मोक्षण कराना चाहिये।

ज्वर तीव्र हो, तो केवल दूध पर रक्खें। ज्वर कम होने पर दूध-चावल या दूध-दलिया देवें।

रोगी नेत्र न खोल सकते हों, तो नित्यप्रति सम्हालपूर्वक नेत्र खुलवाना चाहिये। थोड़े समय तक मन्द प्रकाश में खुले रहने देवें तो नेत्र में व्रण होने का भय कम रहता है।

मसूरिका चिकित्सा विधि।

हो सके तो यह मसूरिका (शीतला) ज्वर आने से पहले वमन-विरेचन देकर रोगी के शरीर की शुद्धि कर लेनी चाहिये। शरीर शोधन हो जाने से विना उपद्रव दाने निकल, पककर शमन हो जाते हैं।

यदि रोगी बलवान् है, तो वमन के पश्चात् विरेचन औषधि दें। किन्तु निर्बलों को शमन औषधि दें। ताप आ जाने के बाद विरेचन नहीं देना चाहिये। यदि विरेचन की आवश्यकता हो, तो गुदा में ग्लीसराइन की वत्ती चढ़ाकर बालकों की मलशुद्धि करा देवें।

इस रोग में हृदयावरोध होकर अनेक बालक चले जाते हैं, इसलिये प्रारम्भ से ही हृदयपौष्टिक औषधि देते रहना चाहिये।

कुष्ठ रोग पर कही हुई लेपनादि क्रिया और कफ-पित्त प्राधान्य विसर्प पर जो चिकित्सा कही है; वह इस रोग में भी लाभदायक है। कुष्ठ रोग में कहे हुए पंचतिक्तक घृत का उपयोग खाने, पीने और

मालिश के लिये किया जाता है।

इस व्याधि में गरम करके शीतल किया हुआ जलपान और औषधियों का शीतल क्वाथ (हिम) देना चाहिये। जल गरम करने के समय खैर और विजयसार की छाल मिला लेना विशेष हितकर है।

विष को वाहर निकालने और ताप को पचन कराने के लिये नागरादि पाचन (र० ६२२) या इतर पाचन औषधि प्रारम्भ में देनी चाहिये।

शीतला का पाक सत्वर होने के लिये—(१) मसूरिका की पिड़िकाओं के पाक काल में गिलोय, मुलहठी, मुनक्का, ईख की जड़ और अनारदाने, इनको पीस, गुड़ मिला कर दें अथवा सबका क्वाथ कर, फिर गुड़ मिला कर देने से वात प्रकोप नहीं होता और सरलता से दाने पक जाते हैं।

(२) वेर का चूर्ण घी मिला कर देने से भी वातज, पित्तज और कफज शीतला का सत्वर पाक हो जाता है।

(३) सब प्रकार की मसूरिका में परवल, नीम और अडूसा, तीनों के पानी को मिला, क्वाथ कर उसमें वच, कुड़े की छाल, मुलहठी और मैनफल का कल्क मिलाकर वमन कराने के लिये पिलाना हितकर है।

(४) करेले के पत्तों के ४ तोले रस में ३ माशे हल्दी मिलाकर पिलाने से वमन-विरेचन होकर देह शुद्ध होती है और रोमान्तिका, विस्फोटक और मसूरिका का विष दूर होता है।

(५) वनकेले के ७ बीजों का चूर्ण कर शहद या दूध के साथ देने से शीतला नहीं निकलती। यदि माता निकलने पर भी खिलाया जाय, तो भी अधिक त्रास नहीं होता।

(६) छोटे वालक को शीतला निकलने पर गधी का दूध पिलाना हितकर है।

(७) रुद्राक्ष और काली मिर्च का चूर्ण वासी जल के साथ देने से मसूरिका रोग नष्ट हो जाता है।

मसूरिका शामक धूप—(१) वच, घी, बाँस, नील, जौ, अडूसा, वन कपास के विनौले, ब्राह्मी, तुलसी, अपामार्ग के पान और

लाख, इन ११ औषधियों को मिला लें, फिर निर्धूम गोवरी की अग्नि पर डाल, धूंआ देने से रोमान्तिका और मसूरिका आदि रोग शमन हो जाते हैं।

(२) राल, हींग और लहसन की धूप देने से पिटिका के कृमि मर जाते हैं।

(३) सरल, देवदारु, अगर और गूगल की धूप देने से मसूरिका शान्त होती है।

यदि शीतला मुँह पर अधिक निकले, तो मुँह पर कच्चे दूध में भिगोया कपड़ा रखने से नेत्र को हानि नहीं पहुँचती और मसूरिका के दाग भी नहीं रहते।

मसूरिका निकलने के पहले दोष पाचनार्थ—रत्नगिरी रस (र० ३७६) धनियाँ और मिश्री के हिम के साथ दो दिन तक दिन में २ समय देते रहने से विप सत्वर वाहर निकलता है और त्रास कम होता है। साथ-साथ प्रवालपिष्टी २-२ रत्ती दिन में ३ समय शहद के साथ दें और इसका सेवन अन्त तक चालू रखें।

वातज मसूरिका चिकित्सा।

(१) दशमूलादि क्वाथ—दशमूल, रास्ना, दारुहल्दी, खस, धमासा, गिलोय, धनिया और नागरमोथा, इन १७ औषधियों का क्वाथ कर, दिन में २ समय पिलाते रहने से वातज मसूरिका शमन हो जाती है।

(२) गुडूच्यादि क्वाथ—गिलोय, मुलहठी, रास्ना, लघु-पंचमूल, रक्तचन्दन, गम्भारी के फल, खरैंटी की जड़ और कत्था, इन १२ औषधियों को मिला, क्वाथ कर पाक-काल में पिलाने से दाने विना कष्ट पक जाते हैं।

(३) दानों का पाक हो जाने के पश्चात् वातप्रकोप वहुधा हो जाता है, अतः पाक होने पर पटोलादि क्वाथ (र० ६३७) देते रहना चाहिये।

(४) यदि वातप्रकोप हो जाय, तो सूतशेखर रस (र० ५०६

वात-पित्त प्रकोप हो, तो) या महा वातविध्वंसन रस (र० ४६१ केवल वातात्मक हो, तो) पटोलादि क्वाथ के साथ देते रहें।

पित्तज मसूरिका चिकित्सा।

(१) द्राक्षादि क्वाथ—मुनक्का, गम्भारी, खजूर, परवल के पत्ते, नीम के पत्ते, अड़ूसा के पत्ते, खील, आँवला, धमासा, इन ६ औषधियों का क्वाथ कर मिश्री मिलाकर दिन में ३ समय पिलाते रहने से पित्तज मसूरिका की वेदना शमन हो जाती है।

(२) निम्बादि क्वाथ—नीम की अन्तरछाल, पित्तपापड़ा, पाठा, परवल के पत्ते, कुटकी, अड़ूसा, धमासा, आँवले, खस, सफेद चन्दन, लालचन्दन, इन ११ औषधियों का क्वाथ कर, मिश्री मिलाकर पिलाने से पित्तप्राधान्य मसूरिका, त्रिदोपज मसूरिका, ज्वर, विसर्प और मसूरिकाजन्य उपद्रव, ये सब दूर होते हैं।

कफज मसूरिका चिकित्सा।

(१) दुरालभादि क्वाथ—धमासा, पित्तपापड़ा, चिरायता और कुटकी का क्वाथ कर पिलाने से कफज और पित्तज मसूरिका शमन होती है।

(२) वासादि क्वाथ—अड़ूसा, नागरमोथा, चिरायता, त्रिफला, इन्द्रजौ, धमासा, कड़वे परवल के पत्ते और नीम की अन्तर-छाल, इन १० औषधियों का क्वाथ कर दिन में २ समय पिलाते रहने से कफज मसूरिका नष्ट होती है।

दाह शमनार्थ—(१) वासी जल में शहद मिलाकर पिलाने से जलन और मसूरिकाएँ नष्ट हो जाती हैं।

(२) प्रवालपिष्टी २-२ रत्ती दिन में ३ समय गुलकन्द या गिलोय-सत्व और शहद के साथ देने से दाह, विप और तीव्र ज्वर में शान्ति रहती है।

(३) सिरस, गूलर, पीपल, ल्हिसोड़े, वड़ और कूड़ा, इन वृक्षों की छाल, को कूट कपड़-छान चूर्ण कर कल्क करें। फिर घी मिलाकर

लेप करने से व्रण, फोले और दाह सत्वर नष्ट होते हैं।

(४) निशादि लेप—हल्दी, दारुहल्दी, खस, सिरस की छाल, नागरमोथा, लोध, सफेद चन्दन, नागकेशर, इन ८ औषधियों को जल में पीस कर लेप करने से विस्फोटक, विसर्प, कुष्ठ, दुर्गन्ध, स्वेद और रोमान्तिका, ये सब दूर होते हैं।

बिजौरा की केशर को काँजी में पीसकर लेप करने से मसूरिका का पचन सत्वर होता है; और दाह कम हो जाता है।

शूल, आफरा, कम्पादि उपद्रव हों, तो—जंगली प्राणियों का मांसरस सैंधानमक मिलाकर पिलावें।

अरुचि हो, तो—(१) अदरख का कवल धारण करें या अनारदानों का रस मिला हुआ यूष पिलावें।

(२) छोटी पीपल और हरड़ का चूर्ण शहद के साथ चटाने से कण्ठ शुद्धि होती है।

(३) अष्टांगावलेहिका चटावें।

मुख या कण्ठ में फाले हो जायँ, तो—चमेली के पत्ते, मजीठ, दारुहल्दी, चिकनी सुपारी, शमी (खेजड़े) की छाल, आँवला और मुलहठी, इन ७ औषधियों का क्वाथकर शहद मिला लें। फिर उससे कुल्ले करावें। इस क्वाथ को जातीपत्रादि क्वाथ कहते हैं।

नेत्ररक्षा के लिये लेप और आश्च्योतनार्थ—(१) एरंड तैल एक-एक बूँद नेत्र में डालते रहें।

(२) मधुकादि लेप दूसरी विधि (र० ७४६) नेत्र में डालें और बाहर लेप भी करें।

नेत्र में शुक्र हो जाने पर—गधे की दाढ़ शहद में घिस, कपूर मिला, प्रातः-सायं अंजन करते रहने से थोड़े ही दिनों में फूला कट जाता है।

फूटी हुई मसूरिका पर—(१) वड़, पीपल, गूलर, पिलखन और पारस पीपल, इन ५ वृक्षों की छाल का चूर्ण बुरकावें।

(२) उपलों की राख को कपड़ छानकर बुरकाते रहें।

फूटे हुए दानों को धोने के लिये—(१) पंचवल्कल क्वाथ

या नीम के पत्तों के क्वाथ का उपयोग करें।

(२) त्रिफला और गूगल के क्वाथ से धोने पर फूटी हुई मसूरिका की जलन शान्त हो जाती है। साथ में खदिराष्टक क्वाथ (र० ६२७) पिलाने से सत्वर लाभ होता है।

कुहनी, पौंचे या कन्धे पर व्रण-शोथ होने पर—दशांग-लेप (र० ७४६), व्रण शोधक लेप (र० ७५२) या इतर व्रणशोथ नाशक लेप करें; अथवा जौंकें लगाकर दोष को निकाल डालें और फिर लेप सेकादि उपचार करें।

मसूरिका भीतर समा जाय, तो—अर्थात् कचित् मसूरिका के दाने बाहर आकर फिर भीतर बैठ जाते हैं, ऐसा हो, तो उनको निकालने के लिये सुवर्णमाक्षिक भस्म ४-४ रत्ती दिन में ३ समय शहद के साथ दें। और ऊपर कचनार की छाल का क्वाथ पिलावें, या कस्तूरी आध-आध रत्ती और जावित्री २-२ रत्ती दिन में दो बार नागरबेल के पान में देवें।

हृदय की निर्बलता आजाने पर—रससिन्दूर १ रत्ती और प्रवाल पिष्टी २ रत्ती शहद-पीपल के साथ दिन में २ समय दें। या द्राक्षासव (र० ६५६) २॥ से ५ तोले दिन में २ समय पिलाते रहें।

अतिसार हो जाय, तो—रसपर्पटी (र० ३५२) या सर्वाङ्ग सुन्दर रस (र० ५२०) या बाल अतिसारहर चूर्ण (र० ६१२) थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दिन में ३ बार देते रहें। या जायफल जल में घिस कर दें।

कास प्रकोप हो, तो—खदिरादि वटी (र० ५४८) या कर्पूरादि वटी (र० ५४७) दिन में १०-१५ गोली तक चूसने को देते रहें।

उदर शूल हो, तो—पेट पर एरंड तैल लगा, गरम जल से सेक करें।

आफरा हो, तो—दारुषट्क (देवदारु, बच, पुष्करमूल, सोया, हींग, और सैंधानमक) के लेप को काँजी में पीस, गरम कर उदर पर लेप करें। आफरा रहे तब तक बार-बार लेप लगाते रहें।

वृक्क शोथ हो, तो—राल का चूर्ण ४ रत्ती और मिश्री १ माशा

मिला, सौंफ के अर्क के साथ दिन में २ समय देते रहें; तथा रोगशमन के पश्चात् चन्द्रप्रभा वटी या देवदार्वाद्यरिष्ट (र० ६६०) कुछ दिनों तक देते रहें।

पैरों में दाह होता हो, तो—चावलों के धोवन से शीतल सेक देना चाहिये।

दाने सूखने लगते हैं, तब कण्डू शमनार्थ—(१) एरंड तैल या निम्ब की निम्बोली का तैल लगाते रहने से खुजली नहीं आती।

(२) चर्मरोग नाशक तैल (र० ७२२) या बालरक्षक तैल (र० ७३०) लगाते रहें।

दाग दूर करने के लिये—शरीर शुद्धि प्रकरण में मुख लेप वर्णन में वर्ण शुद्धिकर लेप लिखे हैं, उनमें से किसी एक का ५–१० दिन तक उपयोग करें।

इस रोग का प्रारम्भ होने के पहले अथवा ताप आ जाने के पश्चात् प्रवालपिष्टी और रत्नगिरी रस का सेवन कराना लाभदायक है। रत्नगिरी रस सब प्रकार के तापों पर निर्भयता पूर्वक विष बाहर निकालने के लिये दिया जाता है। मसूरिका निकलकर रोग निर्णय हो जाने पर प्रवालपिष्टी और निम्बादि क्वाथ देते रहें; मसूरिका के पाक हो जाने पश्चात् प्रवालपिष्टी और रससिन्दूर शहद के साथ दें; तथा पटोलादि क्वाथ पिलाते रहने से मसूरिका रोग बिना उपद्रव अच्छा हो जाता है।

इस रोग पर प्रवालपिष्टी, निम्बादि क्वाथ और पटोलादि क्वाथ अति हितकर औषधियाँ हैं।

यदि किसी रोगी के लिये चिकित्सा योग्य रीति से न हुई हो, या विष की अधिकता से कोई उपद्रव हो जाय, तो उपद्रव को दूर करने की चिकित्सा करनी चाहिये। उपद्रवों की भिन्न-भिन्न चिकित्सा ऊपर दी है।

निर्बल शरीर वाले को मसूरिका खूब अधिक प्रमाण में निकली हो, रक्त की न्यूनता, विष प्रकोप की अधिकता, हृदय की निर्बलता या वृक्कदाहादि दोष हो जायँ, तो निम्न इन्दुकला वटी देते रहना चाहिये।

इन्दुकला वटी—शुद्ध शिलाजीत, लोहभस्म और सुवर्णभस्म,

तीनों को समभाग मिला, वन तुलसी के स्वरस में ३ दिन खरल कर, १–१ रत्ती की गोलियाँ बना, छाया में सुखा लेवें। इनमें से एक-एक गोली दिन में २ समय निम्बादि क्वाथ या पटोलादि क्वाथ के साथ देते रहने से मसूरिका, विस्फोटक, ज्वर, रक्तविकार और सब प्रकार के व्रणरोग दूर हो जाते हैं।

डाक्टरी में लगाने के लिये निम्न औषधि दी जाती है।

(१) एसिड कार्बोलिक	Acid Carbolic	२ ड्राम
ऑइल युकेलिप्टस	Oil Eucalyptus	४ ड्राम
टिंचर ओपियाई	Tinct. Opii	१ औंस
तिल का तैल	Sweet oil	२ औंस
वेसलीन	Vaseline	१ औंस

इन सबको मिला, कपड़े या मुलायम कूँची (Swab) द्वारा सुबह शाम सारे शरीर पर लगाते रहने से पीड़ा शमन होती है और खाज नहीं आती।

(२) चूने का जल❀	Liqr. Calcis	४ ड्राम
जेतून का तैल	Oil Olive	४ ड्राम
नीलगिरी तैल	Oil Eucalyptus	१५ बूँद

इन सबको मिला, मल्हम जैसे बना कर मसूरिका के फोड़े पर लगावें।

पथ्य—प्रारंभ में लंघन, वमन और विरेचन (ताप आने के पहले) करावें। आवश्यकता हो तो शिरावेध करावें। तेज ज्वर हो तब तक दूध पर ही रक्खें।

ज्वर मन्द होने पर या छोटे दुग्धपान करने वाले बच्चों को शीतला निकलने पर उसकी माता के लिये पुराने शालि और साँठी चावल, चना, मूंग, मसूर, जौ, पक्षियों का मांस, परवल, करेला, ककोड़ा, कच्चे केले, सुहिंजने की फली, बिजौरे नीबू, अंगूर, मीठे अनार, ईख, घी, मिश्री, गुड़, गरम करके शीतल किया हुआ जल, पवित्र पौष्टिक और लघु

❀ चूने का जल तैयार करने के लिये १ ग्रेन कली चूना को २ औंस जल में मिलावें।

भोजनादि दिए जावें।

मसूरिका पक जाने पर—मूंग का यूप, जंगली पशुओं का मांसरस, घी, सम्हालू के पत्ते और राल, इनकी धूप देते रहें। उपलों की राख और गूगल को पीस-मिला बुरकते रहें।

मसूरिका की फुन्सियां सूख जाने पर—नीम के सूखे पत्ते और कच्ची हल्दी को पीस कर लेप करें। पश्चात् व्रण रोग में कहे अनुसार चिकित्सा करें।

वात प्रकोप वालों को खील का चूर्ण शक्कर के जल में मिला, संतपर्ण * बना कर पिलावें। या लघु पञ्चमूल के क्वाथ में यूप तैयार करके पिलावें; अथवा पक्षियों के मांसरस के साथ भोजन करावें।

अपथ्य—मिर्चादि गरम पदार्थ, उष्ण भोजन, खटाई, परिश्रम, तैल, नमक, भारी भोजन, तेज वायु, सूर्य के ताप का सेवन, स्नान, मैथुन, स्वेदन, क्रोध, दुष्ट जल, दुष्ट वायु का सेवन, विरुद्ध भोजन, सेम, आलू, मल-मूत्रादि वेगों का धारण, ये सब अपथ्य हैं।

(२०) लघु मसूरिका।

लघु मसूरिका, छोटी माता, मोतिया, वेरीसिला और चिकन पॉक्स (Varicella or Chikan Pox)।

परिचय—मसूरिका के सदृश पिड़िकाएँ बहुत थोड़ी किन्तु दूर-दूर जल्दी निकल आवें, ज्वर अधिक न हो, उसे लघु मसूरिका कहते हैं। यह रोग भी सांसर्गिक है और बहुधा बालकों को ही होता है। क्वचित् यह रोग वायु-मण्डल दूपित होकर देश भर में भी फैल जाता है।

कीटाणु प्राधान्य होने पर भी इस रोग के कीटाणु अभी तक देखने में नहीं आये हैं। एक वार हो जाने पर फिर दूसरी वार यह रोग नहीं होता। इस रोग का चयकाल लगभग १२ दिन का है।

---

* मुनक्का, अनार दाने, खजूर और शक्कर, इन सब को जल में घोल लें और खीलों के सत्तू में शहद मिलावें। फिर इन दोनों को मिला लेने से संतर्पण तैयार हो जाता है।

निदान—वायु, जल तथा पृथ्वी के दोष से अथवा रोगी के संस्पर्श से, इस रोग के कीटाणु या विष लग कर यह रोग हो जाता है। सामान्य दोषप्रकोप होकर शीघ्र ही इस रोग की शुद्धि हो जाती है।

बृहद् मसूरिका (शीतला) के समान इस रोग की पिड़िकाएँ आंतर और बहिर्त्वचा दोनों में नहीं होतीं; अर्थात् बाह्यत्वचा में ही रहती है और वे स्वल्पदोष वाली, जल के बुदबुदे के समान होती हैं और वे जल्दी सूख कर रोग शमन हो जाता है।

रूप—इस व्याधि में तीव्र ज्वर न होकर बहुधा वह ९९ से १०० डिग्री तक ही रहता है। क्वचित् बड़े मनुष्य को यह रोग हो जाता है तो ज्वर तीव्र अर्थात् (१०२ डिग्री) तक हो जाता है। लक्षण सामान्य होने के कारण जल्दी दूर हो जाते हैं। बहुधा पहले ही दिन या क्वचित् दूसरे दिन पिड़िकाएँ निकल जाती हैं और वे क्षुद्र मोती के समान बहुत थोड़ी समूह रूप में होती हैं। पहले गले पर, फिर छाती पर निकलती हैं और अन्यत्र भी फैल जाती हैं। लगातार ३ दिन तक पिड़िकाएँ निकलती रहती हैं; और वे कुछ घण्टों में ही तरलमय बन जाती हैं। कुछ पिड़िकाओं पर खुरण्ट आने लगते हैं तो कुछ नई निकल कर तरल हो जाती हैं।

शीतला में प्रान्त भाग में ऊँची और बीच में नीची पिड़िकाएँ होती हैं वैसी इसमें नहीं होती, किन्तु ऊँचाई समान रहती है और इनमें से जलस्राव होता है। बहुधा ये ५-६ दिन में सूख जाती हैं और सब लक्षण दूर होकर ८ वें दिन आरोग्य की प्राप्ति हो जाती है। शीतला में पिड़िका निकलने पर ताप कम हो जाता है, किन्तु इसमें ऐसा नहीं होता। इसकी पिड़िकाओं में खुजली बहुत चलती है।

कभी-कभी विष की बाहुल्यता तथा रोगी की दुर्बलता के कारण पिड़िकाओं में कोथ हो जाता है। उसमें रक्त या पीप भर जाता है और उससे घोर ताप भी आ जाता है। इससे रोग कष्टसाध्य या असाध्य हो जाता है।

लघु मसूरिका चिकित्सा।

इस मोतिय रोग में बहुधा औषधि देने की आवश्यकता

नहीं रहती क्योंकि यह स्वयमेव शमन हो जाता है। बालक निर्बल होने से या इतर अपथ्य होने से रोग का त्रास बढ़ जाने पर इसकी चिकित्सा शीतला रोग के समान की जाती है। सामान्य रीति से प्रवालपिष्टी और निम्बादि क्वाथ देना लाभदायक है। पथ्यापथ्य का पालन बृहद् मसूरिका में लिखे अनुसार कराना चाहिये।

(२१) रोमान्तिका।

रोमान्तिका-ख़सरा—मीझल्स (Measles)

परिचय—इस रोग में रोमों के मूल में से ताम्र के रंग के सदृश रंग वाली कफपित्त प्राधान्य सूक्ष्म पिटिकाएँ निकलती हैं, इनके पहले ज्वर, कास, अरुचि आदि लक्षण होते हैं। पिड़िकाएँ रोमान्त में से निकलती हैं, अतः इसे रोमान्तिका कहते हैं। यह भी कीटाणुजन्य तीव्र संक्रामक रोग है परन्तु इसके कीटाणुओं की भी प्रतीति नहीं होती। कभी-कभी वातावरण में विकृति होने पर यह रोग भी देश में फैल जाता है। सामान्य रीति से यह व्याधि नाक में से निकलने वाले दूषित स्राव, श्वासोच्छ्वास और रोगी के वस्त्रों द्वारा, दूसरों को लग जाती है। इस रोग का चयकाल ८ से १२ दिन तक का है। यह रोग शीतकाल में अधिक होता है, और कभी वसन्त तथा ग्रीष्म में भी हो जाता है।

निदान—मसूरिका के समान ही इसका निदान है, किन्तु इसका विष मसूरिका विष से पृथक् है। विशेपतः यह रोग बालकों को होता है, और कभी जवानों को भी। इस रोग में कफपित्तप्रकोप तथा श्वास-नलिका और फुफ्फुसों में विकार (दाह-शोथ) हो जाता है, और फिर इस रोग का विष त्वचा में से निकल कर विलय हो जाता है।

रूप—प्रारम्भ में प्रतिश्याय, छींकें आना, नाक और कण्ठ की श्लैष्मिक कला में दाह, १०३ डिग्री तक ज्वर, नेत्रों में लाली, नेत्रस्राव, तन्द्रा, अरुचि, ग्लानि, सिर में भारीपन, कास, क्वचित् अतिसार होकर नीले-पीले, पतले दस्त लगना, निश्चित लिङ्ग रूप मसूढ़ों के सामने मुख के भीतर बारीक, लाल और कुछ उभरी हुई फुन्सियों की प्रतीति होना,

फिर तीसरे या चौथे रोज घन फुन्सियों का मस्तक पर या कानों के पास निकलना, तत्पश्चात् दूसरे दिन सारे देह में निकलना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

प्रारम्भ में कान के पीछे ठोड़ी और ऊपर के होठ पर मच्छर के काटने के समान धब्बे प्रतीत होते हैं। दो-तीन दिन में सब पिड़िकाएँ निकल जाती हैं और ज्वर कम हो जाता है। तत्पश्चात् पिड़िकाओं पर की पतली त्वचा निकल जाती है; और वहाँ धब्बे पड़ जाते हैं। त्वचा ऊपर से नहीं निकल जाती, तब तक रोगी रोग फैलाने का साधन बना रहता है। इसलिये रोगमुक्ति से १५ दिन तक और बच्चों को इस रोगी से दूर ही रखना चाहिये।

इस रोग में प्रारम्भ के २-३ दिन में ताप कम अर्थात् १०१ डिग्री तक हो जाता है, किन्तु पिड़िका निकलने के पश्चात् चौथे दिन फिर ताप १०३ से १०४ तक बढ़ने लगता है। सातवें या आठवें दिन पुनः पिड़िका-शमन के साथ-साथ ताप भी कम होता जाता है, और १५ से १८ दिन के भीतर रोगी स्वस्थ हो जाता है।

रोमान्तिका होने से पहले मुँह के भीतरी तल पर श्लैष्मिक कला में जो सूक्ष्म उभरे हुए कण चारों ओर लाल घेरा युक्त दिखाई देते हैं, यह इस रोग का सबल चिह्न है। इस चिह्न को डाक्टरी में शोधक के नाम पर से कोपलिक्स स्पॉट्स (Koplik's spots) नाम दिया गया है। इस रोग में नाड़ी और श्वास की गति उष्णता की अपेक्षा अधिक तेज रहती है।

इस रोग के सौम्य और तीव्र ऐसे दो प्रकार हैं। तीव्र प्रकोप में बहुधा पिटिका का रंग जामुन जैसा हो जाता है। इस तीव्र प्रकोप के भी दो विभाग हैं। एक रक्तस्रावी (श्लेष्मत्वचा में से रक्तस्राव कराने वाला) और दूसरा शक्तिनाशक (जीवनीय शक्ति को क्षय कराने वाला)। इस प्रकार में उपद्रव तीव्र होते हैं और मंथर ज्वर के सदृश प्रलापादि उपद्रव भी हो जाते हैं। सौम्य प्रकार में विशेष वेदना नहीं होती।

उपद्रव—श्वास प्रणालिका प्रदाह, स्वरयन्त्र का दाह, नेत्र रोग,

कर्णशूल, दाह, वृक्क शोथ, पक्षवध, गण्डमाला, कोथ और अतिसारादि व्याधियाँ हो जाती हैं। कभी कभी इस रोग के अनुगामी रूप से कफ-क्षय और कालीखाँसी भी हो जाती है। कभी कभी पिटिकाएँ शमन हो जाने के पश्चात् भी ज्वर चिरकाल तक बना रहता है। रोग का श्वास-नलिका या फुफ्फुस पर आक्रमण होने से प्रबल कास-श्वासादि विकार होकर ज्वर बढ़ जाता है। ऐसी अवस्था में ब्रांको न्युमोनिया (डब्बा) के लक्षण मोह, तन्द्रा, हृदयावरोधादि उत्पन्न होकर मृत्यु हो जाती है। इस देश में प्रतिवर्ष इस उपद्रव से बहुधा हजारों बालकों की मृत्यु हो जाती है। यदि कोई बालक सम्यक् चिकित्सा होने पर जीवित रह जाता है तो भी वह दीर्घ काल तक निर्बल रहता है।

इस रोग में गम्भीर रक्तपित्त प्रकोप होकर रक्तनिष्ठीवन या रक्तातिसार हो जाने पर रोगी का जीवित रहना दुर्लभ होता है।

रोमान्तिका चिकित्सा।

इस रोमान्तिका रोग में अधिक विरेचन औषधि नहीं देनी चाहिये क्योंकि अधिक विरेचन से अतिसार हो जाने पर रोग शमन होने के पश्चात् भी वह दीर्घ काल तक त्रास देता रहता है।

इस रोग में औषधि बृहद् मसूरिका रोग में लिखी हुई दी जाती है। विष बाहर निकालने के लिये त्रिभुवनकीर्त्ति रस (र० ३७८) मुनक्का के क्वाथ या खदिराष्टक क्वाथ (र० ६२७) के साथ देना हितकर है। प्रवालपिष्टी भी विष शमन के लिये प्रारम्भ से अन्त तक या रोग शमन के बाद भी २-३ सप्ताह तक देते रहना उपकारक है।

यदि विष बाहर न आता हो, तो—मधुरान्तक वटी (र० ३६१) दिन में ३-३ समय देते रहें।

कान में से पीप आने लगे, तो—बहुत जल्दी लक्ष्य देकर उसे दूर करने का उपाय करें। बिल्वादि तैल या क्षार तैल डालते रहें।

प्यास अधिक लगती हो, तो—मुनक्का और धनिया का भिगोया जल देते रहें।

फुफ्फुस प्रदाहादि उपद्रव हों, तो—इनकी चिकित्सा में

उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। श्वसनक ज्वर में लिखे अनुसार चिकित्सा करें।

पथ्यापथ्य का पालन मसूरिका में लिखे अनुसार करें।

(२२) अंशुघात ज्वर।

अंशुघात ज्वर—प्रभापात—लू लगना—सन स्ट्रोक—हीट स्ट्रोक—थर्मिक फीवर—इनसोलेशन—सीरायसिस—Sun-Stroke—Heat-stroke—Thermic Fever—Insolation—Siriasis.

प्रचण्ड ताप या एञ्जिनादि की तीव्र उष्णता का अकस्मात् आघात पहुँचने को अंशुघात कहते हैं। यह रोग बालक, नाजुक प्रकृति की स्त्री और निर्बल पुरुषों को अधिक होता है। क्वचित् बलवान पुरुष भी इस रोग से ग्रसित हो जाते हैं। यूरोप जैसे शीतल स्थान के रहने वाले को जब ग्रीष्मकाल में उष्णदेश में जाना पड़ता है; तब उनको लू लग जाने की अधिक भीति रहती है।

यह रोग विशेषतः ग्रीष्मकाल में और उष्ण कटिबन्ध प्रदेश में ही होता है। सूर्य के ताप की उष्णता छाया वाले स्थान में ११० डिग्री से अधिक होने पर, वायु के स्तब्ध हो जाने से और श्वासोच्छ्वास में उष्ण वायु आती रहने से अति व्याकुलता होकर अधिक परिश्रम करने वाले को लू लग जाती है। इसी का शास्त्रीय नाम अंशुघात ज्वर है।

इस अंशुघात ज्वर के तीन प्रकार हैं—(१) ज्वरातिशय सह (२) श्वासावरोध सह (३) मूर्च्छासह। इनमें से यह व्याधि विशेष कर ज्वर सहित होती है। इसीलिए इस व्याधि को ज्वर प्रकरण में स्थान दिया है।

निदान—दोपहर के अति परिश्रम से थकावट आने पर बिना विश्राम लिये शीतल जलपान करना, पुनः शरीरश्रम करने लगना, अति उष्ण या वायुरहित स्थान में रहना, टीन के मकानों में शक्ति से अधिक समय तक काम करना, तप्त जमीन पर नंगे पैरों से और बिना छाता से चलना, इन सब कारणों से इस रोग की उत्पत्ति होती है। अशक्तता,

मद्यपान, थकान, अधिक तंग कपड़े पहनना, ज्वर, कोष्ठबद्धता, इनमें से किसी भी सहायक हेतु के मिलने से लू सहज लग जाती है।

संप्राप्ति—बाहर की प्रखर उष्णता के तीव्र आघात से जब सुषुम्णाशीर्ष (मेड्युला ऑब्लोंगेटा Medulla Oblongata) में रहने वाले शारीरिक उष्णता के नियमन करने वाले केन्द्र में विकृति होती है; तब इस ज्वर की उत्पत्ति हो जाती है।

बाह्य उष्णता का आघात कण्ठ और पीठ पर अधिक होता है या पृथ्वी में से उत्पन्न गैस अथवा मोटर प्रवास में मोटर एञ्जिन का गैस श्वास मार्ग से भीतर प्रवेश कर जाता है, तब श्वासयंत्र में विकृति हो कर श्वासावरोधक प्रकार उत्पन्न हो जाता है।

उष्णता में अधिक परिश्रम, मार्ग गमन, मोटर या रेलवे ट्रेन में प्रवास करके उष्णता शमन होने के पहले बर्फ मिला शीतल जल पान या बिजली के पंखे की वायु का सेवन करने से भी उष्णता का अवरोध हो जाता है और प्रस्वेद द्वारा विष बाहर नहीं निकल सकता। फिर वही रात्रि के समय फुफ्फुस कोषों को जकड़ लेता है और उससे यकायक श्वास लेने में अति कष्ट होने लगता है।

अधिक काल तक मध्याह्न के समय तीव्र ताप में परिश्रम करते रहने पर जब प्रस्वेद द्वारा विष पूर्णांश में बाहर नहीं निकल सकता, भीतर ही बढ़ता जाता है, तब उस विष का संचय पर्याप्त हो जाने पर मस्तिष्क और इतर इन्द्रियों में तीव्र रक्ताधिक्य होकर अकस्मात् मनुष्य मूर्च्छित होकर गिर जाता है।

ज्वरातिशय अंशुघात का पूर्वरूप—मुँह और नेत्रों का लाल हो जाना, व्याकुलता, नाड़ी की गति में विषमता, उबाक, वमन, शिरःशूल, अतिसार, दाह, हाथ-पैर खिंचना, कण्ठ शोथ, अति प्यास, मूत्र में दाह और कष्ट होना, ये सब पूर्व लक्षण ज्वरातिशय अंशुघात के प्रतीत होते हैं।

ज्वरातिशय अंशुघात का रूप—पूर्वोक्त लक्षणों के पश्चात् तुरन्त ज्वर बढ़ने लगता है और वह १०१ से १०२ डिग्री तक हो जाता है।

अधिक आघात के पहुँचने से तुरन्त अथवा १–२ दिन तक सामान्य ज्वर रह कर फिर श्वास, भ्रम, निद्रानाश, प्रलाप, मोह और हाथ-पैर पटकना आदि उपद्रवों सह ज्वर बढ़ने लगता है और वह कभी १०८ से ११२ डिग्री तक बढ़ जाता है; देह का वर्ण नीला हो जाता है और रोगी का हृदयावरोध होकर मृत्यु हो जाती है।

श्वासावरोधक अंशुघात का लक्षण—श्वास केन्द्र में अधिक विकृति होने पर इस रोग में श्वासावरोध, मन्द ज्वर, बेहोशी, पाण्डुता, तथा नाड़ी क्षीणता, ये लक्षण प्रतीत होते हैं। सम्यक् उपचार के न होने से हृदयावरोध होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। सम्यक् उपचार से लाभ पहुँचने पर भी मनुष्य में कुछ निर्बलता दीर्घ काल तक शेष रह जाती है।

मूर्च्छा सह अंशुघात के लक्षण—इसमें कभी परिश्रम करते करते चक्कर आकर मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है, त्वचा शुष्क और उष्ण, नाड़ी अति तीव्र और अशक्त, श्वास का कष्टपूर्वक चलना, फिर प्रस्वेद आकर शरीर शीतल होने लगना, ये रूप दीखते हैं। इसका तुरन्त उपचार न होने से भी हृदयावरोध होकर मृत्यु हो जाती है। इतना ही नहीं, सद्य सम्यक् उपचार से लाभ पहुँचने पर भी मस्तिष्क में कुछ विकृति रह जाती है; तथा किसी किसी को आक्षेपक या पक्षाघात हो जाता है। सामान्य आघात के पहुँचने पर चंद मिनटों में ही चेतना आ जाती है।

अंशुघात चिकित्सा।

लू लगने से अति व्याकुलता और अति उष्णता बढ़ जाने पर तुरन्त रोगी को शीतल वायु वाले स्थान में ले जाकर लिटा देना चाहिये। सब वस्त्रों को खोलकर खस या ताड़ के पंखे को शीतल जल से भिगो कर धीरे धीरे वायु डालने का प्रारम्भ करना चाहिये। रोगी के सिर पर बर्फ या शीतल जल से भिगोया हुआ कपड़ा रखना चाहिये।

रोगी को फालसा, संतरा या मुसंबी का रस पिलाना, अथवा घिसा हुआ चन्दन और मिश्री या नेत्रवाला और मिश्री मिला हुआ या गुलाब, केवड़ा आदि का शर्बत मिला हुआ जल थोड़ा थोड़ा पिलाते रहना

अत्यंत लाभदायक होता है परन्तु यह एक ही समय में ज्यादा न पिलावें।

पैरों के तलुओं पर काँसी की कटोरी से घी की मालिश करें जब पैरों के तल काले हो जायँ; तब कपड़े से पोंछकर निवाये जल से धो डालें।

केसूला (पलास के पुष्प) को जल से पीस काँसी के बर्त्तन में शीतल जल के साथ मिलालें, और फिर रोगी को लिटा इस जल वाली थाली (या कटोरी) को रोगी की सारी देह पर मस्तक से पैर तक धीरे धीरे फिरावें। इस तरह काँसी के पात्र ४-६ वार फिराने से भीतर प्रविष्ट हुई उष्णता बहुत जल्दी शमन होकर वेहोशी दूर हो जाती है; ताप शमन हो जाता है; तथा रोगी को शान्ति और प्रसन्नता प्रतीत होती है। इस तरह मेथी के सूखे पत्तों के चूर्ण को घी का मौण लगाकर शरीर पर मालिश करने से भी लाभ हो जाता है।

मूर्च्छा आ गई हो, तो—कण्ठ और फुफ्फुस पर नीलगिरी तैल या तारपीन तैल लगा लेवें। और फिर गरम जल में डुबोये हुए फलालेन के टुकड़े से थोड़ा सेक कर उस टुकड़े को कण्ठ पर लपेट दें, तथा ऊपर दूसरा वस्त्र बाँध दें। इससे रोगी को थोड़ी ही देर में चेतना आ जाती है।

मुचकन्द के फूल और एरण्ड मूल को काँजी में पीस, सिर पर लेप करने से भी तुरन्त व्याकुलता दूर होती है।

अधिक पसीने के कारण देह अधिक शीतल हो गई हो, तो ब्राह्मी वटी (र० ३९५) या रससिन्दूर और प्रवालपिष्टी शहद के साथ देवें।

शरीर अति उष्ण होगया हो, तो रोगी को कुनकुने जल में १५-२० मिनट बैठावें। इसकी विधि शरीर-शुद्धि प्रकरण में पहले लिखी गई है।

इमली का पानक—किसी पत्थर या मिट्टी के पात्र में इमली की पकी फलियों के गूदा को १६ गुने जल में मिला आध घण्टे रहने दें। फिर खूब मसल ४ गुनी मिश्री मिला अग्नि पर चढ़ा एक उबाल दें। पश्चात् उतार कर तुरन्त छान लें। शीतल होने पर बोतल में भर लें। इसमें से २॥-२॥ तोले ३-४ समय २-२ घण्टे पर पिलाने से व्याकुलता शमन हो जाती है।

आमझोरा—कच्चे आम को अग्नि में पकाकर रात्रि को शीतल स्थान में रख दें। सुबह ऊपर का छिलका दूर कर जल में मिला मसल रस निकाल, भुना जीरा और थोड़ा सैंधानमक या थोड़ी मिश्री मिलाकर पिला देवें।

वहुफली और वन तुलसी (नगद बावची) के बीज, इन दोनों को जल में भिगो दें। बीज गलकर लुआब बन जाने पर शक्कर मिलाकर पिलावें।

ताप शमनार्थ—(१) रससिन्दूर आध रत्ती मौक्तिक पिष्टी आध रत्ती (या प्रवालपिष्टी १ रत्ती), गिलोय-सत्व ४ रत्ती, सितोपलादि चूर्ण २ माशे, सबकोमिलाकर शर्बत के साथ २-२ घण्टे पर ३-४ समय देवें।

(२) कामदुधार रस शर्बत के साथ २-२ घण्टे पर देते रहें।

(३) ताप २ दिन से अधिक रह जाय, तो लक्ष्मीनारायण रस (र० ३८८) या मधुरान्तक वटी (र० ३९१) दिन में दो बार देते रहें। अथवा थोड़ी मात्रा में मृत्युञ्जय रस (र० ३८५) काला जीरा और मिश्री के साथ देवें।

(४) सूतशेखर रस (र० ५०६) दिन में दो समय भाँगरे के रस या ब्राह्मी के क्वाथ के साथ देने से भयंकर बढ़ा हुआ ताप और बेचैनी सत्वर शमन हो जाते हैं।

श्वासावरोध होता हो, तो—(१) फुफ्फुसों पर नीलगिरी तेल की मालिश करें; फिर गरम जल में डुबोकर निचोड़े हुए फलालेन के टुकड़े से थोड़ा सेक करें। या मालिश करके ऊनी वस्त्र लपेट दें; तथा श्वासकुठार रस १-१ रत्ती नागरवेल के पान में दिन में तीन बार देवें।

(२) रससिन्दूर, अभ्रक भस्म और मौक्तिकपिष्टी को मिलाकर शहद के साथ दिन में ३ बार देवें।

डाक्टरी में ज्वर आ जाने पर निम्न औषधि दी जाती है।

कीनाईन सल्फास	Quinine Sulph.	४ ग्रेन
एसिड सल्फ्युरिक डिल्युट	Acid Sulph. Dil.	५ बूँद
पोटास ब्रोमाइड	Pot. Bromide	१० ग्रेन
टिञ्चर डिजिटेलिस	Tinct. Digitalis	५ बूँद

जल Aqua, ad १ औंस तक

इन सब को मिला कर पिलावें इस तरह दिन में दो वार देवें।

ताप अधिक बढ़ जाने पर एण्टीपायरिन या एन्टी फेब्रिन आदि उष्णता कम करने वाली औषधि सन्निपात की चिकित्सा में कही हुई दी जाती है।

सूचना—इस अंशुघात के रोगी दिनों या महीनों तक कृश रहते हैं। इसलिये लघु पौष्टिक और पथ्य आहार का सेवन कराते रहना चाहिये। रोग शमन हो जाने पर भी शरीर में वल न आ जाय; तव तक अपथ्य आहार-विहार से वचते रहना चाहिये।

साफे या टोपी में प्याज रखकर धूप में फिरने से लू का आघात यकायक नहीं होता। परमात्मा ने प्याज को लू से संरक्षण करने की दिव्य शक्ति प्रदान की है।

सूर्य के ताप और अग्नि का सेवन, मद्यपान, चाय आदि उत्तेजक पेय, तमाखू, सिगरेट, इन सवका १ वर्ष तक त्याग करना चाहिये।

पथ्य—ब्रह्मचर्य, शीतल जल पान, शर्वत, ठण्डाई, रोगी को दूध, फालसा, संतरा, मुसंवी, अङ्गूर या शीघ्र पचने वाले सावूदाना, दलिया, खिचड़ी, मूंग की पकौड़ी, पतले फुलके आदि भोजन; परवल, लौकी, चन्दलोई, पालक, प्याज आदि का शाक, आम या इमली का पना, सिरका मिश्रित चटनी और नीवू आदि खटाई, ये सव अंशुघात रोग में पथ्य हैं।

अपथ्य—शराव, सिगरेट, चाय, अग्नि सेवन, धूप में घूमना, मिर्च आदि गरम पदार्थों का सेवन, गुड़, तैल, टीन के नीचे रहना, रात्रि का जागरण और शुष्क भोजनादि, ये सव अपथ्य हैं।

(२३) विषम ज्वर।

विषम ज्वर–हुम्मा खिलतिया–मलेरिया (Maleria)

यह ताप अनियमित समय पर आता रहता है। इस ताप में कभी ठण्डी और कभी गरमी लगती है और यह अधिक समय तक वना रहता है,

या अनिश्चित समय पर वारवार उलट-उलट कर आता है। कभी थोड़े जोर से आता है तो कभी अधिक वलपूर्वक हमला करता है; कभी जल्दी उतर जाता है तो कभी देर से उतरता है। इस तरह कोई नियम न रहने से इस ज्वर को शास्त्रकारों ने विषम ज्वर कहा है।

यह ताप विशेषतः उष्ण कटिवन्ध प्रदेश में होता है। उष्णता, अन्धकार वाले मकान, आर्द्र स्थान, गन्दी नालियां, वाग और झाड़ी आदि इसके सहायक साधन हैं। यह ज्वर शरद्, वर्षा और वसन्त ऋतु में अधिक फैलता है। क्वचित् ग्रीष्म ऋतु में भी आ जाता है। स्त्री, पुरुष, वालक, युवा और वृद्ध सभी पर आक्रमण करता है।

इस ज्वर में वद्धकोष्ठ, तृषा, नेत्र जलन, कमर में पीड़ा, किसी किसी को ठण्डी लगकर और किसी किसी को विना ठण्डी से ताप आ जाना इत्यादि सामान्य लक्षण प्रतीत होते हैं। जिसको शीत नहीं लगता उसके सिर में दर्द और पसीना अधिक होता है।

इस ज्वर के दो भेद हैं—निज और आगन्तुक। मिथ्या आहार-विहारादि कारणों में से वातादि दोष प्रकुपित हो जाने से उत्पन्न विषम ज्वर को निज विषम ज्वर और वाह्यहेतुजन्य को आगन्तुक कहा है। शास्त्राचार्यों ने इस रोग का कारण आगन्तुक भी माना है। ऐसा "आगन्तुरनुवन्धो हि प्रायशो विषम ज्वरे" चरक संहिता चि० अ० ३।२८६ और सुश्रुत-संहिता उत्तर तं० अ० ३६, इन दोनों में कहे हुए इस वचन से जाना जाता है।

वर्तमान में इन दो प्रकारों में से आगन्तुक विषम ज्वर ही चारों ओर अधिकांश में देखने में आता है। यह प्रारंभ से ही विषम रहता है।

डाक्टरी सिद्धान्तानुसार इस आगन्तुक विषम ज्वर की उत्पत्ति का कारण सूक्ष्म कीटाणुओं ही हैं। ये कीटाणु वहुत सूक्ष्म एवं लाल वर्ण के हैं; और रक्त में प्रवेश करके खूब वढ़ जाते हैं। इनमें भी भिन्न-भिन्न प्रकार के विषम ज्वरों के ज्वराणु भिन्न-भिन्न हैं।

इन कीटाणुओं का रक्त में प्रवेश विशेषतः मच्छरों और खटमलों के दंश द्वारा होकर फिर ये रक्तकणों के आश्रय से रहते हैं। पश्चात्

शनैः-शनैः नयी सन्तानों की उत्पत्ति करके सारी देह में रहने वाले रक्त के सब रक्ताणुओं में फैल जाते हैं।

जैसे जमीन में बीज बोने पर कुछ दिनों के पश्चात् अंकुर निकलते हैं। वैसे कीटाणु वातादि धातु या रस-रक्तादि दूष्यों में आश्रित होकर कुछ दिन तक रह जाते हैं; फिर प्रवृद्ध होने पर फैल जाते हैं; तब उनको निकालने के लिये सारे शरीर में उष्णता उत्पन्न हो जाती है।

इन जीवाणुओं की वृद्धि १-२ या ३ दिन में करोड़ों के हिसाब से हो जाती है, यह रक्त परीक्षा द्वारा निश्चित हो चुका है। इनकी वृद्धि होती है तब एकाहिक आदि ज्वर आते हैं। इनके विष का अधिकांश जल जाने पर ताप उतर जाता है। उस समय शेष कीटाणु जो बच जाते हैं वे रक्त में लीन हो जाते हैं।

पाश्चात्य शास्त्रकारों ने इन कीटाणुओं को प्लेस्मोडियम (Plasmodium) नाम दिया है। इन कीटाणुओं की प्राप्ति बहुधा एनॉफिलीस (Anopheles) जाति के मच्छरों (डांसों) द्वारा होती है।

मच्छरों की अनेक जातियाँ हैं। इनमें तीन जातियाँ अधिक जानने योग्य हैं। एनॉफिलीस, क्युलेक्स और एडिस। एनॉफिलीस से विषम ज्वर, क्युलेक्स से श्लीपद वृषणवृद्धि और डेंग्यू फीवर एवं एडिस द्वारा अफ्रीका और अमेरिका में पित्तज्वर, (मतान्तर में भारतवर्ष में डेंग्यू) की उत्पत्ति होती है।

इन मच्छरों की जाति में नर और मादा दो प्रकार हैं इनमें से नर वनस्पतियों का रस चूस कर जीवन निर्वाह करता है; किन्तु मादा रक्त पीने की अधिक प्यासी होती है। यह विषम ज्वर के रोगी को काटती हैं; तब रक्त के साथ इन कीटाणुओं का भी शोषण कर लेती हैं। फिर इन कीटाणुओं की सन्तान उसके उदर में बढ़ती रहती है। पश्चात् जिस जिस मनुष्य को वह काटती है, उस-उस मनुष्य के रक्त में अपने मुख की लाला के साथ कीटाणु डालती रहती है। ये कीटाणु प्राणिकोटि (Protozoa) के हैं। प्रारम्भ में मच्छर मादा के उदर में इनकी अभिवृद्धि होती है। फिर मानव देह में आने पर वहाँ असंख्य हो जाते हैं।

कचित् विषम ज्वर उत्पादक विष या कीटाणु मनुष्य देह में भी उत्पन्न हो जाते हैं। इन (मानव देह में उत्पन्न) कीटाणुओं में लिङ्ग भेद नहीं है। किन्तु मच्छर के शरीर में नर मादा रूप भेद हो जाते हैं और

फिर इन दोनों के संयोगों से वृद्धि होती रहती है।

मादा मच्छर जब विषम ज्वर के रोगी को काटती हैं; तब से १० दिन तक उस (मच्छर) के शरीर में कीटाणुओं की वृद्धि होती रहती है। फिर कीटाणु लाला ग्रन्थियों में आ जाते हैं। पश्चात् जब वह काटती है; तब काटने के साथ मानव देह में कीटाणुओं का प्रवेश हो जाता है। इन कीटाणुओं का चयकाल मनुष्य शरीर में लगभग ६ से २० दिन का होता है।

इन कीटाणुओं में ४ जाति हैं—(१) सौम्य तृतीयक ज्वर के कीटाणु, (२) मारक तृतीयक ज्वर के कीटाणु, (३) चातुर्थिक ज्वर के कीटाणु और (४) अन्येद्यु ज्वर के कीटाणु।

जैसे बिन्दु लगाने से १ के १०-१००-१००० होते जाते हैं, इसी तरह इन कीटाणुओं की वृद्धि भी बहुत अधिक परिमाण में होती है। जब रक्त में इनकी पूर्ण वृद्धि हो जाती है; तब ताप की उत्पत्ति होती है। यदि तृतीयक और चातुर्थिक ज्वर, दोनों प्रकार के कीटाणुओं का संसर्ग हो जाता है; तो वही ज्वर चातुर्थिक विपर्यय या अन्येद्यु के सदृश प्रतीत होता है।

सम्प्राप्ति—उपर्युक्त कीटाणुओं के रक्तकणों को खाते रहने से रक्त की न्यूनता और निर्बलता बढ़ती जाती है। साथ ही साथ श्वेत जीवाणु भी कुछ अंश में कम हो जाते हैं और प्लीहा की वृद्धि होती जाती है। कारण यह है कि मृत रक्तकणों की विकृति से देह के इतर यन्त्रों को सुरक्षित रखने के लिये इनका शोषण करने का कार्य प्लीहा करती है। मृत रक्तकण अत्यधिक हो जाने से प्लीहा को बड़ी होकर अपना कार्य पूरा करना पड़ता है। किन्तु मृत रक्तकणों के साथ कीटाणुओं का भी प्लीहा में प्रवेश हो जाता है। इससे प्लीहा के भीतर भी युद्ध होने लगता है। इस तरह प्लीहा में विष या कीटाणुओं के साथ यदि अधिक दिनों तक लड़ाई होती रहती है; तो विषप्रकोप के बढ़ जाने से प्लीहा में सौत्रिक तन्तु उत्पन्न हो जाते हैं; और उनके सबब प्लीहा दृढ़ और बड़ी प्रतीत होती है। दूसरी ओर यकृत् में कीटाणुओं का प्रवेश होता है और उसमें भी सौत्रिक तन्तु हो जाते हैं। एवं देह का वर्ण भी पाण्डु हो

जाता है। कारण यह है कि रक्ताणुओं को तोड़ कर कीटाणु बाहर निकलते रहते हैं और जिससे प्रति बार असंख्य रक्तकणों का नाश होता रहता है। इस तरह अस्थिगत मज्जा, मस्तिष्क, मस्तिष्क आवरण और वृक्कस्थान, इन स्थानों में रक्ताधिक्य सह दाह हो जाता है। इन सब स्थानों की रक्त-वाहिनियों में असंख्य कीटाणुओं की आबादी हो जाती है। रक्तकणों की अधिक मृत्यु होती रहने से मूत्र में यूरिया की मात्रा बढ़ जाती है और मूत्र कुछ गाढ़ा भी हो जाता है।

विषम ज्वर के प्रकार—शास्त्रकारों ने इस ताप के मुख्य ५ विभाग किये हैं। सन्तत, सतत, अन्येद्यु, तृतीयक और चातुर्थिक। इनके अतिरिक्त उपद्रव के अनुसार कालज्वर (सतत ज्वर का भेद प्लीहा-वृद्धि युक्त), राजयक्ष्मा, क्षतक्षीणादिकों को होने वाला ज्वर, प्रलेपक, वात बलासक, श्लैपदिक (श्लीपद के हेतु से पूर्णिमा अमावस्या आदि समय पर आने वाला) ज्वर और औपद्रविक (इतर रोगों में उपद्रवरूप) ज्वर, ये सब भेद दिखाये हैं। ये प्रलेपकादि सब भेद विषम ज्वर के जीर्ण रूप धारण करने पर होते हैं। इन सब प्रकार के ज्वरों में तीनों दोष दूषित होते हैं और ये सब चिरानुबन्धी होने से अनेक बार दुश्चिकित्स्य भी हो जाते हैं।

प्राचीन आचार्यों ने सन्तत ज्वर का रसाश्रय, सतत ज्वर का रस और रक्ताश्रय, अन्येद्यु ज्वर का मांसाश्रय, तृतीयक ज्वर मेदोगत और चातुर्थिक ज्वर अस्थि-मज्जागत माना है। किन्तु नव्य सिद्धान्तानुसार सबके कीटाणु रक्त में ही रहते हैं।

विषमज्वर के डाक्टरी में निम्न ४ विभाग किये हैं।

(१) रिमीटण्ट Remittent—विषमप्रकोपी अर्थात् सन्तत ज्वर।

(२) इण्टरमिटण्ट Intermittent (सविराम ज्वर)—सतत। और अन्येद्युष्क। जो ताप २४ घण्टे में बिल्कुल उतर जाते हैं, वे इण्टरमिटन्ट के अन्तर्गत हैं।

(३) परनिशस Pernicious मारक।

(४) मलेरियल केकेक्सिया Malarial Cachexia मन्दवेगी जीर्ण ज्वर।

सन्तत ज्वर ।

सन्तत ज्वर—हुम्मा दायमी—मलेरियल रिमीटएट फीवर——(Malarial Remittent Fever) ।

जो ताप १० या १२ दिन तक सतत बना रहे, बीच में नहीं उतरे उसे सन्तत ज्वर कहते हैं। इस ज्वर में वात, पित्त और कफ, तीनों दोष कुपित हो जाते हैं। इन दोषों में बहुधा पित्त अधिक दूपित होता है।

पित्तोल्वणता हो तो १० दिन में; कफोल्वणता हो तो १२ दिन में; और वातोल्वणता हो तो ७ दिन में ताप उतर जाता है या रोगी को मार डालता है।

इस ज्वर में सन्निपात ज्वर के समान दारुण लक्षण मोह, प्रलापादि न्यूनाधिक मात्रा में रहते हैं। विप का बल कम होता है; तो समय पर रोग शमन हो जाता है। अन्यथा रोगी को मार डालता है।

इस ज्वर का विप वातादि दोष, रक्तादि धातु और मल-मूत्र, इन सबमें प्रवेश कर जाता है। सूक्ष्म होने से सबमें लीन होकर रहता है। इसी हेतु से भगवान् आत्रेय ने इसे अव्यक्त लक्षण वाला कहा है। बारहवें दिन परित्याग कर फिर तेरहवें दिन से आरम्भ होकर दीर्घ काल तक जीर्ण रूप से रहता है। इसका उपशम होना दुर्लभ होता है।

यह ज्वर ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में अधिक होता है। इस ज्वर में ताप अनियमित समय पर थोड़ी देर के लिये कम भी हो जाता है। रोगी के रक्त में मारक तृतीयक ज्वर के कीटाणु मिलते हैं।

इसकी चिकित्सा सम्यक् प्रकार से नहीं की जाय और अपथ्य सेवन किया जाय; तो विप के उग्र रूप धारण करने से यह ज्वर उग्र मारक (Pernicious) बन जाता है। फिर इस ज्वर की निम्न लिखित ८ अवस्थाएँ हो जाती हैं।

(१) ज्वरातिशय—इस प्रकार में ताप १०७ से ११२ डिग्री तक हो जाता है।

(२) मस्तिष्क विकृति—मस्तिष्क की रक्तवाहिनियों में इस

ज्वर के कीटाणु अत्यन्त बढ़कर रक्त वहन के मार्ग को रोक देते हैं, तब मूर्च्छा, आक्षेपक या पक्षाघात सह ज्वर, उन्माद, मूकत्वादि विकृति हो जाती है।

(३) शीतावस्था—शीतावस्था आने के पश्चात् ताप नहीं बढ़ता, शरीर शीतल बन जाता है और बल क्षय हो जाता है। इस अवस्था में उष्णता ८६ डिग्री तक कम हो जाती है।

(४) प्रवाहिकावस्था—इस प्रकार में अन्त्र की दीवारों पर आक्रमण होने से अतिसार, पेचिश और वमनादि लक्षण हो जाते हैं।

(५) फुफ्फुस प्रदाहावस्था—फुफ्फुस और उनके आवरणों में कीटाणु-वृद्धि होने पर न्युमोनिया के सदृश चिह्न प्रतीत होते हैं। इसी तरह कभी हृदय पर आक्रमण हो जाने से हृदय विकृति हो जाती है।

(६) नेत्र विकृति—नेत्र की रक्तवाहिनियों में कीटाणु जाने पर अन्धत्व की प्राप्ति हो जाती है।

(७) वृक्कशोथावस्था—वृक्कों पर आक्रमण होने से सारी देह पर शोथ आ जाता है।

(८) रक्तस्रावावस्था—भिन्न-भिन्न यन्त्र पर आक्रमण होने से भिन्न-भिन्न मार्ग से रक्तस्राव होने लगता है।

रूप—इस ज्वर में प्रलाप, तृषा, निद्रानाश, सिर में दर्द, बेचैनी, जिह्वा पर सफेद या पीला मैल जम जाना, क्षुधानाश, तन्द्रा, खट्टी वमन, नेत्र लाल, उदर के हृदयाधरिक प्रदेश (कौड़ी स्थान Epigastric) में पीड़ा, मलावरोध या अतिसार और क्वचित् कामला, ये लक्षण होते हैं।

ताप आने के समय किञ्चित् ठंडी और रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यह ताप घटकर १०१ डिग्री और बढ़कर १०४ डिग्री तक हो जाता है। कभी-कभी १०७ डिग्री से भी अधिक हो जाता है।

इस ज्वर के प्रारम्भ में आवेग सन्तत ज्वर के नियमानुसार होता है। फिर रूपान्तर होकर ४–५ दिन पश्चात् सतत ज्वर के समान हो जाता है। ये दोनों प्रकार ७ से १२ दिन के भीतर स्वयमेव शमन हो जाते हैं। किन्तु धातुओं में विष लीन रहने से इस रोग का आगमन पुनः

हो जाता है। सम्यक् चिकित्सा न होने से यह ताप महीनों तक नहीं छोड़ता। इस तरह इसका अन्त मन्द वेग सह जीर्णज्वर में या मृत्यु में भी आ जाता है।

उपद्रव—सोहा में सौत्रिक तन्तुओं की उत्पत्ति होकर उसका दृढ़ हो जाना, यकृत् में सौत्रिक तन्तु की उत्पत्ति, हृदय और मस्तिष्क में शोथ, फेफड़ों में भी सूजन और मधुमेह, ये सब उपद्रव जीर्ण ज्वर हो जाने पर उत्पन्न होते हैं।

सन्तत ज्वर चिकित्सा।

प्रतिबन्धक उपाय—मच्छरों को दूर करने का प्रयत्न करें।

लोबान, गूगल या राल का धूप रोज सन्ध्या समय पर करते रहने से मच्छर भाग जाते हैं।

तमाखू या गन्धक का धुँआ करने से मच्छर चले जाते हैं, परन्तु गन्धक के धुँवे से खराब होने वाला सामान कमरे में से बाहर निकाल लेना चाहिये, तथा धुँआ करने पर खिड़की और दरवाजे बन्द करके मनुष्यों को भी बाहर निकल जाना चाहिये।

निम्न मच्छर नाशक मिश्रण तैयार कर मच्छरों के स्थानों पर छिड़क देने से सब मच्छर मर जाते हैं।

पेट्रोल	Petrol	१ गैलन
कार्बोलिक एसिड	Carbolic Acid	८ औंस
नेफथेलिन	Nephthalene balls	८ औंस
फोर्मेल्डी हाइड	Formaldehyde	४ औंस
ऑइल सिट्रोनेला	Oil Citronella	४ औंस

इन सबको मिलाकर फ्लिट की तरह छिड़कें।

अथवा अच्छे केरोसीन तैल १ गेलन में कार्बन टेट्रा क्लोराइड Carbon Tetrachloride २ औंस मिलाकर मच्छरों के स्थानों पर छिड़कते रहने से मच्छर नष्ट हो जाते हैं।

मशहरी या मच्छरदानी लगाकर सोवें और प्रकाशयुक्त स्वच्छ मकानों में रहें।

रोगशामक चिकित्सा—कोष्ठबद्धता हो तो उसे प्रारम्भ में ही दूर कर देना चाहिये।

रोगी को प्रारम्भ में लंघन कराकर केवल दूध पर रक्खें। दोपहर को मुसम्बी का रस, अंगूर या अमरूद दे सकते हैं। अमरूद विषम ज्वर के कीटाणुओं का दुश्मन है। केवल अमरूद खिलाने से चातुर्थिक ज्वर भी अनेक वार विना औषधि से शमन हो जाता है।

यदि रोगी को भोजन कराया जाता है, तो प्लीहावृद्धि अधिक होती है; और ज्वर भी शीत सह वार-वार आक्रमण करता रहता है।

जल गरम करके शीतल होने पर आवश्यकतानुसार देते रहें।

कमरे में प्रातः-सायं धूप करें। मच्छर विशेपतः सन्ध्याकाल में ही आते हैं। अतः सूर्यास्त के वाद ठीक सन्ध्या होने पर धूप नियमित करते रहें।

कोई उपद्रव उत्पन्न हो जाय तो उपद्रवानुसार चिकित्सा करें। उपद्रवों के लिये विशेप चिकित्सा त्रिदोपज ज्वर चिकित्सा में लिखे अनुसार करें।

प्रारम्भ में विप को जलाने और दोप को पचन कराने के लिये रत्नगिरी रस धनिया-मिश्री के हिम के साथ देना विशेप लाभदायक है। इसके वाद लक्ष्मीनारायण रस, मधुरान्तक वटी (र० ५४४) और प्रवालपिष्टी देते रहने से ताप जल्दी शमन हो जाता है। इन तीनों औपधियों को नियमपूर्वक प्रातः-सायं देते रहें। दोपहर को मधुरान्तक वटी और प्रवालपिष्टी दें, किन्तु लक्ष्मीनारायण रस न दें।

प्रारम्भ से ही इन तीनों औपधियों का प्रयोग किया जाना अत्यन्त हितकर है। इन औपधियों के प्रयोग काल में लंघन किया जाय, तो कदापि नया उपद्रव नहीं हो सकता; अधिक शक्तिपात नहीं होता और विप जलकर ताप निःसन्देह थोड़े ही दिनों में दूर हो जाता है।

अनेक समय इस ताप में अतिसार होकर मन्थरज्वर के समान रूप प्रतीत होते हैं। उस समय अतिसार को जल्दी वन्द करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। मंथर ज्वर के समान इसकी चिकित्सा करें। अति शक्तिपात होने पर सूतशेखर रस का सेवन करावें।

दोष पचन के लिये—रत्नगिरीरस (र० ३७६) निम्बादिचूर्ण (र० ६१४), अमृत चूर्ण (र० ५८३) या महासुदर्शन चूर्ण (र० ५८२) ३-४ दिन तक देते रहना चाहिये।

कोष्ठबद्धता हो, तो—प्रारम्भ में आरग्वधादि क्वाथ (र० ६२१) या अश्वकंचुकी रस (र० ३७७) अथवा ज्वरकेसरी वटी (र० ३७३) देकर कोष्ट शुद्धि करावें। किन्तु विरेचन औषधि बार-बार न दें।

रोगशामक औषधियाँ—विश्वतापहरण रस (र० ३६८), शीतभंजी रस (र० ३६६), लक्ष्मीनारायण रस (र० ३८८), नारायण ज्वरांकुश (र० ३७३), महाज्वरांकुश (तीनों विधि र० ३७४), मलेरिया वटी (र० ३६६), विषमज्वरांतक वटी (र० ५४२), इनमें से अनुकूल हो वह देते रहें। इनमें लक्ष्मीनारायण रस अधिक सौम्य है। यदि शीत अधिक है; तो शीतभंजी रस देना विशेष हितकारक है। शीतभंजी रस दूसरी विधि या नारायण ज्वरांकुश देना हो, तो कम मात्रा में देवें।

वमन अधिक हो, तो—प्रवालपिष्टी, कामदुधा रस (र० ४५२), सूतशेखर रस (र० ५०६), वान्तिहृद रस (र० ४५०), एलादि चूर्ण (र० ५८६), एलादि वटी (र० ५५५), अमृताष्टक क्वाथ (र० ६२२), कण्टकार्यादि क्वाथ (र० ६२२), इनमें से अनुकूल औषधि रोगशामक औषधि के साथ देते रहें।

दुर्गन्धयुक्त अतिसार हो, तो—सर्वाङ्गसुन्दर रस (र० ५२०), सूतशेखर रस (र० ५०६) या कनकसुन्दर रस (र० ४०६) देवें।

वृक्कस्थान पर शोथ हो, तो—रोगशामक औषधि के साथ (आध घण्टे पश्चात्) शिलाजीत २-२ रत्ती दिन में २ समय देते रहें या सौंफ का अर्क देते रहें। इससे प्यास, दाह और मूत्रावरोध दूर होते हैं। अथवा वसन्त-कुसुमाकर रस (र० ४८१) या मूत्रकृच्छ्रान्तक रस (र० ४८०) दिन में २ बार देते रहें।

वातावरण शुद्धि के लिये—माहेश्वरधूप प्रथमविधि (र० ७७६), अपराजित धूप (र० ७७६), या सहदेव्यादि धूप (र० ७७६) प्रातः-सायं करते रहें।

प्रलाप शमन के लिये—प्रलापहर लेप (र० ७५७) लगावें; तथा कस्तूर्यादि वटी (र० ५४३) या वातकुलान्तक रस (र० ४५८) दिन में २-३ बार देवें। तगरादि कषाय अथवा ब्राह्मी का क्वाथ दिन में २ या ३ समय पिलाने से भी प्रलाप सत्वर दूर होता है और शान्त निद्रा आ जाती है।

जीर्णरोग हो तो—गदमुरारि रस (र० ३८६ अमृतारिष्ट के साथ), जयमंगल रस (र० ३८१), अष्टमूर्त्ति रसायन (र० ३४१), नारायणज्वरांकुश (र० ३७३), लक्ष्मीनारायण रस (र० पृ० ३८८), इनमें से प्रकृति और रोगबल का विचार करके देवें। यदि पहले उपदंश हो गया हो, तो अष्टमूर्ति रसायन देना विशेष हितकर है।

जीर्णरोग में शक्ति के रक्षणार्थ—(१) वसन्तकुसुमाकर रस (र० ४८१), मृगाङ्क रस (र० ४३६), हेमगर्भपोटली रस (र० ४४१ अतिसार हो, तो), लक्ष्मीविलास रस (र० ४४१); या पूर्ण चन्द्रोदय रस (र० ३१८ द्राक्षारिष्ट के साथ), इनमें से कोई औषधि हृदय की निर्बलता हो गई हो, तो देते रहें।

(२) ब्राह्मीवटी (र० ३६५), मौक्तिकपिष्टी और गिलोयसत्व को शहद के साथ मिलाकर दिन में २ समय देते रहने से हृदय शिथिल नहीं होता; और मस्तिष्क शक्ति का संरक्षण होता है।

सतत ज्वर।

सतत ज्वर—रोज दो बार आने वाला ताप, डबल क्वॉटिडियन फीवर Double Quotidion Fever।

इस ताप में तीनों दोष दूषित होते हैं। इनमें भी प्रायः पित्त अधिक दूषित होता है। यह ज्वर रात दिन में दो बार आता है, कभी बिल्कुल उतर जाता है तो कभी कुछ अंश में शेष रह जाता है। दिन-रात में संतापवृद्धि दो समय होती है। यह ताप कष्टसाध्य है। जीर्ण हो जाने पर इसी को कालज्वर कहते हैं। इस कालज्वर का वर्णन आगे पृथक् किया जायगा।

इस ताप का विष बहुधा रक्तधातु में रहता है। इस रक्त रूप दूष्य के दूषित होने से या आमाशयस्थ रस दूषित होने से एक दिन में दो चार ताप आ जाता है।

यदि वातप्रकोप होता है तो रोगी का मुँह निस्तेज, श्याम, शरीर कृश और मलावरोध बना रहता है। पित्तप्रकोप में मुख और नेत्र लाल या पीले, नाखून पीले, पतले दस्त, अधिक प्यास, स्वेद, बेचैनी और निद्रानाशादि लक्षण होते हैं। कफप्रकोप में छाती (फुफ्फुस) में भारीपन, शीत लगना, आममिश्रित सफेद दस्त और अरुचि आदि उपद्रव होते हैं।

इस ताप को डाक्टरी में इन्टरमिटन्ट फीवर के अन्तर्गत माना है। इन्टरमिटन्ट ताप के प्रारम्भ में १-२ दिन अस्वस्थता (शिर में दर्द, हाथ-पैर टूटना, उबाक, बेचैनी, अरुचि आदि अवस्था) रहती है। फिर अकस्मात् शीत लग कर ताप का आवेग आता है। इसकी तीन अवस्था होती हैं। शीतावस्था, ज्वरावस्था और स्वेदावस्था।

प्रथमावस्था—पहली शीतावस्था में कमकमाटी (कम्प) आकर दाँत बोलने लगते हैं; फिर रोमांच होकर ठण्डी भर जाती है; और सारा शरीर काँपने लग जाता है। दो-चार रजाई उढ़ाने पर भी ठण्डी कम नहीं होती। मुँह पर निस्तेजता, तीव्र नाड़ी, श्वासोच्छ्वास वेग से चलना, वमन होना, भीतर में ताप वृद्धि होना (गुदा में थर्मामीटर लगाने पर ताप स्पष्ट जाना जाता है), पेशाब ज्यादा और जल के समान होना, इत्यादि रूप दीखते हैं। यह अवस्था ५ से १५ मिनट तक या कभी-कभी घण्टे दो घण्टे रह जाती है।

द्वितीयावस्था—फिर दूसरी अवस्था का प्रारम्भ होता है। शनैः-शनैः या तुरन्त ताप बढ़कर १०३ से १०५ डिग्री तक (बालक को १०६ तक) हो जाता है। शरीर अति गरम लाल हो जाता है, वमन, शिर में दर्द, तेज नाड़ी, बेचैनी, प्रलाप, पेशाब का कम हो जाना, कभी पेशाब में एल्ब्युमिन जाना, लीहा बढ़ना, इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं। यह अवस्था ३ से १२ घण्टे तक (सतत और अन्येद्युष्क में कम तथा तृतीयक और चातुर्थिक में बहुधा ज्यादा समय तक) रहती है। फिर

यह अवस्था आगे-आगे बदलती जाती है।

तृतीयावस्था—अन्त में पसीना आकर तीसरी अवस्था का प्रारम्भ होता है। पहले गले और मस्तक पर, फिर सारे शरीर में प्रस्वेद आना, देह में लघुता का भासना, तीहा का कम हो जाना और मानसिक शान्ति आदि देखने में आते हैं। यह अवस्था २ से ४ घण्टे तक रहती है। इस अवस्था में ताप उतर जाता है। कभी कुछ अंश में रह जाता है। मूत्र पीला, गाढ़ा, ज्यादा परिमाण में और अधिक बार आता है। कभी मल शुद्धि भी हो जाती है।

ये तीन अवस्थाएँ सतत,एकाहिक, तृतीयक और चातुर्थिक,इन सबमें प्रतीत होती हैं। तीसरी अवस्था के पश्चात् रोगी को निद्रा आ जाती है; और निद्रा पूरी होने पर शारीरिक स्वस्थता और मानसिक प्रसन्नता का अनुभव होता है।

सतत ज्वर चिकित्सा।

रसधातु में दोष रहने के कारण विषम ज्वर भोजन के पश्चात् शीत सहित आता है, तब वमन और लंघन कराना अत्यन्त हितावह है।

भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है, कि सन्ततादि विषम ज्वरों की चिकित्सा में रोगी का देह, वमन, विरेचन या बस्ति द्वारा शोधन कर लेना हितावह है। रोगी क्षीण हो, तो वमन, विरेचन न करावें, केवल दूध की निरूह बस्ति देकर शोधन करें।

भगवान् आत्रेय कहते हैं कि विषम ज्वर में वातप्रकोप अधिक हो, तो सिद्ध घृत (षट्पलादि घृत) का पान, अनुवासन बस्ति तथा स्निग्ध और उष्ण गुण वाले पदार्थों का सेवन करा कर वातज्वर का शमन करना चाहिये। पित्तप्रकोप शमनार्थ सिद्धघृत मिश्रित निवाया दूध पिलाकर मल शुद्धि कराना चाहिये; और शीतल कड़वी औषधि देकर ताप को दूर करना चाहिये। एवं कफ की प्राधान्यता में वमन, पाचन औषधि, लङ्घन, रूक्ष चिकित्सा और चरपरी औषधियों के क्वाथादि देवें।

दोषपाचन और शोधनार्थ—(१) दो तोले त्रिफला के क्वाथ में गुड़ मिलाकर प्रातःकाल पिलावें।

(२) गिलोय, नीम की अन्तर छाल और आँवले का क्वाथ कर शहद मिलाकर दिन में २ समय पिलावें।

(३) इन्द्रजौ, परवल के पत्ते और कुटकी का काथ कर पिलाने से मल शुद्धि होकर ताप दूर हो जाता है।

(४) **वर्धमान पिप्पली प्रयोग**—गौ के दूध में ४ गुना जल और पीपल पीस मिला, दूध शेष रहे तब तक उबाल कर पिलावें। रोज १-१ या ३-३ पीपल और उसके साथ थोड़ा दूध भी बढ़ाते जावें। इस तरह ७ या १० दिन बढ़ावें। फिर क्रमशः पीपल घटाते जावें। इस प्रयोग से विषम ज्वर शमन हो जाता है।

(५) लहसन को तिल के तैल में मिला चटनी बनाकर खिलावें।

(६) कलौंजी को अग्नि में भून गुड़ मिलाकर दिन में २ वार खिलावें।

(७) भाँग को गुड़ में मिलाकर खिलाने से ताप रुक जाता है।

(८) तुलसी या द्रोणपुष्पी के स्वरस में कालीमिर्च मिलाकर पिलावें।

(९) **कल्पनाथ वटी**—कल्पनाथ (कालमेघ) की पत्ती ५ तोले, कालीमिर्च २॥ तोले और शुद्ध वच्छनाग ३ माशे, इन तीनों को मिला कल्पनाथ के रस या क्वाथ से ६ घंटे खरल कर १-१ रत्ती की गोलियाँ बनालें। मात्रा २ से ४ गोली तक दिन में ३ समय निवाये जल से देने से सब प्रकार के विषम ज्वर दूर हो जाते हैं।

(१०) छोटी हरड़, काली मुनक्का और जीरे का काथ अथवा द्रोण-पुष्पी या तुलसी के रस में कालीमिर्च का चूर्ण मिलाकर पिलाने से दोष पचन होकर ताप दूर हो जाता है।

(११) इन्द्रजौ, परवल के पत्ते और कुटकी का क्वाथ बनाकर पिलावें।

(१२) निर्गुण्डी के हरे पत्ते को मसल वस्त्र में बाँधकर वार-वार सूँघते रहने और ४-५ बूँद रस की नाक में डाल देने से भी शीत ज्वर दूर हो जाता है।

(१३) २ रत्ती फिटकरी का फूला मिश्री के साथ देने से शीत ज्वर दूर होता है।

(१४) अमृताष्टक क्वाथ (पृ० ६२२), नागरादि क्वाथ तीसरी विधि

(र० ६२३), देवदार्वादि क्वाथ दूसरी विधि (र० ६२६), महासुदर्शन चूर्ण (र० ५८२), लघुसुदर्शन चूर्ण (र० ५८३), अमृता चूर्ण (र० ५८३), निम्बादि चूर्ण (र० ६१४), करंजादि वटी तीसरी विधि (र० ५४४), विपमज्वरांतक वटी (र० ५४२), ज्वरारि वटी (र० ५४१), लक्ष्मीनारायण रस (र० ३८६), मलेरिया वटी (र० ३६६), भूतभैरव चूर्ण (र० ३६८), हरतालगोदन्ती भस्म (र० ३६३), शम्बुक भस्म (र० २६५), महाज्वरांकुश प्रथम विधि (र० ३७५), मृत्युञ्जयरस (र० ३८५), इनमें से अनुकूल औपधि देने से दोष पचन होकर ताप उतर जाता है। ये सब औपधियाँ हितकारी हैं। इन सबको अनेक वार हमने प्रयोग में ली हैं और ले रहे हैं।

(१५) बद्धकोष्ठ हो, तो—अश्वकंचुकी रस (र० ३७७) या महाज्वरांकुश दूसरी विधि (र० ३७५) दिन में दो या एक वार देते रहें।

(१६) कफ प्राधान्य ज्वर हो, तो—विश्वतापहरण रस (र० ३६८), शीतभंजी रस (र० ३६६), मलेरिया वटी (र० ३६६), नारायण-ज्वरांकुश (र० ३७३), महाज्वरांकुश रस तीसरी विधि (र० ३७५), मल्लादि वटी (र० ३६७), अचिन्त्यशक्ति रस (र० ५३५), ज्वरमुरारि अर्क (र० ६७०), भूतभैरव चूर्ण (र० ३६८), हरताल भस्म (र० २६८), त्रिभुवनकीर्त्ति रस (र० ३७८ तुलसी के रस और शहद के साथ), इनमें से अनुकूल औपधि देने से ज्वर सत्वर दूर हो जाता है।

इस ज्वर के प्रारम्भ में मल शुद्धि कर लेनी चाहिये; पश्चात् अमृता चूर्ण देने से ज्वर सत्वर दूर हो जाता है। कफादि उपद्रव भेद से या प्रकृति भेद से लाभ न होने पर कफाधिक रोग में हम मल्लयुक्त औपधि देते हैं। परन्तु जो सोमल वाली औपधि सहन नहीं कर सकते; उनको विश्वतापहरण रस या शीतभंजी रस देते हैं। नाजुक प्रकृति और पित्त-प्राधान्य प्रकोप वालों को विशेपतः लक्ष्मीनारायण रस या सुदर्शन चूर्ण ही देते रहते हैं।

डाक्टरी में क्वीनाइन विपम ज्वर के लिये उत्तम औपधि मानी गई है। क्वीनाइन में क्वीनाइन सल्फास, क्वीनाइन वाई सल्फ, क्वीनाइन

हाइड्रोक्लाराइड, कीनाइन वाई हाइड्रोक्लोराइड, कीनाइन हाइड्रो ब्रोमाइड और यू क्वीनाइन (स्वादरहित क्वीनाइन) आदि अनेक प्रकार हैं। कितनेक समय जल्दी कार्य लेने के लिये जब हमें भी क्वीनाइन वाली औषधि देनी पड़ती है; तब ज्वरमुरारि अर्क का उपयोग करते हैं। या केपसुल में क्वीनाइन भर कर निगलवा देते हैं। किन्तु किसी से क्वीनाइन सहन नहीं होता है और क्वीनाइन देने की आवश्यकता भी है, तब हम दूध पिलाकर मलेरिया वटी नं० २ देते हैं। क्वीनाइन देकर दूध पिलाने की अपेक्षा दूध पिलाने के पश्चात् क्वीनाइन देने में व्याकुलता नहीं होती; और हानि भी कम होती है।

कीनाइन से आन्तरिक जीवनीयशक्ति निर्बल बनती है, असंख्य रक्ताणुओं का नाश हो जाता है, मस्तिष्क को उष्णता पहुँच जाती है, यकृत् को हानि पहुँचती है और कइयों को तो बधिरता तक आ जाती है। इसलिए हम जहाँ तक बनता है इसका उपयोग नहीं करते।

डाक्टरी में कीनाइन के अतिरिक्त प्लेज्मोकीन (Plasmoquin), जो कुछ वर्षों से जर्मनी से आती है और ईसोनोफील (Isonofele) आदि औषधियाँ भी हैं, परन्तु वे सब कीनाइन के सदृश या इससे भी अधिक जुल्मी हैं। इसोनोफील देने के पश्चात् मुँह पर पाण्डुता अधिक आ जाती है अतः ये सब रोगी का वास्तविक हित नहीं करतीं।

इस ज्वर के उतर जाने के पश्चात् गुड़, खटाई, सूर्य के ताप का सेवन या इतर अपथ्य सेवन करने पर यह पुनः आने लग जाता है। इसलिए विषम ज्वर दूर हो जाने के पश्चात् २-३ मास तक पथ्य का आग्रहपूर्वक पालन करना चाहिये; और ५-१० दिन तक ताप की औषधि कम मात्रा में लेनी चाहिये। फिर प्लीहादि यन्त्रों की विकृति दूर करने के लिये जीर्णज्वर पर कही हुई सुवर्णमालिनीवसन्त या लघुमालिनी वसन्त कुछ दिनों तक सेवन करनी चाहिये। इन औषधियों के सेवन से भीतर की शक्ति भी सबल हो जाती है।

जीर्णज्वर हो गया हो, तो—सुवर्णमालिनी वसन्त (र० ३९९), लघुमालिनी वसन्त (र० ४०२), जयमंगल रस

(र० ३८१), गदमुरारि रस (र० ३८६), अमृतारिष्ट (र० ६५५), चन्दनादि लोह (र० ३६६), इनमें से अनुकूल औषधि का सेवन करावें। ताप अधिक रहता हो तो जयमंगल रस देवें। सीहावृद्धि हो तो सुवर्णमालिनी या लघुमालिनी देवें। यदि मूत्र दोष हो, या पित्तप्राधान्यता हो तो चन्दनादि लोह का सेवन करावें। जीर्ण ज्वर के लिये अधिक विचार आगे जीर्ण ज्वर चिकित्सा में किया जायगा।

ज्वरनाशक अञ्जन—लहशुनादि अञ्जन (र० ७४२) या प्रचेतानाम गुटिका (र० ७४५) का अञ्जन कराने से ज्वर का वेग शिथिल हो जाता है।

वातावरण शुद्धि के लिये—माहेश्वर धूप (र० ७७५), अपराजित धूप या सहदेव्यादि धूप (र० ७७६) का उपयोग करें।

कालज्वर।

कालज्वर—काला आजार—आसामज्वर—लीश्मनियासिस (Kala Azar, Assam Fever, Leishmaniasis.)।

यह कालज्वर सतत ज्वर ही है; किन्तु सामान्य सतत ज्वर की अपेक्षा यह अधिक प्रबल, अति दुःखदायी, दीर्घस्थायी और संक्रामक होने से इसका विवेचन पृथक् किया है। इस रोग में यकृद्-सीहावृद्धि, रक्तपित्त (Haemorrhage), रक्त की न्यूनता और दुर्बलता विशेष रूप से देखने में आती हैं। इस ताप का विष धातु में लीन रहने से बीच-बीच में छूट-छूट कर बार-बार ज्वर आता रहता है। इसलिये इस ज्वर को दुश्चिकित्स्य माना है।

यह ज्वर प्रायः आसाम, बंगाल, उड़ीसा और बिहार में अधिकांश में प्रतीत होता है। कभी-कभी मध्यप्रान्त में हो जाता है; तथा इस देश के अतिरिक्त, चीन, उत्तर अफ्रीका और अरबस्थानादि देशों में भी होता है। यह रोग उष्ण कटिबन्ध प्रदेश का होने से यूरोपवासियों को नहीं होता।

यह रोग विशेषतः खटमल द्वारा एक से दूसरे के शरीर में प्रवेश करता है, अतः यह कीटाणुजन्य है। इस रोग के कीटाणुओं की शोध लीश्मन साहब (Leishman) ने की है। इसके कीटाणु भी

विषमज्वर के कीटाणु सदृश खटमल शरीर में अपना जीवन-चक्र बनाते हैं।

सम्प्राप्ति—इस रोग में अस्थियों में रहने वाली मज्जा में, फुफ्फुसों, आँतों एवं अंडकोषादि सब भागों में कीटाणुओं का प्रवेश हो जाता है। यकृद्प्लीहा में कीटाणुओं का प्रवेश अधिकांश में होने से वे बढ़ जाते हैं, उनमें सौत्रिक तन्तुओं (Fibrous tissue) की उत्पत्ति हो जाती है। कभी-कभी बड़ी आंत में व्रण तक हो जाते हैं।

लक्षण—इस रोग में मुँह का पाण्डुवर्ण, अग्निमांद्य, बलह्रास, कृशता, रक्त में से रक्ताणु और श्वेताणुओं की संख्या कम हो जाना; हाथ-पैर और मुँह पर शोथ आ जाना, शनैः-शनैः पेट की श्यामता बढ़ते जाना, प्लीहा की अतिवृद्धि, यकृतवृद्धि इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं। इन लक्षणों के अतिरिक्त इस रोग में चिरकारी किन्तु अनियत काल तक ज्वर आता रहता है।

स्वेद की अधिकता, सर्वाङ्ग या किसी एक भाग में शोथ, मुँह और कंठ पर प्रातःकाल में शोथ का आना, सायंकाल को उतर जाना, लम्बी अस्थियों में शूल, शाखाओं में पीड़ा, रक्त में श्वेत जीवाणुओं की संख्या का बहुत कम हो जाना, एवं रक्ताणुओं की संख्या भी लगभग आधी हो जाना, स्नायुकृशता, व्रण और श्लेष्मल त्वचा या बाह्य त्वचा में से रक्तस्रावादि लक्षण शनैः-शनैः उत्पन्न होकर बढ़ते जाना इत्यादि चिह्न प्रतीत होते हैं।

यह ज्वर बहुत बलपूर्वक आता है। प्रारम्भ में दिन-रात में यह दो बार आता है। विशेषतः यह रोग शीतकाल में होता है और बहुधा २५ वर्ष से छोटी आयु वालों को ही होता है।

कुछ समय तक यह ज्वर नहीं आता और फिर आने लग जाता है। इस तरह दो तीन बार ज्वर आकर ३-४ दिन में मन्द और दीर्घ स्थायी (Chronic) बन जाता है, तब शरीर का रंग काला होता जाता है। इसीलिए इसको श्याम या काला आजार नाम दिया गया है।

रोगविनिर्णय—प्रारम्भ में सन्तत ज्वर, आन्त्रिक ज्वर और

इस काले ज्वर के लक्षण समान ही रहते हैं। इस हेतु से परीक्षा में असुविधा रहती है। ज्वर का दिन में दो वार आ जाना और कीनाइन या इतर ताप उतारने वाली औषधि पूर्ण मात्रा में देने पर भी ताप का शमन न होना, इन पर से अनुमान हो सकता है; एवं कुछ दिन बाद यकृद्प्लीहा वृद्धि हो जाने पर भी रक्त परीक्षा द्वारा निर्णय हो सकता है।

डाक्टरी में प्लीहा की अपेक्षा यकृत् में से सूचिका द्वारा रक्त निकाल उसमें कीटाणु देखकर निर्णय करने को विशेष अनुकूल माना है।

उपद्रव—कभी अतिसार, कभी मसूढ़ों या नाक में से बार-बार रक्त आते रहना, रोग अति बढ़ने पर गालों के मांस में कोथादि उपद्रव उत्पन्न हो जाना और कभी-कभी फुफ्फुसों का दाह-शोथ, क्षय, प्रवाहिका आदि लक्षण भी हो जाते हैं।

चिकित्सा—इस रोग के समय में स्थान स्वच्छ रक्खें। खटमलों को दूर करें। नारियल का तैल सब जगह छिड़कें। तैल, गुड़ और खटाई का त्याग करें। जल गरम कर शीतल किया हुआ पीवें तथा पथ्यापथ्य विषमज्वर और जीर्णज्वर के समान पालन करें।

दोष पाचनार्थ—रत्नगिरी रस (र० ३७६) दें। अथवा मलावरोध हो, तो अश्वकंचुकी रस (र० ३७७ दो तोले गुलकन्द के साथ) देवें। यह ज्वर सतत ज्वर का ही भेद है अतः सतत ज्वरनाशक आयुर्वेदिक औषधि ही इस ज्वर में लाभ पहुँचाती है।

धातु में विलीन दोष शोधनार्थ—अष्टमूर्त्ति रसायन (र० ३४१) या त्रिभुवनकीर्त्ति रस (र० ३७८) १-१ रत्ती अदरख के रस और शहद के साथ दिन में तीन वार दें अथवा महासुदर्शन चूर्ण या लघुसुदर्शन चूर्ण (र० ५८३) देवें।

पित्त वृद्धि हो, तो—लक्ष्मीनारायण रस (र० ३८८) और मधुरान्तक वटी (र० ५४४), दोनों को मिला कर दिन में दो वार दें।

डाक्टरी में इस रोग में (युरिया स्टिबमिन Urea Stibamin) का इन्जेक्शन अधिक लाभप्रद माना गया है। इसी तरह (एन्टीमनी टारट्रेट Antimony Tartrate) का इन्जेक्शन भी लगाया जाता

है। ई० सं० १६३२ से इस औषधि का नाम एन्टीमनी एट पोटासी टार्ट्रास रक्खा गया है।

जीर्ण ज्वर होने पर—प्लीहान्तक गुटिका (र० ४६१) या प्लीहान्तक चूर्ण (र० ५८८) दिन में २-२ समय देते रहें।

शोथ हो, तो—मकोय का अर्क दिन में ३-३ बार पिलाते रहें।

सूचना—कीनाइन या इतर तीव्र औषधि ताप उतारने के लिये न दें। चढ़े हुए ताप में भोजन कराने से प्लीहा अधिक बढ़ती जाती है और भोजन न कराने से (ताप उतर जाने पर भोजन कराने से) प्लीहा नहीं बढ़ती। इसलिये रोगी को ताप हो तब तक भोजन नहीं देना चाहिये।

एकाहिक ज्वर।

एकाहिक ज्वर-अन्येद्युष्क-क्वॉटिडियन फीवर—Quotidian Fever.

एक दिन अर्थात् २४ घण्टे में एक समय आने वाला तथा दूसरे दिन कुछ न्यूनाधिक समय पर आने वाला यह ताप है। इस ज्वर को सुश्रुत-संहिता में मांसाश्रित तथा चरकसंहिता में रक्ताश्रित और मांसाश्रित कहा है। इस ताप में पित्त या पित्त-कफदोष अधिक दूषित होता है।

लक्षण—यह ज्वर बहुधा अगस्त-सितम्बर, (शरद् ऋतु) में विशेष फैलता है। इसका प्रारम्भ प्रायः पीठ में से ठण्डी लग कर होता है। शीत, क्षुधानाश, फीका मुँह, प्यास, उबाक, शिरदर्द, प्रलाप, बार-बार थोड़ा-थोड़ा पेशाब, मन्दनाड़ी, हाथ-पैर टूटना, तन्द्रा, बहुधा मलावरोध, ये सब लक्षण इस ज्वर में प्रतीत होते हैं।

चिकित्सा—इस रोग में सतत ज्वर में लिखी हुई औषधियाँ ही दी जाती हैं; क्योंकि सब प्रकार के विषम ज्वरों का कारण एक-सा होने से औषधियाँ भी बहुधा समान ही रहती हैं।

(१) त्रिफला, मुनक्का, नागरमोथा और कुड़े की छाल का क्वाथ कर पिलाने से अन्येद्युष्क ज्वर शमन हो जाता है।

(२) काकजंघा, खिरैंटी, काली तुलसी, ब्रह्मदण्डी, लज्जालु, प्रश्नपर्णी, अपामार्ग, सहदेवी, भाँग और भाँगरा, इनमें से किसी एक की जड़ को निमन्त्रित कर पुष्य नक्षत्र में उखाड़ लाल डोरे से लपेट कर हाथ या गले में बाँध देने से एकाहिक ज्वर चला जाता है।

(३) अरनी की जड़ को शिर पर बाँधने से (या पीसकर शिर पर लेप करने से) सब प्रकार के विषम ज्वर नष्ट हो जाते हैं।

(४) ताप आने से पहले अपामार्ग की मूल को कुमारी के काते हुए सूत से शिखा पर बाँध देने से या अपामार्ग की मूल का टुकड़ा पान के साथ खिला देने से ताप नहीं चढ़ता।

(५) अगस्त्य के पत्तों का रस सुँघाने से एकाहिक और चातुर्थिकादि ताप रुक जाता है।

(६) उल्लू के दाहिनी ओर के पर को सफेद सूत में बाँधकर कान पर बाँध देने से एकाहिक ज्वर शमन हो जाता है।

(७) तुलसी पत्र और अदरख की चाय बनाकर पिलाने से एकाहिक ज्वर रुक जाता है।

(८) आक के ४ फूलों की गुड़ में गोली बनाकर खिला देने से रोज आने वाला विषम ज्वर दूर हो जाता है।

(९) गोकर्णी या ब्रह्मदण्डी के रस की ४-४ बूँद नाक में डालने से विषम ज्वर का विष नष्ट हो जाता है।

(१०) नौसादर का चूर्ण २ से ३ रत्ती मिश्री या गुड़ में मिलाकर दिन में २ समय खिलाने से विषम ज्वर की निवृत्ति होती है।

(११) सफेद कनेर या आक की मूल को शनिवार की शाम को निमन्त्रण देवें। फिर रविवार को सूर्योदय से पहले किसी से न बोलकर मूल निकाल लावें। पश्चात् कुमारी के काते हुए काले सूत से धूप देकर कान पर बाँधने से सब प्रकार के विषम ज्वर दूर हो जाते हैं। स्त्रियों को बाँधना हो तो बाँये कान पर बाँधें।

(१२) सूर्योदय से पहले स्नान कर कुश और पीपल का पत्र हाथ में लेकर निम्न मन्त्र से तिलोदक देने (तर्पण करने) से एकाहिक ज्वर

चला जाता है।

गङ्गाया उत्तरे कूले अपुत्रस्तापसो मृतः।
तस्मै तिलोदके दत्ते मुञ्चत्येकाहिकोज्वरः॥

(१३) अनुचर और मातृगण सह उमापति सदाशिव भगवान् का पूजन करने से तुरन्त विपम ज्वर चला जाता है।

(१४) विष्णुसहस्र नाम द्वारा सर्व व्यापक चराचर पति विष्णु भगवान् की स्तुति करने से विपम ज्वर दूर हो जाता है।

(१५) शुद्ध जल से स्नान कर, पवित्र वस्त्र पहन, भगवान् सदाशिव का ध्यान कर, श्रद्धा सह पीपल (अश्वत्थ) के पत्ते पर निम्न मन्त्र लिख, रोगी के दाहिने हाथ पर बाँधने से एकाहिक और तृतीयक ज्वर चला जाता है।

वानरस्य मुखं दिव्यमादित्योदय सन्निभम्।
ज्वरमेकान्तरं घोरं दर्शनादेव नश्यति॥ १ ॥
अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च।
वाराणस्यॉं च यद्दत्तं तन्न स्मर शिवं चरम्॥ २ ॥

(१६) मन्दिर में शाम को जाकर देव के पास ताप नष्ट करने की प्रार्थना करें। सुवह थोड़ा अनाज (२-४ मुट्ठी) देव के पास रखकर प्रार्थना करें; कि ताप को यहाँ रख लें। सुवह मन्दिर में जाने के समय देव-प्रार्थना से पहले रास्ते में किसी से वार्त्तालाप न करें तो ताप की पाली टल जाती है।

भयंकर उष्णता बढ़ जाय, तो—सिर पर या उदर पर वर्फ की थैली रक्खें।

प्यास शमन के लिये—वर्फ के टुकड़े चूसें अथवा आलू-बुखारा या मुनक्का मुँह में रक्खें।

प्लीहा-यकृत् में सौत्रिक तन्तु होने और शोथ आने पर—अलसी की पुल्टिस बाँधें और उसे दिन में ४-६ समय वदलें। या अस्थिदोषहर सेक प्रथम विधि (र० ७७६) से सेकें।

जीर्ण ज्वर हो, तो—अष्टमूर्त्ति रसायन (र० ३४१),

अमृतारिष्ट (र० ६५५), चन्दनादि लोह (र० ३६६), सुवर्णमालिनी वसन्त (र० ३६६), लघुमालिनी वसन्त (र० ४०२), षट्पल घृत (र० ७०६), पञ्चगव्य घृत (र० ७१०), कल्याण घृत (र० ७१५), इनमें से किसी भी अनुकूल औषधि का सेवन करावें ।

यदि ताप पारी के दिन आता रहता है तो उस दिन उसे रोकने वाली औषधि दें । शेष समय पर सुवर्णमालिनी वसन्तादि औषधियों में से कोई एक औषधि देते रहें ।

डाक्टरी में ताप रोकने के लिये कीनाइन दिया जाता है; क्योंकि कीनाइन वाली औषधि से ताप सत्वर रुक जाता है। ज्वरमुरारि अर्क (र० ६७०) देने से भी ताप निःसंदेह दूर हो जाता है ।

तृतीयक ज्वर ।

तृतीयक ज्वर–एकान्तरा आने वाला ताप–हुमागिब ख्वालिस दायरा–टर्शियन फीवर—Tertion Fever ।

यह ताप एक दिन छोड़ तीसरे-तीसरे दिन आता रहता है। इस हेतु से इसको तृतीयक ज्वर कहते हैं ।

इस ज्वर के ३ विभाग हैं। किसी में वातकफप्राधान्यता, किसी में वातपित्त की और किसी में पित्तकफ की प्राधान्यता रहती है । वातकफ प्रकुपित होने से पहले पीठ में दर्द होता है, वातपित्त दोष में पहले शिरदर्द होने लगता है और कफपित्तोल्वण में त्रिकस्थान (कमर के ऊपर और नीचे के सन्धिस्थान) में पीड़ा होती है। तृतीयक ज्वर का दूष्य मेदोधातु है। यह ज्वर शीतकाल में अधिक होता है और इस ज्वर में प्रायः प्लीहावृद्धि भी हो जाती है ।

इन तीन विभागों के करने में मुख्य तात्पर्य यह है, कि शिरोग्रह होने पर शिरोविरेचनादि क्रिया, पीठ में पीड़ा होने पर कफ विलयार्थ स्वेदादि प्रयोग तथा त्रिकस्थान के ग्रहण होने पर विरेचनादि से दोष का हरण करना चाहिये ।

सिद्धान्त निदानकार ने इस ज्वर के मृदु और दारुण, ऐसे दो भेद

किये हैं। इनमें मृदु को स्वल्प लिङ्गवाला होने से सुखसाध्य और दारुण प्रकार, जिसमें मूर्च्छा-प्रलापादि दारुण लक्षण प्रतीत होते हैं; उसे कष्टसाध्य माना है।

मृदु ज्वर—मृदु प्रकार का ज्वर अति तेज होता है, ताप १०५ डिग्री तक आ जाता है, कभी १०६ से १०७ डिग्री तक बढ़ जाता है। शीत लगना, ज्वरावस्था और घर्मावस्था, ये तीनों अवस्थाएँ १० से १२ घण्टे में पूर्ण होकर ताप उतर जाता है। यदि इस ज्वर की चिकित्सा जल्दी न होने से रोग जीर्ण हो जाता है; तो क्षुधानाश, बद्धकोष्ठता, पाण्डुता, दुर्बलता, प्लीहावृद्धि, मुँह काला-सा हो जाना, मुँह पर काले धब्बे हो जाना और ज्वर अनियमित आना इत्यादि लक्षण हो जाते हैं।

दारुण ज्वर—यह तृतीयक ज्वर भी तीसरे दिन ही आता है। इस रोग की उत्पत्ति रोगनिरोधक शक्ति कम हो जाने पर ही होती है। यह ज्वर बहुधा अति तेज नहीं होता; किन्तु १०३ से १०४ डिग्री तक रहता है और इसकी द्वितीयावस्था २४ से ३६ घण्टे तक रहती है। कभी-कभी दूसरी पारी आने तक भी सूक्ष्मांश में शेष रह जाता है। इसमें वमन, शिरःशूल, कटिशूल, अतिसार, पेचिश, बेहोशी, प्रलाप, कभी मुँह या गुदा से रक्त जाना और क्वचित् कामला, ये सब रूप देखने में आते हैं। कभी शीत का प्रारम्भ नहीं होता, और ज्वर बढ़ने लग जाता है। कभी स्वेदावस्था अस्पष्ट रह जाती है। कभी-कभी यह दारुण प्रकार सन्तत ज्वर के समान उग्र मारक का रूप धारण कर लेता है, फिर नाना प्रकार के ज्वरातिशयादि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबका विवेचन सतत ज्वर में किया गया है।

तृतीयक ज्वर चिकित्सा।

इस ज्वर में औषधि सतत और सन्तत ज्वर में लिखी हुई दी जाती है। अधिक पारी हो गई हो तो पहले वमन-विरेचनादि से शरीर शोधन करके चिकित्सा करना विशेष हितकारक है। किन्तु क्षीण देह वाले को वमन-विरेचन न दें। केवल दूध की निरूह वस्ति द्वारा कोष्ठ शुद्धि करें।

जिसका ज्वर कषायादि औषधि, वमन, विरेचन, लङ्घन, स्वेदन और लघुभोजन से शमन न हुआ हो, और शरीर शुष्क होता रहता हो, तो उसकी चिकित्सा सिद्ध घृतादि से करनी चाहिये। किन्तु १० दिन बीत जाने पर भी दूषित कफ का शमन न हुआ हो और लङ्घन का लाभ प्रतीत न होता हो, तो उसे घृत पान न करावें। उसके लिये शमन चिकित्सा ही करनी चाहिये।

(१) **वमन सहित ज्वर पर**—मैनफल, छोटी पीपल (या इन्द्रजौ) और मुलहठी का महीन चूर्ण कर निवाये जल के साथ देने से वान्ति होकर वमन और ज्वर दोनों शमन हो जाते हैं।

(२) **यदि मलावरोध हो, तो**—अमलतास का गूदा दूध के साथ, या निशोथ मुनक्का के रस के साथ, अथवा त्रायमाण दूध के साथ देने से कोष्ठ शुद्धि होकर ज्वर शमन हो जाता है।

(३) **अति तृषा और दाह सह ज्वर हो, तो**—सोंठ, गिलोय, नागरमोथा, रक्तचन्दन और खस का क्वाथ कर, शहद मिश्री मिलाकर दिन में २ समय पिलाने से तृषा और दाह सह तृतीयक ज्वर शमन हो जाता है।

(४) रविवार को अपामार्ग की जड़ उखाड़ ७ लाल तार मिलाकर किये हुए डोरे से कमर पर बाँध देने से तृतीयक ज्वर चला जाता है। परन्तु यह प्रयोग सगर्भा स्त्री के लिये न करें।

(५) ज्वर आने के १ घण्टा पहले कनिष्ठिकांगुलि के समान अपामार्ग की जड़ का टुकड़ा पान के बीड़े में खिलाने से तृतीयक और चातुर्थिक ज्वर निवृत्त हो जाते हैं।

(६) जिस दिन पारी हो उस दिन सुबह सूर्योदय से पहले बिना किसी से बोले १ माशा गुड़ में २॥ पत्ती तुलसी की रखकर गोली बनावें और उसके साथ गुड़ की ४-४ रत्ती की दो गोली भी बनावें। ये तीनों गोली रोगी के हाथ में देवें, केवल गुड़ वाली दो गोलियों को एक-एक पूर्व पश्चिम की ओर फेंकने का इशारा करें (रोगी या चिकित्सक मुँह से न बोलें); फिर तुलसी की पत्ती वाली गोली को खा लेने से तृतीयक

ज्वर रुक जाता है। इस तरह तुलसी पत्र के अभाव में नीम के २॥ पत्तों का भी उपयोग किया जाता है।

(७) कुटकी के चूर्ण को १२ घण्टे आक के दूध में खरल कर १-१ रत्ती की गोलियाँ बना लेवें। इनमें से १ से २ गोली तक ज्वर आने से ४ घण्टे और २ घण्टे पहले देने से ज्वर रुक जाता है।

(८) फिटकरी का फूला ३ से ६ रत्ती तक मिश्री के साथ मिलाकर ताप आने से २ घण्टे पहले खिला देवें, ऊपर जल न पिलावें। प्यास लगे, तो दूध पिलावें और भोजन न देवें, तो ज्वर निवृत्त हो जाता है। पाली के इतर दिनों में २-२ रत्ती फूला दिन में ३ समय मिश्री के साथ २-४ दिन देते रहने से भीतर रहा हुआ ज्वर का विष जल जाता है। ठण्डी लगकर आने वाले ताप के लिये यह हितकर औषधि है।

(९) डाक्टरी में इस तृतीयक ज्वर के लिये कीनाइन ही दिया जाता है। कीनाइन के भिन्न-भिन्न प्रकार के लिये पहले सतत ज्वर में लिखा गया है।

चातुर्थिक ज्वर।

चातुर्थिक ज्वर--दो दिन बाद अथवा चौथे-चौथे रोज आने वाला ताप-तिजारी-हुम्मारावेआ-क्वार्टन फीवर Quartan Fever।

श्री० हारीताचार्य ने लिखा है कि यह चातुर्थिक दारुण विषम ज्वर है। यह सब धातुओं का शोषण करता है; तथा बल, वर्ण और अग्नि का नाश करता है। इस रोग में तीनों दोष कुपित होते हैं। इसका विष अस्थि और मज्जा दूष्य में रहता है। पित्तप्रकोप के साथ जब कफप्रकोप होता है, तब अति शीत सह ज्वर आता है, और फिर तीव्र दाह की भी उत्पत्ति कराता है।

इन विषम ज्वरों को अथर्ववेद के निम्नमंत्र में 'तक्मन्' संज्ञा दी है।

नमः शीताय तक्मने नमो रुराय शोचिषे कृणोमि।
ये अन्येद्युरुभयेद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने ॥१।२६।४

इस ज्वर के कफाधिक्य और वाताधिक्य, ऐसे दो प्रकार हैं। कफप्राधान्य ताप का आरम्भ दोनों जंघाओं की पीड़ा से होता है और वातप्रकोप में सिरदर्द से प्रारम्भ होता है।

यह ताप चौथे के चौथे दिन आता रहता है। बहुधा दो दिन बीच में नहीं आता, किन्तु कभी-कभी दो दिन तक ताप बना रहता है और पहले-पीछे थोड़े-थोड़े समय के लिये शेष भी रह जाता है। ऐसे चातुर्थिक ज्वर को 'चातुर्थिक-विपर्यय' कहते हैं। पाश्चात्य मत वालों के मत से जब दो प्रकार के कीटाणुओं की वृद्धि होती है, तब ज्वर ऐसा घोर रूप धारण करता है। इस प्रकार के ज्वर के हो जाने पर शक्तिक्षय भी अधिकाधिक होता जाता है।

सन्तत ज्वर को छोड़ शेष सब प्रकार के एकाहिक, तृतीयक और चातुर्थिक विषम ज्वरों में शीतावस्था, ज्वरावस्था और प्रस्वेदावस्था, ये तीनों अवस्था सतत ज्वर में लिखे अनुसार होती हैं। इस ज्वर में १०४ डिग्री तक ताप बढ़ जाता है। फिर दूसरी पारी में वही १०५ तक हो जाता है और अधिक समय तक रहता है। इसके आगे यह ज्वर अनियमित बन जाता है। कभी जल्दी तो कभी देरी से आने लगता है। कभी ४–६ पारी आने के बाद बिना चिकित्सा चला जाता है, परन्तु इससे बहुत-सा रुधिर जल जाता है; प्लीहा बढ़ जाती है और उसमें कीटाणु अपना अड्डा जमा कर निवास करते हैं। फिर पुनः-पुनः विषम ज्वर आक्रमण करता रहता है। इसीलिये रोग जाने के पश्चात् पथ्य पालन सह प्लीहावृद्धि नष्ट होने तक या कुछ दिनों तक औषधि सेवन करते रहना चाहिये।

चातुर्थिक ज्वर चिकित्सा।

इस रोग में औषधि सतत ज्वर में लिखी हैं वे ही सब दी जाती हैं। निम्नलिखित प्रयोग इसमें हितकारी हैं। जैसे कि—

(१) अड़ूसा, आँवला, शालपर्णी, देवदारु, छोटी हरड़ और सोंठ का क्वाथ कर मिश्री और शहद मिलाकर देने से चातुर्थिक ज्वर नष्ट होता है।

(२) कत्था-चूना लगाये हुए नागरबेल के पान में लहसन की कली खिलाने से चातुर्थिक ज्वर शमन हो जाता है।

(३) ताप आने से ४ घण्टे पहले २-४ अमरूद खिला देने से ताप रुक जाता है; किन्तु पारी के दिन रोगी को भोजन नहीं कराना चाहिये।

(४) पुराने घी में हींग मिलाकर सुँघाने से चातुर्थिक ज्वर नष्ट हो जाता है। सुँघाने के लिये घी गरम कर दाहिनी हथेली में रक्खें, फिर बाँयें नथने को दबाकर सूँघें। इस तरह घी बाँयीं हथेली में रख दाहिने नासापुट को दबाकर बाँयें नासापुट में सूघें।

(५) रविवार को अपामार्ग की जड़ लावें और फिर आवश्यकता पर ज्वर आने से ६ घण्टे या ४ घण्टे पहले ६-६ माशे टुकड़े का तुरन्त चूर्ण कर, गुड़ मिलाकर रोगी को खिलाने से चौथिया ताप रुक जाता है।

(६) कड़वे अतीस का १-१ माशा चूर्ण गुड़ मिलाकर ताप आने से १२ घण्टे पहले से ३-३ घण्टे पर ३ या ४ बार दे देने से बारी के सब प्रकार के ताप रुक जाते हैं। ताप आने पर भी अतीस का सेवन जन्तु मारने और पसीना लाकर ताप को उतारने में सहायक होता है।

(७) पित्तज्वरान्तक वटी (र० ५४२) ३ बार २-२ घण्टे पर ताप आने से पहले दे देवें। और दिनों में ३ समय (सुबह, दोपहर, शाम) जल के साथ देना चाहिये।

(८) तृतीयक ज्वर चिकित्सा में लिखी विधि से फिटकरी का फूला ३ से ६ रत्ती मिश्री के साथ खिला देने से चातुर्थिक ज्वर शमन हो जाता है।

(९) **विषम ज्वरहर अञ्जन**—सैंधानमक, छोटी पीपल के दाने और मैनसिल, तीनों को तिली के तैल या एरण्ड तैल में पीस कर अञ्जन करने से विषम ज्वर नष्ट हो जाता है।

(१०) गूगल और उल्लू की पूंछ या पंख को काले कपड़े में बाँध कर धूप देने से चातुर्थिक ज्वर चला जाता है।

(११) **अपराजित धूप**—गूगल, नीम के पत्ते, वच, कूठ, हरड़, सरसों, जौ, घी, इन सबको मिलाकर धूप देने से विषम ज्वर

दूर होते हैं।

(१२) **कम्प के समय धूप**—बिल्ले की विष्टा का धूप देने से कम्प शमन हो जाता है।

(१३) अगस्त (हथिया) के पत्तों के स्वरस की २-४ बूँद सुंघाने से उग्र चातुर्थिक ज्वर का शमन हो जाता है।

(१४) धतूरे का पत्ता १ इञ्च जितना काट नागरवेल के पान में रखकर ताप आने से ४ घण्टे पहले खिलावें और फिर २ घण्टे बाद दूसरी वार देवें, या कुछ नशा आ जाय उतनी भाँग शहद में मिलाकर ४ घण्टे पहले खिलाने से भी चातुर्थिक ज्वर नष्ट हो जाता है।

(१५) सफेद चम्पे की कली डण्ठल सह नागरवेल के पान में रख ज्वर आने के ६ घण्टे पहले से २-२ घण्टे पर ३ समय खिला देने से भी चातुर्थिक ज्वर नष्ट हो जाता है।

(१६) सहदेवी, अरनी, सत्यानाशी या निर्गुण्डी को शनिवार के शाम को निमन्त्रण देकर दूसरे दिन सुबह उखाड़ कर जड़ लावें। सहदेवी या अरनी की जड़ हो तो सिर पर, सत्यानाशी की जड़ हो तो गले पर और निर्गुण्डी की जड़ हो तो कमर पर बाँधने से चातुर्थिक ज्वर दूर हो जाता है।

ध्यान रहे कि जड़ लाने के पहले किसी से न बोलें; सूर्योदय से पहले लावें; कुमारी के काते हुए सूत से बाँधें तथा बाँधने के समय पहले धूप देवें।

(१७) मकड़ी का एक सफेद जाला भली भाँति साफ कपड़े से ३-४ वार पोंछ (मकड़ी के अण्डे न आ जायँ इस तरह सम्हाल) गुड़ में लपेट गोली बनाकर निगलवा देने से भी चातुर्थिक ज्वर रुक जाता है।

(१८) सिर में दर्द हो, तो लाल कनेर के फूल, आँवला, धनियाँ, वच और कूठ के चूर्ण को जल के साथ पीस निवाया कर मस्तक पर लेप करें।

(१९) खिरैंटी, पीपल, भाँगरा या कृष्ण सारिवा की मूल पुष्य नक्षत्र में ला कर हाथ पर बाँध देने से चातुर्थिक ज्वर दूर होता है।

(२०) नौसादर २ से ३ रत्ती और सफेद मिर्च २ रत्ती मिला खरल कर ज्वर आने से ३ घण्टे पहले नागरवेल के पान के साथ देवें और फिर उसके १॥ घण्टे बाद दूसरी बार देने से चातुर्थिक ज्वर की निवृत्ति हो जाती है।

(२१) सफेद पुनर्नवा की मूल १ से २ माशे को दूध में घिसकर पिलाने या नागरवेल के पान के साथ खिलाने से जीर्ण चातुर्थिक ज्वर का शमन होता है।

(२२) कली चूना ३ माशा लेकर थोड़े से जल में मिलावें और ऊपर १ नीबू का रस निचोड़ें। जब रबड़ी के समान प्रवाही पदार्थ हो जाय तब उसमें ५-७ तोले जल मिलाकर ताप आने से २ घण्टे पहले पिला देने से ज्वर नष्ट हो जाता है। परन्तु पाली के दिन रोगी को भोजन न दें। अति क्षुधा लगने पर दूध पिलावें या १-२ अमरूद खिलावें।

(२३) घीकुँवार के २ तोले रस में आधी रत्ती अफीम, ४ रत्ती हल्दी और ३ से ६ माशे मिश्री मिलाकर ज्वर आने के ३ घण्टे पहले पिला देने से जीर्ण चातुर्थिक ज्वर का वेग शान्त हो जाता है। आवश्यकतानुसार २-३ पाली तक यह प्रयोग करते रहना चाहिये।

(२४) इन्द्रायन की बेल को शनिवार के रोज निमन्त्रण देकर रविवार को सुबह किसी से न बोलते हुए सूर्योदय से पहले मूल लावें। फिर कुमारी के हाथ से बने हुए सूत से रोगी के हाथ पर बाँध देवें; तो चातुर्थिक ज्वर चला जाता है।

दाह शमनार्थ—(१) शतधौत घृत की मालिश करें।

(२) नीम के पत्तों को जल में पीस, थोड़ा मंथन कर, झाग उठावें और फिर सारे शरीर पर उन झागों का लेप करने से तृषा, दाह और मोह शमन होते हैं; इसी तरह बेर के पत्तों के झागों से भी दाह शमन हो जाता है।

(३) बेर और आँवले के पत्ते को काँजी या मट्ठे में पीस कर लेप करने से दाह शान्त हो जाता है।

(४) पलास के कोमल पत्ते को काँजी में पीसकर लेप करने से

दाह, तृषा और मूर्च्छा की निवृत्ति होती है।

तृषा शमनार्थ—बहुत जल पीने पर भी प्यास शमन न होती हो, तो नीम के पत्तों को कूट कर जल मिला, छान, शहद डाल कर पेट भर पिला देने से सहज वमन होकर आमाशय में से दूषित रस सह जल वापिस निकल आता है, और तृषा भी शान्त हो जाती है।

यदि नीम का जल थोड़ा-सा पीने पर ही वमन हो जाय, तो अधिक नहीं पिलाना चाहिये।

विषम ज्वरों पर डाक्टरी में निम्नानुसार औषधि दी जाती है।

(१) कीनाइन सल्फास	Quinine Sulph.	५ ग्रेन
एसिड सल्फ्युरिक डिल्युट	Acid Sulph. Dil.	५ बूँद
लाइकर आर्सेनिक	Liqr. Arsenicalis	२ बूँद
जल	Aqua	ad १ औंस

इन सबको मिलाकर पिला दें। इस तरह दिन में ३ समय देने से मलेरिया ज्वर शमन हो जाता है।

(२) कीनाइन वाईसल्फास	Quinine Bisulph.	१२८ ग्रेन
स्ट्रिकनीन सल्फास	Strychnine Sulph.	२ ग्रेन
एसिड आर्सेनिक	Acid Arsenicalis	२ ग्रेन
फेरी साइट्रास	Ferri Citras	१२८ ग्रेन
ऐक्सटे्क्ट जेन्शन	Extract Gention	Q. S.

आवश्यकतानुसार ऐक्सटे्क्ट जेन्शन मिला ६४ गोलियाँ बना लें। इनमें से दिन में ३ समय १-१ गोली दूध पिलाकर देने से जीर्ण विषम ज्वर भी दूर हो जाता है।

(३) मारक (Pernicious) विषम ज्वर के लिये—

टिञ्चर फेरी परक्लोराइड	Tinct. Ferri Perchl.	१० बूँद
कीनाइन सल्फास	Quinine Sulph.	५ ग्रेन
लाइकर आर्सेनिक	Liqr. Arsenicalis	२ बूँद
,, स्ट्रिकनिया हाइड्रो.	Liqr. Strychnia Hydrochl.	३ बूँद
जल	Aqua	ad १ औंस

इन सबको मिलाकर पिला दें। इस तरह दिन में ३ वार देवें।

(४) प्लीहा वृद्धि सह जीर्ण ज्वर हो, तो—

कीनाइन सल्फास	Quinine Sulph.	३ ग्रेन
फेरी सल्फास	Ferri Sulph.	२ ग्रेन
एसिड सल्फ्युरिक डिल्युट	Acid Sulph. Dil.	५ बूँद
मेगनेशिया सल्फास	Mag. Sulph.	१ ड्राम
एका मेन्था पीप	Aqua Mentha Pip ad	१ औंस

इन सबको यथा विधि मिलाकर पिला दें। इस तरह दिन में ३ वार दें।

(५) पाण्डु सह जीर्ण विषम ज्वर (Malarial Cachexia) **पर—**

कीनाइन सल्फास	Quinine Sulph.	४ ग्रेन
एसिड नाइट्रो हाइड्रोक्लोराइड डिल	Acid Nitro Hydrochl. Dil.	५ बूंद
एमोनिया क्लोराइड	Ammon. Chloride.	१० ग्रेन
लाइकर आर्सेनिक	Liqr. Arsenicalis	२ बूँद
ग्लीसराइन	Glycerine	१ ड्राम
जल	Aqua ad	१ औंस

इन सबको मिलाकर पिला दें। इस तरह दिन में ३ समय दें।

सूचना—रोगी को शीत का आरम्भ हो तब सुलाकर अच्छी रीति से कम्बलादि वस्त्र उढ़ा देवें, रोगी से थोड़ी दूर पर निर्धूम कण्डों की जलती हुई अँगीठी रक्खें या पलँग के नीचे गरम राख का वर्तन रक्खें तथा पैरों पर गरम ईंट से सेक करें, या गरम जल की बोतलों को पैरों पर फिरावें।

अधिक प्रस्वेद लानेवाली औषधि देना हो, तो धनिया-मिश्री के क्वाथ या हिम के साथ अथवा चिरायता, कुटकी, धमासा और पित्त-पापड़ा, इन ४ औषधियों के हिम या क्वाथ के साथ रत्नगिरी रस देना चाहिये। पित्तज्वरान्तक वटी देने से भी प्रस्वेद आकर ताप उतर जाता है।

आमाशय में दूपित भोजन या विकृत पित्त-कफ हो, तो ६ माशे राई

और ६ माशे नमक को आध सेर निवाये जल में मिलाकर पिला देवें। अथवा मैनफल और छोटी पीपल को निवाये जल के साथ दें। इससे ५–७ मिनट में दूषित पित्त या भोजन वमन होकर निकल जाता है। इतने से वमन न हो, तो राई, नमक या मैनफल वाला जल अधिक पिलावें।

ठंडी दूर होने पर भयंकर उष्णता बढ़े, तो मस्तिष्क के रक्षण के लिये कलमीशोरा, नौसादर और नमक १–१ तोले को आध सेर जल में मिला, उसमें कपड़े की चौगुनी पट्टी भिगो, साधारण निचोड़ कर कपाल पर रक्खें। थोड़े-थोड़े समय पर पट्टी को बदलते रहें। प्रस्वेद लाने के लिये बफारा, चाय अथवा अन्य औषधि दें। पसीना आकर कपड़े भीग जाने पर शरीर को पोंछ कर कपड़े बदल दें। कपड़े बदलते समय तेज़ वायु न लग जाय, इस बात की सँभाल रखें।

ताप शमन हो जाने पर भी ज्वर उत्पादक सेन्द्रिय विष या कीटाणुओं को नष्ट करने के लिये कुछ दिनों तक औषधि देते रहें।

पाली का ताप जिस दिन आने वाला हो, उस दिन समय चला जाय, तब तक रोगी को कुछ भी खाने को नहीं देना चाहिये। यदि भोजन कराया जायगा, तो ताप अधिक बल से आवेगा। यदि आवश्यकता ही हो, तो निर्बल प्रकृति वालों और बच्चों को थोड़ा दूध पिलावें।

विषम ज्वर में गुड़ और खटाई अधिक हानि पहुँचाती है, अतः ताप चला जाने के बाद भी कुछ समय तक गुड़-खटाई से बचना चाहिये।

अनेक समय क्वीनाइन लेते-लेते ताप अधिकाधिक प्रकुपित होता जाता है। ऐसे समय पर किरातादि अर्क विष शमनार्थ देवें; अथवा सुवर्णमालिनी वसन्त या लघुमालिनी वसन्त देवें। इन वसन्तमालनियों में विषघ्न, हृद्य, यकृद्प्लीहा को शक्ति प्रदान करना, जीर्ण ज्वर को शमन करना और मस्तिष्क को बल देना इत्यादि गुण हैं। क्वीनाइन का विष और सेन्द्रिय विष, दोनों को ये दूर करती हैं।

क्वीनाइन सेवन से किसी को बधिरता आ गई हो और ताप चला गया हो, तो बधिरता को दूर करने के लिये सुवर्णमाक्षिक भस्म सेवन कराना चाहिये।

(२४) जीर्ण ज्वर ।

जब ज्वर २१ दिन तक रहकर मन्दवेगी एवं सूक्ष्म हो जाता है, प्लीहावृद्धि और अग्निमान्द्य हो जाते हैं, तब वह जीर्ण ज्वर कहलाता है।

विषम ज्वर अधिक दिनों तक रह जाने पर निस्तेजता, शक्तिक्षय, मन्दताप रहना, कभी-कभी अनियमित समय पर १०२ डिग्री तक ताप बढ़ जाना, प्लीहावृद्धि, पाण्डु, अरुचि, क्षुधानाश, मलावरोध, रक्तस्राव, ये सब लक्षण प्रतीत होते हैं। प्लीहा के भीतर कीटाणु रहते हैं। जिससे आहार-विहार में थोड़ी-सी भूल होने पर ताप पुनः-पुनः आक्रमण करता रहता है। ऐसे ज्वर को डाक्टरी में क्रॉनिक मलेरिया और मेलेरियल केकेक्सिया (Chronic Malaria and Malarial Cachexia) कहते हैं।

जीर्णज्वर में इतर उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं; तब उनको भिन्न-भिन्न अवस्था के अनुसार वातबलासक, प्रलेपक, रात्रिज्वर, नारसिंह ज्वर, ऐसी भिन्न-भिन्न संज्ञा दी हैं। उन सबकी चिकित्सा उपद्रवानुसार पृथक् पृथक् होती हैं; अतः इन सबका विवेचन आगे पृथक् पृथक् किया जाता है।

विषम ज्वर के अतिरिक्त वातादि दोष प्रकोप से उत्पन्न इतर ज्वर भी सम्यक् चिकित्सा न होने से या अपथ्य सेवन से रक्तादि धातुओं में लीन होकर जब जीर्ण हो जाते हैं; तब इन सब प्रकार के तापों में वातादि तीनों दोष निर्बल बन जाते हैं। अतः इन सबके लक्षण जीर्ण विषम ज्वर के सदृश प्रतीत होते हैं।

जीर्ण ज्वर चिकित्सा ।

जीर्ण ज्वर वाले रोगी को लंघन नहीं कराना चाहिये। क्योंकि उपवास से निर्बलता बढ़ती है। यदि कुपथ्य सेवन से दोषप्रकोप होकर ताप बढ़ जाय, तो उस दिन केवल दूध पर रक्खें; अन्न न दें; और सतत ज्वर में लिखे अनुसार पाचन औषधि देवें। फिर दूसरे दिन से रोगशामक चिकित्सा करें। खटाई, ज्यादा चावल, गुड़ या शक्कर, शीतल

जल से स्नान, असमय पर भोजन, भोजन पर भोजन, मैथुन, रात्रि को जागरण, मल-मूत्रादि वेग का अवरोध, इन सब बातों का त्याग करें।

ज्वर १२ दिन से अधिक रह जाने पर यदि कफ दोष क्षीण हो गया हो, तो रोगी को भोजन में घी देना चाहिये।

दोष पाचन के लिये—आरग्वधादि क्वाथ (र० ६२१), त्रिवृतादि कषाय (र० ६२६), महासुदर्शन चूर्ण (र० ५८२), लघु-सुदर्शन चूर्ण (र० ५८३) या गदमुरारि रस (र० ३८६), इनमें से अनुकूल औषधि देने से सब प्रकार के जीर्ण ज्वरों में दोष पचन होकर ताप दूर हो जाता है।

दाहयुक्त ज्वर में पाचन—प्रवालपिष्टी (गिलोय सत्व के साथ) या चन्दनादि लोह (र० ३६६) दिन में ३ समय देवें।

रात्रि को सूक्ष्मांश में ताप रहता हो, तो—बृहद्-सितोपलादि चूर्ण (र० ५८४), सितोपलादि चूर्ण (र० ५८४) या प्रवालपिष्टी (गिलोय सत्व के साथ) दिन में २ समय देवें।

तापशामक औषधियाँ—(१) सुवर्णमालिनी वसन्त (र० ४००), लघुमालिनी वसन्त (र० ४०२), मलेरिया वटी दूसरी विधि (र० ३६७), जयमंगल रस (र० ३८२), स्लीहान्तक वटी (र० ४६१), स्लीहान्तक वटी दूसरी विधि (र० ५५०), स्लीहान्तक चूर्ण (र० ५८८), चन्दनादि लोह (र० ३६६ पित्त प्रकृति वालों को), षट्पल घृत (र० ७०६), अमृतारिष्ट (र० ६५५) और देवदार्वाद्य क्वाथ दूसरी विधि (र० ६२६), ये सब औषधियाँ तापशामक हैं।

इनमें सुवर्णमालिनी वसन्त यकृद्प्लीहा वृद्धि, मस्तिष्क निर्बलता, मंदाग्नि और जीर्ण ज्वर को दूर करती है; तथा क्षय के कीटाणु उत्पन्न हो गये हों, तो उनको भी नष्ट करती है। यदि बार-बार ताप बढ़ता हो, क्षय की भी शंका हो; तो जयमंगल रस हितकारक है। यदि प्लीहा वृद्धि अधिक रूप से हो गई हो, तो प्लीहान्तक वटी लाभदायक है। मूत्र में विकृति होने से मस्तिष्क में उष्णता रहती हो, तो चन्दनादि लोह बहुत जल्दी लाभ पहुँचाता है। इसी तरह धातुओं में लीन दोष को जलाने में

षट्पल घृत और अमृतारिष्ट भी सहायक होते हैं।

(२) वर्धमान पिप्पली—छोटी पीपल को गोदुग्ध और जल में मिला उबाल कर दुग्धावशेष रखकर सेवन करें। सेवनार्थ ३ से प्रारम्भ कर ३-३ या १-१ पीपल बढ़ाते जावें। फिर १० दिन बाद ३-३ या १-१ पीपल कम करते जावें। इस प्रकार वर्धमान पीपल के सेवन से जीर्ण ज्वर, कास, श्वास, पाण्डुता, निर्बलता, अग्निमांद्य और कफ वृद्धि आदि सब दोष दूर होते हैं। जल दूध से ४ गुना मिला दूध शेष रहे तब तक उबालें। फिर शीतल होने पर पिलावें।

(३) वृश्चीराद्य क्षीर—लाल पुनर्नवा, सोंठ, श्वेत पुनर्नवा, दूध और जल मिलाकर दुग्धावशेष क्वाथ कर पिलाने से जीर्ण ज्वर दूर होता है। औषधि २ तोले, दूध १६ तोले और जल ६४ तोले मिलाकर क्वाथ करने का रिवाज है। उपर्युक्त विधि से शालपर्णी आदि लघुपञ्च-मूल का दुग्धावशेष क्वाथ देने से भी जीर्ण ज्वर, कास, श्वास, शिरःशूल और पार्श्वशूल दूर होते हैं।

(४) गिलोय के स्वरस या क्वाथ में पीपल का चूर्ण और शहद मिलाकर २१ दिन तक पिलाने से जीर्णज्वर, कफ, प्लीहावृद्धि, कास और अरुचि दूर होते हैं।

(५) छोटी कटेली की जड़, सोंठ और गिलोय के क्वाथ में पीपल का चूर्ण ४ रत्ती मिलाकर पिलाने से जीर्ण ज्वर, मंदाग्नि, जुकाम, अरुचि, कास, श्वास, शूल, अर्दित वायु, पीनस, ये सब दोष दूर होते हैं। यह क्वाथ विशेषतः जीर्ण वात-कफ ज्वर का नाशक है तथा जीर्ण प्रतिश्याय को भी दूर करता है।

(६) मलावरोध बना रहता हो, तो—प्लीहान्तक वटी प्रथम विधि (र० ५४६ वात और कफात्मक व्याधि वालों को), करंजादि वटी प्रथम विधि (र० ५४४), प्लीहान्तकक्षार चूर्ण (र० ५८८), इनमें से अनुकूल औषधि का सेवन करावें।

(७) मालिश के लिये—लाक्षादि तैल (र० ७२६), ज्वरेभ-मृगराट् तैल (र० ७२२), चन्दनबलालाक्षादि तैल (र० ७१८) और

चन्दनादि तैल (र० ७१६) में से किसी एक तैल की मालिश कराते रहने से दोष दूर होता है; और शारीरिक शक्ति का रक्षण होता है।

(८) **दशमूलषट्पलघृत**—जवाखार और पञ्चकोल (पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रकमूल और सोंठ), इन ६ को समभाग मिलाकर २० तोले कल्क करें। तथा दशमूल ४ सेर लेकर ८ गुना जल मिलाकर क्वाथ करें। चतुर्थांश जल शेष रहने पर उतार कर छान लें। फिर उक्त कल्क, क्वाथ, २ सेर दूध और २ सेर घी मिला यथा विधि घृत पाक करें। इस घृत में से १-१ तोला दिन में दो बार देते रहने से जीर्णज्वर, सीहावृद्धि, पाण्डु, कास, अग्निमांद्य, वातज, पित्तज और कफज व्याधियों का शमन हो जाता है।

(९) सफेद जीरा १ भाग, काला जीरा २ भाग और छुहारा बीज रहित ४ भाग लेवें। सबको मिला कर कूट लेवें। ४-४ माशे दिन में २ समय सेवन करते रहने से अरुचि और दाह युक्त जीर्ण ज्वर निवृत्त हो जाता है। इस प्रयोग का सेवन कम से कम १४ दिन तक करना चाहिये। भोजन में दूध, भात, फुलका और थोड़ा घी लेवें।

(१०) बेल की मूल या छाल का दुग्धावशेष क्वाथ कर दिन में दो समय पिलाते रहने से असाध्य जीर्ण ज्वर भी २१ दिन में शमन हो जाता है।

(११) तुलसी के २ तोले रस में ३ माशे मिश्री मिलाकर सेवन करते रहने से १ सप्ताह में जीर्ण ज्वर नष्ट हो जाता है।

(१२) उतरण के पत्तों के १ तोले रस में ६ माशे शहद मिलाकर १४ दिन तक दिन में २ समय सेवन करने से जीर्ण ज्वर, अग्निमान्द्य और रक्तार्श की निवृत्ति हो जाती है।

सामान्य सीहा वृद्धि होने पर हम सुवर्णमालिनी वसंत या लघुवसंत देते हैं। अधिक सीहा वृद्धि में सीहान्तक वटी (र० ४६१) का उपयोग करते हैं। मूत्र में दोष हो और दाह अधिक होता है तब चन्दनादि लोह देते रहते हैं, क्योंकि उपद्रवभेद के अनुसार ही औषधि का उपयोग करना पड़ता है।

त्वचा शुष्क हो जाने पर दशमूलषट्पलघृत या षट्पलघृत पिलावें और लाक्षादि तैल की मालिश कराते रहने से रोग सत्वर दूर होता है।

सूचना—जीर्णज्वर में दूध और घी देवें। उपवास नहीं कराना चाहिये। यदि अकस्मात् अपथ्य से दोष प्रकुपित हो जाय; तो सम्हाल-पूर्वक केवल एक उपवास करावें।

(२५) वातबलासक ज्वर

वातबलासक ज्वर–नेफ्रायटिक फीवर–Nephritic Fever।

इस व्याधि का वर्णन सुश्रुत-संहिताकार ने शोथ रोग में किया है। व्याधि तीव्र होने पर ज्वर भी रहता है इस हेतु से माधव निदानकार ने ज्वर प्रकरण में इसका संक्षिप्त वर्णन किया है। इसका विस्तार पूर्वक विवेचन सिद्धान्तनिदानकार ने निम्नानुसार किया है।

पाश्चात्य शास्त्र में इस रोग को नेफ्रायटिक फीवर कहते हैं। इस रोग की शोध ई० स० १८२५ में ब्राईट साहब ने की है, अतः उनके नाम पर से इसे ब्राईट्स डिज़ीज़ Bright's Disease भी कहते हैं।

निदान—यह वात-कफोल्बण त्रिदोषज जीर्ण ज्वर है। यह रोग अनूप देशों में चावल खाने वालों को अधिक होता है। इस रोग की उत्पत्ति वृक्क विकृति होने से होती है। यह रोग बालकों को होने पर कष्टसाध्य होता है।

रूप—नित्य मन्द ज्वर रहना, शरीर शुष्क एवं निस्तेज हो जाना, सारी देह में शोथ आ जाना, पहले मुँह और हाथों पर या पैरों पर शोथ का दीखना, फिर धीरे धीरे मध्यकाय में बढ़ना, अंग जकड़ जाना, दुर्बलता और कफ-प्रकोप होने से मुँह में चिकनापन, शीतल अंग, कास और श्वासादि लक्षण होते हैं। इसमें वमन का होना त्रासदायक लक्षण माना जाता है। रोग बढ़ने पर फुफ्फुस के मूल पर शोथ आ जाता है, हृदय में वेदना होती है; और दिन-प्रति-दिन बल हानि होती जाती है। फिर अन्त में हृदयावसाद होने पर मृत्यु हो जाती है।

डाक्टरी ग्रन्थों से विवेचन—यह रोग वृक्क (मूत्रपिण्डों)

की विकृति होने से होता है। इस रोग के दो प्रकार हैं। एक आशुकारी और दूसरा चिरकारी।

१ आशुकारी वृक्क दाह—एक्युट नेफ्रायटिस, ब्राईट्स डिझीझ Acute Nephritis, Bright's Disease.

२ चिरकारी वृक्क दाह—क्रॉनिक नेफ्रायटिस, ब्राईट्स डिझीझ Chronic Nephritis, Bright's Disease.

आशुकारी वृक्क दाह—इसमें सर्वाङ्गशोथ, मूत्रकृच्छ्र या मूत्रविकृति और मन्द ज्वर सह वृक्कों का तीव्र और आशुकारी दाह शोथ प्रतीत होता है।

स्त्री पुरुष, सबको मूत्र उत्पन्न करने वाले दो मूत्रपिण्ड वृक्क-गुर्दे (किडनीज़ Kidneys) होते हैं। उदरगुहा के कटिप्रान्त में आंतों की गेंडुली के पीछे मेरुदण्ड की दाहिनी और बांई तरफ एक एक मूत्रपिण्ड रहता है। इन मूत्रपिण्डों की आकृति कुछ अर्ध गोलाकार है। ऊपर का सिरा ११ वीं और १२ वीं पर्शुका के बिल्कुल समीप है। दाहिनी ओर यकृत् होने से दाहिनी ओर का गुर्दा बांयी ओर के गुर्दे की अपेक्षा कुछ नीचा रहता है। इसी हेतु से दाहिना गुर्दा ११ वीं पर्शुका से कुछ दूर रह जाता है। इन वृक्कों की लम्बाई ४ इंच, चौड़ाई २॥ इंच और मोटाई १ इंच है। इनका रंग बैंगनी है।

इन मूत्रपिण्डों में असंख्य छोटे छोटे मूत्रवह-स्रोत हैं। एक अंगुल जितने भाग में लगभग मूत्रवहस्रोतों के ६० अग्रभाग रहते हैं। इन अग्रभागों को मूत्रोत्सिका संज्ञा दी गई है; मूत्रोत्सिका की आकृति कटोरी जैसी है। प्रत्येक मूत्रोत्सिका में महाधमनी की अत्यन्त सूक्ष्म शाखाओं का एक एक गुच्छ प्रवेश करता है। इन स्थानों पर रुधिर में रहने वाला हानिकर तत्त्व (मूत्र) पृथक् होता है। यह कार्य इन मूत्रोत्सिकाओं में लगी हुई सूक्ष्म कलाओं द्वारा होता है। इन स्थानों में मूत्र उत्पन्न होकर मूत्र स्रोतसों द्वारा मूत्रप्रणालिका-गविनियों (युरेटर्स Ureters) में होकर मूत्राशय में जाता है। फिर आगे मूत्रप्रसेक में होकर बाहर निकल जाता है।

हेतु—शरीर गर्म होने पर शीतोपचार करना, तीव्र सांसर्गिक इन्फ्ल्युएञ्जा, मोतीझरा, रोमांतिका या उपदंश ज्वर अथवा विषम ज्वरादि रोग, वृक्क स्थान पर शीत लग जाना, पारद या सोमलादि विषभक्षण, पित्तप्रकोपक औषधियों का सेवन, शराब का व्यसन, उदर में दाहक

व्रण, सगर्भावस्था, खटाई, मिर्च और नमक अत्यधिक खाना इत्यादि कारणों से वृक्क विकृत होता है तब इस आशुकारी रोग की प्राप्ति होती है।

संप्राप्ति—अपथ्य आहार, कृमि या इतर रोगों से विष की उत्पत्ति होकर जब रक्त में प्रवेश करता है तब इस विष से वृक्कों के रक्तवाही-गुच्छ और मूत्रोत्सिकाएँ विकृत होती हैं। इस विष में भी अनेक प्रकार हैं। कितनेक विष रक्तवाहिनियों के गुच्छों को और कितनेक जाति के विष मूत्रोत्सिकाओं को दूषित करते हैं। तीव्र और एक साथ परिणाम होने पर आशुकारी और शनैः-शनैः सौम्य आघात पहुँचने पर चिरकारी दाह-शोथ होता है। इनमें रक्तवाहिनियों के गुच्छों पर आक्रमण होने से वे टूटते हैं और उनसे मूत्र में रक्त जाने लगता है। फिर मूत्र में एल्ब्युमिन जाता है; और वृक्कों के बाह्यभाग पर शोथ आ जाता है। रक्त और लसीका निकल कर स्रोतों में जमकर उनकी नली सदृश आकृति हो जाती है, उसे क्षेप (Tube casts) संज्ञा दी है। ये क्षेप मूत्र के साथ निकल जाते हैं। क्वचित् अनेक नलियों की कला नष्ट होकर क्षेप रुक भी जाते हैं, तब मूत्र क्षय होने लगता है और रक्त में विष रह जाता है। इससे शरीर पर शोथ आ जाता है।

पूर्वरूप—प्रारम्भ में शीत की कमकमाटी आना, पीठ में पीड़ा, वमन, शिरःशूल, व्याकुलता, अतिसार, मूत्र में रक्त जाना और ज्वर, ये पूर्वरूप प्रतीत होते हैं।

रूप—कटिप्रदेश में पीड़ा होकर प्रारम्भ होता है और क्वचित् अकस्मात् भी हो जाता है। कभी पूर्वरूप होकर फिर सर्वांग शोथ आता है। प्रारम्भ में नेत्र, गाल और गुल्फ पर शोथ आकर सारे शरीर पर फैल जाता है, नाड़ी वेग पूर्वक चलती है। रक्त-वेग और रक्तभार बढ़ जाता है। मूत्र थोड़ा-थोड़ा होता है। क्वचित् मूत्रक्षय भी हो जाता है। मूत्र में रक्त, युरेटस और एल्ब्युमिन होते हैं; तथा क्लोराइड और यूरिया कम हो जाते हैं, मूत्र गाढ़ा हो जाता है। स्वरयन्त्र या फुफ्फुसों पर शोथ होने से श्वास, कास, पाण्डुता, मलावरोध, शुष्कत्वचा, कण्डु, रुक्ष जिह्वा, नेत्र विकृति, तृषा और हृत्कोष की वृद्धि इत्यादि रूप प्रतीत होते

हैं। प्रारम्भ के ८–१० दिन तक ज्वर १०० डिग्री तक रहता है; किन्तु कभी-कभी वही १०१ से १०२ डिग्री या इससे भी अधिक हो जाता है।

सम्यक् चिकित्सा न होने के कारण यदि तुरन्त आराम नहीं होता है, तो मूत्रसन्यास (रक्त में मूत्र-विषवृद्धि) होकर मृत्यु हो जाती है, अथवा चिरकारी वृक्क दाह हो जाता है। बहुधा चिरकारी रोग में ज्वर नहीं रहता। इसका विवेचन मूत्ररोगों के साथ किया जायगा।

वातबलासक ज्वर चिकित्सा—इस रोग में ताप उतारने के लिये औषधि गौणरूप से दी जाती है। वृक्क स्थान को सुधारने की चिकित्सा प्राधान्य रूप से की जाती है। रोगोत्पादक कारण के अनुरूप इसमें चिकित्सा का प्रारम्भ जल्दी होना चाहिये।

रोगी को पूर्ण विश्रान्ति देवें। बारबार करवट बदलावें एवं चित भी लिटाते रहें।

रोगी का कमरा किञ्चित् उष्ण, स्वच्छ और प्रकाश वाला होना चाहिये। (शीतल स्थान में रोगी को न रखें)

कमर पर फलालेन या ऊनी वस्त्र बांध दें ताकि वृक्कस्थान उष्ण बना रहे। रोग-शमन होने के पश्चात भी कई दिनों तक वृक्कस्थानों को शीत न लगने देवें।

इस रोग में तीव्र मूत्रल औपधि नहीं देनी चाहिये। हृदयपौष्टिक और किञ्चित् मूत्रल गुणयुक्त औपधियों की योजना करनी चाहिये।

विरेचन और स्वेदन द्वारा मूत्र के विशेप अंश को बाहर निकाल देवें ताकि वृक्कों को शान्ति मिलती रहे।

मूत्र में रक्त के जाने की आशंका हो तो वृक्क पर शृंगी लगवा कर दोप को निकाल डालना चाहिये।

भोजन में दूध, मुसम्बी का रस या साबूदाना देते रहें। दूध में से निकाला हुआ मक्खन भी दिया जाता है। किन्तु दही में से निकाला हुआ मक्खन या घी अधिक मात्रा में नहीं देना चाहिये। थोड़ा-थोड़ा सिद्ध घृत देते रहें।

तीव्र रोग में अन्न नहीं देना चाहिये; तथा रोगी को नमकीन पदार्थ

और खट्टे फलों का रस भी नहीं देना चाहिये।

तापशामक औषधि की आवश्यकता हो, तो— जयमंगल रस (र० ३८१), या चन्दनादि लोह (र० ३६६) दिन में दो वार मुख्य रोगशामक औषधि के साथ देते रहें।

(१) रोगशामक औषधियाँ— आरोग्यवर्धनी (र० ४६२), पुनर्नवा मंडूर (र० ४६८), अमृतारिष्ट (र० ६५५), ताप्यादि लोह (र० ४२५), दशमूल क्वाथ (र० ६१८), इनमें से अनुकूल औषधि देवें।

(२) शिलाजीत ३-३ रत्ती दिन में दो वार आरग्वधादि क्वाथ दूसरी विधि (र० ६२२) के साथ देने से ज्वर, कफ प्रकोप, शोथ और मलावरोध दूर हो जाते हैं।

(३) त्रिकण्टकादि क्षीर— गोखरू, खिरैंटी, छोटी कटेली, गुड़ और सोंठ मिलाकर २ तोले लें। फिर उसके साथ १६ तोले दूध और ६४ तोले जल मिलाकर दुग्धावशेष क्वाथ करके पिलावें। इस तरह दिन में दो वार पिलाते रहने और साथ में चन्द्रप्रभा वटी (र० ५५५) देते रहने से शोथ वहुत जल्दी कम हो जाता है।

(४) जीर्ण ज्वर में लिखा हुआ वृश्चीराद्य क्षीर भी हितकारक है।

(५) पुनर्नवादि चूर्ण दूसरी विधि (र० ५६६) देवें।

(६) पुनर्नवादि क्वाथ— पुनर्नवा, सारिवा, गोखरू, धमासा, वेर, वबूल की छाल, मोलसरी की छाल, मजीठ और कुटकी, इन औषधियों को समभाग मिला कर ४ तोले का क्वाथ करें। फिर दो हिस्सा करके दिन में २ वार पिलाते रहे; तथा साथ में शिलाजीत, चन्द्रप्रभा वटी या कलमी सोरा थोड़ा थोड़ा मिलाते रहें।

(७) वमन होता हो, तो— एलादि वटी (र० ५५५) या एलादि चूर्ण (र० ५८६) दें।

(८) वृक्कस्थान पर दोषघ्न लेप (र० ७४८) अथवा हींग को जल में पीस निवाया कर लेप करने से वेदना सह शोथ सत्वर शमन होता है।

इस रोग में अधिक अतिसार न हो, तो आरोग्यवर्धनी उत्तम औषधि है। आरोग्यवर्धनी से ज्वर, शोथ, वद्धकोष्ठ, मूत्रावरोध, हृदय

की विकृति, ये सब विकार दूर हो जाते हैं।

यदि अतिसार है, तो पुनर्नवा मंडूर देने से ज्वर, शोथ और मूत्र-दोप दूर होते हैं; और अन्तड़ी भी निर्दोष बनती है। पूय बना हो और वातप्रकोप अधिक हो, तो ताप्यादि लोह हितकर रहता है। इन औषधियों से हमने अनेक रोगियों को लाभ पहुँचाया है। पीने के लिये दूध दिया जाय, तो वह त्रिकण्टकादि क्षीर बनाकर देते रहें। जीर्ण रोग की विशेप चिकित्सा शोथ रोग और मूत्राघात में लिखी जायगी।

इस रोग पर डाक्टरी में निम्नानुसार औषधि देते हैं।

प्रथमावस्था में देने का मिश्रण—

(१) पोटास साइट्रास Pot. Citras ३ ड्राम
लाइकर एमोनिया एसिटास Liqr. Ammon. Acet. १॥ औंस
टिञ्चर डिजीटेलिस Tinct. Digitalis १॥ ड्राम
एक्वा क्लोरोफॉर्म Aqua Chloroform ad ६ औंस तक

इन सबको मिला लें। फिर इसमें से ४–४ घण्टे पर ४–४ ड्राम देते रहें।

(२) पोटास नाइट्रास Pot. Nitras १० ग्रेन
सोडा टार्टरेट Soda Tartrate ४० ग्रेन
एक्वा मेन्था पीप Aqua Mentha Pip ad १ औंस

इन सबको मिला लें इस तरह ६ मात्रा तैयार करें। प्रातः-सायं दिन में दो समय देते रहें।

द्वितीयावस्था में—

(१) टिञ्चर फेरी परक्लोराइड Tinct. Ferri Perchloride २ ड्राम
स्पिरिट इथर नाइट्रोसी Spirit Aether Nitrosi ४ ड्राम
इन्फ्युज़म क्वॉशिया Infus. Quassia ad ६ औंस तक

इन सबको मिला लें। इनमें से ४–४ ड्राम दिन में ३ समय भोजन के पश्चात् देते रहें; तथा रोज सुबह पल्विस जॅलप कम्पोझिटा Pulv. Jalapa Co. आधे से १ ड्राम तक देते रहें।

डाक्टरी नियमानुसार भी भोजन में केवल दूध और जल देना चाहिये।

(२६) प्रलेपक ज्वर

प्रलेपक ज्वर—हेक्टिक फीवर—Hectic Fever।

जिस जीर्ण विषम ज्वर में मन्द मन्द ज्वर बना रहे; शरीर प्रस्वेद से चिकना और भारी रहे; थोड़ा शीत भी लगता रहे; वह प्रलेपक ज्वर कहलाता है।

इस ज्वर को कफपित्तोल्वण माना है। इसमें प्रातःकाल ज्वर बहुत कम होता है या धातु में लीन रहता है; किन्तु फिर दोपहर होने के पश्चात् धीरे धीरे बढ़ता जाता है और बार-बार चिकना स्वेद भी आता रहता है। रात्रि को तो प्रायः इतना स्वेद आ जाता है कि रोगी को प्रस्वेद से स्नान हो जाता है। यह ज्वर राजयक्ष्मा, विद्रधि और विसर्प रोग में होता है। भिन्न-भिन्न रोगों में शीत-दाहादि लक्षण न्यूनाधिक होते हैं। इस ज्वर को राजयक्ष्मा रोगी के लिये प्राणनाशक और विद्रधि वाले के लिये शस्त्र चिकित्सा से साध्य माना है।

इस रोग में तीसरे प्रहर के समय रोगी को कुछ समय तक शरीर में स्फूर्त्ति और मन में प्रसन्नता का भास होता है। बांयें गाल पर तेजी दीखती है जिसको हेक्टिक फ्लुश (Hectic Flush) कहते हैं। इस रोग में सायंकाल को ताप बढ़ जाता है और फिर कम होने लगता है। चिकना पसीना अत्यधिक आकर ताप मध्य रात्रि में उतर जाता है। प्रातःकाल ताप प्रायः नहीं रहता या बहुत कम रहता है।

प्रलेपक ज्वर चिकित्सा।

इस रोग में पथ्यपालन के लिये रात-दिन लक्ष्य देना चाहिये। स्वच्छ स्थान में रहना और शरीर, वस्त्रादि स्वच्छ रखना चाहिये।

जल उबाल शीतल करके पिलाना चाहिये; तथा भोजन लघु पौष्टिक देना चाहिये।

क्षय जन्य ज्वर हो, तो शाकाहारियों को सिद्ध घृत एवं मांसाहारियों के लिये बकरे के मांस का यूष देना चाहिये अथवा बकरी या गौ के दुग्ध को सिद्ध करके पिलाते रहें।

इस रोग में औषधि सुवर्ण मिश्रित देने से क्षय के कीटाणुओं का नाश होता रहता है। क्षय जन्य ज्वर में सुवर्ण की मात्रा १/१६ रत्ती से अधिक नहीं होनी चाहिये।

पीप को सुखाने के लिये—शृंगभस्म और हरताल भस्म हितकर हैं। अतः रोगशामक मुख्य औषधि के साथ मिला लेवें।

दाह और रक्तस्राव के नाश के लिये—आवश्यकता पर मौक्तिक या प्रवालपिष्टी मिला लें।

अतिसार हो, तो—सुवर्ण पर्पटी या पंचामृत-पर्पटी देनी चाहिये।

रोगशामक औषधियाँ—सितोपलादि अवलेह (र० ६७८), जयमंगल रस (र० ३८१), सुवर्णमालिनी वसन्त (र० ३६६), लक्ष्मीविलास रस (र० ४४१), महामृगांक रस (र० ४३६), हेमगर्भ पोटली रस दूसरी विधि (र० ४४१ शुष्क कास का त्रास अधिक हो, तो) और वृहद् वंगेश्वर रस (र० ४८६ मूत्र और शुक्र विकृति अधिक हो, तो)। क्षयप्राधान्य ज्वर में इनमें से अनुकूल औषधि की योजना करनी चाहिए।

अनुपान रूप से सितोपलादि चूर्ण या ६४ प्रहरी पीपल और शहद मिलावें। निर्बलता अधिक हो, तो २-२ तोले अमृतारिष्ट या २॥ से ५ तोले द्राक्षासव दिन में दो बार देते रहें।

विद्रधि के पूय को नष्ट करने के लिये—त्रंगभस्म इतर औषधि के साथ मिला लें, या १-१ रत्ती दिन में दो बार शहद के साथ देते रहें, या शृङ्गभस्म अथवा हरताल भस्म देवें।

विशेष चिकित्सा इस ज्वर के मूल रोग क्षय, विद्रधि और विसर्प के साथ यथास्थान लिखी जायगी।

(२७) श्लैपदिक ज्वर।

श्लैपदिक ज्वर—फायलेरियल फीवर—Filarial Fever।

पैर, हाथ, वृषणादि स्थानों में से किसी भी स्थान में वेदना होकर दाह-शोथ (श्लीपद) हो जाता है और फिर पूर्णिमा या अमावस्या को कम्प और शीत सह ताप आ जाता है। क्वचित् एकादशी को भी आ

जाता है। यह कफप्राधान्य विषम ज्वर है। अनूप देश में यह रोग अधिकांश में होता है।

इस रोग के कृमि को डाक्टरी में फायलेरिया बॅन्क्रोफ्टी (Filaria Bancrofti) कहते हैं। यह कृमि मच्छरों के पेट में जाता है; और फिर मच्छरों द्वारा मनुष्यों में प्रवेश करता है। पश्चात् इन कीटाणुओं की वृद्धि होकर रक्तवाहिनियाँ और रसायनियाँ खूब भर जाती हैं। तब श्लीपद (हाथीपगा) रोग हो जाता है, तथा बार-बार ज्वर भी आता रहता है।

इस रोग का निदान, हेतु, चिकित्सा आदि सविस्तर श्लीपद रोग के साथ लिखे जायँगे।

(२८) रात्रिज्वर।

अनेक स्त्रियों और निर्बल पुरुषों को ज्वर या इतर रोग से शरीर के अधिक क्षीण हो जाने पर उनको थोड़े से परिश्रम से थकावट आ जाती है और फिर रात्रि के समय बहुधा मन्द ज्वर आ जाता है। अग्निमांद्य, अरुचि, मलावरोध, मूत्र में पीलापन, आलस्य, निस्तेजता, बेचैनी और हाथ-पैर टूटना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

चिकित्सा—रात्रि ज्वर में तीनों दोष क्षीण (इनमें भी पित्त अधिक क्षीण) हो जाते हैं। अतः अधिक परिश्रम, अग्नि या सूर्य के ताप का अधिक सेवन, अपथ्य भोजन, मानसिक चिन्ता, इन सबका त्याग कराना चाहिये। स्थान, वस्त्र, भोजनादि की स्वच्छता रखनी चाहिये। इस (रात्रि ज्वर) में सिद्ध घृत और सिद्ध दुग्धपान विशेष लाभदायक हैं। ब्रह्मचर्य का आग्रहपूर्वक पालन करना चाहिये; तथा मानसिक परिश्रम (अध्ययनादि) को छोड़ देना चाहिये।

रात्रिज्वर शामक उपाय—सितोपलादि अवलेह (र० ६७८) १-१ माशा दिन में तीन बार दूध के साथ देते रहें या वर्धमान पिप्पली-प्रयोग, सितोपलादि चूर्ण, सुवर्णमालिनी वसन्त, लघुमालिनी वसन्त, सुदर्शन चूर्ण (ताप कदाचित् बढ़ जाता हो, तो), चन्दनादि लोह, द्राक्षासव, इनमें से कोई एक औषधि देते रहें या जीर्ण विषम ज्वर में लिखे अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये।

(२९) अर्धनारीश्वर ज्वर।

अर्धनारीश्वर ज्वर—नारसिंह ज्वर—इस ज्वर में आधा शरीर शीतल और आधा गरम रहता है, इसलिये इसको 'अर्धनारीश्वर' और 'नारसिंह' संज्ञा दी है। इस ज्वर को विषम ज्वर का ही भेद माना है।

अन्नरस के विदग्ध हो जाने से पित्त और कफ दुष्ट हो जाते हैं। इसीलिये कफ से आधा शरीर शीतल तथा पित्त से आधा शरीर उष्ण हो जाता है। विदग्ध पित्त के आमाशय आदि भाग में और दूषित कफ के इतर भाग में रहने से शरीर का मध्य भाग उष्ण रहता है और रोगी के हाथ-पैर शीतल रहते हैं। दुष्ट कफ की वृद्धि होकर श्वासवाहिनियों और फुफ्फुसादि स्थानों में श्लेष्म भर जाने से पित्त शेष भागों में रहता है, तब मध्यकाय में शीतलता और हाथ-पैरों में उष्णता प्रतीत होती है। वात और प्रकुपित कफ के त्वचा में रहने से शीत लगकर ज्वर आ जाता है और फिर शीत और कम्प दूर होने पर पित्तप्रकोप से अन्तर्दाह होने लगता है। कभी-कभी पहले पित्तप्रकोप से त्वचा में दाह होकर फिर अन्तर में शीत लगने लगती है; तथा इसके साथ वमन, तन्द्रा, व्याकुलता आदि इतर लक्षण भी होते हैं।

इन दो प्रकारों में दाहपूर्वक ज्वर को अत्यंत दुःखप्रद और शीतपूर्वक ज्वर को कष्टसाध्य माना है।

जब विषम ज्वर के अधिक दिनों तक शरीर में रहने से देह कृश हो जाता है, तीनों दोष निर्बल हो जाते हैं; विषम ज्वर के कीटाणु सब धातुओं में फैल जाते हैं; तब बार बार नाना प्रकार की अवस्थाएँ प्रतीत होती हैं। श्वास यन्त्र पर अधिक आक्रमण हो जाने से कफ का प्रकोप होता है और कहीं पूय हो जाता है, तब मध्यभाग शीतल-सा रहता है। एवं अम्ल विपाक वाले चावल, खटाई आदि पदार्थ खाने से पित्त विदग्ध होता है, अथवा चावल या खटाई के साथ मधुर पदार्थ खाने पर अम्ल विपाक हो जाता है तब मध्यकाय में दाह

होता है। वाद में कीटाणुओं का प्रकोप होने पर या वाहर की वायु हाथ-पैर पर लगने पर हाथ-पैर शीतल हो जाते हैं। सारांश, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अनुरूप लक्षण भी भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं।

अर्धनारीश्वर ज्वर चिकित्सा

इसकी चिकित्सा जीर्ण विषम ज्वर में लिखे अनुसार की जाती है। इस रोग में औषधि की मात्रा वहुत कम देनी चाहिये, क्योंकि अधिक मात्रा देने से लाभ नहीं होता; अपितु विपरीत परिणाम होकर वह हानि पहुँचाती है।

रोगी को आराम देना चाहिये। स्थानादि की स्वच्छता का लक्ष्य रखें; और भोजन लघु पौष्टिक देते रहें।

हृदय की निर्बलता हो, तो मूल रोग की औषधि के अतिरिक्त द्राक्षासव या इतर हृदयपौष्टिक औषधि भी दिन में दो वार देते रहें।

(३०) परिवर्तित ज्वर

परिवर्तित ज्वर—रीकरन्ट फीवर और रीलेप्सिंग फीवर Recurrent Fever or Relapsing Fever।

यह ज्वर संक्रामक और जानपदिक (देश में चारों ओर फैलने-वाला) है। यह ताप अकस्मात् चढ़कर ६ वें या ७ वें दिन एकदम उतर जाता है; किन्तु एक सप्ताह के वाद पुनः-पुनः आता रहता है। इसीलिए इसे परिवर्तित या पुनरावर्त्तक ज्वर कहते हैं। यह ज्वर वहुधा दुष्काल के समय गरीवों में फैलता है। इसी तरह खाई वनाकर रहने पर सैन्य में भी फैल जाता है, इस हेतु से इसे डाक्टरी में ट्रेन्च फीवर (Trench Fever) संज्ञा भी दी है।

निदान—दरिद्रता, मलीनता, एक स्थान में ज्यादा मनुष्यों का रहना, इन हेतुओं से इस रोग के कीटाणुओं का आक्रमण होता है। इस रोग के कीटाणुओं को स्पाइरोकेट ओवरमायर Spirochaeta obermieri और स्पाइरोनिमा Spironema संज्ञा दी है। ये कीटाणु पेच के समान घुमावदार होते हैं और इनका प्रवेश जूँ और खटमल के

दंश द्वारा होता है। इस रोग की उत्पत्ति बहुधा शीतकाल में होती है।

सम्प्राप्ति—सामान्य ज्वर के सदृश ही इसकी सम्प्राप्ति होती है। सीहा खूब मोटी हो जाती है; उसमें ओवरमायर के कीटाणु भरे रहते हैं। ज्वरावस्था में कीटाणु रक्त में भी आ जाते हैं।

लक्षण—शीत लग कर ताप अकस्मात् १०४ डिग्री तक बढ़ जाता है। नाड़ी और श्वासोच्छ्वास की तेज गति, सिर में दर्द, कमर में दर्द, अति तृषा, उबाक, वमन, क्वचित् रक्त सहित वमन, कम्प, मुँह का लाल हो जाना, जिह्वा शुष्क और सफेद मैल वाली, गले में रहने वाली घंटिका का शिथिल हो जाना, संधि पीड़ा, हाथ-पैर टूटना, दाह और यकृत्प्लीहा वृद्धि आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। कभी नाक में से रक्त गिरता है तथा कभी प्रस्वेद आता है; कभी स्वेद नहीं आता। शरीर धीरे-धीरे शुष्क और पीला बनता जाता है।

छठी रात्रि को सभी लक्षण बढ़ जाते हैं और ताप भी १०५ से १०८ डिग्री तक बढ़ जाता है। रोगी की मृत्यु हो जायगी, ऐसा भास होता है। नाड़ी का वेग १४० स्पंदनों तक बढ जाता है। फिर अतिशय प्रस्वेद आकर सब लक्षण शमन हो जाते हैं; और रोगी को अतिशय क्षुधा लगती है। रोगी ६ दिन तक अच्छा रहता है और ताप पुनः पूर्ववत्, किन्तु सौम्य लक्षणों सह आ जाता है। यह ताप ५–७ दिन रहता है। इसमें बलक्षय और अधिक तन्द्रा, ये दो लक्षण बढ़ जाते हैं। किसी किसी समय बल का भयङ्कर क्षय होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। इस तरह दो या अधिक आवृत्तियाँ होती हैं।

उपद्रव—फुफ्फुसावरण का दाह-शोथ, कास, तीव्र कामला, अतिसार, प्रवाहिका, रक्तस्राव, कभी नेत्रदाह, सगर्भा स्त्री को हो तो गर्भपात, बालक को हो तो धनुर्वात, इनमें से किसी-न-किसी उपद्रव के हो जाने की भीति रहती है।

परिवर्तित ज्वर चिकित्सा।

इस ज्वर में विशेषतः हरताल या सोमल वाली औषधियाँ अच्छा

लाभ पहुँचाती हैं। हृदय की निर्बलता के लिये कस्तूरी-मिश्रित औषधि देनी चाहिये। प्रकृति पित्तप्राधान्य हो तो अश्वकंचुकी रस, अष्टमूर्ति रसायन, या हरताल-गोदन्ती जैसी सौम्य औषधि देनी चाहिये।

रोगी को दूध और मुसंवी के रस पर रखना चाहिये; तथा जल गरम करके शीतल किया हुआ देना चाहिये।

रोग शमन हो जाने पर सुवर्णमालिनी या लघुमालिनी वसन्त जैसी सीहा के दोष को शमन कर तथा मस्तिष्क और वातवहा नाड़ियों को सवल वनाने वाली औषधि कुछ दिनों तक देनी चाहिये।

रोगशामक औषधियाँ—संचेतनी वटी (र० ३६१), हरताल भस्म (र० २६८), मल्लसिन्दूर प्रथम विधि (र० ३२६), तालसिन्दूर (र० ३२८) और नारायण ज्वरांकुश (र० ३७४), इनमें से अनुकूल औषधि दिन में दो वार देनी चाहिये।

पित्तप्राधान्यता हो, तो—अश्वकंचुकी रस (र० ३७७), हरताल गोदन्ती भस्म (र० २८४), भूतभैरव रस (र० ३६८), ज्वरारि वटी (र० ५४१), शीतभंजी रस दूसरी विधि (र० ३६८) या अष्टमूर्ति रसायन (र० ३४१) दें। अनुपान रूप से महासुदर्शन चूर्ण ४ से ६ माशे का फाण्ट देते रहने से सत्वर लाभ होता है।

प्लीहावृद्धि-शमनार्थ—सुवर्णमालिनी वसन्त (र० ३६८) या लघुमालिनी वसन्त (र० ४०२) ताप दूर हो जाने पर कुछ दिनों तक देते रहें।

शेष उपद्रवों के लिए—ज्वर के प्रारम्भ में (पृष्ठ ३६५ से ३७१) और सन्निपात में लिखे अनुसार चिकित्सा करें।

डाक्टरी में इस रोग के लिये सल्वर्सन और न्यू सल्वर्सन Salvarsan and Neo Salvarsan, (No 606, 914.) का इञ्जेक्शन देते हैं।

(३१) दुर्जलजनित ज्वर।

परदेश में जाने, जल-वायु के परिवर्त्तन और आहार-विहार में

प्रतिकूलता होने से वातादि तीनों दोप निर्बल हो जाते हैं और फिर आमसंचित होकर मन्द-मन्द ज्वर आने लगता है; तथा उससे शरीर में पीलापन, मंदाग्नि, अरुचि, हाथ-पैर टूटना, मलावरोध, वारवार थोड़ा-थोड़ा दस्त होते रहना, क्वचित् अतिसार या ग्रहणी, बेचैनी, खुजली, शुक्र स्थान में उष्णता और अन्तर्दाहादि लक्षण प्रतीत होते हैं। इस रोग की जल्दी चिकित्सा न करने से अनेकों को क्षय रोग हो जाता है।

दोष पाचनार्थ—(१) सोंठ, जीरा और हरड़ का चूर्ण ४ से ६ माशे तक प्रातःकाल जल के साथ देते रहें।

(२) रात्रि को ३ माशे निशोथ की छाल का चूर्ण शहद में मिलाकर दें।

(३) पथ्यादि गुटिका—छोटी हरड़ और पीपल १०-१० तोले, नीम के पत्ते, चित्रकमूल और सैंधानमक ५-५ तोले लें। पहले छोटी हरड़ और पीपल को जौकुट चूर्ण कर दुगुने मट्ठे में २४ घण्टे भिगो दें और फिर मट्ठे सह उबाल कर अवलेह जैसा बनने पर उतार नीम के पत्ते, सैंधानमक और चित्रकमूल का कपड़-छान चूर्ण मिला, खरल कर झड़बेर के समान गोलियाँ बाँधें। इनमें से २-२ गोली दिन में तीन बार जल के साथ सेवन कराने से आम और विप नष्ट हो जाते हैं। यह गोली दीपन, पाचन, दस्तावर, रुचिकर और ज्वर को हरने वाली है।

(४) अदरख के साथ १ माशे जवाखार को मिला कल्क कर फिर निवाये जल में मिलाकर पिलाने से दोप पचन हो जाता है।

(५) तालीसादि चूर्ण (र० ५६४) या पाठादि चूर्ण (र० ५८७) दिन में ३ समय थोड़ी थोड़ी मात्रा में देते रहने से दोप पचन होकर मन्द ज्वर और अतिसार भी दूर हो जाते हैं।

धातु में लीन दोप के पचन और ज्वर शमनार्थ—दुर्जलजेता रस (र० ३८२), लक्ष्मीनारायण रस (र० ३८८ ज्वर १०० डिग्री या इससे अधिक रहता हो, तो), सुवर्णमालिनी वसन्त (र० ३६६), जयमंगल रस (र० ३८१), लघुमालिनी वसन्त र० ४०२), सुदर्शन चूर्ण (र० ५८२), जयाजयन्ती वटी (र० ५४५),

चन्दनादि लोह (र० ३६६), ये सब औषधियाँ अति लाभदायक हैं। इनमें से अनुकूल औषधि की योजना करें।

क्षय के जन्तु हो जाने का भय हो, तो—सुवर्ण मिश्रित औषधि अवश्य देनी चाहिये; किन्तु तीव्र ज्वर हो, तो पहले लक्ष्मी-नारायण रस या अन्य किसी ज्वरशामक औषधि से ज्वर को कम करना चाहिये।

शीत सह विषम ज्वर हो, तो—नारायणज्वरांकुश या शीत भंजी रस देते रहें।

ग्रहणी रोग हो गया हो, तो—सुवर्ण पर्पटी या पञ्चामृत पर्पटी देना चाहिये।

कास और श्वास अधिक हो, तो—(१) अभ्रक भस्म २ रत्ती, शृङ्गभस्म ४ रत्ती, सुवर्ण भस्म आध रत्ती, प्रवालपिष्टी ४ रत्ती और ६४ प्रहरी पीपल ४ रत्ती मिलाकर ३ विभाग कर दिन में तीन बार शहद के साथ देवें; तथा द्राक्षासव (र० ६५६) दिन में दो बार भोजन कर लेने पर पिलाते रहें।

(२) लोह भस्म और अभ्रक भस्म शहद पीपल के साथ देने से या सितोपलादि अवलेह (र० ६७८) बकरी के दूध के साथ देने से भी थोड़े ही दिनों में कास सह ज्वर दूर हो जाता है।

ताप शमन हो जाने पर शक्ति बढ़ाने के लिये—लोह भस्म १-१ रत्ती च्यवनप्राशावलेह के साथ देवें या वृहद् वंगेश्वर रस (र० ४८६) दूध के साथ कुछ दिनों तक देते रहें।

(३२) औपद्रविक ज्वर।

ग्रहणी, पाण्डु, अर्श, विद्रधि, आगन्तुक (वृश्चिकदंश, मूषिकदंशादि) इत्यादि अनेक प्रकार की व्याधियों में तीनों दोष प्रकुपित होकर उपद्रव रूप से ज्वर रहता है। उसे औपद्रविक ज्वर कहते हैं। इसका विवेचन मूलरोगों के साथ किया जायगा।

आश्रय भेद से ज्वर की अवस्था—ज्वर किस स्थान

अर्थात् रस-रक्तादि दूष्य में है, इस बात का बोध होने पर सहज साध्यता, कष्टसाध्यता और असाध्यता का ज्ञान होकर चिकित्सा पथ का निर्णय हो सकता है। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने ज्वर के रस, रक्तादि आश्रय स्थानों का वर्णन निम्नानुसार किया है।

रस गत ज्वर—रस स्थान में ज्वर होने पर अंग में भारीपन, दीनता, उबाक, नेत्रों में जल का आना, वमन और अरुचि, ये लक्षण होते हैं।

रक्तगत ज्वर—रक्तस्थान के आश्रय से ज्वर के रहने पर चेहरे पर लाली, छोटी छोटी फुन्सियां, तृषा, थूक में रक्त आना, भ्रम, दाह, मूर्च्छा, अरुचि, वमन, व्याकुलता और प्रलापादि लक्षण होते हैं।

मांसगत ज्वर—अंग टूटना, तृषा, पतला मल, अधिक मूत्र, वार वार मल-मूत्र का होना, संताप, अन्तर्दाह, हाथ-पैर टूटना और ग्लानि आदि लक्षण मांसगत ज्वर होने पर प्रतीत होते हैं।

मेदोगत ज्वर—अत्यंत पसीना, तृषा, मूर्च्छा, वमन, प्रलाप, श्वासोच्छ्वास में और शरीर में दुर्गंध आना, ग्लानि, अरुचि, अधिक प्रकाश और बड़ी आवाज का सहन न होना इत्यादि लक्षण मेदोगत ज्वर में प्रतीत होते हैं।

अस्थिगत ज्वर—इस ज्वर में हड्डियों के भीतर तोड़ने समान पीड़ा, वार-वार दुःख के मारे रो देना, वमन, अतिसार, हाथ-पैर पटकना और श्वासादि चिह्न होते हैं।

मज्जागत ज्वर—इसमें चक्कर आना, हिक्का, कास, महाश्वास, वमन, हृदयादि मर्मों में काटने के समान पीड़ा, बाहर शीत और अंतर्दाहादि लक्षण होते हैं। इनमें की काटने के समान पीड़ा विशेषतः चातुर्थिक ज्वर और यक्ष्मा ज्वर की अवस्था-विशेष में ही प्रतीत होती है।

शुक्रगत ज्वर—इसमें वृषण, पौरुषग्रन्थि आदि शुक्रस्थान तथा मूत्रेन्द्रिय की जड़ता, शुक्रस्राव, देह का बिल्कुल सूख जाना, आवाज का मन्द पड़ जाना, निस्तेजता और मानसिक अत्यन्त अस्वस्थता आदि चिह्न होते हैं। प्रायः सुषुम्णाकाण्ड पर आघात होने से उत्पन्न ज्वर और पागल कुत्ते के विष प्रकोप जनित ज्वर की अन्तिमावस्था में इस शुक्रगत

ज्वर के लक्षण प्रतीत होते हैं।

रस से रक्ताश्रयी, रक्त से मांसाश्रयी, मांस से मेदाश्रयी ज्वर को क्रमशः अधिकाधिक दुःखप्रद माना है। रस और रक्ताश्रित ज्वर को साध्य; मांसगत, मेदोगत, अस्थिगत और मज्जागत को कष्टसाध्य; तथा शुक्रगत को असाध्य माना है।

सामावस्था में प्रायः सभी ज्वर रसगत होते हैं। सन्तत ज्वर को रसरक्तस्थ कहा है। सभी सान्निपातिक ज्वर विशेषतः रसरक्तस्थ ही होते हैं। कुछ दिनों बाद धातुपाक होने से मांसाश्रित, मेदाश्रितादि ज्वर उत्तरोत्तर धातु का आश्रय करके गम्भीर रूप धारण करते जाते हैं। इन सब ज्वरों में इतर ज्वरों की अपेक्षा विशेषतः विषम ज्वर ही उत्तरोत्तर धातु का आश्रय करके गम्भीर रूप को धारण करता है।

अस्थिगत और मज्जागत ज्वर को कष्टसाध्य माना है, किन्तु असाध्य नहीं माना है। केवल एक शुक्रगत ज्वर को ही असाध्य कहा है।

रस-रक्तादि गत ज्वरों के शमनोपाय।

रस-धातुगत ज्वर हो, तो—त्रिफला, छोटी कटेली की जड़, अजवायन और हल्दी का क्वाथ कर शहद मिलाकर दें। इससे रस-धातुगत विकृति दूर होकर ज्वर की निवृत्ति होती है।

रक्तगत ज्वर हो, तो—(१) त्रिफला, खैर की छाल, नीम की अन्तरछाल, परवल के पत्ते, गिलोय और अड़ूसे के पत्तों का क्वाथ कर शहद या मिश्री मिलाकर पिलावें। इससे रक्तधातु में उत्पन्न विकार दूर होकर ताप शमन हो जाता है।

(२) वासा (अड़ूसा) के पत्ते, धमासा, पित्तपापड़ा, चिरायता, कुटकी और पीपल का क्वाथ कर शहद मिलाकर देवें। इससे रक्तस्थ विष, दाह, तृषा और मूर्च्छा सह ज्वर निवृत्त होता है।

मांसगत ज्वर हो, तो—प्रथम विरेचन देकर कोष्ठ शुद्धि करनी चाहिये। इसके बाद नीम की अन्तरछाल, नागरमोथा, अनन्तमूल और सफेद पुनर्नवा के मूल का क्वाथ कर पिलाने से

मांसगत विकार दूर होते हैं।

मेदोगत ज्वर होने पर—लङ्घन और स्वेदन क्रिया करावें या स्वेदन औषधि देवें। पश्चात् जीर्णज्वर शामक औषधि कई दिनों तक देते रहना चाहिये।

अस्थिगत ज्वर हो, तो—(१) लौंग, पीपल और सफेद पुनर्नवा की जड़ का काथ कर दिन में तीन-तीन बार कई दिनों तक देते रहना चाहिये। अथवा—

(२) गिलोयसत्व शहद के साथ देते रहें।

मज्जागत ज्वर पर—चातुर्थिक ज्वरनाशक या क्षयनाशक उपचार करना चाहिये।

शुक्रगत ज्वर पर—विपन्न उपाय करना चाहिये।

ज्वर वेग।

वेग भेद से ज्वर के अन्तर्वेग और वहिर्वेग, ऐसे दो प्रकार हैं।

अन्तर्वेग के लक्षण—अन्तर्दाह (बाहर ज्वर अल्प होने पर भी भीतर अधिक संताप), तृषा, प्रलाप, श्वास, भ्रम, अस्थियों के सन्धिस्थानों में शूल, पसीने का न आना या बहुत कम आना; अधोवायु और मल-मूत्र का अवरोध, ये सब लक्षण अन्तर्वेग युक्त ज्वर में होते हैं। यह ज्वर, तृषा, श्वास, कासादि की वृद्धि होने पर घोर रूप धारण कर लेता है; अर्थात् मांसादि धातुओं में प्रविष्ट होकर कष्टसाध्य या असाध्य हो जाता है। यद्यपि मांस-मेदादि-आश्रित ज्वरों में ये लक्षण नहीं बताए हैं, तथापि कच्चे-पक्के आम के सम्बन्ध से किञ्चित् विलक्षणता हो सकती है।

वहिर्वेग के लक्षण—त्वचा आदि में अधिक दाह और सामान्य तृषा आदि लक्षण वहिर्वेग युक्त ज्वर में होते हैं; अर्थात् रस-रक्ताश्रित ज्वर में ये चिह्न प्रतीत होते हैं। इस ज्वर को सुखसाध्य कहा है।

इसी तरह आम सम्बन्ध से भी ज्वर के तीन भेद हो जाते हैं, जैसे; साम ज्वर, पच्यमान ज्वर, और निराम ज्वर। इनका वर्णन ज्वर के

आरम्भ में (पृष्ठ ३५४ में) किया गया है।

इसी प्रकार ऋतु भेद से भी ज्वर के प्राकृत और वैकृत, ऐसे दो भेद होते हैं। ये भेद भी पहले ज्वर प्रारम्भ में (पृष्ठ ३४६ में) दिखाये जा चुके हैं।

विगत ज्वर लक्षण—पसीने का सम्यक् प्रकार से निकलना, शरीर का हलकापन, सिर में खुजली चलना, छींकें आना, भोजन की इच्छा होना, ग्लानि, मोह, मुखपाक (होठों पर त्वचापाक), पहले जो बिना परिश्रम के थकावट रहती थी वह दूर हो जाना, अधिक उष्णता और मानस व्यथा का शमन होना, इन्द्रियाँ निर्मल हो जाना, स्थिरता और क्षुधा-पिपासा आदि स्वाभाविक वृत्ति सम्यक् हो जाना, इत्यादि चिह्न ज्वर की निवृत्ति हो जाने पर देखने में आते हैं।

ज्वर के अवस्था भेद—

"आसप्तरात्रं तरुणं ज्वरमाहुर्मनीषिणः।
मध्यं द्वादशरात्रं तु पुराणमत उत्तरम्॥
त्रिसप्ताहव्यतीतस्तु ज्वरो यस्तनुतां गतः।
प्लीहाग्निसादं कुरुते स जीर्णज्वर उच्यते॥"

ज्वर आने से ७ दिन तक अर्थात् आम दोष दूषित हो तब तक तरुण ज्वर, १२ दिन तक अर्थात् आम की पच्यमान अवस्था में मध्यम ज्वर और पश्चात् निराम अवस्था आने पर पक्व ज्वर कहलाता है।

जो ज्वर २१ दिन बीत जाने पर भी मन्दवेग में बना रहता है; एवं जिसमें प्लीहा वृद्धि और अग्निमांद्यादि उपद्रव हो जाते हैं; उसे जीर्ण ज्वर कहते हैं।

यहाँ पर ७-१२ और २१ दिन कहे हैं, यह प्राचीन काल की सामान्य मर्यादा है। वर्त्तमान में ७ दिन तक तरुण और १२ दिन तक मध्यम ज्वर मानना ही चाहिये, ऐसा शास्त्रकारों का आग्रह नहीं है। तरुण ज्वर के लक्षण प्रतीत हों तब तक तरुण ज्वर, मध्यम ज्वर के लक्षण हों तब तक मध्यम ज्वर, और फिर पक्व ज्वर मानना चाहिये। अनेक बार ज्वर २-३ दिन में ही पक्व हो जाते हैं। अतः लक्षणानुसार चिकित्सा करनी चाहिये।

पथ्यापथ्य विचार

ज्वर का पथ्यापथ्य सम्बन्धी संक्षेप में वर्णन चिकित्सा के प्रारम्भ में किया गया है, तथापि पुनः यहाँ सविस्तर पृथक्-पृथक् विभागानुसार लिखा गया है।

ज्वर रोगी को मच्छर, मक्खी, पिस्सू आदि रहित प्रकाश वाले साफ मकान में रखना चाहिये। तेज वायु से रक्षण करना चाहिये।

रोगी के कमरे में अधिक सामान नहीं रखना चाहिये; एवं अधिक मनुष्यों को भी नहीं रहना चाहिये। प्रकाश आने के और वायु शुद्ध रहने के लिये खिड़कियों को खुली रक्खें।

रोगी का वस्त्र साफ रक्खें, प्रस्वेद आने के लिये गरम वस्त्र आवश्यकतानुसार उढ़ा देवें, किन्तु श्वास लेने के लिये नाक को या सारे मुँह को खुला रक्खें।

पित्त ज्वर में रोगी के मकान में उष्णता न हो जाय, इस बात की सम्हाल रक्खें। स्थान शीतल रहने से अधिक व्याकुलता नहीं होती। कदाचित् आवश्यकता हो तो ताड़, खस, श्वेतवस्त्र, या मोरपुच्छ के पंखे से धीरे धीरे वायु डालने का प्रबन्ध करें, किन्तु बिजली के पंखे का उपयोग भूल कर भी नहीं करना चाहिये।

शुद्ध वात ज्वर की निरामावस्था में तैल की मालिश, मांसरस सेवन और जीर्णज्वर के समान चिकित्सा करनी चाहिये।

वातकफज्वर में प्रस्वेद बहुत आता है, अतः उसको रोकने के लिये भूनी हुई कुलथी के आटे की मालिश कराना चाहिये। संधियों में पीड़ा और श्वासादि उपद्रव हों, तो वालुका स्वेद देना चाहिये।

दण्डक ज्वर और इतर कतिपय ज्वरों के लिये पथ्यापथ्य उनके वर्णन में चिकित्सा के प्रारम्भ में लिख दिया गया है। विशेष इतर ज्वरवत् पालन करें।

आंत्रिक ज्वर (मधुरा), श्वसनक ज्वर, वातश्लेष्मिक ज्वर, इन सबके प्रारम्भ में केवल जल पर ही रखना लाभदायक है। फिर दूध और फलों का रस देवें। अन्न नहीं देना चाहिये। इन सब रोगों में चिकित्सा

के प्रारम्भ में सूचना कर दी गई है।

प्रलेपक और वातबलासकादि जीर्ण ज्वरों में मूल रोग के अनुरूप पथ्यापथ्य सेवन किया जाता है। इन सबका विवेचन मूल रोग के वर्णन में किया जायगा।

रात्रि को रोगी के कमरे में मिट्टी के तैल की वत्ती नहीं रखनी चाहिये। एरंड तैल, तिल तैल या सरसों के तैल की वत्ती रक्खें। मिट्टी के तैल से वायु अधिक दूषित होती रहती है और अधिक प्रकाश नेत्र को भी बाधा पहुँचाता है।

ज्वर के पूर्वरूप में पथ्य—दोषों की न्यूनाधिकता के अनुसार लघु भोजन, लङ्घन, स्नेहन, घृतपान (वात ज्वर का पूर्वरूप हो तो), विरेचन (पित्त ज्वर का पूर्वरूप हो तो), मृदु वमन (कफ ज्वर का पूर्वरूप हो तो), द्वन्द्वज ज्वरों में मिश्रित उपचार और त्रिदोषज ज्वर के पूर्वरूप में त्रिदोषघ्न चिकित्सा और पथ्य की योजना करनी चाहिये।

तरुण ज्वर में पथ्य—भगवान् आत्रेय ने कहा है, कि:—

लङ्घनं स्वेदनं कालो यवाग्वस्तिक्तको रसः।
पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणज्वरे॥

च० सं० चि० ३। १४०॥

नूतन ज्वर के प्रारम्भ में दोषपाचनार्थ लङ्घन, स्वेदन, ८ दिन की प्रतीक्षा करना, सोंठ आदि चरपरे पदार्थों के संस्कार वाली पेया, यवागू आदि, कड़ुवा रस (जल और यवागू आदि में मिलाने के लिये), ये सब क्रिया करनी चाहिये।

इनके अतिरिक्त कड़ुवा और चरपरा रस तथा प्रस्वेद लाने वाली क्रिया भी अति हितावह होती है।

लङ्घन कराना लाभदायक है; किन्तु क्षय, निराम वात ज्वर, भय, क्रोध, शोक और श्रम से आये हुए ताप में उपवास नहीं कराना चाहिये।

लङ्घन कराने से साम दोषों (अपक्व रस युक्त वात, पित्त और कफ) का परिपाक, ज्वर का नाश, अग्नि की वृद्धि, भोजन की इच्छा, भोजन रुचिकर लगना और देह में लघुता आदि गुण होते हैं। किन्तु जीवनीय

शक्ति का क्षय न हो, इस बात को ध्यान में रखते हुए लङ्घन कराना चाहिये। बालक, वृद्ध, सगर्भा स्त्री और दुर्बलों को लङ्घन नहीं कराना चाहिये।

सम्यक् लंघन लक्षण—लङ्घन सम्यक् प्रकार से होने पर अधोवायु और मल-मूत्र की स्वाभाविक प्रवृत्ति, देह में हलकापन, आमाशय की शुद्धि, शुद्ध डकार का आना, कण्ठ और मुँह की शुद्धि, तन्द्रा और ग्लानि का नाश, स्वाभाविक प्रस्वेद का आना, भोजन में रुचि होना, क्षुधा-तृषा का उदय और चित्त में प्रसन्नता, ये सब चिह्न प्रतीत होते हैं।

अति लंघन लक्षण—अति लंघन होने पर सांधाओं में तोड़ने के समान पीड़ा, हाथ-पैर शिथिल हो जाना, कास, मुँह में शोष, क्षुधा-नाश, अरुचि, तृषा, नेत्र और कर्ण शक्ति की निर्बलता, बार-बार चित्त-भ्रम हो जाना, ऊर्ध्ववात, चक्कर आना, हृदय में भारीपन, देहबल और अग्निबल की हानि, ये सब लक्षण भासते हैं।

वमन के अधिकारी—भोजन कर लेने पर तुरन्त ज्वर आ गया हो, या संतर्पण (बृंहण औषधि सेवन) से ज्वर आ गया हो, तो वमन के योग्य (बलवान्) रोगी को तुरन्त वमन करा देना चाहिये।

आमाशय में स्थित दोषों में कफ की प्रधानता हो और उबाक, बेचैनी आदि हो, तो तुरन्त वमन करा देना चाहिये। इन लक्षणों के न होने पर अर्थात् अनधिकारी को वमन कराने से हृद् रोग, श्वास, आनाह और अति मोह, ये उपद्रव हो जाते हैं। अतः ऐसी अवस्था में भूल कर भी वमन नहीं कराना चाहिये।

जलपान नियम—वातज, कफज और वात-कफज ज्वर में निवाया जल पिलाना चाहिये। किन्तु मद्यपान जनित ज्वर और पित्त ज्वर में कड़वी औषधियों से सिद्ध किया हुआ शीतल जलपान करावें।

उबाले हुए जल को अपने आप शीतल होने दें, वायु डाल कर ठण्डा नहीं करना चाहिये। आवश्यकता पर थोड़े जल को थाली में डाल कर ठण्डा कर लेवें। इस तरह के जलपान कराने से अग्निवृद्धि, अपक्व रस का परिपाक, ज्वर शमन, स्रोतों की शुद्धि, बल की वृद्धि, भोजन की रुचि और प्रस्वेद का आना, ये सब चिह्न दीखते हैं।

चिकित्सा के प्रारम्भ में (पृष्ठ ३५८ में) कहे हुए षडंग पानीय का पिलाना अति हितकर है।

शास्त्रकारों ने तरुण ज्वर में (आम पचन हो तब तक) ज्वरघ्न प्राधान्य औषधि देने का निषेध किया है। किन्तु षडंग जल या पेय मण्डादि संस्कार के लिये जो औषधियाँ उपयोग में ली जाती हैं; वे अप्रधान (गौण) औषधि होने से उनके सेवन की आज्ञा दी गई है।

रोग सान्निपातिक हो, तो आमकफघ्न चिकित्सा, अवलेह, अञ्जन, नस्य, गण्डूष, रस क्रिया; हाथ, पैर, गला आदि पर सेक करना इत्यादि में से आवश्यक क्रिया करनी चाहिये।

तरुण ज्वर में अपथ्य—स्नान, मैथुन, पूर्व दिशा की वायु या खुली तेज वायु का सेवन, सूर्य के ताप में घूमना, दतौन करना (मुख शुद्धि के अर्थ थोड़ा दन्तमंजन लगा कर कुल्ले करने में बाधा नहीं है), चढ़े हुए ताप में संशमन औषधि देना, भोजन, कषाय रस वाली क्वाथादि औषधि, शीतल ताजा जलपान, तैल की मालिश, दिन में शयन, व्यायाम, दूध, घृत, दाल, मांस, छाछ, शराब, मधुर रस युक्त भारी भोजन (गुड़-शक्कर मिली हुई वस्तु), प्रवाही पदार्थ, क्रोध, कफवर्धक पदार्थों का सेवन, शीतल जल का सेवन, संशोधन क्रिया (वमन विरेचनादि), ये सब तरुण ज्वर में अपथ्य माने जाते हैं। इन अपथ्यों का सेवन नहीं कराना चाहिये, क्योंकि इन अपथ्यों के सेवन करने पर शोष, वमन, मद, मूर्च्छा, भ्रम, तृषा, अरुचि आदि उपद्रवों की उत्पत्ति होकर रोगी संकट में पड़ जाता है।

मध्यम ज्वर में पथ्य—मध्यम ज्वर होने पर पुराना सांठी और शालि चावल; मूँग, मसूर, चने, कुलथी और मोठ का यूष; परवल के पत्ते, परवल, कच्चे केले, पोई, बांस के अंकुर, बैंगन, करेला, सुहिंजने की फली, आषाढ़ में उत्पन्न फल-शाक, मकोय की पत्ती, ककोड़ा, पित्तपापड़ा, कच्ची मूली, पाठा के पत्ते, गिलोय की पत्ती, गोजिया (वन गोभी), चांगेरी (खट्टा चूका), चौलाई, बथुआ, जीवन्ती, सोवा की पत्ती, तोरई, गलका तोरई, इनमें से अनुकूल शाक; अदरख, आँवले, अनार, कैथ,

मुसंवी, मीठा नीबू, संतरा, अंगूर, सेव, पक्के मीठे आम और दूध, ये सब पथ्य माने जाते हैं।

जिन रोगियों को दूध अनुकूल नहीं रहता, उनको अनेक चिकित्सक मट्ठा देते हैं; किन्तु ज्वर रोगी को मट्ठा देना हो, तो मट्ठा गरम जल मिलाकर बनाना चाहिये; और मक्खन बिल्कुल निकाल लेना चाहिये। कारण मक्खन ज्वर रोगी को पचन नहीं हो सकता।

पक्व और जीर्ण ज्वर में पथ्य—विरेचन, वमन, अंजन, नस्य, धूम्रपान, अनुवासन वस्ति, सिरावेध, शिरोविरेचन, ज्वरशामक औषधि, पीड़ाशमन या निद्रा लाने के लिये लेप, तैल की मालिश, कभी कभी निवाये जल से स्नान, शीतल उपचार; सब प्रकार के हिरन, चिड़ा, मोर, लावा, खरगोश, तीतर, मुर्गा, क्रौंच, चकोर, चातक, वतक, इन सब पशु-पक्षियों के मांस का रस, गेहूँ की रोटी या दलिया, भात, मूंग, अरहर, चने की दाल, आंवला, अनारदाने, नीबू, पोदोना की चटनी, धनिया, हल्दी, सैंधानमक, कालीमिर्च, इलायची, गोदुग्ध, बकरी का दूध, घी, हरड़, पर्वत के झरनों का जल, एरंड तैल, सफेद चंदन, तरुण ज्वर में कहे हुए भोजन और चंद्रमा की चांदनी, ये सब पथ्य हैं।

अथवा आवश्यकतानुसार वमन, विरेचन और उपवास कराने पर पथ्य के समय उचित औषधियों के साथ औटाये हुए जल से सिद्ध किया हुआ यवागू या यूप देना चाहिये। निम्न यूप भी हितकारी है।

पञ्चमुष्टिक यूष—जौ, वेर, कुलथी, मूँग और मूली की डंडी, प्रत्येक ४-४ तोले लेकर आठ गुने जल में पकाकर सिद्ध करें। यह यूप, वात, पित्त और कफ नाशक है; तथा शूल, गुल्म, कास, श्वास, क्षय और ज्वर में हितावह है।

पक्व और जीर्ण ज्वर में अपथ्य—उपवास, दतौन करना (दन्तमंजन से मुख-शुद्धि करने में बाधा नहीं है), असमय पर भोजन, प्रकृति के प्रतिकूल भोजन, दाहकारक भोजन, गुरु भोजन, भोजन पर भोजन, वासी भोजन, विरुद्ध भोजन, अति भोजन, वमन के वेग को रोकना, रात्रि को जागरण, अधिक परिश्रम, क्रोध, शोक, चिंता, संशय,

मल-मूत्रावरोध, सूर्य के ताप में भ्रमण, दूषित जल, नमकीन और खट्टे पदार्थ, पत्तीशाक, मूंग, चने आदि को भिगोने से अंकुर निकलने पर शाक बनाना, नागरवेल का पान, तरबूज, कटहर, मछली, तिलकूट, छत्रक (सांप की छतरी), पिट्ठी के बने हुए पदार्थ, पक्वान्न और दही आदि अभिष्यंदी पदार्थ, इन सबका त्याग करना चाहिये।

आगन्तुक ज्वर में पथ्य—प्रवास और श्रमजन्य ज्वर में तैलाभ्यंग और दिन में शयन; क्रोध ज्वर में शीतल उपचार; औषधि गंधज और विषज ज्वर में विषघ्न और पित्त प्रसादक औषधि, दूध, घृत, लघुपौष्टिक आहार, शराब, मांसरस, मालिश और शिराव्यधादि पथ्य हैं।

काम और शोक ज्वर में पथ्य—वातहर चिकित्सा, अच्छी निद्रा, मूल हेतु को भुलाने की चेष्टा करना, शास्त्र श्रवण, जप, होम और देव सेवा आदि हितकर हैं।

काम ज्वर में अपथ्य—चिन्तवन, अकेला रहना, विलासी ग्रन्थ देखना, विलासी बातें सुनना, विलासी मनुष्यों का सहवास, कामोत्तेजक आहार-विहार और जागरण हानिकर हैं।

शोक ज्वर में अपथ्य—लंघन, चिन्ता, शोक, जिस स्थान में रहने से बार बार शोक का चिन्तवन हो जाय उस स्थान में रहना, ये सब अपथ्य हैं। इनके अतिरिक्त अनेकों के लिये जागरण और एकांत में रहना, ये भी बाधक होते हैं।

विषम ज्वर में पथ्य—लहसन, तिल तैल मिली हुई लहसन की चटनी, घी, दूध, मिश्री, पीपल, शराब, मण्ड; मुर्गे, तीतर और मयूर का मांसरस; वमन, विरेचन, लघु भोजन, संतरा, मुसंबी, अंगूर, अमरूद, तैल की मालिश, धूप, अंजन, नस्य, तन्त्र, मन्त्र, यन्त्र, देव, पूज्य और ब्राह्मणों की सेवा, ये सब हितकर हैं। शेष पक्व और जीर्ण ज्वर में कहे अनुसार पथ्य देवें।

संधिक ज्वर (आमवातिक ज्वर) में पथ्य—लंघन, स्वेदन, चरपरे और कड़ुवे पदार्थ, दीपन, विरेचन, स्नेहन, निरूह वस्ति, रूक्षस्वेद, लेप, सैंधवाद्य तैल या विन्टरग्रीन तैल की मालिश, पञ्चकोल

मिलाकर उबाला हुआ जल, सूखी मूली का यूष, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, अजवायन, हल्दी, हींग, काला जीरा, कलौंजी, हरड़, सैंधानमक, कांजी; बैंगन, बथुआ, परवल, गोखरू की पत्ती का शाक, वरना के पत्ते, करेले, कड़वे फलों का शाक, टमाटर, सोया की पत्ती, गिलोय की पत्ती, नीम की पत्ती, पुनर्नवा की पत्ती, अमलतास की पत्ती, सुहिंजने की फली, घी-गुवार की गोंदल, इनमें से अनुकूल शाक, अदरख, मट्ठे में सिद्ध किया लहसन, जौ, पुराने शालि और साँठी चावल, मट्ठा मिलाकर बनाया हुआ लावा का मांस, जंगल के पशु-पक्षी का मांसरस, कुलथी का यूष, मटर या चने का यूष, बाजरा, जुवार, सामा, कोदों, पुरानी शराब, एरंड तैल, गरम जल, गोमूत्र; कफघ्न, वातहर और अग्निवर्धक पदार्थ, ये सब पथ्य हैं।

संधिक ज्वर में अपथ्य—दही, मछली, गुड़, दूध, पोई का शाक, उड़द, पिट्ठी के पदार्थ, अनूप देशों के जीवों का मांस; अभिष्यन्दी, गुरु और पिच्छिल (गोंद की तरह चिकना) भोजन का त्याग कर देवें। दुष्ट जल, शीतल जल, पूर्व दिशा की वायु, मल-मूत्र और अधोवायु को रोकना, जागरण, असमय पर भोजन, इन सबको छोड़ दें।

तीव्र आमवातिक ज्वर में स्नान करना हानिकर है। अन्न न दें, घृत, दूध और फलों पर रखना हितकर है।

मसूरिका ज्वर में पथ्य—प्रारम्भ में लंघन, वमन, विरेचन और शिरावेध करावें। पश्चात् पुराने साँठी और शालि चावल, जौ, चने, मूंग, मसूर और अरहर का यूष; कबूतर, चिड़िया, तोता, पपैहा, चकोर, मोर आदि पक्षियों का मांसरस; गिलोय की पत्ती, पित्तपापड़ा, परवल की पत्ती, करेला, ककोड़ा, कच्चा केला, सुहिंजने की फली, इनमें से अनुकूल शाक; धनिया, आंवला, हल्दी, गधी का दूध, बिजौरा नीबू, अंगूर, अनार; बुद्धिवर्धक, पवित्र, पौष्टिक भोजन, पक्के सूखे बेर, उड़द का यूप, इनमें से भोजन देवें। छोटे बेर खिलाने से विष सत्वर बाहर आ जाता है।

कर्पूर के जल से नेत्र धोते रहें; नित्यप्रति नीम की ताजी टहनियाँ

रोगी के कमरे में बाँधें; और धूप नियमपूर्वक प्रातः-सायं करते रहें।

मसूरिका पक जाने पर मूँग का यूष, जङ्गली जीवों का मांस, घृत, सम्हालु की पत्ती का शाक; राल का धूप, उपलों की राख और गूगल को पीस फूटी हुई मसूरिका पर लगावें। मसूरिका सूख जाने पर नीम के पत्ते और हल्दी को जल में पीस कर लेप करें; तथा व्रणरोगोक्त चिकित्सा करें।

मसूरिका में अपथ्य—मैथुन, स्वेदन, श्रम, तैल, गुरु अन्न, क्रोध, सूर्य के ताप का सेवन, तेज वायु, दुष्ट जल, दुष्ट वायु, विरुद्ध भोजन, असमय पर भोजन, सेम, आलू, नमक, कुलथी, चरपरे मिर्चादि पदार्थ, खटाई, मल-मूत्रादि वेग का अवरोध, ये सब अपथ्य हैं।

सूचना—रोगी को नमक और मिर्च बिल्कुल न दें। अन्यथा पिटिका में खुजली चलकर रोगी को अधिक त्रास होता है।

मुक्त ज्वर होने पर पथ्य—विरेचन, इक्षुरस, गन्ना चूसना, लघु पौष्टिक भोजन, दूध, स्वेदन (कफ वात वृद्धि हो, तो), ठण्डाई (पित्त दाह हो, तो), तैल की मालिश, ये सब पथ्य हैं।

जो मनुष्य तक्र, दूध, दही, या उड़द, इनमें से एक के साथ मांस भक्षण करता है; वह विषम ज्वर से मुक्त हो जाता है।

मुक्त ज्वर हो जाने पर भी अपथ्य—शरीर में बल न आवे तब तक व्यायाम, मैथुन, प्रवास, शीतल जल से स्नान और पक्के भोजन का सेवन हानिकर है।

ज्वर में पथ्य भोजन—शास्त्रकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार के ताप में निम्नानुसार भिन्न-भिन्न भोजन कहा है।

(१) विषम ज्वर में—मण्ड के साथ शराब पिलाना, और मुर्गी, तीतर, लावा, चकोर, चिड़िया आदि पक्षी का मांस भोजनार्थ देना, यह पथ्य मानागया है।

(२) वातज्वर, श्रम या उपवास से आये हुये ताप में—मांसरस के साथ में भात का भोजन (या दूध और गेहूँ का दलिया) देना हितावह माना है; अथवा पीपल, पीपलामूल, अजवायन और चव्य

मिलाकर सिद्ध की हुई यवागू देवें।

(३) कफज्वर में—मूंग का यूष और चावल देना चाहिये।

(४) पित्तज्वर में—मूंग का यूष और चावल के साथ थोड़ी मिश्री मिला शीतल कर देना चाहिये अथवा सोंठ, मिर्च, जीरा और सैंधानमक मिलाकर चावलों की मांड देवें।

(५) वात-पित्तज्वर में—मूंग का यूष अनार या आँवले मिलाकर पिलाना चाहिये। यह यूप शालपर्णी आदि लघुपंचमूल के क्वाथ में बनावें।

(६) कफ-वातज्वर में—कोमल मूली मिलाकर किया हुआ मूंग का यूप पिलावें। यह यूप बृहद् पंचमूल के क्वाथ में बनावें।

(७) कफ-पित्तज्वर में—पीपल और धनिया के क्वाथ में यूष बनाकर देवें अथवा कड़ुवे परवल और निम्ब के पत्ते मिलाकर यूष, मांड या पेया बनाकर देवें।

(८) त्रिदोषज ज्वर वाले को—दशमूल क्वाथ में यूष बना कर दें; अथवा छोटी कटेली की जड़, धमासा और गोखरू के क्वाथ में तैयार की हुई यवागू दें।

(९) वात, पित्त, कफ, एवं सब प्रकार के ज्वरों पर पञ्चमुष्टिक यूप लाभदायक है।

यदि उपवास कराकर दोषों को परिपक्व किया गया हो तो १० दिन के पश्चात् या जब कफ क्षीण तथा वात-पित्त वृद्ध हो जाय, तब घृतपान कराना अमृत सदृश हितावह माना गया है (च० चि० ३।१६२)।

कफ की अधिकता हो तो उसके शमन का उपचार करें और बल की रक्षा करने के लिये (पक्व ज्वर वाले को) आवश्यकता हो तो भोजन में मांसरस दें (वर्तमान में दूध पर रखने का अधिक रिवाज है)।

दाह, तृषा सह वात-पित्त ज्वर (पक्व ज्वर) में निराम अवस्था हो या दोष विचलित हुआ हो, या बद्ध हो, इन सब अवस्थाओं में दूध देना हितकर है। दोष विचलित हो और अतिसार हो तो बकरी का दूध; तथा दोषबद्ध-मलावरोध हो तो गोदुग्ध देना चाहिये (च० चि० ३।१६५)।

ज्वर रोग में मन्दाग्नि वालों को क्षुधा लगने पर छोटी पीपल और सोंठ के क्वाथ में सिद्ध की हुई लाल चावलों की पेया देनी चाहिये। यह पेया ज्वरहारिणी है।

जिस रोगी को वमन, अतिसार, प्यास, दाह, विष, मूर्च्छा आदि उपद्रव हों, उसको भी यवागू अथवा यूष न दें। परन्तु चावलों का सत्तू, मुनक्का, अनारदाने और खजूर को जल में घोल, मिश्री, घी और शहद मिला संतर्पण बना कर पिलाना चाहिये।

ज्वर रोगी को अरुचि हो तो आरग्वधादि कल्क (र० ६३६) या आंवला, मुनक्का और मिश्री का कल्क देना चाहिये।

ज्वर में पसली, मूत्राशय और शिर में शूल हो तो गोखरू और छोटी कटेली के क्वाथ में सिद्ध की हुई लाल शालि चावलों की पेया क्षुधा लगने पर देनी चाहिये।

यदि मल-मूत्रावरोध और उदर पीड़ा सह ज्वर हो तो मुनक्का, पीपलामूल, चव्य, आंवला और सोंठ के क्वाथ में पेया बनाकर पिलानी चाहिये।

यदि गुदा में काटने के समान पीड़ा होती हो तो बेल छाल, बला, कोकम (अथवा डांसरिया या अनारदाने, इनमें से एक), बेर, प्रश्नपर्णी और छोटी कटेली के क्वाथ में पेया बनाकर पिलानी चाहिये।

पेया—पेया बनाने के लिये लाल सांठी चावल ४ तोले और जल ५६ तोले मिलाकर सिद्ध करें।* फिर सैंधानमक, काली मिर्च, सोंठ, पीपल और जीरा आदि मसाला मिलाकर पिलानी चाहिये।

यह पेया अति हलकी, ग्राही, धातु-पोषक; तृषा, ज्वर, वात, निर्बलता और कुक्षि रोगों का नाश करने वाली, पसीना लाने वाली,

* मण्ड सिक्थ (चावल) रहित और पेया सिक्थ सहित (चावल सब घुलकर मिल जाना चाहिये) को कहते हैं। यवागू में अधिक सिक्थ होता है; तथा विलेपी में द्रव कम होता है।

विलेपी के लिये चावल के साथ ४ गुना, मण्ड और पेया के लिये १४ गुना तथा यवागू के लिये ६ गुना जल मिलाया जाता है।

आमनाशक, रुचिकर और अग्निप्रदीपक है; तथा वायु और मल को अनुलोम करती है।

मण्ड—मण्ड बनाना हो, तो १४ गुने जल में लाल शालि चावलों को सिद्ध कर ऊपर का पतला प्रवाही लेवें। फिर उसमें अनारदाने का रस, धनिया, जीरा, सोंठ, पीपल और सैंधानमक आवश्यकतानुसार मिलाकर ज्वर वाले को पिलाना चाहिये।

यह मण्ड (माण्ड) दीपन, पाचन, ग्राही, हल्का, शीतल, धातुओं को सम करने वाला, तृप्तिकर, बलदायक और ज्वरहर है; तथा पित्त, कफ और श्रम को दूर करता है।

यवागू—यवागू बनाने के लिये चावलों को ६ गुने जल में सिद्ध करें। फिर मसाला मिलाकर रोगी को खिलावें। यह यवागू हलकी, दीपन, तृषाहर और वस्तिशोधक है; श्रम और ग्लानि को दूर करती है; तथा वात, मूत्र और मल का अनुलोमन करती है।

सूचना—ज्वर और अतिसार के रोगी को जितनी क्षुधा हो, उसका चौथा हिस्सा यवागू देनी चाहिये।

कफप्राधान्य ज्वर, मदात्यय, पित्त-कफ की अधिकता और ऊर्ध्व-रक्तपित्त वाले को या ग्रीष्म ऋतु में तथा नित्य मद्यपान करने वालों को यवागू नहीं देनी चाहिये।

प्रमथ्या—४ तोले चावल या इतर मूँगादि अन्न को जल में पीस, पेया की रीति से ८ गुने जल में सिद्ध करे, उसे प्रमथ्या कहते हैं। इस प्रमथ्या का गुण पेया के समान है। यह प्रमथ्या दीपन, पाचन और लघु है। मध्यम दोष वाले के लिये हितकर मानी गई है। रोगी को इसके ऊपर का जल ८-८ तोले या शक्ति अनुसार पिलाना चाहिये।

विलेपी—शालि चावलों को ४ गुने जल में पकावें। जिसमें चावल गल जाय तथा जल और चावल मिल जायँ, उसे विलेपी कहते हैं।

यह विलेपी दीपन, बलदायक, हृदय को हितकर, मल को बाँधने वाली, लघु, व्रण और नेत्र-रोगियों को हितकर, तृप्तिकर, तृषाशामक और ज्वरहर है। दुर्बल और स्नेहपान करने वाले के लिये हितकर है।

भात—शालि चावलों को ५ गुने जल में मिलाकर पाक करें। चावल सिद्ध हो जाने पर ऊपर से माण्ड को निकाल डालें।

यह भात अग्निप्रदीपक, पथ्य, तृप्तिकारक, मूत्रल और लघु है। अच्छी रीति से चावलों को धोकर बनाया हो, अलग-अलग दाने रहने पर भी गल गया हो, और गरम हो, तब तक अधिक गुणदायक रहता है। जो चावल अच्छी रीति से न पका हो, कड़क हो, वह बहुत काल में कठिनता से पचन होता है।

जिस चावल को पहले न धोया हो; और कम जल में उबाल कर माण्ड न निकाला हो, वह शीतल, पौष्टिक, गुरु और कफप्रद है।

अति गरम भात बल का हरण करता है। अति शीतल (३ घण्टे बाद) या सूख जाने पर दुर्जर (देरी से पचने वाला) हो जाता है।

सिद्ध भात १२ घण्टे तक ढककर रक्खा रहने से गीला और दुर्गन्धयुक्त हो जाय; अथवा जिस चावल को फिर से गरम किया जाय वह दुर्जर और ग्लानिकर हो जाता है।

जिस चावल को घी में छौंक देकर भून लिया हो, वह रुचिकर, सुगन्धयुक्त, कफनाशक और लघु होता है। वातरोगी, मन्दाग्नि वाले, तथा निरूह बस्ति या विरेचन जिनने लिया है; उनके लिये अत्यन्त हितकर है।

जो भात दूध या मांसरस के साथ बनाया गया हो, वह अति गुरु हो जाता है।

औषधि सिद्ध पेया आदि विधि—जिस औषधि से मण्डादि को सिद्ध करना हो उस औषधि को ४ तोले लेकर २५६ तोले जल में उबाल अर्धावशेष क्वाथ करें (या चौथा हिस्सा जल जला देवें)। फिर छान उस क्वाथ में मण्ड, पेया, यवागू और यूषादि को सिद्ध करें।

जैसे वातज्वरी के लिये पञ्चमूल के क्वाथ में पेया बनाना है—तो ४ तोले पञ्चमूल को २५६ तोले जल में उबाल, छानकर उसमें पेया बनावें। इस तरह इतर औषधियों के लिये समझ लेवें।

जो पेया आदि भोजन इस विधि से औषधि के क्वाथ में सिद्ध किये जायँ, वे दीपन, पाचन, लघु और ज्वर रोगी के ज्वर को हरने

वाला हो जाता है।

मुद्गयूष—आठ तोले मूँग और १२८ तोले जल लें। पहले जल को उबालें। जल उबलने पर मूँग डालें। जब मूँग बिल्कुल गल जाय, जल चतुर्थांश कम हो जाय, तब चूल्हे पर से उतार लें। फिर मसल कर जल को छान लें। उसमें अनारदानों का रस ४ तोले; सैंधानमक, सोंठ, धनिया, पीपल और जीरा का चूर्ण १-१ तोला या रुचिकर हो उस हिसाब से मिला लें। (हल्दी भी मिलाने का रिवाज है)।

यह यूष दीपन, शीतल और लघु है। व्रण, गले के ऊपर के भाग में विकार, तृषा, दाह, कफ-पित्तज्वर और रक्तविकार को दूर करता है। निर्बल, व्रण रोगी, कण्ठ रोगी और नेत्र रोगी के लिये अधिक हितकर है। यदि घी में जीरा डाल छोंक दिया हो, तो कफ-पित्त का नाश करने में विशेष हितकर होता है।

यदि मूंग का यूष बनाने के समय (मूंग गलने पर) आंवले मिला लेवें; तो भेदक (मल का भेदन करने वाला), शीतल, पित्त और वातशामक बन जाता है; तथा तृषा, दाह, मूर्च्छा, श्रम और मेद को दूर करता है।

मसूर का यूष—मूंग के यूष की विधि अनुसार १६ गुने जल में मसूर का यूष तैयार करें। यह यूष ग्राही, पौष्टिक, स्वादिष्ट और प्रमेहनाशक है। यह ज्वर वाले को हितकर नहीं है। केवल मसूरिका ज्वर में अतिसार होने पर यह यूष दिया जाता है।

कौलत्थ यूष—कुलथी का यूष वायु का अनुलोमन करने वाला, श्वास, पीनस, कास, अर्श, गुल्म, अश्मरी, तूनी और प्रतूनी आदि कफ और वातप्राधान्य व्याधियों को नष्ट करने वाला है। उष्णवीर्य, विपाक में खट्टा और शुक्र को हानि पहुँचाने वाला है। रक्त और पित्त को उत्पन्न करता है। यह यूप ज्वर वाले को विशेष हितकर नहीं है। केवल आमवातिक ज्वर में दिया जाता है।

रसौदन—अति मांस वाले पशु की जंघा का मांस और हड्डी रहित तीतर का मांस १६ तोले लें। छोटे-छोटे टुकड़े कर अच्छी रीति

से धो लेवें। फिर उसमें पीपल, पीपलामूल, सोंठ, जीरा, धनिया, ये सब ८-८ माशे मिला १२८ तोले जल में पकावें। चतुर्थांश जल शेष रहने पर मांस को कुड़छी से अच्छी रीति से कूट हाथों से मल कर रस को निकाल लें। फिर घी में हींग और जीरा डालकर छोंक देवें और आवश्यकता अनुसार सैंधानमक मिला लेवें। इस रस को भात में मिला लेने से रसौदन कहलाता है।

यह रसौदन भारी, शुक्रवर्धक, बलदायक और वातज्वर को हरने वाला है; तथा वमन, विरेचनादि से शुद्ध हुए मनुष्यों के और वमन-विरेचनादि से संशोधन करने की इच्छा वालों के लिए हितकर है।

संतर्पण—खीलों का सत्तू, मुनक्का, अनारदाने और खजूर, इन सबको जल में घोल लेवें। उसमें मिश्री, घी और शहद मिला लेवें। फिर ज्वर वाले को पिलावें। (घी पहले सत्तू में मिला लेने से अच्छी रीति से मिल जाता है)। यह संतर्पण वमन, अतिसार, तृषा, दाह, विष, मूर्च्छा और ज्वर को दूर करता है।

दूसरी विधि—ज्वर नाशक फलों का रस, शहद और मिश्री को सत्तू के साथ मिलाने पर संतर्पण तैयार होता है। चरक-संहिता में दाह, वमन और तृषा को दूर करने के लिये अंगूर, अनार, खजूर, चिरौंजी और फालसे के रस से संतर्पण बनाने को कहा है।

ज्वर रोगी के लिये भोजन का नियम—ज्वर रोगी को दिन में एक समय भोजन दें। दो बार न दें। पूर्वाह्न काल में भोजन नहीं कराना चाहिये।

तरुण ज्वर में अभिष्यंदी (दही आदि), तीक्ष्ण और भारी अन्न क़दापि नहीं देना चाहिये।

ज्वर से कृश हुए रोगी को एक साथ अधिक संतर्पण नहीं देना चाहिये। अधिक संतर्पण से संशमन हुआ ज्वर पुनः आ जाता है।

पचनेन्द्रियसंस्थाव्याधि प्रकरण ।

(१) अतिसार ।

अतिसार—दस्त-इसहाल-डायरहिया-कोलायटिस और एण्टरायटिस—Diarrhoea, Colitis, Enteritis ।

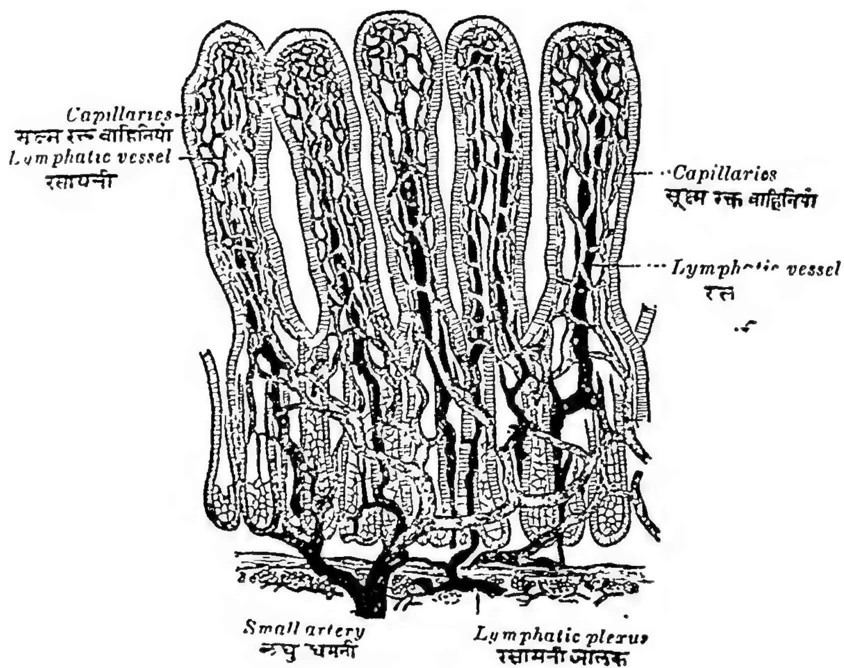
रस, जल, मूत्र, स्वेद, मेद, कफ, पित्त, रक्तादि धातु समूह दूषित होकर मल के साथ मिल जाते हैं; फिर वार-वार पतले दस्त होते रहते हैं; तब उस व्याधि को अतिसार कहते हैं। अतिसार में मल स्वस्थावस्था की अपेक्षा अधिक आता है; और वह पूर्ण पक नहीं होता। यह रोग विशेषतः उष्ण ऋतु में होता है, इस रोग में आंतों के भीतर दाह-शोथ हो जाता है। छोटी आँत में दाह होने पर 'एण्टरायटिस' और वड़ी आँत में दाह होने पर 'कोलायटिस' संज्ञा डाक्टरी में दी है। इनमें विशेषतः वड़ी आँत में दाह होता है।

आमाशय में से अन्न के कुछ अंश का पचन होकर शेष आहार छोटी आँत में जाता है। फिर उसके साथ यकृत् में से पित्त (Bile), अग्न्याशय का आग्नेय रस (Pancreatic juice) और अन्त्र में उत्पन्न आन्त्रिक रस (Succus entericus) मिश्रित होकर आहार पचनक्षम वनता है। पश्चात् उसमें से सत्वांश का रक्त में शोषण हो जाता है।

ये सव क्रियायें नैसर्गिक नियमानुसार स्वस्थावस्था में नियमित रूप से होती रहती हैं। इन क्रियाओं के लिये यकृत्, आंत्र, अग्न्याशय, अन्त्र से सम्वन्ध वाली वातवहा नाड़ियाँ (Sensory nerves), उदर्य्याकला-अन्त्रावरण-(Peritoneum), ये सव सवल होने चाहिये; तथा इनसे सम्वन्ध वाली फुफ्फुस, हृदय और वृक्कादि इन्द्रियों की स्वस्थता की भी आवश्यकता रहती है। यदि फुफ्फुसादि इन्द्रियों में से किसी की विकृति हो जाती है, तो उसका असर भी अन्त्र, यकृत् या अन्त्रावरण पर हो जाता है।

चित्र नं० १५

क्षुद्रान्त्र की रसांकुरिकाएँ



इन इन्द्रियों में से लघु अन्त्र और उदर्य्याकला का कुछ वर्णन पहले आन्त्रिक ज्वर के प्रारम्भ में किया है। शेष विवेचन अत्र दिया है।

अन्त्रवृत्तियाँ—लघु अन्त्र की दीवार में ४ वृत्ति हैं। (१) उदर्य्यावृत्ति (Serous Coat) (२) पेशीवृत्ति (Muscular coat मांसपेशियों से बना हुआ स्तर), (३) संयोजनीवृत्ति (Areolar or submucous coat यह मकड़ी की जाल के तन्तु समान सूक्ष्म स्नायु सूत्रों से बनी हुई झिल्ली है), (४) आभ्यन्तरा वृत्ति (Mucous coat)।

इनमें आभ्यन्तर स्तर मखमल समान मुलायम है। इसमें असंख्य छोटी-छोटी ग्रन्थियों (Glands) के स्रोत खुलते हैं। इनमें से क्षार रस (सक्कस एण्टेरीकस Succus entericus) झरता रहता है। जो अन्न पचन क्रिया में आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त इस स्तर में कितनीक झुर्रियाँ (Wrinkles) पड़ी हुई हैं, जो समुद्र के तरंग या गिरिमाला सदृश दीखती हैं। इनको वलीराजियाँ (...cular folds) संज्ञा दी है। यह आहार रस को सत्वर आगे बढ़ने नहीं देती और पचन हुए आहार रस के शोषणार्थ अधिक विस्तार देती जाती है।

इस तरह इस झिल्ली में कदम्बकेशर के सदृश हजारों रसांकुरिकाएँ (विलाई Villi) रही हैं। ये रसांकुरिकाएँ इस छोटी आँत में सब मिलकर अन्दाजन ४० लक्ष होंगी। ये साम्य अन्नरस का शोषण कर रसायनियों द्वारा रसग्रन्थियों में भेजती जाती हैं। फिर वह रस वहाँ शुद्ध होकर रस-प्रपा और रसकुल्या द्वारा सिरा (रक्त) में मिल जाता है।

इन रसांकुरिकाओं में रही हुई केश वाहिनियाँ आग्नेय आहार रस का शोषण कर यकृत् में रासायनिक शुद्धि के लिये भेजती रहती हैं। ये रसांकुरिकाएँ भी वलीराजियों के समान पचन हुए आहार रस के शोषण के लिये अधिक विस्तार देती रहती हैं।

नाड़ियाँ—इस लघु अन्त्र को प्राणदा नाड़ियों के तन्तु और इडा पिंगला नाड़ी समूह के तन्तु मिलते हैं। इडा पिङ्गला के तन्तु मणिपुर चक्र में से आते हैं। ये दोनों प्रकार के तन्तु समान वायु की क्रिया का साधन रूप हैं। ये ही आँतों की चलनक्रिया, पचनक्रिया में उपयोगी भिन्न भिन्न जाति के रस तथा पक्व आहार के सत्व रूप आग्नेय और सौम्य रस के शोषण के लिये जवाबदार हैं।

बृहदन्त्र—(Large Intestine) इस आँत का प्रारम्भ दहिने वंक्षणोत्तरिक प्रदेश में से होकर यकृत् तक ऊँचा जाता है। वहाँ से मुड़कर प्लीहा तक जाता है। फिर वहाँ से बाँये वंक्षणोत्तरिक प्रदेश में नीचे उतरता है। पश्चात् पृष्ठवंश के पास धनुष की तरह मुड़ी हुई गुदनलिका में मिल जाता है।

लघु अन्त्र में पचन हुए आहाररस का शोषण हो जाने के पश्चात् अवशेष प्रवाही मल-भाग को बृहदन्त्र आश्रय देता है। इस आँत में मल के प्रवाही अंश का शोषण होकर वह गाढ़ा हो जाता है। फिर योग्य समय पर वह बाहर फैंक दिया जाता है। इस बृहदन्त्र में अनेक कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं, या आ जाते हैं, तब वहाँ सड़न की उत्पत्ति हो जाती है। यदि पित्त की न्यूनता है; तो मल में दुर्गन्ध भी हो जाती है।

पित्त यकृत् में से लघु अन्त्र में आ जाता है। जो वसा के पचन और आत्मीय बनाने में अति आवश्यक है। यदि पित्त न मिले; तो स्निग्ध अंश का पचन नहीं हो सकेगा। इसके अतिरिक्त पित्त के प्रभाव से ही अन्त्र में आहार रस की सम्यक् गति होती रहती है। मल नहीं रुकता; और दुर्गन्ध या सड़न नहीं उत्पन्न होती। पित्त कम मिलने से मल का रङ्ग सफेद हो जाता है; और वह दुर्गन्धवाला भी हो जाता है।

इस तरह अग्न्याशय में से जो रस मिलता है, उसे आग्नेय रस (Pancreatic juice) कहते हैं। जो अर्धपचन आहार को पूर्णरूप से पचन करने में अति आवश्यक है।

छोटी आँतों में विकृति होने पर मल रचना में अन्तर हो जाता है। दस्त कम होते हैं; बीच-बीच में उदरशूल होते रहते हैं; थोड़ा आफरा आ जाता है; मल में थोड़ा आम होता है; और आहार के सत्वांश का शोषण किञ्चित् या कम होने से कृशता और पाण्डुता भी आ जाती है।

बड़ी आँत में विकार होने पर मल में श्लेष्मा अधिक होता है। शूल नहीं होता (कदाच शूल हुआ तो भयंकर होता है)। यदि बड़ी आंत का अन्त भाग विकृत हो जाता है; तो रोगी को मल त्याग के समय कनछना पड़ता है।

इस तरह आंत्रस्थ कारण के स्थान-संश्रय के अनुरूप मलस्वरूप और लक्षणों में अन्तर पड़ जाता है।

इन सब अवयवों की सम्यक् क्रिया जब तक होती रहती है, तब तक शरीर स्वस्थ रहता है। स्वस्थावस्था में आहार छोटी आँत में से ४–५ घण्टे में बड़ी आँत में चला जाता है। फिर बड़ी आँतों में से बाहर निकलने को १८ से २४ घण्टे लग जाते हैं। इस तरह क्रिया नित्य होती रहती है। जब किसी हेतु से इनमें विकृति होकर आन्त्रदाह हो जाता है; तब आँतें अपना फर्ज़ नहीं बजा सकतीं। जिससे सत्वांश का बिना शोषण किये ही आहार रस को फैंक दिया जाता है; वही अतिसार रोग कहलाता है।

इस अतिसार रोग को पाश्चात्य वैद्यक शास्त्र में रोग नहीं माना। इतर आन्त्रदाह आदि रोगों का मुख्य लक्षण माना है।

हेतु—ज्यादा भोजन, उड़दादि भारी पदार्थों का भोजन; देरी से पचने वाले मांसादि का सेवन, अति चिकने, अति उष्ण, अति पतले, पक्का भोजन, अति शीतल या शुष्क पदार्थों का अति सेवन, अध्यशन (भोजन पर भोजन), संयोग या प्रकृति-विरुद्ध अथवा देश-काल से प्रतिकूल पदार्थ का सेवन, बारबार भोजन, अजीर्ण में भोजन, असमय पर भोजन, स्नेहन आदि षट्कर्मों के अतियोग या मिथ्या योग, दूषी विष या स्थावर विष का प्रयोग, भय, शोक, दूषित जलपान, सूर्य के ताप में अति भ्रमण, अधिक जलपान, अति मद्यसेवन, ऋतु का परिवर्त्तन, जल-क्रीड़ा, मल-मूत्रादि वेग का रोकना और उदरकृमि आदि कारणों से वातादि दोष प्रकुपित होने पर इस अतिसार रोग की संप्राप्ति हो जाती है।

सम्प्राप्ति—अतिसार में जल, रस, रक्त, पित्त, मूत्र, स्वेदादि पतली धातुएँ कुपित होकर जठराग्नि को मन्द करती हैं। फिर इन धातुओं की वायु द्वारा अधोगति होने पर मल में मिश्रित हो जाती हैं। जिससे पतले-पतले दस्त लगते रहते हैं; और वही अतिसार रोग कहलाता है।

पाश्चात्य-शास्त्रदृष्टि से जब ऊपर कहे हुए कारणों में से किसी द्वारा आन्त्रस्राव की अधिकता अथवा आन्त्र की मलप्रेरक शक्ति में तेजी, इन दो हेतुओं में से एक भी विकार हो जाय; तब अतिसार हो जाता है।

पूर्वरूप—इन अतिसारों के पूर्वरूप में हृदय, नाभि, गुदा, उदर और कुक्षि आदि स्थानों में तोड़ने समान पीड़ा, ग्लानि, अधोवायु की अधिक प्रवृत्ति, मलावरोध, आध्मान और अपचनादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

इन अतिसारों में बहुधा अरुचि, जिह्वा पर सफेद अथवा पीला मैल जमना, उदरवात और दुर्गन्धयुक्त डकारादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

अतिसार के ६ प्रकार हैं। वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज, शोकज और आमजन्य अतिसार। पित्तज अतिसार की वृद्धि से रक्तातिसार हो जाता है; एवं शोकज के समान भय से भी अतिसार हो जाता है।

(१) वातिक अतिसार के लक्षण—वातप्रकोप होने से वायु की आवाज सहित कच्चे आम और झागयुक्त कुछ ललाई लिये या श्याम रङ्ग के थोड़े-थोड़े दस्त और मूत्रावरोधादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

(२) पैत्तिक अतिसार के लक्षण—पित्तप्रकोप होने पर दाह, प्रस्वेद, प्यास, शूल, व्याकुलता, गुदपाक, मांस के धोवन समान, छेछड़ेदार, गरम, हरा-पीला या किञ्चित् लाल रङ्ग के दुर्गन्धयुक्त बारबार दस्त और क्वचित् मूर्च्छा आदि चिह्न प्रतीत होते हैं।

(३) कफातिसार के लक्षण—कफविकृति होने पर अन्नद्वेप, रोमांच, तन्द्रा, जी मिचलाना, मुँह में पानी आना, सफेद, शीतल, चिकना, कुछ गाढ़ा, कफमिश्रित दुर्गन्धयुक्त दस्त, और दस्त हो आने पर भी शंका वनी रहना, ये रूप भासते हैं।

(४) त्रिदोषज अतिसार के लक्षण—इस प्रकार में मांस के धोवन समान या सूअर की चरवी सदृश सवके मिश्रित लक्षणों सहित अनेक रंग का दस्त, साथ साथ तन्द्रा, वेहोशी, मन्दाग्नि, मुखशोष और तृपा आदि लक्षण हो जाते हैं। चिरकारी मलावरोध या आँतें निर्वल हो जाने पर क्वचित् मल सूख जाता है। फिर मल आंतों को घिसता हुआ जाता है, जिससे क्वचित् आंत में व्रण हो जाता है। किसी स्थान पर आंत्रसंकोच हो जाने से उसके ऊपर के हिस्से में मल संचित होकर सूख जाता है, फिर आगे जाने पर व्रण हो जाता है। * इन हेतुओं से अतिसार हो जाता है, उसे त्रिदोपज अतिसार कहते हैं।

इस त्रिदोपज अतिसार के समान डाक्टरी में अलसरेटिव कोलायटिस (Ulcerative Colitis) है। जो वड़ी आंत के भीतर दाह-शोथ होने पर व्रण होकर हो जाता है। यह रोग वहुधा ३०–४० वर्प की आयु में होता है।

* आंत्रव्रण होने पर मल के साथ पूय, श्लेष्मल त्वचा के टुकड़े और रक्त निकलता है। सामान्य आंत्रव्रण में पीप अधिक नहीं होता। यदि मल में अधिक पीप हो तो आंत्र के किसी स्थान में अंत्रविद्रधि फूटा है, ऐसा समझना चाहिये। विशेपतः अंतर्विद्रधि आंत्रपुच्छ के समीप प्रदेश में अथवा स्त्रियों के गर्भाशय के आवरण अथवा गर्भाशय वन्धनिका (Broad Ligament) में होता है। तद्वत् अर्बुद हो जाने से या गुदनलिका में विद्रधि होने पर भी मल में पीप आता है। मल में रक्त मिलना और उदर पीड़ा, ये आंत्रव्रण के चिह्न हैं; तथा श्लेष्मल त्वचा के टुकड़े अधिक निकलना, यह विशेपतः तीव्र प्रवाहिका के लक्षण माने जाते हैं।

इस रोग में बड़ी आंत की श्लेश्मल त्वचा अनेक स्थान से नष्ट हो जाती है। कोई कोई स्थान पर आंत विस्तृत हो जाती है, ऐसा होने पर उदर-व्यथा, कृशता, आध्मान और मंदज्वर सह अतिसार हो जाता है। दस्त पतला, जल समान, दुर्गन्धयुक्त और क्वचित् रक्त मिश्रित होता है। इन लक्षणों पर से यह त्रिदोपज अतिसार का भेद है, ऐसा जाना जाता है।

(५) आमातिसार—(म्युकस कोलायटिस Mucous Colitis)— अपचन के हेतु से वातादि दोष प्रकुपित होकर रक्तादि धातुओं को दूपित कर देते हैं। फिर शूल और आम सहित नाना रंग वाले दस्त होने लगते हैं।

आमातिसार और इतर प्रकार के अतिसार की चिकित्सा में भेद होने से आमातिसार को पृथक् किया है। इतर अतिसारों में ग्राही औषधि दी जाती है; किन्तु आमातिसार में मल को रोकने वाली औपधि नहीं दी जाती। केवल आमपाचनार्थ औषधि या एरण्ड तैलादि का विरेचन दिया जाता है। यदि ग्राही औषधि दी जायगी; तो संग्रहणी, आफरा, शूल, गुल्म, शोथ, उदररोग, ज्वर; या रक्तविकारादि रोग में से कोई-न-कोई उत्पन्न हो जाता है।

आमातिसार वहुधा २५ से ४० वर्ष की स्त्रियों को अधिकतर होता है। इस व्याधि में आंत विल्कुल अशक्त हो जाती हैं। मल के साथ आम के गोले के गोले निकलते रहते हैं। जब आम नहीं निकल सकता, भीतर रुक जाता है, तब मंद मंद उदर पीड़ा और आफरा हो जाता है।

(६) शोकातिसार—शोक होने पर वात और पित्त धातु प्रकुपित होती हैं। फिर वहुत थोड़ा भोजन करने पर भी चिरमी जैसे रंग वाले, पित्त या रक्त सहित दुर्गन्धयुक्त या दुर्गन्धरहित दस्त अथवा क्वचित् मात्र रक्त गिरना, ये लक्षण प्रतीत होते हैं। इस अतिसार को अति दारुण कष्टप्रद माना है।

(७) भयातिसार—भय के हेतु से वातादि धातु प्रकुपित हो जाती हैं, फिर तुरन्त पित्त के लक्षण वाला कच्चा (जल में डूवने वाला), पतला और गरम-गरम दस्त होने लगता है।

(८) रक्तातिसार—पित्तातिसार वढ़ने पर अपथ्य पित्त-प्रकोपक आहार या विष-कृमि आदि इतर हेतु से रक्त सहित दस्त

होने लगते हैं, उसे रक्तातिसार कहते हैं।

पाश्चात्य शास्त्र में अतिसार के आशुकारी (Acute) और चिरकारी (Chronic), ये २ विभाग किये हैं। इन दोनों के निदान पृथक्-पृथक् हैं।

आशुकारी अतिसार का निदान—दूषित भोजन, दूषित जलपान, कृमि, विषमय रक्तरोग (टॉक्सिमिया), ठण्डी लग जाने से दाह-शोथ, बड़ी आंत में व्रण और भय-शोकादि से वातवहा नाड़ियों की विकृति, इन कारणों से आशुकारी अतिसार हो जाता है।

चिरकारी अतिसार का निदान—बड़ी आंत का चिरकारी दाह, वातवहा नाड़ियों की विकृति, आंत शिथिल होजाना, खनिज विष, अग्न्याशय की विकृति, आन्त्रव्रण, आहार-रसवाहिनी शिराओं में अवरोध तथा आशुकारी रोग जीर्ण होने पर चिरकारी अतिसार (ग्रहणी रोग) हो जाता है। इस प्रकार में क्वचित् मलावरोध और क्वचित् अतिसार हो जाता है। इस व्याधि का विवेचन आगे ग्रहणी रोग में किया जायगा।

यदि अन्त्रावरोध (इन्टेस्टाइनल ऑब्स्ट्रक्शन Intestinal Obstruction), अन्त्रान्त्रप्रवेश (छोटी आंत का बड़ी आंत में घुस जाना-इन्टससेप्शन Intussusception), अन्त्रपरिवृत्ति (आंत मुड़ जाना-वॉल्व्युलस Volvulus), आंत दूसरी आंत में फंस जाना (स्ट्रॅन्गुलेटेड हर्निया Strangulated Hernia), कर्कस्फोट (Cancer) और आन्त्रव्रण (Ulcer), इनमें से यदि कोई व्याधि होती है, तो आंत्र के सब स्तरों में और उदर्य्याकला में दाह-शोथ हो जाता है। इन हेतुओं से अति सड़न सह अतिसार या उदावर्त्त हो जाता है। इन रोगों का वर्णन यथास्थान पृथक्-पृथक् किया जायगा।

क्षुद्रान्त्र शोथ—छोटी आंत का शोथ बहुधा आमाशय शोथ के समान ही प्रतीत होता है। जिससे दोनों का विभेद करना, यह अनेक वार दुष्कर हो जाता है।

आंत्रिक ज्वर, प्रवाहिका और वृक्कसंन्यासादि रोगों में यह रोग उपद्रव

रूप से हो जाता है। एवं हृदय-यकृत् और फुफ्फुसादि रोगों में भी छोटी आंत प्रायः न्यूनाधिक रूप में दूषित हो जाती है।

इस शोथ के हेतु से भोजन के पश्चात् पतला दस्त होता रहता है। फिर आंत निर्वल होने पर मलावरोध होता रहता है; और उदरशूल चलने लग जाता है; तथा शोथ अधिक काल रहने पर वहाँ व्रण हो जाता है। फिर बार-बार पतले दस्त भी होते रहते हैं।

बृहदन्त्र शोथ—अपथ्य आहार-विहारादि कारणों से इस व्याधि की उत्पत्ति हो जाती है। एवं वृक्कसंन्यास और संक्रामक ज्वर में क्वचित् उपद्रव रूप से भी हो जाता है। इसमें अतिसार आम सह होता है; मल में दुर्गन्ध होती है; और आफरा आ जाता है। शूल नहीं होता या अत्यन्त तीव्र होता है। क्वचित् व्रण होकर रक्त भी आने लगता है।

आमाशय या छोटी आंत में से रक्त निकलता है; तब रक्त मल में मिश्रित हो जाता है; और बड़ी आंत या गुदनलिका में से रक्त निकलता है; तब रक्त मल से पृथक् रह जाता है।

चिरकारी वृक्कदाह-शोथ में आंत्र और ऊपर के अवयवों में दाह होकर अतिसार हो जाता है। यह प्रकार प्राणघातक है।

बाल अतिसार—१–२ वर्ष को आयु वाले बालकों को भी अतिसार हो जाता है। इसमें अहित भोजन (दूषित दूध), अध्यशन, अजीर्ण और उदरकृमि के अतिरिक्त दाँत निकलना और कीटाणुओं का आक्रमण, इन कारणों से आन्त्र में दाह-शोथ होकर अतिसार हो जाता है। इसके २ भेद हैं। सौम्य और तीव्र।

सौम्य अतिसार में अति दुर्गन्धयुक्त हरा या हरा-पीला मल, ज्वर और वमन होते हैं; तथा पेट में दर्द होने से बच्चा बारबार रोता रहता है।

तीव्र प्रकार का कारण कीटाणु होने से वमन, अतिसार, आफरा, ज्वर (१०४ से १०५ डिग्री तक), कृशता, मूर्च्छा और बलक्षयादि लक्षण होते हैं। इस रोग में अनेक बच्चे तुरन्त चले जाते हैं, या रोग चिरकारी-जीर्ण हो जाता है; फिर बालक सूखता जाता है और अन्त में मर जाता है।

क्वचित् इससे भी तीव्रतर प्रकार हो जाता है, जिसको डाक्टरी में बालकों का विसूचिका रोग (Cholera Infantum) संज्ञा दी है।

असाध्य लक्षण—अतिसार में पक्के जामुन के रङ्ग सदृश मल था लाल-काला रंग का मल, या मांस के धोवन के समान मल या गरमागरम घी, तैल, वसा, मज्जा, वेशवार (मसाले) में मिले हुये जल सदृश, दूध या दही के समान चिकना मल, या मयुरपुंछ के चाँद के समान नाना प्रकार के रंग युक्त मल, नीला-लाल या काला मल, एवं मल में सड़े हुए मुर्दे सदृश भयंकर दुर्गन्ध आती हो, या मस्तक में रहने वाली चरबी सदृश गन्धयुक्त भारी, अति गरम और दुर्गन्धयुक्त मल हो, साथ-साथ भयङ्कर तृषा, दाह, चक्कर, श्वास, कास, ज्वर, शोथ, गुदापाक, प्रलाप, बेहोशी, हिक्का, अति आफरा, मूत्रावरोध, अरुचि, वमन, पार्श्वशूल, अस्थिशूल, उदरशूल, शक्तिक्षय, शीतल गात्र हो जाना इत्यादि उपद्रव हो गये हों; तो अतिसार रोग असाध्य माना जाता है।

जिस रोगी की गुदा संकुचित न हो सके, अत्यन्त क्षीणता और अत्यन्त आफरा हो, अग्नि नष्ट हो जाय और गुदापाक आदि उपद्रव हो जायँ, उस रोग को असाध्य जान कर रोगी को त्याग देना चाहिये।

श्वास, शूल, अति तृषा, शक्ति क्षय और ज्वर आदि उपद्रव उत्पन्न होने पर अतिसार बहुधा वृद्ध और बालकों को मार डालता है।

हाथ-पैर की उँगलियाँ पक जाना, संधिपाक, मूत्रावरोध और मल अत्यन्त गरम आना, ये लक्षण प्रतीत होते हों; तो रोगी की मृत्यु हो जाती है।

जिन अतिसारी, क्षय रोगी या ग्रहणी रोगी के मांस, अग्नि और बल का क्षय हो जाता है, उनका जीवन दुर्लभ है।

अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, विसूचिका, कृमि विकार और अजीर्ण रोग में मल पतला और प्रवाही हो जाता है। किन्तु इन सबके लक्षणों में निम्नानुसार अन्तर रहता है।

(१) आमातिसार	प्रवाहिका
१—मरोड़ी होती है। श्लेष्मल त्वचा के टुकड़े; कीटाणु और पीप नहीं होते। अधिक आम और कचित् रक्त मिश्रित मल जाता है।	१—मरोड़ी, दस्त में आम, श्लेष्मल त्वचा के टुकड़े, सूक्ष्म कृमि, पित्त, रक्त और कचित् पीप भी होता है।
२—अनेक विधि रंग का मल।	२—एक प्रकार के रंग का मल।
३—शूल या तीव्र वेदना बनी रहती है।	३—दस्त के पहले शूल। फिर शूल शमन।

(२) आमातिसार	ग्रहणी
१ कारण—रस धातु क्षुब्ध होने से लघु आंत के अन्त भाग में आम-संचय।	१ कारण—ग्रहणी कला की विकृति होने पर ग्रहणी रोग होता है।
२—नाना प्रकार के रंग वाला मल।	२—एक प्रकार के रंग का मल।
३—उदर में तीव्र व्यथा।	३—वेदना का अभाव।
४—क्षुधा नाश।	४—मन्दाग्नि होने पर भी क्षुधा लगना।

(३) आमातिसार	विसूचिका
१—अनेक वर्ण का मल।	१—कीटाणु सह चावल के धोवन के समान मल।
२—तृषा, वमन, दाह, ऐंठन, शीतल देह और मूत्रावरोध, ये लक्षण नहीं होते।	२—भयंकर प्यास, वमन, हाथ-पैरों में ऐंठन, मूत्रावरोध, ऊपर से शीतल देह और भीतर दाह होता है।

(४) कृमि विकार में पतले दस्त होते हैं। किन्तु संख्या में कम होते हैं। साथ में उबाक और बेचैनी रहती है। नासिका और गुदा में प्रायः खुजली आती रहती है। ये लक्षण अतिसार में नहीं होते।

(५) अजीर्ण में कचित् अतिसार के समान चावल के धोवन जैसे

रंग वाले पतले दस्त हो जाते हैं। किन्तु उसमें दुर्गन्ध भयङ्कर होती है। ऐसा अजीर्ण बहुधा विसूचिका का पूर्वरूप होता है। जिससे उसमें उबाक, वमन, बेचैनी, प्यासादि लक्षण भी प्रतीत होते हैं। ये लक्षण अतिसार में नहीं होते।

इनके अतिरिक्त प्रवाहिका, ग्रहणी, अर्श, रक्तातिसार और अधोरक्त-पित्त में गुदा द्वार से रक्त गिरता है। उनका भी विवेक द्वारा निर्णय हो सकता है। प्रवाहिका और ग्रहणी में रक्त गिरता है; तब मरोड़ी आती है; रक्तातिसार में मरोड़ी नहीं आती। अर्श में प्रायः मलावरोध रहता है; एवं पहले या पीछे रक्त गिरता है। रक्त-पित्त में भी ऐसा ही होता है; किन्तु रक्तातिसार में रक्त, आँव और मल, ये सब एक साथ गिरते हैं।

मल-परीक्षा—अतिसार रोग में चिकित्सा करने से पहले मल की परीक्षा करनी चाहिये। यदि मल दुर्गन्धयुक्त चिकना है; और जल में डालने से डूब जाता है तो कच्चा; तथा जल पर तैरता है तो पक्का है, ऐसा बहुधा माना जाता है। परन्तु अनेक बार अति पतला मल होने से कच्चा होने पर भी जल के ऊपर रह जाता है; और कफ से दूषित पक्का होने पर भी नीचे बैठ जाता है। अतः दुर्गन्धादि इतर लक्षणों को मिलाकरके ही विचार करना चाहिये।

चिकित्सा विधि—आमातिसार में रोगी को लिटाये रखना चाहिये। दोषपाचनार्थ पहले लंघन करावें; फिर लघुपाचक आहार दें।

आमातिसार में बलवानों के लिये लङ्घन उत्तमोत्तम औषधि है।

यदि आम को बाहर निकालने की आवश्यकता है; तो हरड़ या एरण्ड तैल विरेचनार्थ देना चाहिये।

यदि बहुत पतले-पतले दस्त आते हों; तो रोगी को पहले पीपल और सैंधानमक मिलाया हुआ निवाया जल पिलाकर वमन कराना चाहिये। फिर आवश्यकतानुसार लङ्घन, यवागू या यूप और आम-पाचन औषधि देना चाहिये।

रोगी को पीने के लिये नेत्रवाला, सोंठ और नागरमोथा मिला उबाल कर शीतल किया हुआ जल देते रहें।

यदि बँधा हुआ थोड़ा-थोड़ा दस्त शूल सह होता रहता है; तो ६ माशे हरड़ और १॥ माशा पीपल को जल में पीस निवाया कर पिलाने से रुका हुआ मल निकल जाता है; और शूल आदि उपद्रव निवृत्त हो जाते हैं। अथवा एरण्ड तैल, दूध या सोंठ के क्वाथ या सौंफ के अर्क के साथ देकर बाद में पाचन औषधि देना चाहिये।

कच्चे आमयुक्त अतिसार के प्रारम्भ में कूड़ा आदि ग्राही औषधि नहीं देनी चाहिये। अन्यथा बद्ध दोषों द्वारा नाना प्रकार के रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। दण्डालसक (मल-मूत्रावरोध युक्त उदर पीड़ा), आध्मान, ग्रहणी, अर्श, भगन्दर, शोथ, पाण्डु, प्लीहा, कुष्ठ, गुल्म, उदररोग और ज्वरादि में से कोई-न-कोई हो जाते हैं। ऐसा भगवान् आत्रेय ने चरकसंहिता के निम्न श्लोकों में कहा है--

न तु संग्रहणं देयं पूर्वमामातिसारिणे।
विबध्यमानाः प्राग्दोषा जनयन्त्यामयान् बहून् ॥
दण्डकालसकाध्मान–ग्रहण्यर्शोगदांस्तथा।
शोथपाण्ड्वामयप्लीह–कुष्ठगुल्मोदरज्वरान् ॥

किन्तु रोगी अत्यन्त अशक्त है, दोष अति बढ़े होने से दस्त बहुत हो गये हों; तथा पाचन औषधि देने पर मृत्यु हो जाने का भय रहता हो, तो आम दोष रहने पर भी (चव्य, नागरमोथा, नेत्रवाला आदि पाचन औषधियों के साथ) संग्राही औषधि देनी चाहिये। अतिसार रोग में औषधि दिन में ३–४ बार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में देनी चाहिये। यदि वेग अधिक तीव्र है, तो मात्रा कम करके दिन में ५–६ या ८ बार देवें।

पहाड़ों पर अतिसार रोग थोड़ी-सी भूल में हो जाता है, एवं विरेचन औषधि की थोड़ी मात्रा लेने पर भी दस्त अधिक लग जाते हैं। अतः ऐसे स्थानों पर या ऐसे स्थानों के प्रवासी को मल शोधनार्थ औषधि कम मात्रा में देनी चाहिये; एवं अतिसार होने पर आगे लिखी हुई औषधियों में से अनुकूल औषधि की मात्रा कम और अधिक बार देनी चाहिये; तथा रोगी को पूर्ण आराम देना चाहिये।

यदि अतिसार में अपानवायु और मल में रुकावट होती है, उदर-

शूल, पेचिश और रक्तपित्त है; तो बकरी का दूध अमृत सदृश हितकारी है; बहुत दिनों के जीर्ण अतिसार में भी अति हितकर है। दूध में तीन गुना जल मिला, औटा दूध शेष रहने पर उतार शीतल करके पिलाना चाहिये।

पित्तातिसार में बकरी के दूध को प्रयोग में लाने के लिये चरक-संहिता में लिखा है; कि :—

पित्तातिसारो दीप्ताग्नेः क्षिप्रं समुपशाम्यति।
अजाक्षीर प्रयोगेण बलं वर्णश्च वर्धते॥
बहुदोषस्य दीप्ताग्नेः स प्राणस्य न तिष्ठति।
पैत्तिको यद्यतिसारः पयसा तं विरेचयेत्॥

पित्तातिसारी दीप्ताग्नि वाला है, तो बकरी के दूध का प्रयोग करने से अतिसार सत्वर शमन हो जाता है, और बल-वर्ण की वृद्धि होती है। यदि बलवान् पित्तातिसारी के आंतों में अति दोष भरा है; किन्तु अग्नि तेज है; तो अधिक दूध पिलाकर विरेचन कराना चाहिये।

पलास के फल या गोंद अथवा त्रायमाण का चूर्ण दूध के साथ देकर उदर शोधन कर लेने से अतिसार सत्वर शमन हो जाता है।

कदाच उदर शूल (बड़ी आंत में भयंकर शूल) हो, तो अनुवासन वस्ति देकर दोष को दूर करना चाहिये। सौंफ, शतावरी, मुलहठी और बेलगिरी का कल्क १ भाग, तिल तैल १ भाग, गोघृत ४ भाग, बकरी का दूध ८ भाग और सौंफादि क्वाथ १६ भाग मिला घृत सिद्ध करें। इस घृत की अनुवासन वस्ति देने से आम और मल दूर होते हैं। बड़ी आंतों के व्रण शमन होते हैं; तथा शूल जनित पीड़ा दूर होती है। फिर आवश्यकता हो, तो निम्न पिच्छा वस्ति दी जाती है।

पिच्छा वस्ति—सेमल के ताजे फूलों को कूट गोला बना बड़ादि के पत्तों में रख ऊपर सूत से बांध, मिट्टी लगावें। फिर पुटपाक कृति से पाक करें। पश्चात् ८ तोले रस को निचोड़ लें। इस रस में ८ गुना दूध (६४ तोले) और २५६ तोले जल मिला कर दुग्धावशेष क्वाथ करें। अनन्तर दूध, दूध से चतुर्थांश घी, घी समान तैल तथा मुलहठी

का कल्क भी घी समान मिलावें (कितनेक चिकित्सक इसमें घी समान शहद भी मिलाते हैं)। इसकी वस्ति देने से पित्तातिसार ज्वर; शोथ, गुल्म, जीर्णातिसार, ग्रहणी आदि अति बढ़े हुए रोग सब दूर हो जाते हैं।

सूचना—वस्ति देने के पश्चात् बकरी का दूध या जांगल पशुओं के मांसरस का भोजन कराना चाहिये।

यदि पित्तातिसार में अपथ्य सेवन करने से रक्तातिसार हो गया हो; तृषा, शूल, दाह, गुदपाकादि से दारुण पीड़ा होती हो, तो उस रोगी के लिये शहद मिश्री मिला हुआ बकरी का ताजा या गरम करके ठंडा किया हुआ दूध पीने (भोजन और जलपान रूप से) एवं गुदा धोने के लिये देना चाहिये। ऐसा निम्न वचन में महर्षि आत्रेय ने कहा है।

छागं तत्र पयः शस्तं शीतं समधुशर्करम्।
पानार्थे व्यञ्जनार्थे च गुदप्रक्षालनं तथा॥

अतिसार चिकित्सा विधि के लिये भगवान् आत्रेय ने कहा है, कि:—

वातस्यानुजयेत्पित्तं पित्तस्यानुजयेत्कफम्।
त्रयाणां वा जयेत्पूर्वं यो भवेद्बलवत्तमः॥

पक्वाशय वायु का स्थान होने से अतिसार चिकित्सा में (आम को दूर करने के पश्चात्) पहले वायु को शमन करें। फिर पित्त और कफ को क्रमशः जीतना चाहिये। अथवा तीनों में जो बलवान् हो, उसको पहले जीतना चाहिये।

किन्तु जहाँ पित्त विकार समवाय सम्बन्ध (मूल कारण) रूप हो, द्विदोषज या त्रिदोषज अतिसार हो, वहाँ पहले पित्त शमन और फिर वात-कफ का उपचार करना चाहिये, ऐसा भगवान् धन्वन्तरि ने निम्न वचन में कहा है :—

"समवाये तु दोषाणां पूर्वं पित्तमुपाचरेत्।
ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्रान्यत्र मारुतम्"॥ (सु० सं०)

यदि ज्वर और अतिसार दोनों साथ में हैं, तो आगे ज्वरातिसार में कही हुई औषधि देनी चाहिये।

आंत्र में यदि व्रण हो जाय—पीप हो जाय, तो दिन में ३-४ समय चूने का साफ नितरा जल ५-५ तोले पिलाते रहने से अतिसार रोग सत्वर शमन हो जाता है।

आंत में शोथ हो, उदर हाथ लगाने से दर्द होता हो; तो राई का प्लास्टर लगाना चाहिये। किन्तु जब जलन होने लगे, तब प्लास्टर को खोल लेना चाहिये; और उस स्थान पर घी वाला हाथ लगा देना चाहिये।

निराम अतिसार का निश्चय होने पर ग्राही (मल को बाँधने वाली) औषधि देनी चाहिये।

आमातिसार चिकित्सा।

(१) धान्यपंचक योग—धनिया, सोंठ, नागरमोथा, नेत्रवाला, और कच्चे बेलफल का काथ कर दिन में ३ समय पिलाने से आम, शूल, वायु और मल की रुकावट दूर होकर अग्नि प्रदीप्त होती है। यदि पित्त की अधिकता है, तो सोंठ कम कर देना चाहिये।

(२) कलिङ्गादि क्वाथ—इन्द्रजव, अतीस, भूनी हींग, काला-नमक, वच और हरड़ का क्वाथ बनाकर पिलाने से आम का पचन हो जाता है। शूल, स्तम्भ और विबन्ध दूर होकर अग्नि प्रदीप्त होती है।

(३) हरड़, वच, अतीस, भूनी हींग और काला नमक का चूर्ण निवाये जल से लेने से आम पचन हो जाता है।

(४) सोंठ, अतीस, नागरमोथा, पीपल और इन्द्रजव का क्वाथ कर पिलाना चाहिये। यह आम पचन करने में अति हितकर है।

(५) पाठा, इन्द्रजव, हरड़ और सोंठ का क्वाथ बना कर दिन में ३ समय पिलाने से सत्वर अतिसार शमन हो जाता है।

(६) वच, इन्द्रजव, सैंधानमक और कुटकी का क्वाथ कर पिलाने से आम का पचन होता है; तथा रुका हुआ मल और वायु दोनों सरलता से दूर हो जाते हैं।

(७) मूर्वा, चित्रकमूल, पाठा, सोंठ, काली मिर्च, पीपल और गज-

पीपल का क्वाथ बनाकर पिलाने से आम का सत्वर पचन होकर अग्नि प्रदीप्त हो जाती है।

(८) कच्चे बेलफल और आम की गुठली की गिरी का क्वाथ बना शहद मिला कर पिलाने से वमन सह अतिसार की निवृत्ति होती है।

(९) आमातिसारघ्न चूर्ण—सोंठ, काली मिर्च, पीपल, अतीस, भूनी हींग, खरैंटी, कालानमक, बड़ी हरड़, इन ८ औषधियों को कूट कपड़छान चूर्ण कर ३ से ४ माशे तक निवाये जल के साथ दिन में ३–४ समय सेवन कराने से भयंकर बढ़े हुए आमातिसार का भी पचन होकर शमन हो जाता है। यह आमातिसार में अति लाभदायक औषधि है।

(१०) वराटिका भस्म (र० २६०) और सोंठ का चूर्ण घी के साथ अथवा घी और शहद मिलाकर दिन में ३ समय देते रहने से अन्त्र का दाह-शोथ और आम दूर होकर अतिसार निवृत्त हो जाता है।

(११) कुटजावलेह दूसरी विधि (र० ६८१) पचन और स्तम्भनार्थ दिन में २ समय देने से २–३ दिन में अतिसार शमन हो जाता है।

(१२) बचादि क्वाथ—बच, नागरमोथा, अतीस, हरड़, देवदारु और सोंठ का काथ कर पिलाने से आम और शूल का शमन होता है; तथा आमातिसार दूर हो जाता है।

(१३) यदि पेट में आफरा है, तो—हींग, त्रिकटु, अजवायन और नमक को जल में पीस निवाया कर पेट पर लेप करना चाहिये।

(१४) यदि शूल अधिक हो, तो—पेट पर अलसी की पुल्टिस या बाजरे की रोटी बांधना चाहिये; और अरंडी तैल पिलाना या बचादि पाचन काथ पिलाना चाहिये।

पक्व आमातिसार होने पर—(१) आनंदभैरवरस (र० ४०७), अगस्ति सूतराज रस (र० ४०८ शूल सह हो, तो), जातिफलादि वटी (र० ४१४), रामबाण रस (र० ४१७), महावातराज रस (र० ५३० रक्त भी जाता है, तो), रस पर्पटी (र० ३५२), कुटजारिष्ट (र० ६५७), इनमें से अनुकूल औषधि का सेवन करावें। ये सब औषधियाँ पक्वातिसार को तुरन्त नष्ट कर देती हैं।

(२) लजालु, धाय के फूल, मजीठ, लोध और नागरमोथा, इनका चूर्ण शहद के साथ दें; फिर ऊपर से चावलों का धोवन पिलाने से अतिसार सत्वर शमन हो जाता है।

(३) सेमल की छाल, लोध, कूड़े की छाल और अनार की छाल, इन सबको मिला चूर्ण कर शहद से दें। ऊपर चावलों का धोवन पिलावें।

(४) आम की गुठली, लोध, बेलगिरी और प्रियंगू, इनका चूर्ण ऊपर की विधि अनुसार देने से सत्वर अतिसार रुक जाता है।

(५) मुलहठी, सोंठ और अरलू की छाल का चूर्ण कर दिन में ३ समय ४-४ माशे देने से अतिसार नष्ट हो जाता है।

(६) **कुटजादि कषाय**—कुड़े की छाल, अनार का वक्कल, नागरमोथा, धाय के फूल, बेलगिरी, नेत्रवाला, लोध, लाल चन्दन और पाठा, इन ६ औषधियों का क्वाथ करें। फिर शहद मिलाकर पिलाने से आम, शूल, रक्तस्राव, मल की पिच्छिलता (चिकनापन), ये सब दूर होते हैं। यह कषाय सब प्रकार के अतिसारों में हितकारक है।

(७) **कंचटादि क्वाथ**—चौलाई, जामुन, अनार, सिंघाड़े, इन चारों के पान, बेलगिरी, नेत्रवाला, नागरमोथा और सोंठ, इन ८ औषधियों को मिला क्वाथ कर (शहद मिलाकर) पिलाने से गंगा के वेग के समान प्रबल अतिसार भी रुक जाता है।

सूचना—आमातिसार और इतर सब अतिसार में पहले पाचन औषधि, फिर संग्राही (मल को बाँधने वाली) औषधि देवें। यदि संग्राही औषधि से अतिसार शमन न हो, तब अफीम मिश्रित स्तम्भन औषधि देनी चाहिये।

इन औषधियों में से जातिफलादि वटी और कुटजारिष्ट का उपयोग हम अधिक रूप से करते हैं। शूल होने पर अगस्ति सूतराज, रक्त और ज्वर सह हो, तो कर्पूर रस देते हैं। चूर्ण देना हो, तब लघु गंगाधर चूर्ण देते हैं; यह सामान्य चूर्ण होने पर भी खूब अच्छा काम देता है। जीर्णावस्था में पर्पटी का उपयोग करते हैं। पेचिश-सा प्रतीत होता है, तब आंत्र शोधन करके अफीम वाली औषधि देते रहते हैं।

डाक्टरी में निम्नानुसार औषधियाँ दी जाती हैं।

(१) सामान्य विकार वालों को—

टिंचर केटेक्यू	Tinct. Catechu	३ ड्राम
पल्विस क्रेटा एरॉमेटिक	Pulv. Creta Arom.	१॥ ड्राम
टिंचर ओपियाई	Tinct. Opii	४० बूँद
मिश्चुरा क्रेटा	Mistura Creta	ad ६ औंस तक

इन सबको मिला लें। पतले दस्त आते हैं तब तक दस्त आने के बाद बार बार १-१ औंस देते रहें।

मिश्चुरा क्रेटा बनाने की विधि--

शुद्ध चाक १० ग्रेन

अरबी गोंद का प्रवाही मिलाने में आवश्यक हो उतना लें।

दोनों मिला एक्वा मेन्था पीप० १ औंस मिला लेने से तैयार होता है।

(२) उदर पीड़ा सह अतिसार पर--

टिञ्चर ओपियाई	Tinct. Opii	१ ड्राम
ऑइल काजुपुटी	Oil Cajuputi	१२ बूंद
टिञ्चर ह्रियाई	Tinct. Rhei	३० बूंद
मिश्चुरा क्रेटा	Mistura Creta	ad ६ औंस

इन सबको मिला लें। २ से ४ ड्राम तक पतले दस्त आने के पश्चात् बार बार देते रहें।

(३) वमन, अतिसार, अजीर्ण और दूषित डकार आते हों, तो—

बिस्मथ सब-नाइट्रास	Bismuth Subnit.	१० ग्रेन
सोडा बाई कार्ब	Soda Bicarb	५ ग्रेन
पल्विस क्रेटा एरॉमेटिक	Pulv. Creta Arom.	१० ग्रेन
स्पिरिट एमोनिया एरॉमेटिक	Spt. Ammon. Arom.	२० बूंद
,, क्लोरोफॉर्म	,, Chloroform	१५ बूंद
म्यूसीलेज	Mucilage	२ ड्राम
एक्वा सिंनामोम	Aqua Cinnamomi	१ औंस

इन सबको मिला कर पिला दें। इस तरह दिन में ३ समय देवें। यह मिश्रण अजीर्ण, वमन, दस्त और दूषित डकार, सबको जल्दी दूर करता है।

अजीर्ण, आमवृद्धि, पतले दस्त, अशुद्ध डकार आदि के पचनार्थ जीवनरसायन अर्क (र० ६६७) दिन में ३ समय ५-५ बूँद २॥-२॥ तोले जल के साथ देवें। यह भी अपचन, विसूचिका आदि की उत्तम औषधि है।

बालकों के लिये आमपक्व होने पर—कनकसुन्दर रस (र० ४०६), सर्वाङ्गसुन्दर रस (र० ५२० तीव्र ज्वर और वमन सह हो, तो), बाल अतिसारहर चूर्ण (र० ६१२), बालमित्र चूर्ण प्रथम विधि (र० ६१२ रक्तातिसार हो, तो), बालसंजीवन रस (र० ५१८), दन्तोद्भेद गदान्तक रस (र० ५०६), पिप्पल्यादि चूर्ण (र० ६११), केशरादि चूर्ण (र० ६११), जहरमोहरा भस्म (र० २६६), इन औषधियों में से अनुकूल औषधि देवें।

इनमें से बाल अतिसारहर चूर्ण निर्दोष, सस्ती और दिव्य औषधि है। बहुत जल्दी लाभ पहुँचाती है। दाँत निकलने के हेतु से दस्त हों; या वातप्राधान्य अतिसार ज्वर सह हो; तो कनकसुन्दर रस देवें; अथवा दन्तोद्भेद गदान्तक रस देवें। अति बढ़े हुए ज्वरातिसार में जब हरे-पीले गर्म-गर्म जल समान प्रवाही दस्त, वमन, बेचैनी, प्यासादि उपद्रव हों; तब सर्वाङ्गसुन्दर रस अति हितकर है। रक्तातिसार हो; तो बालमित्र चूर्ण प्रथम विधि लाभदायक है। प्रवाहिका हो; तो बालमित्र चूर्ण द्वितीय विधि देना हितकर है। उदर पीड़ा में केशरादि चूर्ण देना चाहिये। विसूचिका में जहरमोहरा भस्म देवें। सामान्य वमन, दस्त हों, तो बालसंजीवन रस देवें। मन्द ज्वर, सामान्य अतिसार, जुकाम और सामान्य खाँसी हो; तब पिप्पल्यादि चूर्ण देना चाहिये।

वातातिसार चिकित्सा।

(१) पंचमूलादि चूर्ण—बृहद्पञ्चमूल, खरैंटी, सोंठ, धनिया, नीलोफर, बेलगिरी, इन १० औषधियों को समभाग मिला,

चूर्ण बनाकर, शहद-काँजी या मट्ठे के साथ देने से वातातिसार दूर होता है।

(२) बचादि क्वाथ—वच, अतीस, नागरमोथा और इन्द्र-जव का क्वाथ कर दिन में ३ समय पिलाने से वातज अतिसार दूर होता है।

(३) पथ्यादि क्वाथ—हरड़, देवदारु, बच, सोंठ, नागर-मोथा, अतीस और गिलोय का क्वाथ कर पिलाने से वातप्राधान्य अतिसार सत्वर शमन होता है।

(४) करंज के बीज, पीपल, सोंठ, खरैंटी, धनिया और हरड़ का क्वाथ बनाकर सायंकाल को पिलानें से वातज अतिसार निवृत्त हो जाता है।

(५) आमातिसार में कहा हुआ कुटजादि कषाय भी हितकर है।

(६) हिंगुल वटी (र० ४१५) या कनकसुन्दर रस (र० ४०६) देने से वातप्राधान्य अतिसार की निवृत्ति होती है।

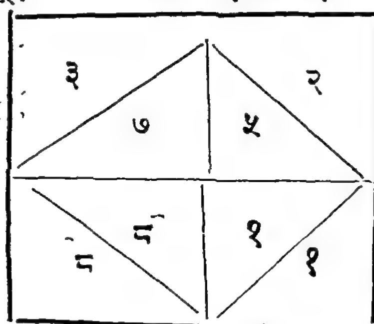
नाभि टल गई हो, तो—(१) लघुगंगाधर चूर्ण (र० ५६६) गुड़ के साथ दें। (२) रोगी को चित लिटा कर नाभि के चारों ओर आंवलों को मट्ठे में पीस कर मेंड बांधें। पश्चात् उसमें अदरख का रस भरें। इस औषधि को ३-४ घंटे रखने से नाभि स्थिर होती है।

(३) कच्ची फिटकरी और माजूफल १-१ तोला लेकर कांजी या सिरके में मिला नाभि पर लगादें; और २-३ घण्टे चित सोते रहने से नाभि स्थिर हो जाती है।

(४) शौच जाने के समय नाक में सलाई या डोरी का प्रवेश कराने पर छींक आती है; और छींक आने से नाभि बैठ जाती है।

(५) नाभि टलने पर रोगी को चित लेटाकर दूसरे मनुष्य से नाभि पर हाथ रखावें अर्थात् नाभि (धरण) को पकड़ रक्खें। फिर जमीन पर धूल में या काग़ज़ पर निम्न अनुसार यंत्र लिख कर उस पर १० जूती मारें। उतने से ही नाभि यथास्थान पर बैठ जाती है। क्वचित् न बैठे तो उस यंत्र को मिटाकर दूसरे काग़ज़ पर नया यंत्र इसी रीति से लिखकर ७ जूती मारें। जिससे नाभि बैठ जाती है। कभी तीसरी समय भी इस रीति से क्रिया की जाती है। बारबार यंत्र पर ७ जूती मार कर

पूछे कि नाभि बैठ गई या नहीं।



इस यंत्र को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। इस उपाय से सैकड़ों लोगों को लाभ हो गया है। इस तन्त्र विधि से मन पर असर होकर रोग निवृत्ति हो जाती है।

होमु	कारू
नमरू	सदाद

अथवा इस तरह यंत्र लिखकर २१ वार जूती मारें। एक समय न बैठे, तो दूसरी समय उसी यन्त्र पर फिर जूती मारें। शहर की अपेक्षा ग्रामवासियों को यन्त्र-तन्त्र से अधिक लाभ होता है।

पित्तातिसार चिकित्सा।

अपक्व आम का अनुवन्ध हो, तो—दूध के साथ शीतल सौम्य जुलाब देना चाहिये। अथवा मृदु, दीपन और कड़ुवी औषधियों से आम का पचन कराना चाहिये।

(१) धनिया, नेत्रवाला, वेलगिरी और नागरमोथा का क्वाथ देने से आम का पचन होता है। इस तरह तालीसादि चूर्ण (पृ० ५६४) देने पर भी आम और मल के शोधन और पचन होकर पित्तातिसार दूर हो जाता है।

(२) हल्दी, अतीस, इन्द्रजव, पाठा और रसोंत का क्वाथ कर दिन में ३ वार पिलाने से आम का पचन होकर पित्तातिसार दूर हो जाता है।

(३) कच्चे वेल, इन्द्रजव, नागरमोथा, नेत्रवाला और अतीस के क्वाथ से आमपचन और पित्तशमन होकर अतिसार जल्दी निवृत्त हो जाता है।

(४) पाठा, गिलोय, चिरायता और कुटकी, इन ४ औषधियों को मिला १।-१। तोले का क्वाथ कर दिन में २ या ३ समय पिलाने से आम-पचन होकर पित्तातिसार की निवृत्ति हो जाती है।

(५) रसोंत, हल्दी, दारुहल्दी और इन्द्रजव का क्वाथ कर दिन में ३ समय देने से आम का पचन हो जाता है।

(६) नागरमोथा, इन्द्रजौ, चिरायता और रसौंत का काथ कर ६ माशे शहद मिलाकर पिलाने से पित्तातिसार दूर हो जाता है।

(७) कायफल, अतीस, नागरमोथा, इन्द्रजौ और सोंठ का काथ बना शहद मिलाकर पिलाने से पित्तप्राधान्य अतिसार शान्त हो जाता है।

(८) पाठा, नागरमोथा, हल्दी, दारुहल्दी, पीपल और इन्द्रजौ, इन ६ औषधियों का काथ शहद मिलाकर पिलाने से आमपचन होकर पित्तातिसार नष्ट हो जाता है।

(६) मधुकादि चूर्ण—मुलहठी, कायफल, लोध, अनार का वक्कल, इन सबका चूर्ण कर ४-४ माशे शहद के साथ दिन में ३ समय दें। ऊपर से चावल का धोवन पिलाते रहें; तो २-३ दिन में पित्तातिसार दूर हो जाता है।

(१०) बिल्वादि क्वाथ—बेलगिरी, इन्द्रजौ, नागरमोथा, नेत्रवाला और अतीस को मिला २-२ तोले का काथ कर पिलाने से आम सह पित्तातिसार का नाश हो जाता है।

(११) आमातिसार में कहा हुआ कंचटादि काथ देने से प्रबल पित्तातिसार आमदोष सह निवृत्त हो जाता है।

(१२) पक्व पित्तातिसार पर—लघु गंगाधर चूर्ण (र० ५६६), शंखभस्म (र० २६३), शौक्तिकभस्म (र० २५७ अनार शर्बत के साथ), बालमित्र चूर्ण प्रथमविधि (र० ६१२), कामदूधा रस (र० ४५२), इनमें से अनुकूल औषधि दिन में २ या ३ वार देते रहने से पित्तातिसार सत्वर निवृत्त हो जाता है।

(१३) नाभिपूर्ण—जल प्रवाह के समान बार बार दस्त लगते हों, तो ५-१० तोले आंवलों को मट्ठे में पीस कल्क कर रोगी को चित सुला नाभि के चारों ओर मेंड बांधें। पश्चात् बीच में अदरख का रस भरें। इस स्थिति में २-३ घण्टे रहने देने से नदी के वेग के समान एक दिन में २५-५० या इनसे अधिक दस्त लगते हों, वे भी रुक जाते हैं।

सगर्भा को दस्त हो, तो—केवल बकरी का दूध दें; या अभ्रपर्पटी (र० ३६५), कुटजादिवटी (र० ५५४), कामदूधा रस

(र० ४५३), सूतशेखर रस (र० ५०६), लघुगंगाधर चूर्ण (र० ५६६), बाल अतिसारहर चूर्ण (र० ६१२), इनमें से प्रकृति के अनुकूल औषधि का सेवन कराने से अतिसार दूर हो जाते हैं। पित्त तेज हो, तो कामदूधा रस दें। वातपित्त प्राधान्यता हो, तो सूतशेखर रस अधिक हितकर है।

वमन और दस्त दोनों हों, तो--(१) कच्चे बेलफल और आम की गुठली अथवा बेलगिरी और गिलोय को मिला दो तोले का क्वाथ कर ६-६ माशे शहद-मिश्री मिला कर पिलाने से वमन और दस्त दोनों सत्वर रुक जाते हैं।

(२) पटोलादि क्वाथ--परवल के पत्ते, जौ और धनिये का क्वाथ कर शक्कर और शहद मिलाकर पिलाने से वमन और अतिसार दोनों की निवृत्ति हो जाती है।

(३) जसद भस्म आध आध रत्ती तथा ३-३ रत्ती मिश्री मिलाकर दिन में ४-६ समय बकरी के दूध, मट्ठा या चावलों के जल के साथ देने से वमन और दस्त दोनों शमन हो जाते हैं।

(४) शौक्तिकभस्म २-२ रत्ती ३-३ माशे मक्खन और मिश्री के साथ ३-३ घण्टे पर ३-४ समय देने से वमन और अतिसार दोनों नष्ट हो जाते हैं।

(५) प्रियंगु, रसौंत और नागरमोथा का चूर्ण कर शहद और चावलों के धोवन के साथ देने से प्यास, वमन और अतिसार दूर होते हैं।

गुदा में जलन, शोथ और कांच निकलना आदि उपद्रव हों, तो—माजूफल का चूर्ण लगावें; अथवा सेलखड़ी या सफेदा को घी में मिला कर लेप करें।

गुदा मार्ग, ग्रहणी और आंत में दाह होवे; तो—मौक्तिक पिष्टी, शौक्तिक भस्म या कामदूधा रस (र० ४५२) देना चाहिये।

कफातिसार चिकित्सा।

कफातिसार होने पर पहले उपवास कराकर आमातिसार में लिखी औषधि पचनार्थ देनी चाहिये।

कफप्राधान्य अतिसार में पाचन और ग्राही प्रयोग—

(१) कोमल बेलफल, काकड़ासिंगी, नागरमोथा, हरड़ और सोंठ का क्वाथ कर दिन में ३ वार पिलाने से कफातिसार का शमन हो जाता है।

(२) वच, वायविडंग, धनिया, अजवायन और देवदारु का क्वाथ वना कर पिलाने से कफातिसार का शमन होकर अग्नि प्रदीप्त होती है।

(३) कूठ, अतीस, पाठा, चव्य और कुटकी का क्वाथ देने से दूषित आम और कफ निकल कर अतिसार की निवृत्ति हो जाती है।

(४) पीपल, पीपलामूल, चित्रकमूल और गजपीपल का क्वाथ देने से मल गाढ़ा हो जाता है; और विकृत कफ नष्ट हो जाता है।

(५) **पथ्यादि क्वाथ**—हरड़, चित्रकमूल, कुटकी, पाठा, वच, नागरमोथा, कुड़े की छाल और सोंठ का क्वाथ बनाकर पिलाने से आम का पचन होकर कफातिसार की निवृत्ति हो जाती है।

(६) **चव्यादि क्वाथ**—चव्य, अतीस, नागरमोथा, कच्चे बेल, सोंठ, इन्द्रजौ, कुड़े की छाल और हरड़, इन ८ औषधियों को समभाग मिला, २-२ तोले का क्वाथ कर दिन में ३-४ समय पिलाने से वमन सह कफातिसार नष्ट हो जाता है।

(७) **हिंग्वादि चूर्ण**—भूनी हींग, कालानमक, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, हरड़, अतीस और वच, इन ८ औषधियों को समभाग मिला, चूर्ण कर ३-३ माशे चूर्ण दिन में ३ समय शहद या निवाये जल के साथ देने से आम का पचन होकर कफातिसार का नाश हो जाता है।

(८) आनन्दभैरव रस (र० ४०७), अगस्तिसूतराज रस (र०४०८), हिंगुल वटी (र० ४१५), इनमें से अनुकूल औषधि देने से कफातिसार दूर हो जाता है। इनमें से हिंगुल वटी में अफीम है, इसलिये कच्चा आम हो, तब तक नहीं देनी चाहिये।

(९) रसपर्पटी या इतर पर्पटी दिन में ३ से ४ समय जीरा और शहद के साथ देते रहने से आँतों का शोथ, दुर्गन्धयुक्त कच्चे मल के दस्त, ग्रहणी (आँत के प्रारम्भ के हिस्से) की निर्बलता और कीटाणु आदि दोष नष्ट होकर कफातिसार शमन हो जाता है।

(१०) क्षय के कीटाणु-जन्य अतिसार हो, तो—सुवर्ण-पर्पटी (र० ३५४), हेमगर्भपोटली रस (र० ४४०), लवंगादि चूर्ण (र० ५६७), जातिफलादि चूर्ण (र० ५६६), इनमें से अनुकूल औषधि दिन में ३-४ समय थोड़ी थोड़ी मात्रा में दीर्घ काल तक देनी चाहिये।

(११) उदर में ग्रन्थि होने से अतिसार हो, तो—लोकनाथ रस (र० ४६५) का एकाध मास तक सेवन कराना चाहिये।

वातश्लेष्मज पक्वातिसार चिकित्सा।

इस द्वन्द्वज अतिसार में भागयुक्त वमन, आफरा, दुर्गन्धयुक्त बड़े-बड़े जुलाब और शूलादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

(१) लाही चूर्ण (र० ४१२), लघुलाही चूर्ण (र० ४१२), अगस्तिसूतराज रस (र० ४०८ त्रिकटु और शहद के साथ), हिंगुलेश्वर रस (र० ५३०), कनकसुन्दर रस (र० ४०६), इनमें से अनुकूल औषधि देवें। इनमें से अगस्तिसूतराज रस में अफीम आती है; अतः निराम दोष होने पर कम मात्रा में देवें। लाही चूर्ण में भाँग आती है, इसलिये प्रकृति का विचार करके देवें। लघुलाही चूर्ण सौम्य और दिव्य औषधि है। इसका निर्भयपूर्वक सर्वत्र उपयोग हो सकता है।

(२) चित्रकादि क्वाथ—चित्रकमूल, अतीस, नागरमोथा, खरैंटी, कच्चे बेल फल, सोंठ, कुड़े की छाल, इन्द्रजौ और हरड़, इन ९ औषधियों को समभाग मिला, २-२ तोले का क्वाथ कर दिन में तीन समय पिलाने से वातकफातिसार दूर हो जाता है।

(३) अग्नितुण्डी वटी (र० ४२३) या जीवनरसायन अर्क (र० ६६७), दिन में २ समय देने से उदरशूल, दुर्गन्धयुक्त सफेद दस्त, वमन और अग्निमान्द्यादि विकार दूर होते हैं तथा पित्तस्राव कम होता हो; तो नियमित होने लगता है।

वातपित्तातिसार चिकित्सा।

वातपित्तज अतिसार होने से मल में भाग, गुदा में जलन, अत्यन्त वेदना, अनेक रंग के दस्त, क्वचित् रक्त भी जाना इत्यादि लक्षण भासते हैं।

(१) कुटजादि वटी (र० ५५३) या कुटजारिष्ट (र० ६५७) दिन में ३ समय देने से २-३ दिन में वातपित्तज अतिसार दूर हो जाता है।

(२) अधिक शूल और रक्त सह हो, तो—शंखोदर रस (र० ४१४) थोड़ी-थोड़ी मात्रा में दिन में ३-४ वार देवें।

व्याधि जीर्ण हो गई हो, तो—ग्रहणी कपाट रस (र० ४१०), लाही चूर्ण (र० ४११), सूतशेखर रस (र० ५०६) या अफीम मिश्रित जातिफलादि वटी दिन में २-३ समय देते रहें।

(३) कलिङ्गादि कल्क—इन्द्रजौ, वच, नागरमोथा, देवदारु और अतीस का कल्क कर चावलों के धोवन के साथ दिन में ३ समय देने से अति बढ़ा हुआ अतिसार भी शमन हो जाता है।

पित्तकफातिसार चिकित्सा।

(१) कुटजादि कषाय (र० ६२७), कुटजावलेह (र० ६८१), कर्पूरासव (र० ६५६), तालीसादि चूर्ण (र० ५६४), कुटजारिष्ट (र० ६५७), कुटजादि वटी (र० ५५४), इनमें से अनुकूल औषधि देने से सत्वर अतिसार की निवृत्ति हो जाती है।

(२) मुस्तादि क्वाथ—नागरमोथा, अतीस, मूर्वा, बच और कुड़े की छाल का क्वाथ कर शहद और मिश्री मिलाकर पिलाने से पित्त-कफज अतिसार दूर हो जाता है।

(३) समङ्गादि क्वाथ—लजालु, धाय के फूल, बेलगिरी, आम की गुठली की गिरी और कमल केशर को मिला २-२ तोले का क्वाथ कर या ६-६ माशे का कल्क कर चावलों के धोवन के साथ देने से पित्त-श्लेष्म प्राधान्य अतिसार सत्वर शमन हो जाता है।

(४) बेलगिरी, मोचरस, लोध, कुड़े की छाल और इन्द्रजौ का क्वाथ या कल्क बनाकर चावलों के धोवन के साथ दिन में ३ समय देने से रक्त सहित पित्त-कफातिसार दूर होता है।

त्रिदोषज अतिसार चिकित्सा।

(१) समङ्गादि कषाय—लज्जावन्ती, अतीस, नागरमोथा,

सोंठ, नेत्रवाला, धाय के फूल, कुड़े की छाल, इन्द्रजौ, वेलगिरी, इन ६ औषधियों को समभाग मिला क्वाथ कर पिलाने से त्रिदोषज प्रबल अतिसार भी दूर हो जाता है।

(२) **पञ्चमूलाद्य क्वाथ**—बृहद पंचमूल, खरैंटी, वेलगिरी, गिलोय, नागरमोथा, सोंठ, पाठा, चिरायता, नेत्रवाला, कुड़े की छाल और इन्द्रजौ, इन १५ औषधियों को समभाग मिला क्वाथ कर पिलाने से ज्वर, वमन, शूल, श्वास, कासादि दुस्तर उपद्रवों सह त्रिदोषज अतिसार दूर हो जाता है।

सब प्रकार के अतिसार पर स्तम्भनकारक प्रयोगः—

जब पक्व अतिसार में ग्रहणी की शिथिलता हो जाने के हेतु से बार-बार दस्त होते रहते हैं; तब निम्न औषधियों में से कोई भी एक देने से दस्त रुक जाता है। इन औषधियों में ग्राही (मल को बांधना) और स्तम्भन दोनों गुण रहे हैं।

(१) लजालु, धाय के फूल, मजीठ, लोध और नागरमोथा मिला कर चूर्ण करें। इसमें से ३-४ माशे शहद के साथ दिन में ४ समय चावल के धोवन के साथ देने से सब प्रकार के अतिसार दूर हो जाते हैं।

(२) सेमल की छाल, लोध, कुड़े की छाल और अनार की छाल का चूर्ण कर ऊपर कही विधि से प्रयोग में लावें।

(३) आम की गुठली की गिरी, लोध, वेलगिरी और प्रियंगु का चूर्ण कर शहद और चावलों के धोवन के साथ देवें।

(४) मुलहठी, सोंठ और श्योनाक की छाल को समभाग मिला, कूट कपड़ छान चूर्ण कर ३-३ माशे शहद के साथ दिन में ३ समय देवें और ऊपर चावल का धोवन पिलावें।

(५) **षड़ङ्ग घृत**—इन्द्रजौ, दारुहल्दी की छाल, पीपल, सोंठ, लाख और कुटकी, इन ६ औषधियों के कल्क से ४ गुना घृत और घृत से ४ गुना जल मिलाकर मंदाग्नि पर यथा विधि घृत सिद्ध करें। इसमें से १-१ तोला घी मण्ड के साथ दिन में २-३ बार देते रहने से दारुण त्रिदोषज अतिसार भी सत्वर नष्ट हो जाता है।

(६) **अंकोटवटक**—दारुहल्दी, अंकोट, पाठा की जड़, कुड़े की छाल, मोचरस, राल, धाय के फूल, लोध, अनार का छिलका, इन ६ औषधियों को मिला चावल के धोवन में ३-३ माशे की गोलियाँ बनावें। १ से २ गोली तक शहद और चावल के धोवन के साथ दिन में ३ से ४ समय तक सेवन कराने से अन्त्रशोथ सह सब प्रकार के अतिसार शमन हो जाते हैं।

(७) **अमृतार्णव रस**—हिंगुल में से निकाला हुआ शुद्ध पारा, लोह भस्म, सोहागा का फूला, शुद्ध गन्धक, कचूर, धनिया, नेत्रबाला, नागरमोथा, पाठा, जीरा और अतीस, इन ११ औषधियों को १-१ तोला लेवें। पहले पारद गन्धक की कजली करें, फिर लोह भस्म, सोहागा का फूला और इतर काष्ठादि औषधियों का चूर्ण क्रमशः डालकर मिला लेवें। पश्चात् बकरी के दूध में १२ घण्टे खरल कर २-२ रत्ती की गोलियाँ बनावें।

इनमें से २-२ गोली दिन में ३-४ समय देवें। अनुपान रूप से धनिया-जीरा मिला हुआ मूँग का यूष; भाँग का चूर्ण, सण के बीजों का चूर्ण, शहद, बकरी का दूध, भात का माण्ड, शीतल जल, केले के खम्भे का रस, मोचरस या चौलाई का रस, इनमें से अनुकूल अनुपान के साथ देने से उग्र अतिसार, एक-दोषज, द्विदोषज, त्रिदोषज अतिसार, अतिसारजनित उपद्रव, शूल, ग्रहणी, अर्श, अम्लपित्त, कास, गुल्म, इन सबको शमन करता है; और अग्नि को प्रदीप्त करता है।

जो अतिसार इतर औषधियों से शमन न हुआ हो; और जिस रोगी को अफीम वाली औषधि न देनी हो, उसके लिये यह रसायन अत्युत्तम है। सगर्भा, प्रसूता, बालक, वृद्ध, निर्बल रोगी, सबको निर्भयता पूर्वक दे सकते हैं। नूतन पक्वातिसार एवं जीर्णातिसार, सब पर यह रसायन लाभ पहुँचाता है।

(८) **वृद्ध गंगाधर चूर्ण**—नागरमोथा, श्योनाक, सोंठ, धाय के फूल, लोध, नेत्रबाला, बेलगिरी, मोचरस, पाठा, इन्द्रजव, कुड़े की छाल, आम की गुठली की गिरी, लजालू और अतीस, इन १४ औषधियों

को कूट कपड़-छान चूर्ण कर ३ से ४ माशे शहद और चावल के धोवन के साथ देने से सब प्रकार के अतिसार, प्रवाहिका और संग्रहणी आदि रोग शमन होते हैं। यह चूर्ण गंगा के समान प्रवाह वाले अतिसारों को भी रोक देता है।

(९) **विजयावलेह**—भाँग और जायफल १-१ तोला तथा इन्द्रजव २ तोले लें। तीनों का चूर्ण कर ८ तोले शहद मिलाकर अवलेह जैसा बनावें। इस अवलेह के सेवन से सब प्रकार के अतिसार नष्ट हो जाते हैं। मात्रा ३ से ६ माशे तक दिन में २ से ३ समय प्रकृति का विचार कर देवें। भाँग जिनसे सहन हो सकती है; उनको १ तोला तक देवें। यह अवलेह नये और पुराने रोग को दूर करने में अति हितकर है।

(१०) **अति विषाद्यवलेह**—अतीस, बेलगिरी, मोचरस, लोध, धाय के फूल और आम की गुठली की गिरी, इन ६ औषधियों को १-१ तोला लेकर, शहद मिलाकर अवलेह बनावें। इसके सेवन करने से घोर अतिसार भी शमन हो जाता है। मात्रा ६ माशे से १ तोला तक दिन में ३ समय देते रहने से ३-४ दिन में अतिसार दूर हो जाता है।

(११) **कपित्थाष्टक चूर्ण**—अजवायन, पीपलामूल, दालचीनी, तेजपात, इलायची, नागकेशर, सोंठ, कालीमिर्च, चित्रकमूल, नेत्रवाला, सफेद जीरा, धनिया, काला नमक, प्रत्येक १-१ तोला; अम्लवेंत, धाय के फूल, छोटी पीपल, वेल का गूदा, अनारदाने, अजमोद, ये सब ३-३ तोले; मिश्री ६ तोले और कैथ का गूदा ८ तोले लें। सबको एकत्र कर कूट कपड़-छान चूर्ण करें। इस चूर्ण को ३ से ४ माशे तक दिन में ३ समय जल के साथ सेवन कराने से अतिसार, ग्रहणी, क्षय, गुल्म, गले के रोग, कास, श्वास, अरुचि तथा हिक्कादि व्याधियों का नाश होता है। यह चूर्ण निर्भय और अति लाभदायक औषधि है।

रक्तातिसार चिकित्सा।

(१) कुटजादि वटी (र० ५५४), शंखोदर रस (र० ४१४), उशीरादि क्वाथ (र० ६५७), कुटजारिष्ट (र० ६५७), बोलपर्पटी प्रथम

विधि (र० ३५६), बोलबद्ध रस (र० ४१८), कर्पूर रस (र० ४०८ ज्वर सह हो, तो), जातिफलादि वटी (र० ५६१), शम्बुक भस्म (र० २६५), तृणकान्तमणि पिष्टी (र० २६७), संगजराहत भस्म (र० २८१), इनमें से अनुकूल औषधि देवें। शंखोदर रस, कर्पूर रस, जातिफलादि वटी, इनमें अफीम होती है, अतः ३ दिन तक न दें, सगर्भा को न दें; इतर रोगियों को आवश्यकता पर थोड़ी मात्रा में देवें।

(२) दाड़िमावलेह—अनारदाने ६४ तोले को २५६ तोले जल में उबाल कर चतुर्थांश शेष रहने पर ६४ तोले मिश्री मिला कर पाक करें। फिर ६४ तोले घृत मिलावें। पश्चात् सोंठ, पीपलामूल, पीपल, धनिया, अजवायन, जावित्री, जायफल, कालीमिर्च, जीरा, वंशलोचन, हरड़, निम्बपत्र, लजालु, कूट, मोचरस, अरलू की छाल, अतीस, पाठा और लौंग, इन १६ औषधियों को ४-४ तोले ले, चूर्ण कर मिला लें। फिर यथाविधि पचन कर अवलेह बना लें। शीतल होने पर ६४ तोले शहद मिलावें। इस अवलेह में से ६ माशे से १ तोला तक दिन में २ समय सेवन कराने से ज्वरातिसार, आम, रक्त, आमशूल, मन्दाग्नि, शोथ, आन्त्रक्षय और धातु में लीन दोषादि विकार नष्ट हो जाते हैं। अधिक निर्बलता आ गई हो, तो १-१ रत्ती लोह भस्म भी मिलाते रहें।

सूचना—अनारदाने में खटाई रहती है, इसलिये क्वाथ के लिये मिट्टी या कलई किया हुआ पीतल का बरतन लेना चाहिये।

(३) अहिफेनासव—महुए की शराब ४०० तोले, अफीम १६ तोले और नागरमोथा, जायफल, इन्द्रजौ, छोटी इलायची के दाने, चारों का चूर्ण ४-४ तोले लेवें। सबको एकत्र मिला एक मास तक रहने देवें। पश्चात् छान कर उपयोग में लेवें। इसमें से ५ से २० बूँद तक २॥ तोले जल में मिला कर दिन में ३-४ समय देते रहने से भयङ्कर उग्र अतिसार और दारुण विषूचिका रोग का नाश हो जाता है। विषूचिका में ५-५ बूँद एक-एक घण्टे पर देते रहें। दस्त में यदि रुकावट होती है; तो मात्रा देरी से देवें।

(४) दाड़िमाष्टक—वंशलोचन १ तोला, चातुर्जात (दाल-

चीनी, तेजपात, इलायची, नागकेशर) चारों ३-३ तोले; अजवायन, धनिया, जीरा, पीपलामूल, कालीमिर्च, सोंठ, पीपल ये सब ४-४ तोले; अनारदाने और मिश्री ३२-३२ तोले लें। सबको मिला कूट कपड़छान चूर्ण करें। ३-३ माशे दिन में ३ समय देने से सब प्रकार के अतिसार दूर होते हैं। यह चूर्ण क्षय, ग्रहणी, गुल्म, कास, श्वास, अरुचि, हिक्कादि रोगों में लाभदायक है। इस चूर्ण का गुण लगभग कपित्थाष्टक चूर्ण के समान है। बालक, युवा, वृद्ध, सगर्भा आदि सबको दिया जाता है।

रक्तातिसारशामक सरल प्रयोग—(१) नेत्रबाला, नीलोफर, नागरमोथा और पृष्टपर्णी का क्वाथ, क्वाथ से आधा बकरी का दूध और १४ वाँ हिस्सा चावल मिला उबाल पेया बनाकर पिलाने से रक्तातिसार शमन हो जाता है।

(२) कच्चे बेल को रात्रि के समय अग्नि में पका दूसरे दिन सुबह ६ माशे पुराना गुड़ मिला कर खाने से आम और शूल सह रक्तातिसार निवृत्त हो जाता है।

(३) नागरमोथे के २ तोले रस के साथ ६ माशे शहद मिला कर दिन में ३ समय पिलाने से रक्तातिसार दूर होता है।

(४) ४ माशे नागकेशर, २ तोले मक्खन, ४ माशे मिश्री और ४ माशे शहद मिला कर खाने से दाह, गुदा में जलन और शूल सह रक्तातिसार निवृत्त हो जाता है।

(५) **रसांजनादि कल्क**—रसौंत, अतीस, कुड़े की छाल, इन्द्रजौ, धाय के फूल और सोंठ का कल्क कर शहद में मिला चाट कर ऊपर चावल का धोवन पिलाने से शूल सह तीव्र रक्तातिसार नष्ट हो जाता है तथा अग्नि प्रदीप्त होती है।

(६) **बिल्वादि कल्क**—बेलगिरी, नागरमोथा, धाय के फूल, पाठा, सोंठ, मोचरस, सबको समभाग मिला मट्ठे में पीस कल्क कर गुड़ मिला कर दिन में २-३ समय मट्ठे के साथ देने से दुर्जय रक्तातिसार का भी ३ दिन में नाश हो जाता है।

(७) अनार और कुड़े की छाल, दोनों का क्वाथ कर शहद मिला

कर पिलाने से कठिन रक्तातिसार भी सद्य शमन हो जाता है।

(८) शाल, वेर, जामुन, चिरौंजी, आम या अर्जुन, इनमें से किसी की छाल का कल्क कर बकरी के दूध और शहद के साथ सेवन कराने से अतिसार में रक्त आना वन्द हो जाता है।

(६) जामुन, आम और आँवलों के पत्तों का स्वरस (स्वरस यन्त्र या पुटपाक से) निकाल बकरी का दूध और शहद मिलाकर पिलाने से रक्तातिसार नष्ट हो जाता है।

(१०) चौलाई के कल्क में मिश्री और शहद मिला चावल के धोवन के साथ देने से रक्तातिसार की निवृत्ति हो जाती है।

(११) शतावरी का कल्क दूध के साथ पिलावें; और भोजन में भी केवल बकरी का दूध ही देवें; तो रक्तातिसार शमन हो जाता है।

(१२) काले तिल का कल्क १ तोले तथा शक्कर ४ तोले को मिलाकर १६ तोले बकरी के दूध के साथ दिन में ३-४ समय देने से एक या दो दिन में रक्तातिसार चला जाता है।

(१३) कुकरौंधे के पत्तों का स्वरस १ तोला और शहद ६ माशे मिला कर पिलाने से रक्त गिरना वन्द हो जाता है।

अन्तस्त्वचा का क्षोभ शमन के लिये—कामदूधा रस (र० ४५२) या मौक्तिकपिष्टी (र० २३७) दिन में ३ समय शहद या बकरी के दूध के साथ देवें।

भयंकर उदरशूल हो, तो—दशमूल क्वाथ से तैल सिद्ध करके स्नेह वस्ति दें। स्नेह वस्ति की विधि और नियम पहले पृष्ठ २२८ में सविस्तार लिख दिये हैं।

गुदा का दाह हो, तो—(१) परवल के पत्ते और मुलहठी का क्वाथ कर शीतल होने पर उससे गुदा धोने से दाह शमन हो जाता है।

(२) बकरी के दूध में शक्कर और शहद मिलाकर वार-वार गुदा पर सिंचन करें। इस तरह प्रक्षालन, भोजन और पान (पीने) के लिये भी उपयोग में लेवें।

(३) अफीम और कत्था ४-४ रत्ती और सेलखड़ी १ माशा, तीनों

को मिला शहद से वत्ती वना लें। आवश्यकता पर घी वाला हाथ लगा कर वत्ती को अंगुली से गुदा में प्रवेश कराने से गुददाह जनित पीड़ा शमन हो जाती है।

(४) सेलखड़ी की भस्म को ४ गुने धोये घी में मिला गुदा पर लगाने से दाह सत्वर दूर होते हैं।

गुदभ्रंश पर—(१) कदाच दाह के हेतु से गुदा बाहर निकलती हो; तो शतधौत घृत या सिद्ध घी की गुदनलिका पर मालिश कर गुदा को भीतर प्रविष्ट करावें। फिर स्वेदन कर गुदा पर छिद्र वाले चमड़े को कपड़े की पट्टी से वाँध देने से गुदा स्थान पर वैठ जाती है।

(२) चूहे की मांस की पुल्टिस से सेक करने वा चूहे की चरवी लगाने से गुदभ्रंश शमन हो जाता है।

(३) कमलिनि के कोमल पत्तों को शक्कर के साथ खिलाने से भीतर का दाह शमन होकर कांच निकलना वन्द हो जाता है।

(४) कोकम (अभाव में डांसरिया या बेर), चित्रकमूल, चूका, वेलगिरी, पाठा और इन्द्रजौ का चूर्ण कर ३-३ माशे खिलाने से गुदभ्रंश व्याधि की निवृत्ति हो जाती है; और अग्नि प्रदीप्त होती है।

(५) मूषक तैल—चूहा और दशमूल, इन ११ औषधियों को समभाग मिला काथ करें, और इनका कल्क भी करें। फिर कल्क से ४ गुना तैल और तैल से ४ गुना काथ मिला कर तैल सिद्ध करें। इस तैल की मालिश से गुदभ्रंश, गुदशूल और भगंदर नष्ट होते हैं।

(६) चांगेरी घृत (ए० ७१४) की मालिश करने और पिलाने से गुदभ्रंश विकार शमन हो जाता है।

(७) ल्हिसोड़े की राख या चमड़े की राख या माजूफल का चूर्ण या सफेदा लगाकर गुदा को स्वस्थान में वैठा देने से काँच निकलना वन्द हो जाता है।

(८) मर कर सूखे हुए कछवे के मुँह को जल से घिस कर लेप करने से गुदभ्रंश दूर हो जाता है।

जीर्णातिसार चिकित्सा।

जिस रोगी की अग्नि प्रदीप्त हो, उदर पीड़ा न हो, दोष परिपक्व हो गया हो, रोग अनेक दिनों का जीर्ण हो गया हो, फिर भी दस्त में अनेक प्रकार के रंग हों; तो निम्नानुसार पुटपाक कृति से उपचार करना चाहिये।

यदि रोगी को आम न हो, शूल हो, लङ्घनादि से कृश और रूक्ष हो गया हो; तो अग्नि का विचार कर बकरी के दूध के साथ षडङ्ग घृत या इतर सिद्ध घृत से चिकित्सा करनी चाहिये।

(१) शूल सह अतिसार हो, तो—मिश्री, अजमोद, श्योनाक और मुलहठी का चूर्ण कर घी और शहद के साथ दिन में तीन बार देवें, ऊपर बकरी का दूध पिलावें।

(२) दारुहल्दी, बेलगिरी, पीपल, मुनक्का, कुटकी, इन्द्रजौ सब को मिला कल्क और क्काथ करें। फिर कल्क, कल्क से ४ गुना घी और घी से ४ गुना क्काथ मिला कर घी को सिद्ध करें। इस घृत में से १-१ तोला दिन में २ समय सेवन कराने से वातज, पित्तज, कफज, तीनों प्रकार के नये और पुराने अतिसार शूल सह शमन हो जाते हैं।

(३) त्रिदोषज अतिसार में कहा हुआ षडङ्ग घृत दिन में २ या ३ समय देने और १ घण्टे बाद बकरी का दूध पिलाने से शूल सह अतिसार नष्ट हो जाता है।

(४) कुटज पुटपाक—कुड़े की स्निग्ध मोटी-ताज़ी छाल, जो कीड़ों आदि से खराब न हुई हो, ऐसी कूट चावलों के धोवन में मिला पिण्डी बाँधें। पश्चात् जामुन या पलाश के पत्तों में रख, ऊपर कुश या सूत को लपेट, फिर गीली मिट्टी का १-१ अंगुल मोटा लेप करें। पश्चात् गोबरी की निर्धूम अग्नि में भरते की तरह गोला लाल हो तब तक पकावें। पक जाने पर बाहर निकाल मिट्टी और पत्तों को दूर कर पिण्डी को निचोड़ रस निकाल लें। शीतल होने पर चौथा हिस्सा शहद मिलाकर पिलाने से सब प्रकार के अतिसार निवृत्त हो जाते हैं।

इस औषधि के स्वरस की मात्रा ४ तोले (वर्त्तमान में २ तोले)

लेनी चाहिये। दिन में २ समय यह औषधि देनी चाहिये। यह योग भगवान् कृष्णात्रेय (पुनर्वसु) ने संसार को दिया है। सब प्रकार के अतिसारों को नष्ट करने के लिये सम्पूर्ण योगों का राजा है। विशेषतः रक्तातिसार के लिये तो अति लाभदायक है।

(५) श्योनाक पुटपाक—अरलू की छाल को कूट कमल-केशर मिला चावलों के धोवन के साथ पीस ऊपर लिखे अनुसार पिण्डी वनावें। उसे कमल या गम्भारी के पत्तों में लपेट सूत या कुशों से बाँध देवें। फिर मिट्टी का लेप कर अग्नि में पकावें। पश्चात् स्वरस निकाल शीतल होने पर शहद मिलाकर पिलावें। इस औषधि से रक्तस्राव और सब प्रकार के अतिसार दूर होते हैं।

(६) कुटजावलेह—(र० ६८१) दिन में ३ समय बकरी के दूध, मट्ठा या घी के साथ देने से रक्तातिसार और कफपित्तज अतिसार शमन हो जाते हैं।

(७) दाड़िम पुटपाक—अनार के कच्चे फलों को पीस उपरोक्त विधि से पुटपाक कर स्वरस निकालें। फिर शहद मिलाकर सेवन कराने से सब प्रकार के अतिसार नष्ट हो जाते हैं।

इस तरह जीवन्ती और मेंढ़ासिंगी आदि औषधियों का पुटपाक वनाकर के भी उपयोग में लिया जाता है।

(८) लोध, चन्दन, मुलहठी, दारुहल्दी, पाठा, मिश्री और कमल के साथ अरलू की छाल मिलाकर ऊपर की विधि से पुटपाक बना, स्वरस निकाल, शहद मिलाकर पिलाने से कफपित्तजन्य उदरविकार (अतिसार) शमन हो जाता है।

(९) कौटज फाणित—कुड़े की छाल का स्वरस निकाल या क्वाथ कर उसे इतना पकावे कि वह शहद जैसा गाढ़ा हो जाय; उसे फाणित कहते हैं।

इस फाणित में से १-१ तोला लेकर अतीस का चूर्ण १ माशा और ६ माशे शहद मिलाकर चटाने से आम, अति कफ और आफरा सह रक्तातिसार सत्वर दूर हो जाता है।

(१०) मलक्षय होने से थोड़ा-सा झागयुक्त दस्त हो, तो—दीप्ताग्नि वाले को ऊपर लिखे अनुसार सोंठ का फाणित बनाकर दही, तैल, दूध, और घी मिलाकर पिलाने से दस्त में फेनिलपना जल्दी शमन हो जाता है।

(११) जायफल को जल में पीस १ रत्ती अफीम मिला नाभि पर लेप करने से दारुण अतिसार निवृत्त हो जाते हैं।

(१२) पित्तातिसार में कहे हुए नाभिपूरण प्रयोग से नदी के वेग के समान घोर अतिसार भी दूर हो जाता है।

(१३) भूने हुये कच्चे बेल का गूदा, गुड़, तैल, पीपल और सोंठ को मिलाकर खिलाने से जीर्ण अतिसार शूल, रुकी हुई वायु और पेचिश सब दूर हो जाते हैं।

(१४) तालीसादि चूर्ण (र० ५६४), जीरकादि मोदक (र० ६७६), कर्पूर रस (र० ४०७), ग्रहणीकपाट रस (र० ४१०), इनमें से अनुकूल औषधि का सेवन कराने से जीर्ण अतिसार, उदर वात और ग्रहणी रोग दूर हो जाता है।

(१५) जातिफलादि वटी (र० ५६१) या अहिफेनादिवटी (र० ५५४) देने से आम सह जीर्ण अतिसार शमन हो जाता है।

(१६) रक्त, पीप और दुर्गन्ध सहित होवे, तो—कनकसुन्दर रस (बेल के मुरब्बे के साथ अथवा लघुगंगाधर चूर्ण के साथ), प्रवाहिका रिपु चूर्ण (र० ५६५), पंचामृत पर्पटी (र० ३६० कच्चे आम और ज्वर सह हो, तो), जातिफलादि वटी (र० ५६१) और संगजराहत भस्म दूसरी विधि (र० २८७ मक्खन-मिश्री के साथ), इनमें से अनुकूल औषधि का सेवन करावें।

(१७) यकृत्प्लीहावृद्धि, शूल और जीर्ण अतिसार हो, तो—लोहपर्पटी (र० ३५८) या पञ्चामृतपर्पटी दूसरी विधि (र० ३६०) का दिन में ३ समय सेवन कराने से थोड़े ही दिनों में जीर्ण अतिसार दूर हो जाता है और ग्रहणी सबल बन जाती है।

(१८) नाग भस्म (र० १८७ ज्वर न हो तो), सोंठ और सौंफ के

चूर्ण के साथ दिन में २ समय देते रहने से अन्त्रशक्ति की वृद्धि होती है।

शोथातिसार चिकित्सा।

(१) पुनर्नवा, इन्द्रजौ, पाठा, बेलगिरी, अतीस और नागरमोथा का क्वाथ कर कालीमिर्च का चूर्ण मिलाकर पिलाने से शोथ सह अतिसार निवृत्त हो जाता है।

(२) वायविडंग, अतीस, नागरमोथा, देवदारु, पाठा और इन्द्रजौ का क्वाथ कर १ माशा कालीमिर्च का चूर्ण मिलाकर दिन में ३ समय पिलाने से शोथातिसार का सत्वर नाश हो जाता है।

(३) चिरायता, नागरमोथा, गिलोय, सोंठ, लाल चन्दन, नेत्रवाला और इन्द्रजौ का क्वाथ पिलाने से ज्वर सह शोथातिसार दूर हो जाता है।

उपद्रव रूप अतिसार चिकित्सा।

भयातिसार, शोकातिसार, अर्श प्रकोपजन्य, उपदंशजन्य, सूतिका रोग के अतिसार, कृमिजन्य या इतर रोगों में उपद्रव रूप अतिसार हो, तो उसमें मूल कारण को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिये।

क्षय, उदर रोग, कृमि, सूतिका रोग, जलोदर, वृक्कशोथ, उपदंश, विद्रधि और अन्त्र विकृति आदि आगन्तुक रोग में उपद्रव रूप अतिसार हो जाता है। इसकी चिकित्सा मुख्य रोग के वर्णन में यथा स्थान लिखी जायगी।

शोकातिसार चिकित्सा।

शोकातिसार में अनेक समय रक्त सदृश या रक्तमिश्रित दुर्गन्धयुक्त दस्त होते हैं। इनकी चिकित्सा वातातिसार के समान करना चाहिये। उसी अनुसार भयातिसार की चिकित्सा करें। यथार्थ में शोक और भय के हेतु को दूर किये बिना पूरा लाभ नहीं हो सकेगा।

(१) **पृश्निपर्ण्यादि क्वाथ**—पृष्टपर्णी, खरैंटी, बेलगिरी, धनिया, नीलोफर, सोंठ, वायविडंग, अतीस, नागरमोथा, देवदारु, पाठा और इन्द्रजौ, इन १२ औषधियों को समभाग मिला, क्वाथ बना, कालीमिर्च डालकर पिलाने से शोकज अतिसार दूर होता है।

(२) मन को प्रसन्न रखने और हृदय को उत्तेजना देने के लिये द्राक्षासव पिलावें। साथ में आध रत्ती अफीम देने से अतिसार भी बन्द हो जाता है।

अतिसार निवृत्ति लक्षण—जिस मनुष्य को पेशाव करते समय दस्त न निकल जाता हो, अपानवायु सम्यक् प्रकार से गुदा से निकलती रहती हो, जठराग्नि दीप्त हो और कोठा हल्का, मुलायम हो गया हो, उसे अतिसार से मुक्त हुआ जानें।

अतिसार में पथ्य—प्रारम्भ में एरण्ड तैल का विरेचन या सिद्ध घृतादि की पिच्छिल वस्ति देकर आम को दूर करावें, फिर लंघन और लघु भोजनादि देवें।

यदि प्रबल कफ हो, तो वमन कराकर फिर लंघन करावें। इस सम्बन्ध में भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है, कि—

गौरवे वमनं पथ्यं यस्य स्यात्प्रबलः कफः।
ज्वरे दाहे सविड्बन्धे मारुताद्रक्तपित्तवत्॥

जिसका कफ बहुत बढ़ गया हो, गुरुता, ज्वर, दाह और मलावरोध हो, उसे वातज अधोगामी रक्तपित्त के समान वमन कराना चाहिये।

यदि पक्के अतिसार में अधिक मलावरोध हो जाय, तो मूत्रशोधक गोक्षुरादि औषधियों के क्वाथ से आस्थापन वस्ति देनी चाहिये। एवं अनुवासन वस्ति भी करानी चाहिये।

किनछने से गुदा बाहर निकलती हो; मूत्रावरोध हो; कमर जकड़ी हुई हो; तो मधुर और अम्ल द्रव्यों से सिद्ध की हुई अनुवासन बस्ति देना चाहिये।

वमन, लंघन, निद्रा, पुराना शालि और सांठी चावल, विलेपी औषधि के क्वाथ में बनाई हुई पेया और यवागू, साबूदाना, अरारोट, सिंघाड़े के आटे की लपसी (विलेपी), लाजामंड (चावल की खील का मंड), मसूर और अरहर की दाल का यूष; खरगोश, हिरन, लावा और कपिञ्जल का मांस, सब प्रकार की छोटी मछलियाँ, बड़ी मछलियाँ, तैल, बकरी का घृत, दूध, दही और छाछ, गाय का दूध

(अनुकूल रहे तो जीर्ण अतिसार रोग में), गाय के ताजे दही का मट्ठा, दही, मक्खन और घृत, केले का फूल, कच्चा केला, परवल, बैंगन, गूलर, शहद, जामुन, कमरख, भसींडा, पक्का अदरख, सोंठ, ल्हेसवा, कण्टाई, कैथ, वकुल (बोलसरी) के फूल, बेलफल, ताड़फल, तेंदू, खट्टा और मीठा अनार, जायफल, चूका, चौलाई, भाँग, जीरा, अतीस, धनिया, बेल का मुरब्बा, कसेरू, कसैले पदार्थों का रस और अग्निप्रदीपक तुरन्त पच सके ऐसे अन्न-पान, ये सब पथ्य हैं।

अतिसार में जल औटाकर अर्धावशेष रहने पर पीने के लिये उपयोग में लें। या पीने के लिये जल निम्नानुसार औषधि के साथ १२८ गुना मिला पकाकर देना चाहिये।

नागरादि पानीय—सोंठ, अतीस और नागरमोथा या धनिया और सोंठ मिला, जल को उबाल अर्धावशेष करके पीने को देवें।

यदि प्यास अति लगती है, तो नागरमोथा और नेत्रवाला से जल पकाकर दें।

तृषा और दाह हो, तो नेत्रवाला और धनिया १२८ गुने जल में मिला उबाल अर्धावशेष रहने पर उपयोग में लें। अथवा नागरमोथा और पित्तपापड़ा या नेत्रवाला और सोंठ मिला जल उबाल कर देते रहें।

खड्यूष—मट्ठे में कैथ, अमलोनिया, कालीमिर्च, जीरा, चित्रकमूल और मूँग या इतर अन्न मिलाकर यूप बनावें। कैथादि मसाला स्वाद और गुण कायम रहे, उस हिसाब से मिलावें। सिद्ध होने पर धनिया, हल्दी और सैंधानमक मिलाकर पिलावें। इस यूप से आम का पचन होता है और अतिसार की निवृत्ति होती है।

यवागू—यवागू बनाने की विधि ज्वर प्रकरण के अन्त में लिखी है उस अनुसार बनाकर जीरा, सोंठ, पीपल, पीपलामूलादि पाचक मसाला मिलाकर देवें; या अरलू की छाल, प्रियंगू, मुलहठी, अनार की कोमल पत्ती और मट्ठा डाल लाल चावलों की यवागू बनाकर देवें। यह यवागू आमपाचन में अति हितकारक है; अथवा नेत्रवाला, सोंठ और पाठा या नागरमोथा, पित्तपापड़ा और पाठा मिलाकर यवागू

वनाकर देवें।

मुस्तादि दुग्ध—२० नग नागरमोथे को कूट २० तोले बकरी के दूध और ६० तोले जल के साथ मिलाकर पकावें। दूध शेष रहने पर छान लें। शीतल होने पर ६ माशे शहद मिलाकर पिलाने से वेदना सह आमातिसार नष्ट हो जाता है।

अपानवायु और मल की रुकावट, शूल, पेचिश, रक्तपित्त और तृषा रोग में तथा पुराना अतिसार रोग में दूध पिलाना अमृत समान हितकर है। अतः दूध को तीन गुने जल के साथ मिला दुग्धावशेष रहे, तब तक औटाकर पिलाना चाहिये।

सूचना—यदि विलेपी या यवागू का सेवन करना है, तो अनेक पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिये। क्योंकि शाक, मांस और फल के रसों के साथ विलेपी या यवागू का सेवन करने से आहार दुर्जर हो जाता है और आंतें निर्बल बन जाती हैं।

अतिसार में अपथ्य—स्वेदन, अञ्जन, रुधिर निकालना, अधिक जलपान, स्नान, तैलमर्दन, जल में घुसकर स्नान, स्त्री सेवन, रात्रि का जागरण, धूमपान, नस्य, मलमूत्रादि वेग का धारण, रूक्ष भोजन, अपथ्य (देश, काल या संयोग विरुद्ध) भोजन, प्रकृति विरुद्ध अन्न, गुरुपाकी और स्निग्ध भोजन, अधिक भोजन, व्यायाम, अग्नि या सूर्य के ताप का सेवन, चाहे जहाँ सो जाना, गेहूँ, उड़द, जौ, वथुआ, मकोय, निष्पाव (सेम की फली), शहद, सुहिंजने की फली, पक्के आम, सुपारी, काशीफल, लौकी, तूम्बी, वेर, भारी भोजन, नागरवेल का पान, ईख, गुड़, शराव, पोई की पत्ती, अंगूर, अम्लवेंत, लहसन, सव प्रकार के कन्द शाक, सव प्रकार के पत्ती शाक, आँवला, दूषित जल, दही का नितरा जल, काँजी, नारियल, दूध (नये अतिसार में), क्षार, दस्त को भेदन करने वाले पदार्थ, पुनर्नवा, ककड़ी, खीरा, अधिक नमक, खट्टे पदार्थ, क्रोध करना, इत्यादि अतिसार रोगी के लिये हानिकर है।

अतिसार रोग में पतले पेय देने का शास्त्रकारों ने निम्न वचनों में निषेध किया है।

वर्जयेद् द्विदलं शूली कुष्ठी मांसं क्षयी स्त्रियम् ।
द्रवमन्नमतिसारी सर्वं च तरुणज्वरी ॥

उदरशूल वाले द्विदल धान्य (अरहर, मसूर, उड़दादि), कुष्ठ रोगी मांस, क्षय रोगी स्त्री सेवन, अतिसार रोगी पतला भोजन और तरुण ज्वर वाले इन सबको छोड़ देवें ।

व्रणोदरास्थापनपीड़ितानां प्रमेहिणे छर्घतिसारिणं च ।
द्रवं न दद्यादथवापि कोष्ठं स्वल्पं हितं भेषजसंप्रयुक्तम् ॥

व्रण रोगी, उदर रोगी, आस्थापन वस्ति लेने पर, प्रमेही, वमन रोगी और अतिसार रोगी को द्रव पदार्थ नहीं देना चाहिये। किन्तु यह विधान लाजामण्ड, पेया या औषधि से तैयार की हुई यवागू को छोड़कर इतर प्रकार के पेय के लिये समझना चाहिये। कारण भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं कि:—

तृष्णापनयनी लघ्वी दीपनी वस्तिशोधनी ।
ज्वरे चैवातिसारे च यवागूः सर्वदा हिता ॥

यवागू तृषा को शान्त करने वाली, हल्की, दीपन और वस्ति को शोधन करने वाली है। सर्वदा ज्वर और अतिसार में हितकर है।

(३) प्रवाहिका ।

प्रवाहिका-पेचिश, मरोड़ा, इसहाल उलदम, डिसेन्ट्री Dysentery ।

पेट में मरोड़ा आकर वार-वार थोड़े-थोड़े कफ लिपटे हुए दस्त आते रहें, दस्त के समय किनछना (प्रवाहण करना) पड़े, तव प्रवाहिका कहलाता है।※

※ प्रवाहिका में प्रवाहण यह लक्षण होता ही है, किन्तु प्रवाहण होने पर प्रवाहिका ही हो, यह नियम नहीं। अहिपुतना (गुदा में गम्भीरपामा-प्रुरायटस Pruritus), गुदा पर व्युची (एक्झिमा Eczema), गुदभेद (गुदा की चमड़ी फट जाना—फिशर ऑफ दी ॲनस Fissure of the Anus), अर्श, गुदनलिका संकोच, गुदनलिका में दाह या व्रण, पौरुपग्रन्थिवृद्धि, अथवा

अपथ्य सेवन करने पर वायु कुपित होकर संचित कफ को (पित्त और रक्त को भी) मल में मिला कर बार-बार नीचे गिराती रहती है।

यह रोग शूल सह होने पर वातकृत, दाह (विशेषतः गुदा में) होने पर पित्त से, कफ की अधिकता होने पर कफ से और रक्त (या पीप) मिश्रित होने पर रक्तज कहलाता है।

अधिक रूक्ष पदार्थ के सेवन से वातप्राधान्य, तीक्ष्ण और उष्ण पदार्थों के सेवन से पैत्तिक, घृत-तैलादि के अधिक सेवन से श्लैष्मिक और पित्त-रक्त प्रकोपक (गुड़, शराब, धूम्रपानादि) पदार्थों के सेवन से रक्तज प्रवाहिका की उत्पत्ति होती है।

इस प्रवाहिका रोग में कच्चे-पक्के आम की परीक्षा और चिकित्सा अतिसार में लिखे अनुसार करनी चाहिये।

निदान—अतिसार हो जाने पर एवं विना अतिसार हुए भी इस रोग की उत्पत्ति हो जाती है। वर्षाऋतु के दूषित शीतल वायु का सेवन, आर्द्र स्थान में निवास, दूषित जलपान, विरुद्ध पदार्थों का सेवन (दूध और फल, दूध और खिचड़ी आदि), वातप्रकोपक और गुरुपाकी भोजन, तीक्ष्ण पदार्थों का सेवन, अधिक शराब, अधिक परिश्रम, कूदना, दौड़ना और अतिसार में कहे हुए इतर कारणों से वायु प्रकोपित होने से इस रोग की उत्पत्ति होती है।

अतिसार अथवा दूषित खानपान के हेतु से विशेषतः बड़ी आँत की भीतर की त्वचा में (क्वचित् लघु आँत में) अधिक क्षोभ होने पर इस रोग की उत्पत्ति होती है। इस रोग में आँत में सूजन होकर घाव हो जाने पर बार-बार रक्त, आम अथवा पीप मिश्रित, दाह और शूल सहित थोड़ा-थोड़ा दस्त होता रहता है।

रूप—प्रारम्भ में कफ लिपटा हुआ दुर्गन्धयुक्त मल निकलता है।

मूत्राशय रोग, मूत्राशय पर अर्बुद, अश्मरी, गर्भाशयविकार, गर्भाशय में रक्तवृद्धि, बीजकोष विकार, भगंदर, गुदा के समीप में विद्रधि, मस्तिष्क की निर्बलता और भय शोकादि हेतु से भी रोगी को किनछना पड़ता है। इसलिये और लक्षणों को भी मिलाना चाहिये।

अग्निमान्द्य, प्यास, पेट में मरोड़ा आना, जिह्वा पर मैल जमना, शुष्क जिह्वा, उबाक, मूत्र थोड़ा और लाल हो जाना, क्वचित् ज्वर, नाड़ी कभी तेज कभी क्षीण हो जाना, और दस्त के समय प्रवाहण करना (किण-छना) इत्यादि लक्षण होते हैं।

तीव्र रोग में थोड़ा ताप भी रहता है; और मल में अन्त्र की श्लेष्मल त्वचा के टुकड़े और सूक्ष्म कीटाणु निकलते हैं। पुराने रोग में मल कम होता है और आम बारम्बार निकलता रहता है।

डाक्टरी में इस रोग के मुख्य दो प्रकार हैं। बॅसिलरी और अमीबिक। इनके अतिरिक्त कितनेक रोगों के अन्त में संसर्गजन्य प्रवाहिका (Terminal Infection) भी हो जाता है।

बॅसिलरी डिसेण्ट्री Bacillary Dysentery।

यह रोग उष्णकटिबन्ध प्रदेश में बहुधा किसी-किसी को होता रहता है, क्वचित् जानपदिक रूप धारण कर देश में फैल जाता है। दुष्काल और युद्धकाल में यह तीव्र रूप धारण करता है। आबाल वृद्ध, स्त्री-पुरुष सबको हो जाता है। ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में अधिक फैलता है। इस रोग के कीटाणु का शोध शिगा नामक जापानवासी ने किया है, अतः इस रोग के कीटाणु को शिगाज्ञ बॅसिलस (Shiga's Bacillus) संज्ञा दी है। इस जाति के कीटाणु इस प्रवाहिका के अतिरिक्त गर्मी में होने वाले बालकों के अतिसार में भी देखने में आते हैं। ये कीटाणु मल में निकलते रहते हैं। फिर मक्खियाँ मल, मल दूषित जल और मल दूषित वस्त्रों पर से कीटाणुओं को खाद्य पदार्थ में पहुँचा देती हैं। यह रोग मिट जाने के पश्चात् भी अनेक दिनों तक इस रोग के कीटाणु मल में निकलते रहते हैं। अतः इन रोगियों द्वारा असमझ-पूर्वक यह रोग अनेकों को लगता रहता है।

इसके अलावा अन्य अनेक प्रकार के कीटाणु इस व्याधि को उत्पन्न करने वाले मिले हैं। (शिगेला Shigella), (बॅलन्टिडियम कॉलाय Balantididium Coli), (बिलहार्जिया Bilharzia ,

(लॅम्ब्लिया इन्टेस्टायनॅलिस Lamblia intestinalis), (कॉक्सिडियम Coccidium) तथा काला आजार और मलेरिया के कृमि, इत्यादि चिरकारी प्रवाहिका के उत्पादक हैं। ऐसा मल परीक्षा पर से निश्चय हुआ है। अपने देश में यह वॅसिलरी प्रकार विशेष नहीं दीखता।

पाश्चात्य विद्वान् नये कीटाणुओं का शोध करते ही जाते हैं; और नयी-नयी जाति के कीटाणु भी हनुमानजी के पुंच्छ समान वढ़ते ही जाते हैं। विजय प्रकृति का होता है, या इन विद्वानों का, इस वात का निर्णय काल भगवान् ही करेंगे।

इस रोग का चयकाल २ से ८ दिन हैं। इस रोग के आशुकारी और चिरकारी, ऐसे २ प्रकार हैं।

सम्प्राप्ति—आशुकारी तीव्र प्रकार में कीटाणु वड़ी आँत में (क्वचित् छोटी आँत में भी) जाकर दाह-शोथ उत्पन्न करते हैं। रक्ताधिक्य (हाइपरेमिया Hyperaemia), शोथ, जीवाणुओं का नाश (नेक्रोसिस Necrosis) होने लगता है; और व्रण (अलसर्स Ulcers) वन जाते हैं। वड़ी आँत पर एक स्तर आ जाता है, श्लेष्मल त्वचा काली हो जाती है; तथा सड़ कर गलने लगती है। फिर उसके टुकड़े मल के साथ निकलते रहते हैं।

चिरकारी प्रकार में आँत की श्लेष्मल त्वचा मोटी हो जाती है; और उस पर चिरकारी व्रण होते हैं। ये व्रण वहुधा आंतों के ऊँचे भाग पर होते हैं; उनकी किनारी वाँकी टेढ़ी और मोटी हो जाती है; तथा व्रण अच्छे हो जाने के पश्चात् उस स्थान पर सौत्रिक तन्तु रूप नयी त्वचा (स्कारटिशू Scartissue) आ जाती है। जिससे वहाँ अन्त्र मार्ग के भीतर कुछ संकोच हो जाता है।

लक्षण—तीव्र आशुकारी प्रकार में उदरपीड़ा होकर अकस्मात् रोगोत्पत्ति होती है; अथवा प्रारम्भ में कुछ दिन तक साधारण अतिसार रहकर फिर प्रवाहिका वन जाता है।

उदर कड़ा हो जाना, दस्त होने के पहले उदरपीड़ा, अतिसार, श्लेष्म-मिश्रित मल, कणछना, व्रण हो जाने पर रक्त (कभी पूय भी)

गिरना, फिर उससे १०० से १०१ डिग्री तक ज्वर आना और निर्बलता आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

एक दिन में ४०-५० दस्त लगते हैं। क्वचित् १०-१५ मिनट पर बार-बार दस्त लगते रहते हैं। दस्त में बहुत दुर्गन्ध आती है। क्वचित् व्रण फूटने पर अधिक रक्त निकलता है, फिर उदर्य्याकला का दाह हो जाता है, जिससे अन्त में रोगी की मृत्यु हो जाती है।

चिरकारी प्रकार में दस्त थोड़े लगते हैं; मल में श्लेष्मा होता ही है; तथा क्षुधानाश, लाल जिह्वा, पाण्डुता, निर्बलता, बेचैनी, क्वचित् उबाक आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

चिकित्सा सम्यक् प्रकार से न की जाय, तो रोग कई सप्ताह तक बना रहता है; और अन्त में रोगी का प्राण हर लेता है। इस चिरकारी प्रकार को आयुर्वेद में ग्रहणी रोग संज्ञा दी है।

उपद्रव—उदर्य्याकला का दाह, फुफ्फुसावरण दाह, हृदावरण दाह, सन्धिवात, पाण्डु रोग सह शोथ, इनमें से किसी-न-किसी उपद्रव की उत्पत्ति हो जाती है।

अमीबिक डिसेन्ट्री Amoebic Dysentery।

इस रोग के उत्पादक एण्टमीबा हिस्टोलिटिका (Entamoeba Hystolytica) नामक कीटाणु हैं। यह कीटाणु दूषित जल या दूषित भोजन द्वारा पेट में जाता है। यह कीटाणु धातु भेदन कर एक से दूसरे स्थान पर गति कर सकता है। इस जाति के अतिरिक्त इस रोग के एण्टमीबा टेट्राजेना (E. Tetragena) नामक कीटाणु मिले हैं। जो आफ्रिका और एशिया खण्ड के अनेक स्थानों में मिलते हैं।

सम्प्राप्ति—बड़ी आँत में दाह-शोथ होकर व्रण होता है, फिर वहाँ सड़न होने लगती है। फिर वहाँ से कीटाणु यकृत् या फुफ्फुस में जाता है और वहाँ पर विद्रधि उत्पन्न करता है।

लक्षण—इस रोग में बॅसिलरी प्रवाहिका के समान ही आँत का दाह-शोथादि लक्षण होते हैं। इस रोग में भी तीव्र आशुकारी और

चिरकारी, ऐसे २ प्रकार हैं। यह रोग वॅसिलरी की अपेक्षा अधिक त्रास-दायक है। इस रोग में उपद्रव वॅसिलरी में कहे हुए उपद्रवों से यकृद्विद्रधि एक अधिक है। इस रोग में अजीर्ण की भीति अधिक रहती है। यह रोग शमन हो जाने के पश्चात् भी पुनः-पुनः आक्रमण करता रहता है। अतः पथ्य का आग्रहपूर्वक पालन कराना चाहिये।

इस रोग को वॅसिलरी से पृथक् करना, यह केवल मल परीक्षा से ही हो सकता है। आयुर्वेदीय औषधोपचार करने के लिये विशेष जानने की आवश्यकता नहीं है। डाक्टरी चिकित्सा में अमीविक के लिये एमेटीन हाइड्रोक्लोराइड (Emetinae Hydrochloride) का इन्जे-क्शन या (इन्जेक्शन न दे सके तब) १ से २ ग्रेन कॅपसुल में रखकर निगलने को दिया जाता है। इस औषधि का उपयोग विलहर्झियोसिस और काला आजार से उत्पन्न प्रवाहिका पर भी होता है। किन्तु केवल वॅसिलरी पर लाभ नहीं पहुँचा सकता। इस पर से अमीविक और वॅसि-लरी का भेद हो जाता है।

चिकित्सा विधि—रोग के उपद्रव काल में पथ्यापथ्य का आग्रह पूर्वक पालन करना चाहिये। होटल या बाजार की मिठाई आदि पदार्थों का उपयोग न करें। पत्ती शाक का उपयोग नहीं करना चाहिये। फल शाक का उपयोग करने के पहले उसे उबाल लेवें और इस बात को भी लक्ष्य में रक्खें कि, शाक का अधिक सेवन भी हानिकर ही होता है।

रोगी के मल को तुरन्त खड्डे में दबा देवें। उस पर मक्खियाँ बैठने से परिचारक और कुटुम्बियों को रोग हो जाने की भीति रहती है। रोग दूर हो जाने पर भी आर्द्र वायु में नहीं जाना चाहिये। वर्षा ऋतु में तो आर्द्र वायु से उदर का खूब रक्षण करना चाहिये। रात्रि को पेट पर कपड़ा बाँधकर सोना चाहिये। गर्मी हो, तो भी बिजली के पंखों के पास नहीं सोना चाहिये।

रोगी को रोग के प्रारम्भ में १ दिन उपवास करावें। फिर पाचन औषधि देवें। जल उबाल कर शीतल किया हुआ देवें। गेहूँ, दूध और चाय नहीं देनी चाहिये। मट्ठा या अनार और सेव देवें। भोजन जब

कराना हो तब यवागू, चावल, खिचड़ी, साबुदाना, मूँग का यूषादि देवें।

ककड़ी, खीरा, अमरूद, बेर, भुट्टा, जामुन, आम, तरबूज, खरबूजा आदि फलों का त्याग करा देना चाहिये।

जल का बर्फ और मलाई का बर्फ भी हानि पहुँचाता है।

कतीला गोंद, बीहदाना या ईसबगोल का लुआब बनाकर देने से पीड़ा कम होती है और पेचिश का वेग शमन होता है।

भुनी हुई या कच्ची थोड़ी सौंफ खिलाना लाभदायक है।

गुदा के दाह और पाक हो गया हो, तो शीतल सेक-लेप करना चाहिये।

पेट पर दबाने से दर्द मालुम हो, तो वहाँ थोड़ा सेक करें; तथा आवश्यकता हो, तो राई का प्लास्टर लगावें।

तीव्र रोग में रोगी को स्नान नहीं कराना चाहिये।

औषधि देने के पहले एरण्ड तैल ३ से ५ तोले तक सोंठ के क्वाथ या दूध के साथ देकर कोष्ट शुद्धि करा लेना अत्यन्त हितावह है। इस विरेचन से रोगोत्पादक कीटाणु, आम, उदरवात, ये सब दूर हो जाते हैं। आवश्यकता पर २-२ तोले एरण्ड तैल ४-६ या अधिक दिन तक रोज सुबह देते रहें।

यदि शूल बना रहता है, निवृत्ति नहीं होती, तो पाचक अग्नि का विचार कर मधुर और खट्टी औषधियों से सिद्ध किये हुए तैल या घृत की अनुवासन बस्ति देना अति लाभदायक है।*

प्रवाहिका बढ़ जाने पर लंघन और पाचन से शमन न हो, तो औषधि मिलाकर औटाये हुए दूध का पान करावें; और अधिक आवश्यकता पर पिच्छिल बस्ति को भी प्रयोग में लावें।

उदर पीड़ा अधिक हो, तो पेट पर तार्पिन का तैल धीरे हाथ से मालिश करें।

सरल प्रयोग—(१) इमली के पौधे की जड़ का चूर्ण ३ माशे मट्ठे के साथ देने से नया रोग सत्वर शमन हो जाता है।

---

* प्रवाहणे गुदभ्रंशे मूत्राघाते कटिग्रहे।
मधुराम्लैः शृतं तैलं घृतं वाप्यनुवासनम्॥

(२) एक से दो माशे सफेद राल शक्कर के साथ मिलाकर दिन में २–३ समय देने से प्रवाहिका की निवृत्ति हो जाती है।

(३) पीपल या कालीमिर्च का कल्क कर २–३ माशे वकरी के १०–२० तोले दूध के साथ देने से पुराना पेचिश मिट जाता है।

(४) तिल का तैल ५ तोले और खट्टे दही का तोड़ २० तोले लेवें। फिर दोनों को अच्छी तरह मिलाकर तुरन्त पिला देने से पेचिश वन्द हो जाता है। (कोई कोई चिकित्सक दही में शहद मिलाकर पिलाते हैं।)

(५) कच्चे वेल का गूदा, कालीमिर्च, गुड़ और सोंठ को पीसकर तिल तैल में मिलाकर चटाने से प्रवाहिका का नाश हो जाता है।

(६) प्रवाहिका पक हो जाने के पश्चात् कम मात्रा में अफीमयुक्त औषधि इस रोग पर बहुत अच्छा लाभ पहुँचाती है।

(७) ईसबगोल ६–६ माशे दही या मट्ठे के साथ दिन में ३ वार देने से नया पेचिश १–२ दिन में ही शमन हो जाता है।

(८) कच्चे वेल का गूदा और गुड़ मिलाकर खिलावें। फिर ऊपर दही को मथकर पिला देने से प्रवाहिका की निवृत्ति हो जाती है।

(९) भूना जीरा ६ माशे या हिंग्वष्टक चूर्ण ३ माशे के साथ चौथाई या आध रत्ती अफीम रात्रि को सोने के समय देने से प्रवाहिका मिट जाता है।

(१०) अनार के कच्चे फल या पत्तों का रस २–२ तोले दिन में तीन समय पिलाने से पेचिश रोग शमन हो जाता है।

(११) सफेद राल ४ रत्ती, मोचरस १ माशा और गुड़ २ माशे, तीनों को मिलाकर मट्ठे के साथ देवें। या ४ रत्ती सफेद राल पक्के केले के साथ देने से भी प्रवाहिका दूर हो जाता है।

(१२) वकरी के दूध में तीन गुना जल तथा खरैंटी और सोंठ का चूर्ण १–१ तोला मिलाकर पकावें। फिर पानी जल जाने पर उतार शीतल कर गुड़ और तैल मिलाकर पिलाने से प्रवाहिका शमन हो जाता है।

(१३) कुड़े की छाल और अनार का वक्कल १–१ तोला मिला काथ कर पिलावें। इस तरह दिन में ३ समय पिलाने से एक दो दिन में ही आराम हो जाता है।

(१४) चूना और अफीम सम भाग मिला शहद या अदरख के रस के साथ आध-आध रत्ती की गोलियाँ बनाकर १-१ गोली दिन में २ या ३ समय जल से देने से सब प्रकार के प्रवाहिका शमन हो जाते हैं।

शास्त्रीय औषधियाँ—(१) लघुगङ्गाधर चूर्ण (प्राथमिक अवस्था में र० ५६६), कनक सुन्दर रस (प्राथमिक अवस्था में र० ४०६), अगस्ति सूतराज रस (र० ४०८), हिंगुल वटी (र० ४१५), सर्वाङ्ग सुन्दर रस (र० ५२०), शंखोदर रस (र० ४१३ पित्तप्रकोप और दाह अधिक हो, तो), अहिफेनादि वटी (र० ५५४), कुटजादिवटी (र० ५५३), जातिफलादि वटी (र० ५६१), प्रवाहिकारिपु चूर्ण (र० ५६५), सिद्ध प्राणेश्वर रस (ज्वरातिसार चिकित्सा में कहा हुआ), कुटजारिष्ट (र० ६५७), कुटजावलेह (र० ६८१), इनमें से अनुकूल औषधि देवें।

ये सब औषधियाँ इस रोग में हितकर हैं। इनमें अगस्ति सूतराज, हिंगुल वटी, शंखोदर रस, अहिफेनादि वटी और जातिफलादि वटी में अफीम मिला है। अतः इनका उपयोग कम मात्रा में करें। अफीम वाली औषधि से प्रवाहिका की बहुत जल्दी निवृत्ति हो जाती है, किन्तु मल में कच्चा आम हो, या दूषित मल हो, तब तक इसका उपयोग नहीं करना चाहिये। ३ दिन बाद दूषित मल निकल जाने पर देने में आपत्ति नहीं। रक्त गिरता हो, तो वह भी सत्वर बन्द हो जाता है। ये अफीम युक्त औषधियां सब प्रकार के पेचिशों में लाभ पहुँचाती हैं।

दस्त में दुर्गन्ध हो, तो लघुगङ्गाधर चूर्ण, कनक सुन्दर रस, सर्वाङ्ग सुन्दर रस या कुटजादि वटी दे सकते हैं। इनके अतिरिक्त अतिसार प्रकरण में कहे हुए वृद्ध गङ्गाधर चूर्ण, कपित्थाष्टक चूर्ण, विजयावलेह और अतिविषाद्यवलेह भी इस रोग में अति हितावह हैं।

रक्त और पीप गिरता हो और अफीम वाली औषधि अनुकूल न रहती हो, तो नये और पुराने रोग में प्रवाहिकारिपु चूर्ण या पञ्चामृत पर्पटी देना चाहिये। इस तरह सामान्य रक्तस्राव हो, तो कुटजारिष्ट, कुटजादि वटी, कुटजावलेह और दाडिमावलेहादि औषधियां भी दी जाती हैं।

(२) हिंगुलेश्वर रस (र० ५३०) धनिया, जीरा के क्वाथ के साथ

दिन में ३ समय थोड़ी मात्रा में देने से नूतन आम सह प्रवाहिका का शमन हो जाता है।

(३) रक्त जाता है, तो कुटजादि वटी, कुटजारिष्ट, दाडिमावलेह (अतिसार चिकित्सा में कहा हुआ), कुटजावलेह, प्रवाहिकारिपु चूर्ण, जातिफलादि वटी, हिंगुल वटी, इनमें से कोई भी एक औषधि देवें।

(५) पंचामृतपर्पटी (र० ३६०) या प्राणदापर्पटी (र० ३६२) दिन में ३ समय देते रहने से जीर्ण प्रवाहिका, ज्वर, रक्त और पीप जाना, ये सब दूर हो जाते हैं। इनमें पञ्चामृत पर्पटी पेचिश की सब अवस्थाओं में अमृत समान गुणदायक सिद्ध हुई है।

(६) मल क्षय हो, अग्नि प्रदीप्त हो; और झाग सह थोड़ा-थोड़ा मल निकलता हो; तो सोंठ के क्वाथ को उबाल शहद समान बनाया हुआ फाणित दही, तैल, घृत और दूध मिलाकर पिलावें।

नूतन रोग में एरण्ड तैल से कोष्ठ शुद्धि करके हम कुटजादि वटी, कुटजारिष्ट, कुटजावलेह, दाड़िमावलेह बालक, सगर्भा आदि सबको निर्भयता से देते रहते हैं। यदि रोग का बल अधिक है; रोगी निर्बल है; और कोष्ठ शुद्धि हो गई है; तो अफीम वाली औषधि—जातिफलादि वटी, शंखोदर रस या इतर देते रहते हैं। रोग यदि जीर्ण हो गया है; तो ग्रहणी रोग में कहे अनुसार चिकित्सा करते हैं; अर्थात् ग्रहणी कपाट रस आदि सामान्य रसायन और पर्पटियों में से अनुकूल औषधियों को प्रयोग में लाते हैं।

इस रोग पर डाक्टरी में निम्न औषधियाँ दी जाती हैं।

(१) नये पेचिश पर—

एरण्ड तैल	Oil Recini	४ ड्राम
टिञ्चर ओपियाई	Tinct. Opii	३ बूँद
,, कार्डामम	,, Cardamom	१० बूँद
,, जिंजीबेरिस	,, Zinjiberis	२० बूँद
एक्वा मेन्था पिप०	Aqua Menth. Pip. ad	१ औंस

इन सबको मिलाकर पिला देने से कफ, आम और रुका हुआ

मल निकल कर प्रवाहिका दूर हो जाता है।

(२) मलशुद्धि के पश्चात्—

विस्मथ सब-नाइट्रास	Bis. Sub-Nitras	१० ग्रेन
पल्विस इपिकाक क०	Pulv. Ipecac Co.	८ ग्रेन

दोनों को मिलाकर जल के साथ देवें। इस तरह दिन में ३ समय देवें।

पल्विस इपिकाक क० (डोवर्स पाउडर) की मात्रा १५ ग्रेन तक है; फिर भी किसी से सहन न हो, बेचैनी, उबाक या वमन हो जाय, तो मात्रा कुछ कम करें।

(३) विस्मथ सब-नाइट्रास	Bis. Sub-Nit.	१० ग्रेन
पल्विस इपिकाक क०	Pulv. Ipecac Co.	८ ग्रेन
सोडा बाईकार्ब	Soda Bicarb	५ ग्रेन

इन तीनों को मिलाकर जल के साथ देवें। इस तरह दिन में ३ समय देवें। यदि ताप रहता हो, तो २ ग्रेन कीनाइन भी साथ में मिला दिया जाता है।

पल्विस इपिकाक कम्पोझिटा (Dover's Powder) बनाने की विधि—

इपिकाक्युहाना के मूल का चूर्ण	१ भाग
अफीम	१ भाग
पोटास सल्फेट	८ भाग

इन सबको खरल कर मिला लें। इस औषधि का नाम ई० १९३२ से बदल दिया है। पल्विस इपिकाक एट ओपियो रक्खा है (Pulv. Ipecac et Opio)।

(४) पुराने पेचिश पर—नीलाथोथा और अफीम समभाग मिला शहद के साथ १-१ ग्रेन की गोलियाँ बनावें। फिर प्रकृति का विचार कर १ से २ गोली तक दिन में ३ बार जल के साथ देते रहें।

पथ्यापथ्य अतिसार चिकित्सा के अंत में लिखे अनुसार पालन करें।

इनके अतिरिक्त आवश्यक सूचनाएँ चिकित्सा के प्रारम्भ में लिखी हैं।

(३) ज्वरातिसार ।

ज्वरातिसार—दस्त और ताप—डायरहिया विथ फीवर—Diarrhoea with Fever ।

इस रोग में ज्वर और अतिसार, दोनों के लक्षण प्रतीत होते हैं। इसलिये इस रोग को ज्वरातिसार कहते हैं।

ज्वर, तृषा, दाह, पसीना, चक्कर, वारवार पतले पीले दस्तादि लक्षण होते हैं। पित्तज्वर में ज्वर प्राधान्यता होती है और दस्त गौण रहते हैं। अर्थात् पतले दस्त मात्र उपद्रव रूप होते हैं। किन्तु ज्वरातिसार में ज्वर और अतिसार, दोनों की प्राधान्यता रहती है। जिससे ज्वर और गुदा के दाह सहित वार-वार दस्त होते रहते हैं।

इस रोग में ज्वरघ्न अथवा अतिसारघ्न औषधि नहीं दी जाती। कारण ज्वर नाशक औषधि मल को अनुलोमन करती है (नीचे गिराती है), और अतिसारघ्न औषधि ग्राही (मलरोधक) होती है। इस तरह दोनों परस्पर विरोधी हैं। अतः दोनों को शमन करने वाली अल्पग्राही और ज्वर-निवारक औषधियों द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये।

चिकित्सा—रोगी वलवान् है; तो आरम्भ में लङ्घन कराने से दोषों का पचन और शमन, दोनों कार्य उत्तम प्रकार से हो जाते हैं। फिर लङ्घन के पश्चात् पेया, विलेपी, सावूदाना आदि हलका भोजन देवें। तरवूज, खरवूजा, ककड़ी, वेर, आम आदि फलों का त्याग करावें।

ताप अधिक हो; तो रोगी को केवल वकरी के दूध पर या सेव और अनार के रस पर रखना विशेष हितकारक है।

दोषपाचक और रोगशामक औषधियाँ—(१) ज्वरातिसार की प्रथमावस्था में धनिया और सोंठ का क्वाथ देने से आम दोष का पचन होकर अग्नि प्रदीप्त होती है; तथा वातकफ ज्वर, अतिसार, प्रवाहिका और ज्वरातिसार का नाश हो जाता है।

(२) पृश्निपर्ण्यादि पेया—पृष्टपर्णी, खरैंटी, वेलगिरी, धनिया, सोंठ और कमल, इन ६ औषधियों के क्वाथ से पेया वना खट्टे

अनार का रस मिला कर पिलाने से ज्वरातिसार दूर हो जाता है।

(३) पीपल, गजपीपल और खीलों का काथ बना शहद-मिश्री मिलाकर पिलाने से तृषा सह ज्वरातिसार दूर होता है।

(४) दो-दो तोले दशमूल के काथ में तुरन्त पिसा हुआ सोंठ का चूर्ण ४ माशे मिलाकर दिन में ३ समय पिलाने से ज्वर, अतिसार और शोथयुक्त संग्रहणी दूर होते हैं।

(५) वेलगिरी, नेत्रवाला, चिरायता, गिलोय, नागरमोथा और इन्द्रजव को मिला २-२ तोले का काथ कर दिन में ३ समय पिलाने से दोषों का पचन होकर शोथ सह ज्वरातिसार दूर होता है।

(६) पाठा, इन्द्रजव, चिरायता, नागरमोथा, पित्तपापड़ा, गिलोय, और सोंठ का काथ पिलाने से ज्वर सहित आमातिसार शान्त होता है।

(७) इन्द्रजव, देवदारु, कुटकी और गजपीपल का काथ कर दिन में २ समय पिलाने से दाह सह ज्वरातिसार दूर होता है।

(८) गोखरू, छोटी पीपल, धनिया, वेलगिरी, पाठा और अजवायन का काथ कर दिन में ३ समय पिलाने से दोष पचन होकर दाह सह ज्वरातिसार २-३ दिन में ही निवृत्त हो जाता है।

(९) किरातादि क्वाथ—चिरायता, नागरमोथा, गिलोय, नीम की अंतर छाल, रक्तचंदन, नेत्रवाला और कुड़े की छाल, इन ७ औषधियों का काथ कर दिन में ३ समय पिलाने से शोथ, अतिसार और ज्वर तीनों ही दूर हो जाते हैं।

(१०) गुडूच्यादि क्वाथ—गिलोय, अतीस, धनिया, सोंठ, वेलगिरी, नागरमोथा, नेत्रवाला, पाठा, चिरायता, कुड़े को छाल, रक्तचंदन, खस और पद्माख, इन १३ औषधियों का काथ कर शीतल होने पर पिलाने से उवाक, अरुचि, वमन, प्यास और दाह सह ज्वरातिसार निःसन्देह शमन हो जाते हैं।

(११) सोंठ, अतीस, वेलगिरी, गिलोय, नागरमोथा और इन्द्रजव को मिला २-२ तोले का काथ कर दिन में ३ समय पिलाने से मल को पचाकर शोथ, ज्वर और अतिसार को ३ रोज में ही नष्ट कर देता है।

(१२) नागरादि क्वाथ चौथी विधि (र० ६२३), उशीरादि क्वाथ (र० ६२७), कुटजावलेह (र० ६८१), कुटजादि वटी (र० ५५३), आनन्दभैरव रस (र० ४०७), कर्पूर रस (र० ४०७), ये सब ज्वरातिसार को दूर करती हैं। इसमें से अनुकूल औषधि का प्रयोग करें।

(१३) उदरशूल और रक्त सह होवे, तो—सूतराज रस (र० ३७० आम की अधिकता है; तो नागरमोथे के क्वाथ के साथ) दिन में २ समय देने से २-३ दिन में ज्वरातिसार दूर हो जाते हैं।

(१४) व्योषाद्य चूर्ण—सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, इन्द्रजव, नीम की अन्तर छाल, चिरायता, भाँगरा, चित्रकमूल, कुटकी, पाठा, दारुहल्दी, अतीस, ये १२ औषधियाँ १-१ तोला तथा कुड़े की छाल १२ तोले लें। सबको कूट कपड़-छान चूर्ण कर ३-३ माशे चावलों के धोवन के साथ दिन में ३ समय देने अथवा शहद में चटाने से दोषों का पचन जल्दी हो जाता है। यह चूर्ण मल को बाँध कर तृषा और अरुचि सह ज्वरातिसार को दूर करता है; तथा प्रमेह, ग्रहणी विकार, गुल्म, प्लीहावृद्धि, कामला, पाण्डु और शोथ को भी नष्ट करता है।

(१५) सिद्धप्राणेश्वर रस—शुद्ध गन्धक, शुद्ध पारद, अभ्रक भस्म, तीनों ४-४ तोले; सज्जीखार, सोहागे का फूला, जवाखार, सैंधा-नमक, साँभर नमक, समुद्र नमक, विड़ नमक, काला नमक, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, इन्द्रजव, जीरा, कालाजीरा, चित्रकमूल, अजवायन, भुनी हींग, वायविडङ्ग, सोया, इन २२ औषधियों को १-१ तोला लें। पहले कज्जली कर भस्म मिलावें। पश्चात् काष्ठादि औषधियों का चूर्ण मिला ६ घण्टे खरल कर लेवें। इनमें से २ से ६ रत्ती चूर्ण दिन में २ से ३ वार नागरबेल के पान के साथ देकर ऊपर ५-१० तोले निवाया जल पिलावें।

इस रसायन के सेवन से ज्वरातिसार, अतिसार, ज्वर, घोर त्रिदोषज व्याधि, ग्रहणी, रक्तविकार, वातरोग, शूल और परिणाम शूल, ये सब विकार नष्ट हो जाते हैं।

(१६) आफरा सह ज्वरातिसार होवे, तो—कनकसुन्दर रस

(र० ४०६) या सूतराज रस (र० ३७०) देने से वातुल पदार्थ से उत्पन्न आफरा सह ज्वरातिसार दूर हो जाते हैं।

(१७) पेचिश सह हो, तो—कर्पूर रस (र० ४०७), कुटजादि वटी (र० ५५३) या हिंगुलवटी प्रथम विधि (र० ४१५), इनमें से एक औषधि देना चाहिये।

जीर्ण ज्वरातिसार हो, तो—गदमुरारि रस (र० ३८६ कुटजारिष्ट के साथ) देवें। अथवा पञ्चामृतपर्पटी (र० ३६०) या प्राणदापर्पटी (र० ३६२) या इतर पर्पटी कल्प का सेवन करावें।

इस रोग में कुटजादि वटी अति निर्भय और उत्तम औषधि है। बालक और सगर्भा को भी हम देते रहते हैं। यदि रक्त जाता हो, तो हम कर्पूर रस देते रहते हैं। रक्त नहीं जाता; और जहाँ आमदोष के हेतु से ताप की अधिकता हो, वहाँ पर आनन्दभैरव रस और सिद्धप्राणेश्वर रस को अधिक प्रयोग में लाते हैं। यदि रोग जीर्ण है, तो पंचामृत पर्पटी का सेवन कराते हैं। उपद्रव भेद से या प्रकृति भेद से इतर औषधियों का भी उपयोग किया जाता है।

सूचना—ज्वरातिसार के निर्बल रोगी को लंघन नहीं कराना चाहिये। एवं दूषित मल निकल जाने के पहले अफीमयुक्त स्तम्भन औषधि नहीं देनी चाहिये।

पथ्यापथ्य—पृश्नपर्णी पट्क क्वाथ में पेया बना कर देवें। अनार का रस, बकरी का दूध, खीलों का मंड, सिंघाड़े की लपसी, आरारूट, बार्लि, मूंग का यूप, मसूर का यूप, पुराने चावल का भात, बेंगन, गूलर, कच्चे केले, परवल आदि शाक, भुना हुआ कच्चा बेल, गरम कर शीतल किया हुआ जल, ये सब पथ्य हैं। अधिक अतिसार के पथ्यापथ्य में लिखे अनुसार पालन करें।

(४) ग्रहणी।

ग्रहणी, संग्रहणी—झलक उल अम आ—क्रॉनिक डायरहिया, डिसेन्ट्रिक डायरहिया और स्प्रु—Chronic

Diarrhoea, Dysenteric Diarrhoea and Sprue।

ग्रहणी और संग्रहणी, दोनों का विवेचन शास्त्रकारों ने एक साथ किया है। संग्रहणी को निर्जन्तुक, अनुलोम क्षय, रस क्षय और अन्त्रक्षय भी कहते हैं। डाक्टरी के जो ३ नाम दिये हैं, इन तीनों में कुछ अंतर है।

क्रॉनिक डायर्हिया जीर्णातिसार को, डिसेन्ट्रिक डायर्हिया जीर्ण प्रवाहिका को और स्प्रू संग्रहणी को कहते हैं। इस तरह तीनों में भेद होने से सबका वर्णन पृथक् किया है।

अतिसार निवृत्त होने पर या अतिसार में ही अग्निमान्द्य हो जाने पर जो मनुष्य अपथ्य भोजन करता है; उसकी अग्नि दूषित होकर ग्रहणी को दूषित कर देती है। जिससे ग्रहणी रोग की संप्राप्ति हो जाती है। क्वचित् अतिसार न होने पर भी इस रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

लघु अन्त्र के प्रारम्भ के १२ अंगुल भाग को ग्रहणी (ड्युओडिनम Duodenum) कहते हैं। आमाशय और ग्रहणी के मध्य में एक मुद्रिका द्वार है। उस द्वार से आमाशय में से आहार रस ग्रहणी में आता है। फिर पित्ताशय में से पित्त प्रवाह और अग्न्याशय में से आग्नेय रस निकलकर उस आहार रस में मिल जाता है; जिससे अपूर्ण रही हुई पचन क्रिया पूर्ण होती है। जब इस ग्रहणी की सन्धारण और संकोचन शक्ति नष्ट हो जाने से पचन क्रिया सम्यक् प्रकार से नहीं होती; तब इस ग्रहणी रोग की संप्राप्ति होती है।

वातादिक एक एक दोष करके या सब मिलकर अत्यन्त कुपित होकर ग्रहणी को दूषित कर देते हैं। जिससे ग्रहणी आहार को विशेषतः कच्चा और क्वचित् अधकच्चा ही निकाल देती है। यदि मल पक्व त्याग करती है; तो कभी मल दुर्गन्धयुक्त पीड़ा सह बँधा हुआ और कभी पतला होता है। ऐसे रोग को आयुर्वेद में ग्रहणी रोग कहा है।

ग्रहणी रोग में ग्रहणी दूषित हो जाने से आहार रस की पचन-क्रिया यथाविधि नहीं हो सकती। जिससे अधपका या अधकच्चा रस निकलता रहता है। फिर वह शेष लघु अन्त्र और बृहदन्त्र में होकर मलरूप से बाहर आता है। इस रोग में मल बहुधा कच्चा रह जाता है; अर्थात् जल में डालने से डूब जाता है। यदि पित्तप्राधान्य ग्रहणी

हुई हो, तो दुर्गन्धयुक्त पक्का हुआ मल वेदना सहित निकलता है। कफ-प्राधान्य में अधकच्चा या विशेष अंश में कच्चा जाता है और वातप्रकोप में कभी कच्चा और कभी पक्का मल जाता है।

ग्रहणी रोग में कभी मल पतला, कभी गाढ़ा और दुर्गन्धयुक्त होता है। किसी को दिन में मात्र २-४ दस्त और किसी को २५-३० होते हैं। किसी-किसी का पेट कटता रहता है, एवं किसी को मल में रक्त और पीप भी जाते हैं। यह रोग बढ़ने पर अनेकों को ज्वर भी आने लगता है।

यदि विना अतिसार हुए संग्रहणी हुआ हो; तो क्षुधा का नाश नहीं होता; दस्त कभी गाढ़ा और कभी पतला रहता है। ग्रहणी रोग होने पर अतिसार के समान रस-धातु में अधिक क्षोभ नहीं होता। इस रोग में अतिसार के समान तीव्र व्यथा नहीं होती; तथा दस्त आवाज सहित आता है, ऐसा अतिसार में नहीं होता। इन लक्षणों के भेद से दोनों का भेद सहज विदित हो जाता है।

पूर्वरूप—ग्रहणी के पूर्वरूप में तृषा, आलस्य, बलक्षय, अन्न का विदाह, दीर्घ समय में अन्न पचन होना, शरीर में भारीपन, ग्लानि, अरुचि, कास, आंतों में गुड़गुड़ाहट, निर्बलता और कानों में शब्द-सा होना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

सामान्य रूप—ग्रहणी रोग होने पर हाथ-पैर आदि पर शोथ, कृशता, संधिस्थानों में पीड़ा, व्याकुलता, तृषा, वमन, ज्वर, अरुचि, दाह, मुँह में से खट्टा या कड़ुवा पानी निकलना, खाये हुए अन्न की दूषित डकार या रुधिर-सी दुर्गन्ध युक्त डकार, वार वार मुँह में पानी आजाना, मुँह के स्वाद की विरसता, श्वास चढ़ना और अरुचि आदि लक्षण सब प्रकार के ग्रहणी रोगों में प्रतीत होते हैं।

वातिक ग्रहणी निदान—अति चरपरा, अति कड़ुवा, अति कसैला, अति रूक्ष, संयोगादि विरुद्ध भोजन (जैसे दूध और खटाई अथवा वासी हानिकर भोजन), अति कम भोजन, समय चले जाने पर भोजन, उपवास, अति मार्गगमन; क्षुधा, अधोवायु और मल-मूत्रादि वेगों का निग्रह और अति मैथुनादि कारणों से वायु कुपित होकर अग्नि

को आच्छादित कर देती है। जिससे भोजन दुःखपूर्वक पचता है।

वातिक ग्रहणी का रूप—खट्टा विपाक, शुष्क खरखरी त्वचा, कंठ और मुँह में शोष, क्षुधा-तृषा का नाश, चक्कर आना, कानों में शब्द गूंजना; पसली, ऊरु, वंक्षण (ऊरु के ऊपर का संधिस्थान) और कंठ में पीड़ा, सारे शरीर में चारों ओर आमजन्य पीड़ा, हृदय-पीड़ा, कृशता, निर्बलता, मुँह में वेस्वादुपन, गुदा में काटने समान पीड़ा, मधुरादि स्वादिष्ट भोजन की इच्छा, वेचैनी, भोजन का पचन हो जाने पर आफरा आना और भोजन करने पर थोड़ी शान्ति का भास होना इत्यादि रूप दीखते हैं।

इस रोग में वात गुल्म, हृद्रोग और प्लीहावृद्धि समान पीड़ा होती है, जिससे इन रोगों की शंका हो जाती है। बहुत देर तक बैठे रहने से दुःख पूर्वक कचित् पतला, कचित् शुष्क, आम और झागवाला थोड़ा-थोड़ा दस्त आवाज होकर ५–७ बार गिरता है। तब मल शुद्धि होने का भास होता है। इसके अलावा वातप्रकोप के हेतु से श्वास-कास का उपद्रव भी होता रहता है।

पैत्तिक ग्रहणी निदान—चरपरे, अजीर्णकारक, करीरादि विदाही, खट्टे, नमकीन, तीक्ष्ण, गरम, क्षार मिले (सज्जीखार मिले पापड़ादि) अथवा इतर पित्त को बढ़ाने वाले पदार्थों के अति सेवन से दूषित हुआ पित्त जठराग्नि को नष्ट कर डालता है। जैसे गरम जल अग्नि को बुझा देता है, वैसे इन विरोधी पदार्थों के सेवन से हानि होती है।

पैत्तिक ग्रहणी का रूप—शरीर निस्तेज पीला पड़ जाना, पतला दुर्गन्धयुक्त नीला-पीला या पीला गर्म मल, अति खट्टी दुर्गन्धयुक्त गरम डकार, हृदय और कण्ठ में दाह, मुँह में छाले, अरुचि और अति तृषा आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

श्लैष्मिक ग्रहणी निदान—भारी, अति स्निग्ध, शीतल, पिच्छिल और मधुरादि पदार्थों का अत्यन्त सेवन, अध्यशन (भोजन कर लेने पर भोजन), अत्यन्त मैथुन, दिन में भोजन करके तुरन्त शयन करना, इत्यादि कारणों से कफ धातु कुपित होकर जठराग्नि को

नष्ट कर श्लैष्मिक ग्रहणी की उत्पत्ति कराती है।

श्लैष्मिक ग्रहणी का रूप—अन्न दुःख पूर्वक पचना, उवाक, वमन, अरुचि, मुँह में मीठापन और चिकनापन, कास, मुँह में थूँक या कफ आते रहना, जुकाम, हृदय जकड़ना या हृदय पर बोझा-सा लगना, पेट में भारीपन और जड़ता, दुर्गन्धयुक्त मीठी डकार, अग्निमांद्य, हाथ-पैर टूटना, स्त्री-प्रसङ्ग में अनिच्छा, आम और कफ युक्त कच्चा कुछ बँधा हुआ तथा कुछ पतला मल होजाना, शरीर कृश न दीखने पर भी निर्बलता और आलस्य आना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

त्रिदोषज ग्रहणी लक्षण—त्रिदोषज ग्रहणी में उपर्युक्त वातिक, पैत्तिक और श्लैष्मिक, तीनों प्रकार के लक्षण मिश्रित हो जाते हैं।

संग्रहणी (संग्रह-ग्रहणी) के रूप—इस रोग को डाक्टरी में (स्प्रु Sprue) कहते हैं। १०-१५-२० दिन में या नित्य कमर में पीड़ा सह पतला और शीतल या गाढ़ा, चिकना श्वेत रंग का कच्चा और अति पिच्छिलतायुक्त (वसामय) मल उतरना, मल विसर्जन में मन्द पीड़ा और आवाज होना, आँतों में गुड़गुड़ाहट, आलस्य, निर्बलता, ग्लानि, अङ्ग टूटना, अग्निमांद्य, दिन में प्रकोप और रात्रि में कुछ शान्ति होना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

इस रोग का निर्णय कठिनता से होता है अतः शास्त्रकारों ने इस रोग को कष्टसाध्य और दीर्घ काल तक रहने वाला माना है। यह रोग आम और वायु के प्रकोप से होता है।

जब सोने पर पसलियों में पीड़ा होती है; और रहट के घड़े में से जल निकलने पर जैसी आवाज हो, वैसी आवाज मल उतरने पर होती है, तब इस ग्रहणी रोग को घटि-यन्त्र संज्ञा दी है। इस घटि-यन्त्र रोग को असाध्य माना है।

इस रोग में प्रायः प्रथमावस्था में ५-१०-१५ या अधिक दिन तक प्रकृति अच्छी हो जाती है। फिर ५-१० दिन खराब हो जाती है। ऐसा बार-बार होता रहता है। जिससे संग्रहणी की शंका नहीं होती। फिर रोग जीर्ण हो जाने पर नित्य इस रीति से होता रहता है।

इस रोग में मुँह से लेकर गुदा तक आमाशय और आँतों में सर्वत्र फफोले अग्निदग्ध फफोले के सदृश हो जाते हैं। कच्चा मल गिरना, गुदा में दाह और कतरने के समान पीड़ा, वमन, अजीर्ण, आफरा, दाह, मुखपाक, बलक्षय और कम्पादि लक्षण होते हैं। जीभ पर फफोले होने से नमकीन वस्तु और जल निगलने में भी तकलीफ मालूम होती है। रोग बढ़ने पर आँतों में क्षय के कीटाणुओं की आबादी हो जाती है। रस-रक्तादि धातुओं का क्रमशः क्षय होने लगता है। अग्न्याशय और यकृत् धीरे-धीरे सिकुड़ कर छोटे हो जाते हैं; और शरीर अस्थि-पिञ्जर सा बन जाता है। इस रीति से सब धातुओं का क्षय हो जाने से इस रोग को अनेक चिकित्सक अनुलोम क्षय भी कहते हैं।

जब इस रोग में ज्वर, शौच के समय घटी यन्त्र समान आवाज होना, निद्रावृद्धि, पार्श्वपीड़ा और भयंकर निर्बलता आदि उपद्रव हो जायँ; तब इस रोग को असाध्य माना है।

इस ग्रहणी रोग में पकापक्व आम की परीक्षा अतिसार की परीक्षा के समान करनी चाहिये। जिन उपद्रवों से अतिसार को असाध्य माना है; उन उपद्रवों की उत्पत्ति हो जाने पर ग्रहणी और संग्रहणी रोग भी असाध्य हो जाते हैं।

सामान्य रीति से यह ग्रहणी रोग बालकों के लिये साध्य, युवा के लिये कष्टसाध्य और वृद्धों के लिये असाध्य हो जाता है।

ग्रहणी-चिरकारी अतिसार (क्रोनिक डायर्‌हिया)।

डाक्टरी विद्यानुसार यह रोग अतिसार में कहे हुए कारणों से उत्पन्न होता है। इस व्याधि में दिन में ३-४ या अधिक दस्त कुछ पतले लगते हैं। कितनेक सप्ताह, मास या वर्ष तक चलता रहता है।

निदान—आशुकारी आंत्रदाह (अतिसार) का पर्यवसान होने पर अतिसार समान लक्षण परन्तु सौम्य प्रतीत होता है। आमातिसार में बहुधा पुनरावृत्ति होने पर चिरकारी ग्रहणी रोग बन जाता है। सोमल और एन्टिमनी के विष प्रयोग से तथा अग्न्याशय की चिरकारी विकृति

होने पर भी इस रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

गुदभेद (गुदा पर की त्वचा फट जाने Fissure of the Anus) से भी ग्रहणी रोग समान दस्त होते रहते हैं, परन्तु गुदभेद का निर्णय हो जाने से रोग विनिर्णय सहज हो जाता है।

अन्नरसवाहिनी शिरा में अवरोध होने पर अंत्र में रक्तवृद्धि होकर अतिसार हो जाता है। इसका कारण चिरकारी होने पर चिरकारी व्याधि (ग्रहणी रोग) हो जाती है।

यह रोग मस्तिष्कविकार या ज्ञानतंतुओं की विकृति से हुआ हो, तो स्वस्थावस्था के सदृश मलोत्सर्ग होता रहता है; उदर पीड़ा और कनछना आदि लक्षण नहीं होते; किन्तु परिश्रम होकर थकावट आने पर तुरन्त या सुवह बहुत जल्दी मलोत्सर्ग करना पड़ता है।

क्षय रोग में कफ निगल जाने से और मधुर आदि रोगों से छोटी आंत में व्रण हो जाता है; पेचिश रोग या मल शुष्क बनने से या इतर कारणों से बड़ी आंत में व्रण हो जाता है; एवं शल्य या दाह से आंत्र-पुच्छ में और पेचिश, अर्बुद, फिरंग रोगादि कारणों से गुद नलिका में व्रण हो जाता है; तथा चिरकारी वृक्कदाह, पाण्डु, कृशता लाने वाले इतर रोग और जीर्ण बद्धकोष्ठ से भी अनिश्चित स्थान पर व्रण हो जाते हैं। इस तरह व्रण होने पर इस रोग की उत्पत्ति हो जाती है।

फिरंग रोग से व्रण हो जाने पर मल में रक्त और पीप आना, उदर पीड़ा, कांछना और इतर फिरंग रोगज लक्षण प्रतीत होते हैं।

फिरंग रोग या इतर हेतु से देह के भीतर पूयोत्पत्ति होने पर शनैः-शनैः अंत्र की विकृति हो जाती है। यकृत्प्लीहा और वृक्कों की रचना और कार्य में अंतर पड़ जाता है। फिर मल पतला दुर्गन्ध युक्त और कभी कभी रक्त मिश्रित आने लगता है।

कर्कस्फोट (कॅन्सर Cancer) से यदि अतिसार हुआ हो, तो रोगी की आयु ३५ वर्ष से अधिक होनी चाहिये। रोगी का शरीर रोग होने से पहले दुर्बल रहना चाहिये; तथा उसके पूर्वजों को भी बहुधा यह रोग होना चाहिये। फिर यह कर्कस्फोट (अर्बुद) यदि गुदनलिका

में होगा; तो पेचिश-सा असर और शौच के समय कांखना आदि चिह्न प्रतीत होते हैं; तथा आंत में किसी स्थान पर होगा; तो उदर में गांठ समान दीखेगा; और दस्त में रक्त भी जाता रहेगा।

प्रवाहिका जन्य ग्रहणी (डिसेन्ट्रिक डायरहिया)।

यह रोग पेचिश में से हो जाता है। पेट में मरोड़ा आना, जिह्वा लाल और फटी-सी दीखना, दुर्गन्ध वाले पतले झागों सह दस्त, थोड़ा-सा अपचन होने पर तीव्र व्याधि हो जाना, इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

संग्रहणी-श्वेतातिसार (स्प्रु)।

यह रोग आंत का एक चिरकारी भयंकर दाह-शोथ है। यह व्याधि भारतवर्ष में बम्बई और उत्तर आसाम में अधिक देखने में आती है। यह विकार विशेषतः युवावस्था में, इनमें भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक होता है। पेचिश के रोगियों को थोड़ी-सी भूल हो जाने पर यह रोग सहज हो जाता है।

जिन स्त्रियों या पुरुषों की जिह्वा चटपटे भोजन से तेज बन जाती है; जिनको नाना प्रकार के चरपरे, खट्टे और नमकीन पदार्थ, चाय, तमाखू आदि की लालसा बढ़ जाती है; उन मिथ्याचरणियों को यह रोग जल्दी घेर लेता है।

निदान—इस श्वेतातिसार रोग की उत्पत्ति के विषय में डाक्टरी ग्रन्थकारों ने ३ उपपत्ति कही हैं।

(१) कीटाणु, (२) भोजन में किसी पोषक तत्त्व की न्यूनता या स्निग्ध और तीक्ष्ण भोजन का अधिक सेवन, (३) कॅलश्यम धातु के क्षार का अभाव।

इन तीनों मतों में से सत्य कौनसा, ये अभी तक निर्णित नहीं हुआ। इन ३ हेतुओं से या इतर किसी भी कारण से जब अन्नमार्ग की श्लैष्मिक कला का चिरकारी दाह-शोथ हो जाता है; तभी इस रोग की उत्पत्ति होती है।

सम्प्राप्ति—आँतों की श्लेष्मल त्वचा में रही हुई अनेक रसांकुरिकाओं (Villi) में व्रण होकर वे नष्ट हो जाती हैं; जिससे आहार

में रहा हुआ स्निग्ध अंश का शोषण नहीं होता, वह मल के साथ बाहर निकलता रहता है। रोग अधिक दिनों तक बना रहने पर यकृत् का संकोच हो जाता है; और अग्न्याशय पर शोथ आ जाता है। इस तरह जब यकृत् और अग्न्याशय रोगाक्रान्त हो जाते हैं; तब स्निग्धांश (घृतादि) का सम्यक् विपाक नहीं होता; और रसांकुरिकाएँ नष्ट हो जाने से स्निग्ध रस का शोषण नहीं हो सकता। इन हेतुओं से मल में अधिक स्निग्धता प्रतीत होती है; और रोगी दिन-प्रति-दिन शुष्क होता जाता है।

लक्षण—माधवनिदान में संग्रह-ग्रहणी के कहे हुए सब लक्षण प्रतीत होते हैं; तथा मल सफेद रंग का, झाग वाला और दुर्गन्ध-युक्त होता है।

जैसे चूहे गृह में छिपकर रहते हैं; और समय मिलने पर फूँक-फूँक कर काटते रहते हैं। ताकि काटने की पीड़ा का भान उस समय नहीं होता। इस तरह यह रोग भी देह में छिपकर रहता है, और समय मिलने पर धीरे से आक्रमण करता है। प्रारम्भ में एक मास में दो-चार दिन थोड़ी-सी गड़बड़ करता है। फिर कुछ अधिक बार त्रास पहुँचाता है। साथ में अजीर्ण, खट्टी डकार, आफरा, मलावरोध और दस्त लग जाना, ऐसा रूप दिखाता है। पश्चात् जीवनीय शक्ति को दबाकर जब देह रूप नगरी में नबाब साहब बन बैठता है; तब श्वेत वर्ण के दुर्गन्धयुक्त दस्त आदि लक्षण बार-बार दृष्टिगोचर होते रहते हैं। फिर यह रोग शनैः-शनैः शरीर को अति कृश बना डालता है।

मुखपाकादि लक्षण बार-बार न्यूनाधिक होते रहते हैं। लक्षण कम होने पर रोगी को कुछ शान्ति प्रतीत होती है। किन्तु थोड़े ही दिनों में पूर्ववत् यह अधिक तीव्र हो जाते हैं। क्वचित् यह रोग महीनों या वर्षों तक भी देह में गुप्त अवस्था में रह जाता है। फिर पुनः दर्शन दे देता है।

तीव्र प्रकोप होने पर जिह्वा अति लाल हो जाती है; श्लैष्मिक कला फूल जाती है; उस पर छोटी-छोटी पिटिकाएँ हो जाती हैं; और दोनों किनारी फट जाती हैं। रोग जीर्ण होने पर जिह्वा की श्लैष्मिक कला तथा स्वादांकुर नष्ट होने लगते हैं। पश्चात् जिह्वा अति लाल, शुष्क और श्लक्ष्ण हो जाती है; तथा मुँह में चारों ओर छाले हो जाते हैं। यही

स्थिति अन्न-नलिका की होती है। अन्न-नलिका में छाले हो जाने पर उरोस्थि के पीछे के हिस्से में वेदना होती है; और दाह-शोथ हो जाता है। दूध, साबूदाना आदि पतले भोजन भी कण्ठ के नीचे उतारने में कष्ट ही होता है; और नमकीन, खट्टे या चरपरे पदार्थ मुँह में डालते ही एकदम आग-सी लग जाती है।

अपचन के हेतु से उदर में जड़ता, आध्मान और क्वचित् वमन होती है; शरीर निस्तेज हो जाता है; और रोग की तीव्र अवस्था हो जाने पर विसूचिका के समान बाँयटे भी आने लगते हैं।

इस संग्रहणी रोग के अतिसार में दो प्रकार हैं। (१) चिरकारी और नित्य, (२) आशुकारी और विरामी।

चिरकारी प्रकार में नित्य प्रति पतले दुर्गन्ध युक्त झाग वाले चिकने दस्त एक दो या अधिक होते हैं; किन्तु वेदना मन्द रहती है। क्वचित् रोग तीव्र होने पर गुदा और स्त्रियों के योनि में दाह होने लगता है।

यदि अपूर्ण लक्षण युक्त आम संग्रहणी है; तो मुखपाक, अजीर्ण, सफेद, गाढ़ा और ज्यादा परिमाण में दस्त एक या दो बार होता है। शरीर में कृशता आ जाती है। इस प्रकार में आमाशय की आंतर कला क्षीण हो जाती है। जिससे आमाशय के रस की उत्पत्ति भी कम हो जाती है।

दूसरे प्रकार में केवल आंत के कुछ भाग में विकृति होती है। जिससे अतिसार हो जाता है, तथापि मुखपाक नहीं होता।

रोग विनिर्णय—जिह्वा का विशेष स्वरूप, मल में विकृति, पूर्व-वृत्त, इन पर से निर्णय हो जाता है। फिर भी फिरंग रोग के उपद्रव की शंका हो जाती है। परन्तु इतर लक्षणों पर से उसका स्पष्ट बोध हो जाता है।

इस रोग की चिकित्सा सत्वर की जाय; तो रोग साध्य हो जाता है; अन्यथा कष्टसाध्य या असाध्य हो जाता है। यदि रोग बढ़ जाने के पश्चात् भी रोगी संयम से रहे, पूर्ण पथ्य पालन करें, तो कई वर्षों तक जीवित रह जाता है।

इस रोग में रक्त के रक्ताणु और श्वेताणु, दोनों की संख्या बहुत घट जाती है; और रक्त भी दूषित हो जाता है। मल परीक्षा करने पर

आग्नेय रस के अभाव या अति न्यूनता का बोध हो जाता है।

डाक्टरी में इस संग्रह-ग्रहणी रोग की उत्तम औषधि नहीं है। बम्बई और महाराष्ट्र में प्रति वर्ष अनेक रोगी डाक्टरी चिकित्सा से विमुख होकर आयुर्वैदिक चिकित्सा से स्वस्थ होते हैं। कुछ वर्षों पहले अकोला में सिविल सर्जन साहब से संग्रहणी के अनेक रोगी नहीं सुधर सके और वे रोगी आयुर्वैदिक औषधि से स्वस्थ हो गये हैं। ऐसा निश्चय हो जाने पर वे वर्षों तक उनके पास आने वाले संग्रह-ग्रहणी के रोगियों को आयुर्वैदिक चिकित्सा कराने की हृदयपूर्वक सम्मति देते रहते थे। इस तरह बम्बई का भी एक सुप्रसिद्ध डाक्टर इस रोग के रोगियों को वही सलाह देता रहता था।

चिकित्सा—ग्रहणी रोग में यदि कच्चे आम हों, तो पहले लंघन कराकर अग्निप्रदीपक और आम को पचन कराने वाली औषधि देनी चाहिये। इस रोग में चिकित्सा अजीर्ण चिकित्सा के समान करनी चाहिये; तथा अतिसार में कही विधि से आम को पकाना चाहिये।

यदि मल में दुर्गन्ध आती है, तो रोगी को १-२ मास तक केवल मट्ठा या केवल दूध पर रखें। अथवा आयु, प्रकृति, रोगबल और उपद्रव आदि का विचार करके आगे पृष्ठ ६८६ में लिखा हुआ आम्रकल्प कराना चाहिये।

रोगी को विश्रान्ति दें, अधिक परिश्रम से दूर रक्खें। हाथ को उष्ण प्रतीत हो, ऐसे गरम भोजन न देवें।

चाय, कॉफी और शराबादि का त्याग करना चाहिये। यदि दूषित कफ बहुत बढ़ गया है; तो पहले वमन कराना चाहिये। फिर चरपरे, खट्टे, नमकीन और क्षारयुक्त भोजन से अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिये।

यदि वातप्रकोप है; तो अग्निप्रदीप्त करने के लिये खट्टे और नमकीन पदार्थ के साथ घृतपान कराना अति हितकारक माना है।

यदि कफक्षीण, अग्नि मन्द और मल पक्का किन्तु ढीला है; तो, सोंठ और सैंधानमक मिलाकर थोड़ा-थोड़ा घृत पिलाना चाहिये।

संग्रह-ग्रहणी आदि व्याधियों में मल रुकने से शुष्क होकर बड़ी कठिनता से उतरता हो; तथा छोटी आँत में प्रतिबन्ध होता हो; तो

पंचलवण के साथ घृतपान कराना लाभदायक है।

देह बहुत रूक्ष हो गई हो; तो अग्नि प्रदीप्त करने के लिये घी या सिद्ध तैल सोंठादि अनुपान के साथ देना चाहिये।

यदि अति स्नेहपान से अग्निमन्द हो गया हो; तो क्षारादि के साथ आसव-अरिष्ट पिलाना चाहिये।

पंचकोल मिलाये हुए हल्का भोजन, यवागू, पेया और यूपादि अग्नि-प्रदीपक पदार्थ तथा तक्र हितकारक हैं। इनमें कैथ, बेलगिरी, चांगेरी (अम्लोनिया), तक्र और अनारदाने को मिलाकर पकाई हुई यवागू पिलाने से आम का पचन सत्वर होता है; और मल भी बँध जाता है।

तीव्र संग्रहणी में अत्यन्त त्रास होता हो; तो थोड़े दूध के साथ २-२ तोले एरण्ड तैल १-१ दिन के पश्चात् ३-४ समय देकर कोष्ठ शुद्धि कर लेना चाहिये। फिर दोषपाचक औषधि देने से सत्वर लाभ हो जाता है। किन्तु एरण्ड तैल देने में रोगी का बल न घटे और व्याधि कम होती जाय, इस तरह सम्हालपूर्वक थोड़ी मात्रा में देना चाहिये।

प्रवाहिकायुक्त तीव्र ग्रहणी की पीड़ा में रोग के प्रारम्भकाल में सत्वर वेदना शमन कराने की आशा से स्तम्भक और सम्मोहक अफीमयुक्त औषधि भूलकर कभी भी नहीं देनी चाहिये। पहले कच्चे आम को पचन करा, फिर मल को बाँधने वाली बेलगिरी और इन्द्रजौ या कुड़ा मिली हुई औषधि का सेवन कराना चाहिये। कच्चे बेल के चूर्ण या वटी और कुड़ा आदि औषधियों के सेवन से मल बंध जाता है; और रक्तप्रवाह भी सत्वर स्तम्भित हो जाता है।

तीव्र पीड़ा में भाँग का सेवन हितावह है। भाँग आम को पचाती है। संमोहक होने से पीड़ा को सत्वर शमन करती है; और अग्नि को प्रदीप्त करती है। भाँग के साथ में इलायची, खसखस, सफेद मिर्च, सौंफ, धनिया, जीरा और सोंठादि अनुकूल वस्तु मिला गोली, चूर्ण या अवलेह बनाकर लेने से तुरन्त लाभ पहुँच जाता है।

उदर में तीव्र पीड़ा हो, तो अफीम, कपूर, तारपीन तैल और तिल तैल को मिला पेट पर धीरे-धीरे १०–१५ मिनट तक मालिश करें; तथा

शूलशामक औषधि (शंख वटी, हिंग्वादि वटी आदि) खाने के लिये देवें; या सोंठ का तुरन्त किया हुआ चूर्ण २ माशे और २ माशे मिश्री के साथ वराटिका भस्म ४ रत्ती मिलाकर सेवन करावें।

मूत्रावरोध होता हो, तो—(१) ईसबगोल २ माशे, छोटी इलायची के दाने १ माशे और शक्कर ३ माशे मिलाकर दिन में ३ समय देवें।

(२) सारिवादि चूर्ण—काली अनन्तमूल, छोटी इलायची के दाने, कतीरागोंद, रूमीमस्तंगी, लालबोल, कत्था, शीतलमिर्च और धमासा, इन ८ औषधियों को समभाग मिलाकर चूर्ण करें। इस चूर्ण में से ३-३ माशे दिन में २ समय जल, मट्ठा या दूध के साथ देने से मूत्रावरोध दूर होता है; सेन्द्रिय विष मूत्र द्वारा निकल जाता है; उष्णता शमन होती है; मुखपाक और खट्टी डकार कम होती है; दस्त का पतलापन और संख्या कम होते हैं; आँतों का दाह-शोथ नष्ट होता है; और मस्तिष्क भी शान्त बन जाता है।

यदि आँतों में व्रण हो गये हों, या श्लेष्मल त्वचा नष्ट हो गई हो, तो जल या छाछ में ईसबगोल भिगो कर देना विशेष हितावह है। ईसबगोल से आंत की श्लेष्मल त्वचा सत्वर स्निग्ध बनती है। आन्त्र-दाह, रूक्षता और आन्त्रव्रण का शमन होता है। नये पुराने सब प्रकार के ग्रहणी रोग में ईसबगोल का अनुपान रूप से सेवन कराया जाता है।

कतीरा गोंद ६ माशे जल में भिगो दें; ३ घण्टे बाद मसल १ तोला शक्कर मिलाकर पिलाने से दाह, आँतों की सूजन और रक्त जाना, ये सब बन्द हो जाते हैं।

जीर्ण रोग में तक्र, दुग्ध, आम्र कल्प या पर्पटी कल्प का सेवन कराना अति हितकारक है। पर्पटी कल्प में उपद्रव भेद से औषधि भेद हो जाता है। मात्र आन्त्र शोथ ही हो, तो रसपर्पटी; रक्त की भी कमी हो, तो लोहपर्पटी; ज्वर, अम्लपित्त, रक्तस्राव, पूय जाना आदि उपद्रवों सह व्याधि में पञ्चामृत पर्पटी; यकृद्वृद्धि, या इतर यकृत्प्लीहा विकृति है, तो ताम्र पर्पटी; तथा क्षय के कीटाणु या सेन्द्रिय विष

जन्य विकृति हो; तो सुवर्णपर्पटी दी जाती है। यदि सगर्भा को अतिसार या ग्रहणी रोग हो गया हो, तो अभ्रपर्पटी का सेवन लाभदायक है। बहुत बड़े-बड़े दस्त हों या हृदय में निर्बलता आ गई हो, तो सुवर्णपर्पटी की योजना करें। इस तरह विचार पूर्वक चिकित्सा की जाती है। पर्पटी सेवन कराने के समय पहले आँतों को एरण्ड तैल से शुद्ध कर लें। फिर बीच में भी आवश्यकता हो; तो एरण्ड तैल का सेवन कराते रहें।

पाचन प्रयोग—(१) सोंठ, गिलोय, नागरमोथा और अतीस का क्वाथ रोग के प्रारम्भकाल में देने से दस्त बँधता है; आमपचन होता है; शूल नष्ट होता है, और अग्नि प्रदीप्त होती है।

(२) धनिया, अतीस, नेत्रवाला, अजवायन, नागरमोथा, सोंठ, खरैंटी, शालपर्णी, पृष्टपर्णी और बेलगिरी, सबको समभाग मिला लेवें। फिर २-२ तोले का क्वाथ कर दिन में ३ समय पिलाने से आम का पचन होकर अग्नि प्रदीप्त हो जाती है।

(३) कच्चे बेल के गूदा के कल्क में सोंठ और गुड़ मिलाकर मट्ठे के साथ सेवन कराने से ग्रहणी रोग की निवृत्ति हो जाती है।

(४) भल्लातक क्षार—भिलावा, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, सैंधानमक, बिड़नमक, कालानमक, इन १० औषधियों को ८-८ तोले लेकर एक हाँड़ी में रखें। ऊपर कपड़मिट्टी कर गजपुट अग्नि में फूँक दें। फिर भस्म को निकाल १-१ माशे घी के साथ या मट्ठे के साथ देने से हृद्रोग, पाण्डु, ग्रहणी, गुल्म, उदावर्त्त तथा उदरशूल आदि व्याधियां नष्ट हो जाती हैं।

(५) अभयादि योग—हरड़, पीपलामूल, वच, कुटकी, पाठा, गोखरू, चित्रकमूल और सोंठ, सबको समभाग मिला १।-१। तोले का क्वाथ कर दिन में ३ समय पिलाने या इन सबका चूर्ण कर ३-३ माशे जल या मट्ठे के साथ देने से आमपचन होकर अग्नि प्रदीप्त होती है।

(६) बेलगिरी, इन्द्रजौ, नागरमोथा, सोंठ, कालीमिर्च, भुनी सौंफ और जीरा, इन सबको समभाग मिलाकर चूर्ण करें। इसमें से ४-४ माशे चूर्ण दिन में ४ समय देवें। सुबह, दोपहर और शाम को मट्ठा से

देवें और रात्रि को जल के साथ सेवन करावें।

(७) आमपचनार्थ अतिसार प्रकरण में कहे हुए कपित्थाष्टक चूर्ण, दाड़िमाष्टक चूर्ण और वृद्ध गङ्गाधर चूर्ण हितकारक हैं। यदि इन चूर्णों के सेवन काल में पथ्य का पूरा पालन किया जाय, तो नया ग्रहणी रोग निःसंदेह शमन हो जाता है।

(८) हिंग्वष्टक चूर्ण (र० ५८५), यवानीखाण्डव चूर्ण (र० ५८८), हिंग्वादि चूर्ण (र० ५६३), चित्रकादि वटी (र० ५५२), ये सब औषधियाँ आम के पचन कराने वाली हैं। वातप्राधान्यता हो, तो हिंग्वष्टक या हिंग्वादि चूर्ण दें। ज्वर सह पैत्तिक विकार हो, तो यवानीखाण्डव देवें। वात-कफ प्राधान्यता हो, तो चित्रकादि वटी देवें।

(९) तक्रारिष्ट—अजवायन, आंवले, हरड़, कालीमिर्च, ये सब १२-१२ तोले और पाचों लवण ४-४ तोले लेवें। सबको २५६ तोले मट्ठे में※ मिलाकर ४-६ दिन रहने दें। खट्टापन आने पर पिलाने के लिये उपयोग में लेवें। इस अरिष्ट के सेवन से ग्रहणी, शोथ, गुल्म, अर्श, कृमि, प्रमेह और उदर रोग नष्ट होते हैं; और अग्नि प्रदीप्त होती है। मल में दुर्गन्ध आती हो और स्नेह पचन न होता हो; तब इस अरिष्ट को हितकर माना है।

जो औषधियां ग्रहणी और संग्रहणी के लिये लिखी हैं; वे ही अनुपान भेद से वातादि भिन्न-भिन्न प्रकार के विकारों पर दी जाती हैं। फिर भी वातादि दोषों पर सत्वर लाभ पहुँचा सके, ऐसी कुछ औषधियां अत्र पृथक् पृथक् दिखाई हैं।

वातप्राधान्य ग्रहणी चिकित्सा।

(१) ग्रहणीकपाट रस (र० ४१०), अगस्ति सूतराज रस (र० ४०८), लाही चूर्ण (र० ४११), लघुलाही चूर्ण (र० ४१२), कनक सुन्दर रस (र० ४०९), ये सब वातप्राधान्य रोग में दी जाती हैं।

※ गौ के ताजे दही में केवल चतुर्थांश जल मिलाया जाय, तो पीने लायक अरिष्ट नहीं बन सकेगा। इसलिए ३-४ गुना जल मिला मथन कर घी निकाल लेवें। फिर अरिष्ट बनावें।

(२) शूल हो, तो अग्नितुण्डी वटी (र० ४२३), हिंग्वष्टक चूर्ण (र० ५८५), हिंग्वादि चूर्ण (र० ५६३) या हिंगुल रसायन दूसरी विधि (र० ४७४), इनमें से एक का सेवन कराना चाहिये।

(३) वातपित्तात्मक तीव्र शूल हो, तो सूतशेखर (तुलसी के रस के साथ) देना हितकारक है।

(४) मेथीमोदक—सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आंवला, नागरमोथा, जीरा, काला जीरा, धनिया, कायफल, पुष्करमूल, काकड़ासिंगी, अजवायन, सैंधानमक, विड़नमक, तालीसपत्र, नागकेशर, तेजपात, दालचीनी, छोटी इलायची, जायफल, जावित्री, लौंग, मुरामांसी (अभाव में जटामांसी), कपूर, लाल चन्दन, इन २७ औषधियों को १-१ तोला लेकर कपड़छान चूर्ण करें। फिर २७ तोले मेथी का आटा और ५४ तोले पुराना गुड़ मिलाकर २-२ तोले के लड्डू बना लें। अनेक चिकित्सक पहले मेथी को ५४ तोले घी में भून, फिर औषधियों के चूर्ण और भूने हुए मेथी के आटे को गुड़ की चाशनी में मिलाकर लड्डू बांधते हैं।

इनमें से १-१ मोदक या पाचनशक्ति अनुसार न्यूनाधिक मात्रा में (६-६ माशे शहद मिलाकर) रोज सुबह सेवन कराने से अग्नि प्रदीप्त होती है। यह मोदक आम और मेद वृद्धि वालों के लिये अति हितकर, बलवर्ण-कारक और संग्रह-ग्रहणी का नाशक (खट्टे पानी मुँह से अधिक न गिरते हों, तो) है। २० प्रकार के प्रमेह, मूत्राघात, अश्मरी, पाण्डु, कास, क्षय और कामला, ये सब रोग दूर होते हैं। स्त्रियों के शिथिल हुए स्तन ताड़फल के समान दृढ़ हो जाते हैं। इस योग में दृष्टि शक्ति की वृद्धि करने और सन्तान देने के गुण भी रहे हैं।

(५) बृहद्मेथी मोदक—ऊपर मेथीमोदक में कही हुई सोंठादि २७ औषधियाँ, सोया, मुलहठी, पद्माख, चव्य, सौंफ और देवदारु, सब मिलाकर ३३ औषधियों को १-१ तोला लें। मेथी ३३ तोले, मिश्री ६६ तोले और घृत आवश्यकतानुसार मिला कर २-२ तोले के लड्डू बनावें। इनमें से रोज सुबह पाचनशक्ति अनुसार सेवन कराने से सब प्रकार की मन्दाग्नि और विशेषतः आमदोष दूर होते हैं। यह

मोदक अग्नि प्रदीप्त करता है; आमवात का नाश करता है; शुक्र की वृद्धि करता है; तथा ग्रहणी, अर्श, प्लीहा, पाण्डु, सब प्रकार के प्रमेह, कास, दारुण श्वास, वमन, अतिसार और नाना प्रकार के दुष्कर रोगों का नाश करता है।

सगर्भा स्त्री की संग्रहणी पर—अभ्रपर्पटी (र० ३६४), हेमगर्भपोटली रस दूसरी विधि (र० ४४१) या जातिफलादि चूर्ण (र० ५६६) दिन में २ या ३ समय बकरी के दूध, मट्ठे या जल के साथ देते रहना चाहिये।

प्रसूता की संग्रहणी—दशमूलारिष्ट (र० ६४८), सर्वाङ्ग-सुन्दर रस (र० ५२०), प्रतापलंकेश्वर रस (र० ५१६) या पंचामृत पर्पटी दूसरी विधि (र० ३६०), इनमें से अनुकूल औषधि देवें।

ग्रहणीमिहिर तैल—धनिया, धाय के फूल, लोध, मजीठ, अतीस, हरड़, खस, नागरमोथा, नेत्रवाला, मोचरस, रसौंत, बेलगिरी, नीलोफर, तेजपात, नागकेशर, कमल केशर, गिलोय, इन्द्रजौ, काली निशोथ, पद्माख, कुटकी, तगर, छरीला, भाँगरा, काला भाँगरा, पुनर्नवा, आम की छाल, जामुन की छाल, कदम्ब की छाल, कुड़ा छाल, अज-वायन और जीरा, इन सब औषधियों को २-२ तोले मिलाकर कल्क करें। फिर कल्क, तिल तैल १२८ तोले; तथा मट्ठा, कुड़े की छाल का क्वाथ या धनिये का क्वाथ, तैल से ४ गुना मिलाकर तैल पाक करें।

यह तैल उत्तम रसायन रूप और वलीपलित का नाश करने वाला है। इस तैल के उपयोग से (पीने और मालिश करने से) सब प्रकार के अतिसार, सब प्रकार की ग्रहणी, ज्वर, तृषा, कास, हिक्का, श्वास, वमन, भ्रम आदि उपद्रवों सह उदर रोगों का नाश होता है। अर्श, कामला, प्रमेह, शोथ और भयंकर शूल शमन होते हैं। यह तैल बृंहण, वृष्य, सब रोगों का नाशक और विचलित गर्भ को स्थिर करने वाला है। सगर्भा को प्रारम्भ से इसका सेवन कराया जाय; तो गर्भ की खूब वृद्धि होती है। यह ग्रहणीमिहिर तैल संसार का मंगल करने वाला है।

जीरकाद्यरिष्ट—१० सेर जीरे को कूट ५१। सेर जल में मिला

कर क्वाथ करें। चतुर्थांश जल शेष रहने पर उतार कर १५ सेर गुड़ मिलावें; तथा धाय के फूल ६४ तोले, सोंठ ८ तोले; जायफल, नागरमोथा, दालचीनी, तेजपात, नागकेशर, छोटी इलायची के दाने, अजवायन, शीतल मिर्च और लौंग, ये ६ वस्तु ४-४ तोले मिलाकर एक मास रहने देवें। अरिष्ट सिद्ध होने पर छान लेवें। फिर ३ मास हो जाने के पश्चात् उपयोग में लेवें।

इस अरिष्ट में से २॥-२॥ तोले समान जल मिला कर भोजन के पश्चात् दिन में २ या ३ समय देने से सूतिका रोग, ग्रहणी रोग, अतिसार और पचन क्रिया की विकृति, ये सब दोष दूर होते हैं।

पित्तप्राधान्य ग्रहणी चिकित्सा।

(१) पित्त प्राधान्य ग्रहणी के प्रारम्भ में रसौंत, अतीस, इन्द्रजौ, कुड़े की छाल, सोंठ और धाय के फूल को कूट चूर्ण कर ४-४ माशे शहद और चावलों के धोवन के साथ दें।

(२) तालीसादि चूर्ण (र० ५६४) अथवा मण्डूरमाक्षिक भस्म (र० २१२ दाडिमावलेह के साथ) दिन में २ या ३ समय देते रहने से पित्तप्रकोप जन्य ग्रहणी विकार नष्ट हो जाता है।

(३) रोगबल अधिक है, तो—सुवर्णपर्पटी (र० ३५४), हेमगर्भपोटली रस दूसरी विधि (र० ४४०), लघु लाही चूर्ण (र० ४१२), ग्रहणीकपाट रस (र० ४१०), जीरकादि मोदक (र० ६७६), इनमें से अनुकूल औषधि का सेवन कराना चाहिये। यदि क्षय के कीटाणु अन्त्र में हो गये हों, तो सुवर्णपर्पटी या हेमगर्भपोटली रस या इतर सुवर्णयुक्त औषधि अवश्य देनी चाहिये।

(४) नागरादि चूर्ण—सोंठ, अतीस, नागरमोथा, धाय के फूल, रसोंत, कुड़े की छाल, इन्द्रजौ, बेलगिरी, पाठा, कुटकी, इन सबको समभाग मिलाकर चूर्ण करें। इसमें से २-२ माशे चूर्ण दिन में ४ समय शहद के साथ देवें। ऊपर चावल का धोवन पिलावें। इस चूर्ण के सेवन से पैत्तिक ग्रहणी, रक्तज ग्रहणी, अर्श, गुदशूल, प्रवाहिका आदि

सब व्याधियाँ दूर हो जाती हैं। यह चूर्ण शीतल, आमपाचक, ग्राही और दाहशामक है। नये और पुराने रोग में भी लाभ पहुँचाता है।

(५) पित्त की तीव्रता या अम्लता से उदर शूल होवे, तो—वराटिका भस्म (र० २६०) या शंख भस्म (र० २६३) दिन में ३ समय घी के साथ देवें। यदि दोष वातपित्तात्मक है, तो सूतशेखर (र० ५०६) दिन में २ या ३ समय अदरख के रस और शहद के साथ देते रहें।

(६) गुद शूल होवे, तो—लघु लाही चूर्ण (र० ४१२) या सर्वाङ्गसुन्दर रस (र० ५२०) का सेवन कराना चाहिये।

(७) ज्वर, पाण्डु और शोथ होवे, तो—दुग्धवटी (र० ३५८) या पंचामृतपर्पटी (र० ३६०) या सर्वाङ्गसुन्दर रस (र० ५२०) में से अनुकूल औषधि देते रहें।

(८) लोहपर्पटी या पंचामृतपर्पटी दिन में २ से ३ समय देते रहने से ज्वर, पाण्डु और यकृत्प्लीहावृद्धि सह ग्रहणी रोग दूर हो जाता है।

(९) वृक्कशोथ हो, तो—ताम्रपर्पटी (र० ३५५ भूना जीरा और शहद के साथ) दें; तथा प्रारम्भ में कहा हुआ सारिवादि चूर्ण मूत्रशुद्धि और दाहशमन के लिये देते रहें।

दाह शमनार्थ—अनार, सेव, मुसम्बी या फालसा का रस पिलावें। या मौक्तिकपिष्टी अथवा प्रवालपिष्टी, गिलोयसत्व और अनार शर्बत के साथ दिन में २ से ३ समय देते रहें।

(१) रक्त-पीप सह ग्रहणी होवे, तो—(१) पञ्चामृतपर्पटी (कुटजावलेह या दाड़िमावलेह के साथ) दें; अथवा मण्डूरमाक्षिक भस्म और शंखभस्म (दाड़िमावलेह या दाड़िमाष्टक चूर्ण के साथ) दिन में ३ समय देते रहें।

(२) सौंफ, रूमीमस्तंगी और छोटी इलायची, इन सबको कूट लें, ईसबगोल बिना कूटा हुआ मिलावें। सबके समान मिश्री का चूर्ण मिलावें। इसमें से ३-३ माशे चूर्ण दिन में ३-४ समय जल, मट्ठा, बकरी का दूध या चावल के धोवन के साथ देते रहने से उदर शूल, आंतों का दाह, आम, रक्त और पीप जाना, ये सब उपद्रव दूर होते हैं

कफज ग्रहणी चिकित्सा।

(१) नागरमोथा, सोंठ और वायविडंग का चूर्ण निवाये जल के साथ देने से आम और कफ का पचन होकर ग्रहणी रोग दूर हो जाता है।

(२) हरड़, पीपलामूल, वच, कुटकी, पाठा, इन्द्रजौ, चित्रकमूल और सोंठ का चूर्ण कर ३-३ माशे निवाये जल के साथ दिन में २ समय देते रहने से कफपित्तात्मक विकृति की निवृत्ति होती है।

(३) नागरमोथा, अतीस, बेलगिरी और इन्द्रजौ का चूर्ण कर, ३-३ माशे चूर्ण शहद के साथ मिला कर दिन में ३-४ समय देते रहने से तीनों दोषों की विकृति दूर होती है।

(४) तालीसादि चूर्ण (र० ५६४ भांगमिश्रित), जातिफलादि चूर्ण (र० ५६६), क्रव्याद् रस (र० ४२१), लघु क्रव्याद् रस (र० ४२२), लवण भास्कर चूर्ण (र० ५८५), या चित्रकादि वटी (र० ५५३), ये सब अग्निप्रदीपक और ग्रहणी दोष को दूर करने वाले हैं। इनमें से अनुकूल औषधि का सेवन करावें।

(५) आम और कफवृद्धि होवे, तो—आनन्दभैरव रस (र० ४०७), अगस्ति सूतराज रस (र० ४०८ पेचिश सह), रामबाण रस (र० ४१६), हिंगुलेश्वर रस (र० ५३०) और लाही चूर्ण (र० ४११), इनमें से कोई भी औषधि का सेवन कराने से नयी कफज ग्रहणी आम दोष सह दूर हो जाती है। सामान्य दोष हो; तो आनन्दभैरव रस देवें। कुछ अधिक दोष हों; तो हिंगुलेश्वर या रामबाण रस देवें। आंत में कीटाणु, उदर शूल, वमन और अग्निमान्द्य सह हो; तो अगस्तिसूतराज देवें। ज्वर और अधिक आम हो, तो लाही चूर्ण देना हितकारक है।

कल्याण गुड़—आँवलों का रस १९२ तोले, ३ वर्ष का पुराना गुड़ २०० तोले; पीपलामूल, जीरा, चव्य, सोंठ, मिर्च, पीपल, गज-पीपल, हाऊबेर, अजमोद, वायविडङ्ग, सैंधानमक, हरड़, बहेड़ा, आँवला, अजवायन, पाठा, चित्रकमूल और धनियाँ, ये १८ औषधियाँ ४-४ तोले, निशोथ ३२ तोले और तिल का तैल ३२ तोले लेवें। पहले आँवलों के

रस को उबालें, फिर गुड़ मिलाकर चासनी करें। पश्चात् नीचे उतार निशोथ को छोड़, शेष औषधियों का चूर्ण मिलावें। निशोथ को तैल में कुछ देर भूनकर मिलावें। फिर दालचीनी, तेजपात और छोटी इलायची, इन तीनों का चूर्ण ४-४ तोले मिला लें। इसमें से १-१ तोला नित्यप्रति सेवन कराने से समस्त ग्रहणी रोग, श्वास, कास, स्वरभेद, शोथ आदि सब विकार नष्ट होते हैं; अग्नि प्रदीप्त होती है; कामोत्तेजना होती है; तथा स्त्रियों का वन्ध्यत्व दोष भी दूर हो जाता है।

ज्वर शमनार्थ—यदि ताप रहता हो, तो ग्रहणी रोग की औषधि के साथ-साथ सूतराज रस (र० ३७० कालीमिर्च और शहद के साथ), दिन में २ समय प्रातः-सायं देते रहें।

जीर्ण रोग में रोगशमन और आँतों की शक्ति बढ़ाने के लिये—आगे लिखे हुए कल्पों का सेवन और पर्पटी का प्रयोग करना चाहिये।

प्रवाहिकाजन्य ग्रहणी चिकित्सा।

(१) ग्रहणीकपाट रस (र० ४१० कुटजाद्यवलेह या दाड़िमावलेह के साथ), अगस्तिसूतराज रस (र० ४०६) या पंचामृतपर्पटी (र० ३६०), इनमें से अनुकूल औषधि का सेवन कराना चाहिये। नया रोग हो और ग्रहणी में अधिक शिथिलता न आई हो, तो अगस्तिसूतराज, या ग्रहणी-कपाट दें। ग्रहणीकपाट पित्तविकार, उदरशूल, रक्तस्राव और अग्नि-मान्द्य को दूर करता है; कच्चे आम का पचन करता है और पीप को भी दूर करता है। यदि रोग जीर्ण है; तो पंचामृतपर्पटी लाभदायक है।

(२) तृषा, दाह और पेचिश सह नये रोग पर कपूर रस (र० ४०७), जातिफलादि वटी (र० ४१४) या ग्रहणीकपाट रस (र० ४१०), ये तीनों लाभ पहुँचाते हैं। कपूर रस से जातिफलादि वटी में अफीम कम है और जातिफलादि वटी से ग्रहणीकपाट में कम है। यदि ज्वर की प्रधानता हो; तो कपूर रस देना अधिक लाभदायक है।

(३) **अहिफेनादि वटी**—अफीम १ भाग और गाँजा की पत्ती २ भाग मिला अनार के रस के साथ खरल कर आध-आध रत्ती

की गोलियाँ बना लें। प्रातः-सायं एक-एक गोली तक्र के साथ देने से नये और पुराने सब प्रकार के ग्रहणी रोग, पेचिश, रक्त और पीप जाना, निद्रानाश, अग्निमान्द्य, उदर शूल और शिथिलता आदि थोड़े ही दिनों में दूर होकर शरीर नीरोगी और तेजस्वी हो जाता है।

संग्रहग्रहणी की चिकित्सा।

(१) मौक्तिकपिष्टी (र० २५२ दाड़िमावलेह के साथ), प्रवालपिष्टी (र० ५५१), शंख भस्म (सोंठ के चूर्ण और घी के साथ), हेमगर्भ-पोटली रस दूसरी विधि (र० ४४१), सुवर्ण पर्पटी (र० ३५४), जातिफलादि चूर्ण (र० ५६६), तालीसादि चूर्ण (र० ५६४) या सूत-शेखर रस (र० ५०६), ये सब औषधियाँ लाभदायक हैं। इनमें मौक्तिक, प्रवाल और शंख, ये सब पित्त की तेजी को नष्ट करती हैं। भाँग मिश्रित तालीसादि चूर्ण और जातिफलादि चूर्ण आन्त्र-शक्ति को बलवान बनाने में सहायक हैं। सुवर्णयुक्त औषधि, हेमगर्भपोटली रस, सुवर्ण पर्पटी और सूतशेखर विषघ्न और ग्राही हैं। इनमें से अनुकूल औषधियों को प्रयोग में लावें।

(२) वमन होती है, तो पीपल (अश्वत्त्थ) वृक्ष की लकड़ी की राख को १६ गुने जल में भिगो ऊपर से नितरे हुये जल में से ५-५ तोले जल दिन में ४-५ समय पिलावें। या एलादि चूर्ण (र० ५८९) देवें।

शेष उपद्रवों के लिये ग्रहणी रोग में लिखे अनुसार चिकित्सा करें।

इस रोग में मल बँधा हुआ हो; तो प्रातः और सायं सुवर्ण पर्पटी २ रत्ती च्यवनप्राशावलेह या दाडिमावलेह के साथ देवें। यदि सुवर्ण पर्पटी दाडिमावलेह के साथ देवें, तो आध घण्टे बाद दूध देवें; और च्यवनप्राशावलेह के साथ दिया जाय; तो १ से २ घण्टे बाद दूध पिलावें। यदि गौ का धारोष्ण दूध पचन हो सके तो धारोष्ण दूध देवें। धारोष्ण दूध के लिये पात्र को गरम कर, ऊपर कपड़ा बाँध फिर गौ को दुहना चाहिये। च्यवनप्राशावलेह धीरे-धीरे आध तोले से २ तोले तक बढ़ाते जायँ। भोजन पचन होता हो; तो मसूर का यूप, दलिया,

खिचड़ी, खीलों का मण्ड, साबुदाना आदि पतले और हलके भोजन बहुत थोड़े प्रमाण में देवें। भोजन के २ घण्टे बाद दोपहर को और रात्रि को ज़ातिफलादि चूर्ण १ माशा, मौक्तिकपिष्टी १ रत्ती (या प्रवाल-पिष्टी २ रत्ती) तथा गिलोयसत्व ४ रत्ती मिलाकर शहद के साथ देते रहें। हमने इस विधि से अनेक रोगियों को लाभ पहुँचाया है। लगभग १ से २ मास तक औषधि देने से रोग बिल्कुल शमन हो जाता है।

यदि ज्वर, पतले दस्त और पेचिश का असर हो, तो दिन में ४ समय पंचामृत पर्पटी, कुटजावलेह (या भुना जीरा और शहद) के साथ देवें। ज्वर शमन होने पर प्रातः-सायं पंचामृत पर्पटी के स्थान पर सुवर्ण पर्पटी देना विशेष हितकर है।

जिन रोगियों को पतले दस्त हों, उनको बकरी के दूध पर या मट्ठे पर रखना चाहिये। दूध जिनको अनुकूल हो, उनको तो दूध ही देना चाहिये।

मूत्रविकार, दाह, मुखपाक, आँतों का शोथ, इनको कम करने के लिए ज्वर न हो; तो पहले ग्रहणी रोग में मूत्र शुद्धि के लिए लिखा हुआ सारिवादि चूर्ण जल के साथ दिन में ३ समय देवें। सायंकाल के पश्चात् इस चूर्ण का उपयोग नहीं करना चाहिये।

ग्रहणीशार्दूल रस—शुद्ध पारद और शुद्ध गन्धक १-१ तोला मिला कज्जली करें। फिर १॥ माशा सुवर्ण भस्म मिलावें। पश्चात् लौंग, नीम के पत्ते, जायफल, जावित्री और छोटी इलायची के दाने १-१ तोले का चूर्ण मिला, अनारदाने के रस के साथ १२ घण्टे खरल कर मोती की दो बड़ी सीपों में लेप कर सम्पुट करें। फिर ऊपर ३ कपड़-मिट्टी कर पुटपाक कृति से पाक करें। स्वाँग शीतल होने पर निकाल कर पीस लेवें।

इस रसायन में से २-२ रत्ती दिन में ४ समय भुने जीरे का चूर्ण और शहद या कुटजारिष्ट के साथ देने से सूतिका रोग, ग्रहणी रोग, अर्श, कास, श्वास, अतिसार, संग्रह-ग्रहणी, आमशूल, ये सब नष्ट होते हैं; पचनशक्ति बलवान् बनती है; तथा बलवीर्य की वृद्धि होती है।

यह रसायन आन्त्र-विकार से उत्पन्न संग्रह-ग्रहणी, ग्रहणी रोग,

आंत्रक्षय और सूतिका रोग में अत्यन्त लाभदायक है।

यदि दूध के अधिकारी को दूध पचन न होता हो, तो दूध को खूब उलट-उलट कर झाग उत्पन्न करें; ये झाग खिलाते रहने से पचन हो जाता है। पश्चात् धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा करके दूध पचन होने लग जायगा। दूध के झाग के लिये हारीत-संहिता में लिखा है, कि:—

क्षीणे ज्वरातिसारे च सामे च विषमज्वरे।
मंदाग्नौ कफमाश्रित्य पयःफेनं प्रशस्यते॥

अति क्षीण मनुष्य, ज्वरातिसार, आम ज्वर, विषम ज्वर, अग्निमांद्य और कफाधिकता में दूध के झाग अति लाभदायक हैं।

सूचना—संग्रहणी के रोगी का वजन बहुत घट गया हो, अंतड़ी में क्षय रोग के जन्तुओं की उत्पत्ति हो गई हो, तो रोगी को सुवर्णयुक्त औषधि अवश्य देनी चाहिये।

यदि इस संग्रहणी रोग में ज्वर रहता है; या आमकफ बढ़ गये हैं; तो जल को औटाकर शीतल होने पर उपयोग में लेना चाहिये। आँतों में आम और दूषित मल का संग्रह बहुत समय तक न रहे, इस बात का खूब लक्ष्य रखना चाहिये।

कल्प चिकित्सा।

संग्रहणी रोग में जब सामान्य चिकित्सा से लाभ नहीं होता, तब या प्रारम्भ से ही अनेक रोगियों की चिकित्सा कल्प द्वारा करायी जाती है।

तक्र, दूध और आम के रस, ये ३ प्रकार के कल्प कराने की प्रथा है। तक्र सेवन के योग्य रोगियों को तक्र, दूध के अनुकूल अधिकारी वर्ग को दूध; और आम के रस वालों को आम के रस का कल्प कराया जाता है। कल्प चिकित्सा से रोग शमन होने पर सब धातु और इन्द्रियाँ नीरोगी और सबल हो जाती हैं। जिससे भविष्य में पुनः इस रोग के आक्रमण का भय ही दूर हो जाता है।

कल्पकाल—तक्रकल्प हो सके तब तक ग्रीष्म और शरद् ऋतु में नहीं कराना चाहिये। वर्षा ऋतु में सम्हालपूर्वक कराया जाता है।

किन्तु आर्द्र वायु से रोगी को बचाते रहना चाहिये। हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतुओं में भी सरलतापूर्वक हो सकता है। दुग्धकल्प तो सब ऋतुओं में करा सकते हैं; और आम्रकल्प विशेषतः वर्षा ऋतु में ही आम पकने पर कराया जाता है।

तक्र-कल्प के अधिकारी—जिनके मूत्र में प्रतिक्रिया क्षारीय होती हो, ज्वर, उरःक्षत, मूर्च्छा रोग, पित्तप्रकोप, अम्लपित्त, शोथ या रक्तपित्त न हो, सूज़ाक या उपदंश रोग भूतकाल में न हुआ हो, उन रोगियों को तक्र-कल्प का अधिकारी माना है।

तक्र-कल्प फल—इस तक्र-कल्प से कितना ही पुराना ग्रहणी या संग्रहणी रोग हो, चाहे जितनी निर्बलता आगई हो, अस्थिपञ्जरवत् देह कृश हो गई हो, क्षुधा नाश, अन्न का अपचन, उदर शूल, आम-वृद्धि, आँतों में गुड़गुड़ाहट, पतले दस्त, अत्यन्त दुर्गन्ध वाले दस्त, दस्तों की अत्यधिक संख्या, अर्श, प्रदर, प्रमेह और स्वप्नदोषादि विकार हों; ये सब जलकर नष्ट हो जाते हैं; तथा आँतें बलवान बन जाती हैं। जिससे भविष्य में पुनः इन जली हुई व्याधियों के आक्रमण की भीति ही नहीं रहती। इस विषय में आचार्य वंगसेन ने लिखा है, कि:—

ग्रहणीरोगिणां तक्रं संग्राहि लघु दीपनम्।
सेवनीयं सदा गव्यं त्रिदोषशमनं हितम्॥
दुःसाध्यो ग्रहणीदोषो भेषजैर्नैव शाम्यति।
सहस्रशोऽपि विहितैर्विनातक्रस्य सेवनात्॥
यथा तृणचयं वह्निस्तमांसि सविता यथा।
निहन्ति ग्रहणीरोगं तथा तक्रस्य सेवनम्॥

ग्रहणी रोगी के लिये तक्र मल को बाँधने वाली, लघु और दीपन है। तक्र में भी गाय की तक्र त्रिदोषशामक होने से सदा सेवन करने योग्य है। दुःसाध्य ग्रहणी रोग जो हजारों औषधियों के सेवन से न गया हो; वह तक्र सेवन से निर्मूल हो जाता है। जिस तरह घास के समूह को अग्नि और अन्धकार को सूर्य नष्ट करता है; उसी तरह सेवन किया हुआ मट्ठा ग्रहणी रोग का विनाश कर डालता है।

दुग्ध-कल्प के अधिकारी—जब पेशाब की प्रतिक्रिया अम्ल होने से या इतर कारणों से तक्र अनुकूल नहीं रहती; या ज्वर, शोथ, रक्तपित्त, अम्लपित्त, क्षय, उरःक्षतादि विकार हों, तब दुग्ध-कल्प कराया जाता है। छोटे बालकों के लिये दुग्ध-कल्प ही विशेष अनुकूल रहता है।

दुग्ध-कल्प फल—दुग्ध-कल्प से ज्वर, शोथादि उपद्रवों सह ग्रहणी और संग्रहणी रोग दूर हो जाते हैं। संग्रह-ग्रहणी में मट्ठे की अपेक्षा दूध सत्वर और अधिक लाभ पहुँचाता है। किन्तु रोग शमन हो जाने पर भी कुछ दिनों तक केवल दूध पर ही रोगी को रखना चाहिये। अन्यथा धातुओं में लीन दोष या निर्बलता रह जाने से पुनः कालान्तर में रोग का आक्रमण हो जाता है।

सूचना—दुग्ध-कल्प करने पर तक्र और अम्ल पदार्थों का सेवन ४-६ मास तक नहीं कराना चाहिये।

आम्र-कल्प—तक्र-कल्प के सब अधिकारियों को प्रायः आम्र-कल्प कराया जाता है। किन्तु शोथ, मूत्र की अम्ल प्रतिक्रिया, रक्तविकार, प्लीहावृद्धि, कफप्रकोप, वातप्रकोप और आफरा रहना, इनमें से कोई उपद्रव है, तो आम्र-कल्प अनुकूल नहीं रहता। ऐसे रोगियों को दुग्ध-कल्प या तक्र-कल्प कराया जाता है।

आम्र-कल्प के लिये आम देशी, मीठे और पाल के पक्के हुए लेवें। आम में जिसका रस पतला हो, वह विशेष हितकारक है। खट्टे, हरे छिलके वाले और उतरे हुए (सड़े हुए) को उपयोग में नहीं लेना चाहिये। अच्छे पक्के, मीठे आम से पित्त का विरोध नहीं होता; किन्तु खट्टा आम पित्त को प्रकुपित करता है। इसलिये ग्रहणी रोगी को खट्टे या कम पक्के आम का सेवन नहीं कराना चाहिये।

कल्प सेवन कराने वालों को चाहिये कि दही, तक्र और दूध के गुणों को अच्छी तरह जानकर अधिकारी अनुरूप कल्प करावें। अन्यथा लाभ के बदले हानि हो जाती है।

दही के गुण—दही रस और विपाक में अम्ल, ग्राही, गुरु, उष्ण और वातजित है। मेद, शुक्र, बल, कफ, पित्त, रक्त और अग्नि को बढ़ाता है, शोथकारक; अरुचि को दूर करने वाला और रुचिकर

है। शीतपूर्वक विषम ज्वर, वातप्राधान्य पीनस, मूत्रकृच्छ्र और ग्रहणी रोग में हितकारक है। इनमें ग्रहणी रोग में रूक्ष गुण उत्पन्न करता है, अर्थात् इतर स्निग्धता का शोषण आँतों में नहीं होता, फिर भी दही की स्निग्धता का शोषण हो जाता है, जिससे मल में स्निग्धांश नहीं जाता।

सूचना—दही को रात्रि में कदापि नहीं खाना चाहिये; गरम करके सेवन न करें; तथा वसन्त, ग्रीष्म और शरद्-ऋतु में भी न खायँ। नीरोगी मनुष्यों को मूँग की दाल, शहद, घृत-मिश्री या आँवलों का चूर्ण, इनमें से कोई भी एक वस्तु मिलाकर सेवन करना चाहिये। मन्द दही, जो पूरा न जमा हो, उसका सेवन कदापि नहीं करना चाहिये, अन्यथा ज्वर, रक्तपित्त, विसर्प, कुष्ठ, पाण्डु और भ्रमादि व्याधियों में से कोई-न-कोई उत्पन्न हो जाती है।

कफविकार और रक्तपित्त के रोगी के लिए दही सर्वथा अपथ्य ही है।

दही का सेवन करना हो, तो दिन में ही करना चाहिये। किन्तु नियमपूर्वक रोज नहीं लेना चाहिये। हेमन्त, शिशिर और वर्षा ऋतु में दही का सेवन करना लाभदायक है।

गाय का दही वातनाशक, पवित्र, रुचिप्रद, हृद्य और अग्नि प्रदीपक है। बकरी का दही कफपित्तनाशक, लघु, वातक्षय को दूर करने वाला, अर्श, श्वास, कास और क्षय रोगियों को हितकर तथा अग्निप्रदीपक है। भैंस का दही विपाक में मधुर, वृष्य, वातपित्त का प्रसादन करने वाला, गुरु, अभिष्यन्दी, दुर्जर, कफवर्धक और स्निग्ध है। इन तीनों में से गाय और बकरी का दही ही ग्रहणी रोग में हितकारक है।

दूध को पकाकर जमाया हुआ दही विशेष लाभदायक है। दूध में से मलाई आदि सत्व निकाल कर जमाया हुआ दही कम गुणवाला होता है। कच्चे दूध में से बनाया हुआ दही रोगी और निर्बल प्रकृति वालों के लिये हानिकर होता है; तथा निःसार दधि (मलाई या मक्खन निकाला हुआ दही) रूक्ष, ग्राही, मलावरोधकारक, वातुल, अग्निप्रदीपक, अति हल्का, कसैले रसवाला और रुचिप्रद होता है।

तक्र वर्ग—दही में बिना जल डाले मथन किया जाय, उसे घोल;

दही की मलाई निकाल बिना जल मिलाये घोल किया हो, तो उसे मथित; दही में चौथा हिस्सा जल मिला मथन कर लिया जाय उसे तक्र; आधा जल डाल मथन किया जाय उसे उदश्चित् (सुश्रुत-संहिता में इसे तक्र कहा है); तथा अधिक जल डाला हो, और मक्खन भी निकाल लिया हो; उसे छच्छिका (छाछ) संज्ञा दी है। ये सब तक्र उत्तरोत्तर अधिक लघु होती हैं। मक्खन निकाल लेने पर दीपन और हल्की होती है।

तक्र के गुण—लघु, कसैली, खट्टी, मीठी, उष्ण वीर्य, रूक्ष, अग्निप्रदीपक तथा कफ और वात को जीतने वाली है। शोथ, उदर, अर्श, ग्रहणी रोग, वस्तिशूल, मूत्रावरोध, अरुचि, प्लीहा, गुल्म, अधिक घृत से होने वाला विकार, कृत्रिम विषविकार, सेन्द्रियविष प्रकोप, तृषा, वमन, शूल, मेदवृद्धि, कफ और वातरोग आदि को दूर करती है। तक्र का विपाक मधुर होता है तथा हृदय को हितकर है।

ग्रहणी रोगी को तक्र देने के लिये चरक-संहिता में लिखा है, कि—

तक्रं तु ग्रहणी दोषे दीपनग्राही लाघवात्।
श्रेष्ठं मधुरपाकित्वान्न च पित्तं प्रकोपयेत्॥
कषायोष्णविकासित्वाद्रौक्ष्याच्चैव कफे मतम्।
वाते स्वाद्वम्ल सान्द्रत्वात् सद्यस्कमविदाहो तत्॥

ग्रहणी विकार वालों को मट्ठा लघुपाकी होने से अग्निप्रदीपक, मल को बाँधने वाला और पथ्य है। इसका विपाक मधुर होता है इसलिये पित्त को प्रकुपित नहीं करता। कसैला, गरम, विकासी और रूक्ष होने से कफविकार में; तथा स्वादु, खट्टा और सान्द्र होने से वातज व्याधियों में लाभदायक है। किन्तु जिस मट्ठे को तुरन्त बनाकर उपयोग में लिया जाय; वही अविदाही होने से सच्चा लाभ पहुँचा सकता है।

मट्ठे के सेवन से आमाशय और अन्त्रादि पचनसंस्था सबल होकर भोजन का परिपाक नियमित और सत्वर होता है; लघु अन्त्र में रहे हुए रसांकुरिकाओं की शोषण क्रिया सम्यक् हो जाती है; यकृत् और मूत्रपिण्ड की क्रिया उत्तेजित होती है; रक्ताभिसरण क्रिया बलवती बनती है; रक्त विशुद्ध और लाल बन जाता है तथा अन्त्र में रहे हुए

सेन्द्रिय विष, सूक्ष्म कीटाणु और मल में उत्पन्न दुर्गन्ध नष्ट हो जाते हैं।

बड़े या छोटे, स्त्री या पुरुष, किसी के ग्रहणी या अन्त्र विकारी हो जाने से अतिसार, ग्रहणी रोग या अर्श की प्राप्ति हो गई हो, तो उसके लिये तक्र अमृत सदृश हितकारक है। पाचक पित्त की उत्पत्ति योग्य परिमाण में न होने से अजीर्ण या संग्रहणी (Sprue) हो गये हों, उनके लिये भी तक्र सेवन अत्यन्त उपकारक है। जिन ज्वर पीड़ित रोगियों को दुग्ध सेवन अनुकूल नहीं रहता; उनको तक्र का सेवन कराया जाता है। किन्तु ज्वर रोगी के लिये मधुर दही में गरम जल मिलाकर मट्ठा बनाना चाहिये; और सब मक्खन निकाल लेना चाहिये। कारण ज्वर रोग में मक्खन का पचन नहीं हो सकता।

मट्ठे में लेक्टिक एसिड, म्यूरियाटिक एसिड और साइट्रिक एसिड होते हैं। इनमें लेक्टिक एसिड के योग से अन्त्रस्थ रसांकुरिकाओं को उत्तेजना मिलती है; और सूक्ष्म कीटाणु नष्ट होते हैं। म्युरियाटिक एसिड के अस्तित्व से पित्तस्राव नियमित होता है; यकृत् और बृहदन्त्र सबल बनते हैं; और ये इन्द्रियाँ अपनी क्रिया भली भाँति करने लगती हैं। साइट्रिक एसिड रक्तशुद्धि, रुधिराभिसरण क्रिया में उत्तेजना, कीटाणु नाश, तथा आमाशय और ग्रहणी आदि की शक्ति की वृद्धि करता है।

डाक्टरी में भी शीतकाल, अग्निमान्द्य, अपचन, आन्त्रदाह, अर्श, आमवृद्धि से नाड़ियों का अवरोध आदि में तक्र अत्यन्त हितकर मानी गई है।

जो तक्र मधुर (अम्ल न हुई) हो, वह श्लेष्मप्रकोपक और पित्तशामक है। खट्टी होने पर वातनाशक और पित्तकर है। वातशमनार्थ सैंधानमक और सोंठ के साथ, पित्तशमनार्थ शक्कर के साथ, कफ नाश के लिये त्रिकटु और जवाखार मिलाकर; तथा अर्श, अतिसार और ग्रहणी विकार में भूनी हींग, भूना जीरा और सैंधानमक मिलाकर सेवन करना चाहिये। मूत्रकृच्छ्र में गुड़ और जवाखार या केवल गुड़ मिलाकर और पाण्डु रोग में चित्रकमूल का चूर्ण मिलाकर उपयोग में लेना चाहिये।

तक्र निषेध—क्षत रोगी (उरःक्षत) को उष्णकाल में तथा दुर्बल को तक्र नहीं देना चाहिये। मूर्च्छा, भ्रम, दाह और रक्तपित्त के

रोगी को कदापि मट्ठा नहीं देना चाहिये।

प्राचीन आचार्यों ने तक्र स्तुति में कहा है कि:—

"न तक्रसेवी व्यथते कदाचिन्न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः।
यथा सुराणाममृतं सुखाय तथा नराणां भुवि तक्रमाहुः॥"

जो मनुष्य भोजन के पश्चात् विधिवत् मट्ठे का सेवन करता रहता है, वह कदापि रोगी नहीं होता। तक्र से नष्ट हुए रोगों की उत्पत्ति पुनः नहीं हो सकती। जैसे स्वर्ग में देवों के लिये अमृत सुखदायक है वैसे ही इस भूमंडल पर मनुष्यों के लिये मट्ठा हितकारी है।

सूचना—दही जमने से पहले बनाई हुई तक्र वातप्रकोपक, रूक्ष, अभिष्यंदी और दुर्जर होने से उपयोग में नहीं लेना चाहिये।

अति खट्टे दही में से बनाई हुई या अधिक समय तक पड़ी रहने से जो खट्टी हो गई हो, वह अम्ल विपाकी, उष्ण, तीक्ष्ण और अति पित्तकर होने से ग्रहणी रोग में लाभदायक नहीं है।

यदि पीनस, श्वास और कासादि रोगियों को तक्र देना हो; तो दही में गरम जल डाल मट्ठा बना कर देना चाहिये। शीतल जल मिलाने से मट्ठा कण्ठ और श्वासवाहिनियों में कफ की उत्पत्ति कराता है।

दही जमाने के लिये मिट्टी या काँच के छोटे-छोटे बरतन रखने चाहिये और दूध डालने के पहले जल में घिसे हुए चित्रकमूल का लेप सबमें कर लेना चाहिये। आध-आध सेर दूध में १ माशे का लेप करें; और अच्छा जम जाने पर उपयोग में लेवें।

यदि एक ही पात्र में दूध जमाया जायगा; और उसमें से ३-४ या अधिक बार निकाला जायगा; तो शेष दही में खट्टापन और जल की उत्पत्ति हो जायगी; जिससे गुण में न्यूनता होती जाती है। यदि दही के ऊपर आई हुई मलाई नहीं हटाई जाय; तो दही ज्यादा समय तक गुणयुक्त रहता है। अतः ३-४ या अधिक बरतनों में थोड़ा-थोड़ा जमाना अधिक हितकर है। एक बरतन में जमाया हुआ दही एक बार ही उपयोग में लेना चाहिये। शेष बचे हुए दही का सेवन रोगी को न करावें। दूसरी बार चाहिये; तब दूसरे बरतन में से दही लेवें।

शीतकाल में जमाये हुए दही को शीत न लगे, ऐसे स्थान पर रक्खें और उष्णकाल में जमाये हुए दही को अधिक उष्णता न पहुँचे, इस तरह सम्हालपूर्वक शीतल स्थान में रक्खें।

बकरी के दही में से बनी हुई तक्र की अपेक्षा गौ के दही में से बनी हुई तक्र विशेष लाभदायक है; किन्तु प्रवाहिकाजन्य ग्रहणी, क्षय के कीटाणुजन्य संग्रहणी, अथवा रोगी बालक है; तो बकरी के मट्ठे का उपयोग विशेष हितावह है। एवं कफ या पित्तप्रकोप है तो बकरी का मट्ठा विशेष अनुकूल रहता है। दूध को मिट्टी और पीतल के बरतन की अपेक्षा लोहे की कढ़ाही में गरम किया जाय, तो अधिक हितावह है। एक उफाण आवे, तब तक गरम कर नीचे उतार लेवें। फिर कुनकुना रहने पर जमा देवें। जमाने के लिये थोड़े से दही को ४-८ तोले दूध में मिला एक रस बना, उसे और दूध में मिला देना चाहिये।

तक्र बनाने के लिये प्रारम्भ में तीन गुना जल मिलाना चाहिये; और मक्खन भी निकाल लेना चाहिये। दूसरे सप्ताह में प्रकृति पर मट्ठे का प्रभाव पहुँच कर बल आने पर आधा मक्खन निकाल लें। तीसरे सप्ताह में या चौथे सप्ताह में सब मक्खन मट्ठे में ही रहने देवें।

अथवा वातज ग्रहणी वाले के लिये चौथाई मक्खन, पित्तज ग्रहणी वाले के लिये आधा मक्खन, कफाधिकता में पौना मक्खन तथा दुर्गन्ध और आमसहित मल वाले के लिये सब मक्खन निकाल लेना चाहिये। अथवा प्रकृति अनुसार जल कम मिलावें; और मक्खन निकालें या न निकालें। यथार्थ में मल बन्धा हुआ जब आवे, तब मक्खन थोड़ा-थोड़ा अधिक रहने देना चाहिये। पतले और दुर्गन्धयुक्त दस्त वालों को मक्खन पचन नहीं हो सकता; इसलिये सब निकाल लेना चाहिये। दुर्गन्ध दूर होने पर मक्खन थोड़ा-थोड़ा रहने देवें।

तक्र बनाने के समय में प्रकुपित पित्त वाले के लिये शीतल जल तथा वात और कफप्राधान्यता होने पर गरम जल मिलावें; किन्तु मट्ठा उष्ण नहीं पिलाना चाहिये और रोगी मट्ठा पीने के समय एक-एक घूंट को मुँह में खूब चला-चलाकर धीरे-धीरे पीवें। मट्ठे में

सैंधानमक, भूना जीरा, सोंठ (या कालीमिर्च), भूनी हींग (केवल वात प्रकृति वाले को), या लवण भास्कर चूर्ण की उतनी मात्रा मिलावें, कि मट्ठा पीने में स्वादु लगे और अतियोग भी न हो जाय।

तक्र कल्प।

जिस रोगी को तक्र कल्प कराना हो, उसे अन्न और जल बिल्कुल नहीं देना चाहिये। क्षुधा, तृषा, दोनों की निवृत्ति मट्ठे से ही करानी चाहिये। जब चाहिये तब मट्ठा ताजा तैयार करके उपयोग में लेवें। शौच क्रिया करने के लिये भी मट्ठा का ही उपयोग करें। रोगी केवल कुल्ले करने और हाथ धोने के लिये ही जल का उपयोग करें।

किन्तु पहले दिन रोगी को ४ समय आध-आध सेर मट्ठा देवें। प्यास लगने पर २-३ समय जल भी देवें। जब तक आँतों में पहले के अन्न का असर होगा, तब तक (३ दिन तक) जल पिलाना चाहिये। फिर जल कम करके बन्द कर दें। केवल मट्ठा पर रहने दें। मट्ठा जठराग्नि के बल के अनुसार शनैः-शनैः बढ़ाते जायँ। इस तरह केवल मट्ठे पर रहने से लगभग ४०-५० दिन में ग्रहणी रोग निर्मूल हो जाता है; आँतें बलवान् बन जाती हैं; मल बँधकर दुर्गन्ध रहित नियमित समय पर आने लगता है; निद्रा मर्यादित हो जाती है; शरीर सबल और तेजस्वी बन जाता है; तथा मन में स्फूर्त्ति और प्रसन्नता आ जाती है। जब पूर्ण स्वास्थ्य प्रतीत होने लगे, तब पथ्य भोजन का प्रारम्भ कराना चाहिये। किसी रोगी को एक सप्ताह कम और किसी को १ सप्ताह अधिक मट्ठे पर रहना पड़ता है। रोगबल, शरीरबल और देश-कालादि भेद से समय न्यूनाधिक हो जाता है।

कल्प के प्रारम्भ में अनेक रोगी सत्वर अन्न नहीं छोड़ सकते। अनेकों की यह मान्यता है, कि अन्न छोड़ने पर देह अधिक कमजोर हो जायगी। उनको विश्वास दिलाना चाहिये कि अन्न छोड़ने पर अशक्ति नहीं आवेगी; प्रत्युत शक्ति बढ़ जायगी।

कितनेक मनुष्य प्रकृति को बिल्कुल पराधीन बना देते हैं। नाना प्रकार के व्यसनों के जाल में फँसे हुए रहते हैं। चाय, तमाखू, बीड़ी

या सिगरेट और चटपटे भोजन बिना नहीं रह सकते। ऐसे रोगियों के लिये व्यसन और भोजन धीरे-धीरे छुड़ाना चाहिये। एकदम मट्ठे पर नहीं रख देना चाहिये। थोड़ा भोजन करावें। प्रातः-सायं भोजन के पश्चात् थोड़ा-थोड़ा मट्ठा पिलाते जायँ। फिर शनैः-शनैः भोजन घटाते जायँ। इस तरह भोजन छुड़ा कर मट्ठे पर रखना चाहिये।

कल्प काल में दिन में ४ समय पञ्चामृत पर्पटी देते रहें या प्रकृति भेद से सुवर्ण पर्पटी, इतर पर्पटी या हेमगर्भपोटली रस (र० पृ० ४४०) या अफीम वाली औषधि ग्रहणीकपाटादि देते रहें। औषधियों में पर्पटी का स्थान ऊँचा माना जाता है। फिर भी प्रकृति का विचार करके योजना करनी चाहिये। हो सके तब तक अफीम-युक्त औषधि न दें। शक्ति वृद्धि के लिये हिंगुल रसायन तीसरी विधि (र० ४७५) आध रत्ती तथा लोह, अभ्रक, नाग और जसद भस्म मिलाकर १ रत्ती दिन में २ समय शहद के साथ देते रहें।

मन्दाग्नि हो, तो लवणभास्कर मट्ठे के साथ दे सकते हैं। इस तरह आमनाश के लिये लाही चूर्ण और लघु लाही चूर्ण भी दिन में २ समय इतर औषधि सेवन के साथ दे सकते हैं। दस्त की संख्या कम करने के लिये दाड़िमाष्टक या कपित्थाष्टक चूर्ण अथवा लघु लाही चूर्ण दे सकते हैं। दाड़िमाष्टक और कपित्थाष्टक में दीपन-पाचन और कुछ ग्राही गुण हैं। तब लघु लाही में अधिक ग्राही गुण, कम दीपन-पाचन और पेचिश को दूर करने का श्रेष्ठ गुण भी रहा है। यदि आफरा आता हो, तो हिंग्वष्टक चूर्ण १-१ माशा मट्ठे के साथ देते रहना चाहिये।

यदि मूत्र में पीलापन, थोड़ा-थोड़ा पेशाब बार-बार होते रहना, पेशाब साफ न होना, ऐसा उपद्रव हो, तो सौंफ, छोटी इलायची और धनिया (छिलके निकाले हुए) मट्ठा पिलाने के पश्चात् दिन में ३-४ समय थोड़ा-थोड़ा देते रहें। या जायफल, कत्था, छोटी इलायची के दाने, सौंफ और काली अनन्तमूल का चूर्ण कर १-१ माशा दिन में ३ समय देते रहने से पेशाब साफ आ जाता है। रात्रि को मूत्रल औषधि नहीं देनी चाहिये।

पथ्य भोजन विधि—तक्र-कल्प के समाप्ति काल में तक्र शनैः-

शनैः घटाते जायँ और अन्न बढ़ाते जायँ। लाजामण्ड जिसमें ६ माशे लाजा-चूर्ण आ जाय, उतना पहले दिन एक समय दें। दूसरे दिन २ समय दें। तीसरे दिन से १-१ माशा लाजाचूर्ण बढ़ाते जायँ। फिर ३ दिन बाद मसूर की दाल का यूष, मूँग का यूष, पुराने चावलों की खिचड़ी आदि शनैः-शनैः बढ़ाते जायँ। गेहूँ और जव देना हो, तो कम से कम २५ दिनों के पश्चात् ही देना चाहिये। यदि पथ्य के समय जल्दी की जायगी तो पुनः पाचनसंस्था दूषित हो जायगी।

सूचना—यदि रात्रि को सो जाने के पश्चात् वार-वार पेशाब करने को उठना पड़े या शोथ या ज्वर की उत्पत्ति हो जाय, तो तक्रकल्प बन्द कर दुग्ध-कल्प कराना चाहिये।

तक्र-कल्प सेवन के पश्चात् एक वर्ष या कम से कम ६ मास तक दुग्ध, गुरु, अभिष्यन्दी, मिष्ठान और मांसाहार का सेवन नहीं करना चाहिये; और मुर्गे का मांस तो २-३ वर्ष तक नहीं खाना चाहिये।

दुग्धकल्प।

दुग्धकल्प में दुग्ध ही प्राधान्य वस्तु है। बालक, क्षय के कीटाणुजन्य आंत्रक्षय के रोगी, प्रवाहिका के रोगी, अन्त्र क्षत वाले, जिनके मल में रक्त जाता हो, वायु का प्रकोप हुआ हो, उन सबके लिये बकरी के दूध का उपयोग करना चाहिये। इतरों के लिये गोदुग्ध हितकर है। जिनको वार-वार मलावरोध हो जाता है, या बँधा हुआ दस्त आता है, ऐसे संग्रहणी के रोगियों के लिये गाय का दूध अमृत सदृश लाभदायक है।

कल्प के प्रारम्भ में दूध को गरम करके उपयोग में लेना चाहिये। दूध गरम करने के लिये लोहे की कढ़ाही का उपयोग करें। दूध में चतुर्थांश जल डालकर २-३ ऊफाण आवें, तब तक गरम करें। फिर नीचे उतार कर तुरन्त कलई किये हुए पीतल के बरतनों में डाल दें। एक समय जितना पीना हो; उतना ही एक पात्र में डालें। गरम दूध डालने से ऊपर मलाई आ जाती है; जो दूध में १२ घण्टे तक अम्लता उत्पन्न नहीं होने देती। जब ताजा दूध न मिल सके, तब सुबह-शाम

का दूध गरम कर इस तरह सम्हालपूर्वक रखा हुआ काम में लेते रहें। ताजा दूध आ जाने पर पहले वाले दूध का उपयोग रोगी के लिये नहीं करना चाहिये। ताजे दूध को गरम कर फिर शीतल करके देवें; तथा गरम किये हुए दूध को शीतल स्थान पर रक्खें, जिससे जल्दी अम्लता न आसके।

दूध में शक्कर न मिलाना, यह रोगियों के लिये विशेष हितकर है। २-३ दिन में जिह्वा को विना शक्कर मिलाये दूध में पूरा स्वाद मिलने लग जाता है। यदि छोटे बच्चे को दूध देना है, तो दूध में मिश्री या बताशे मिलाकर देना चाहिये।

दूध पर रोगी को रखना हो, तब अन्न का एकदम त्याग कराना या ४-८ दिन में धीरे-धीरे अन्न छुड़ाना, यह रोगी की प्रकृति और मनोबल पर से निर्णय करना चाहिये। एकदम अन्न छुड़ाने में हानि की भीति नहीं है। जलपान हो सके उतना कम करना चाहिये। दुग्धकल्प में बिल्कुल जल का निषेध नहीं है। दूध को धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये। इस तरह दूध बढ़ जाने पर एक दिन में ५ सेर या अधिक दूध पच जाता है। दूध को सर्वदा शीतल करके ही पीना चाहिये और एक-एक घूँट को खूब हिला-हिला कर पीना चाहिये। इस तरह पीने से आध सेर दूध पीने में सहज १० मिनट लग जाती है।

मुँह में चला-चला कर पीने से दूध जल्दी पचन हो जाता है; तथा आमाशय तथा आँतों में सत्व का शोषण अधिक होता है। दुग्धपान मुँह में चलाये विना जल्दी-जल्दी करते रहने से १० सेर या इससे भी अधिक दूध बढ़ जाता है, फिर भी लाभ कम ही होता है। कारण सत्व शोषण कम होता है; आँतों को कष्ट अधिक पहुँचता है; और प्यास अधिक लगती है। क्षुधा अधिक लगती हो, तो ही दूध अधिक लेना चाहिये। विना क्षुधा दूध बढ़ा देने से मेद बढ़ जाता है; और शक्ति वृद्धि में न्यूनता रह जाती है। मीठा मिलाने से एवं गरम दूध पीने से प्यास अधिक सताती है। जितनी प्यास कम लगे, उतनी रोग निवृत्ति सत्वर होती है।

जिनको प्यास अधिक लगती हो, उनको गोदुग्ध में से अर्क खींच-कर थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहें। एवं दूध के साथ १-१ माशा लवंगादि

चूर्ण (पतला दस्त लगता हो, तो) देते रहें।

यदि संग्रहणी का रोगी है; तो सुबह-शाम च्यवनप्राशावलेह १ से २ तोले तक दूध पीने से १ घण्टे पहले देना चाहिये। च्यवनप्राशावलेह शनैः-शनैः बढ़ावें; अन्यथा पतले दस्त हो जाते हैं।

रोगी को तेज वायु वाले खुले मकान या उष्णता बढ़ती हो, ऐसे टीन वाले मकान में और जहाँ एञ्जिनों की अधिक आवाज़ आती रहती हो, ऐसे स्थान में नहीं रखना चाहिये।

दुग्ध-कल्प के प्रारम्भकाल में कदाच १–२ दस्त अधिक लगें; तो भीति न मानें। दूध से संचित दोष प्रारम्भ में निकल जाता है। दोष होगा, तब तक अग्नि, रक्त या बल की योग्य वृद्धि नहीं हो सकती।

तृषा, दाह, ज्वर और पतले दस्त अधिक आते हैं; तो दूध के साथ पाठादि चूर्ण (र० ५८७) २–२ माशे देते रहना हितकारक है।

दुग्ध-कल्प काल में सुवर्ण पर्पटी प्रातः-सायं दिन में २ समय देते रहें। अधिक ताप रहता हो; तो ताप कम होने तक पञ्चामृत पर्पटी का सेवन करावें। ज्वर और शोथ अधिक हो; तो दोपहर और रात्रि को दुग्धवटी देते रहें। दुग्धवटी शोथ सह ग्रहणी रोग में श्रेष्ठ औषधि है। किन्तु दुग्धवटी में अफीम आती है; इसलिये मात्रा कम देनी चाहिये; और दूषित मल न रुक जाय, इस बात का लक्ष्य रखना चाहिये।

रोगी बालक है; तो सर्वाङ्गसुन्दर रस दिन में ३ समय देते रहें। यह रसायन बड़े मनुष्य को देना हो, तो ज्यादा मात्रा में दिया जाता है।

यदि शूल चलता है या आफरा आता है; तो आवश्यकता पर अग्नि-तुण्डी वटी आध-आध रत्ती दिन में २ समय देते रहें; अथवा सोंठ का तुरन्त कुटा हुआ चूर्ण २ माशे, वराटिका भस्म ४ रत्ती और मिश्री २ माशे मिलाकर दूध के साथ देवें।

यदि कल्प के प्रारम्भ के दिनों में शीत ज्वर हो; पञ्चामृत पर्पटी या दुग्धवटी अनुकूल न रहती हो; तो सतौना की छाल, नीम की अन्तर छाल, गिलोय, सोंठ, सारिवा, रक्तचन्दन, नागरमोथा, इन्द्रजौ, परवल के पत्ते और आँवले का क्वाथ बनाकर दिन में २ या ३ समय ३–४ दिन तक पिलाने से ज्वर चला जाता है। या विषम ज्वर नाशक इतर औषधि

देकर शीत ज्वर को दूर करना चाहिये। कदाच कीनाइन देना हो, तो वह भी दिया जाता है।

इस तरह ४०-५० दिन दूध पर रहने से रोग नष्ट हो जाता है। फिर धीरे-धीरे तक्र-कल्प के अन्त में लिखे अनुसार अन्न सेवन का प्रारम्भ करावें और दूध घटाते जायँ।

दुग्ध-कल्प करने वाले को मट्ठा या खटाई (आँवले के अतिरिक्त) ४-६ मास तक सेवन नहीं करना चाहिये। कल्प के पश्चात् अन्न का प्रारम्भ अति सम्हालपूर्वक करना चाहिये।

दुग्ध के गुण—भगवान् धन्वन्तरि ने लिखा है, कि जीर्णज्वर, कास, श्वास, शोष, क्षय, गुल्म, उन्माद, उदररोग, मूर्च्छा, भ्रम, मद, दाह, प्यास, हृद्रोग, वस्तिरोग, पाण्डु, ग्रहणीदोष, अर्श, शूल, उदावर्त्त, अतिसार, पेचिश, योनिरोग, गर्भस्राव, रक्तपित्त, श्रम और थकान, ये सब विकार दूध के सेवन से दूर होते हैं। गोदुग्ध पापों (सेन्द्रिय विष या बुद्धि को विगाड़ने वाले कुविचारों) का नाश करता है। वलवर्धक, वीर्यवर्धक, कामोत्तेजक, रसायन, बुद्धि को पवित्र करने वाला, सन्धि-स्थानों को दृढ़ बनाने वाला, आयुवर्धक, अवस्था को स्थिर रखने वाला, बृंहण, वमन और विरेचन में सहायक तथा ओजवर्धक है। बालक, वृद्ध, क्षतक्षीण, क्षुधा पीड़ित, मैथुन और व्यायाम से कृश हुए, इन सबको हितकारक है।

गोदुग्ध के गुण—गौ का दूध स्निग्ध, अनभिष्यंदी, रसवहा-नाड़ियों में गुरुता न करने वाला, गुरु और रसायन है। रक्तपित्तनाशक, शीतल, रस और विपाक में मधुर, जीवनीय शक्तिवर्धक, वातपित्तशामक, रुचिकर, स्वादु, वलवर्धक, अति पथ्य, कान्तिकारक, बुद्धिवर्धक, वीर्यवर्धक, हृद्य, रसायन और विषनाशक है।

प्रातःकाल का दूध शीतल, कुछ भारी और विष्टम्भी होता है। सायंकाल का दूध प्रातःकाल की अपेक्षा हलका, श्रमनाशक, वायु को अनुलोम करने वाला और नेत्र को हितावह है।

गौ के दूध में काली गौ का दूध विशेषतः वातनाशक, पीली गौ के

दूध में पित्त और वातनाशक गुण, लाल और चितकबरी गौ के दूध में वातनाशक गुण और सफेद रंग की गौ के दूध में कफ वृद्धि कर और गुरु गुण की अधिकता रहती है।

अजादुग्ध के गुण—बकरी के दूध में गुण गोदुग्ध के लगभग समान हैं। किन्तु क्षयरोगी के लिये यह विशेष हितकर है। दीपन, लघु, संग्राही, श्वास, कास, रक्त और पित्त को नष्ट करने वाला है। बकरी का दूध मल को बांधने में विशेष हितकर है। पचन में गौ के दूध की अपेक्षा हलका है। संसार के सब प्राणियों को क्षय होता है; किन्तु केवल बकरी को ही नहीं होता। इस हेतु से क्षय के जन्तुओं की आबादी आंतों में हुई हो; तो बकरी के दूध का ही सेवन लाभदायक माना गया है।

दुग्धकल्प में थोड़ी शक्ति बढ़ने पर तथा ज्वर शमन हो जाने पर जब धारोष्ण दूध मिले तब धारोष्ण को ही उपयोग में लेवें। शेष समय में गरम किये हुए दूध का सेवन करें। धारोष्ण दूध के लिये एक लोटे या प्याले को गरम कर ऊपर कपड़ा बांध, उसमें गौ या बकरी का दूध निकालना चाहिये। इस धारोष्ण दूध से रक्तवृद्धि बहुत ज्यादा प्रमाण में होती है; आंतों की उष्णता शमन होकर दस्त बन्ध जाता है; और शारीरिक शक्ति की सत्वर वृद्धि होती है।

आम्र-कल्प विधि।

पहले दिन केवल ५ आम प्रातः और ५ आम सायंकाल (सूर्यास्त से १ घण्टे पहले) चूसें। बीच बीच में भूना जीरा, सोंठ और सैंधानमक (नमक अधिक न मिलावें) की चटनी या चूर्ण थोड़ा थोड़ा चाटते जायँ। आम चूसने के ३ घण्टे बाद दूध पिलावें। प्रारम्भ के ४-५ दिन तक थोड़ा चावल देते रहें। आम प्रति दिन एक एक बढ़ाते जायँ। सुखपूर्वक पचन हो और यथेच्छ तृप्ति हो तब तक आम बढ़ावें। इस तरह दूध में भी क्षुधा, तृषा और पाचन शक्ति अनुसार वृद्धि करते जायँ। दोपहर को आम नहीं देना चाहिये। तीन समय आम देने से पचन क्रियासम्यक् नहीं होती। तृषा लगे या क्षुधा लगे; तो दोपहर

को दूध ले सकते हैं। इस कल्प में जल का सेवन नहीं कराया जाता।

इस कल्प के साथ सुवर्ण पर्पटी प्रातः-सायं (आम चूसने के पहले) जीरा और शहद के साथ; तथा दोपहर को २ समय लाही चूर्ण या जातिफलादि चूर्ण १-१ माशा देते रहें। अथवा वराटिका भस्म ४ रत्ती और सोंठ का ताजा कूटा हुआ चूर्ण २ माशे और मिश्री २ माशे मिला कर दूध के साथ दिन में २-३ या ४ वार देवें।

यदि ज्वर हो, तो सुवर्ण पर्पटी के स्थान में पञ्चामृत पर्पटी देवें।

प्यास अधिक लगती हो, तो दूध का अर्क निकाल कर थोड़ा थोड़ा पिलाते रहना चाहिये।

कल्प-काल में हो सके उतनी विश्रान्ति लेनी चाहिये। सूर्य के ताप में घूमना या तेज वायु का सेवन, दोनों का त्याग करना चाहिये। अन्यथा प्यास अधिक लगती है।

इस तरह विधिवत् आम का सेवन करने से १-१॥ मास में ग्रहणी रोग समूल नष्ट हो जाता है; और पचनसंस्था बलवान वन जाती है।

आम देशी, मीठे, पतले रस वाले, ताजे और पाल के पके हुए लेना चाहिये। खट्टे, कच्चे और दुर्गन्धयुक्त (उतरे हुए) आम का सेवन नहीं कराना चाहिये।

आम को चूसने से पहले आध से एक घण्टे तक जल से भरे हुए भगोने में भिगो देना चाहिये।

ग्रहणी रोग में पथ्य—मूंग का यूप, पुराना सांठी और शालि चावल, मसूर का यूप, अरहर का यूष, खीलों का मण्ड, यवागू, शहद, बकरी का दूध, दही, घी और मक्खन; कैथ, गाय का मक्खन निकाला हुआ दही, मट्ठा और दूध का मक्खन; कच्चे वेलफल, कच्चे केले, सेव, परवल, गूलर, नाशपाती, अनार, खजूर; छोटी मछली, हिरन, तीतर, लावा और खरगोश का मांस; मखाने, सिंघाड़े, जामुन, विश्रान्ति, रात्रि को शयन, वमन, लंघन, तिल का तैल, कमलकंद, चिकनी सुपारी, भांग, धनिया, जीरा, सोंठ, काली मिर्च, पीपल, चित्रकमूल, भूनी हींग, इन्द्रजौ, कुड़े की छाल, नागरमोथा, ईसवगोल,

जायफल, अफीम, शहद और कसैले पदार्थों का रस इत्यादि पथ्य हैं। समुद्र की वायु इस रोग में विशेष अनुकूल रहती है।

आमसंग्रहणी, कफसंग्रहणी, ज्वरयुक्त ग्रहणी, मल में रक्त और पीप सह ग्रहणी, इन रोगों में जल गरम कर शीतल करके दिया जाय; तो ताजे जल की अपेक्षा विशेष हितकर है। किन्तु कोई समय उबाला हुआ और कोई समय कच्चा जल देना, यह हानिकारक है।

जीर्ण शोथयुक्त संग्रहणी हो; तो केवल दूध ही पथ्य माना गया है।

रक्तज ग्रहणी में गोदुग्ध के स्थान में बकरी का दूध देना, यह विशेष हितकर है। दूध पिलाने के समय दूध में शक्कर न मिलाना विशेष लाभदायक है। ग्रहणी रोग में अम्लपित्त हो; तो बहुधा खटाई या मट्ठा अनुकूल नहीं रहता।

ग्रहणी रोग में अपथ्य—पहाड़ों पर रहना, टीन के नीचे रहना, अधिक जलपान, दिन में भोजन कर तुरन्त शयन, नया गुड़, दही का पानी, अंगूर, तेज नमकीन पदार्थ, पक्का भोजन, धान की काँजी, संयोग विरुद्ध भोजन, प्रकृति विरुद्ध भोजन, भोजन पर भोजन, अधिक भोजन, रात्रि का जागरण, स्नान, स्त्री-प्रसंग, मल-मूत्रादि वेग का धारण, नस्य, खून निकालना, अञ्जन, स्वेदन क्रिया, धूम्रपान, सूर्य के ताप में घूमना, तेज वायु का सेवन, अग्निसेवन, गेहूँ, उड़द, जौ, मटर, कठोर भोजन, भारी भोजन, पिच्छिल (आँतों में चिटक जाय, वैसा) पदार्थ, आमवर्धक पदार्थ, लहसन, कच्चे, अध पक्के और पक्के खट्टे आम, ककड़ी, खीरा, नारियल, पोई, बथुआ, मकोय आदि पत्ती शाक, गोमूत्र, कस्तूरी, ईख, बेर, तूम्बी, सुहिंजने की फली, कन्द शाक, अधिक नमक, पान, ठण्डाई और लालमिर्च आदि का सेवन अपथ्य है।

चाय, कॉफी, शराब, सिगरेट, बीड़ी, गर्म-गर्म भोजन, गर्म दुग्धपान, मानसिक चिन्ता, परिश्रम, अधिक तैल का सेवन (तैल से प्यास बढ़ती है), दूध में ज्यादा मीठा मिलाना, असमय पर या अनियमित समय पर भोजन, क्षुधा न लगने पर भोजन, अधिक बल वृद्धि की आशा में दूध या मट्ठे का पाचनशक्ति से अधिक सेवन, ये सब हानिकर हैं।

औषधि ज्यादा मात्रा में लेना, यह परिणाम में बाधक है। थोड़ी-थोड़ी मात्रा में अनेक बार औषधि लेना यह हितकर है। कच्चे आम, दूषित रक्त प्रवाह अथवा आँतों में तीव्र दाह-शोथ होने पर अफीम मिश्रित औषधि नहीं देनी चाहिये। अन्यथा आँत अधिक दूषित और निर्बल बनती है; तथा नाना प्रकार के रोगों की उत्पत्ति हो जाती है।

खट्टी वमन होती रहती हो, मुँह में छाले हो गये हों, भोजन कर लेने पर पेट भारी हो जाता हो, रात्रि को पेशाब करने के लिये निद्रा में से उठना पड़ता हो; तो तक्र सेवन या आम्रप्रयोग अनुकूल नहीं रह सकता।

मूत्र में अम्ल प्रतिक्रिया होने पर आँवले के अतिरिक्त सब प्रकार की खटाई हानि पहुँचाती है। किसी को मट्ठा अनुकूल रहता है; किन्तु अनेकों को प्रतिकूल हो जाता है। अतः प्रकृति का विचार करना चाहिये।

मल में आम और दुर्गन्ध आती हो, तो अन्न सेवन से रोग की वृद्धि होकर अधिकाधिक निर्बलता आती जाती है।

चढ़े हुए ज्वर में अन्न दिया जाय; तो प्लीहावृद्धि होती जाती है और सेन्द्रिय विष भी बढ़ जाता है।

(५) आन्त्रिक क्षय।

आन्त्रिक क्षय—इन्टेस्टायनल ट्यूबरक्युलोसिस, Intestinal Tuberculosis।

निदान—यह रोग छोटे बालकों को प्रायः क्षय पीड़ित माता या क्षय पीड़ित गौ का दूध पिलाने से हो जाता है। क्वचित् बड़ी आयु वाले को क्षय रोगी के झूठे भोजन करने पर हो जाता है और फुफ्फुस क्षय के रोगी को कफ निगलने पर आन्त्रिक क्षय हो जाता है।

किसी तरह क्षय के कीटाणु अन्त्र में जाने पर बहुधा छोटी आँत के अन्त भाग की दीवार में रही हुई लसीका ग्रन्थियों पर शोथ उत्पन्न कर देते हैं। फिर शोथ फटकर व्रण हो जाता है। क्वचित् कीटाणु आगे बढ़कर उदर्य्याकला की लसीका ग्रन्थियों पर आक्रमण करता है; तो वहाँ पर भी दाह-शोथ और व्रण हो जाते हैं। यदि व्रण में धमनी या

सिरा फट जाती है, तो रक्तस्राव होने लगता है।

लक्षण—प्रारम्भ में उदरपीड़ा, कोष्ठबद्धता, अग्निमान्द्य, अरुचि, मस्तिष्क भारी रहना और बेचैनी आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। थोड़े-थोड़े दिन पर अन्त्रपुच्छ शोथ (एपेन्डिसाइटिस Appendicitis) के समान उदरशूल के दौरे होने लगते हैं। शूल उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है; अधिक समय तक रहता है; और दौरा भी जल्दी-जल्दी होने लगता है। जब लसीका ग्रन्थियाँ फट कर व्रण हो जाते हैं; तब अतिसार, पेचिश समान उदरपीड़ा, कचित् रक्त आना, उदर का भाग ऊँचा हो जाना, उदर पर दबाने से पीड़ा होना, आफरा, राजयक्ष्मा के सदृश ज्वर बना रहना; यदि बड़ी रक्तवाहिनी फट जाती है, तो बार-बार रक्त मिला हुआ मल गिरना, निस्तेजता और धीरे-धीरे शरीर अस्थिपिञ्जर बन जाना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

यह रोग शनैः-शनैः दारुण होता जाता है; और अन्त में रोगी को मार डालता है। यदि रोगी पथ्य पालन में सम्हाल रक्खे; तो अनेक वर्षों तक जीवित रहता है।

यदि राजयक्ष्मा (फुफ्फुस क्षय) बढ़ने के पश्चात् इस रोग की उत्पत्ति हुई हो; तो रोग बहुधा असाध्य हो जाता है।

चिकित्सा—कमरा, वस्त्र, शय्या आदि को खूब साफ रक्खें। कफ और मल पर मक्खियाँ न हो जायँ, इस बात का भी सम्हाल रक्खें।

सूर्य प्रकाश, प्रातःकाल की सूर्य किरणों का सेवन, स्वच्छ वायु, लघु पौष्टिक भोजन, मन की प्रसन्नता और पूर्ण विश्रान्ति के सेवन का उचित प्रबन्ध करना चाहिये। इनमें मानसिक प्रसन्नता जितनी अधिक रहती है; उतना ही बल बना रहता है।

रोगी को बकरी का दूध, बकरी का मक्खन, बकरी का घी, बकरी के मांस का रस, अण्डे, सन्तरा, मुसम्बी, अंगूर, सेब, अनार आदि फल, थोड़े परिमाण में बादाम-पिस्ता, लहसन की चटनी, इत्यादि क्षय रोगी के समान पथ्य देते रहें। रोगी के कमरे में प्रातः-सायं धूप करते रहें।

इस रोग का बोध होने पर सुवर्णयुक्त रसायन तथा च्यवनप्राशा-

वलेह, वासावलेह (रक्तस्राव अधिक हो, तो) इत्यादि औषधि देने का आरम्भ करना चाहिये। सुवर्ण से क्षय के कीटाणुओं का नाश होता है।

(१) सब अवस्था में जीवन्त्यादि घृत (र० ७१०) भोजन में या औषधि रूप से देते रहें।

(२) जन्तु की वृद्धि रोकने के लिये शृङ्ग भस्म १-१ रत्ती और वातवहा नाड़ियों के संरक्षणार्थ अभ्रक भस्म आध-आध रत्ती, दोनों को मिलाकर दिन में ३ समय शहद से देते रहना चाहिये; या इतर रोग-शामक औषधि के साथ मिलाते रहें।

(३) अतिसार अधिक हो, तो—हेमगर्भपोटली रस दूसरी विधि (र० ४४१) अथवा सुवर्णपर्पटी १-१ रत्ती दिन में ३ समय देवें। प्रातः-सायं च्यवनप्राशावलेह के साथ तथा दोपहर को त्रिकटु, जीरा और शहद के साथ देवें।

च्यवनप्राशावलेह प्रारम्भ में आध-आध तोला देवें। फिर शनैः-शनैः १ तोला तक बढ़ा देवें। च्यवनप्राश देने के १ घण्टा तक दूध या जल नहीं देना चाहिये।

(४) तालीसादि चूर्ण भाँग मिश्रित (र० ५६४), जातिफलादिचूर्ण (र० ५६६) या लवंगादि चूर्ण (र० ५६७), इनमें से अनुकूल औषधि का सेवन कराते रहने से पचनक्रिया सबल बन जाती है और रोग नाश होने में सहायता मिलती है।

रोज ताप बढ़ जाता हो, तो जब तक ताप कम हो अर्थात् सुबह के समय सुवर्ण पर्पटी कम मात्रा में देवें। दोपहर और शाम को ताप बढ़ जाने पर पञ्चामृत पर्पटी देते रहें।

(५) ज्वर और अतिसार, दोनों सामान्य रूप से हों, तो सूतशेखर (र० ५०६) दाड़िमावलेह या अदरख के रस और शहद के साथ दिन में ३ समय देते रहना अति हितकर है।

(६) अतिसार कम है, तो— सुवर्णमालिनी वसन्त (र० ३६६), जयमंगल रस (र० ३८१ ज्वर अधिक है तो भी), महामृगाङ्क रस (र० ४३६ पित्ताधिकता है तो दाड़िमावलेह के साथ),

ग्रहणीशार्दूल रस (संग्रहणी चिकित्सा में लिखा हुआ), इन औषधियों में से अनुकूल औषधि देते रहें। ये सब औषधियाँ अति लाभदायक हैं। सब बार-बार उपयोग में ली जाती हैं।

(७) प्रवाहिक हो, तो—हेमगर्भपोटली रस के साथ शंखोदर रस (र० ४१३) या दुग्धवटी (र० ४११) या इतर अफीम वाली औषधि बहुत कम मात्रा में (चौथाई मात्रा में) मिलाकर दी जाती है।

(८) रक्त अधिक जाता है, तो चन्द्रकला रस (र० ४३७) वासावलेह के साथ दिन में ३ समय देते रहने से सत्वर बन्द हो जाता है।

(९) शूल शमनार्थ—शङ्ख भस्म (र० २६३), शूलवज्रिणी वटी (र० ४७२), हिंगुल रसायन दूसरी विधि (रक्तस्राव न हो, तो र० ४७४), इनमें से अनुकूल औषधि शूल चलने पर देने से शूल सत्वर बन्द हो जाता है। आवश्यकता हो, तो १ घण्टे पर दूसरी मात्रा देवें।

विशेष चिकित्सा राजयक्ष्मा रोग के अनुसार करना चाहिये।

इस रोग वाले अनेक रोगी डाक्टरों के रजा दे देने पर सुवर्णपर्पटी के सेवन से नीरोगी हो गये हैं। इस रोग में सुवर्णमिश्रित औषधि उत्तम मानी गई है। उपद्रव, लक्षण या अवस्था भेद से सुवर्ण की भिन्न-भिन्न कृति को प्रयोग में लाया जाता है; एवं उपद्रवानुसार अनुपान में भेद किया जाता है।

अनेक स्त्री रोगियों को सूतशेखर रस और लवंगादि चूर्ण का सेवन कराने से स्वस्थ हो गई हैं।

बालकों को क्षय होने पर ऊपर लिखी हुई औषधियाँ कम मात्रा में दी जाती हैं। एवं ग्रहणीशार्दूल रस, सर्वाङ्गसुन्दर रस और कुमारकल्याण रस (र० ५१७) भी अति हितकर हैं। रोग प्रारम्भ होने पर यदि बालार्क गुटिका (र० ५१९) का सेवन कराया जाय, तो इस सामान्य औषधि से भी रोग शमन होकर बालक पुष्ट बन जाता है।

हमें ३-४ बालक ऐसे मिले थे, जो अस्थि-पिञ्जरवत् हो गये थे, जिनके हाथ-पैर पर शोथ आगया था, ज्वर ९९ से १०२ डिग्री तक रहता था, अतिसार भी बढ़ा हुआ था; ऐसी भयप्रद स्थिति में सर्वाङ्ग सुन्दर

रस (र०५२०) और कुमारकल्याण रस के सेवन से वे सब स्वस्थ हो गये।

पथ्यापथ्य—राजयक्ष्मा रोग के अनुसार पथ्य पालन करें। बच्चे के लिये माता का दूध दूषित हो, तो छुड़ा देना चाहिये। बकरी का दूध छोटे और बड़े, स्त्री और पुरुष, सब प्रकार के राजयक्ष्मा के रोगियों के लिये अमृत रूप है।

रोगी को स्नान नहीं कराना चाहिये। गरम जल में वस्त्र भिगोकर शरीर को पोंछ लेवें; तथा रोगी को पूर्ण विश्रान्ति देनी चाहिये।

मकान, वस्त्र और शरीर की स्वच्छता पर पूर्ण लक्ष्य रखना चाहिये। खेत या जंगलों में कुटी बनवाकर रोगी को रखना विशेष हितकर है। किन्तु बाग में जहाँ वृक्षों को रोज जल पिलाया जाता है, वहाँ नहीं रखना चाहिये। जल गरम कर शीतल किया हुआ देना चाहिये।

यदि रोगी सबल है, तो केवल बकरी के दूध पर रख देने से लाभ जल्दी पहुँच जाता है।

रोगी के कमरे में प्रातः-सायं धूप करते रहना चाहिये।

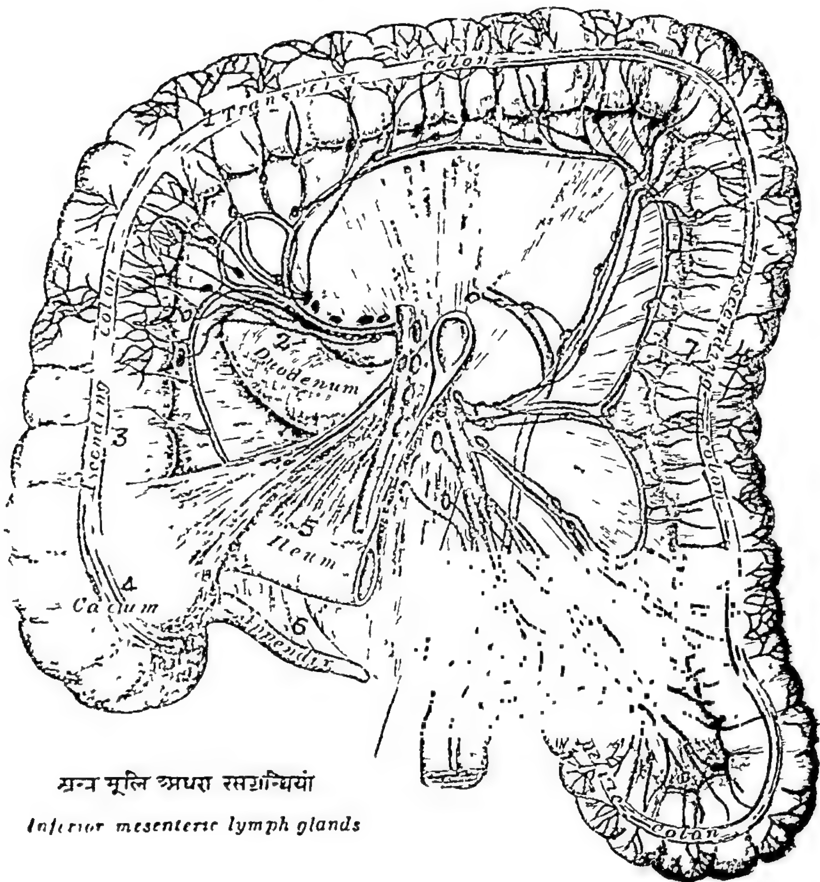
(६) कोष्ठबद्धता।

कोष्ठबद्धता, विबन्ध, मलावरोध, विट्संग, विष्टब्धता, आनाह, कब्ज—कॉन्स्टिपेशन Constipation।

नियमित समय पर दस्त न होने और मल कठिन होकर देर से मल शुद्धि होने को कोष्ठबद्धता या कब्ज कहते हैं।

सामान्य अवस्था में आज सुबह किये हुए भोजन का निःसत्व अंश (मल) दूसरे दिन सुबह शरीर में से बाहर निकल जाना चाहिये। जब ३६ घण्टे से अधिक समय तक मल आँतों में शेष रह जाता है; तब वह कब्ज कहलाता है। ज्वरादि अनेक रोगों में कब्ज रूप उपद्रव रहने से वे रोग सत्वर दूर नहीं होते। इतर रोगों में कब्ज होना, यह उपद्रव कहलाता है; और पाचनसंस्था या आँतों की निर्बलता के हेतु से मल शुद्धि में सर्वदा रुकावट होकर मलावरोध होता रहे; तब मुख्य रोग कहलाता है। इस मुख्य रोग का ही अत्र वर्णन किया जाता है।

वृहदन्त्र (रसायनियां सह)



१ अनुप्रस्थ अन्त्र Transverse Colon
२ ग्रहणी Duodenum
३ आरोही अंत्र Ascending colon
४ उण्डुक Coecum
५ शेषान्त्रक (क्षुद्रान्त्र का सिरा) Ileum
६ आन्त्रपुच्छ Appendix
७ अवरोही अन्त्र Descending Colon
८ अवरोही अन्त्र का अन्त भाग और कुण्डलिका भाग Ileo pelvic Colon

इस रोग का विशेष सम्बन्ध बड़ी आँत से रहता है, अतः पहले यहाँ उसके विभाग का संक्षिप्त वर्णन करते हैं। इस व्याधि का आमाशय और छोटी आँत से भी सम्बन्ध है; किन्तु इसका विवेचन पहले हो चुका है।

बड़ी आँत की लम्बाई लगभग ५ फीट है। दहिना वंक्षणोत्तरिक प्रदेश में छोटी आँत के संगम स्थान से यकृत् तक ऊपर जाकर आड़ी होकर बाँयी वंक्षणोत्तरिक प्रदेश में नीचे उतरती है। इस आँत का शिष्यों के ज्ञानार्थ आचार्यों ने ६ भाग किये हैं। उण्डुक, आरोहिभाग, अनुप्रस्थभाग, अवरोहिभाग, कुण्डलिका और गुदनलिका।

(१) उण्डुक (पुरीषोण्डुक)—इसका देखाव थाली के समान है। लगभग ३॥ अंगुल चौड़ा है। छोटी आँतड़ी का सिरा, बाँयी बाजु से इसमें प्रवेश करता है। इस उण्डुक में २ कपाटिकाएँ हैं, जो मल को छोटी आँत में वापस नहीं जाने देतीं।

इस भाग में लगभग ४ अंगुल की लम्बी पतली नली उण्डुकपुच्छ-अन्त्रपुच्छ (एपेन्डिक्स Appendix) लगी है। प्रकृति भेद से यह नली न्यूनाधिक लम्बी होती है। इस भाग में क्वचित् मल की गोली या अनाज का दाना या इतर वस्तु चली जाय तो इस पर शोथ आ जाता है। फिर पीप बन जाता है। धीरे-धीरे वह भाग सड़ने लगता है, ऐसा होने पर मलावरोध और इतर अनेक उपद्रव होते रहते हैं।

(२) आरोहिभाग—लगभग ६ इञ्च लम्बा है। छोटी आँत के संयोग-स्थान से यकृत् तक ऊपर गया है।

(३) अनुप्रस्थ भाग—यकृत् के नीचे से प्लीहा के कोने तक आड़ा रहा है, लगभग २० इञ्च लम्बा है।

(४) अवरोहिभाग—यह अन्त्र भाग प्लीहा के नीचे के कोने से बाँयी कुक्षि तक नीचे उतरता है।

(५) कुण्डलिभाग—अवरोहि आँत के नीचे का हिस्सा जो लुप्त अकार 'S' के चिह्न सदृश है, उसे कुण्डलिका भाग कहते हैं।

(६) गुदनलिका—बड़ी आँत के कुण्डलिका भाग के आगे का हिस्सा जो सरल है; वह लगभग ६ से ८ इञ्च लम्बा है; और गुदा द्वार के साथ मिल जाता है; अतः उसे गुदनलिका कहते हैं। पुरुष शरीर में गुदनलिका के आगे मूत्राशय और स्त्री शरीर में गर्भाशय रहता है।

गुदनलिका के भीतर लगभग अर्धचन्द्राकार आकृति वाली ३ (क्वचित् ४) आड़ी वलियाँ रही हैं। इनमें से एक दाहिनी ओर दूसरी इससे कुछ नीचे बाँयी

ओर और तीसरी सबसे बड़ी वलि बस्ति के पीछे गुदनलिका के आगे लगी है। जब गुदनलिका संकोचित रहती है, तब यह वलियाँ परस्पर मिलकर बड़ी आँत के अन्तिम कुण्डलिका भाग में संचित मल को नीचे से आधार देती हैं। जब मल नीचे उतर कर गुदनलिका में प्रवेश करता है; तब वे सब पृथक् हो जाती हैं; और मल निकल जाने पर पुनः मूल स्थिति में आ जाती हैं।

गुदाद्वार—गुदनलिका महास्रोत के नीचे का हिस्सा, जो दोनों नितम्बों के बीच और अनुत्रिकास्थि के आगे रहा हुआ है; उसे गुदद्वार और पायु कहते हैं। इस पायुद्वार से मल त्याग होता है।

मल को गुदनलिका में नीचे उतारने के लिये उदरपेशियाँ और उत्तर गुदा का संकोच तथा पायुधारिणी पेशी का शिथिल होना, इन क्रियाओं की आवश्यकता रहती है। पश्चात् गुदनलिका के सब भाग क्रमशः ऊपर से नीचे संकोचित होने से धक्का लगकर मल बाहर निकल जाता है। तदनन्तर पुनः दो गुदसंकोचनी पेशियाँ और पायुधारिणी पेशी का संकोच हो जाने से गुदद्वार बन्द हो जाता है। इस तरह इस यन्त्र में सब क्रियाएँ नियमपूर्वक होती रहें, तब तक शरीर नीरोगी और मन प्रसन्न रह सकते हैं।

छोटी आँत में से आहार का शेष अंश (मल) बड़ी आँत में आता है; तब वह बड़ी आँत की मन्दगति द्वारा ऊपर चढ़ना, आड़ी गति करना फिर उतरना, इस तरह आगे बढ़ता है। बड़ी आँत में आहार रस आने पर अधिक पतला होता है, फिर जैसे-जैसे आगे बढ़ता है वैसे-वैसे उसमें से द्रव अंश का शोषण होता जाता है और अन्त में वह गाढ़ा होकर मलाशय में संचित होता जाता है। पश्चात् वह गुदाद्वार से बाहर निकल जाता है।

जब आमाशय, छोटी आँत, यकृत् या अग्न्याशय में से रस पूरा नहीं मिलता, तब मल में दुर्गन्ध हो जाती है; और भोजन का पाक अच्छी तरह नहीं होता। यह बात पहले अतिसार के नोट में लिख दी है।

जब आँतों में मल सड़ता है, तब बेक्टीरिया नामक कीटाणु उत्पन्न होते हैं। जो (इण्डोल Indol) और (स्कटोल Skatol) आदि विष को उत्पन्न करते हैं। इन विषोत्पत्ति के हेतु से भी मल में दुर्गन्ध आने लगती है।

मलावरोध होने के पश्चात् इन इण्डोल और स्कटोलादि विषों का शोषण रक्त में होने पर नाना प्रकार की व्याधियों की उत्पत्ति हो जाती है। इस हेतु से मलावरोध को अति घातक शत्रु मानकर सत्वर दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।

वर्त्तमान में इस बद्धकोष्ठ की जितनी अधिकता प्रतीत होती है; उतनी प्राचीनकाल में नहीं थी। कारण संयम, परिश्रम, परोपकार, सेवा-धर्म पालन,

निश्चिन्तता, पवित्रता और सदाचार आदि सद्गुण वर्त्तमान की अपेक्षा भूतकाल के मानव जीवन में अत्यधिक परिमाण में थे। वर्त्तमान में बाललग्न, आहार-विहार में स्वच्छन्द वृत्ति, नाना प्रकार के शराब, सिगरेटादि के व्यसन, दुराचार, निर्धनता, चिन्ता, आलस्य आदि बढ़ जाने से वंशपरम्परागत निर्बलता बढ़ती जाती है। इनके अतिरिक्त नव्य समाज ने नैसर्गिक नियमों का भंग कर प्रकृति को बिल्कुल पराधीन और निर्माल्य बना दी है। इन हेतुओं से संसार में बद्धकोष्ठ का अड्डा जम गया है।

प्राचीनकाल में इस व्याधि का प्रभाव कथनमात्र का होने से शास्त्रीय ग्रन्थों में इस बद्धकोष्ठ का वर्णन पृथक् रोग रूप से नहीं लिखा गया। फिर भी भगवान् धन्वन्तरि कथित आनाह रोग से कुछ अंश में मेल हो सकता है।

डाक्टरी में अतिसार को जैसे अनेक रोगों में मुख्य लक्षण रूप माना है। वैसे ही इस कब्जियत को भी महत्त्व के लक्षण रूप माना है। मलावरोध होने पर आँत में सेन्द्रिय विष (इन्टेस्टाइनल टोक्सिन्स Intestinal Toxins) की उत्पत्ति हो जाती है, जो प्रकृति को अति बाधक होती है। इस हेतु से पाश्चात्य चिकित्सकों ने इस व्याधि को अधिक महत्त्व दिया है।

नियमित मलशुद्धि होने में आमाशय की पचन क्रिया; यकृत्, अग्न्याशय और छोटी आँत के पाचक रसस्रावी पिण्डों की क्रिया, आहार की आँत्र में होने वाली गति तथा स्थूलान्त्र में रसशोषण क्रिया, ये सब सम्यक् प्रकार से होनी चाहिये। इनके अतिरिक्त आन्त्रस्थ वातवहा नाड़ियों की सबलता और मानसिक अतिश्रम, चिन्ता, शोकादि का अभाव, ये भी नियमित मलशुद्धि में हेतु माने जाते हैं।

जो मनुष्य प्रति दिन चाय, सिगरेट, विरेचन औषधि या बस्ति आदि क्रिया द्वारा मलशुद्धि करते रहते हैं, वे सब नैसर्गिक नियमों का भंग करते हैं। आँतों को निर्माल्य बनाते हैं। आगे चाय, या विरेचन औषधि आदि की मात्रा बढ़ती ही जाती है; और अन्त में वे पराधीन (व्यसन से बद्ध) हो जाते हैं। फिर तन और मन, दोनों निर्बल हो जाने से इच्छा होने पर भी व्यसन नहीं छूट सकता; बार-बार अनेक व्याधियों का आक्रमण होता रहता है; और शेष जीवन अति दुःख-

दायी और अस्वाधीन वन जाता है।

निदान—आहार-विहार में स्वच्छन्द वृत्ति, प्रकृति के प्रतिकूल-भोजन, भोजन पर भोजन, शुष्क भोजन, स्वल्प भोजन, उपवास, अति-स्निग्ध भोजन, मृदु पदार्थ का अत्यन्त आहार, वार-वार विरेचन लेना, शोक, चिन्ता, उदर को शीत लग जाना, आन्त्र रोग, अन्त्र से सम्बन्ध वाली इन्द्रियों की विकृति, आन्त्रस्थ विकृति, आन्त्रस्थ वातवहा नाड़ियों की निर्वलता और पाचक रसस्राव की न्यूनता आदि कारणों से वद्धकोष्ट रोग की सम्प्राप्ति होती है।

अनेक मनुष्यों में आंतों के ज्ञानतन्तु निर्माल्य हो जाते हैं। जिससे आंतों मे आहार रस का मथन और आगे गति कराने की क्रिया यथोचित नहीं होती। वाल्यावस्था से गर्म चायआदि का सेवन कराने से अनेक रोगियों में आंतों के ज्ञानतन्तु शिथिल हो जाने से वचपन से ही यह रोग प्रतीत होता है। इस हेतु से इनके शारीरिक अवयव, मस्तिष्क और वुद्धि के विकास में भी न्यूनता रह जाती है। अतः वुद्धिमानों को चाहिये कि इस रोग की उत्पत्ति न होने के लिये पहले से ही आवश्यक ध्यान दें।

आग्नेय रस और सौम्य रस के शोषण के लिए प्राणदा नाड़ियों के तन्तु (वेगी नर्व फाइवर्स Vagi Nerve fibers) और इड़ापिंगला नाड़ियों के तन्तु (सिम्पथेटिक नर्व फाइवर्स Sympathetic Nerve fibers) जवावदार माने गये हैं। इनमें प्राणदा नाड़ी के तन्तु गति का रोध करते हैं; और इड़ापिंगला के तन्तु गति की वृद्धि करते हैं। इस तरह दोनों एक दूसरे पर अंकुश रखते हुए आंतों की क्रिया में अपने वल अनुसार सहायता प्रदान करते रहते हैं। ये तन्तु निम्न कारणों से जव शिथिल वन जाते हैं; तव अपना कार्य यथोचित नहीं कर सकते।

आन्त्रस्थ ज्ञानतन्तु की निर्वलता के हेतु—पाण्डु, सांसर्गिक ज्वर, चिरकारी वृक्कदाह, मस्तिष्क व्याधि, अपस्मार और उन्माद आदि ज्ञानतन्तु की व्याधि, ऊरुस्तम्भ, श्रम का अभाव, वृद्धावस्था, शारीरिक निर्वलता, मलमूत्र के वेग का अवरोध, चिरकारी अजीर्ण

रोग, अधिक सन्तान हो जाने से या इतर कारणों से उदर के ज्ञानतन्तु शिथिल हो जाने, गर्भाशय या बीजकोश की व्याधि, अफीम आदि औषधियों का अति सेवन, इन कारणों से आंतों के तन्तु निर्बल हो जाते हैं।

कब्ज होने पर बड़ी आंत में मल संचय हो जाता है। फिर उसको आगे चलाने के लिये प्रचोदन शक्ति विशेष चाहिये, इस हेतु से आन्त्रस्थ ज्ञानतन्तुओं की वृद्धि (Hypertrophy) होती जाती है। परिणाम में वे निर्बल हो जाते हैं। पश्चात् मल के दबाव से ये ज्ञानतन्तु पतले होते जाते हैं, और आंत के भीतर का भाग चौड़ा होता जाता है।

अन्त्रस्थ इतर कारण—आंत्रसंकोच (बहुधा प्रवाहिका आदि रोगों में या इतर हेतु से उदर्य्याकला के दाह-शोथ के पश्चात् चिकना-स्राव होने से आंतों के हिस्से परस्पर चिटक जाते हैं; जिससे इनको दब कर रहना पड़ता है; फिर आंतें सिकुड़ जाती हैं), अन्त्रस्रोतःसंकोच, अन्त्रस्थानभ्रंश, बड़ी आंत के भीतर का भाग चौड़ा हो जाना, गुद नलिका में शोथ, उदर में अर्बुद या गुल्म हो जाना, अर्श, गुदभेद, मेदवृद्धि, विटप (पेडु-पेरिनियम Perineum) की शिथिलता और उदर्य्याकला का किसी इन्द्रिय के साथ चिटक जाने से आंतों पर दबाव कम पड़ना, इन कारणों से भी कब्जियत होने लगती है।

अन्त्रस्रोतःसंकोच, अन्त्रस्थानभ्रंश और अन्त्रविस्तार, इनसे मल संचय होने के पश्चात् जब ऊपर से दबाव अधिकांश में पड़ता है, तभी नीचे जा सकता है। एवं गुदनलिका में दाह-शोथ होने पर वहाँ मल के द्रवभाग का शोषण होकर शुष्क बन जाता है। जिससे ऊपर बहुत दबाव पड़ने पर ही मल बाहर निकल सकता है।

अर्श और गुदभेद में मल त्यागने के समय पीड़ा होती है; जिससे रोगी निरुपाय होकर प्रवाहण क्रिया कम करता रहता है। परिणाम में कुण्डलिका भाग या गुदनलिका के भीतर मल शेष रह जाता है।

कचित् मल अति शुष्क बन जाने पर आगे जाने के समय श्लैष्मल त्वचा को तोड़ता जाता है। जिससे उसमें से रक्त निकलने लगता है। इस तरह कचित् शुष्क मल का दबाव उदर की शिराओं पर पड़ता है;

जिससे गुदद्वार की रक्तवाहिनियाँ फूल जाती हैं; उसे अर्श संज्ञा दी है। इस अर्श रोग से कब्ज और कब्ज से अर्श, इस तरह दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध हो जाता है; और इसी हेतु से पुरुषों में अण्डकोष की शिराओं की वृद्धि भी हो जाती है।

मेदवृद्धि, विटप की शिथिलता और उदर्य्याकला का चिटकना, इन तीन कारणों से मल को प्रवाहण करने (काँढ़ने) की क्रिया यथोचित नहीं हो सकती; जिससे मल शुद्धि में प्रतिबन्ध होता रहता है।

उदर्य्याकला चिटक जाने का हेतु विषम भोजन और विरुद्ध भोजन है; इन कारणों से या मल का वेग बढ़ने से या कूदने उछलने आदि हेतुओं से आंत स्थानभ्रष्ट हो जाती है। फिर इन आंतों को स्थान पर स्थित रखने के लिये उदर्य्याकला संलग्न हो जाती है। इस हेतु से इसका यथोचित् संकोचविकास नहीं हो सकता; और संकोच काल में आंत पर दबाव कम हो जाता है। जिससे मनुष्य मल को बाहर निकालने के लिये योग्य प्रवाहण नहीं कर सकता, परिणाम में कब्ज होने लगती है।

अनेक मनुष्यों ने अपनी आदत बिगाड़ दी है। जिससे उनको पाव आध घण्टे तक बैठा रहना पड़ता है। वे बारबार काँछते रहते हैं; तब बड़ी कठिनता से मल विसर्जन होता है। इस तरह स्वभाव बना लेने में प्रकृति निर्बल बनती है। बड़ी आयु होने पर, या इतर व्याधि हो जाने पर एवं प्रवासकाल में कष्ट होता है। इसलिये नियमित समय पर जाने और २-३ मिनट से अधिक समय न बैठने का अभ्यास रखना चाहिये। कचित् शौच शुद्धि न हो, तो बार-बार कांछ-कांछ कर मल-त्याग का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। अधिक बल लगाकर मल त्याग करने से आन्त्रिक ज्ञानतन्तु शिथिल बनते हैं; और कब्ज रोग दृढ़ हो जाता है।

अनेक मनुष्य बार-बार जुलाब लेते रहते हैं, जिससे आँतों को शक्ति से अधिक कार्य करना पड़ता है। जिस तरह अधिक परिश्रम करने पर अधिक समय तक विश्रान्ति लेनी पड़ती है, उस तरह आँतों को भी विरेचन के पश्चात् अधिक शान्ति की आवश्यकता रहती है। किन्तु आवश्यक शान्ति न मिलने पर वे अपना कार्य सुचारु रूप से नहीं

कर सकती। इसलिये विरेचन से उदरशुद्धि हो जाने के पश्चात् पुनः थोड़े ही समय में मलसंग्रह हो जाता है। पश्चात् पुनः-पुनः विरेचन औषधि लेते रहते हैं। जिससे बार बार जुलाब लेने का व्यसन हो जाता है।

मलावरोध होने पर मल में से सेन्द्रिय विष का रक्त में शोषण हो जाता है, फलतः नाना प्रकार के स्थानिक और सार्वदैहिक विकारों की उत्पत्ति हो जाती है। स्थानिक विकारों में आन्त्रपुच्छदाह-शोथ (एपेण्डिसाइटिस Appendicitis), आंत्रव्रण, आमाशय की शिथिलता, आमाशयगत व्रण या अर्बुद, उदरशूल, कृमि, आध्मान, मुँह में से दुर्गन्ध आना, दन्तवेष्ट (पायोरिया Pyorrhoea) और अर्श, ये मुख्य हैं।

सार्वदैहिक विकारों में स्मरणशक्ति कम होना, चित्त की अप्रसन्नता, क्रोधवृद्धि, रक्ताभिसरण क्रिया में प्रतिबन्ध, शिरःशूल, निद्राभंग, हृदय के वेग की वृद्धि, अरुचि, अग्निमांद्य, निस्तेजता, दर्शनशक्ति में न्यूनता, हाथ-पैर टूटना, हाथ-पैर शीतल होना, आलस्य, कार्य में निरुत्साह, निर्बलता, ज्वर, कफ वृद्धि, प्रमेह, स्वप्नदोष और शुक्रस्राव आदि होजाते हैं। इनके अतिरिक्त स्त्रियों में वृक्कस्थान भ्रंश, गर्भाशय का पीछे की ओर पतन, स्तन रोग और मूत्राशय में विकृति, ये रोग हो जाने की भी सम्भावना रहती है। इनके अतिरिक्त परम्परागत अतिसार, प्रवाहिका, बहुमूत्र और तमकश्वास आदि अनेक व्याधियों की उत्पत्ति हो जाती है।

जो मनुष्य वस्ति से उदर शुद्धि करते रहते हैं, उनकी मान्यतानुसार वस्ति से विरेचन के समान दोनों आँतों को परिश्रम नहीं पहुँचता; केवल बड़ी आँत को सामान्य कष्ट पहुँचता है; और लाभ अधिक होता है। कदाच यह मान्यता सत्य हो, फिर भी बार-बार वस्ति लेते रहना, यह क्रिया नैसर्गिक नियम से विरुद्ध होने से बड़ी आँत को निर्बल और पराधीन बनना पड़ता है। एवं वस्ति में लिये हुए द्रव में से कुछ अंश का शोषण रक्त में हो जाता है; जिससे अनेक व्याधियों की उत्पत्ति हो जाती है; एवं ज्ञानतन्तुओं को आघात भी पहुँचता है। इसी हेतु से भगवान् धन्वन्तरि ने सुश्रुत-संहिता में लिखा है; कि:—

स्नेहवस्ति निरूहं वा नैकमेवातिशीलयेत् ।
स्नेहादग्निवधोत्क्लेशौ निरूहात्पवनाद्भयम् ॥

× × × ×

सम्यङ्निरूढलिङ्गे तु प्राप्ते वस्तिं निवारयेत् ।
अपि हीनक्रमं कुर्य्यान्न तु कुर्यादतिक्रमम् ॥

स्नेह वस्ति या निरूह वस्ति, इन दो में से किसी एक का सेवन वार-वार नहीं करना चाहिये । कारण, स्नेह वस्ति से जठराग्नि का नाश और उत्क्लेश की उत्पत्ति; तथा निरूह वस्ति से वातप्रकोप का भय रहता है ।

जब सम्यक् प्रकार निरूहण हो जाय, तब वस्ति कर्म वन्द कर देना चाहिये । इस वात को लक्ष्य में रक्खें कि हीन क्रम भले ही हो; किन्तु अति क्रम अर्थात् मर्यादा से अधिक वार वस्ति कर्म नहीं करना चाहिये ।

इस दृष्टि से वस्ति का व्यसन भी दुःखदायी ही है । वस्ति के व्यसनी कुछ काल तक अपथ्य भोजन और असमय पर भोजन से हानि होते हुए भी हानि का अनुभव नहीं कर सकते । किन्तु व्यसन से वद्ध हो जाने के पश्चात् पछताते रहते हैं । इस तरह स्वाभाविक नियमों को तोड़ने वाले सबको कष्ट पहुँचा है; और पहुँच रहा है । अतः बुद्धिमानों के लिये ईश्वररचित नियमों के अनुकूल जीवन वना लेना, वही मलावरोध और इतर सब प्रकार के रोगों से वचने का श्रेयस्कर मार्ग है ।

सुश्रुताचार्य कथित आनाह के लक्षण—आम अथवा मल क्रम से (वड़ी आँत में) संचित हो; फिर प्रकुपित वायु से वद्ध होकर या सूखकर अपने मार्ग द्वारा वाहर न निकल सके; तब वह आनाह रोग कहलाता है ।

यदि आम (अपचन होने के पश्चात् कच्चे आहार रस) से आनाह रोग हुआ हो, तो तृषा, प्रतिश्याय, शिरःशूल या मस्तिष्क में दाह, आमाशय में शूल, उदर में भारीपन, हृदय का जकड़ना और डकार रुकना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं ।

मलसंग्रह (रोज थोड़ा-थोड़ा मल शेष रह जाने के हेतु से होने वाला मल संचय) से आनाह होने पर कमर और पीठ जकड़ना, मल-मूत्र की

अप्रवृत्ति, उदरशूल, मूर्च्छा, मल की वमन, तमकश्वास, तथा अलसक रोग में कहे हुए आफरा, अधोवायु का रुकना और आहार की सम्यक् गति न होना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

बद्धकोष्ठ के लक्षण—मल का रुकना यह मुख्य लक्षण है। शिरःशूल, आध्मान, उदर में भारीपन, दुर्गन्धयुक्त अधोवायु निकलना, उदरशूल, अंग टूटना, अरुचि, अग्निमांद्य, मन्दज्वर, अशान्त निद्रा, चक्कर, बेचैनी, आलस्य और निर्बलता आदि में से न्यूनाधिक प्रतीत होते हैं। इन लक्षणों में से कभी अमुक प्रकार के लक्षण तो दूसरी बार कुछ दूसरे लक्षण भी हो जाते हैं। इस तरह एक मनुष्य के लिये एक प्रकार के लक्षण और दूसरे के लिये दूसरे प्रकार के लक्षण, ऐसा भेद भी हो जाता है।

अनेकों को दिन में २-३ समय मलत्याग होता है; तब अनेकों का अभ्यास २४ घंटे में १ वार ही शौच जाने का होता है। एक समय शौच जाने वालों को १ वार या २-३ समय जाने वालों को २-३ वार नियमित समय पर मलत्याग न हो, तो कब्ज माना जाता है। किन्तु जलपान कम होने से या स्वादु भोजन न मिलने पर अथवा आहार कम होने से या रात्रि को शीत लग जाने से कुछ घण्टाओं के लिये कभी मल रुक जाय; तो उसके लिये भ्रमित होकर ओषधि का सेवन नहीं करना चाहिये। प्राकृतिक नियमों के अनुकूल प्रकृति को बनाकर नियमित शौच-शुद्धि का प्रयत्न करना चाहिये।

आम जनित आनाह के लक्षण अपचन जनित नूतन मलावरोध में मिलते हैं; तथा मल जनित आनाह के लक्षण बड़ी आंत विस्तृत और शिथिल हो जाने के पश्चात् मल की अधिक रुकावट होने पर होता है। किन्तु वर्त्तमान में जो कब्ज प्रतीत होता है, उसमें प्रायः प्रतिदिन कुछ अंश में मल शेष रह जाना, दोनों आंतों की शिथिलता, पाचक रस की कम उत्पत्ति; वात, पित्त, कफ, तीनों दोषों की निर्बलता, प्रमेह और शुक्रविकृति आदि लक्षण भी देखने में आते हैं।

चिकित्सा—मूल कारण को हटाना चाहिये। धैर्यपूर्वक प्रकृति अनुरूप आंतों को बलवान बनाने का ईश्वरदत्त उपाय करना चाहिये

अर्थात् उपःपान (प्रातःकाल उठने के समय जलपान), व्यायाम, नियमित समय पर प्रकृति के अनुकूल परिमित भोजन, आवश्यक निद्रा, रात्रि को जल्दी सो जाना, सुवह जल्दी उठना, शुद्ध वायु का सेवन, मल-मूत्रादि वेगों को न रोकना, दिन में भोजन कर लेने पर पौन घण्टा विश्रान्ति, दिन में निद्रा न लेना, ब्रह्मचर्य, मानसिक चिन्ता का त्याग और धैर्य आदि नियमों का आग्रहपूर्वक पालन करना चाहिये।

स्वास्थ्य का संरक्षणार्थ श्री०वाग्भट्टाचार्य ने लिखा है, कि :—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते उत्तिष्ठेत्स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।

मनुष्य को स्वस्थता और आयु के रक्षणार्थ ब्राह्म महूर्त्त में सूर्योदय से १॥ घन्टे पहले उठना चाहिये।

उषःपान—प्रातःकाल उठने पर ईश्वर का ध्यान कर फिर जल के ४–६ कुल्ले करें। पश्चात् उपःपान अर्थात् जलपान करना अत्यंत लाभदायक है। जिस तरह मोरी जल से धोने पर साफ हो जाती है, उस तरह उपःपान से रक्त, आंतें और मल-मूत्राशय आदि साफ हो जाते हैं; और विना प्रयत्न अनेक रोग की उत्पत्ति में प्रतिवन्ध हो जाता है। दर्शनशक्ति, घ्राणशक्ति, पचनक्रिया और स्मरणशक्ति की वृद्धि होती है।

रात्रि के तृतीय प्रहर के अन्त में उपःपान करने से अर्श, शोथ, संग्रहणी, ज्वर, उदररोग, अकाल में वृद्धावस्था, मलावरोध, मेदवृद्धि, मूत्राघात, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, पित्तप्रकोप, वातवृद्धि, कर्ण रोग, शिरदर्द, कण्ठ रोग, कटिपीड़ा, नेत्र की निर्वलता तथा वातज, पित्तज, क्षतज, कफज, द्वन्द्वज और त्रिदोषज व्याधियां दूर हो जाती हैं।

उपःपान के लिये जल को ताम्रपात्र में रात्रि को भर कर रख देवें। सुवह ऊपर से थोड़ा जल निकाल कर छान लेवें, पश्चात् लगभग आधा सेर जल पी लेवें। शीत काल में कुछ कम और उष्ण काल में कुछ अधिक लेवें। शीत काल में जल अति शीतल न हो जाय, इसलिये जल को सम्हालपूर्वक रक्खें अर्थात् लोटे पर वस्त्र ढक दें या ताजा कूप जल निकाल कर पीवें।

सूचना—यह जलपान नूतन ज्वर, आमवृद्धि, कफप्रकोप, तीव्र

वातव्याधि, श्वास, कास, क्षय, हिक्का, आध्मान, पीनस, आमाशय रस की न्यून उत्पत्ति जनित अग्निमान्द्य, अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, नूतन प्रतिश्याय, मधुमेह, विसूचिका, इन रोगों में हितकर नहीं है। एवं स्नेहपान करने वालों को भी उपःपान नहीं करना चाहिये।

यदि सामान्य कफवृद्धि या आमवृद्धि वाले रोगियों को देना है, तो तुरन्त गरम करा फिर कुनकुना रहने पर देने में बाधा नहीं है।

उपःपान शौच जाने के पहले ही करना चाहिये। शौच के पश्चात् न करें। अग्निमांद्य, आध्मान, अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, नूतन प्रतिश्याय, हिक्का, मधुमेह, नूतन ज्वर और अति कफ प्रकोप होने पर तो प्यास लगे विना जल विल्कुल नहीं देना चाहिये।

अनेक मनुष्य नाक से जलपान करते हैं, किन्तु यह हितकर नहीं है। ईश्वर ने नाक श्वासोच्छ्वास और गंध के उपयोगार्थ बनाया है। जलपान के लिये मुँह ही दिया है। अतः मुँह से ही जलपान करें। नाक से जलपान करने पर नाक में रहा हुआ श्लेष्म उदर में जाता है।

जिनको सूतनेति और जलनेति (यौगिक क्रिया) करने का अभ्यास हो; नित्यप्रति नियमित समय पर पथ्य सात्विक भोजन और प्राणायाम का सेवन करते हों, उनके लिए ही रात्रि के तृतीय प्रहर में नासिका से उपःपान करने का विधान है। शेप सबको मुख से ही जलपान करना चाहिये।

प्राचीन आचार्यों ने उपःपान का महिमा लिखा है, कि :—

विगतघननिशीथे प्रातरुत्थाय नित्यं,
पिबति खलु नरो यो घ्राणरन्ध्रेण वारि।
स भवति मतिपूर्णश्चक्षुषा तार्क्ष्यतुल्यो,
वलिपलितविहीनः सर्वरोगैर्विमुक्तः ॥

जो मनुष्य नित्य ब्राह्ममुहूर्त्त में उठ कर नासापुट से जलपान करते हैं; वह बुद्धिमान होते हैं; उनकी दृष्टि गरुड़ समान तेजस्वी होती है; तथा वलीपलित रहित और सब रोगों से मुक्त होते हैं।

किन्तु नाक से जल पीने की यह विधि नगरनिवासी व्यवसायी जीवन वाले और रोगियों के लिये हितकर नहीं है; उलटी हानिकर है।

मलावरोध के रोगी को स्नान नित्यप्रति निवाये जल से करना चाहिये। शीतल जल से स्नान शीत काल में हानि पहुँचाता है। यदि हठयोग में कहे हुए आसनों का अभ्यास किया जाय, तो मलावरोध दूर हो सकता है। इसका विवेचन अन्यन्त्र किया है। इस पुस्तक की सीमा के वाहर होने से अत्र यौगिक क्रियाओं का वर्णन नहीं किया।

"भुक्त्वा पादशतं गत्वा वामपार्श्वे तु संविशेत् ।
शब्दरूपरसस्पर्शगन्धांश्च मनसः प्रियान् ।
भुक्त्वानुपसेवेत तेनान्नं साधु तिष्ठति ॥"

दिन में भोजन कर लेने के पश्चात् बांयी करवट लेटना हितकर है। जलादि पेय का अधिक पान, अग्नि से तापना, तैरना, व्यायाम, मैथुन, दौड़ना, वाहर गांव जाना, युद्ध करना, गाना और पढ़ना, इन सबको पौन घण्टे तक तो छोड़ ही देना चाहिये। दिन में अधिक निद्रा लेना; और सारे दिन बैठ रहना, ये भी मलावरोध के रोगी को हानिकर हैं।

भोजन में मोटे आटे की अच्छी रीति से सेकी हुई रोटी, अन्त्रगति उत्पादक शाक-भाजी और आवश्यक फलादि लेते रहने से कब्ज रोग शनैः-शनैः कम होता जाता है। आहार शुष्क है, तो वीच में जल पीना चाहिये; एवं उष्ण ऋतु में भोजन के बीच में जलपान करना ही चाहिये। यदि आहार नरम है; तो जलपान नहीं करना चाहिये। भोजन हो जाने पर दुग्धपान करें; तो जलपान एक घण्टा या दो घण्टे के पश्चात् करना चाहिये। जलपान जल्दी न करने से आमाशय में से ही आधे आहार रस का शोषण हो जाता है; और आँतों पर अधिक वोझा नहीं पड़ता। यदि आमाशय में दाह होता है, तो जलपान में उतनी देरी नहीं करनी चाहिये। रात्रि को सोने से कुछ समय पहले निवाया दूध या निवाया जलपान करते रहने से प्रातःकाल शौचशुद्धि में सहायता मिल जाती है।

भोजन के पश्चात् उदर पर कभी मालिश नहीं कराना चाहिये। मालिश कराने पर अयोग्य आहार रस वड़ी आँत में चला जाता है, जो मलावरोध का हेतु हो जाता है।

कचित् मलशुद्धि कराना आवश्यक हो; तो मलशुद्धिकर सामान्य

औषधि, बस्ति, ग्लीसराइन की पिचकारी या ग्लीसराइन की वत्ती, इनमें से किसी एक को अनुकूलता अनुसार प्रयोग में लावें।

विरेचन और बस्ति का विवेचन शरीरशुद्धि प्रकरण में किया है।

ग्लीसराइन पिचकारी द्वारा १ औंस गुदा से चढ़ाया जाता है; इससे मल मार्ग स्निग्ध होकर विना क्षोभ हुए मल स्वतः आजाता है। इस तरह ग्लीसराइन की वत्ती गुदा में चढ़ाने से भी मलशुद्धि होजाती है। बालकों के लिये इस वत्ती का अधिक उपयोग होता है।

ईसबगोल ३-३ माशे जल में भिगो, थोड़ा बादाम का तैल मिला दिन में २ समय प्रातः-सायं लेते रहने से आँतों की श्लैष्मिक कला की विकृति दूर होकर और आँतें बलवान बनकर नियमित मलशुद्धि होने लगती है। प्रारंभ के ३ दिनों में कुछ कष्ट हो, तो सहन कर लेना चाहिये।

ताप्यादि लोह २-२ रत्ती जल के साथ (र० ४३१) या नाग भस्म (र० १८५) २-२ रत्ती दूध या मक्खन-मिश्री (१-१ तोला) के साथ एक-दो मास तक सेवन करने से आँत की शक्ति (मल को बाहर निकालने की) सबल होकर बद्धकोष्ठ दूर होजाता है।

हरड़ के ४ माशे चूर्ण में कालानमक ४ रत्ती से १ माशा तक मिला रात्रि को सोने के समय निवाये जल के साथ ले लेने से भोजन का सम्यक् परिपाक होकर सुबह १ दस्त साफ़ आ जाता है।

पाचक रस का स्राव कम होता हो, तो अग्निकुमार रस (र० ४२०) या क्रव्याद रस (र० ४२१) का सेवन करना चाहिये।

आँतें शिथिल हों, तो अभ्रक भस्म (र० २२२), जातिफलादि चूर्ण (र० ५६६) १-१ माशा या अग्नितुण्डी वटी (र० ४२३) लेवें। या चन्द्रप्रभा वटी एक-दो मास तक सेवन करने और सुबह-शाम घूमने से आँतों की शिथिलता, मूत्रविकृति और मलावरोध दूर हो जाते हैं।

मलशुद्धिकर औषधियाँ—यवानीखाण्डव चूर्ण (र० ५८८), धनंजय वटी (र० ५५२), विरेचन वटी (र० ५६६), मृदु विरेचन वटी (र० ५७०), स्वादिष्ट विरेचन चूर्ण (र० ५६०), तालीसादि चूर्ण (र० ५६४), त्रिफला चूर्ण (र० ५६१), पंचसम चूर्ण (र० ५६२),

विरेचन चूर्ण (र० ५६२), पंचसकार चूर्ण (र० ५६३), नाराच चूर्ण (र० ६१४), आरग्वधादि कल्क (र० ६३६), ये सब मल को साफ करने वाली औषधियाँ हैं। एक या दो दस्त लाते हैं। आवश्यकता पर इनमें से प्रकृति के अनुकूल औषधि का सेवन करना चाहिये।

सरल विरेचन वटी—एलुवा, उसारेरेवन, हरड़ और सोंठ, चारों को समभाग मिलाकर कपड़-छान चूर्ण करें। फिर चूर्ण के समान वजन में मिश्री की चासनी कर थोड़ी शीतल होने पर चूर्ण को मिला २-२ रत्ती की गोलियाँ बनावें। इनमें से १ से २ गोली निवाये जल के साथ प्रातःकाल देने से २-३ घण्टे में दो दस्त साफ आजाते हैं। इस औषधि से उदर पीड़ा या बेचैनी भी नहीं होती।

अपचन हो जाने के पश्चात् लङ्घन न हो सके; और मल को बाहर निकाल देना हो; तो मलशुद्धिकर औषधि का उपयोग करें। किन्तु जब तक बिना औषधि कार्य की सिद्धि होती है; तब तक औषधि का उपयोग न करना ही अच्छा है।

गुलकन्द, आँवले का मुरब्बा, हरड़ का मुरब्बा, मुनक्का (काली मुनक्का विशेष हितकर), इनमें भी सारक गुण रहा है। विरेचन औषधि लेने की अपेक्षा ऐसी सामान्य वस्तु से उदरशुद्धि कर लेना, यह कम हानिकर माना जाता है।

विरेचन औषधियाँ—नारायण चूर्ण (र० ५८६), जुलाब की औषधि (र० ६३५), आरग्वधादि क्वाथ (र० ६२१), इच्छाभेदी रस (र० ४०६), इनके अतिरिक्त अनेक औषधियाँ शरीरशुद्धि प्रकरण में विरेचन विधि के साथ लिखी हैं। इनमें से आवश्यकता पर मल को निकालने के लिये प्रकृति और ऋतु के अनुकूल औषधि का उपयोग करें।

जीर्ण कोष्ठबद्धता पर—अभ्रक भस्म (र० २२२), शंख वटी (र० ४१३), द्राक्षासव (र० ६५६), कुमार्यासव (र० ६५०), अभयारिष्ट (र० ६५७), नाराच घृत (र० ७०८), इनमें से आवश्यक औषधि का उपयोग करें। अभ्रक भस्म आँतों के ज्ञान तन्तुओं को बलवान बनाती है। नाराच घृत से चिटका हुआ पुराना मल निकल जाता है।

शेष औषधियाँ अन्त्रगतिवर्धक, पाचक और सारक हैं।

उपदंशजनित विकृति से बद्धकोष्ठ हो, तो—बोलपर्पटी दूसरी विधि (र० ३६०) या गन्धक रसायन (र० ४५३) का सेवन कराना चाहिये। गन्धक रसायन रक्तविकार, कुष्ठ, उपदंश आदि रोगों के कीटाणु, दाह, अग्निमांद्य, प्रमेह और अन्त्रविकार को दूर करता है। बोलपर्पटी मलशुद्धि में हितकारक है।

सुजाक के पश्चात् बद्धकोष्ठ हो, तो—गन्धक रसायन (र० ४५३), हरिशंकर रस (र० ४८५) या चन्द्रप्रभा वटी (र० ५५५) का सेवन कराना लाभदायक है। अथवा गोक्षुरादि गूगल (र० ५६६) ४-६ मास तक देकर सुजाक के विष को नष्ट कर देना चाहिये।

जीर्ण मलावरोध पर डाक्टरी में निम्न औषधियाँ दी जाती हैं।

(१) पोडॉफिली रेझीना	Podophylli Resina	१ ग्रेन
पिल्थुला रिहाई क०	Pil. Rhei Co.	१० ग्रेन
एक्सट्रेक्ट हायोस्यामी	Ext. Hyoscyami	४ ग्रेन

इन सबको मिलाकर ४ गोलियाँ बनावें। १-१ गोली १-१ दिन छोड़कर रात्रि को सोने के समय देने से सुबह शौचशुद्धि हो जाती है।

(२) एक्सट्रेक्ट केसकेरा सेग्रेडा	Ext. Casc. Sag Sicci	३ ग्रेन
,, नक्सवामिका	,, Nucis Vomica	½ ग्रेन
,, बेलाडोना	,, Belladonna	गोली बांधने लायक

इस हिसाब से गोलियां बना लेवें। एक एक गोली दिन में २ बार देवें।

(३) पिल्थुला हाइड्रार्जिरी	Pil. Hydrargyri	३ ग्रेन
एक्सट्रेक्ट हायोस्यामी	Ext. Hyoscyami	१ ग्रेन
,, एलोझ	,, Aloes	१ ग्रेन

इस हिसाब से गोलियां बना लेवें। रोज रात्रि को या एक एक रात्रि छोड़ कर देते रहें। यकृद्विकार वाले रोगी के लिये यह हितकर है।

पथ्य—ब्रह्मचर्य का पालन, मोटे आटे की रोटी, दलिया, मट्ठा,

थोड़ा दूध, थोड़ा घी, तैल, पापड़, मूंगेड़ी का थोड़ा शाक, थोड़ी दाल, गुड़, शक्कर, नीबू, सन्तरा, मुसंबी, अंगूर, थोड़ा अनार, थोड़ा सेव, बादाम, पिस्ता, चिरौंजी, अमरूद, थोड़ी बेलगिरी, थोड़ा आम, अमचूर, इमली, सैंधानमक, आंवला, लाल मिर्च, हींग, धनिया, जीरा, हल्दी, कालीमिर्च, दालचीनी, लौंग, अदरख, ईख, उषःपान, व्यायाम, खुली वायु में घूमना, नियमित समय पर शौच जाना (वेग न हो फिर भी नियमित समय पर जाना), दिन में भोजन कर पौन घण्टा आराम करना, निवाये जल से स्नान; टमाटर, चौलाई, बथवा, मेथी, पालक, तोरई, घिया, नाड़ीशाक, अम्लोनिया, चूका, मूली, परवल, अजवायन, गुवारपाठा की गांदल, ककोड़ा, करेला, बैंगन, टींडे, सुहिंजने की फली इत्यादि शाक, प्रातःकाल के सूर्य के ताप का थोड़ा-थोड़ा सेवन, समुद्र किनारे घूमना, पूरी निद्रा लेना इत्यादि लाभदायक हैं।

मूत्र की प्रतिक्रिया क्षारीय हो, तो नीबू के रस को जल में मिला थोड़ा सैंधानमक या शक्कर डाल कर पिलाने से मलशुद्धि होती है। यदि मूत्र की प्रतिक्रिया अम्ल है, तो मट्ठा, नीबू, खट्टे फल, ज्यादा घी, ये सब लाभ नहीं पहुँचा सकते। अम्ल प्रतिक्रिया होने पर जव की रोटी थोड़े घी वाली हितकर है।

रात्रि को जल्दी सोना, सुबह जल्दी उठना, फिर थोड़ा जलपान कर घूमना और वेग उत्पन्न होने पर मल त्याग करना, ये सब लाभदायक हैं।

रात्रि को सोने के समय एक ग्लास निवाया जल ४-६ रत्ती सैंधानमक मिलाकर पीने से सुबह मलशुद्धि हो जाती है। उपदंश, सुजाकादि पहले हो गये हों, या शुक्रस्राव बार-बार होता रहता हो; तो खट्टी और अम्लविपाक वाली वस्तुएं नहीं खाना चाहिये।

अपथ्य—उपवास, कम भोजन, अति भोजन, चावल, मैदा, बारीक आटे की रोटी, जुवार, मक्की, बाजरी, चने का पदार्थ, ज्यादा दाल खाना, उड़द, मसूर, अरहर, सेम, मटर, भोजन पर भोजन, असमय पर भोजन, पक्का भोजन, अति शीतल जलपान, शीतल जल से स्नान, शीत लगे ऐसे वस्त्र पहनना, अधिक प्रवाही वस्तुओं का सेवन,

ज्यादा दही, मलाई, कच्चा काशीफल, सरसों की पत्ती, गिलोय की पत्ती, ककड़ी, कन्दूरी, सेम, आलू, रतालु, महुआ, गाजर, केला, भसींड (कमल की जड़), कटहल, कैथ, भिण्डी, गोभी, लिहसोड़ा, बार बार जुलाब लेना, चाय, कॉफी, सिगरेट, बीड़ी, तमाखू, अफीम, भांग, गांजा, शराब, मैथुन, बर्फ, मांसाहार, अधिक मसाला; मल-मूत्र और अधोवायु का अवरोध, मानसिक चिन्ता, दिन में शयन, रात्रि का जागरण, आर्द्र या अंधकार वाले मकान में रहना, ये सब अपथ्य माने हैं।

सिंघाड़े, पक्के सहतूत, फालसा, अनार, सेव, नासपाती, केला, जामुन, अखरोट, चिलगोजे, आम, पक्के कटहल, फूट, नारियल, खजूर, कमलगट्टा, खिरनी, तरबूज, खरबूजा, ककड़ी, ताड़फल, बेलफल इत्यादि फल अधिक मात्रा में ग्राही होने से अपथ्य हैं।

बार-बार जुलाब या बार-बार वस्ति लेना, ये परिणाम में दुःखदायी हैं।

(७) अर्श।

अर्श—बवासीर—हिमरॉइड्स अथवा पाइल्स

Haemorrhoids or Piles।

वातादि दोष कुपित होने पर त्वचा, रक्त, मांस और मेद धातु को दूषित कर गुदा की वलियों पर मांस के अंकुर उत्पन्न कर देते हैं, उनको अर्श कहते हैं। या गुदा और गुदनलिका की ३ वलियों में रही हुई अशुद्ध रक्तवाहिनी का विस्तार-वृद्धि होने को अर्श कहते हैं।

गुदनलिका का अन्तभाग ४॥ अँगुल लम्बा है, उसे सुश्रुतसंहिता में गुदा कहा है। इस स्थान में लगभग १॥-१॥ अँगुल की ३ वलियाँ हैं। उनको शास्त्र में प्रवाहिणी, विसर्जनी और संवरणी संज्ञा दी है।

ये तीनों वलियाँ शंख की आँटी के समान एक के ऊपर एक रही हैं। इनकी बाहर गुदा का ओष्ठ है, जो आधे अँगुल प्रमाण का है। इसके ऊपर प्रथम संवरणी वलि २ अँगुल की, दूसरी विसर्जनी १॥ अँगुल की और तीसरी प्रवाहिणी भी १॥ अँगुल की मानी गई है।

इन वलियों के बोध के लिये शारीरविदों ने गुदनलिका के ३ भाग की कल्पना की है। उत्तरगुद, मध्यगुद और अधरगुद संज्ञा दी हैं। उत्तरगुद ४॥

अँगुल लम्बा थाली सदृश विशाल है। मध्यगुद २ से ३ अँगुल लम्बा है; और अधरगुद १॥ से २ अँगुल लम्बा है। उत्तरगुद वाला हिस्सा मल को नीचे धकेलता है। अतः उसे प्रवाहिणी, दूसरे मध्यगुद का काम गुदा को चौड़ी करके मल को बाहर निकालना है, अतः उसे विसर्जनी और तीसरी अधर गुद (गुद संकोचनी दो पेशियों से बनी हुई वलि) गुदद्वार का संकोचन करती है अतः उसे संवरणी संज्ञा दी है।

किसी को अर्श बाहर और किसी को भीतर होते हैं। आखिरी की वलि के मस्से जो बाहर दीखते हैं, उनको बाह्यार्श (एक्सटर्नल पाइल्स External Piles) और अन्तर की वलि के मस्से जो नहीं दीखते, उनको अन्तरार्श (इन्टरनल पाइल्स Internal Piles) कहते हैं।

अन्तरार्श प्रारम्भ में मुलायम होते हैं, फिर शनैः-शनैः कठोर होते जाते हैं, तब इनमें वेदना बनी ही रहती है; और इनमें से बार-बार गरम-गरम रक्त टपकता रहता है। बार-बार रक्त गिरता रहता है इस हेतु से इनको रक्तार्श (खूनी बवासीर-ब्लीडिंग पाइल्स Bleeding Piles) भी कहते हैं और बाह्यार्श में से रक्त नहीं निकलता; इसलिये उनको शुष्कार्श (बादी बवासीर) कहते हैं। उन बाह्यार्श में बार-बार शोथ हो जाता है; और जलन भी हो जाती है।

इस अर्श रोग में प्रकृति भेद से वातज, पित्तज, कफज, त्रिदोषज, रक्तज और सहज (वंश परम्परागत) ऐसे ६ विभाग किये हैं। अष्टाँग-हृदयकार ने सहज अर्श को छोड़ द्वन्द्वज मिलाकर ६ भेद दिखाये हैं।

(१) वातज अर्श निदान—कसैला, चरपरा, कड़वा, रूक्ष, लघु या ठण्डा भोजन, स्वल्प भोजन, समय व्यतीत हो जाने पर भोजन, तीक्ष्ण मद्यपान, अधिक मैथुन, उपवास, शीतल, अनूपदेश या हेमन्तादि ऋतुप्रकोप, घोड़ा, ऊँट या साइकल पर अधिक सवारी करना, बिना वेग मल या अधोवायु को काँख काँख कर निकालने का प्रयत्न करना, अधिक समय तक ऊकड़ू बैठे रहना, अधिक परिश्रम, पैरों से मशीन चलाना, बार-बार जुलाब लेना, शोक, तेज वायु या सूर्य के ताप का आघात आदि कारणों से वातज अर्श हो जाता है।

(२) पित्तज अर्श निदान—ज्यादा चरपरे, ज्यादा खट्टे, अधिक नमकीन, अधिक तीक्ष्ण, अति विदाही और अति गरम पेय या भोजन का सेवन, गर्म औषधि, अधिक व्यायाम, अग्नि या सूर्य के ताप का अधिक सेवन, उष्ण या मरुभूमि आदि देश अथवा शरद् या ग्रीष्मादि ऋतु का प्रकोप, क्रोध, मद्यपान, द्वेष करने का स्वभाव इत्यादि कारणों से पित्तज अर्श उत्पन्न होता है।

(३) कफज अर्श निदान—मधुर, स्निग्ध, शीतल, खट्टे, नमकीन और भारी भोजन, व्यायाम न करना, दिन में शयन, शय्या, आसन या गद्दी-तकिये पर बैठे रहने में प्रीति, शीत देश और शीतकाल का प्रकोप, चिन्ता का त्याग, पूर्व दिशा की वायु का अधिक सेवन इत्यादि कारणों से कफज अर्श होता है।

(४) द्वन्द्वज अर्श निदान—दो दोषों को प्रकुपित करने वाले कारणों के संयोग से द्वन्द्वज अर्श उत्पन्न होता है।

(५) त्रिदोषज अर्श निदान—अपने अपने कारणों से जब तीनों दोष प्रकुपित हो जाते हैं; तब त्रिदोषज अर्श की उत्पत्ति हो जाती है। वस्ति कर्म में जल या नली का आघात, गुदामैथुन, गर्भपात, गुदा पर पत्थर या लोहादि का आघात, गुदा पर वर्फ या अति गरम जल से सेक करना इत्यादि कारणों से त्रिदोषज अर्श हो जाता है।

(६) सहज अर्श निदान—माता या पिता को अर्श रोग होने पर उनके रजवीर्य द्वारा संतानों को गुदनलिका की शिराओं में निर्वलता या व्याधि वीज की प्राप्ति होती है। या पूर्व जन्मार्जित पाप से हो जाता है। पूर्व जन्मों का पाप सब जन्मों के साथ आये हुए वंश परम्परागत समस्त रोगों में हेतु माना जाता है।

अर्श का पूर्वरूप—अन्न पचन न होना, निर्वलता, मलसंग्रह होने पर आफरा-सा हो जाना, कोंख में गुड़गुड़ाहट, कृशता, अधिक डकार, जांघों में पीड़ा, थोड़ा-थोड़ा मल उतरना, कुछ अंश में मलावरोध बना रहना, ग्रहणी विकार, पाण्डु और उदर रोग हो जाने की शंका आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

यह अर्श रोग प्रथमा, द्वितीया और क्वचित् तृतीया वलि में भी हो जाता है। इस व्याधि के हेतु से, प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान, पांचों मिलकर पञ्चात्मा वायु, इस तरह पञ्चात्मा पित्त और पञ्चात्मा कफ प्रकुपित होकर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न कर देते हैं।

प्राणवायु कुपित होने पर आमाशय, हृदय और स्वरयन्त्र में विकार या हिक्का-श्वासादि व्याधि की उत्पत्ति करा देता है।

उदान कुपित होने पर कण्ठ से ऊपर विकृति उन्मादादि हो जाते हैं।

समान वायु के प्रकोप से आमाशयगत विकार, गुल्म, अग्निमांद्य और अतिसार आदि रोगों की प्राप्ति होती है।

अपान वायु के दुष्ट होने पर अधोवायु, मूत्र, मल, शुक्र, गर्भ और आर्त्तव का विकार अर्थात् मूत्राशय, गर्भाशय और गुदा के रोग होते हैं।

व्यान वायु में विकृति होने से स्वेद, रक्त, शुक्र आदि में विकृति तथा प्रमेह आदि रोगों की उत्पत्ति होती है।

इस तरह आलोचक, रञ्जक, साधक, पाचक और भ्राजक पित्तों का प्रकोप होने से अपने-अपने स्थान को वे दूपित कर देते हैं। एवं अवलम्बक, क्लेदक, वोधक, तर्पक और श्लेष्मक, कफ प्रकारों में से जिन-जिन का प्रकोप हो जाता है, वे अपने-अपने स्थान को दूषित कर देते हैं।

संक्षेप में यह अर्श रोग नाना प्रकार के रोगों की जड़ रूप प्रायः सारे शरीर को संताप देने वाला और कष्टसाध्य है।

वातज अर्श लक्षण—इस अर्श में रक्त नहीं निकलता, किन्तु भयंकर जलन होती रहती है। इस वातज अर्श में मस्से शुष्क, अति वेदना सह, मुरझाये-से लाल या मैले रंग के कठिन; मुलायमता से रहित, स्पर्श करने में गाय की जीभ के समान खरखरे और कर्कश, क्वचित् छोटे, क्वचित् वड़े, टेढ़े, दर्भ के अंकुर समान चुभने वाले, खिले हुए फूल समान, फटे मुख वाले, विनौले (वनकपास के वीज), कन्दूरी, वेर, खजूर और ककोड़े के फल सदृश होते हैं। क्वचित् कदम्ब के पुष्प के समान स्थूल और अनेक छोटे-छोटे शिखर युक्त तथा क्वचित् सरसों जैसे छोटे पिटिका रूप होते हैं।

इस वातज अर्श से मस्तक, पसलियें, कन्धे, नाभि, कमर, जंघा, पेड़ू, लिङ्ग, गुदा, इन प्रदेशों में अधिक वेदना, छींक और डकार न आना, मलावरोध, हृदय जकड़ना, अरुचि, कास, श्वास, विषम अग्नि (कभी अन्न का पचन-कभी अपचन), निर्बलता के कारण कानों में आवाज होना, चक्कर आना, झागयुक्त आवाज सहित थोड़ा-थोड़ा गांठों सह कष्ट से या शूल के साथ दस्त होना, शरीर में श्यामता; त्वचा, नख, विष्ठा, मूत्र, नेत्र, मुँह, सब श्याम रंग के हो जाना, ये रूप प्रतीत होते हैं। कचित् वातगुल्म, प्लीहावृद्धि और अष्ठीला (वातप्रकोप से उदर में गांठ होना) आदि उपद्रव भी हो जाते हैं।

पित्तज अर्श लक्षण—इस पित्तज अर्श के मस्से में से दुर्गन्धयुक्त जलन सहित रक्त निकलता है। मस्से नीले मुँह वाले, लाल-पीले, कुछ मैले रंग के गीले पतले रुधिर का स्राव कराने वाले, दुर्गन्धयुक्त पतले, मृदु, लम्बे लटकते हुए, कोई तोते की जीभ सदृश, कोई यकृत् के टुकड़े सदृश प्रकाशवान् और कोई जोंक के मुख के समान होते हैं।

इस रोग में दाह, गुदपाक, ज्वर, प्रस्वेद, तृषा, मूर्च्छा, अरुचि, मोह, बेचैनी, मस्से स्पर्श में गरम, मल पतला, नीला-पीला या लाल और आमयुक्त गरम गिरना, मस्से मध्यभाग में जव के सदृश स्थूल, त्वचा, नख, नेत्र, मुँह, ये सब हरताल या हल्दी के सदृश पीले रंग के हो जाना, इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं। इस प्रकार का अर्शरोग शीतोपचार से शमन होता है।

कफज अर्श लक्षण—इस रोग में अंकुर गहरी जड़ वाले, घन, मन्दपीड़ा वाले, सफेद रंग के ऊँचे, लम्बे, मोटे, चिकने, न मुड़नेवाले, गोल, भारी, निश्चल, पिच्छिल, गीले चमड़े से लिपटे हुए के समान, मणि के समान चिकने, खुजलीयुक्त, स्पर्श में प्रिय, वाँस के अंकुर, कटहर के फल की गुठली अथवा गाय के स्तन के सदृश होते हैं।

इस रोग से वंक्षणस्थान में डोरी से दृढ़ बाँधने समान पीड़ा, गुदा, मूत्रस्थान और नाभि में नाड़ियें खिचना, श्वास, कास, उबाक, मुँह में पानी आना, अरुचि, पीनस, प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, मस्तिष्क में भारीपन,

शोतज्वर, नपुंसकता, अग्निमांद्य, वमन, आमवृद्धि होकर अतिसार और ग्रहणी आदि रोगों की उत्पत्ति; चर्बी समान कान्ति, श्लेष्मयुक्त मांस के धोवन समान मल गिरना; त्वचा, नख, नेत्रादि स्निग्ध और पाण्डुवर्ण के हो जाना, रुधिर न गिरने से और मल ज्यादा शुष्क न होने से गुदा में अधिक त्रास न होना इत्यादि लक्षण होते हैं। इस प्रकार के अर्शरोग में उष्णोपचार से शान्ति प्रतीत होती है।

सन्निपातज और सहज अर्श लक्षण—इन दोनों प्रकार की व्याधियों में वातज, पित्तज और कफज अर्श में कहे हुए सबके मिश्रित लक्षण प्रतीत होते हैं।

सहज अर्श के लक्षण—सहज अर्श के मस्से कोई अति छोटे, कोई बड़े, कोई लम्बे, कोई मोटे, कोई गोल, कोई टेढ़े, कोई त्रास-दायक बाहर निकले हुए, कोई सन्ताप कारक भीतर की वलि में, कोई बड़े जटिल और कोई भीतर मुँह वाले होते हैं। इनमें जिस दोष का अनुबन्ध हो, उसी दोष के अनुसार इनके भिन्न-भिन्न वर्ण होते हैं।

सहज अर्श वाला मनुष्य जन्म से ही अति कृश, निस्तेज, क्षीण, दीन तथा अधोवायु और मल-मूत्र के विबन्धयुक्त रहता है। किसी को मूत्रमार्ग में शर्करा या पथरी हो जाती है। विबद्ध बना रहने से मल-शुद्धि सम्यक् प्रकार से नहीं होती। कच्चे पक्के आम सह शुष्क गाँठ वाला फटा हुआ मल रुक-रुक कर गिरता है। कभी मल जल्दी गिरता है, कभी देरी से। मल का रंग सफेद, पाण्डु, हरा, पीला, लाल, मैला लाल या काला दोषप्रकोप अनुसार होता है। मल पतला या गाढ़ा, पिच्छिल और मुर्दे की सी गन्ध वाला होता है। नाभि, मूत्राशय और वंक्षण में कतरने की-सी पीड़ा होती है। गुदा से मल के प्रवाहण होने पर शूल समान वेदना, रोमांच, प्रमेह, अति मलावरोध, आँतों में गुड़गुड़ाहट, उदावर्त्त, हृदय और इन्द्रियों का जड़-सा बन जाना, अधोवायु में अति रुकावट, चरपरी और खट्टी डकार, अति दुर्बलता, अति मन्दाग्नि, वीर्य की न्यूनता, क्रोध की उत्पत्ति होना, चित्त में दुःख बना रहना, कास, श्वास, तमक श्वास, तृषा, उबाक, वमन, अरुचि, अपचन, जुकाम,

बार-बार छींकें आना, तिमिर रोग, मस्तिष्क शूल, क्षीण टूटा हुआ असक्त और जर्जरित आवाज, कर्ण रोग, हाथ, पैर, मुख, नेत्र-पलक आदि अंगों पर कुछ शोथ आ जाना, ज्वर, अंगमर्द, बीच-बीच में साँधों-साँधों में और हड्डियों में शूल चलना, पसली, कूंख, वस्ति, हृदय, पीठ और त्रिकस्थान, सब जकड़ जाना, सन्ताप, चित्त में अस्थिरता और अति आलस्य, इनमें से अनेक लक्षण माता-पिता से प्राप्त सहज अर्श में हो जाते हैं।

आयुर्वेद ने परम्परा प्राप्त इस सहज अर्श का स्वीकार किया है; किन्तु एलोपैथिक वालों ने अभी तक इस बात को अंगीकार नहीं की।

डाक्टरी मत अनुसार गुदा में गई हुई अशुद्ध रक्त वाहिनियों (शिराओं) पर जब मल या इतर इन्द्रिय आदि का दबाव पड़ता है, तब शिराओं का विस्तार होकर वे अंकुर समान लटक जाते हैं, उनको अर्श रोग कहते हैं। छोटी और बड़ी आँत में जो शिराएँ हैं, वे सब आड़ी अर्थात् आँत की चौड़ाई की ओर रही हैं; किन्तु गुदनलिका में शिराएँ ऊभी अर्थात् लम्बाई के अनुरूप रहती हैं। इन शिराओं के परस्पर मिलने से चक्र बना है। इसको गुदवेष्टन शिराचक्र कहते हैं। इस चक्र में रही हुई अशुद्ध रक्त-वाहिनियों के नीचे आधार नहीं है और इनमें कपाटिका (Valves) की योजना भी नहीं है। जैसे इतर स्थानों में रुधिर वापस न लौटने के लिये कपाट लगे हुए हैं। उस तरह गुदनलिका में कपाटिका न होने से और ये शिराएँ सबसे निम्न स्थान पर रहने से किसी भी अन्न-रसवाहिनी आदि शिरा का अवरोध होने पर इनका विस्तार हो ही जाता है।

गुदवेष्टनशिराचक्र—असंख्य सूक्ष्म शिराएँ परस्पर ग्रथित होने से यह चक्र बनता है। इस चक्र को योगविद्या के ग्रन्थों में आधार चक्र और डाक्टरी में हेमर्होइडल प्लेक्सस Haemorrhoidal Plexus कहते हैं। इसमें से मुख्य ३ शिराएँ निकलती हैं जिनको उत्तरा, मध्यमा और अधरा गुदन्तिका संज्ञा दी है। वे सीधी और परंपरा रीति से अधिश्रोणिका-आभ्यंतरी शिरा के साथ सम्बन्ध रखती हैं। एवं उनका संयोग आंत्रिकी शिराओं के साथ होता है। फिर उनके द्वारा प्रतिहारिणी शिरा अर्थात् अन्नरसवाहिनी शिरा (पोर्टल वेइन Portal vein) के साथ सम्बन्ध होता है।

इस गुदवेष्टन चक्र के २ विभाग हैं। आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तर भाग गुदा की श्लैष्मिक कला के नीचे रहा है; और बाह्य भाग गुदा की मांसमय दीवार के इर्द-गिर्द वेष्टित हुआ है।

आभ्यन्तर भाग चौड़ी और खड़ी शिराओं से बना है। अर्थात् पिञ्जड़े की चारों ओर लगी हुई लोह शलाका के सदृश गुदमार्ग की चारों ओर शिराएँ लगी हैं। इन शिराओं में से रक्त आन्त्रिकी शिराओं और प्रतिहारिणी शिरा में जाता रहता है। इस आभ्यन्तर भाग की शिराओं के रक्तप्रवाह को ऊपर जाने में किसी भी हेतु से रुकावट हो जाय, तो ये शिराएँ फूल जाती हैं। फिर कठिन मल जब इनके ऊपर से उतरता है तब वे छिलने से बार बार रक्त गिरता है। इस तरह इस शिराचक्र से सम्बन्ध वाली फूली हुई शिराएँ, जो केवल मृदु कला से आच्छादित होती हैं, उनमें से ही ये अर्श के मस्से बनते हैं।

यदि यकृद्विकार या इतर किसी हेतु से प्रतिहारिणी शिरा के मार्ग में प्रतिबंध हो जाने पर रक्तार्श होता है; और रक्तार्श द्वारा रक्त बाहर निकलता रहता है; तो वह रोगी के लिये कल्याणकारक ही माना जाता है। कारण, इस तरह यदि रुधिर बाहर न निकले और उदर्य्याकला के स्तरों में संचित हो जाय; तो जलोदर या इतर भयानक रोग की उत्पत्ति करा देता है।

(१) प्रकोपक हेतु—मलावरोध होने से कांछना पड़ता है, कांछने से शिराओं में रक्त भर जाता है; किन्तु फिर वह दबाव के हेतु से ऊपर नहीं जा सकता, इसलिये इनका विस्तार हो जाता है।

(२) रात्रि दिन बैठे-बैठे काम करना (जैसे दर्जी को पैरों से मशीन चलाना, साईकल चलाना आदि), व्यायाम न करना, इन हेतुओं से भी अर्श हो जाता है।

(३) उदरग्रन्थी; अर्बुद, गुदनलिकास्रोत-संकोच और उससे उत्पन्न मलावरोध, यकृद्वृद्धि, जलोदर और स्त्रियों की गर्भावस्था, इन कारणों से अन्नरसवाहिनी का अवरोध होकर अर्श हो जाता है।

अर्श के २ प्रकार हैं। बाह्यार्श (एक्सटर्नल पाइल्स External Piles) और अन्तरार्श (इन्टरनल पाइल्स Internal Piles)। गुदा के संकोच करने वाली तृतीया संवरणी वलि में रहीं हुई गुदसंकोचनी

बाह्यपेशी (स्फिंक्टर एनाई एक्सटर्नल Sphincter ani External) के बाहर होने वाले मस्से को बाह्यार्श कहते हैं; और इस पेशी से ऊपर होनेवाले मस्से को अन्तरार्श कहते हैं। इनमें बाह्य अर्श के ऊपर त्वचा का आवरण और अन्तरार्श पर केवल मोटी श्लैष्मिक कला का आवरण होता है। इस हेतु से बाह्य अर्श में से (बिना व्रण हुए) रुधिर नहीं निकलता और अन्तरार्श की श्लैष्मिक कला फट-फट कर बार-बार उनमें से रक्त-स्राव होता रहता है। जिनमें से रुधिर नहीं निकलता, उनको शुष्कार्श और जिनमें से रक्त निकलता है, उनको रक्तार्श संज्ञा भी दी है।

बाह्यार्श लक्षण—ये मस्से गुदा से बाहर दीखते रहते हैं। जब तक इन पर दाह-शोथ या व्रण न हो, तब तक ये दुःख नहीं पहुँचाते। आहार-विहार के अपथ्य से अपचन या मलावरोध होने पर जब ये फूल कर नीले रंग के हो जाते हैं; तब वहाँ पर रक्त जम कर शोथ हो जाता है; जिससे असह्य वेदना होती है। फिर उपचार करने पर शोथ तो शमन हो जाता है; किन्तु मस्से अधिकाधिक कठोर होते जाते हैं।

यदि इस तरह बार-बार प्रकोप होता रहा, तो कभी गुदा का संकोच हो जाता है। एवं क्वचित् व्रण होकर विद्रधि या कर्कस्फोट (Cancer) भी बन जाता है।

अंतरार्श लक्षण—आरम्भ में ये अति मृदु रहते हैं; फिर शनैः-शनैः कठोर होते जाते हैं। मल त्याग के समय ये बाहर आ जाते हैं; फिर भीतर चले जाते हैं। इन पर लाल रंग की मोटी श्लैष्मिक कला रहती है; मल उसे लगकर बाहर निकलता रहता है। जिससे उस पर से श्लेष्म मिल जाता है। यदि मल शुष्क हो; तो उसके आघात से थोड़ा बहुत रक्त भी निकल जाता है। यदि इनमें से एक या अधिक मस्से फट जाते हैं, तो इनमें से रक्त अधिक गिरता है। ये मस्से नहीं फटते तब तक कमर में जड़ता और मल विसर्जन समय में बोझा-सा प्रतीत होता है। मस्से फटकर बारबार रक्तस्राव होने से पाण्डुता आती जाती है। क्वचित् मस्से बाहर निकलने पर फिर स्वतः भीतर नहीं जा सकते; तब अति कष्ट होता है। फिर हाथ में पकड़ कर भीतर चढ़ाना पड़ता है; जिससे

बहुधा रक्तस्राव होने लगता है। क्वचित् मस्से भीतर नहीं जा सकते; तब गुदा के संकोच से उन पर पाश (फाँसी) लग जाता है। फिर उन मस्सों में रक्तसंचार बन्द हो जाता है और उनका बाहर रहा हुआ हिस्सा शोथ आने पर मृत हो जाता है। पश्चात् उस पर व्रण हो जाता है। इस तरह बार-बार काँछते रहने से और गुदा की जड़ता के हेतु से क्वचित् गुदभ्रंश भी हो जाता है इत्यादि अंतरार्श के लक्षण प्रतीत होते हैं।

अर्श का निर्णय स्पष्ट ही है; तथापि क्वचित् गुदभेद, गुदभ्रंश, मांसार्श, फिरंग रोगज गुदशूक, इन रोगों में अर्श की भ्रान्ति हो जाती है। अतः इन सबके लक्षणों के भेद जानने की आवश्यकता है।

अर्श	इतर रोग
(१) रक्तार्श में शिरा फूलना, मल विसर्जन काल में सामान्य पीड़ा और फिर पीड़ा नहीं रहना तथा मस्से फटने पर अधिक रक्त गिरना, ये चिह्न होते हैं।	(१) गुदभेद (गुदा की त्वचा फट जाने) में शिरा नहीं फूलती, केवल त्वचा फटती है। मल त्यागने पर अति पीड़ा और पश्चात् भी अति पीड़ा घण्टों तक बनी रहती है। कुछ रक्त मल को रेखा रूप से लगा हुआ निकलता है; तथा मल निकलने के पश्चात् भी रक्त की २-४ बूँद टपकती हैं।
(२) अर्श में मस्से ऊँचे नीचे क्वचित् सब गुदा पर फैले हुए होते हैं।	(२) गुदभ्रंश का मांस मुलायम और वर्तुलाकृति होता है।
(३) रक्तार्श के मस्से अनेक, मृदु और नाल रहित होते हैं।	(३) मांसार्श (पोलिपस Polypus) की ग्रन्थि एकाकी, कठोर और नाल सह होती है।

(४) अर्श एक ओर रहता है।	(४) फिरंग रोगज गुदशूक (मांसकीलक – कॉन्डीलोमा Condyloma) उभय ओर तथा गुदा से कुछ दूर रहता है।

रक्तज अर्श लक्षण—इस व्याधि में पित्तज अर्श से पीड़ा अधिक होती है। मस्से अग्नि या कील के समान दुःखदायी पित्तज अर्श की आकृति वाले, वड़ के अंकुर, गुंजा और प्रवाल के सदृश वर्ण वाले होते हैं। शुष्क मल के आने से मस्से जब पीड़ित होते हैं; तब गरम-गरम रक्त निकलता है। शुष्क, कठिन और काला मल, अपानवायु का रोध, पीली-सी कान्ति, अधिक रक्त जाने से निस्तेजता, वल-उत्साह का अभाव और वेचैनी आदि लक्षण होते हैं। क्वचित् इस व्याधि में वात और कफ का भी अनुबन्ध होता है।

यह रक्तज अर्श यदि रूक्ष वायु के अनुबन्ध सह उत्पन्न हुआ है; तो रुधिर पतला, लाल और झागों वाला, कमर, जंघा और गुदा में शूल तथा अत्यन्त निर्वलता आदि लक्षण होते हैं।

यदि कफ के भारी और स्निग्ध गुण रूप अनुबन्ध सह रक्तज अर्श हुआ है; तो मल सफेद-पीला, चिकना, गुरु, शीतल और शिथिल होना; रक्त गाढ़ा, सूत के सदृश तारयुक्त, पाण्डुवर्ण और गोंद के समान चिकना तथा गुदा चिकनी और स्तब्ध होना इत्यादि लक्षण भासते हैं।

साध्यासाध्यता—इन अर्श रोगों में जो वाहर की वलि में हो, एक दोषज नया उत्पन्न हुआ हो, उसको सुखसाध्य; दूसरे आँटे के या द्विदोषज, जिसको १ वर्ष व्यतीत होगया है, उसे कष्टसाध्य; तथा सहज (वंशपरंपरागत), त्रिदोषज, तीसरी वलि में उत्पन्न और वृद्धावस्था में होने वाले अर्श को असाध्य माना है।

असाध्यता दो प्रकार की है। याप्य (प्रयत्न से सफलता मिलने योग्य) और प्रत्याख्येय (विलकुल त्यागने योग्य)। जिस रोगी की आयु शेष हो, चिकित्सा आदि चारों पाद युक्त हो और जठराग्नि प्रदीप्त हो;

उसके असाध्य रोग को भी याप्य मानकर चिकित्सा करनी चाहिये। अन्यथा रोगी को छोड़ देना चाहिये।

रोगी, भिषक्, परिचारक और औषधि, ये ४ चिकित्सा के पाद कहलाते हैं। इनमें आज्ञाकारी, धनिक, उदार चित और जितेन्द्रिय रोगी; शास्त्र और शस्त्र कर्म में कुशल, निर्लोभी और सत्यधर्मपरायण वैद्य; हितैषी, कुलीन, आलस्य रहित, प्रेम करने वाला, रोगी के अनुकूल बर्त्ताव करने वाला परिचारक (सेवक); तथा नयी रस-वीर्यादि सम्पन्न औषधि, ये सब अनुकूल होने पर चिकित्सा करने से बहुधा सफलता मिल जाती है।

असाध्यता लक्षण—जिस अर्श रोगी के हाथ, पैर, गुदा, नाभि, मुख, अंडकोष, इन स्थानों पर सूजन तथा हृदय और पार्श्व में शूल हो; उसके रोग को असाध्य माना है।

यदि हृदय और पसली में शूल, मोह, वमन, सारे शरीर में पीड़ा, मन्द-मन्द ज्वर, तृषा, गुदापाक (गुदा लाल हो जाना, उँगली लगाने में भी पीड़ा हो), ये उपद्रव हों, तो अर्श रोग रोगी को मार देता है।

तृषा, अरुचि, शूल, रक्त ज्यादा गिरना, शोथ और अतिसार आदि उपद्रव हों; तो अर्श रोग जीवन को नष्ट कर डालता है।

इतर स्थान के मस्से—गुदा के समान, नाक, कान, मुँह, होठ, तालु, नेत्र के कोने, नाभि, मेढ़् और योनि के भीतर भी मस्से हो जाते हैं। वे मस्से केंचवे के समान चिकने और मृदु होते हैं।

पुरुषों के मूत्रेन्द्रिय पर जो मस्से हो जाते हैं, वे खरदरे होते हैं। क्वचित् भीतर कचित् बाहर होते हैं। उनमें खुजली चलती है। खुजाने पर क्षत हो जाता है। फिर उसमें से चिकना पीप-सा रक्तस्राव होता रहता है; और वह सत्वर पुंसत्व का नाश करता है।

स्त्रियों की योनि में छत्र या करीर के फल के आकार के या केंचवे के समान दुर्गन्धयुक्त मृदु और पिच्छिल मस्से होते हैं। इन मस्सों के उत्पन्न होने से उनमें से रक्तस्राव होता रहता है; वेदना बनी रहती है; और योनि के रक्त का नाश होता है। दोष ऊर्ध्वगत होने पर कर्ण में

मस्सा हो जाय; तो वधिरता, उग्र शूल और कान में से पीप निकलते रहना, इत्यादि लक्षण होते हैं।

नेत्र में मस्सा होने पर जलस्राव, वेदना, दर्शन शक्ति का नाश और अश्रु वहते रहने से भाँफणी का चिटकना आदि उपद्रवों की उत्पत्ति हो जाती है।

नाक में मस्से होने पर जुकाम, कष्टता से श्वासोच्छ्वास चलना, शिर में वेदना, छींकें आना, मुँह में से दुर्गन्ध आना, मिनमिनत्व, ये लक्षण प्रतीत होते हैं।

मुँह में अर्श होने पर कण्ठ, ओष्ठ, तालु आदि में जहाँ हो, उस स्थान के अनुरूप विकृति, गद्‌गद् वाक्य, स्वाद का सम्यक् बोध न होना, इत्यादि उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं।

चर्मकील—व्यान वायु कफ को ग्रहण करके शरीर के इतर भागों की त्वचा पर कील के समान स्थिर अंकुर उत्पन्न कर देते हैं; उसे चर्म-कील कहते हैं। इस चर्मकील में वातप्राधान्यता होने पर पीड़ा और कठोरता; पित्तप्राधान्यता हो, तो मुँह कुछ काला-सा हो जाना; तथा श्लेष्म-प्राधान्यता से चिकनापन, गाँठदार और शरीर के समान रंग होता है।

चिकित्सा—अर्श रोग की चिकित्सा औषधि सेवन, क्षार से या अग्नि से जलाना (दाग देना), और शस्त्र से काट देना, इन ४ प्रकार से होती है। इनमें से औषधि चिकित्सा सरल और निर्भय उपाय है। वालक, स्त्री, वृद्ध और निर्वल, सबके लिये हितकारक है। शेष ३ उपाय अति विचारपूर्वक करने चाहिये। इस अर्श रोग में शुष्क मस्से के लिये तीक्ष्ण लेप आदि क्रिया और रक्तार्श के लिये पथ्यपालन सह दीर्घकाल तक रक्तपित्तशामक चिकित्सा करनी चाहिये।

भगवान् धन्वन्तरि का मत है, कि जो अर्श थोड़े समय का हो, अल्प दोष, अल्प चिह्न और अल्प उपद्रव युक्त हो वह औषधि से साध्य होता है। जो मस्से कोमल, फैले हुए, गाढ़े और उभरे हुए हों, उनको क्षार या तिजाव से जलाना चाहिये। जो मस्से खरदरे, स्थिर, मोटे और कठिन हों, उनको अग्नि से दाग देना चाहिये; तथा जिनकी जड़ पतली हो,

लम्बे और क्लेदयुक्त हों, उनको शस्त्र से काट देना चाहिये। किन्तु जो मस्से भीतर होने से नहीं दीख सकते, उनको नष्ट करने के लिये औषधि का ही सेवन कराना चाहिये।

यदि शुद्ध रक्त गिरता है; तो तुरन्त बन्द कर देना चाहिये; और दूषित खून निकल रहा है; तो रोकना नहीं चाहिये। अन्यथा वह शूल, गुदा में पीड़ा, आफरा और रक्तविकारादि व्याधियों को उत्पन्न करता है। किन्तु रोगी अत्यन्त निस्तेज हो गया है; तो दूषित रक्त को भी तुरन्त बन्द कर देना चाहिये। एवं रक्तार्श में केवल पित्तानुबन्ध हो, वातकफानुबन्ध न हो; तो ग्रीष्म ऋतु में प्रवृत्त होने वाले रक्त को सर्वथा रोक देना उचित है।

गुदांकुर कड़े और शोथयुक्त हों; उनमें रक्त संचित हुआ हो; तथा सामान्य चिकित्सा से विकृति दूर न हुई हो, तो सुई, शस्त्र या जौंकें लगवाकर रक्त को निकाल देना चाहिये। दूषित रक्त के निकल जाने पर शोथ, वेदना और खुजली आदि पीड़ा दूर हो जाती हैं।

यदि पतले झागयुक्त दस्त होते हैं; तो वातातिसार समान चिकित्सा करें।

वातज अर्श में स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन और अनुवासन वस्ति का उपयोग आवश्यकतानुसार करना हितकर है।

पित्तज अर्श में विरेचन देना लाभदायक है।

रक्तज अर्श में संशमन चिकित्सा करना चाहिये।

कफज अर्श में वमन तथा अदरख, सोंठ और कुलथी का उपयोग हितकारक है।

मिश्र प्रकोप में मिश्र चिकित्सा करनी चाहिये।

त्रिदोषज अर्श में त्रिदोषशामक चिकित्सा तथा औषधियों से सिद्ध किया हुआ बकरी का दूध देना चाहिये।

वायु और मल का अवरोध हो, तो उदावर्त्त के समान; रक्त गिरता हो, तो रक्तपित्त के समान; और मल का विबन्ध हो, तो विबन्धनाशक सौम्य चिकित्सा करनी चाहिये।

वातानुबन्ध युक्त रक्तार्श का रक्त स्नेहसाध्य होता है; अर्थात् स्नेहपान, तैलाभ्यंग और अनुवासन वस्ति से जीतने का प्रयत्न करना चाहिये।

यदि मलावरोध रहता है; तो एरंड तैल का सेवन लाभदायक है।

यदि सगर्भा स्त्री को अर्श है; तो इसके लिये भी मलावरोध नहीं होने देना चाहिये। आवश्यकता पर मुनक्का आदि सौम्य वस्तु से कोष्ठशुद्धि कराते रहना चाहिये।

मलावरोध न हो; तो पहले पाचन औषधि देवें; तथा अग्नि बल बढ़ाने और वायु को अनुलोमन करने के लिये चिकित्सा करें।

मस्से बहुत मोटे फूले हों, तो अलसी का तैल ५-५ तोले दिन में २ समय पिलाना हितकारक है।

संग्रहणी के समान इस अर्श रोग में तक्र का सेवन अमृत सदृश लाभदायक है। किन्तु दूध को जमाने के पहले पात्र में चित्रकमूल को जल में घिसकर लेप कर लेना चाहिये। फिर उस दही में से मट्ठा बना कर उपयोग में लेवें। इस तक्र की प्रशंसा भगवान् आत्रेय ने चरक-संहिता के चिकित्सा स्थान में तक्र गुण के उपक्रम और उपसंहार, दोनों स्थानों में निम्न वचनों से की है।

"वातश्लेष्मार्शसां तक्रात् परं नास्तीह भेषजम्" ॥१४॥७७॥

"नास्ति तक्रात्परं किञ्चिदौषधं कफवातजे" ॥१४॥८८॥

वात और कफप्राधान्य अर्श में तक्र से बढ़ कर श्रेष्ठ कोई भी औषधि नहीं है। इन दोनों वचनों का तात्पर्य एक ही है। तक्र कल्प को अर्श नाशार्थ उत्तम माना है।

अग्नि मन्द है, तो केवल मक्खन निकाले हुए तक्र पर रक्खें; और अग्नि कुछ अच्छी है, तो शाम को खील के सत्तू की विलेपी देवें। या तक्र जीर्ण होने पर अर्थात् ७ दिन बाद मट्ठा डाल कर बनाई हुई पेया सैंधा-नमक मिलाकर देवें। फिर मट्ठा और भात दें। अनुपान रूप से घी दें या यूप अथवा मांसरस मट्ठे के साथ दें। इस तरह एक मास का प्रयोग कर फिर उपशम करें। धीरे धीरे दूसरे मास में प्रयोग समाप्त करें। कल्प के आरम्भ में मट्ठा बढ़ाते जायँ। फिर कम करते जायँ; और अन्न बढ़ाते जायँ। किन्तु सर्वदा शक्तिसंरक्षण और जठराग्नि की प्रदीप्ति के लिये लक्ष्य देते रहना चाहिये। इस तरह तक्र के प्रयोग से जलाये हुए अर्श पुनः

जीवित नहीं होते। इस विषय में उदाहरण सह भगवान् आत्रेय कहते हैं, कि:—

भूमावपि निषिक्तं तद्दहेत्तक्रं तृणोलुपम् ।
किं पुनर्दीप्तकायाग्नेः शुष्काण्यर्शांसि देहिनः ॥

जब भूमि पर सिंचन की हुई तक्र निकले हुए तृणों के समूहों को जला डालती है; तब तक्र प्रदीप्त अग्नि वालों के शुष्क अर्शों को भी जला दे; इसमें आश्चर्य ही क्या ?

अर्श, अतिसार और ग्रहणी, ये तीनों के हेतु सम होने से इन सब में अग्नि का संरक्षण आग्रहपूर्वक करना चाहिये। कारण आचार्यों ने कहा है, कि :—

अर्शांसि चातिसारश्च ग्रहणीदोष एव च ।
तेषामग्निबले हीने वृद्धिर्वृद्धे परिक्षयः ॥
अग्निमूलं बलं पुंसां बलमूलं हि जीवितम् ।
तस्मादग्निं सदा रक्षेदेषु त्रिषु विशेषतः ॥

अर्श, अतिसार और ग्रहणी दोष, इनमें जठराग्नि का बल न्यून होने पर रोग की वृद्धि होती है; और अग्निबल की वृद्धि होने पर रोगबल का ह्रास हो जाता है।

विचार दृष्टि से देखा जाय; तो मनुष्यों का बल जठराग्नि पर ही अवलम्बित है; और बल के आधार पर ही जीवन है। इसीलिये जठराग्नि का सर्वदा रक्षण करना चाहिये। इनमें भी इन तीन रोगों में तो विशेष सम्हाल रखना चाहिये।

सरल प्रयोग।

(१) ४ तोले काले तिल और २ तोले मक्खन रोज प्रातःकाल २१ दिन तक सेवन करने से सब प्रकार के मस्से नष्ट हो जाते हैं।

(२) काले तिल, भिलावे, हरड़ और गुड़ को सम भाग मिला कर ६–६ माशे के मोदक बनाकर प्रातः-सायं सेवन करते रहने से अर्श, श्वास, कास, प्लीहा, पाण्डु और जीर्ण सूक्ष्म ज्वर आदि रोग दूर होते हैं।

(३) कड़वी तोरई के क्षार के जल में बैंगन को उबाल, फिर घी में भूनकर गुड़ के साथ तृप्ति हो उतना खावें, और मट्ठा पीवें; तो बढ़े हुए मस्से भी निःसन्देह तुरन्त नष्ट हो जाते हैं। यदि ७ दिन तक सेवन करें; तो सहज अर्श का भी विनाश हो जाता है।

(४) सोंठ, शुद्ध भिलावे और विधारा, तीनों को सम भाग लें और सबके समान गुड़ मिलाकर ४-४ माशे की गोलियाँ बना सेवन कराने से सम्पूर्ण बढ़े हुए अर्श नष्ट हो जाते हैं।

(५) सैंधानमक, चित्रकमूल, इन्द्रजौ, करंज के बीज और बकायन के बीज को मिला चूर्ण कर ४-४ माशे मट्ठे के साथ सेवन कराने से ७ दिन में अर्श रोग नष्ट हो जाता है।

(६) छोटी हरड़ को घी में भून पीपल का चूर्ण और गुड़ मिला कर सेवन करने से मल शुद्धि होती है; और वायु का अनुलोमन होता है। इस तरह निशोथ और दन्तीमूल का चूर्ण भी २-३ माशे तक गुड़ के साथ देने से कोष्ठशुद्धि और वायु की सम्यक् प्रवृत्ति होती है।

(७) काले तिल २ तोले और १ नग भिलावा को मिला कूट थोड़ा गुड़ मिला कर खिलाने से अर्श और कुष्ठ, दोनों रोग नष्ट हो जाते हैं। यह अर्श शमन के लिये उत्तम योग है।

(८) जिमीकन्द (सुरण) को पुटपाक कृति से शोधन कर फिर तैल में भून सैंधानमक मिला कर खिलाने से अर्श के मस्से जल जाते हैं। अनेक मनुष्य नवरात्री में केवल इस सुरण का ही सेवन करते हैं, जिससे नव दिन में मस्से नष्ट हो जाते हैं; और आँतें बलवान बन जाती हैं।

(९) सोंठ और चित्रकमूल का चूर्ण ३-३ माशे निवाये जल के साथ दिन में २ समय सेवन कराते रहने से अर्श रोग शमन हो जाता है; और पचनक्रिया बलवान बनती है।

(१०) चव्य और चित्रकमूल का क्वाथ सेवन कराने से मन्दाग्नि दूर होती है; और दोष पचन होकर मस्से जल जाते हैं।

(११) पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रकमूल और सोंठ का चूर्ण तक्र के साथ सेवन कराने से दोष पचन होकर पचन क्रिया सुधरती है;

जिससे मस्से भी नष्ट हो जाते हैं।

(१२) एक मास तक भिलावे का प्रातः-सायं सेवन करने से सब प्रकार के साध्य और असाध्य अर्श रोग एवं कुष्ट रोग नष्ट हो जाते हैं। भिलावा के दो चार टुकड़े कर नागरवेल के पान में रख कर खिलावें। भिलावा खिलाने से पहले और पीछे ६-६ माशे घी चटावें। अन्यथा मुँह में शोथ हो जाता है। भिलावे को सरोते से काटने के समय हाथ पर भिलावे का तैल न लग जाय, यह सम्हाल रक्खें। अथवा हाथ पर घी लगा कर टुकड़े करें। भिलावे को चावने के समय मुँह से न बोलें। मुँह बन्द रख कर चाब लेवें। पहले १ सप्ताह तक १-१ भिलावा लेवें; फिर २-२ भिलावे लेते रहें।

भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं, कि:—

यथा सर्वाणि कुष्ठानि हतः खदिरबीजकौ।
तथैवार्शांसि सर्वाणि वृत्तकारुष्करौहतः॥

जैसे सब प्रकार के कुष्ट रोग को खदिर और बीजक (भल्लातक) नष्ट कर देते हैं। वैसे ही कुड़ा और भिलावा सब प्रकार के अर्श रोग का नाश कर डालते हैं।

कोष्ठशुद्धि के लिये—(१) विरेचनवटी (र० ५६६), नारायण चूर्ण (र० ५८६), स्वादिष्ट विरेचन चूर्ण (र० ५९०), त्रिफला चूर्ण (र० ५९१ निवाये जल से), अभयारिष्ट (र० ६५७) या गुलकन्द (र० ६८१), इनमें से अनुकूल औषधि का सुबह या रात्रि को सोने के समय सेवन करें। यदि नारायण चूर्ण, त्रिफला या गुलकन्द का सेवन करना हो, तो सुबह करें। शेष औषधि का सेवन रात्रि को करें।

(२) अरण्डी का तैल या अलसी का तैल पिलाने से आँतें मुलायम होती हैं; और मलावरोध दूर हो जाता है।

(३) हरड़ और पुराना गुड़ मिलाकर ६ माशे भोजन से पहले सेवन करें; या आवश्यकता पर निशोथ का चूर्ण त्रिफला के क्वाथ के साथ लेने से कब्ज दूर हो जाती है।

(४) हरड़ का चूर्ण तक्र के साथ सुबह सेवन करें, या सोंठ

३ माशे और बेलगिरी २ तोले का क्वाथ कर सेवन करें।

पाचन-क्रिया सुधारने के लिये—(१) लवणभास्कर चूर्ण ३-३ माशे दिन में २ समय मट्ठे के साथ लेते रहना चाहिये।

(२) स्नुहीकाण्डादि गुटिका—थूहर की टहनियाँ १६ तोले; कालानमक, बिड़नमक और सैंधानमक प्रत्येक ४-४ तोले, बैंगन १६ तोले, आंक की जड़ ३२ तोले और चित्रकमूल ८ तोले, सबको मिला घड़े में बन्द कर निर्धूम गोबरी की अग्नि पर जलावें। कोयले समान काला रंग हो जाने पर बैंगन के क्वाथ में १२ घण्टे खरल कर २-२ रत्ती की गोलियाँ बनावें। इसमें से भोजन के पश्चात् १ से २ गोली सेवन कराने से आहार जल्दी पचन होता है। कास, श्वास और अर्श रोगियों के लिये हितकर है। इस गुटिका के सेवन से विसूचिका, प्रतिश्याय और हृद्रोग का भी शमन हो जाता है।

(३) बृहच्छूरण मोदक—सूरण १६ तोले, चित्रकमूल ८ तोले, सोंठ ४ तोले, कालीमिर्च २ तोले; हरड़, बहेड़ा, आँवला, पीपल, पीपलामूल, तालीसपत्र, भिलावा और बायविडंग, प्रत्येक ४-४ तोले, काली मूसली ८ तोले, विधारा १६ तोले, भांगरा और छोटी इलायची २-२ तोले लें। सबका चूर्ण कर सबके वजन से दुगुना गुड़ मिला (गुड़ की चाशनी कर मिला) १-१ तोले के मोदक बना लें।

इनमें से १-१ मोदक रोज सुबह धनिक लोग सेवन करते रहें। कारण, इस औषधि पर गुरु और पौष्टिक भोजन करना चाहिये। अन्यथा यह मोदक उपद्रव करता है। यह मोदक अग्नि और बल-बुद्धि को बढ़ाता है; इतना ही नहीं वीर्य को भी वृद्धि करता है; और शस्त्र, क्षार या अग्नि से दाग दिये बिना ही अर्श को नष्ट करता है। शोथ, श्लीपद, कफवातात्मक ग्रहणी और वलीपलित सबको दूर करता है। मेधा और पुरुषत्व को बढ़ाता है; तथा हिक्का, श्वास, कास, राजयक्ष्मा, प्रमेह और अति उग्र प्लीहावृद्धि आदि को भी नष्ट कर देता है।

(४) पीलू रसायन—पीलू के फलों को १ या २ सप्ताह (या १ मास तक) तक रोज सुबह सेवन करें। ऊपर थोड़ा-थोड़ा नया अन्न

खायँ; तो अर्श, ग्रहणी, कृमि और गुल्म रोग का नाश हो जाता है।

(५) **विजय चूर्ण**—सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, हरड़, बहेड़ा, आँवला, दालचीनी, इलायची, तेजपात, वच, भुनी हींग, पाठा, जवाखार, हल्दी, दारुहल्दी, चव्य, कुटकी, इन्द्रजौ, चित्रकमूल, सौंफ, सैंधानमक, सांभरनमक, समुद्रनमक, बिड़लवण, कालानमक, पीपरामूल, बेलगिरी, अजमोद, इन २८ औषधियों को समभाग मिलाकर चूर्ण करें। इसमें से ४ से ६ माशे दिन में २ समय निवाये जल या एरंड तैल के साथ सेवन कराने से कास, शोथ, अर्श, भगन्दर, हृदयशूल, पार्श्वशूल, वातगुल्म, उदर रोग, हिक्का, श्वास, सब प्रकार के प्रमेह, कामला, पाण्डु, आम-प्राधान्य उदावर्त्त, अन्त्रवृद्धि, गुदा के कृमि रोग और अन्य ग्रहणी विकृति से उत्पन्न रोग, ये सब नष्ट होते हैं। महाज्वर, भूतोन्माद एवं वन्ध्यापन, इन सबको दूर करने के लिये ही इस विजय चूर्ण को आचार्य कृष्णात्रेय ने निर्माण किया है।

रक्तार्श चिकित्सा—(१) मक्खन और तिल के सेवन से या १ छटाँक बकरी के दूध में १ तोला काले तिल का कल्क और १ तोला मिश्री मिलाकर सुबह पीने से रक्त गिरना सत्वर बन्द हो जाता है।

(२) कमल केशर और नाग केशर २-२ माशे को मक्खन, मिश्री और शहद में मिलाकर सुबह सेवन कराने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

(३) लज्जावन्ती, नीले कमल के फूल, मोचरस, लोध, काले तिल और रक्तचन्दन को मिला १॥ तोले लें। फिर २४ तोले बकरी के दूध और दूध से ३ गुने जल में मिला दुग्धावशेष क्वाथ करें या इन औषधियों का चूर्ण ३ से ४ माशे दूध के साथ देने से रक्तस्राव सत्वर बन्द हो जाता है।

(४) चिरायता, रक्तचन्दन, धमासा और नागरमोथा का क्वाथ; या दारुहल्दी, दालचीनी, खस और नीम की अन्तरछाल का क्वाथ बनाकर सेवन कराने से रक्तज अर्श शमन हो जाता है।

(५) बेलगिरी या इन्द्रजौ के क्वाथ में सोंठ डालकर पिलाने से और कड़वी तोरई की जड़ का लेप करने से रक्तार्श रोग नष्ट होता है।

(६) कुड़े की छाल का चूर्ण ३ माशे मट्ठे के साथ सेवन करने से

रक्त गिरना सत्वर बन्द हो जाता है।

(७) अनार के फल के छिलके के काथ में सोंठ का चूर्ण या रक्त-चन्दन के काथ में नागरमोथे का चूर्ण मिलाकर पिलाने से रक्त गिरना बन्द हो जाता है।

(८) अपामार्ग के पत्तों का कल्क कर चावलों के धोवन के साथ पिलाने से या शतावरी के चूर्ण का बकरी के दूध के साथ सेवन कराने से या अनार के ४ तोले रस में ६ माशे मिश्री मिलाकर पिलाने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

(९) कुकरौंधे का रस १ से २ तोले में ६ माशे मिश्री मिलाकर पिलाने से रक्तस्राव सत्वर शमन हो जाता है।

(१०) उतरण के पत्ते २ तोले को घी में भून शकर मिलाकर खिलाने से रक्तस्राव दूर होता है।

(११) गेंदे की पत्ती ६ माशे और थोड़ी सी सफेद मिर्च मिला ठंडाई की तरह घोट, छानकर पिलाने से रक्तस्राव बन्द हो जाता है।

(१२) हुलहुल की पत्ती का शाक मट्ठा मिलाकर खिलाने से रक्तस्राव की निवृत्ति होती है।

(१३) भल्लातकादि मोदक—भिलावे, तिल और हरड़ का चूर्ण समभाग और सबसे दुगुना पुराना गुड़ मिलाकर आध-आध तोले के लड्डू बनावें। इनमें से १-१ लड्डू रोज सुबह एक मास पर्यन्त सेवन करने से पित्तज अर्श नष्ट होते हैं।

(१४) कुकरौंधे के रस को कढ़ाही में औटाकर गाढ़ा करें; फिर स्वरस का १६ वाँ हिस्सा कालीमिर्च का चूर्ण मिला २-२ रत्ती की गोलियाँ बनालें। १ से २ गोली दिन में २ समय जल के साथ देते रहने से थोड़े ही दिनों में रक्तार्श दूर होते हैं।

(१५) गिलोय सत्व १-१ माशा दिन में २ समय बकरी के दूध या मक्खन के साथ सेवन कराने से रक्त गिरना और वेदना का शमन होता है।

(१६) ५ तोले रीठे के छिल्के को जलाकर कोयला करें। फिर ६ माशे कत्था मिला लें। इसमें से १-१ रत्ती चूर्ण मक्खन या मलाई

के साथ ७ दिन तक देने से रक्तार्श नष्ट होते हैं। यह प्रयोग ६-६ मास के पश्चात् ३-वार करना चाहिये।

(१७) महानिम्ब (वकायन) के फलों का चूर्ण ४-४ माशे दिन में २ बार जल या वकरी या गाय के दूध के साथ १५ दिन तक सेवन कराने से रक्तार्श रोग नष्ट हो जाता है; तथा इन फलों की धूनी नली द्वारा मस्सों पर देते रहने से सब प्रकार के मस्से सूख जाते हैं।

(१८) तृणकान्तमणि पिष्टी (र० २६७), बोलवद्ध रस (र० ४१८), बोलपर्पटी (र० ३५६ प्रथम विधि), कांकायन वटी (र० ५६४), कुटजादि वटी (र० ५५४ मलावरोध न हो, तो), जातिफलादि वटी (र० ४१८), कुटजावलेह (र० ६८१), अर्शोहरवटी (र० ५६३), अर्शोघ्न चूर्ण (र० ५६६), नित्योदित रस (र० ४१७), शंखोदर रस (र० ४१४ तुरन्त रक्त वन्द करना हो, तो), इनमें से अनुकूल औषधि का सेवन कराने से रक्तार्श शमन हो जाता है।

(१९) लोहभस्म (र० १५७ त्रिजात के साथ); योगराज रस (र० ४३६), नवायस लोह (र० ४३६), नित्योदित रस (र० ४१७), सुवर्णमाक्षिक भस्म (र० २०२ नागकेशर, तेजपात और इलायची के साथ), ये सव औषधियाँ रक्तस्राव को दूर करती हैं; तथा शूल, हृदय-व्यथा, शोथ और पाण्डुता का भी नाश करती हैं। इन औषधियों का सेवन रक्तार्श रोगी के लिये अति हितकर है। इनमें से जो रोगी की प्रकृति को अधिक अनुकूल हो उसे प्रयोग में लावें।

(२०) पलाशक्षारघृत—पलाश की राख कर १६ गुने जल में भिगो दें। फिर ऊपर से नितरे हुए जल को निकाल लें। पश्चात् इस पलाशक्षार का ८ सेर जल, २ सेर गोघृत तथा ४० तोले त्रिकटु का कल्क मिलाकर घृतपाक करें। जव फटे हुए दूध के समान आकृति हो जाय; और वुद-वुदे उठने लगें तव घृत को सिद्ध समझ कर उतार लेवें। इसमें से १-१ तोला घृत दिन में २ समय पिलाते रहने से नये और पुराने सव प्रकार के अर्श के मस्से निःसंशय गिर जाते हैं।

(२१) तक्रारिष्ट—हाऊवेर, कलौंजी, धनिया, कालाजीरा,

सौंफ, कचूर, पीपल, पीपलामूल, चित्रकमूल, गजपीपल, अजवायन और अजमोद, इन १२ औषधियों को १-१ तोला मिलाकर चूर्ण करें। फिर गौ के दही में ३ गुना जल मिलाकर बनाया हुआ मट्ठा १। सेर मिलाकर चिकने घड़े या अमृतबान में भर देवें। जब ३-४ दिन बाद स्वाद खट्टा और चरपरा हो जाय तब पिलाने के लिये उपयोग में लेवें। भोजन के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में जल के स्थान पर इस तक्र का सेवन करावें। यह तक्रारिष्ट दीपन, रुचिकर, वर्णवर्धक, कफ और वायु का अनुलोमन कराने वाला तथा गुदा की शोथ, खुजली और वेदना को दूर करता है; एवं बल को बढ़ाता है।

(२२) कलिङ्गादि गुटिका—इन्द्रजौ, कलिहारी, पीपल, चित्रकमूल, अपामार्ग के चावल, चिरायता और सैंधानमक को समभाग लेवें। फिर सबके वजन से दुगुना गुड़ (गुड़ की चाशनी) मिलाकर जंगली बेर समान गोलियाँ बना लें। इनमें से २-२ गोली मट्ठे के साथ दिन में २ समय देते रहने से सब प्रकार के अर्श नष्ट हो जाते हैं।

पुराने रोग में निर्बलता शमन के लिये—अभ्रकभस्म (र० २१६ दाड़िमावलेह या कुटजावलेह के साथ), लोहभस्म या वैडूर्यपिष्टी (र० २३४) में से किसी एक का सेवन करावें।

वातप्राधान्य अर्श चिकित्सा।

(१) दुर्नामकुठार वटी (र० ५६४), प्राणदागुटिका (र० ५६४) या हिंग्वादि चूर्ण (र० ५६३), इनमें से किसी एक का सेवन कराने से वातज अर्श शमन हो जाते हैं।

(२) कल्याण लवण—भिलावे, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आँवला), दन्तीमूल और चित्रकमूल, प्रत्येक ५-५ तोले और सैंधानमक ४० तोले लेवें। इन सबको जौकुट कर शराव सम्पुट में डाल, सन्धि लेप करें। फिर सूखने पर गोबरी की निर्धूम मृदु अग्नि पर पकावें। स्वाँग शीतल होने पर खरल कर बोतल में भर लेवें। यह लवण अर्श रोगियों के लिये अति हितावह है। इस लवण को तक्र के साथ सेवन

करावें; एवं भोजन में भी मिला लेवें।

(३) जीर्ण रोग हो, तो—महायोगराजगूगल (र० ४६७) और पहले कहे हुए बृहच्छूरण मोदक का सेवन भी अति हितकर है।

पित्तज अर्श चिकित्सा।

(१) पित्तप्राधान्य रक्तार्श में दाह और बेचैनी दूर करने के लिये राजावर्त्त भस्म (र० २३६), मौक्तिकपिष्टी (र० २४१ मक्खन-मिश्री के साथ) या प्रवालपिष्टी (र० २४३ गिलोयसत्व और अनार शर्बत के साथ) में से एक औषधि का सेवन दिन में २ या ३ वार थोड़े दिनों तक कराते रहना चाहिये।

(२) समशर्कर चूर्ण—छोटी इलायची के दाने १ तोला, दालचीनी २ तोले, तेजपात ३ तोले, नागकेशर ४ तोले, सफेद मिर्च ५ तोले, पीपल ६ तोले और सोंठ ७ तोले, सबका कपड़-छान चूर्ण कर २८ तोले मिश्री मिला लें। इस चूर्ण में से ४ से ६ माशे प्रातः-सायं बकरी के दूध, शहद, जल या तक्र के साथ सेवन कराने से पाचन-क्रिया सबल हो जाती है। जिससे अर्श, अग्निमांद्य, कास, अरुचि, श्वास, कण्ठ-विकार और हृद्रोग आदि व्याधियाँ निवृत्त हो जाती हैं।

(३) नेत्रवाला और सोंठ को मिला चूर्ण कर मिश्री मिले बकरी के दूध या शहद के साथ देने से पित्तज अर्श की वेदना दूर होती है।

(४) गिलोय सत्व अथवा नागकेशर और छोटी इलायची के चूर्ण को मक्खन-मिश्री के साथ देने से दाह और बेचैनी दूर होती है।

(५) भल्लातक मोदक (पहले लिखे हुए) का सेवन कराने से पित्तज अर्श नष्ट हो जाते हैं।

कफप्राधान्य अर्श चिकित्सा।

(१) लवणभास्कर चूर्ण (र० ५८५) या प्राणदा गुटिका (र० ५६४) का सेवन कराने से पाचनशक्ति बलवान बन कर कफज अर्श की निवृत्ति होती है।

(२) पञ्चकोल का चूर्ण मिला हुआ मट्ठा १ मास तक पिलाने से

कफज अर्श दूर होते हैं।

(३) ऊपर कही हुई स्नुहीकाण्डादि गुटिका का सेवन कराने से कफज अर्श ज़ल जाते हैं।

(४) उपदंश के उपद्रव रूप अर्श होवे, तो—हरताल भस्म (र० २६८), मल्लभस्म प्रथम विधि (र० २७७) या मल्लादि वटी (र० ५०६) में से एक औषधि का सेवन कराना चाहिये।

सगर्भा के मलावरोध को दूर करने के लिये—(१) दो-तीन तोले मुनक्का (बीज निकाली हुई) का क्वाथ कर सुबह पिलाने से दस्त साफ़ आ जाता है।

(२) त्रिफला चूर्ण ३ से ४ माशे सुवह निवाये जल के साथ देने से ३ घण्टे में दस्त हो जाता है।

(३) हरड़ या आँवले का मुरब्बा या गुलकन्द २-३ तोले खिलाने से मल-शुद्धि हो जाती है।

(४) पक्के ताजे अंजीर २-३ खिलाने से शौचशुद्धि हो जाती है।

सगर्भा के मस्से पर लेप—(१) रसौंत को जल में पीस कर दिन में दो बार लेप करें।

(२) माजूफल को जल में घिस थोड़ी-सी अफीम मिला कर मस्से पर लेप करने से मस्से की वेदना शान्त हो जाती है।

(३) अर्शोहर मल्हम चौथी विधि (र० ७७२) का अथवा दाह अधिक हो, तो अर्शोहर मल्हम दूसरी विधि का लेप करें।

(४) मस्से फूल गये हों, तो भांग को जल में पीस थोड़ा घी मिला गरम कर पुल्टिस जैसा वना मस्से पर या गुदद्वार पर बांध देने से जलन, शोथ और खुजली दूर होते हैं।

सगर्भा के दाह सह रक्तार्श पर—कामदूधा रस (र० ४५३) दिन में २ से ३ समय वकरी के दूध अथवा मक्खन-मिश्री या ताजे मट्ठे के साथ देते रहें।

लेपादि बाह्य चिकित्सा।

(१) कासीसादि तैल (र० ७२५), अर्शोघ्न तैल (र० ७२८), अर्शोहर मल्हम (र० ७७२), अर्शोहर लेप (र० ७६०), प्रतिसारणीय क्षार (८ गुने मक्खन में मिलाकर र० ७५३), इनमें से अनुकूल औषधि का उपयोग करें। शौच जाने के पश्चात् दिन में २-३ बार लगाते रहने से एक दो मास में मस्से निःसत्त्व हो जाते हैं।

(२) **क्षार पातन विधि**—जो रोगी बलवान हो, उसे स्नेहन, स्वेदन करा, वात प्रकोप न हो जाय, इसलिये थोड़े प्रमाण में स्निग्ध-उष्ण पतला अन्न खिलावें। फिर पवित्र स्थान में बद्दल, वर्षा आदि उपद्रव से रहित काल में तख्त या पलंग पर औंधा लेटा कर कमर का भाग कुछ ऊँचा रक्खावें। पश्चात् अर्शोयन्त्र (गोस्तन सदृश यन्त्र) पर घृत लगा धीरे धीरे गुदा में प्रवेश करा मस्सों को सलाई से दबा सम्हालपूर्वक क्षार (तिजाव) लगावें।

क्षार लगाने से पहले (भीतर के) मस्से को अर्शोयन्त्र से पकड़ कर शाखोट (सिहोरा) या निर्गुण्डी के पत्ते से रगड़ना चाहिये। फिर सलाई से क्षार का लेप कर १०० मात्रा काल (३२ सेकण्ड) तक यन्त्र को बन्द रखना चाहिये। मस्से जामुन के पक्के फल समान वर्ण के हो जायँ, तो उत्तम; अन्यथा फिर दूसरी बार लेप करना चाहिये।

अधिक मस्से हों, तो—पहले दहिनी ओर से क्षार लगाने का प्रारम्भ करें। फिर बांयी ओर, पश्चात् पीठ की ओर तथा सबके अंत में आगे की ओर लगावें। सात-सात दिन में एक-एक मस्से को दग्ध करें।

वातज और कफज अर्श को अग्नि या तीव्र क्षार से दग्ध करें। और पित्त या रक्त से उत्पन्न अर्श को मृदु क्षार से जलावें।

किन्तु जो मस्से बड़े हों जिनकी जड़ पतली हों; उन्हें शस्त्र द्वारा ही काटना चाहिये।

यदि अति दग्ध होने से मूर्च्छा, दाह, ज्वर आदि उपद्रव होजाय;

तो शीतल वातपित्तशामक उपचार करें। शीतल अम्ल रस से क्षार की उग्रता का शमन हो जाता है। यदि भूल हो जायगी, तो भ्रम, नपुंसकता, शोथ, दाह, मद, मूर्च्छा, आफरा, मलावरोध, अतिसार और प्रवाहिका आदि रोगों की उत्पत्ति हो जाती है, क्वचित् मृत्यु भी हो जाती है। इसलिये खूब सम्हालपूर्वक दग्धक्रिया करनी चाहिये।

क्षार लगाने के पश्चात् भूसी सह धान की कांजी से सिञ्चित करें। फिर मुलहठी के कल्क में घी को मिला कर लेप करें।

अग्नि से दग्ध करने पर मस्से मुलायम ताड़ के फल सदृश सफेद हो जाते हैं; और रक्त जंम जाता है। फिर दाह शमन के लिये घी और शहद लगाना चाहिये। या सम्यक् दग्ध होने पर वंशलोचन, पाखर की छाल, सफेद चंदन, सोनागेरु और गिलोय का चूर्ण, इन ५ औषधियों को घी के साथ मिलाकर लेप करें। फिर निवाये जल से भरे हुए पात्र में आध से पौन घण्टे तक बैठाना चाहिये।

(३) पीपल, सैंधानमक, कड़वा कूट और सिरस के बीज को थूहर के दूध में या आक के दूध में पीसकर लेप करने से बवासीर नष्ट हो जाता है। परन्तु लेप दूसरी जगह न लग जाय, इस बात का लक्ष्य रखना चाहिये। अन्यथा दाह होने लगता है। कदाच लेप इतर जगह लग जाने से दाह हो जाय; तो घी या मक्खन लगावें।

(४) हल्दी मिलाये हुए थूहर के दूध में ७ वार या अधिक समय डुबो-डुबो कर सुखाये हुए मजबूत डोरे को अर्श पर कस कर बाँध देने से थोड़े ही दिनों में मस्से कट कर गिर जाते हैं।

(५) सेंहुड़ के दूध में हल्दी मिलाकर मस्से पर एक बिन्दु लगावें। दूसरे-तीसरे दिन पुनः-पुनः उसी स्थान पर बिन्दु लगावें। इस तरह ३-४ समय बिन्दु लगाने से मस्से गिर जाते हैं।

(६) कड़वी तोरई का चूर्ण मस्से पर मलने से मस्से गिर जाते हैं।

(७) मनुष्य की हड्डी और नीलाथोथा का फूला १-१ तोला और दालचिकना ६ माशे लें। इन तीनों को खरल कर ५ तोले धोये घी में मिला मल्हम बनाकर मस्से पर लेप करने से मस्से गिर जाते हैं।

(८) कच्चे पपीते (एरण्ड ककड़ी) का रस मस्से पर ३ से ७ दिन तक दिन में दो दो वार लगाने से मस्से नष्ट हो जाते हैं।

(६) सूअर की चर्वी में अफीम मिलाकर अर्श पर लेप करते रहने से मस्से मुर्भा जाते हैं।

(१०) कड़वी तोरई के फूल को गुड़ (गुड़ की चाशनी) में मिला कर वत्ती वनावें। इस वत्ती को गुदा में रखने से मस्से नष्ट हो जाते हैं।

(११) कड़वी तुम्बी के बीज और सांभर नमक को मिला कांजी में पीस २-२ माशे की ३ लम्बी गोलियाँ वनावें। ३ दिन तक एक-एक गोली गुदा में रक्खें; और भैंस का दही खावें; तो अर्श रोग दूर हो जाता है।

(१२) हरड़, कड़वी तोरई और समुद्रफेन को जल या मट्ठे में पीस-कर लेप करने से मस्से सूख जाते हैं।

(१३) अफीम १ भाग, कपूर ४ भाग और सज्जीखार ८ भाग और सवके समान धोया गोघृत लें। इन सवको मिला अर्श पर लेप करते रहने से थोड़े ही दिनों में अर्श नष्ट हो जाते हैं।

(१४) नीम की निवोली की मींगी १० तोले और १ तोला सांभरनमक या विड़नमक मिला वारीक पीस कल्क कर ग्लास में डालें। ऊपर थोड़ा जल डालें। थोड़े समय वाद इसमें से दिन में २ समय लेप लगाते रहने से मस्से की वेदना नष्ट हो जाती है।

(१५) आक का दूध, थूहर का दूध, कड़वी तुम्बी के पत्ते और करंज की छाल, इन ४ औषधियों को वकरे के मूत्र में ख़रल कर दिन में २ समय लेप करते रहनेसे अर्श के मस्से थोड़े ही दिनों में गिर जाते हैं।

(१६) हल्दी को थूहर के दूध में घिसकर लगाने से मस्से गिर जाते हैं।

(१७) वीज सहित कड़वी तुम्बी को कांजी में पीस गुड़ मिला कर पुल्टिस वना मस्से पर वाँध देने से मूल सह अर्शरोग नष्ट हो जाता है।

(१८) पीलू के तैल में कपड़े या रुई की वत्ती को भिगो गुदा में रखने से अर्श के अंकुर गिर जाते हैं; और पीड़ा भी नहीं होती।

(१६) हाथी की लीद, घी, राल, शिलारस, हल्दी और थूहर के दूध को पीसकर मस्से पर लेप करने से मस्से दूर हो जाते हैं।

(२०) कुकरौंधा, भाँग और मरवे के पत्तों को जल में पीस टिकिया बना, निवायी कर प्रातः-सायं मस्से पर बाँधते रहने से तीक्ष्ण पीड़ा सह अर्श रोग एक सप्ताह में दूर हो जाता है।

(२१) भाँग की पत्ती को दूध में पीस निवायी कर गुदा पर बाँध देने से मस्से की शोथ और वेदना नष्ट होती है।

(२२) अर्शोहर वटी—चित्रकमूल, सोहागे का फूला, हल्दी और गुड़, सबको सम भाग मिला जल के साथ खरल कर सोगठियां (शिखर आकार की गोलियाँ) बना लेवें। इनमें से एक सोगठी को जल में घिस शौच जाने के पश्चात् दिन में २ या अधिक बार मस्से पर लेप करते रहने से थोड़े ही दिनों मे मस्से निमू ल हो जाते हैं।

सूचना—मलावरोध रहता हो, तो ४ माशे हरड़ का चूर्ण थोड़ा गुड़ मिलाकर रात्रि को सेवन करते रहने से शौचशुद्धि होती रहती है; और मस्से नष्ट होने में सहायता मिल जाती है।

(२३) अर्शोहर लेप—लगभग १ सेर वजन का मारु बैंगन लेकर डण्ठल तक ४ फाँक करें। फिर उसमें ३ माशे नीलेथोथे का चूर्ण भर ऊपर कपड़ा लपेट लेवें। पश्चात् एक हांडी में चावल पकावें; और उसमें इस बैंगन को दबा देवें। चावल पक जाने पर बैंगन को निकाल एक कांच या चीनी मिट्टी के पात्र में रस निचोड़ लेवें; और चावलों को जमीन में गाड़ देवें। इस रस में रुई का फाहा भिगो, गुदा के द्वार को खोल, मस्से पर रक्खें। पश्चात् ऊपर आक का पत्ता रख लँगोट बांध लेवें। यह क्रिया रात्रि को सोने के समय करने से बहुधा एक ही रात्रि में मस्से जल जाते हैं। यह बिल्कुल निर्भय और उत्तम प्रयोग है।

डाक्टरी में अर्श के मस्से पर लगाने के लिये निम्न मल्हम का उपयोग अधिक किया जाता है।

(१) कोकेन हाइड्रोक्लोराइड	Cocainae Hydrochlo.	२० ग्रेन
मोर्फिन ,,	Morphinae ,,	५ ग्रेन
एट्रोपीन सल्फेट	Atropinae Sulphatis	४ ग्रेन
एसिड टॅनिक	Acid Tannic	२० ग्रेन

वेसलाइन	Vaseline	४ ड्राम

इन सबको मिला लेवें; तथा सुगन्धि के लिए गुलाब का इत्र थोड़ा डाल दें। इसमें से थोड़ा थोड़ा दिन में २-३ बार मस्से पर शौच जाने के बाद लगाते रहें।

(२) मस्से पर अधिक खुजली आने पर:—

क्राइसरोबीन	Chrysarobin	१५ ग्रेन
आइडोफॉर्म	Idoform	६ ग्रेन
एक्सट्रेक्ट बेलाडोना	Ext. Belladonna	१२ ग्रेन
वेसलाइन	Vaseline	५॥ ड्राम

इन सबको मिलाकर मल्हम बना लेवें। फिर दिन में कितनीक बार लगाते रहें। लगाने के पहले कार्बोलिक सोल्युशन (१-४०) से धो लेवें।

मस्से निकालने के बाद निर्बलता पर—रौप्यभस्म, अभ्रकभस्म और लोहभस्म, तीनों को मिलाकर १ से २ रत्ती मक्खन-मिश्री या बकरी के दूध के साथ दिन में २ समय १ मास तक सेवन करावें।

सूजन और तीक्ष्ण दर्द में धूम्र—(१) अर्शोघ्न धूम्र (र० ७७७) देने से वेदना सत्वर शमन हो जाती है।

(२) आक की जड़, शमी के पत्ते, मनुष्य के केश, सांप की केंचुली, बिल्ली का चमड़ा और घी को मिला, अग्नि पर डाल मस्से को धुंआ देने से मस्से मुरझा जाते हैं।

(३) कपूर का धुँआ नली द्वारा मस्सों पर लगाने से रक्त गिरना बन्द हो जाता है।

(४) भैंस के सींग जंगलों में गिर जाने से उसमें से अंकुर फूट जाते हैं। ऐसे सींगों के २ तोले चूर्ण को घी में मिला, फिर अग्नि पर डाल कर धुँआ देने से मस्से मुरझा जाते हैं।

(५) देवदाली (बंदाल) के सूखे फल का धुँआ देने से पीड़ा शमन होती है।

(६) लोबान का धुँआ देने से तीक्ष्ण पीड़ा दूर होती है।

(७) सरसों के तैल में राल का चूर्ण मिलाकर मस्से पर धुँआ देने से रक्तस्राव शमन हो जाता है।

(८) मस्से पर कुचले का धुँआ देने से शोथ, रक्तस्राव और वेदना की निवृत्ति होती है।

(९) बड़ी कटेली के फल, असगंध, पीपल, तुलसी और घृत को मिला मस्से पर धूनी देने से मस्से की वेदना और खुजली शमन होती है।

अर्शोहर सेक—(१) तिलों की लुगदी बना कपड़े में बांध गरम कर सेक करने से मस्सों की पीड़ा नष्ट हो जाती है।

(२) देवदाली के फलों को औटा कर नली द्वारा मस्से पर वाष्प देने से बवासोर की पीड़ा दूर होती है।

(३) एरंडमूल, देवदारु, रास्ना और मुलहठी, सब समभाग और गेहूँ का दलिया सबके समान मिला दूध में डालकर पकावें। फिर रोगी से सहन हो सके उस तरह इस औषधि से सेक करने से बवासीर की तीव्र वेदना शमन हो जाती है।

(४) वच और सौंफ को पीस थोड़ा घी मिला गरम कर निवाया-निवाया लेप और सेक करने से वेदना सत्वर शमन होती है।

(५) हुक्के के सड़े हुए जल से आवदस्त लेने से बवासीर की खुजली, शोथ और वेदना दूर हो जाती है।

(६) काकड़ासींगी के भिगोये हुए जल से आवदस्त लेने से अर्श की वेदना दूर हो जाती है।

(७) नीम की निबोली का तैल निकाल मस्सों पर लगाने से मस्से की पीड़ा दूर होती है।

लिङ्गार्श पर लेप—(१) अपामार्ग का क्षार और हरताल, दोनों को मिला कर लेप करने से नये और पुराने लिङ्गार्श नष्ट होते हैं।

(२) छोटी हरड़, कड़वी तोरई और समुद्रफेन को मट्ठे में पीस कर दिन में २-३ बार लेप करने से लिङ्गार्श निःसंशय दूर होता है।

चर्मकील—चर्मकील को शस्त्र से काटकर फिर क्षार या अग्नि से जला देना चाहिये।

उपद्रव चिकित्सा।

(१) यदि मस्से अति दग्ध होने से ज्वर आ जाय तो शीतल वातपित्तशामक उपचार करना चाहिये।

(२) मल-मूत्रावरोध हो जाय; तो निवाये जल में जवाखार १ से २ माशे मिलाकर पिलावें; और वरना, गोरखमुण्डी, एरण्डमूल, गोखरू, पुनर्नवा, कालाजीरा और गन्धतृण को ३२ गुने जल में मिला उबाल, टव या कढ़ाही में भरें। फिर निवाया रहने पर उस जल में बैठावें।

(३) वस्ति में दाह हो जाय; तो शतधौत घृत का लेप करें।

(४) वस्तिशूल हो जाय; तो पुनर्नवा, कूठ, गन्धतृण, सौंफ, अगर और देवदारु को मिला कल्क कर नाभि के नीचे वस्तिस्थान पर लेप करें।

(५) व्रण पक जाय; तो व्रण शुद्धि के लिये त्रिफला के क्वाथ में १ माशा शुद्ध गूगल को मिलाकर पिलावें; तथा व्रणहर मल्हम का लेप करें।

पथ्य—विरेचन, लेप, रुधिर निकालना, क्षार, अग्नि से दाग देना, शस्त्रकर्म, साफ हवा में घूमना, नदी और तालाव में स्नान, पुराना लाल शालि और साँठी चावल, गेहूँ, जौ, मूँग या कुल्थी की दाल, परवल, कच्चा पपीता, कच्चा केला, सुहिंजने की फली, गूलर के कच्चे फल, पुनर्नवा, नीबू, आँवले, पक्के कैथ, मृगमांस, करेला आदि कड़वे पदार्थ, लहसन, प्याज, सूरण (जिमीकन्द), वथुआ, चौलाई, पोई, पालक, जीवन्ती, कोमल मूली, कोमल वैंगन, काँजी, सरसों का तैल, एरण्ड तैल, एरण्ड तैल में तली हुई पूरी, तक्र, घी, वकरी का दूध, मक्खन, सैंधानमक, कालानमक, गोमूत्र, छोटी इलायची, थोड़ी शराव, हरड़, चित्रकमूल, भिलावा, काँजी, काले तिल, किसमिस, अँगूर, अनार, मिश्री, पीलू के फल, जीरा, धनिया, सोंठ, कालीमिर्च, पीपल, अजमोद, दीपन-पाचन अन्न-जल, वायु की गति को अनुलोमन करने वाले आहार-विहार और औषधि, ये सब हितकारक हैं।

रक्तस्रावघ्नी पेया—अम्लोनिया, नागकेशर और नीले कमल के साथ खीलों के सत्तू को मिला पेया वनाकर सेवन कराने से रक्तस्राव तुरन्त वन्द हो जाता है।

खरैंटी और पृश्नपर्णी के काथ में या कुड़े की छाल के काथ में पेया बनाकर पिलाने से सत्वर रक्तस्राव शमन होते हैं।

अधोवायु और मल का अवरोध होने पर मोर, तीतर, लावा, मुर्गा या बटेर के मांसरस में मट्ठा या इतर दाड़िम आदि खटाई मिलाकर देवें।

सूचना—जिनको भिलावा अनुकूल न रहे, शोथ लावे या दाह करे; उनको नहीं देना चाहिये।

अपथ्य—अनूपदेश के पशुओं का मांस, मत्स्य, तिलकूट, दही, मैदा के पदार्थ, शुष्क भूने हुए पदार्थ, उड़द, नया चावल, सेम, बेलफल, सफेद मीठी तूम्बी, चौलाई, जीवन्ती, पोई, भसींडे, पक्के आम, मलावरोध करने वाले समस्त पदार्थ, पक्का भोजन, सूर्य का ताप, अग्नि सेवन, नदी का जल, वमन, वस्ति, पूर्व दिशा की वायु, मल-मूत्रादि वेग का धारण, स्त्री-समागम, घोड़े आदि पर सवारी, ऊकडू बैठना, वायु को प्रकुपित करने वाले आहार-विहार, ये सब अपथ्य हैं।

मलावरोध होने पर इस रोग में अधिक त्रास होता है। इसलिये मलावरोध न होने दें; और कदाच कब्ज हो जाय तो सत्वर दूर करना चाहिये।

यदि अधिक रक्तस्राव होता हो; तो रक्तपित्त रोग के समान भी पथ्यापथ्य का पालन करना चाहिये।

(८) अग्निमान्द्य।

अग्निमान्द्य—मन्दाग्नि—पाचक अग्नि कमजोर होना—जोफ उल मेअदा—एटॉनिक डिस्पेप्सिया Atonic Dyspepsia।

जठराग्नि के ४ प्रकार हैं। सम, विषम, तीक्ष्ण और मन्द। जब वात, पित्त और कफ, तीनों दोष सम अवस्था में रहते हैं, तब अग्नि सम; वात वृद्धि होने से विषम; पित्ताधिकता होने से तीक्ष्ण; और कफ दोष बढ़ने पर अग्नि मन्द हो जाती है।

यदि अग्निमांद्य होने पर सत्वर योग्य चिकित्सा न की जाय; तो विषमाग्नि से अनेक प्रकार की वातज व्याधि, तीक्ष्णाग्नि से पित्तज व्याधि,

और मन्द अग्नि से कफज व्याधियों की उत्पत्ति होती है। इसलिये अग्निमान्द्य की उपेक्षा कदापि नहीं करनी चाहिये। इस विषय में प्राचीन आचार्यों ने कहा है, कि:—

"अस्तु दोषशतं क्रुद्धं सन्तु व्याधि शतानि च।
कायाग्निमेव मतिमान् रक्षन् रक्षति जीवितम् ॥"

यदि सैकड़ों दोष कुपित हुए हों, या सैकड़ों प्रकार की व्याधियां हो गई हों; तो भी बुद्धिमान् को चाहिये कि जठराग्नि का आग्रहपूर्वक रक्षण करने के साथ जीवन की रक्षा करें।

(१) वातप्राधान्य अग्निमान्द्य के लक्षण—भोजन कभी पचन होना, कभी न होना, आफरा, उदावर्त्त, मलावरोध, शूल, पेट में भारीपन, कचित् अतिसार और आंत्र में गुड़गुड़ाहटादि लक्षण होते हैं।

(२) पित्तप्राधान्य अग्निमान्द्य का लक्षण—इस प्रकोप में पित्त तीव्र हो जाता है; जिससे खाया हुआ अन्न जल जाना, अधिक प्रस्वेद, दाह, प्यास, निद्रा कम आना, पतले पीले दस्त और मूत्र में पीलापन आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

(३) कफ प्राधान्य अग्निमान्द्य के लक्षण—खाया हुआ अन्न बहुत देर में पचन होना, कफवृद्धि, आमसंचय, आलस्य, निद्रावृद्धि, मुँह में मीठापन, उबाक, कचित् वमन, ग्लानि तथा शिर और पेट में भारीपन आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

(४) भस्मक—तीक्ष्णाग्नि—बुलिमिया Bulimia—

इस रोग में जठराग्नि प्रकुपित होकर आहार के सत्वांश को जला कर भस्म कर देती है। इस हेतु से इस रोग को आचार्यों ने भस्मक रोग कहा है। इस भस्मक रोग की संप्राप्ति होने पर यदि क्षुधा काल में भोजन न मिले; तो जठराग्नि रस-रक्तादि धातुओं को भस्म करने लगती है।

भस्मक रोग के निदान—हींग, राई आदि अत्यंत तीक्ष्ण, क्षार आदि या शुष्क भोजन, अथवा गांजा, चरस, गन्धक या ताम्र भस्मादि का अति सेवन, काकमांस या मार्जार मांस का भक्षण, इन कारणों से एवं मधुमेह, गलगण्ड, कृमिविकार और इतर क्षयोत्पादक रोगों के हेतु से

कफ क्षय और वात पित्त प्रकोप हो जाता है। जिससे ४-६ गुने आहार करने पर भी रोगी को सच्ची तृप्ति नहीं होती। भोजन करने पर कुछ समय तक शान्ति रहती है; और भोजन पच जाने पर पुनः हाथ-पैर टूटने लगते हैं।

ऊपर कहे हुए कारणों के अतिरिक्त किसी-किसी स्त्रियों को सगर्भावस्था में कुछ दिनों के लिये क्षुधा अति प्रदीप्त हो जाती है; और भस्मक रोग के समान लक्षण प्रतीत होते हैं।

भस्मक रोग लक्षण—भोजन करने पर थोड़े ही समय में क्षुधा लग जाना, तृषा, श्वास, शुष्क कास, पसीना, दाह, शोथ, मूर्च्छा, शुष्क त्वचा, कृशता, क्रोध, नेत्र में लाली, निद्रा कम हो जाना, बेचैनी, मल-मूत्र में पीलापन और क्वचित् अतिसार आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

आयुर्वेद में अग्निमांद्य, अजीर्ण, अतिसार, ज्वर, अरुचि, वमन, तृषा, दाह, अम्लपित्त, परिणाम शूलादि अनेक रोगों को स्वतन्त्र व्याधि रूप माना है। किन्तु इनको डाक्टरी में मुख्य रोग नहीं माना। डाक्टरी मत में इन्द्रिय विज्ञान और सम्प्राप्ति शास्त्र की दृष्टि से इन सबको रोग के लक्षण रूप माने हैं। तथापि उनको भी चिकित्सा दृष्टि से स्वतन्त्र रोग समान पृथक् विवेचन करना पड़ा है।

आमाशय के रोग समझने के पहले भोजन में रहे हुए तत्त्व और आमाशय में होती हुई पचनक्रिया का संक्षेप में वर्णन करने की आवश्यकता रहती है। अपने खान-पान के पदार्थों में रासायनिक दृष्टि से (१) कार्बोहाइड्रेट्स (Carbohydrates), (२) प्रोटीन (Protein), (३) फॅट (Fat), (४) जल, (५) लवण और (६) विटामिन (खाद्योज Vitamin), ये सब न्यूनाधिक परिमाण में मिश्रित रहते हैं। इनके अतिरिक्त खाद्य पदार्थों में विद्युत शक्ति (इलेक्ट्रीसिटी Electricity) भी होती है।

(१) कार्बोहाइड्रेट्स—यह तत्त्व मधुरता प्राधान्य है। यह शरीर में पहुँच कर शक्ति को उत्पन्न करता है। शक्कर, चावल, गेहूँ, बाजरी, जौ, दाल, अरारोट, अंगूर, आम, अंजीर, शकरकन्द, आलूबुखारा, ईख आदि मीठे फल, सबमें यह सत्व विशेषांश में मिलता है। यह तत्त्व मांस की अपेक्षा वनस्पतियों में से बहुत अधिक मात्रा में मिलता है।

इसमें ३ प्रकार हैं। शर्करा (Sugar), श्वेतसार अर्थात् निसास्ता (स्टार्च

Starch) और काष्ठौज (सेल्युलोज़ Cellulose), इनमें से शर्करा और श्वेतसार शक्तिवर्धक और बलप्रद हैं; किन्तु काष्ठौज का पचन मानव जठराग्नि से नहीं होता। फिर भी भोजन में काष्ठौज की आवश्यकता रहती है। काष्ठौज होने पर दाँत साफ़ होते जाते हैं और भोजन का पचन भी सत्वर हो जाता है। इसके अभाव में बद्धकोष्ठ हो जाता है।

(२) प्रोटीन—यह देह के प्रत्येक सेल (अणु) में रहता है। इस तत्व से मांस की उत्पत्ति और वृद्धि होती है। इस हेतु से इसे पौष्टिक तत्व कह सकते हैं। जिन वस्तुओं में नाइट्रोजन होता है, उनको प्रोटीन युक्त कहते हैं। यह तत्व वनस्पतिवर्ग और प्राणिवर्ग, दोनों से प्राप्त होता है।

दूध, दही, मक्खन, प्राणियों के यकृत्, वृक्कस्थान, मांस, मछली, बिना चोकर निकाला गेहूँ का आटा, पत्तीशाक, इनमें प्रोटीन तत्व विशेष परिमाण में है।

चोकर निकाला गेहूँ का आटा, जौ, बाजरी, चावल (बिना पालिश वाला), दाल, मटर, चना, मसूर, आलू, गाजर, शलगम, मूली, भिन्डी, तोरई, परवल, घिया आदि शाक और फलों में प्रोटीन तत्व मध्यम परिमाण में है।

मील के चावल, मैदा, मक्की और क्षुद्र धान्य में प्रोटीन न्यून परिमाण में रहा है।

(३) फॅट—यह स्निग्धता प्राधान्य तत्व है। मेद, वसा, मज्जा आदि इस तत्व के रूपान्तर हैं। यह तत्त्व सर्दी और गर्मी से त्वचा, इन्द्रियाँ और सन्धिस्थान आदि के संरक्षण में उपयोगी है। इस तत्व की प्राप्ति घी, मक्खन, तैल, चर्बी आदि पदार्थों में से विशेषांश में होती है। यह तत्व पशु आदि प्राणि द्वारा अधिक मात्रा में और वनस्पति से न्यूनांश में मिलता है।

(४) जल—मानव शरीर में जल ७०% भाग है। देह की कोमलता, आर्द्रता और स्वच्छता जल से रहती है। जल के हेतु से प्रस्वेद, मूत्र एवं मल द्वारा विष बाहर निकलता रहता है। भोजन के सब पदार्थों में न्यूनाधिक अंश में जल रहता है। सामान्यतया भोजन में लगभग आधा भाग जल रहता है। इसके अतिरिक्त भी जल का सेवन किया जाता है। जल का अभाव होने पर पाचक रस की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।

(५) लवण—शरीर के प्रत्येक अणु में रहता है। इस तत्त्व से ही अस्थि और दाँत बनते हैं। यह तत्व शाक, फल, दूध, जल आदि सब पदार्थों में न्यूनाधिक मात्रा में रहता है। यह तत्व वनस्पति, प्राणिवर्ग और जल, सबसे प्राप्त होता है।

अपनी देह में ४ प्रतिशत लवण रहा है। इस तत्त्व के मुख्य २ प्रकार हैं। क्षारजनक और अम्लताजनक। क्षारजनक में केलश्यम, पोटाश्यम, सोडियम आदि क्षार हैं; और अम्लताजनक में फास्फरस, गन्धक, क्लोरिन आदि अम्ल पदार्थ हैं।

(६) विटामीन—इस तत्त्व को अनेक विद्वानों ने खाद्यौज नाम दिया है। यह शारीरिक समस्त क्रियाओं को उत्तेजना देता है। अस्थि और दाँत बनाना, रक्त को निर्विष रखना, नाड़ियों को स्वच्छ रखना, व्याधि निग्रह रूप शक्ति प्रदान करना, ये सब कार्य इस विटामीन तत्त्व से होता है। इस संसार में इस अति आवश्यक तत्त्व की उत्पत्ति सूर्यप्रकाश के सम्बन्ध से वृक्षों के पत्तों में अधिक मात्रा में हो जाती है। विद्वानों ने इस तत्त्व के ५ विभाग किये हैं।

विटामीन A—यह तत्त्व वसा में घुल जाता है। भोजन के पदार्थ मांस, दूध आदि को अधिक उबालने पर यह उड़ जाता है। यह तत्त्व मछली का तैल, अण्डे की जर्दी, घी, मक्खन, पशु-पक्षियों के यकृत् और वृक्कस्थान, बकरे की चर्बी, बकरी का घी, कामकल्ला, मूली, टमाटर, गाजर, पत्तीशाक, भूने हुए चने और मक्की आदि में अधिक परिमाण में मिलता है। मक्खन निकाला दूध, दाल चना, मटर, सेम, गेहूँ, जौ, चावल, प्याज, आलू, नारियल का तैल, तिल का तैल और शहद आदि में न्यून परिमाण में रहता है। मैदा, मील के पालिश चावल, विदेशी यन्त्रों से निकाले हुए सरसों के तैल, बादाम के तैल, कृत्रिम घी इत्यादि में यह तत्त्व बिल्कुल नहीं मिलता। इस तत्त्व की कमी रहने पर जुकाम, न्युमोनिया और कीटाणुजन्य इतर रोग हो जाते हैं।

विटामीन B—यह तत्त्व जल में घुल जाता है। संक्रामक रोगों से रक्षा करने की शक्ति प्रदान करता है। मस्तिष्क, हृदय, यकृत्, पाचकसंस्था और मांसादि अवयवों को पुष्ट बनाता है। यह द्रव्य कम मिलने पर (बेरी-बेरी रोग Beri Beri पक्षाघात और शोथ के मिश्रित लक्षणयुक्त रोग) उत्पन्न होता है (बंगाल में मीलों के पालिश चावलों के सेवन से यह रोग विशेष परिमाण में होता है); हृदय निर्बल बन जाता है; और शोथ आदि व्याधियाँ हो जाती हैं।

यह तत्त्व अण्डे, गेहूँ के चोकर वाला आटा, जौ, मक्की, बाजरा, सेम, मटर, चना, मसूर, मूँग, अलसी, अखरोट, टमाटर, शलगम, मूली के पत्ते, इनमें से अधिक परिमाण में प्राप्त होता है। आटा, चावल, शक्कर, केला, पपीता, संतरा, नीबू और तैल में से यह न्यून परिमाण में मिलता है।

विटामीन C—यह जल में घुल जाता है। अधिक उष्णता पहुँचने पर नष्ट हो जाता है। यह तत्त्व रक्त पौष्टिक है। इस तत्त्व की न्यूनता होने पर मसूढ़े शिथिल हो जाते हैं; और उन पर शोथ आ जाता है। त्वचा में स्थान-स्थान पर चकते हो जाते हैं और रक्तस्राव होने लगता है। अस्थियाँ और दाँत निर्बल हो जाते हैं। आँतों की क्रिया और रोगविनिग्रह शक्ति मन्द हो जाती है। यह तत्त्व ताजी शाक-भाजी और फल-फूलों में विशेष परिमाण में रहता है। मांस, सूखे फल, विलायत से डिब्बे में आने वाले रबड़ी समान गाढ़े दूध में और

अनाज में नहीं मिलता। तथापि मूँग, चने आदि को जल में भिगो बाँध कर अंकुर निकाले जायँ, तो उनमें इस तत्त्व की उत्पत्ति हो जाती है। दूध, दही, करमकल्ला, उबाला हुआ आलू, कच्ची गाजर, शलगम, तरबूज, केला, सेव, नासपाती इत्यादि में यह तत्त्व न्यूनांश में रहता है।

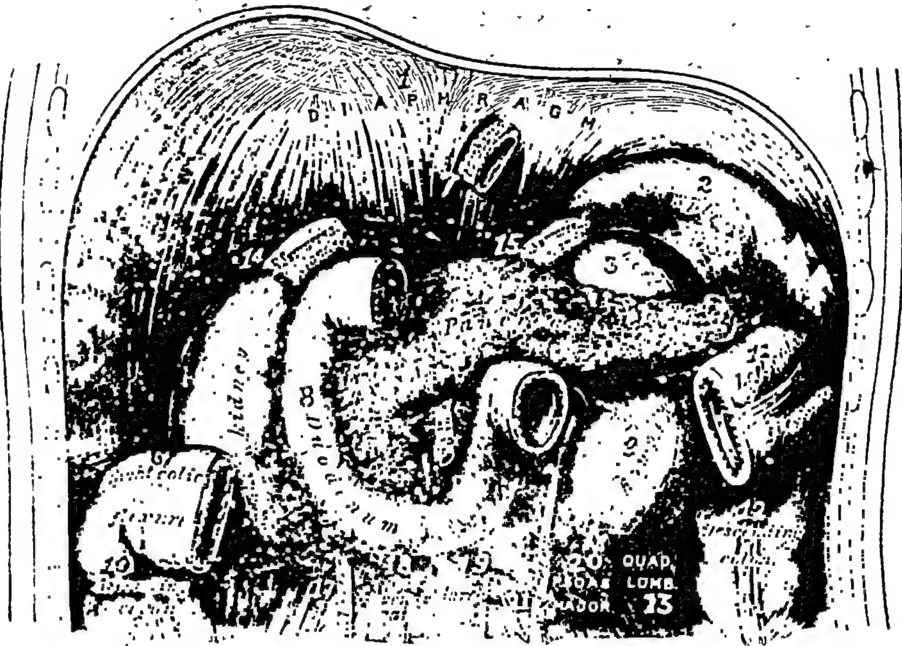
विटामीन D—यह तत्त्व विशेषतः अस्थियों का पोषक है। इस तत्त्व का अभाव होने पर बालकों को अस्थिमार्दव (Rickets) रोग और बड़ों को (इनमें भी स्त्रियों को) ऑस्टियो मलेशिया (Osteo Malacia) रोग हो जाता है। परन्तु भारतवर्ष में सूर्य का प्रकाश पूर्ण मिलने से, इन रोगों की उत्पत्ति बहुत कम होती है। यह तत्त्व मछली के तैल, मक्खन, घी और दूध में अधिक परिणाम में मिलता है। सरसों और तिलादि के तैलों में यह नहीं मिलता, किन्तु इन तैलों को बैंगनी रंग के बोतलों में भर कर सूर्य के ताप में रख दिया जाय; तो इस तत्त्व का उसमें प्रवेश (या उत्पत्ति) हो जाता है।

विटामीन E—यह तत्त्व शुक्र और रज में जीवाणुओं की उत्पत्ति कराता है। इस तत्त्व के अभाव से पुरुष और स्त्री में गर्भधारण शक्ति नहीं आती। मांस, अण्डे, गेहूँ आदि में यह अधिकांश में और दूध में न्यूनांश में रहता है।

(७) विद्युत् शक्ति—इस शक्ति का सम्बन्ध शरीर और मन के साथ है। इनमें मन के साथ मुख्य सम्बन्ध होने से इसे मानसिक शक्ति कह सकेंगे। यह शरीर संरक्षण और वृद्धि के लिये सत्व प्रदान करती है। सारे संसार में जो व्यापक विद्युत् है; उससे हमारी इस विद्युत् शक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। शारीरिक आहार से यह जितनी मिलती है; उससे अनेक गुणी अधिक मानसिक क्रिया द्वारा मिलती है। यह शक्ति मन, शारीरिक अवयव, रस, क्रिया और रोग आदि पर अपना अच्छा-बुरा प्रभाव पहुँचा सकती है। मानसिक प्रसन्नता से शारीरिक अवयव सबल हो जाते हैं; तथा मानसिक शक्ति की प्रेरणा (आशीर्वाद) से दुष्कर व्याधियों का विनाश भी हो जाता है; इसके विरुद्ध मानसिक चिन्ता से शारीरिक शक्ति का ह्रास और नाना प्रकार की व्याधियों की उत्पत्ति हो जाती है; एवं प्रबल मानस शक्तिवालों के शाप द्वारा घोर व्याधियों की उत्पत्ति और मृत्यु की प्राप्ति भी हो जाती है।

पचन क्रिया—उपर्युक्त मिश्रित तत्त्वयुक्त पदार्थों का जो अपन भोजन करते हैं; वह प्रारम्भ में मुँह के भीतर टुकड़े होते हैं; और उसके साथ मुख में रही हुई लाला ग्रन्थियों में से लाला (सेलाइवा Saliva) निकल कर मिश्रित होता है। पश्चात् वह ग्रसनिका में से होकर अन्ननलिका द्वारा आमाशय में जाता है। आहार और जल, सब इस आमाशय में मिश्रित हो जाते हैं। इस आमाशय में जाने पर पचन क्रिया का आरम्भ हो जाता है। पहले लाला में रहे हुए पाचक

ग्रहणी, महा प्राचीरा पेशी और अग्न्याशय आदि



१-महा प्राचीरा पेशी Diaphragma
२ प्लीहा Spleen
३,६ मूत्र पिण्ड-वृक्क (वाम) Left kidney
४ अग्न्याशय Pancreas
५-५ मूत्र पिण्ड-वृक्क (दक्षिण) Right kidney
६ वृहदन्त्र का याकृत्कोण (दक्षिण) Right colic flexure
७ अन्न नलिका Oesophagus
८ ग्रहणी Duodenum
१० वृहदन्त्र का आरोही भाग Ascending Colon
११ वृहदन्त्र का याकृत्कोण (वाम) Left colic flexure
१२ वृहदन्त्र का अवरोही भाग Descending colon
१३ कटि चतुरस्रा पेशी Quadratus Lumborum
१४ अधिवृक्क ग्रन्थी (दक्षिण) Right Suprarenal gland
१५ अधिवृक्क ग्रन्थी (वाम) Left Suprarenal gland
१६ उत्तरा आन्त्रिकी नाली Superior mesenteric Vessel
१७ (दक्षिण गवीनी) Right Ureter
१८ अधरा महासिरा Inferior Vena Cava
१९ महाधमनी Aorta
२० कटि लम्बिनी दीर्घा पेशी Psoas major muscle
२१ वाम गवीनी Left Ureter

रस की क्रिया कार्बोहाइड्रेट पर होती है। जिससे उसमें से एक प्रकार की शर्करा (माल्टोस Maltose) बन जाती है। यह क्रिया २० से ३० मिनट तक होती है। पश्चात् आमाशयिक रस की उत्पत्ति होने पर यह क्रिया बन्द हो जाती है; जिससे शेष कार्बोहाइड्रेट मूल रूप में ही रह जाता है।

फिर आमाशय में से आमाशयिक रस (अम्ल जठर रस Gastric Juice) बनने लगता है। यह रस लगभग १ घण्टा तक बनता रहता है; और इस रस में रहे हुए लवणाम्ल (हाइड्रोक्लोरिक एसिड Hydrochloric Acid) की क्रिया प्रोटीन पर होने लगती है। प्रोटीन में से पहले प्रोटिओस (Proteose) बनता है। फिर आगे इस प्रोटिओस तत्व का आंत्र में आग्नेय रस मिलने पर रूपांतर होकर पेप्टोन (Peptone) हो जाता है।

इस रस से मेद और चर्बी आदि स्निग्ध पदार्थ आवरण से मुक्त हो जाते हैं; तथा दुग्ध में से बने हुए केसिनोजेन (Caseinogen) का केसिन (Casein किलाटजनक सत्व) बन जाता है।

इस आमाशयिक रस में हाइड्रोक्लोरिक एसिड के अलावा (रेनीनोजन Renninogen) तत्व रहता है, जो दुग्ध आदि पदार्थों में से किलाट (फटे हुए दूध में गाढ़ा भाग) रूप प्रोटीन को पृथक् कर देता है। आमाशयिक रस में तीसरा पेप्सीन (Pepsin) संज्ञक सत्व रहता है, वह इस किलाट रूप प्रोटीन को पाचन करा देता है; किन्तु अनम्लीय द्रव्यों पर इस पेप्सीन का प्रभाव नहीं पड़ सकता। इस हेतु से परमात्मा ने आमाशय में उत्पन्न आमाशयिक रस को अम्ल ही बनाया है।

इस आमाशयिक रस द्वारा भोजन पचन की क्रिया लगभग ४–९ घण्टे तक होती रहती है। जैसे-जैसे भोजन पचता जाता है, वैसे-वैसे पक्वाशय की ओर जाता रहता है। जब आहार रस ग्रहणी में जाता है, उस समय आमाशय की कपाटिका खुलती है। फिर बन्द हो जाती है। यह आहार रस मंथन-क्रिया (Churning) हो होकर के जाता है। जिससे प्रोटीन तत्व पचन हो जाता है; और वसा निरावरण हो जाती है। किन्तु इस क्रिया द्वारा आहार में से माल्टोस बन जाने के पश्चात् शेष रहे हुए कार्बोहाइड्रेट पर क्रिया नहीं होती; जिससे इसका रूपान्तर नहीं होता; वह मूल रूप में ही रह जाता है।

पश्चात् अन्त्र में आहार रस जाने पर आन्त्रिक रस (सकस एण्टरिकस Succus entericus) और अग्न्याशय से आग्नेय रस (पेनक्रियाटिक ज्यूस Pancreatic Juice) और यकृत् में से पित्त (Bile) मिल जाता है। इनमें आग्नेय रस से निरावरण वसा का पचन हो जाता है। परन्तु वसा पचन में

पित्त की सहायता भी मिलनी चाहिये। यदि पित्त की सम्यक् प्राप्ति न हो; तो वसा का पाक केवल आग्नेय रस से नहीं हो सकता।

पित्त के प्रभाव से अन्त्र में आहाररस की गति सम्यक् प्रकार से होती है; और सड़न या दुर्गन्ध की उत्पत्ति नहीं होती। आन्त्रिक रस की प्रतिक्रिया क्षारीय होने से अम्लरस से न पचने वाले सब सत्व का इस रस के संयोग से पचन हो जाता है। इस आन्त्रिक रस में प्रोटीन को पृथक् करना और अधिक शर्करा हो, तो उसको रूपान्तरित कराना, ये दोनों गुण रहे हैं।

संक्षेप में मुख का लालारस, आमाशयिक रस, पित्त, आग्नेय रस और आंत्रिक रस, इन सबका संयोग होने पर आहार के सत्व का सम्यक् रूपान्तर होता रहता है। इनमें आमाशयिक रस की विकृति होने पर आमाशयस्थ व्याधि अग्निमान्द्य आदि की सम्प्राप्ति हो जाती है।

आमाशय विकृति के कारण—(१) आमाशयिक रस परिमाण या गुण में न्यून होना।

(२) आमाशयस्थ मांसपेशियों की क्षीणता होने पर मंथन या प्रचोदन शक्ति में न्यूनता होती है। जिससे भोजन में आमाशयिक रस का सम्यक् संमिश्रण नहीं होता।

(३) आमाशय में लगे हुए प्राणदा नाड़ियों के तन्तु में उत्तेजना की वृद्धि होने पर आमाशयिक रस अधिक उत्पन्न हो जाता है; और आमाशय की गति (Peristalsis) भी अधिक वेगपूर्वक होती है। इसके विरुद्ध इडा-पिङ्गला के तन्तुओं में उत्तेजना बढ़ने पर आमाशयिक रस की उत्पत्ति और आमाशयिक गति, दोनों मंद हो जाते हैं।

आमाशय की पचनक्रिया की विकृति जानने के लिये भौतिक (Physical) और रासायनिक (Chemical) परीक्षा की जाती हैं; एवं कृमि प्रकोप होने पर जन्तु शास्त्र की दृष्टि से भी परीक्षा की जाती है।

(१) भौतिक परीक्षा—(१) आमाशय की वृद्धि होने पर खाली आमाशय पर उँगली-ताड़न से डिण्डिमवत् आवाज वाला भाग चारों ओर से विस्तृत मालूम होता है। आमाशय में अर्बुदादि व्याधियाँ अथवा यकृत्-प्लीहा वृद्धि होने पर आवाज से आमाशय क्षेत्र संकुचित जाना जाता है। उँगली-ताड़न के लिये मध्य प्रदेश से प्रारम्भ कर चारों ओर किनारे की तरफ जाना चाहिये।

(२) नलिका श्रवण सह उँगली से ठेपन करने पर आमाशय की सीमा निश्चित हो जाती है।

(३) सोड़ा, एसिड या जल पिलाकर उससे उत्पन्न वायु द्वारा या आमाशय में आमाशयनलिका (स्टमक ट्यूब Stomach Tube) डाल वायु भर आमाशय के विस्तार का निर्णय करें। अथवा आमाशय में शलाका (Sound) डालकर सीमा का निश्चय करना चाहिये।

(४) क्ष-किरणें ('X' Rays) द्वारा परीक्षा करने पर आमाशय-व्याप्ति और प्रचोदन शक्ति, दोनों का अच्छी रीति से बोध हो जाता है।

(५) आमाशयदर्शक यन्त्र (गेस्ट्रोस्कोप Gastroscope) या छोटा-सा विद्युत् दीपक डाल अंधेरे में देखने से आमाशय प्रदेश साफ जाना जाता है।

रासायनिक परीक्षा—इस परीक्षा में रासायनिक पद्धति के ज्ञान की आवश्यकता रहती है; और इस विधि की परीक्षा आयुर्वेदिक चिकित्सा के लिये उपयोगी भी न होने से अत्र विवेचन नहीं किया है।

आमाशय में भोजन के साथ जब तक आमाशयिक रस नहीं मिलता; तब तक लालामिश्रित भोजन की प्रतिक्रिया (Chemical reaction) क्षारीय मानी जाती है। यदि भोजन कर लेने पर तुरन्त वमन हो जाय, आमाशयगत पदार्थ बाहर आजाय; तो लाला मिश्रण की प्रतिक्रिया कुछ अम्ल विरोधी (Alkaline) होती है, ऐसा माना जायगा। भोजन के आध घण्टे पश्चात् दुग्धाम्ल (लँक्टिक एसिट Lactic Acid) से प्रतिक्रिया किञ्चिदम्ल (Slightly Acid) होती है। फिर हाइड्रोक्लोरिक एसिड से अधिक अम्ल हो जाती है। दुग्धाम्ल आहार के हेतु से बन जाता है। वह पचनक्रिया के प्रथम घण्टे में तैयार होता है; फिर धीरे-धीरे कम होने लगता है। यदि वह अधिक रह जाता है; तो लवणाम्ल-हाईड्रो-क्लोरिक एसिड का स्राव कम होता है। इस तरह लवणाम्ल आवश्यकता से कम मिलने से अग्निमान्द्य हो जाता है।

आमाशय की प्रचोदन शक्ति का निर्णय करने के लिये रोगी को सेलोल की एक मात्रा देते हैं। यह पदार्थ आमाशय रस में मिश्रित

नहीं होता। इस औषधि पर अन्त्र में ही क्रिया होती है। जब वह आंत्रिक रस में मिश्रित हो जाता है, तब मूत्र में सॅलिसिल्यूरिक एसिड (Salicyluric acid) आने लगता है। मूत्र में फेरिक क्लोराइड (Liquor Ferri Perchloride Fortis) मिलाने से सॅलिसिल्यूरिक एसिड होने पर मूत्र का रंग बैंजनी हो जाता है। सामान्यतः १॥ घण्टे बाद मूत्र में सॅलिसिल्यूरिक एसिड (ग्लायकोल और सेलिसिलिक एसिड का मिश्रण) निकले; तो आमाशय की प्रचोदन शक्ति की कमी है, ऐसा माना जाता है।

डाक्टरी में आमाशयिक रस कम बनने या न बनने से उत्पन्न विकार को अग्निमान्द्य कहते हैं। क्वचित् रस बनता है, किन्तु उसमें लवणाम्ल नहीं होता; या बहुत कम होता है; तो भी क्षुधा नहीं लगती। अतः उसे भी अग्निमान्द्य ही कहते हैं।

निदान—अति भोजन, असमय पर भोजन, अपथ्य भोजन आदि हेतु से उत्पन्न चिरकारी आमाशय शोथ, आमाशयस्थ अर्बुद, पाण्डु, रक्तविकार और तीव्र संक्रामक ज्वर आदि कारणों से इस रोग की उत्पत्ति होती है। इनके अतिरिक्त आमाशय में विकृति न होने पर भी चिन्ता, भय, क्रोध और शोक आदि से मन्दाग्नि हो जाती है।

लक्षण—अग्निमान्द्य ही लक्षण रूप है। इतर सामान्य लक्षण मलावरोध, अजीर्ण, उदरशूल, आफरा, किसी को उबाक और वमन आदि होते हैं। यदि हाइड्रोक्लोरिक एसिड कम होता हो; तो अतिसार, प्रवाहिका आदि लक्षण भी प्रतीत होते हैं।

विशेषतः इस रोग की उत्पत्ति चिरकारी आमाशय दाह-शोथ से होती है। इस चिरकारी आमाशय दाह-शोथ का वर्णन डाक्टरी ग्रन्थों में निम्नानुसार किया है।

चिरकारी आमाशय दाह-शोथ—(क्रोनिक गॅस्ट्रायटिस Chronic Gastritis)।

निदान—आमाशय के आशुकारी दाह-शोथ (अजीर्ण) का परिणाम, तीव्र चांय, तीव्र मसालेदार, अपथ्य या विषम भोजन, संतत ज्वर,

अत्यन्त मद्यपान, खाली पेट मद्यपान, आमाशय में अर्बुद, दन्तवेष्ट, गलशोथ, गलग्रन्थि शोथ, आमाशय विस्तार (Dilatation), चिरकारी हृद्रोग, यकृद्दाल्युदर (Liver Cirrhosis), इन रोगों में बहुधा चिरकारी आमाशय दाह हो जाता है।

सम्प्राप्ति—चिरकारी दाह प्रारंभ होने के पहले आमाशय में पाचक रसस्रावी ग्रन्थियाँ उत्तेजित होकर स्राव बहुत ज्यादा होता है। फिर रसस्रावी ग्रन्थियाँ क्षीण हो जाती हैं। इस हेतु से पाचक रसस्राव और प्रचोदन शक्ति, दोनों कम हो जाते हैं। प्रचोदन शक्ति निर्बल बनने पर भोजन अधिक समय तक आमाशय में रह जाता है।❀ पाचक रस की न्यूनता से भोजन सड़कर कीटाणु मय विकृति (Bacterial Fermentation) हो जाती है। पश्चात् वायु की उत्पत्ति होकर आमाशय में आफरा आ जाता है। इस तरह बार-बार होते रहने से आमाशय शिथिल और विस्तृत हो जाता है।

कोई समय रसोत्पादक ग्रन्थियों में मेदापक्रान्ति (फॅटी डिजनरेशन Fatty Degeneration-जीवाणुओं का विनाश होकर मेद जम जाना) होती है। पहले श्लेष्मल त्वचा में से क्लेदन कफ (Mucin) का स्राव बढ़ जाता है; फिर श्लेष्मल त्वचा का नाश होने पर यह स्राव न्यून होता जाता है। परिणाम में सौत्रिक तन्तु (Fibrosis) बढ़ जाता है; और पाचक रसस्रावी ग्रन्थियों का संकोच होकर ये अवरुद्ध हो जाती हैं। क्वचित् आमाशय में यह आकुंचन चारों ओर अधिकांश में होकर आमाशय ही छोटा हो जाता है।

लक्षण—भोजन के पश्चात् आमाशय में बोझा-सा भासना, बेचैनी, वेदना, उबाक, वमन, मुँह से लार बहना, कृशता, निर्बलता, निस्तेजता, शिरःशूल, आलस्य, गाढ़ निद्रा कम आना, आहार-विहार में अनियमितता होने पर बीच-बीच में तीव्र प्रकोप, मलावरोध, आफरा,

❀ सामान्य रीति से भोजन ४–५ घण्टे तक आमाशय में रहता है। यदि पूर्णभोजन करने पर भी ७ घण्टे में आमाशय रीता न हो जाय, तो पाचन शक्ति की न्यूनता निश्चित हो जाती है।

जिह्वा पर सफेद मैल जमना, क्षुधानाश और डकार आने में प्रतिवन्ध होना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

अग्निमान्द्य चिकित्सा।

मन्द अग्नि स्वल्प अपचार को सहन नहीं कर सकती। विषम अग्नि अपचार होने पर कभी विक्रिया कर जाती है और कभी नहीं करती। केवल तीव्र अग्नि अपचार को सहन कर सकती है। इस हेतु से तीव्र अग्नि की प्राधान्यता है।

समाग्नि का संरक्षण, विषमाग्नि में वातनिग्रह, तीक्ष्णाग्नि में पित्त-शमन और मन्दाग्नि में श्लेष्मविशोधन करना चाहिये।

विषम अग्नि को दूध, दही, घृत, खट्टे और नमकीन पदार्थों से सम करना चाहिये।

तीक्ष्ण अग्नि को शीतल, स्निग्ध और पौष्टिक पदार्थों से शान्त करना चाहिये। अन्यथा पित्तप्राधान्य भस्मक या अम्लपित्त आदि रोगों की उत्पत्ति हो जाती है।

बद्धकोष्ठ सह मन्दाग्नि होने पर लवणयुक्त थोड़ा घृत-पान करना लाभदायक है।

यदि अधिक स्नेहपान से अग्निमान्द्य हुआ हो; तो क्षार आदि या चरपरे, कड़वे और कसैले पदार्थों से शनैः-शनैः कफ को नष्ट कर अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिये।

यदि उदावर्त के हेतु से अग्नि मन्द हो गई हो; तो निरूह वस्ति का सेवन कर अग्निवल को वढ़ाना चाहिये।

भोजन नियमित समय पर पचन हो, उतने परिमाण में करें। भोजन को अच्छी रीति से चवाकर खायँ। शराव, गुरु भोजन और अपथ्य भोजन का त्याग करें। दाल पतली लें; और शाक शुष्क अर्थात् रसा (झोल) रहित वनवाकर सेवन करें।

इस रोग में अधिक लङ्घन नहीं कराना चाहिये; अन्यथा वल का क्षय होता है। इस हेतु से भगवान् आत्रेय ने कहा है, कि:—

नाऽभोजनेन कायाग्निर्दीप्यते नाऽतिभोजनात् ।
यथा निरिन्धनो वह्निरल्पो वाऽतीन्धनावृतः ॥
(च० सं० चि० १५-२०८)

जैसे थोड़ी अग्नि ईंधन न मिलने पर या अति लकड़ी आदि से दब जाने पर (वायु न मिलने के हेतु से) तेज नहीं हो सकती; वैसे ही मन्द हुई जठराग्नि भोजन न मिलने या अत्यधिक मिलने पर प्रदीप्त नहीं हो सकती।

प्रातः-सायं खुली वायु का सेवन करें। फिर भी कचित् कोष्ठवद्धता हो जाय; तो मृदु मलशोधक औषधि से दूर करें। किन्तु वार-वार विरेचन अथवा सारक औषधि लेना हानिकर (बलक्षयकारक) है।

दाँतों में से पीप निकलने के हेतु से मन्दाग्नि हुई हो; तो पीप को दूर करने के लिये सत्वर चिकित्सा करनी चाहिये।

दोष अति वढ़ जाने से अग्नि मन्द हो गई हो; तो पहले वमन विरेचन आदि से दूषित मल का हरण करें। फिर लघु भोजन से अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिये।

कफप्राधान्य प्रकोप में आमाशयस्थ रसोत्पादक ग्रन्थियों की शक्ति को बढ़ाने वाली दीपन पौष्टिक औषधियों का प्रयोग करें। कफज और वातज अग्निमान्द्य में तक्र का सेवन अति लाभदायक है।

यदि आमाशयिक रस में अत्यन्त उष्णता या तीव्र अम्लता हो गई हो; तो उसको शमन करने वाली औषधि की योजना करें। अम्ल विरोधी क्षार और धारोष्ण दूध अम्लता शमन के लिये अति हितकर हैं।

सरल प्रयोग :—

(१) प्रातःकाल १ माशा जवाखार और ३ माशे सोंठ के चूर्ण को मिला गो-घृत के साथ सेवन करने से अग्नि प्रदीप्त होती है।

(२) बड़ी हरड़ और सोंठ के चूर्ण को गुड़ में मिलाकर प्रातःकाल को सेवन करने से अग्नि प्रदीप्त होती है। या वड़ी हरड़ के चूर्ण में थोड़ा सैंधानमक मिलाकर निवाये जल के साथ लेने से भी क्षुधा वढ़ जाती है।

(३) हरड़, पीपल, सैंधानमक और चित्रकमूल का चूर्ण कर सेवन

करने से मांस और घृत से युक्त नया अन्न भी तुरन्त पचन हो जाता है।

(४) आमाजीर्ण, अर्श और बद्धकोष्ठ से होने वाले अग्निमान्द्य के रोगी को सोंठ या पीपल अथवा हरड़ या अनारदाने का गुड़ के साथ नित्य सेवन करना चाहिये।

(५) भोजन के प्रारम्भ में सैंधानमक मिला हुआ अदरख सर्वदा सेवन करना हितकर है। यह अग्नि प्रदीपक, मधुर और हृदयपौष्टिक है।

(६) **कपित्थादि खड**—पक्का कैथ, बेलगिरी, अम्लोनिया, कालीमिर्च, जीरा और चित्रकमूल को मिला चटनी बनाकर खिलाने से अग्निमान्द्य नष्ट हो जाता है। यह चटनी दीपन, पाचन, कफवातहर और ग्राही है। (इस चटनी में आवश्यकतानुसार सैंधानमक मिला लेना चाहिये।) मात्रा ६ माशे से १ तोला तक दिन में २ समय लेवें।

(७) **क्षुधा वटी**—पत्ते रहित १ मन मूली को कूट, १ सेर नौसादर का चूर्ण मिला कर मिट्टी की नांद में डालें। २४ घण्टे पश्चात् मूली को कूट निचोड़ कर रस कपड़े से छान लेवें। फिर पीतल की कलई लगी हुई कढ़ाही में डालकर मन्दाग्नि पर पकावें। जब रस चतुर्थांश शेष रह जाय; तब छोटी हरड़ का कपड़छान चूर्ण १ सेर मिला लेवें। पश्चात् मूंग के समान गोलियां बना लेवें। इनमें से १ से २ गोली जल के साथ देने से अपचन, वमन, आफरा, पतला दस्त, उदरशूल, अरुचि और बेचैनी आदि विकार सत्वर दूर हो जाते हैं।

वातज अग्निमान्द्यनाशक औषधियाँ।

(१) **अष्टगुण मण्ड**—पुराने शालि चावल १६ तोले और मूंग ८ तोले मिला कर दोनों को २-३ तोले घी में सेक लेवें। फिर १४ गुने गरम जल में डाल कर सिद्ध करें। (अनेक चिकित्सक मूंग-चावल जल में पक जाने पर मट्ठा मिला कर आधा जल शेप रहे; तब तक पाक करते हैं)। पश्चात् सोंठ, मिर्च, पीपल, हरा धनिया, जीरा, हींग और सैंधानमक आवश्यक प्रमाण में मिला लेवें। यह मण्ड अच्छी रीति से पक जाय, तब तक उबालें; फिर ऊपर-ऊपर से मांड निकाल निवाया पिलावें।

यह मण्ड सब प्रकार के अग्निमान्द्य वाले के लिये हितकर है। इस मण्ड में क्षुधा प्रदीपक, वस्ति शोधक, शक्तिवर्धक, ज्वरघ्न, कफपित्त नाशक और वातशामक आदि गुण रहे हैं।

(२) केवल चावलों के माण्ड में १ रत्ती भूनी हींग और १-२माशे कालानमक मिलाकर पिलावें।

(३) हिंग्वष्टक चूर्ण (र० ५८५), दशमूलारिष्ट (र० ६४८), धनंजयवटी (र० ५५२) शिवाक्षार पाचन चूर्ण (र० ५८६), विषतिंदुकादि वटी (र० ५६२), अग्नितुण्डी वटी (र० ४२३), आर्द्रकावलेह (र० ६८४), चित्रकादि वटी (र० ५५३), हिंग्वादि वटी (र० ५४६), क्षुद्बोधक रस (र० ५३५), ये सब हितकारक औषधियां हैं। इनमें से अनुकूल औषधि का सेवन कराने से वातज विकृति दूर होकर अग्नि बलवान बन जाती है। इनमें विषतिंदुकादि वटी और अग्नितुण्डी वटी में कुचिला मिलाया है। अतः ये औषधियाँ कम मात्रा में देनी चाहिये। वातवहानाड़ियों की विकृति, उदर शूल, उपान्त्र शोथ और आंतों की शिथिलता में कुचिला वाली औषधियां हितकर हैं।

(२) पैत्तिक अग्निमान्द्यनाशक औषधियाँ।

(१) वराटिका भस्म (र० २३० घी और कालीमिर्च के साथ), प्रवाल भस्म (र० २४४ घी या नीबू के रस के साथ), वैडूर्य भस्म (र० २३४), वराटिका या शंख भस्म (र० ३६३), शौक्तिक भस्म (र० २५७), द्राक्षावलेह (र० ६८४), अग्निप्रदीपक गुटिका (र० ५७७), सितोपलादि चूर्ण (र० ५८४), नीबू का शर्बत (र० ६६६), लवंगादि चूर्ण (र० ५६७), इनमें से अनुकूल औषधि का सेवन कराने से पित्तप्रकोप शमन होकर जठराग्नि निर्दोष बन जाती है।

(२) वड़वानल चूर्ण—सैंधानमक १ भाग, पीपलामूल २ भाग, पीपल ३ भाग, चव्य ४ भाग, चित्रकमूल ५ भाग, सोंठ ६ भाग और हरड़ ७ भाग लें। इन सबको मिलाकर चूर्ण करें। इसमें से ४-४ माशे चूर्ण दिन में २ समय जल के साथ देने से जठराग्नि वड़वानल

अग्नि के समान प्रदीप्त हो जाती है।

सूचना—पित्त में अम्लता, तीक्ष्णता और उष्णता अति बढ़ जाने पर खट्टे रस वाली औषधियाँ पित्तशमन नहीं कर सकतीं। ऐसे समय पर पित्त को मधुर बनाने वाली वराटिका, शंख भस्म आदि क्षारीय औषधि देना हितावह है। वराटिका भस्म, सितोपलादि चूर्ण और शहद मिलाकर देने से पित्त की तीक्ष्णता और अम्लता का शमन हो जाता है।

(३) कफप्राधान्य अग्निमान्द्य पर औषधियाँ।

(१) चित्रकादि वटी (र० ५५३), क्षुद्बोधक रस (र० ५३५), अग्निकुमार रस (र० ४२०), क्रव्याद रस (र० ४२१), लघुक्रव्याद रस (र० ४२२), लवणभास्कर चूर्ण (र० ५८५), गन्धक वटी (र० ५७२), हिंगुलरसायन दूसरी विधि (र० ४७४), अग्नितुण्डी वटी (र० ४२३), धनंजय वटी (र० ५५२), ये सब कफप्रकोपजन्य अग्निमान्द्य पर अति हितकर औषधियाँ हैं। इनमें से अनुकूल औषधि का सेवन कराने से आमाशयिक रस की वृद्धि होकर अग्नि तेज हो जाती है।

जीर्ण रोग में—बृहद् योगराजगूगल (र० ४६५ आमवृद्धि हो, तो), या अग्नितुण्डी वटी (र० ४२३) का सेवन कराना लाभदायक है।

(४) उपद्रव रूप अग्निमान्द्य चिकित्सा।

शुक्र-क्षयजन्य अग्निमान्द्य होने पर—(१) वंग भस्म (र० १७१), सुवर्णवंग (र० ३३३), लोह भस्म (र० १५१), अभ्रक भस्म (र० २२१), द्राक्षारिष्ट (र० ६५६) या अश्वगन्धारिष्ट (र० ६५४) में से अनुकूल औषधि का सेवन कराना चाहिये। इनमें से वंग, लोह और अभ्रक, तीनों मिलाकर भी दे सकते हैं। या बृहद् वंगेश्वर (र० ४८६) का सेवन कराने से रक्त, मांस, वातसंस्था और वीर्य सबल हो जाते हैं।

(२) ज्वर के पश्चात् मन्दाग्नि होने पर सुवर्ण मालिनी वसंत (र० ४००), लघुमालिनी वसंत (र० ४०२), संशमनी वटी

(र० ४०५), या चन्दनादि लोह (र० ३६६) में से प्रकृति के अनुकूल एक औषधि का सेवन कराना चाहिये।

(३) जलवायु दोष (विदेश में जाने या ऋतुपरिवर्तन) से हो; तो दुर्जलजेता रस (र० ३८३) या आर्द्रकावलेह (र० ६८४) का सेवन करावें।

(४) मलावरोध जनित जीर्ण मंदाग्नि होने पर अभ्रक भस्म (र० २२२), आंतों की निर्वलता पर नाग भस्म (र० १८६), अथवा नाग भस्म और रससिंदूर (र० ३२४) मिश्रण, तथा मलावरोध शमनार्थ आरोग्य वर्धनी (र० ४६२), अग्नितुण्डी वटी (र० ३२३), द्राक्षासव (र० ६५६), महा द्राक्षासव (र० ६५७), क्षुद्वोधक रस (र० ५३५) और आर्द्रकावलेह (र० ६८४) में से एक अनुकूल औषधि देवें। मलावरोध न रहे, इस बात का पूर्ण लक्ष्य रक्खें। बार-बार जुलाव न दें। आमाशय और अन्त्रक्रिया को शनैः-शनैः सबल बनाने का प्रयत्न करें। अभ्रक भस्म, नाग भस्म और अग्नितुण्डी वटी से आन्त्रशक्ति बलवान् बन जाती है; फिर मन्दाग्नि और कब्ज, दोनों नष्ट हो जाते हैं।

(५) भस्मक रोग चिकित्सा।

तीक्ष्णाग्नि होने पर पित्तशामक विरेचन देवें। गुरु, स्निग्ध, मधुर, मेध्य, शीतल और स्थिर गुण वाला, कफवर्धक और पित्तशामक भोजन करावें; तथा दिन में भोजन के पश्चात् शयन करावें।

मछली और जलजीवों का मांस या घृत में पकाया हुआ बकरे का मांस देवें। अथवा गेहूं के सत्तू का मन्थ बना दूध, मिश्री और घी मिला कर पिलावें। १-१ तोला काली निशोथ को दूध में पकाकर ५-७ दिन तक सुबह पिलाते रहने से दूषित पित्त नष्ट होकर अग्नि सम हो जाती है।

भैंस का दूध, दही और घी अत्यधिक परिमाण में देने से अति बढ़ी हुई अग्नि सत्वर शमन हो जाती है।

यवागू में घी और शहद मिलाकर खूब ज्यादा परिमाण में पिलाने से भस्मक रोग शमन हो जाता है।

सफेद चावल और सफेद कमल को मिला बकरी के दूध में खीर बना

कर १० दिन तक खिलाने से अग्नि सम होकर भोजन कम हो जाता है।

इस उपद्रव वाले को अजीर्ण में भी भोजन कराना चाहिये।

जीवनीय गण की औषधियों (जीवन्ती, काकोली, मेदा, महामेदा आदि) का कल्क कर विदारीकंद का स्वरस और दूध मिला, भैंस के घी को सिद्ध करके पिलाने से भस्मक रोग शमन हो जाता है।

भस्मकनाशक चूर्ण (र० ६१४) ६-६ माशे दिन में ३ समय देते रहने से भस्मक रोग दूर हो जाता है।

वेर की गुठली का मगज जल में पीस कर पिलावें; या अपामार्ग के वीज की भैंस के दूध में खीर वना कर खिलावें; अथवा पक्के केले में खूव घी डाल कर खिलावें; या पेठे का रस, दूध और घी मिलाकर पिलाने से भस्मक विकार शान्त हो जाता है। एवं गूलर के मूल का जल पिलाने से भी भस्मक, रक्तविकार, उष्णता आदि विकार शमन होजाते हैं।

(६) जीर्ण आमाशय-शोथ चिकित्सा।

प्रारम्भ में कोष्ठवद्धता दूर करने के लिये प्रातःकाल को गुलकन्द लेवें; या ३-३ माशे वादाम के तैल का थोड़े दूध के साथ सेवन करें।

दिन में भोजन के पश्चात् पौन घण्टे तक विश्राम लेना हितकर है।

अग्निकुमार रस (र० ४२०), लवण भास्कर चूर्ण (र० ५८५), धनंजय वटी (र० ५५२), शौक्तिक भस्म (र० २५७ वमन होती है, तो) शंख वटी (र० ४१२) और हिंग्वष्टक चूर्ण (र० ५८५) में से एक का सेवन करें। ये सव औपधियां आमाशय की स्थूल कलामय वृत्ति-भीतर की त्वचा में आये हुए दाह-शोथ को दूर कर अग्नि को प्रदीप्त करने में लाभदायक हैं।

आमाशय के चिरकारी शोथ पर डाक्टरी में वार-वार निम्न औपधियों को प्रयोग में लाते हैं।

(१)	विस्मथ सव नाइट्रास	Bismuth Sub Nit.	१० ग्रेन
	एसिड कार्वोलिक	Acid Carbolic.	¾ ग्रेन
	म्युसिलेज	Mucilage	½ ड्राम
	एक्वा मेन्था पिप०	Aqua Mentha Pip.	१ औंस

इन सबको मिला कर भोजन कर लेने पर पिला देवें।

(२) एसिड हाइड्रोक्लो० डिल०	Acid Hydrochlo. Dil.	१० बूंद
,, ,, श्येनिक डिल०	,, Hydrocyan. Dil.	५ बूंद
लाइकर स्ट्रिक्निया	Liq. Strychnia	५ बूंद
ग्लीसराइन	Glycerine	२० बूंद
एक्वा	Aqua	१ औंस

इन सबको मिलाकर भोजन के पहले पिला देवें।

पथ्य—व्यायाम, खुली वायु का सेवन, मानसिक प्रसन्नता, अष्टगुण मण्ड, गेहूँ के (चोकर सहित-विना छाने) आटे में सैंधानमक और अजवायन का चूर्ण डालकर वनाये हुए पतले फुलके, पुराने चावल, हलका भोजन; मूंग, अरहर या मसूर की पतली दाल, विना रसा वाले शाक, गोदुग्ध, थोड़ा घी, मक्खन, पोदीने की चटनी, भोजन के साथ में अदरख, नीबू का रस, मट्ठा, अनार, मुसम्बी, सन्तरा, मालटा, सेव, अंगूर, फालसे, हरड़, हींग, सोंठ, अजवायन, नमक, भोजन के दो घण्टे पश्चात् जलपान और थोड़ा शराव, ये सव पथ्य हैं।

अपथ्य—उपवास, पत्तीशाक, झोलदार शाक, गुरु भोजन, अति भोजन, असमय पर भोजन, भोजन पर भोजन, विरुद्ध भोजन, उड़द, मांस, मलाई, खोवा, ताड़फल, कटहल, अति मसाला, अति जलपान और नारियल का जल आदि अपथ्य हैं।

समशन, विषमाशन और अध्यशनः—

पथ्य पालन करने वाले रोगी मनुष्य को समशन, विषमाशन और अध्यशन, इन तीनों का आग्रहपूर्वक त्याग करना चाहिये। ये तीनों अत्यन्त हानिकर हैं। इस विषय में भगवान् आत्रेय ने लिखा है, कि—

पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं मतम्।
विषमं बहु वाल्पं वाप्यप्राप्तातीतकालयोः॥
भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम्।
त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा घोरान्व्याधीन्सृजन्ति वा॥

पथ्य और अपथ्य, दोनों प्रकार के भोजन एक समय में करना, यह समशन (जैसे लाल शालि चावल और जौ मिश्रित भोजन); ज्यादा प्रमाण में खाना, भोजन काल में थोड़ा-सा खाना, भोजन का समय टल जाने पर खाना, ये सब विषमाशन; और एक समय किया हुआ भोजन पचन हो जाने के पहले पुनः भोजन करना, यह अध्यशन कहलाता है। ये तीनों स्वास्थ्य और आयु को नष्ट करने वाले तथा घोर व्याधियों को उत्पन्न करने वाले हैं।

भोजन का समय होने से पहले खा लेने से अजीर्ण हो जाता है।

भोजन का समय व्यतीत हो जाने पर खाने से वातप्रकोप होकर अग्नि नाश, भोजन कष्ट से पचना और फिर भोजन की इच्छा कम हो जाना, ये उपद्रव हो जाते हैं।

अल्प भोजन करने पर असन्तोष और बलक्षय की प्राप्ति होती है।

अधिक भोजन करने से आलस्य, व्याकुलता, भारीपन, आफरा और मन्दाग्नि हो जाती है।

विरुद्धाशन—पृथक्-पृथक् गुण दोष वाले अनेक प्रकार के पदार्थों का एक साथ सेवन करने से तत्काल या भविष्य में प्रकृति को हानि पहुँचती है। इसलिये इसका परित्याग करना चाहिये। दुर्लक्ष्य करने पर नाना प्रकार की व्याधियों की उत्पत्ति, इन्द्रियों की दुर्बलता और प्रसंगोपात मृत्यु की प्राप्ति भी हो जाती है।

इन विरुद्धान्न भक्षण से आध्मान, अजीर्ण, उदर रोग, मलावरोध, अरुचि, आमप्रकोप, विषविकार, ग्रहणी, ज्वर, रक्तपित्त, पाण्डु, क्षय, नपुंसकता, भगन्दर, अर्श, मद, मूर्च्छा, विस्फोटक, उन्माद, कुष्ठ, पीनस, गर्भाशय विकार, शुक्रक्षीणता, गलग्रह, कास, तमक श्वास, शिरदर्द, मुखपाक, नेत्र विकार और मूत्रकृच्छ्र आदि व्याधियां हो जाती हैं।

(६) अजीर्ण।

अजीर्ण—ॲक्युट गेस्ट्रायटिस, इनडाईजेशन, डिस्पेपशिया—Acute Gastritis, Indigestion, Dyspepsia।

जब नियमित समय पर योग्य परिमाण में पथ्य भोजन करने पर भी पचन न हो, तब अजीर्ण रोग कहलाता है।

निदान—अति जलपान, अन्धाधुन्ध भोजन, असमय पर भोजन, क्षुधा, मल-मूत्र और अधोवायु आदि वेगों का धारण; ईर्ष्या, भय, क्रोध, शोकादि हेतु से निद्रा में अनियमितता या अन्य कारण से भोजन का परिपाक न होना, इन सब हेतुओं से अजीर्ण रोग की उत्पत्ति हो जाती है। यदि क्वचित् किसी कारणवश एकाध समय भोजन का सम्यक् परिपाक न हुआ हो, तो उसे अपचन कहते हैं; और अनेक दिनों तक अपचन रह जाय, तो ही अजीर्ण रोग कहलाता है।

इस अजीर्ण के आमाजीर्ण, विदग्धाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण और रसशेषाजीर्ण, ऐसे ४ विभाग होते हैं।

कितनेक आचार्यों ने भ्रम, भारीपन, आध्मान और शूल आदि उपद्रवों से रहित, मात्रा, काल और सात्म्यादि दोषों से (अधिक भोजन, असमय पर भोजन या अपथ्य भोजन अथवा मानसिक चिन्ता आदि हेतु से) या अग्निमान्द्य हो जाने पर जो भोजन २४ घण्टे में पचन हो, उसे दिनपाकी निर्दोष अजीर्ण कहा है, यह पांचवां अजीर्ण है। तथा इनके अतिरिक्त छठवां अजीर्ण उसे कहा है कि जो प्रतिदिन रहता है; अर्थात् भोजन का पाक जब तक न हो जाय, तब तक इसकी अजीर्ण संज्ञा है। (आहार पच जाने पर जीर्ण कहलाता है। यथार्थ में यह व्याधि नहीं कहलाती है।)

अलावा आमाशय व्रण और अर्बुद आदि रोगों में भी अजीर्ण रूप उपद्रव हो जाता है। इनमें मुख्य रोग की ही प्राधान्य चिकित्सा की जाती है। अतः इन उपद्रवात्मक अजीर्ण का वर्णन अत्र नहीं किया जायगा।

आमाजीर्ण के लक्षण—शरीर में भारीपन, उबाक, गाल और नेत्र पर सूजन, खाये हुए अन्न की ही डकार (खट्टी न हो किन्तु दुर्गन्धयुक्त डकार) आते रहना और बेचैनी आदि लक्षण होते हैं।

(२) विदग्धाजीर्ण के लक्षण—यह अजीर्ण पित्त प्रकुपित होने पर पित्त की उष्णता और अम्लता वृद्धि होकर होता है। इस अजीर्ण में भ्रम, तृषा, मूर्च्छा, दाह, खट्टी डकार, पसीना, निद्रानाश,

शोथ, बेचैनी, मल-मूत्र में पीलापन और भोजन कर लेने पर पेट में भारीपन आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

(३) विष्टब्धाजीर्ण के लक्षण—यह विष्टब्धाजीर्ण वात-प्रकोप और आंत्र स्नायुओं की शिथिलता होने पर होता है। इस व्याधि में शूल, आफरा, मल-मूत्र और अधोवायु का रुकना, अंग जकड़ना, सांधाओं में पीड़ा, हाथ-पैर टूटना, बेचैनी, उदर में भारीपन, भ्रम और मोह (मूढ़ता) आदि लक्षण होते हैं।

(४) रसशेषाजीर्ण के लक्षण—सुश्रुत-संहिता में लिखा है, कि इस व्याधि में डकार शुद्ध आने पर भी भोजन की इच्छा न होना, हृदय में भारीपन, शूल, आहार रस शेष रहना और मुँह में पानी आना आदि लक्षण होते हैं।

आरोग्य-मंजरीकार कहते हैं, कि विशुद्ध डकार आने पर भी भोजन की इच्छा न होना, मुँह में चिकनापन, संधिस्थानों में पीड़ा, शिर में भारीपन, ये मन्दप्रकोप में लक्षण प्रतीत होते हैं। तथा तीव्र प्रकोप हो जाने पर उबाक, ज्वर, मूर्च्छा आदि लक्षणों की वृद्धि हो जाती है।

जो मनुष्य सारे दिन पशु के समान खाते रहते हैं; या बारबार अन्धाधुन्ध खाते रहते हैं; उनका आमाशय शिथिल और विस्तृत हो जाता है। फिर आमाशय में आहार रस शेष रह जाता है। इस शेष रस पचनार्थ कितनेक क्षार आदि पाचक औषधियां लेते रहते हैं; तब कितनेक व्यक्ति विरेचन औषधियों का सेवन प्रतिदिन करते रहते हैं।

इन औषधियों के सेवन से वात, पित्त, कफ, तीनों दोष प्रकुपित होते हैं। क्षार आदि या विरेचन औषधियों के नित्य सेवन करने से पित्ताशय, यकृत् और अन्त्र को अपनी शक्ति से अधिक कार्य करना पड़ता है। परिणाम में ये सब दूषित हो जाते हैं।

इस तरह जब आहारजनित रस शेष रह जाता है; तब इस रस का शोषण यथासमय न होने से आमविष (सेन्द्रिय विष) बन जाता है। फिर यह अपने प्रभाव से दुष्ट आम की उत्पत्ति करता रहता है; और रक्तादि धातु में प्रविष्ट होकर नाना प्रकार की हानि पहुँचाता रहता है। इस आमविष की वृद्धि होने पर रसशेषाजीर्ण व्याधि की उत्पत्ति होती है।

क्षारादिक का अधिक सेवन करने वालों के मुख में छाले, सुषुप्ति कम, स्वप्नावस्था अधिक, तृषा, छाती में दाह, शुक्र में उष्णता, संधिस्थानों में पीड़ा, अम्ल पदार्थ से हानि, मूत्र में पीलापन, रात्रि को अधिक बार पेशाब के लिये उठना इत्यादि लक्षण होते हैं।

विरेचक औषधि का अधिक सेवन करने वाले को मलावरोध का त्रास अधिक रहना, मुँह में चिकनापन, डकार, शुद्ध होने पर भी भोजन की इच्छा न होना, आंतों में वायु भरा रहना, मुँह में पानी आते रहना, वीर्य में पतलापन, शिरदर्द, ज्यादा निद्रा और आलस्य आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

इन दोनों प्रकार के रसाजीर्ण में बेचैनी, अन्न पर अरुचि (भोजन की इच्छा न होना), हृदय की निर्बलता और धड़कन, चक्कर, भारीपन, हाथ-पैर टूटना और अति कमजोरी आदि लक्षण समान होते हैं।

अनुमान है कि डाक्टरी में डाइलेटेशन ऑफ दी स्टमक (आमाशय विस्तार) व्याधि है; वही आयुर्वेदीय रसशेषाजीर्ण है। इस हेतु से इसका विवेचन भी आगे डाक्टरी निदान के साथ किया जायगा।

सामान्य अजीर्ण—ग्लानि, भारीपन, मलावरोध, या मल-मूत्र की बारबार प्रवृत्ति होना, चक्कर आना, अधोवायु दूषित होकर बद्ध हो जाना या दूषित वायु की बार-बार प्रवृत्ति होना, इत्यादि लक्षण सामान्य अपचन में प्रतीत होते हैं।

यह अजीर्ण रोग बहुधा आहार वैषम्य के हेतु से होता है, यह व्याधि समस्त रोग समुदायों की मूल है। यदि इस अजीर्ण रोग को सत्वर नष्ट कर दिया जाय; तो भविष्य में होने वाले रोग संघात का ही नाश हो जाता है।

उपद्रव—इस अजीर्ण रोग की वृद्धि होने पर मूर्च्छा, प्रलाप, वमन, मुँह में बार-बार पानी आना, थकावट, भ्रम, तन्द्रा, बेशुद्धि और क्वचित् मृत्यु आदि उपद्रव हो जाते हैं।

डाक्टरी मतानुसार आमाशय के शोथ आदि विकृति के बिना अपचन हो जाय, उसे डिस्पेपशिया और इनडाइजेशन कहते हैं; और जब यह अपचन अनेक दिनों तक रह जाता है; तब अजीर्ण रोग हो जाता है।

उस समय बहुधा आमाशय में तीव्र शोथ हो जाता है। इसलिये उसे ऑक्युट गेस्ट्रायटिस कहते हैं।

डाक्टरी निदान—आमाशय के तीव्र शोथ के कारण माधव-निदान कथित विषमाशन, अध्यशन, विरुद्धाहार, अधिक द्रवपदार्थ का पीना आदि हेतुओं से तथा विषभक्षण, संक्रामक तीव्रज्वर, अम्लपित्त, शराब, गरम चाय, गरम दूध, कच्चे या सड़े हुए फल खाना और अध-कच्चा भोजन आदि कारणों से आमाशय में तीव्र शोथ हो जाता है।

इनके अतिरिक्त विद्रधि, कण्ठरोहिणी (Diptheria), अग्निविसर्प और मसूरिका आदि रोगों में आमाशय में विषप्रवेश हो जाने पर आमाशय की श्लेष्मल त्वचा में दाह-शोथ हो जाता है। इनमें से किसी भी कारण से जब आमाशय की श्लेष्मकला पर दाह-शोथ हो जाता है; तब अधिक श्लेष्मस्राव, लसीका स्राव, रक्तातिशय, भीतर की त्वचा लाल हो जाना, तथा क्वचित् छोटी-छोटी पिटिका या व्रण हो जाना इत्यादि वेदना होती है। आमाशय द्वार जो ग्रहणी के साथ मिला है, वह (Pylorus) अधिक विकृत हो जाता है। फिर आमाशय अपना कार्य सम्यक् प्रकार से नहीं कर सकता।

लक्षण—हृदय शूल, वमन, उबाक, डकार, दाह, क्षुधानाश, तृषा, मैली जिह्वा, छाती में भारीपन, नाना प्रकार की वात वेदना, अधिक व्याकुलता, बहुधा कोष्ठबद्धता, उदर में वायु भर जाना, वमन में निकले हुए पदार्थों की रासायनिक परीक्षा करने पर आमाशयिक रस में हाइड्रोक्लोरिक एसिड की न्यूनता और बालकों को अजीर्ण हो जाने पर ज्वर आदि भी प्रतीत होते हैं।

यदि विष प्रयोग से इस रोग की प्राप्ति हुई हो; तो आमाशय दाह के अतिरिक्त सन्निपात के लक्षण और बलक्षय भी प्रतीत होते हैं।

क्वचित् योग्य उपचार न होने से या पथ्य पालन न करने से आमाशय में कष्टसाध्य विद्रधि हो जाय; तो अधिक कष्ट पहुँचता है। इस आमाशय शोथ के अतिरिक्त यदि वातवहानाड़ियों में विकृति हो जाय; तो भी शूल सह अजीर्ण के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। इसका वर्णन

शूल के साथ किया जायगा।

आमाशय विस्तार (Dilatation of the Stomach)—आमाशय के चिरकारी दाह-शोथ और इतर कारणों से आमाशय बहुत बढ़कर शिथिल हो जाता है; तब आमाशय विस्तार कहलाता है।

निदान—आमाशय विस्तार होने के मुख्य दो हेतु हैं। अवरोधात्मक और अनवरोधात्मक। आमाशय द्वार पर व्रण या अर्बुद, अन्त्र के प्रारम्भ में व्रण या अर्बुद तथा उदर्य्याकला का चिरकारी दाह-शोथ होकर संकोच, इन कारणों से आमाशय का अवरोधात्मक विस्तार हो जाता है।

आमाशय की मांसपेशियों की शिथिलता होजाना, यह अनवरोधात्मक कारणों में मुख्य है। अन्धाधुन्ध भोजन, पाण्डुरोग और आन्त्रिक ज्वर आदि सार्वदेहिक रोग तथा आमाशय का चिरकारी दाह-शोथ, इन हेतुओं से मांसपेशियाँ निर्बल हो जाने पर इस रोग की प्राप्ति होती है।

लक्षण—भोजन करते समय और पश्चात् भारीपन, थोड़ा-सा खाने पर भी भारीपन; भोजन की इच्छा न होना, भोजन आमाशय में दीर्घकाल तक पड़ा रहना; यदि आमाशयिक रस में हाइड्रोक्लोरिक एसिड की न्यूनता हो, तो उसमें कृमिजन्य विकृति (Bacterial Fermentation) होना; तथा आमाशय द्वार पर अवरोध हो, तो हाइड्रोक्लोरिक एसिड का अतियोग होकर अति खट्टी और उष्ण वमन होना (वमन भोजन के पश्चात् १ घण्टे में या ३–४ घण्टे के पश्चात् होना), हृदयाधरिक प्रदेश (कौड़ीस्थान Epigastric) में वेदना और दाह, तथा व्याकुलता, श्वास, आध्मान, बद्धकोष्ठ और निर्बलता आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

वमन होने पर वेदना शमन हो जाती है। यदि वमन न होती हो, तो भोजन के ५–७ घण्टे बाद रोगी को चित लेटाकर उदर पर हाथ रख दोनों पसलियों की ओर जोर से हिलाने पर वायुमिश्रित जल की खड़-खड़ आवाज उत्पन्न होती है। इस व्याधि में आमाशय की अनुलोमन गति मन्द हो जाती है; और आमाशय बहुधा फूला हुआ-सा रहता है।

कितनेक रोगियों का आमाशय आमाशय विस्तार होने पर स्थान-भ्रष्ट हो जाता है; तब ऊपर के हिस्से की छोटी और नीचे के हिस्से की बड़ी आकृति हो जाती है। इसे डाक्टरी में बाइलोक्युलर स्टमक (Bilocular stomach) कहते हैं। जोर से उँगली-ताड़न करने पर आमाशय में प्रचोदन तरंग भी साफ जाना जाता है।

उदर विस्तार जानने के लिये सोडा बाईकार्ब और टार्टरिक एसिड, दोनों ३०-३० ग्रेन लें; फिर अलग-अलग जल में भिगो, दोनों को एकत्र कर तुरन्त पिला देवें। इस मिश्रण के लिये जल एक बड़ा ग्लास लेना चाहिये। इस सोडावाटर के पीने से थोड़े ही समय में उदर में वायु की उत्पत्ति होकर आफरा आ जाता है; अर्थात् आमाशय फूल जाता है। जिससे उँगली-ताड़न और नलिका श्रवण द्वारा अच्छी रीति से आमाशय स्वरूप (विस्तार) जाना जाता है।

वमन होने पर एक समय के भोजन की अपेक्षा अधिक पदार्थ बाहर निकलता है; मुँह खट्टा हो जाता है और भोजन दूषित हो जाने से वमन में नाना प्रकार के कीटाणु प्रतीत होते हैं।

चिकित्सा—भगवान् धन्वन्तरि ने कहा है; कि—

तत्रामे लङ्घनं कार्यं विदग्धे वमनं हितम्।
विष्टब्धे स्वेदनं पथ्यं रसशेषे शयीत च॥

आमाजीर्ण में लङ्घन, विदग्धाजीर्ण में वमन, विष्टब्धाजीर्ण में स्वेदन और रसशेषाजीर्ण में दिन में भोजन के पहले सोना हितकारक है।*

रसशेषाजीर्ण में आमाशय की वृद्धि हो जाती है, इसलिये भोजन के बाद भी कुछ समय तक लेटे रहने से आमाशय को अधिक हानि नहीं पहुँचती। भोजन पचन होने लगता है; और शनैः-शनैः आमाशय बल-

* दिन में सोने के अधिकारी—व्यायाम से थका हुआ, स्त्री समागम किया हुआ, सवारी से थका हुआ, शराब से मत्त; अतिसार, शूल, श्वास, तृषा, हिक्का और रसाजीर्ण से पीड़ित, वात वृद्धि वाले, निर्बल, क्षीण कफ वाले, बालक और वृद्ध, रात्रि में जागरण करने वाले तथा उपवास करने वाले, ये सब दिन में इच्छानुसार सोवें।

वान् बन कर अपना कार्य करने लगता है।

रसशेषाजीर्ण में दिन में थोड़ी वार शयन कर लेने के पश्चात् क्षुधा लगने पर पथ्य लघु भोजन करना चाहिये। एवं भोजन के पश्चात् भी १ घण्टे तक आराम करना चाहिये।

विष्टब्ध और रसशेषाजीर्ण के लिये इतर आचार्यों ने कहा है, कि:—

"विष्टब्धे स्वेदनं पथ्यं पेयं च लवणोदकम्।
रसशेषे दिवास्वप्नो लङ्घनं वातवर्जनम्॥"

विष्टब्ध अजीर्ण में स्वेदन और लवणोदक का पान, दोनों पथ्य हैं; तथा रसशेषाजीर्ण में दिन में सोना, वातप्रकोप न हो इस तरह लङ्घन, वातप्रकोप न हो ऐसे आहार-विहार का सेवन और निर्वात स्थान में रहना, ये सब हितकारक हैं।

प्रातःकाल के भोजन का पूर्णांश में पचन होने के पहले कदाच सायंकाल का भोजन किया जाय, तो अधिक हानि नहीं है; किन्तु प्रातःकाल में अजीर्ण रह जाने पर यदि भोजन किया जाय; तो प्रकृति में विशेष विकृति हो जाती है।

इस अजीर्ण रोग में तीव्र वेदना (शूल) होती हो, तो भी शूलघ्न औषधि का सेवन न करना चाहिये। (वमन कराने वाली औषधि या निवाया जल पीवें)। कारण तीव्र औषधि का सेवन करने पर अग्नि आम से आच्छादित होने से दोष, औषधि और भोजन को नहीं पका सकती; प्रत्युत रोगी को हानि पहुँचाती है। ऐसा श्री० वाग्भट्टाचार्य ने भी निम्न वचन से कहा है—

"तीव्रार्तिरपि नाजीर्णी पिबेच्छूलघ्नमौषधम्।
आमसन्नोऽनलो नाऽलं पक्तुं दोषौषधाशनम्॥
निहन्यादपि चैतेषां विभ्रमः सहसाऽऽतुरम्॥

अ० हृ० सू० ८। १८-१९।

यदि अजीर्ण रोग में भोजन जीर्ण हो जाने पर उदर स्तब्ध और भारी रह जाय, तो शेष दोष को पचाकर अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये औषधि देनी चाहिये। प्रारम्भ में कच्चे दोष को तो अपतर्पण द्वारा ही शमन

करें; किन्तु अपतर्पण की योजना देश, काल और अग्नि का विचार कर करनी चाहिये। इस विषय में अष्टाङ्ग हृदयकार ने कहा है, कि :—

तत्राल्पे लङ्घनं पथ्यं मध्ये लङ्घनपाचनम्।
प्रभूते शोधनं तद्धि मूलादुन्मूलयेन्मलान्॥
सू० ८-२१-२२॥

थोड़े दोष में लङ्घन (उपवास) कराना हितकर है; मध्यम दोष में लङ्घन और पाचन देवें; और दोष अति बढ़ा हुआ हो, तो शोधन औषधि द्वारा मलों को मूल से उखाड़ डालना चाहिये।

वामयेदाशु तं तस्मादुष्णेन लवणाम्बुना।
कार्यं चानशनं तावद्यावन्न प्रकृतिं भजेत्॥

आमाजीर्ण में नमक को निवाये जल के साथ मिला वमन करने के लिये तुरन्त पिला देना चाहिये। फिर जब तक प्रकृति स्वस्थ न होजाय; तब तक लङ्घन कराना चाहिये।

यदि आमाशय में दाह-शोथ हो, तो अधिक तीक्ष्ण औषधि नहीं देनी चाहिये।

यदि आमाशय शिथिल हो गया हो, तो भोजन के पश्चात् १ घण्टा तक आराम करना हितकर है।

वातवहा नाड़ियों की विकृतिजन्य अजीर्ण हो, तो वातशामक उपचार करना चाहिये। (आँवले का मुरब्बा या च्यवनप्राशावलेह के साथ अभ्रक भस्म का सेवन अति लाभदायक है।)

बलवान शरीर वाले को आमाजीर्ण में वमन कराने के लिये नमक मिला निवाया जल देवें या नमक १ तोला और वच ६ माशे मिला निवाया जल ३२ तोले से ६४ तोले तक प्रातःकाल को पिलाकर तुरन्त वमन करावें (देरी न करें)।

यदि आमाजीर्ण कारोगी निर्बल है; तो वमन नहीं कराना चाहिये; किन्तु लंघन आदि से ही उपचार करें।

विदग्धाजीर्ण में शीतल जल पिलाना और नित्यप्रति उषःपान कराना, यह पित्तशामक, दोषपाचक और रक्त में रहे हुए दोष को बाहर

निकाल प्रकृति को स्वस्थ कराने के लिये अत्यन्त हितकारक है।

आमपाचन सरल प्रयोग—(१) हरड़, सोंठ, गुड़ और सैंधानमक मिलाकर सेवन कराने से जठराग्नि अत्यन्त प्रदीप्त होती है।

(२) हरड़, पीपल, चित्रकमूल और सैंधानमक का चूर्ण ३ से ६ माशे निवाये जल से लेने से नष्ट हुई अग्नि अति प्रदीप्त हो जाती है।

(३) ६ माशे वच, ६ माशे सैंधानमक तथा २ माशे पीपल को एक ग्लास निवाये जल में मिला, सुबह के समय पिलाकर वमन कराने से कच्चा आम दोष सब निकल जाता है।

(४) धनिया और सोंठ का क्काथ पिलाने से शूल सह आमाजीर्ण दूर हो जाता है; और मूत्र की शुद्धि होती है।

(५) सोंठ और सौंफ को पीस समभाग मिश्री मिलाकर ६ माशे लेने से आम पच जाता है; और शेष अंश मल के साथ निकल जाता है।

(६) हरड़, पीपल और कालानमक मिलाकर ३ माशे चूर्ण निवाये जल के साथ लेने से आम पचन हो जाता है; तथा अजीर्ण, मन्दाग्नि, अरुचि, आध्मान और शूल का शमन होता है।

(७) सोंठ, पीपल और हरड़ का गुड़ के साथ सेवन या अनार खाने से आमाजीर्ण, बवासीर और विष्टब्धाजीर्ण दूर हो जाते हैं।

(८) विदग्धाजीर्ण से हृदय, कोष्ठ और कण्ठ में दाह हो जाय; तो रात्रि को सोने के समय बड़ी हरड़, मिश्री और मुनक्का का सेवन शहद के साथ कराना लाभदायक है।

अजीर्ण रोगी के लिये भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं, कि:—

भवेदजीर्णं प्रति यस्य शंका स्निग्धस्य जन्तोर्बलिनोऽन्नकाले।
प्रातः स शुण्ठीमभयामशंको भुञ्जीत संप्राश्य हितं हितार्थी॥
स्वल्पं यदा दोषविबद्धमामं लीनं न तेजः पथमावृणोति।
भवत्यजीर्णेऽपि तदा बुभुक्षा सा मन्दबुद्धिं विषवन्निहन्ति॥

यदि बलवान मनुष्य को अजीर्ण होने का संशय हो जाय; तो प्रातःकाल सोंठ और हरड़ समभाग मिलाकर ४–६ माशे सेवन करें। फिर भोजन के समय थोड़ा पथ्य भोजन कर लेवें। सोंठ और हरड़ के

सेवन का मुख्य कारण यह है, कि यदि आम थोड़ा-सा भी वात आदि दोष से विवद्ध होकर रस-रक्तादि धातु में लीन हो जाय; और जठराग्नि के मार्ग को न रोके; तो अजीर्ण में भी क्षुधा लग जाती है; परन्तु वह क्षुधा विषसदृश घातक बन जाती है; अर्थात् रसशेषाजीर्ण में कहे हुए उपद्रव या दोषानुरूप किसी इतर रोग की उत्पत्ति कराती है।

अजीर्ण में उदर पर लेप और सेक—(१) त्रिकटु, सैंधानमक और हींग, इन ५ औषधियों को जल या काँजी के साथ पीस निवाया कर उदर पर लेप करें। फिर थोड़ा समय शयन करने से अजीर्ण निवृत्त हो जाता है।

(२) **दारुषट्क लेप**—देवदारु, सफेद वच, कूठ, सौंफ़, हींग और सैंधानमक, इन सबको काँजी में पीस निवाया कर पेट पर लेप करने से आफरा और शूल का शमन होता है।

(३) अलसी को पीस गरम कर कपड़े पर रोटी समान मोटा बिछावें। फिर दर्द वाले भाग पर बाँधें; या अलसी की पोटली से पेट पर सेक करें, तो तीव्र शूल, आफरा और मलावरोध सत्वर दूर होते हैं।

(४) एक लोटे में गरम जल भर उसमें १ मुट्ठी नमक डालें। फिर पेट पर एरंड तैल लगाकर कपड़े की चार तह रख कर सेक करें; तो मलावरोध, आफरा और शूल नष्ट हो जाते हैं।

हृदयाधरिक प्रदेश में तीव्र वेदना होती है; तो गरम जल से सेक करें या राई का प्लास्तर लगावें। (विधि शरीरशोधन प्रकरण के पृष्ठ २८७ में लिखी है।)

आमाजीर्ण नाशक औषधियाँ—(१) अग्निकुमार रस (र० ४००), क्रव्याद रस (र० ४२१), लघु क्रव्याद रस (र० ४२२), रामबाण रस (र० ४१७), महायोगराज गूगल (र० ४६५ रोग जीर्ण हो गया हो, तो), लोह भस्म (त्रिफला, घी और शहद के साथ), संजीवनी गुटिका (र० ४५०), धनञ्जय वटी (र० ५५२), चित्रकादि वटी (र० ५५३), गन्धक वटी (र० ५७२) और क्षुद्बोधक रस (र० ५३५), ये सब आम को पचन करा अग्नि को प्रदीप्त कराती हैं।

इनमें से अनुकूल औषधि का सेवन करावें।

(२) आफरा होवे, तो—शिवाक्षारपाचन चूर्ण (र० ५८६), हिंग्वष्टक चूर्ण (र० ५८५), अग्निकुमार रस (र० ४२०), क्रव्याद रस (र० ४२१), अग्नितुण्डी वटी (र० ४२३) और शंख वटी (र० ४१२), इनमें से अनुकूल औषधि का सेवन कराने से आफरा दूर होकर अग्नि प्रदीप्त हो जाती है।

आमपाचन और विरेचन के लिये प्रयोग—नारायण चूर्ण (र० ५८६), इच्छाभेदी रस (र० ४०६), त्रिवृदष्टक मोदक (र० ५४३ पित्त की अधिकता हो, तो), आरग्वधादि क्काथ (र० ६२१ ज्वर हो, तो), विरेचन चूर्ण (र० ५६२), पञ्चसम चूर्ण (र० ५६२) और पंचसकार (र० ५६३), इनमें से अनुकूल औषधि का प्रातःकाल सेवन कराने से आम और मल की निवृत्ति होती है; तथा क्षुधा प्रदीप्त होती है। विरेचनार्थ विशेष प्रयोग और नियम विरेचन विधि पृष्ठ २१४ में देखें।

जीर्ण अजीर्ण शामक औषधियाँ—क्रव्याद रस (र० ४२१), लघु क्रव्याद रस (र० ४२२), लोह भस्म (रक्तादि धातु में दोष लीन हो, तो त्रिफला से साथ), अग्नितुण्डी वटी (र० ४२३) और द्राक्षासव (र० ६५६), इनमें से अनुकूल औषधि का सेवन करावें। औषधि कम मात्रा में दिन में ३ समय कुछ दिनों तक देनी चाहिये।

विदग्धाजीर्ण शामक औषधियाँ—शंख वटी (र० ४१२), प्रवाल भस्म (र० २४५), अग्निप्रदीपक गुटिका (र० ५७७), शंख भस्म (र० २६२ घी या मक्खन के साथ), शौक्तिक भस्म (र० २५८ सितोपलादि चूर्ण और शहद के साथ), इनमें से अनुकूल औषधि दिन में २ या ३ समय कुछ दिनों तक देते रहें।

समशर्कर चूर्ण—छोटी इलायची के दाने १ तोला, दालचीनी २ तोले, नागकेशर ३ तोले, काली मिर्च ४ तोले, पीपल ५ तोले, सोंठ ६ तोले और मिश्री २१ तोले लें। इन सबको मिला चूर्ण कर ४-४ माशे दिन में ३ समय शीतल जल के साथ देते रहने से थोड़े ही दिनों में विदग्धाजीर्ण दूर होकर अग्नि प्रदीप्त हो जाती है।

मलशुद्धि के लिये—गुलकंद, आंवलों का मुरब्बा या त्रिवृदष्टक मोदक (र० ५४३) आवश्यकता पर सुबह को देवें। अथवा मुनक्का, मिश्री और बड़ी हरड़ का चूर्ण शीतल जल के साथ दें।

विष्टब्धाजीर्ण नाशक औषधियाँ—(१) अग्नितुण्डी वटी (र० ४२३), अग्निकुमार रस (र० ४२० मट्ठे के साथ), धनंजय वटी (र० ५५३), जम्भीरीद्राव (र० ६६५), वड़वानल चूर्ण (अग्निमान्द्य में कहा हुआ) और क्षुद्‌बोधक रस (र० ५३५); इनमें से अनुकूल औषधि का सेवन करावें। यदि मलावरोध है; तो पहले दूर करना चाहिये।

(२) शूल, वातवृद्धि, वमन, दुर्गन्धयुक्त डकार और आफरा सह होवे, तो शिवाक्षार पाचन चूर्ण (र० ५८६), हिंग्वष्टक चूर्ण (र० ५८५), वराटिका भस्म (र० २६० अनार शर्वत के साथ अथवा अदरख और नीबू के रस के साथ), शंख वटी (र० ४१२) और गंधक वटी (र० ५७२), इनमें से अनुकूल औषधि की योजना करें। ये सब शूल, आफरा आदि विकारों को सत्वर शमन करके अग्नि को प्रदीप्त बनाती हैं। इनमें से शिवाक्षार पाचन में कब्ज को दूर करने का गुण भी है।

(३) आफरा शमन के लिये—हिंग्वष्टक चूर्ण दें; और हींग के पानी में कपड़ा भिगोकर नाभि पर रक्खें या उदर पर दारुषट्क लेप करें।

(४) जीर्ण मलावरोध दूर करने के लिये—द्राक्षारिष्ट (र० ६५६), अभयारिष्ट (र० ६५८) या नाराच घृत (र० ७०८) आदि जो आंतों को शिथिल न बनाने वाली औषधि हों, उनका सेवन करें।

(५) मलशुद्धि के लिये—जीर्ण रोग में आवश्यकता पर ग्लीसराइन की सपोझीटरी गुदा में चढ़ावें, या एरंड तैल की बस्ति देवें।

(६) अन्त्रशक्ति वृद्धि अर्थ—अग्नितुण्डी वटी का सेवन प्रातः-सायं कराना चाहिये। १५-१५ दिन बाद ४-४ दिन छोड़ देवें। इस तरह ३-४ मास तक सेवन कराने से आंतें बलवान बन जाती हैं; तथा जीर्ण बद्धकोष्ट, अजीर्ण और अग्निमान्द्य दूर हो जाते हैं।

(७) अति जीर्ण रोग में आमाशय, पक्काशय और ग्रहणी में शिथिलता आ गई हो; तो ताप्यादि लोह (र० ४३१), लोह भस्म

और अभ्रक भस्म (द्राक्षारिष्ट के साथ), या बृहद् योगराज गूगल (र० ४६५) का सेवन थोड़ी मात्रा में दीर्घ काल तक कराना चाहिये। अथवा अग्नितुण्डी वटी का सेवन करावें।

रसशेषाजीर्ण नाशक औषधियां—(१) अग्नितुण्डी वटी (र० ४२३), क्रव्याद रस (र० ४२१), वज्रक्षार चूर्ण (र० ५६५), लवणभास्कर चूर्ण (र० ५८५ ताजे मट्ठे या अनारदाने के रस के साथ), धनंजय वटी (र० ५५२), गंधक वटी (र० ५७२), शिवाक्षार पाचन चूर्ण या हिंग्वष्टक चूर्ण (र० ५८५ आध्मान हो, तो), इनमें से औषधि थोड़ी मात्रा में दिन में २ या ३ समय दीर्घकाल तक सेवन कराते रहना चाहिये।

वमन, मुँह में छाले और दाह हो, तो— प्रवाल भस्म (र० २४५), अग्निप्रदीपक गुटिका (र० ५७७), शौक्तिक भस्म(र०२५८ घी के साथ), तथा विदग्धाजीर्ण में कही हुई औषधियां हितकारक हैं।

(३) यदि रक्त में सेन्द्रियविष मिल जाने से मूत्र में अम्लता, दुर्गन्ध और मैला पीला रंग हो गया हो; तो शिलाजीत या अन्य मूत्रल औषधियां रोग शामक औषधि के साथ देते रहें।

डाक्टरी चिकित्सा।

आमाशय के तीव्रशोथ (आमाजीर्ण) होने पर वमन कराने के लिये झिंक सल्फास (Zinc. Sulphas) २० ग्रेन या वाइनम इपिकाक (Vinum Ipecacuanhae) ४ ड्राम जल के साथ मिलाकर प्रातःकाल को पिला देवें।

इस तरह आमाशय को रबर की आमाशय नलिका (Stomach tube) द्वारा धोया जाता है। इस नलिका को सम्हालपूर्वक रोगी के कण्ठ में से नीचे आमाशय में डालें। नलिका डालने के समय प्रारम्भ में मस्तक को कुछ पीछे की ओर झुकावें। फिर कण्ठ के पास लानेपर शिर को आगे की ओर मोड़ लेवें, जिससे नलिका का प्रवेश अन्न मार्ग में सहज हो जाता है। पश्चात् बाहर रहे हुए खुले मुंह में निवाया जल

डालें। नलिका भर जाने पर उसे दबाकर उलट देवें। जिससे भीतर रहे हुए रस में जल मिश्रित होकर नलिका के दूसरे मुँह से बाहर आजाता है। इस तरह ३ वार धोने से दूपित रस निकलकर साफ पानी आने लगता है।

कच्चा आम अधिक हो; तो जल में ६-६ माशे सोहागे का फूला या वोरिक एसिड (Acid Boric) मिला लेना विशेष हितकर है।

अधिक वेदना हो, तो निम्न औषधि का प्रयोग किया जाता है।

विसमथ सेलिसिलास Bismuth Salicylas		५ ग्रेन
एक्सट्रेक्ट ओपिआई	Ext. Opii	½ ग्रेन
एसिड हाइड्रोश्यानिक डिल०	Acid Hydrocyan. Dil.	३ बूंद
सोडा वाईकार्ब	Soda Bicarb	१० ग्रेन
म्युसिलेज	Mucilage	१ ड्राम
एक्वा	Aqua	१ औंस

सबको मिलाकर पिला देवें।

अजीर्णनाशक पाचन औषधियाँ।

किस वस्तु से अजीर्ण	अजीर्णनाशक पाचन औषधियाँ
कटहर	केला, नारियल और अनारदाने।
प्याज	नमक और सिरका।
केला	घी और छोटी इलायची या केले की राख शहद के साथ देवें।
दही	जीरा और नमक, शक्कर और सोंठ।
घी	नीबू का रस, अनार, कोकम, जामुन, कांजी, निवाया जल, निवाया मांड, कालीमिर्च।
गुड़	दही, मट्ठा, मक्खन।
खजूर और सिंघाड़ा	सोंठ और नागरमोथा।
नीबू, जामुन, नारियल, अमरूद और ताड़ के फल	नमक।

किस वस्तु से अजीर्ण	अजीर्णनाशक पाचन औषधियाँ
पक्के आम	दूध।
चिरौंजी	हरड़।
महुआ, वेल, खिरनी, फालसे, खजूर और कैथ	नीम की निबोलियाँ खाना या जल में पीसकर पीना।
तक्र (मट्ठा)	नमक को जल में मिलाकर पिलावें या निवाया माण्ड का सेवन करावें।
गूलर, पीपल और पाखर के फल	सोंठ का क्वाथ।
चावल	दूध या अजवायन और पीपल।
दूध गाय का	अजवायन, केशर अथवा तक्र।
दूध भैंस का	सैंधानमक।
सांठी चावल	दही का जल।
मूंग	आंवला।
गेहूँ, उड़द, चने और मटर	धतूरे के शुद्ध बीज।
खजूर, कमलगट्टा, कसेरू, अंगूर, सिंघाड़े और महुए	नागरमोथा का क्वाथ।
कांगनी, समा, कुलथी, मूंग, मसूर, चने, सेम, मटर, अरहर, उड़द आदि द्विदल धान्य	कांजी।
ककड़ी	गेहूँ।
पिट्ठी के पदार्थ (कचौरी, पकौड़ी)	शीतल जल।
कुलथी	तैल।
खिचड़ी	सैंधानमक।
उड़द की दाल	शक्कर।
उड़द की दाल की मिठाई	नीबू।
खीर	इलायची, सोंठ, केसर, मूंग का यूष।
बड़ा	वेशवार (हींग, हल्दी, लौंग, अजवायन, मिर्च आदि मसाले)।

किस वस्तु से अजीर्ण	अजीर्णनाशक पाचन औषधियाँ
लड्डू, मालपुए और सट्टक (चावल के आटे की मीठी राब)	पीपलामूल, मट्ठा या सौंफ और कालीमिर्च ।
जलेबी	चावलों की माण्ड ।
फेनी	लौंग, दालचीनी और सोंवा ।
अंगूर, आम, बादाम, पिस्ता आदि	लौंग या कालीमिर्च, सोंठ और नमक ।
पूरी	माण्ड या कांजी ।
पापड़	सुहिंजने की छाल ।
मत्स्य	कांजी, मांस का भोजन या आमचूर ।
मांस	कांजी, तिल का क्षार, शराब ।
कछुए का मांस	जवाखार ।
कपोत (सफेद कबूतर) कबूतर, नीलकण्ठ और तीतर का मांस	गोखरू, पञ्चतृण या कांस की जड़ का क्वाथ
चंचू (कलभी की पत्ती), सरसों और बथुआ	खैरसार का क्वाथ ।
पालक, अरवी, रतालू, आलू, पिण्डालू, करेला, बैंगन, बांस के अंकुर, मूली, पोई, लौकी, चौलाई और परवल	सफेद सरसों की पत्ती का शाक ।
बाजरी	मट्ठा या हरड़ ।
आलू	चावलों का धोवन
पिण्डालू	कोदों अन्न ।
कसेरू	सोंठ ।
नमक	चावलों का जल ।
तैल	कांजी ।
भैंस का दही	शंखभस्म या हरड़ और सोंठ का चूर्ण ।
गन्ने	त्रिकटु ।
खांड, शक्कर	सोंठ ।

मिश्री	सोंठ, नागरमोथा।
ईख का रस	अदरख का रस।
शराब	सोनागेरू और चन्दन का हिम।
शीतलवस्तु	उष्णवस्तु, क्षार और खटाई।
उष्णवस्तु	शीतलवस्तु।
नमकीन पदार्थ	खटाई।
अधिक जलपान	सुवर्ण या रौप्य को अग्नि में तपा-तपाकर ७ समय जल में बुझाकर जल पीने को दें।
गरम जल से अजीर्ण	नागरमोथा का चूर्ण शहद में मिला कर दें।

यदि दुर्जर आहार से अजीर्ण हो गया हो; तो जिस वस्तु से अजीर्ण हुआ हो, उसको जला, राख कर शहद के साथ सेवन कराने या पानी में घोल कर दिन में ३ समय पिलाने से अजीर्ण की निवृत्ति हो जाती है।

जीर्ण आहार लक्षण—शुद्ध डकार आना, मन में प्रसन्नता, मल-मूत्रादि की यथोचित प्रवृत्ति, देह में हलकापन और क्षुधा-तृषा लगना आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

पथ्य—उपवास, श्लैष्मिक प्रकोप में वमन, पैत्तिक में मृदुविरेचन, वातिक में स्वेदन, व्यायाम, अग्निप्रदीपक और लघुभोजन, पुराना लाल शालि चावल, विलेपी, खीलों का माँड, भात का माँड, वार्लि, आरारूट, जौ का माँड, सिंघाड़े की लपसी, मसूर या मूँग का यूष, शराब; हिरन, मोर, खरगोश और लावा का मांसरस, छोटी मछलियाँ, परवल, बैंगन, कच्चा केला, सुहिंजने की फली, ककोड़ा, करेला, आँवला, बथुआ, कच्ची मूली, बेंत के अंकुर, लहसन, पका कुष्माण्ड, नीबू, अनार, अदरख, बिजौरा, अम्लोनिया, चौपतिया, संतरा, मुसंबी, अंगूर, शहद, मक्खन, घी, मट्ठा, काँजी, सरसों का तैल, हींग, सैंधानमक, अजवायन, मिर्च, मेथी, धनिया, जीरा, पान, गरमजल, उषःपान (प्रातःकाल उठने पर शौच जाने के पहले शीतल जल पीना), चरपरे और कड़वे रस वाले

पदार्थ, ये सब मन्दाग्नि और अजीर्ण रोग में हितकर हैं।

आमाजीर्ण में लङ्घन, वमन, थोड़ा शराब, व्यायाम, हरड़, सोंठ, धनिया, जीरा, सैंधानमक, पथ्य, हलके अग्नि प्रदीपक यवागू, लाजा-मण्ड और पापड़ आदि भोजन हितकर हैं।

विष्टब्धाजीर्ण में थोड़ा घी, मट्ठा, गेहूँ के मोटे आटे की रोटी, अम्लवेंत, जम्भीरी नीबू, बिजौरा नीबू, हींग, सोंठ, अजवायन, हरड़, पीपल, मेथी, लहसन आदि लाभदायक हैं।

नियमित समय पर हलका पथ्य भोजन, रात्रि को जल्दी सो जाना, सुबह जल्दी उठकर खुली वायु में घूमना और ब्रह्मचर्य का पालन करना, ये सब नियम मलावरोध के रोगी के लिये अत्यन्त हितकारक हैं।

विदग्धाजीर्ण में वमन, शीतल जलपान, गेहूँ के पतले फुलके, किसमिस, मूंग की दाल, हरड़, सोंठ, शहद, मिश्री, सिंघाड़े की लपसी, गरम करके शीतल किया हुआ दूध, मुसम्बी, माल्टा, मीठा सन्तरा, मीठा अनार, ये सब पथ्य हैं।

अपथ्य—बार बार जुलाब लेना, मल-मूत्र और अधोवायु का अवरोध, अध्यशन, समशन, विषमाशन, रात्रि को जागरण, रक्त निकालना, द्विदल धान्य (चने-मटर आदि) मछली, मांस, मलावरोध करने वाला भोजन, पक्का भोजन, मैदा के पदार्थ, तीक्ष्ण पदार्थ, जौ, उड़द, ज्यादा शाक, ईख, गुड़, कच्चा दूध, ज्यादा घी, खोवा, मलाई, नारियल, ताड़फल, मुनक्का, पोई का शाक, जामुन, आलू आदि कन्द-शाक, ज्यादा नमक, ज्यादा मिर्च, तैल मर्दन, मैथुन या इतर रीति से वीर्य का क्षय करना, तीव्र आमाजीर्ण और विष्टब्धाजीर्ण में स्नान, ये सब अग्निमान्द्य और अजीर्ण रोगियों के लिये अपथ्य माने गये हैं।

विष्टब्धाजीर्ण वाले को रात्रि को भात खाने से बद्धकोष्ठ हो जाता है। एवं विदग्धाजीर्ण वाले को भात, कुलथी, दही, मट्ठा या खट्टे पदार्थ खाने से अजीर्ण विकार और त्रास बढ़ते हैं।

भोजन करने के समय अधिक जलपान, चाय, काफी, सिगरेट और शराब आदि का व्यसन तथा बार-बार जुलाब लेना, ये सब

अजीर्ण रोगी के लिये अति हानिकारक हैं।

भोजन के पश्चात् तुरन्त परिश्रम, वाचन, लेखन अथवा मनन आदि कार्य करना, ये सब अजीर्ण रोग को अधिक दृढ़ बनाते हैं। एवं गरम दूध, गरम चाय या काफी और अति गरम भोजन, ये भी अजीर्ण रोग को बढ़ाने वाले हैं।

(१०) विसूचिका।

विसूचिका-हैजा-कॉलेरा Cholera।

जब अजीर्ण रोग में वायु प्रकुपित होने पर सुई से वेधन करने समान पीड़ा हो, तब विसूचिका रोग कहलाता है। यह रोग परिमित आहार करने वाले संयमी जनों को नहीं होता। जो मूढ़ मनुष्य अजितेन्द्रिय हैं; जो पशु के समान बार-बार या खूब ज्यादा प्रमाण में खाते रहते हैं; उनको ही यह रोग हो जाता है।

लक्षण—इस रोग में मूर्च्छा, अतिसार, वमन, प्यास, शूल, भ्रम, हाथ-पैर टूटना, उबासी, दाह, चेहरा मलीन हो जाना, कम्प, हृदय में वेदना और शिरःशूल आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

यह रोग अजीर्ण में भोजन करने के अतिरिक्त दूषित जलवायु द्वारा विसूचिका के जन्तु का शरीर में प्रवेश होना, ऋतु का परिवर्त्तन, सूर्य के ताप में फिर कर तुरन्त बर्फ या शीतल जल-पान करना इत्यादि कारणों से भी (वर्तमान में) उत्पन्न होता रहता है।

अजीर्ण से विसूचिका होता है, वह अधिक भयप्रद नहीं है; परन्तु कीटाणु प्रकोप से उत्पन्न विसूचिका तीव्र, संक्रामक, जानपदिक (देश में फैलने वाला) और मारक माना गया है। यह कीटाणु जन्य रोग अजीर्ण के पश्चात् ही हो, ऐसा नियम नहीं है। अनेक बलवान् मनुष्यों को भी खाने के पदार्थ में कीटाणु आजाने से हो जाता है। अनेक बार शक्ति अति सबल होने से कीटाणु नष्ट हो जाते हैं; और अनेकों के लिये आंतर शक्ति का कीटाणु के साथ युद्ध करने में पराजय हो जाता है, तब इस रोग की प्राप्ति हो जाती है।

डाक्टरी में अजीर्ण जनित विसचिका को (कॉलेरा मोर्बस और

समर कॉलेरा (Cholera Morbus & Summer Cholera) तथा जानपदिक विसूचिका को एसियाटिक कॉलेरा और मेलिगनॅन्ट कॉलेरा (Asiatic Cholera & Malignant Cholera) संज्ञा दी है।

विसूचिका का पूर्वरूप—बेचैनी, क्षुधामान्द्य, कुछ ज्वर का असर, उदर में भारीपन और आलस्य आदि प्रतीत होते हैं।

उपद्रव—निद्रानाश, अरति, कम्प, मूत्राघात (मूत्र की उत्पत्ति न होना) और संज्ञानाश, ये पाँच दारुण उपद्रव माने जाते हैं। यदि इस रोग में पेशाव साफ आजाय; तो वहुधा रोग की शान्ति हो जाती है।

असाध्य लक्षण—जिस रोगी के नाखून, होठ और दाँत काले हो जायँ; संज्ञा नष्ट हो जाय; वमन की पीड़ा से नेत्र खड्डे में घुस जायँ; आवाज विल्कुल वैठ जाय; हाथ-पैर चलाने की शक्ति मारी जाय और सव साँधे शिथिल हो जायँ; वह रोगी नहीं वच सकेगा।

अजीर्णजन्य विसूचिका (मृदु विसूचिका) में कै दस्त ज्यादा होने पर भी रोगी निर्वल नहीं होता। कोष्ठ में तीव्र वेदना होती है; फिर भी शरीर की उष्णता जल्दी नहीं घटती; किन्तु कीटाणुजन्य विसूचिका में शारीरिक उष्णता और वल, दोनों सत्वर (६ से १२ घंटे में) घट जाते हैं।

हेतु—कीटाणुजन्य रोग स्त्री, पुरुष, वालक, युवा, वृद्ध, सव पर आक्रमण कर देता है। इस रोग के कीटाणु को (वेसिलस स्पिरिल्यम Bacillus Spirillum) कहते हैं। इस कृमि की आकृति ',' इस चिह्न सदृश अर्थात् स्वल्प विराम (कौमा) के समान होने से इसको डाक्टरी में (वेसिलस कौमा Bacillus Coma) भी कहते हैं।

ये कीटाणु रोगी के मल, मूत्र और वमन में अत्यधिक मात्रा में प्रतीत होते हैं। क्वचित् पित्ताशय, उदर्य्याकला और उदर के इतर अवयवों में भी प्रवेश कर जाते हैं। इस रोग के कीटाणुओं को मक्खियाँ भोजन, जल, दूध, शाक-भाजी इत्यादि खाने-पीने के पदार्थ में पहुँचा देती हैं। जिससे इस रोग का आक्रमण स्वच्छता न रखने वाले नीरोगी (वहुधा निर्वल) मनुष्यों पर सहसा हो जाता है।

मुसाफिरों द्वारा यह रोग एक शहर से दूसरे शहर पर पहुँचाया जाता है।

इसका कीटाणु कपड़े पर भी जीवित रह जाता है।

इस रोग का आक्रमण भिन्न-भिन्न स्थान में भिन्न-भिन्न काल में होता है। कहीं वैशाख-ज्येष्ठ में, कहीं आषाढ़-श्रावण में और किसी स्थान में कार्त्तिक मास में फैलता है। जहाँ पर जनसमूह का मेला (Fair) दिनों तक लगता है; और स्वच्छता पर विशेष रूप से लक्ष्य नहीं दिया जाता; तब बहुधा विसूचिका फैल जाता है।

इस रोग से पीड़ित की सेवा करने वाले यदि मल-मूत्र का स्पर्श करने पर अच्छी रीति से हाथों को न धोवें; और ऐसे गन्दे हाथ से ही भोजन करने लगें; तो कीटाणु उनके उदर में जाकर रोग की उत्पत्ति कर देते हैं।

सम्प्राप्ति—कीटाणु क्षुद्रान्त्र की श्लैष्मल त्वचा को विकृत करके वहाँ बढ़ते जाते हैं। आन्त्रिक ज्वर के कीटाणु जिन लसिका ग्रन्थियों पर दाह-शोथ उत्पन्न करते हैं; उन पर ये कीटाणु भी दाह-शोथ उत्पन्न करते हैं। इस रोग में व्रण नहीं होते; किन्तु अन्त्र में कीटाणु समुदाय युक्त गाढ़ा द्रव पदार्थ का संचय होने लगता है।

वमन और अतिसार द्वारा द्रव पदार्थ जैसे-जैसे निकलता जाता है; वैसे-वैसे रक्त काला और गाढ़ा होता जाता है। आपेक्षिक घनत्व १०५५ से १०६५ या इससे भी अधिक हो जाता है। इसी हेतु से वृक्कस्थान में मूत्र बनना बन्द हो जाता है; और सब धातु शुष्क हो जाती हैं।

इस रोग का चयकाल १२ घण्टे से १४ दिन तक का माना जाता है। किन्तु महामारी के दिनों में बहुधा ३ दिन से अधिक नहीं होता।

लक्षण—इस रोग की ३ अवस्थाएँ होती हैं। आक्रमणावस्था, पतनावस्था और प्रतिक्रियावस्था।

आक्रमणावस्था—इस अवस्था में पतले दस्त आने का प्रारम्भ होता है। यदि पहले से ही अतिसार हो; तो अतिसार बढ़ जाते हैं। पहले पीले रंग के दस्त आते हैं; फिर शनैः-शनैः पतले और सफेद होते जाते हैं और जल्दी-जल्दी आने लगते हैं। दस्त में सड़े हुए मांस जैसी दुर्गन्ध आती है।

कुछ समय के पश्चात् दस्त चावलों के धोवन के समान सफेद रंग के हो जाते हैं। इस मल में श्वेतवर्ण का द्रव्य, जो प्रतीत होता है; वह श्लैष्मिक कला के परमाणु (एपिथेलिया Epithelia) हैं। इस श्वेत द्रव्य मिले हुए दस्त १०-१५ मिनट के बाद बार-बार होते रहते हैं।

वमन भी प्रारम्भ से होने लगते हैं। शनैः-शनैः यह भी बढ़ते जाते हैं। पहले आमाशयिक रस, फिर क्षुद्रान्त्र के पित्त आदि द्रव निकलते हैं। इसका वर्ण भी ३ घण्टे बाद सफेद हो जाता है। नाड़ी अशक्त, किन्तु गति तेज, श्वास प्रश्वास में तेजी, अति तृषा, बांयटे आना, नाड़ी खिंचना, जंघा में पीड़ा, नेत्र में लाली, बलक्षय, उदरशूल, मूत्रक्षय बाहर से शीतलता और भीतर से उष्णता बढ़ना, इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं। गुदा में थर्मामिटर लगा कर परीक्षा की जाय; तो १०२-३ डिग्री उष्णता और बाहर से ६० डिग्री तक प्रतीत होती है। यह अवस्था २ से १६ घण्टे तक रहती है।

पतनावस्था—यह अवस्था १२ से २४ घण्टे तक रहती है। रोगी अति अशक्त हो जाता है; मुँह उतर जाता है; शरीर शीतल हो जाता है; नेत्र भीतर घुस जाते हैं; गाल पर खड्डे हो जाते हैं; ओष्ठ और नाखून काले हो जाते हैं; त्वचा नीली और शुष्क हो जाती है; त्वचा में झुर्रियाँ पड़ जाती हैं; उदर मृदु और शिथिल, मूत्रक्षय, आवाज क्षीण तथा नाड़ी मन्द, अनियमित और कचित् टूटती हुई भासती है। यह अवस्था बढ़ने पर अतिसार बहुत कम हो जाता है; किन्तु वमन होती रहती है। अंत में मूर्च्छा होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है। बहुधा मृत्यु से कुछ समय पहले सारे शरीर में उष्णता बढ़ जाती है; और मृत्यु के पश्चात् कुछ देर तक शरीर उष्ण रहता है।

प्रतिक्रियावस्था—वमन और अतिसार कम होने लगते हैं; इनका वर्ण भी बदल जाता है; मूत्र आने लगता है; शरीर उष्ण हो जाता है; और शरीर पर पिटिकाएँ (या चकते) हो जाती हैं। रोगी धीरे-धीरे सुधरने लगता है; निद्रा आने लगती है; और उष्णता तेजी से बढ़ने लगती है। इस हेतु से कचित् पुनः प्रकोप होकर अतिसार

प्रलाप, फुफ्फुसदाह, अन्त्रदाह, इन उपद्रवों से ग्रसित हो जाता है। यदि प्रकोपयुक्त यह अवस्था २४ घण्टे तक रह जाय, तो रोगी मूर्च्छित होकर मर जाता है। यह तृतीयावस्था कुछ घण्टों से दिनों तक रहती है।

इस विसूचिका में एक घातक प्रकार है, जिसको शुष्क विसूचिका (Cholera Sicca) कहते हैं। इस रोग का विष इतना प्रबल है, कि कितनेक स्वस्थ व्यक्ति वमन आदि लक्षण के प्रारम्भ होने से पहले ही यकायक बलक्षीण और मूर्च्छा को प्राप्त होकर झटपट मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। यह रोग जानपदिक रूप से फैलने पर मृत्यु-संख्या अत्याधिक होती है। ई० स० १६२१ में उज्जैन के मेले पर विसूचिका के इस घातक प्रकार से एक हजार से अधिक मनुष्यों की मौत हुई थी। ऐसे रोगी की देह को छेदन करने पर आंतें झाग जैसे मल से भरी हुई प्रतीत होती हैं।

रोगविनिर्णय—महामारी के समय में इस रोग का निर्णय सरल है। किन्तु महामारी के अभाव काल में पक्वाशय-प्रदाह जन्य वमनातिसार, सोमल विष और पारद विष विकार से भेद करना कठिन होता है। ऐसे समय कुछ अनुमान चिह्न भेद से और विशेष निर्णय मल परीक्षा से ही हो सकता है।

इस रोग में मूत्रक्षय सबसे प्रबल पहचान है। जब रोग बहुत बढ़ जाता है; तब बेहोशी, प्यास, श्वास का वेग मंद होना, हिक्का, नीले होठ, नीले नाखून, भयंकर बेचैनी, शरीर शीतल हो जाना और नाड़ी छूटना आदि चिह्न दीखते हैं।

जब पक्वाशय के दाह-शोथ से वमन और अतिसार होने लगते हैं; तब शरीर में उष्णता और नाड़ी में कठिनता प्रतीत होती है। वमन और दस्त में कुछ कोशिश करनी पड़ती है; पेशाब होता रहता है और कम्पन नहीं होती। तब विसूचिका के प्रारम्भ में ही शरीर कुछ शीतल और नाड़ी क्षीण देखने में आती है; तथा इतर लक्षण भी पक्वाशय विकार से विरुद्ध होते हैं। इन लक्षणों के भेद से दोनों रोग पृथक् हो जाते हैं।

सोमल विष और विसूचिका, दोनों में वमन और विरेचन होते हैं।

परन्तु संखिया विष खाने वाले रोगी के वमन और दस्त में रक्त निकलता है। कंठ, कोष्ठ और छाती में दाह होता है। मल में से एक प्रकार की वास आती है। तब विसूचिका में रक्तस्राव और दाह नहीं होते और मल में दुर्गन्ध होती है।

पारद विष (रसकपूर या दालचिकना आदि) खिला देने से कफ और रक्त मिश्रित वमन, दस्त में भी रक्त आना, शीतल त्वचा, मूर्च्छा, आक्षेप और वेहोशी आदि उपद्रव होते हैं। किन्तु विसूचिका में प्रारम्भ से अन्त तक रक्तस्राव नहीं होता; किन्तु प्रारम्भ काल में मूर्च्छा, आक्षेप और वेहोशी नहीं होती। इन लक्षणों के भेद से दोनों का भेद हो जाता है।

उपद्रव—कास, फुफ्फुस या फुफ्फुसावरण दाह, मूत्रेन्द्रिय और नासिका का कोथ (सड़ना), नेत्रदाह, मस्तिष्कदाह और संधिवात आदि उपद्रवों में से एक या अधिक हो जाते हैं।

साध्यासाध्यता—बालक, वृद्ध, सगर्भा स्त्री, शराबी, अफीम के व्यसनी, निर्बल, अतिसार रोगी; हृदय, यकृत् या वृक्क विकार वाले, इन सबके लिये यह रोग बहुधा असाध्य होता है।

पतनावस्था बहुत जल्दी होती है, तो रोग असाध्य माना जाता है। यदि अन्त्रशोथ, रक्त में मूत्र-विष की वृद्धि (Uraemia) और गुदा में १०४ डिग्री से अधिक उष्णता बढ़ जाय; तो रोग असाध्य माना जाता है।

दांत और नाखून नीले हो जायँ; नेत्र भीतर बैठ जायँ; स्वरभंग हो जाय; सांधे शिथिल हो जायँ और हृदय की गति में अवरोध होने लगे; तो रोगी के बचने की आशा नहीं रहती।

प्रतिबन्धक चिकित्सा—(१) तालाब, कुएँ या बावड़ी का जल दूषित हो गया हो; तो पोटास परमेंगनेट या ब्लीचिंग पाउडर (Calx Chlorinata) या चूना मिलाकर शुद्ध करलें। अथवा जल को गरम कर फिर शीतल होने पर छानकर पीवें। दिन में २ समय सुबह-शाम जल गरम कर लेवें।

(२) बासी भोजन, या सड़ी हुई वस्तु, बाजार की मिठाई, आइस

क्रीम, बर्फ, सोडावॉटर आदि वस्तुओं का त्याग करें। बाजार के दूध का सेवन न करें। फल-शाक को पोटास परमेंगनेट के जल से धो, फिर उबाल कर उपयोग में लेवें।

(३) रोगी के मल और वमन पर मक्खियाँ न बैठें, इस हेतु से उन पर तुरंत राख या फिनाइल डाल दें; और दूर जमीन में खड्डा करा कर दबा देना चाहिये; या जला देना चाहिये।

(४) रोगी के वस्त्र धोना, सफाई रखना, अपना हाथ धोना, ये सब काम परिचारक को सावधानता पूर्वक करने चाहिये।

(५) नीबू के रस में १ माशा सज्जीखार (सोडा बाईकार्ब) और ५ तोले जल मिला कर प्रकोप के दिनों में रोज सुबह पी लेवें; तो कीटाणु का आघात नहीं हो सकता। किन्तु रक्त में अम्लता या धातु क्षीणता हो; जिनको उपदंश या सुजाक रोग पहले हो गया हो, वे न पीवें।

(६) एक भाग बिना बुझा कली चूना और २ भाग गुड़ मिला कर ४-४ रत्ती की गोलियाँ बनालें। प्रतिदिन प्रातः-सायं १ से २ गोली निवाये जल से लेते रहने से विसूचिका के आक्रमण या भय नहीं रहता।

(७) नित्यप्रति नीम की ताजी पत्ती २०, कालीमिर्च १० नग और सैंधानमक ४ रत्ती पीस थोड़ा जल मिला छान कर पी लेने से रोग की भीति दूर हो जाती है।

(८) भोजन में लहसन और प्याज का उपयोग करना अत्यंत हित-कारक है। इन दोनों में विसूचिका के कृमिनाशक दिव्य गुण हैं।

(९) प्रातःकाल कुछ खाये बिना काम पर नहीं जाना चाहिये। कारण, भोजन के एक घण्टे बाद आमाशयिक रस निकलने पर विसूचिका के कीटाणु का असर नहीं हो सकता।

(१०) महामारी काल में परिश्रम अत्यधिक नहीं करना चाहिये; एवं दिन में शयन भी नहीं करना चाहिये।

शमन चिकित्सा—(१) अजीर्णजन्य रोग का प्रारम्भ होने पर उदर में मल संग्रह अधिक हो; तो एरंड तैल सोंठ के क्काथ के साथ पिला या एरंड तैल की वस्ति देकर उदरशुद्धि करा लेना अति लाभदायक

है। इस रीति से उदरशुद्धि हो जाने पर अफीम मिश्रित औषधि (हिंगुल वटी र० ४१५ या इतर) देने से सत्वर लाभ हो जाता है।

(२) मलशुद्धि होने के पहले या पीले मल आते हों; तब तक अफीम या इतर स्तंभक औपधि नहीं देनी चाहिये।

(३) रोगी को शीतल वायु न लगे; इस बात का पूरा लक्ष्य रक्खें।

(४) कीटाणुजन्य विसूचिका रोग में प्यास शमन के लिये उबाल कर शीतल किया हुआ जल एक एक चम्मच बार-बार पिलाते रहें; एक साथ अधिक जल नहीं पिलाना चाहिये।

रोग के प्रारम्भ में डाक्टरी में केओलीन (Kaolin फिटकरी में से फूला समान बनाई हुई औषधि) को १६ गुने जल में मिला कर रोगी को इच्छानुसार पीने को देते हैं।

(५) वमन को रोकने के लिये आमाशय को पोटास परमेंगनेट के जल से आमाशयिक नलिका द्वारा धो लेवें। फिर भी वमन बन्द न हो और आवश्यकता हो; तो आमाशय पर राई का प्लास्टर लगावें।

(६) बाँयटे आने पर राई को पीस पोटली बना गरम कर पैरों की पिण्डी पर और हाथों पर सेक करें।

(७) मूत्रोत्पत्ति के लिये वृक्कस्थान पर थोड़ा सेक करें। एवं वस्ति स्थान पर कलमीशोरा और पलाशपुष्प को पीस कर लेप करें। या तारपीन तैल और गरम जल से वस्त्र को भिगोकर रक्खें।

(८) हृदय की शक्ति कायम रखने के लिये शराब, मल्लचन्द्रोदय या कस्तूरी आवश्यकता पर देवें।

(९) रोगी को कम्बल और गरम जल से भरी हुई बोतल द्वारा सेक करें। जिससे देह अधिक शीतल न हो जाय।

(१०) रोगी बिल्कुल स्वस्थ न हो जाय; तब तक भोजन कुछ भी नहीं देना चाहिये। केवल जल पर ही रखें।

(११) जन्तु जन्य रोग का आरम्भ होते ही औपधि देने का आरम्भ करें। देरी होने से जन्तुओं का प्रकोप भयंकर बढ़ जाता है। यदि १२ घण्टे तक उपाय न किया जाय; तो रोगी के जीवन की आशा प्रायः

छूट जाती है। आरम्भ में वमन या दस्त को वन्द करनेवाली औषधि अधिक मात्रा में न दें। अन्यथा पेट में दूषित मल रुक कर आफरा आ जाता है। फिर रोग अधिक सबल हो जाता है।

(१२) यदि आरम्भ में १-१ रत्ती पोटास परमेंगनेट ३ समय १-१ घण्टे पर दे दिया जाय; तो जन्तुओं का नाश होने में बहुत सहायता मिलती है।

(१३) वर्फ पिघलने से जो जल बने, वही पिलाया जाय; तो तृषा सत्वर शमन हो जाती है। अथवा १ तोला जायफल या लौंग मिला १ सेर जल औटा शीतल कर उसमें से १-१ चम्मच पिलाते रहें। अथवा १ छटाँक चूने को ५ सेर जल में डाल दें। फिर ऊपर से नितरा हुआ जल निकाल, उसमें से थोड़ा-थोड़ा पिलाते रहें। जल को सम्हालपूर्वक स्वच्छ सुरक्षित स्थान में ढक कर रखना चाहिये।

(१४) कुआँ, तालाव आदि का ताजा जल विसूचिका रोगी को नहीं देना चाहिये। ताजा जल देते रहने से रोग जल्दी कावू में नहीं आता।

विसूचिकानाशक औषधियाँ—(१) छोटी मूली के क्वाथ में पीपल का चूर्ण मिलाकर दिन में ३ समय पिलाने से अजीर्णजन्य विसूचिका सत्वर शमन हो जाता है।

(२) वेलगिरी, सोंठ और जायफल का क्वाथ वनाकर दिन में २ समय पिलाने से वमन और अतिसार दोनों शमन हो जाते हैं।

(३) प्याज और पोदीने के स्वरस को समभाग मिलाकर २-२ तोले १-१ घण्टे पर देते रहने से अजीर्णजनित और कीटाणुजनित, दोनों प्रकार के विसूचिका की निवृत्ति हो जाती है।

(४) केवल आक की जड़ की ताजी छाल को अदरख या प्याज के रस में खरल कर या आक की जड़ की छाल और लालमिर्च की छाल समभाग मिला १२ घण्टे प्याज के रस में खरल कर, १-१ रत्ती की गोलियाँ वना लें। १ से २ गोली १-१ तोले प्याज के रस के साथ आध-आध घण्टे पर देते रहने से कीटाणुजन्य विसूचिका भी नष्ट हो जाता है।

(५) हुक्के का पुराना सड़ा पानी १-१ तोला आध-आध घण्टे पर

पिलाते रहने से सब कीटाणुओं का नाश होकर असाध्य रोगी भी अच्छे हो जाते हैं।

(६) संजीवनी वटी दिन में ३ समय १-१ गोली जल के साथ देने से अजीर्णजन्य विसूचिका दूर होता है। जन्तुजन्य विसूचिका में एक-एक घण्टे पर एक-एक गोली ४-६ समय दे देने से जन्तुओं का नाश होकर विसूचिका निवृत्त हो जाता है।

(७) अग्निकुमार रस (र० ४२०), क्रव्याद रस (र० ४२१), लघुक्रव्याद रस (र० ४२२), हिंगुलवटी (र० ४१५), संजीवनी वटी (र० ५४०), गन्धकवटी (र० ५७२), चींचाभल्लातक वटी (र० ५७१) कर्पूरासव (र० ६५६), जीवन रसायन अर्क (र० ६६७), स्वादिष्ट शर्बत (र० ६६८), जातिफलादि वटी (र० ४१४), रामवाण रस (र० ४१६), विसूचिकाहर वटिका (र० ५७६), लहशुनादि वटिका (र० ५७८), हिंग्वष्टक चूर्ण (र० ५८५) और शिवाक्षारपाचन चूर्ण (र० ५८६), ये सब औषधियाँ दोनों प्रकार के विसूचिका में काम देती हैं। समय पर जो तैयार हो, वही दी जाती है। अनेक औषधियाँ तैयार होने पर रोगी, रोग-बल और औषधि-बल का विचार करके देनी चाहिये। हिंगुलवटी, संजीवनीवटी, कर्पूरासव, जीवनरसायन अर्क, विसूचिकाहर वटिका और लहशुनादि वटिका को अनेक बार हम प्रयोग में ला चुके हैं। इस तरह इतर औषधियों का भी उपयोग किया है।

जन्तुजन्य विसूचिका की प्रथमावस्था में—(१) कर्पूरासव (र० ६५६), जीवनरसायन अर्क (र० ६६७), विसूचिकाहर वटिका (र० ५७६), लहशुनादि वटिका (र० ५७८), संजीवनी वटी (र० ५४०) और रामवाण रस (र० ४१६ प्याज के रस के साथ) ये सब औषधियाँ अति हितकर हैं। इनमें से कोई भी औषधि देने पर विसूचिका शमन हो जाता है।

(२) लहसन, लालमिर्च की छाल, कच्ची हींग और कपूर, सब सम भाग मिला जल में पीस २-२ रत्ती की गोलियाँ बना लें। इनमें से १-१ गोली आध-आध घण्टे पर देते रहने से विसूचिका दूर हो जाता है।

(३) जातिफलादि वटी—जायफल ४ तोले, पीपरमेन्ट का फूल और लौंग १-१ तोला, कच्ची हींग, सोहागे का फूला, बबूल का गोंद और अफीम ६-६ माशे लें। सबको मिला प्याज के रस में १२ घण्टे खरल कर २-२ रत्ती की गोलियाँ बना लेवें। इनमें से १-१ गोली शीतल जल के साथ रोग अधिकार में आवे; तब तक १-१ घण्टे पर देते रहें। दस्त जैसे जैसे कम होते जायँ; वैसे वैसे औषधि देर से देवें। दस्त बन्द होने पर औषधि दी जायगी; तो आफरा आ जायगा।

पतनावस्था हो गई हो, तो :—

(१) विसूचिकान्तक रस—मल्लचन्द्रोदय १ तोला, आम की गुठली की गिरी ६ माशे, कपूर ६ माशे, तेज लालमिर्च या पीली मिर्च की छाल १॥ तोले, हींग, जायफल, लौंग और अजवायन का सत ३-३ माशे लेवें। पहले मल्लचन्द्रोदय और लालमिर्च का चूर्ण मिलावें; फिर शेष औषधियों को मिला अदरख के रस में खरल करें। पश्चात् नीबू के रस और लहसन के रस की १-१ भावना देकर २-२ रत्ती की गोलियाँ बना लेवें। इसमें से १-१ गोली आवश्यकता पर २-२ घण्टे पश्चात् ३-४ समय देवें। यह औषधि अति गिरी हुई अवस्था में भी जीवनदान देती है। यदि अति बलक्षय हो गया हो; तो आध-आध रत्ती कस्तूरी भी इस रसायन के साथ मिला देना लाभदायक है।

इस रसायन के सेवन से अत्यधिक कै, असावधानी में दस्त हो जाना, शुष्क जिह्वा, दुर्निवार तृषा, थोड़ा-सा जल पीते ही वमन हो जाना, उदर में दाह, मूत्रक्षय, प्रलाप, स्वरभंग, कम्प, अति क्षीण नाड़ी, अति बलक्षय और शरीर शीतल हो जाना, ये सब उपद्रव सत्वर दूर होते हैं; हृदय की क्रिया सबल होती है और प्रकृति स्वस्थ हो जाती है।

(२) कस्तूरी और चन्द्रोदय, सूचिकाभरण रस (र० ३७१) या संचेतनी वटी (र० ३६१), इन ३ औषधियों में से एक देने से उपद्रवों सह विसूचिका सत्वर दूर हो जाता है।

(३) कस्तूरी और षड्गुणगन्धकजारित रससिंदूर आध-आध रत्ती मिला कर ६ माशे शहद के साथ चटावें। फिर विसूचिकाहर वटी

दूसरी विधि (र० ५७६) आध-आध रत्ती आध-आध घण्टे पर देते रहें। आवश्यकता पर वीच-वीच में २-३ घण्टे पर कस्तूरी और रस-सिंदूर की मात्रा देते रहें।

तृषा शमनार्थ—(१) दो तोले लौंग (या जायफल) को दो से तीन सेर जल में मिलाकर उबालें। फिर शीतल होने पर इसमें से २-२ तोले जल पिलाते रहें।

(२) वर्फ के छोटे-छोटे टुकड़े मुँह में रखकर रस चूँसे, या वर्फ का जल १-१ तोला वार-वार पिलावें।

(३) इमली या छुआरे की गुठली को मुँह में रखकर चूसते रहने से तृषा रुकती है।

(४) वर्फ, अर्क सौंफ, अर्क पोदीना, इन तीनों को समभाग मिला लेवें। फिर इसमें से २-२ तोले पिलाते रहने से तृषा और वमन दोनों सत्वर शमन हो जाते हैं।

(५) शीतलमिर्च का चूर्ण १-१ रत्ती १-१ चम्मच सौंफ के अर्क के साथ पिलाते रहने से वमन और प्यास दोनों दूर होते हैं।

(६) मुनक्का, अनारदाना, या आँवले को मुँह में रखकर रस चूसते रहने से तृषा की निवृत्ति होती है।

(७) यदि तृषा शमन न होती हो, तो सैंधानमक और पीपल १-१ तोले को १ सेर जल में मिला उबाल कर निवाये रहने पर छान कर पिला देवें। फिर तुरन्त वमन करा देने से तृषा शमन हो जाती है।

(८) शीतलमिर्च और मुलहठी के चूर्ण २ माशे में पारद गन्धक की कज्जली १ रत्ती मिलाकर शहद के साथ चटाने से प्यास शमन होती है।

पेशाव लाने के लिये—(१) कपूर मूत्रेन्द्रिय में रक्खें।

(२) मूत्राशय पर कलमीशोरा और केसूला (पलाश के फूल) को जल में पीस कर बाँधें; और आध-आध घण्टे पर २-३ समय वदलते रहें; या कमर पर राई का प्लास्टर लगावें, जलन होने लगे; तव प्लास्टर को खोल कर उस स्थान पर घी वाला हाथ लगा देवें।

(३) वृक्कस्थान (गुर्दे) पर नारायण तैल की मालिश करें; और

निवाये जल से थोड़ा सेक करें।

(४) वरना के फल को सम्पुट में बन्द कर भस्म करें। फिर उसमें कलमीशोरा और यवक्षार चतुर्थांश-चतुर्थांश मिला लें। इस चूर्ण में से १-१ माशे निवाये जल के साथ २-२ घण्टे पर दो या तीन बार देने से रक्त का गुरुत्व कम होकर पेशाब आने लग जाता है।

उदर में शूल, आफरा और भयंकर वेदना हो, तो—

(१) बाजरी या जौ के आटे को छाछ में पका, हींग और नमक मिला कपड़े पर डाल निवाया-निवाया पेट पर बाँधने से उदरशूल, दाह और आध्मान आदि विकार शमन हो जाते हैं।

(२) दारुषट्क लेप (पहले पृष्ठ ७७४ में लिखे) का लेप करें।

(३) क्रव्याद रस, हिंग्वष्टक चूर्ण या शिवाक्षारपाचन चूर्ण का सेवन कराने से तीव्र वेदना, उदरशूल और आफरा दूर हो जाते हैं।

वमन दूर करने के लिये—अतिसार कम हो जाने पर वमन होती रहे, तो सुवर्णमाक्षिक भस्म और सूतशेखर १-१ रत्ती अदरख के रस में मिलाकर देवें; और आमाशय पर राई का प्लास्टर लगाकर लगभग १५ मिनट तक या जलन होने तक रहने दें। बाद में प्लास्टर निकाल कर उस स्थान पर घी लगा लें।

पैरों की ऐंठन अत्यन्त बढ़ जाय, तो—(१) ताम्रभस्म आध-आध रत्ती शराब या द्राक्षासव के साथ २-२ घण्टे पर २-३ बार देवें।

(२) त्वक्पत्रादि उद्वर्त्तन या सोंठ के चूर्ण से मालिश करें।

(३) ब्राण्डी या मेथिलेटेड स्पिरिट से मालिश करें।

(४) तारपीन के तैल में कपूर १६ वाँ हिस्सा मिलाकर मालिश करें।

प्रलाप और प्रस्वेद शमनार्थ—रोग की तीसरी अवस्था में प्रलाप होने लगे, और ज्वर आ जाय, तो प्रवालपिष्टी २-२ रत्ती शहद या जल के साथ २-२ घण्टे पर ३ समय देने से ज्वर, दाह, प्रलाप, बेचैनी, प्रस्वेद, शीर्षशूल, ये सब दूर होते हैं; और निद्रा आ जाती है।

शरीर अत्यन्त शीतल होने लगे, तो—देह में गरमी लाने के लिये आध-आध रत्ती कस्तूरी दें और त्वक्पत्रादि उद्वर्त्तन

(र० ७८१) या विषगर्भ तैल (र० ७३३) की मालिश करें।

रोगी मूर्च्छित होजाय, तो—शिर पर तालु के बाल साफ कर उस्तरे से थोड़ी त्वचा निकाल, वहाँ पर "लघुसूचिकाभरण" मसलें; अथवा सेक करें, या शराब (ब्राण्डी) से मालिश करें।

वातावरण शुद्धि के लिये—घर में कपूर जलावें या लोवान, गूगल अथवा राल का धूप करें।

दाह हो, तो—अतिसार और वमन शमन होने के पश्चात् दाह होता रहे; तो शंखभस्म ३ रत्ती और सुवर्णमाक्षिक भस्म १ रत्ती मिलाकर ४-६ माशे घृत के साथ दें।

इस रोग पर डाक्टरी में निम्न औषधियाँ दी जाती हैं।

(१) डॉ० टोम्प्स मिश्रण

ऑइल जूनिपर	Oil Juniper	१ ड्राम
,, काजूपुट	,, Cajuput	१ ड्राम
,, कैर्योफिलो (लौंग का तैल)	Caryophylli	१ ड्राम
एसिड सल्फ्यूरिक एरोमेटिक	Acid. Sulph. Arom.	३ ड्राम
स्पिरिट इथर	Spt. Aetheris	६ ड्राम

इन सबको मिलालें। रोग होने पर तुरन्त १ ड्राम आध से एक औंस जल मिलाकर पिला देवें। फिर आध-आध घण्टे पर १-१ ड्राम देते रहें। इस तरह १० ड्राम तक औषधि देना चाहिये। इससे कीटाणु नाश होकर वमन और दस्त बन्द हो जाते हैं; पेशाब आने लग जाता है और रोग की निवृत्ति हो जाती है।

सूचना—इस मिश्रण में तैल अधिक होने से जल और औषधि मिला, हिलाकर पिलाना चाहिये।

(२)

क्लोरोफॉर्म	Chloroform	५ बूँद
स्पिरिट कॅम्फर	Spt. Camphor	१० बूँद
,, एमोनिया एरोमेटिक	Spt. Ammon. Arom.	१५ बूँद
म्युसीलेज	Mucilage	२ ड्राम
एक्वा मेन्था पिप	Aqua Menth. pip.	१ औंस

इन सबको मिलाकर पिला देवें। २-२ घण्टे बाद दो या तीन समय देवें।

(३) जीवन रसायन अर्क (र० ६६७) ५-५ बूँद शक्कर या बताशे में आध-आध घण्टे पर देते रहें।

(४) कर्पूरासव (र० ६५६) १०-१० बूँद शक्कर या बताशे में आध-आध घण्टे पर देते रहें।

(५) आयोडिन (Iodine) १ ग्रेन को एक्सट्रेक्ट जेन्शन में मिला गोली कर खिला देवें। अथवा पोटास परमेंगनेट की २-२ ग्रेन की गोली आध-आध घंटे पर मल का रंग न बदले, तब तक देते रहें।

(६) टिञ्चर ओपियाई	Tinct. Opii	१ औंस
,, केप्सिकम	,, Capsici	१ औंस
स्पिरिट कॅम्फर	Spt. Camphor	१ औंस
क्लोरोफॉर्म	Chloroform	३ ड्राम
आल्कोहोल	Alcohol	२ औंस

इन सबको मिला लेवें। इसमें से ३०-३० बूँद आध-आध घण्टे पर देते रहें। रोग कम होने पर मात्रा देरी से देते जायँ।

यदि यह मिश्रण रोग के प्रारम्भ काल में देना हो; तो २०-२० बूँद १-१ घण्टा पर देते रहें।

सूचना—इस औषधि में अफीम होने से रोग के प्रारम्भ काल में हो सके तब तक नहीं देना चाहिये; या सम्हालपूर्वक देना चाहिये।

पथ्यापथ्य—रोगी को पूर्ण स्वस्थ हुए बिना खाने को कुछ भी न दें। रोग शमन के पश्चात् १ सप्ताह तक पीने के लिये गरम किये हुए जल को शीतल करके देते रहें। अधिक वायु का सेवन न करें। ३-४ दिन तक थोड़े ताजे मट्ठे में हिंग्वष्टक चूर्ण मिलाकर पीने को देवें। फिर अच्छी क्षुधा लगने पर लघु, पाचक भोजन (चावलों की माँड या मूँग का यूष) या छाछ-भात बहुत थोड़े प्रमाण में दें।

पक्का भोजन, स्नान, मैथुन, तेज वायु, अग्नि और सूर्य के ताप का सेवन, चिन्ता, प्रवास तथा व्यायाम आदि बल आने तक न करें।

पथ्यापथ्य का विशेष विवेचन अजीर्ण रोग के अन्त में किया है। वे सब इस विसूचिका रोगी के लिये भी समझ लेवें।

(११) अलसक और विलम्बिका (दण्डालसक)

निदान—दुर्वल मन्द अग्नि वाले और अधिक बढ़े हुए कफवाले को या जीर्ण अजीर्ण के रोगी को मल, मूत्र या अधोवायु का वेग रोकने से और स्थिर, गुरु, अति रूक्ष, शीतल या अति शुष्क अन्नपान सेवन करते रहने से वात प्रकुपित कफ से मार्ग का अवरोध हो जाता है। फिर आहार वमन या दस्त द्वारा वाहर नहीं निकल सकता और जठराग्नि भी मार्ग विवद्ध होने से भोजन को नहीं पचा सकती। जिससे आमाशय में आहार पत्थर की तरह जड़ या आलसी की तरह स्थिर हो जाता है। इस कारण से इस रोग को अलसक रोग कहा है।

अलसक के लक्षण—इस रोग में वात और कफ का प्रकोप होता है। मुँह में पानी आना, उवाक, क्षुधानाश, मुँह का स्वाद दूषित होना, उदर में शूल, अंग जड़, भारी और शून्य हो जाना, वारवार थोड़ा-थोड़ा पेशाव होना, ये सव आमप्रकोप के लक्षण तथा अति आफरा, तीव्रशूल, हाथ-पैर पटकना, दर्द के मारे चिल्लाना, उदर में गुड़गुड़ाहट, निरुद्ध वायु ऊपर की ओर उठना, अधोवायु और मल का अति अवरोध, तृषा, वार-वार डकार आना और हिक्का आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

विलम्बिका लक्षण—किया हुआ भोजन वात और कफप्रकोप से दुष्ट हो जाने से ऊपर नीचे नहीं जा सकता अर्थात् वमन या दस्त से वाहर नहीं निकल सकता; तव उसे असाध्य विलम्बिका रोग कहते हैं।

जव अलसक रोग में डकार आना वन्द हो जाय; वायु की ऊपर नीचे गति रुक जाय, तीव्र शूल शमन हो जाय; आंतों में मल की वृद्धि होकर मलाशय पूर्ण भर जाय; तथा सारे शरीर को दण्ड के समान कड़ा वना दें, तव दण्डालसक कहलाता है। इस रोग को असाध्य माना है। चरक-संहिता कथित इस दण्डालसक रोग को ही सुश्रुत-संहिता

में 'विलम्बिका' नाम दिया है।

इस रोग में आहार जनित रस शेष रह जाता है। इस रस का यथा समय शोषण न होने से सेन्द्रिय विष (आमविष) बन जाता है। महर्षि आत्रेय ने चरक-संहिता के विमान-स्थान में लिखा है, कि:—

'विरुद्धाध्यशनाजीर्णाशनशीलिनः पुनरामदोषमामविषमित्याचक्षते भिषजो, विषसदृशलिङ्गत्वात् ॥ तत्परमसाध्यमाशुकारित्वाद् विरुद्धोपक्रमत्वाच्चेति ॥' (अ० २-१५)।

अर्थात् प्रकृति, देश, काल आदि से विरुद्ध भोजन, असमय पर भोजन, अत्यधिक भोजन, कभी कम भोजन, अजीर्ण में भोजन, इस तरह विरुद्ध व्यवहार होते रहने से पाचक इन्द्रियाँ निर्बल हो जाती हैं। जिससे आहार रस शेष रह जाता है; वही आम विष बन जाता है। इस आमविष को विष सदृश घातक माना है। कारण सामान्य आमप्रकोप हो; तो उष्ण (दीपन-पाचन) उपचार से शमन हो जाता है; और केवल विष प्रकोप हो, तो शीतल उपचार से शान्त होता है। परन्तु इस आमविष पर शीत और उष्ण, दोनों में से एक भी उपचार लाभदायक नहीं होता। इस हेतु से प्राचीन आचार्यों ने इस आमविषजनित व्याधि को विरुद्ध उपक्रमयुक्त और दुःखदायी माना है।

यह आमविष अपने प्रभाव से दुष्ट आम की उत्पत्ति कराता रहता है। फिर वह रक्त आदि धातुओं में प्रविष्ट होकर नाना प्रकार की हानि पहुँचाता रहता है। इसी हेतु से यह विष सदृश सत्वर घातक व्याधि-समूह का उत्पादक माना जाता है।

विसूचिका, अलसक और विलम्बिका, इन रोगों की उत्पत्ति आमाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण और विदग्धाजीर्ण से होती है। ऐसा सुश्रुत-संहिता के वचन के अनुरूप माधव-निदानकार ने कहा है। इस श्लोक की मधुकोष टीका में लिखा है, कि कार्तिक कुण्डाचार्य के मतानुसार आमाजीर्ण, विष्टब्धाजीर्ण और विदग्धाजीर्ण, इन तीनों से यथाक्रम विसूचिका, अलसक और विलम्बिका रोग की उत्पत्ति होती है। इस कथन में विदग्धाजीर्ण से विलम्बिका की उत्पत्ति कही है। इस बात

का वकुलकर आचार्य अस्वीकार करते हैं। कारण सुश्रुत-संहिता में वातकफप्रकोप से विलम्बिका की उत्पत्ति कही है।

वर्तमान में शास्त्र पर से विलम्बिका रोग के विशेष लक्षण नहीं जाने जाते। परन्तु विचार करने पर श्री० वकुलकराचार्य का वचन सयुक्तिक भासता है। फिर भी सारग्राही दृष्टि से श्री० कार्तिककुण्डाचार्य के मत का स्वीकार किया जाय; तो इस तरह की संप्राप्ति के अनुकूल विचार भी मिल सकता है; अर्थात् विदग्धाजीर्ण के पश्चात् भी इस विलम्बिका रोग की उत्पत्ति हो सकती है।

विदग्धाजीर्ण रोग जीर्ण होने पर आँतें अशक्त हो जाती हैं; जठर रस और पित्त में तीक्ष्णता हो जाने से आँतों की श्लेष्मल त्वचा जलती रहती है; आहार रस आगे ढकेलने में विलम्ब होता रहता है; जिससे विष की उत्पत्ति होती रहती है। फिर इस विष का रक्त में शोषण होता रहता है। परिणाम में सब रक्तवाहिनियाँ कठोर हो जाती हैं। ऐसी अवस्था में जब अपथ्य का सेवन किया जाता है, तब वात और कफ धातु प्रकुपित हो जाती हैं। फिर उदर में आफरा आ जाता है; और आँतें और मलाशय चौड़े हो जाते हैं। पश्चात् आमाशय और आँतों में आहार संग्रहीत रहकर दूषित होता रहता है।

इन दोनों रोगों में आमाशय और पक्वाशय में आफरा आ जाता है। तथा मल का संचय अत्यधिक हो जाने से बद्धगुदोदर के समान बड़ी आँत चौड़ी (Dilatation of the Colon) हो जाती है। आध्मान या इतर कारण से क्वचित् अकस्मात् अन्त्र विस्तार हो जाता है, उसे डाक्टरी में हर्शस्प्रंग का रोग (Hirschsprungs Disease) संज्ञा दी है। यह रोग छोटी आयु में और युवावस्था में होता है। पाश्चात्य निदानकार लिखते हैं, कि इस रोग से पीड़ित मनुष्य की बड़ी आँत की परिधि १५ से ३० इञ्च तक और उसके भीतर रहे हुए मल का वजन २३॥ सेर तक देखने में आया है।

जिस स्थान में आम गमन करता है; उस अवयव में विशेष रूप से विकार समूहों द्वारा तीव्र वेदना उत्पन्न करता है। जिस दोष से आम

व्याप्त हो, उस दोष के अनुरूप (वात सह हो, तो तोद; पित्त सह हो, तो दाह; कफ सह हो, तो भारीपन आदि) लक्षणों द्वारा आम को जानना चाहिये। जैसे आमवात आमप्रकोप के हेतु से होता है; अथवा जिस रक्त आदि धातु में आम के हेतु से अग्नि मन्द हो जाय, वहाँ पर आम के हेतु से पिड़िका आदि की उत्पत्ति कर देता है।

विसूचिका, अलसक और विलम्बिका, इन सबकी उत्पत्ति अजीर्ण से होती है। इस हेतु से अनेक चिकित्सकों ने शुष्क विसूचिका (बन्ध हैजा) को अलसक-विलम्बिका रोग माना है; किन्तु शुष्क विसूचिका में अधिक पीड़ा नहीं होती, तथा निदान और चिकित्सा के लिये समय ही नहीं मिलता। ५-१५ मिनट में ही रोगी को सामान्य उदरपीड़ा होकर मूर्च्छा आ जाती है, फिर थोड़े ही समय में मृत्यु हो जाती है। तब अलसक में भयंकर कष्ट होता है और दण्डालसक में देह जकड़ कर दण्ड समान बन जाती है। शास्त्रकारोंने अलसक, दण्डालसक और विलम्बिका नाम सार्थक रक्खे हैं, ऐसा मानना पड़ता है। इन दो हेतुओं (लक्षण और नाम) का विरोध होने से एवं शास्त्र में कही हुई चिकित्सा में भेद होने से इन दोनों रोगों को शुष्क विसूचिका से इतर व्याधि माननी पड़ती है।

चिकित्सा विधि—अलसक और विलम्बिका रोग में पहले नमक मिला गरम जल पिलाकर वमन कराना चाहिये। फिर स्वेदन, फलवर्त्ति धारण और लंघन कराकर अग्निवर्धक उपाय करने चाहिये। परन्तु जब तक तीव्र वेदना हो, तब तक तीक्ष्ण शूलघ्न औषधि न दें। अन्यथा आम से आच्छादित अग्नि प्रकुपित होती है।

इन रोगों में भोजन लघु, पौष्टिक, थोड़े परिमाण में और आँतों को बलवान बनावे, ऐसा देना चाहिये। उष्ण, अधिक नमकवाला, चरपरा और भारी भोजन तथा शराब को छोड़ देना चाहिये।

अधिक परिश्रम न करें। हो सके उतनी विश्रान्ति लेवें और उदर पर नियमपूर्वक लेप करते रहें।

आफरा और उदरशूल पर—(१) भोजन के पहले हींग,

त्रिकटु और सैंधानमक को काँजी में पीस, निवाया कर पेट पर मोटा-मोटा लेप करें। फिर रुई चिपका कर कपड़ा बाँध लेने से शूल, आफरा और आँतों की शिथिलता दूर होती है।

(२) दारुषट्क (अजीर्ण में कहे हुए) को काँजी में पीस निवाया कर उदर पर मोटा-मोटा लेप करें।

(३) जौ के आटे को छाछ में मिला, गरम कर जवाखार और नमक मिला पेट पर मोटा-मोटा लेप करें; फिर रुई चिपका कर कपड़ा बाँध देवें। पश्चात् गरम जल से आध घण्टे तक पेट पर सेक करें।

अलसक और विलम्बिका नाशक औषधियाँ— क्रव्याद रस (र० ४२१), अग्निकुमार रस (र० ४२०), वज्रक्षार (र० ५६५), जम्भीरीद्राव (र० ६६५) और अग्नितुण्डी वटी (र० ४२३ दशमूलारिष्ट के साथ), ये सब हितकर औषधियाँ हैं। इनमें से प्रकृति और रोगबल अनुसार औषधि योजना करें।

मलशुद्धि के लिये—दूध और अरण्डी का तैल समान भाग मिलाकर वस्ति दें; या इतर सिद्ध तैल की वस्ति देवें।

अजीर्ण रोग में लिखे अनुसार पथ्यापथ्य पालन करावें।

(१२) कृमिरोग।

कृमि-दीदान उल अम्म आ—वर्म्स, Worms।

स्थान भेद से कृमि के मुख्य २ विभाग हैं। बाह्य और आभ्यन्तर। त्वचा, बाल या वस्त्र में यूका आदि कृमि उत्पन्न होते हैं; उनको 'बाह्यकृमि' और शरीर के भीतर आमाशय, अन्त्र और रक्त में उत्पन्न होने वाले को 'आभ्यन्तर कृमि' कहते हैं। कारण भेद से इनके ४ प्रकार हैं। स्वेदज, पुरीषज (मल से उत्पन्न), कफज और रक्तज। इनमें प्रस्वेद से होने वाले कीड़े त्वचा, बाल या वस्त्र में रहते हैं। शेष देह के भीतर रहते हैं। इन कृमियों में कतिपय अति सूक्ष्म हैं, इनकी गणना इस कृमिरोग में नहीं की। इस कृमिरोग में जिनका अन्तर्भाव किया है; उनमें आकृति और वर्णभेद से २० प्रकार हैं। इन कृमियों से दोषप्रकोप होकर ज्वर

शूल आदि रोगों की उत्पत्ति होती है; इस हेतु से इन कृमियों को कृमि रोग संज्ञा दी है।

बाह्य कृमि—ये लगभग तिल जितने बड़े होते हैं, बाल और वस्त्र के आश्रय से रहते हैं। इनके अनेक पैर होते हैं, इनको जूँ और लीकें कहते हैं। इनके प्रभाव से चकते, फुन्सियाँ, खुजली और गाँठें आदि रोगों की उत्पत्ति हो जाती है।

सामान्य हेतु—अजीर्ण में भोजन, नित्यप्रति मीठे, खट्टे भोजन, अधिक पेय पदार्थ का सेवन, उड़द की पिट्ठी में से बनाये हुए मधुर पदार्थ और गुड़ का सेवन, व्यायाम न करना, दिन में निद्रा लेना तथा विरुद्ध पदार्थ का सेवन, इन कारणों से कृमियों की उत्पत्ति होती है।

विशेष निदान—इनमें उड़द के पदार्थ, अम्ल रस, नमक, गुड़ और शाक आदि के अधिक सेवन से आँत में पुरीषज कृमि उत्पन्न होते हैं। पतले पने आदि का अधिक सेवन, मीठे-खट्टे भोजन, मांस, मत्स्य, गुड़, दूध, दही, शराब और सिरका आदि से पित्त और कफप्रकोप होकर कृमियों की आमाशय में उत्पत्ति होती है। इनके अतिरिक्त विरुद्ध आहार, अजीर्ण में बारबार भोजन और अधिक शाक आदि (कच्चे हरे चने आदि) पदार्थों के अधिक सेवन से रक्तज कृमि उत्पन्न हो जाते हैं।

पुरीषज कृमि—मल से उत्पन्न कृमि के अयव, वियव, किप्य, चिप्य, गण्डूपद, चुरव और द्विमुख, ये ७ प्रकार हैं। चरक-संहिता में ककेरुक, मकेरुक, लेलिह, सशूलक, सौसुराद, ये ५ प्रकार कहे हैं। ये सब सफेद, पतले और सूक्ष्म होते हैं।

ये सब बड़ी आँत में रहते हैं। इन कृमियों से गुदा में खाज आती रहती है। वे प्रायः गुदा की ओर गमन करते हैं; और गुदा में कुछ पीड़ा उत्पन्न करते हैं। इनमें कितनेक पूँछवाले और मोटे भी होते हैं। ये विशेषतः मन्दाग्नि, पाण्डु, शुष्क त्वचा, बद्धकोष्ट और बलक्षय आदि विकारों को उत्पन्न करते हैं।

पुरीषज कृमि लक्षण—इन कृमियों से गुदा में खाज, शूल, आफरा, भलते मार्ग पर कृमियों की गति, पतला दस्त, मलावरोध,

कृशता, शुष्क त्वचा, पाण्डुता, रोंगटे खड़े हो जाना और अग्निमान्द्य आदि लक्षण होते हैं। कचित् ये कृमि आमाशय की ओर गति करते हैं; तब निःश्वास में विष्टा के समान दुर्गन्ध आती है।

कफज कृमि—कफज कृमि के दर्भपुष्प, महापुष्प, प्रलून, चिपिट, पिपिलका और दारुण, ये ६ भेद हैं। किन्तु चरक-संहिता में इन कृमियों के उदराद, अन्त्राद, हृदयचरा, चुरव, दर्भपुष्प, सौगन्धिक और महागुदा, ये ७ नाम कहे हैं। ये कृमि कफप्रकोप से आमाशय में उत्पन्न होते हैं, वे वड़े होने पर ऊपर नीचे चारों ओर गमन करते हैं। (इस तरह पुरीषज कृमि भी ऊपर नीचे गमन कर सकते हैं।) इनमें कोई चमड़े की डोरी जैसे, कोई केंचवे सदृश, कोई धान्य के अंकुर समान, कोई पतले और लम्बे, कोई वहुत छोटे, ऐसे नाना प्रकार के होते हैं। इनमें से कितनेक श्वेत वर्ण के और कितनेक ताम्बे जैसे होते हैं। ये मज्जा, नेत्र, तालु और कान आदि के सत्व को खाते रहते हैं।

कफज कृमि लक्षण—इन कृमियों की उत्पत्ति होने पर उबाक, मुँह में से जल गिरना, अपचन, अरुचि, मूर्च्छा, वमन, ज्वर, मलावरोध, आफरा, कृशता, छींकें आना, उवासी आना, पीनस, हाथ-पैर टूटना और त्वचा में शुष्कता आदि लक्षण प्रतीत होते हैं।

रक्तज कृमि—इन कृमियों की उत्पत्ति केश, रोम, नाखून, दांत आदि में होती है; और इनको ही वे खाते रहते हैं। केशाद, रोमाद, नखाद, दंताद, किक्विश, कुष्ठज और परीसर्पी, ये ७ प्रकार हैं। इन रक्तज कृमियों को चरक-संहिता में केशाद, लोमाद, लोमद्वीप, सौरस, औडुम्बर और जन्तुमातर, ये संज्ञा दी हैं।

ये सव रक्त, मैल और प्रस्वेद से उत्पन्न होते हैं। इनमें लाल-काले रंग के स्निग्ध और मोटे होते हैं; और रक्तस्थान में होने वाले विकार कुष्ठ, लोमविध्वंस और चर्मरोग आदि उत्पन्न करते हैं। त्वचा, सिरा, स्नायु, मांस, तरुण अस्थि आदि के सत्व को खाते रहते हैं। इन कृमियों से कुष्टरोग की उत्पत्ति होती है; तथा रोमहर्ष, खुजली, तोद, वाल और रोम झड़ जाना इत्यादि विकार हो जाते हैं। ये शरीर के किसी

भी अवयव में उत्पन्न होते हैं। रक्तवाहिनी द्वारा एक अवयव में से दूसरे अवयव में भी जा सकते हैं।

इन २० जाति के कृमि में पुरीषज और कफज कृमि १३ प्रकार के प्रतीत होते हैं; और ७ जाति के रक्तज कृमि सूक्ष्म होने से देखने में नहीं आते। इनमें केश और रोम के भीतर होने वाले २ प्रकार के कृमियों को शास्त्रकारों ने असाध्य माना है।

जो कृमि आमाशय में उत्पन्न होते हैं; उनकी आकृति और वर्ण भेद से अनेक प्रकार होते हैं। एवं जो कृमि अंतड़ी में उत्पन्न होते हैं; वे भी छोटे, बड़े, लम्बे, चपटे, गोल और सूक्ष्म, अनेक जाति के होते हैं। इनमें कोई सफेद, कोई पीले और कोई नीले ऐसे विविध रंग के होते हैं। इनमें से बड़ी आंत में होने वाले सूक्ष्म कृमि की उत्पत्ति बहुधा एक ही दिन में विरुद्ध और दूषित आहार से हो जाती है; और इतर कृमियों की उत्पत्ति में दीर्घकाल लगता है।

आभ्यन्तर कृमि लक्षण—उदरकृमियों से मन्द ज्वर, शरीर का रंग बदलना, आमाशय और पक्वाशय में शूल, हृदय में व्यथा, ग्लानि, चक्कर आना, उबाक, वमन, पतले दस्त, प्रलाप, बेचैनी, आफरा, उदर-पीड़ा, रोमांच, उबासी, अरुचि, क्षुधानाश, गुदा और नाक में खाज आना, दांत कटकटाना, मुँह में से दुर्गन्ध निकलना और शरीर शुष्क हो जाना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं।

डाक्टरी में संक्रामक रोगों के संपादक सूक्ष्म कीटाणुओं के अतिरिक्त कृमियों के मुख्य ३ वर्ग हैं। (१) पृथुब्रध्ननिभा अर्थात् उदरावेष्टा कृमि (कद्दू दाना कीड़ा-टेप वर्म्स Tape Worms), (२) गण्डूपदोपमाः अथवा महागुदा अर्थात् केंचवें सदृश गोल (राउन्ड वर्म्स Round Worms) और (३ रूढधान्यांकुराकारा अर्थात् छोटे बड़े और पतले (फ्लुक्स Flukes; ट्रेमटोड Trematode)।

(१) पृथुब्रध्ननिभा (उदरावेष्टा) कृमि—ये कृमि रीढदार (मेरुदंड वाले) प्राणियों की आंतों में होते हैं। फिर वे मांस खाने वालों के उदर में प्रवेश करते हैं। ये कृमि अनेक पर्व युक्त जंजीर

सदृश और १ इञ्च से २४ फीट तक लम्बे होते हैं। ये कृमि आंत में चिपटे रहते हैं, और नाना प्रकार की विकृति उत्पन्न करते हैं। इसका शिर छोटा और लम्बा होता है; इसको रस के शोषणार्थ दो या चार नलिकाकार इन्द्रियाँ होती हैं; और आंतों में चिपटने के लिये छोटे-छोटे वडिश (Hooks) रहते हैं। इस कृमि के अनेक पर्व होते हैं; प्रत्येक पर्व में पुरुषेन्द्रिय और जननेन्द्रिय रहती है। इनके संयोग से अनेक पर्वों में २००० से ३५००० तक अण्डे (Ova) हो जाते हैं। ये पर्व शिर की ओर नूतन उत्पन्न होते जाते हैं; और नीचे की ओर के कुछ-कुछ गल कर मल के साथ बाहर निकलते रहते हैं।

जो पर्व मल में निकल जाता है, वह पर्वयुक्त मल पशु के खाने में आ जाता है; तब उसमें रहे हुए अण्डे पशु शरीर में बढ़ने लगते हैं। फिर उन कृमि के सन्तानों का प्रवेश उस पशु का मांस खाने वाले मनुष्य के उदर में होता है। इस तरह मानव शरीर में मांसाहार द्वारा इस उदरावेष्टा कृमि की उत्पत्ति हो जाती है।

इस उदरावेष्टा कृमि के पृथक्-पृथक् खण्डों को पृथक् पृथक् कृमि रूप मानना पड़ता है। ये सब कृमि परस्पर एक दूसरे से मिलकर रहते हैं। ये कृमिखण्ड (पर्व) ३० से ६० तक हो जाते हैं।

इन उदरावेष्टा कृमियों में निम्नानुसार मुख्य ३ जाति हैं।

(१) टीनिया सोलियम Taenia Solium (Pork Taenia)
(२) टीनिया सैजिनेटा Taenia Saginata (Beef Taenia)
(३) बॉथ्रिओ-केफलस लेटस Bothriocephalus Latus (Fish Taenia)

इनके अलावा दक्षिण अमरिका और माडागास्कर में होने वाले इतर टीनिया जाति के कृमि हैं; किन्तु वे गौण हैं। टीनिया सोलियम सूअर के आंत में रहता है; इसकी लम्बाई २ से १० फीट होती है। इसको लगभग ५०० पर्व और ४ शोषक इन्द्रियाँ होती हैं। टीनिया सैजिनेटा, गौ, बैल, भैंस आदि के आंत में होता है। इसकी लम्बाई १४ से २४ फीट होती है। इसको ४ चूषक इन्द्रियाँ और १००० पर्व होते

हैं। इस कृमि को चिपटने के लिये बडिस नहीं होते। बॉथ्रिओ-केफलस लेटस मछली के उदर में होता है। लम्बाई १६ से ३० फीट और चौड़ाई १ इञ्च होती है। इसके २००० से ४००० तक पर्व होते हैं।

लक्षण—ये ३ प्रकार के कृमि मनुष्य के उदर में जाकर बढ़ने पर अनेक विकार उत्पन्न करते हैं। (क्वचित् किसी भाग्यशाली को कुछ भी नहीं होता)। इन कृमियों से नाक और गुदा में खुजली, वमन, उबाक, उदरशूल, अतिसार, अति क्षुधा, आक्षेपक वात (Convulsions), पाण्डु, मानसिक निर्बलता, मल में कभी कभी पर्व और अण्डे गिरने, रक्त में श्वेताणु की अति वृद्धि और तृतीय जाति के कृमि (फिश टीनिया) से तीव्र पाण्डु आदि लक्षण प्रतीत होते हैं। इनके अतिरिक्त छोटे बालक में मूत्राश्मरी सदृश लक्षण भी होते हैं।

(२) गण्डूपदोपमा (महागुदा) कृमि—ये कृमि केंचवें के सदृश होते हैं। ये कृमि गोल, चिकने, लम्बे, केंचवें जैसे मोटे, तेजस्वी और कुछ श्वेत, पीले या कुछ लाल वर्ण के होते हैं। इनमें नर और मादा पृथक् पृथक् होते हैं। मादा की लम्बाई १० से १६ इञ्च और नर की लम्बाई ६ से १० इंच होती है। नर की पूँछ मुड़ी हुई और मादा की पूँछ सीधी रहती है। ये मल, दूषित जल या शाक-भाजी द्वारा मनुष्य के उदर में जाते हैं। ये बहुधा क्षुद्रांत्र की दीवार में चिपटे रहते हैं; और इच्छा होने पर एक से दूसरे भाग में भ्रमण करते हैं। क्वचित् आमाशय में आ जाते हैं; तब कै के साथ बाहर निकल जाते हैं। इस तरह बृहदन्त्र में जाने पर मल के साथ निकल जाते हैं।

इस कृमि को डाक्टरी में राउन्ड वर्म्स और ॲस्केरीस लम्ब्रिकॉइड्स Round Worms and Ascaris Lumbricoides कहते हैं।

लक्षण—इस कृमि के कितनेक लक्षण अस्पष्ट रहते हैं। सामान्य रूप से मन्द ज्वर, मुँह से दुर्गन्ध निकलना, नाक में खुजली चलना, निद्रा में दाँत कटकटाना, आक्षेपक वात और मस्तिष्कदाह आदि होते हैं।

यह कृमि क्वचित् पित्तनलिका (Bile duct) के स्राव का अवरोध करके कामला की उत्पत्ति कर देता है। यदि अन्त्रव्रण होकर क्षत

हो जाता है; तो यह कृमि उदर्य्याकला में जाकर दाह-शोथ कर देता है। यदि फुफ्फुस में जाता है; तो फुफ्फुस में दाह-शोथ हो जाता है। आंत में अधिक इकट्ठे हो जाते हैं; तो मलावरोध उत्पन्न करता है; इस तरह क्वचित् अतिसार, प्रवाहिका की प्राप्ति भी करा देता है।

(३) रूढधान्यांकुरा कृमि—इसमें अनेक जाति हैं। (१) टीनिया एकिनोकॉक्स (२) ट्रायकिना स्पाइरेलिस (३) अन्कायलोस्टोमा ड्यूओडिनेली (४) ऑक्सियुरिस वर्मिकुलेरिस (५) बिलहार्झिया हिमेटोबिया (६) फायलेरिया बॅन्क्रॉफ्टी (७) फायलेरिया मेडिनेन्सिस, ये ७ जाति मुख्य हैं।

(१) टीनिया एकिनोकॉक्स—Taenia Echinococcus (Dog Taenia) पाश्चात्य वैद्यक में इस कृमि को टेपवर्म (पृथुब्रध्न-निभा कृमि) की जाति में माना है।

यह कृमि कुत्ता, बिल्ली, लोमड़ी, गीदड़, भेड़िया आदि के उदर में होते हैं। फिर मनुष्य के उदर में जाकर विशेषतः यकृत् में या क्वचित् इतर इन्द्रिय में जाता है वहाँ पर अपनी चारों ओर एक द्रवयुक्त ग्रन्थि उत्पन्न कर देता है। इसके १ सिर और ३ पर्व रहते हैं। प्रौढ़ कृमि की लम्बाई १/६ इञ्च होती है। इसके सिर पर ३० से ५० तक कांटे होते हैं। इसकी आबादी अत्यधिक परिमाण में बढ़ जाती है।

यह कृमि मनुष्यों को विशेषतः पालतू कुत्ते द्वारा मिल जाते हैं। पालतू कुत्ते की गुदा पर कभी हाथ लग जाने पर मल में रहे हुए अण्डे हाथ को लग जाते हैं। फिर कोई वस्तु खाने के साथ वे अण्डे उदर में चले जाते हैं। क्वचित् बाग़ में कुत्ता मलत्याग करता है। फिर जलप्रवाह के साथ शाक को मल में रहे हुए अण्डे लग जाते हैं। वे शाक बिना धोये खाने से अण्डे का मनुष्य के उदर में प्रवेश हो जाता है।

(२) ट्रायकिना स्पाइरेलिस (Trichina spiralis)—ये कृमि पतली डोरी के समान होते हैं। मादा १/८ इञ्च लम्बी और नर १/१८ इञ्च लम्बे होते हैं। ये सूअर, खरगोश, बकरे, कुत्ते, चूहे आदि अनेक प्राणियों में रहते हैं। इन प्राणियों के सड़े मांस या इन प्राणियों के

भूठे मांस खाने से इन कृमियों की उत्पत्ति आंतों में हो जाती है; और कुछ सप्ताह तक आंत में रहते हैं। पश्चात् आंत में से ये कृमि लसीका द्वारा मांसपेशियों में जाते हैं। फिर वह कृमि मांस खाते रहने से दूसरे सप्ताह में स्नायुओं में वेदना, खिंचाव, शोथ और सन्तत ज्वर का प्रारम्भ करा देता है। यदि श्वसन यन्त्र के स्नायुओं में विकृति करा देता है; तो श्वास रोग हो जाता है। सन्तत ज्वर से बलक्षय होकर क्वचित् सन्निपात हो जाता है; अन्त में मृत्यु हो जाती है। सौम्य प्रकोप होने पर दो सप्ताह में रोगी स्वस्थ हो जाता है। यह रोग क्वचित् संक्रामक के सदृश देश में चारों ओर फैल भी जाता है।

लक्षण—इन कृमियों का प्रकोप होने पर अन्त्र में दाह-शोथ होकर वमन, अतिसार और उदरशूल उत्पन्न हो जाते हैं। रक्त में श्वेत जीवाणु संख्या की वृद्धि हो जाती है। व्यापक प्रकोप काल में हाथ-पैर टूटना, मुँह से लेकर विकृत स्नायु तक शोथ और श्वास आदि लक्षण पर से रोग निश्चय हो जाता है। किन्तु इतर समय में केवल अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा मल परीक्षा से ही निर्णय हो सकता है। दो सप्ताह पूरे हो जाने पर इस कृमि के अण्डे रक्त में भी मिल जाते हैं।

(३) अन्कायलोस्टोमा ड्यूओडिनेली (Ankylostoma duodenale)—इस कृमि को आयुर्वेद में अन्त्रदा कहते हैं। इस कृमि को सामान्य अंग्रेजी में हुक वर्म (Hook worm) संज्ञा दी है। ये कृमि सूत सदृश पतले, गोल और श्वेत रंग के होते हैं। मादा की लम्बाई $\frac{1}{2}$ इञ्च और नर की लम्बाई $\frac{1}{3}$ इञ्च होती है। इसके अण्डे लम्बवर्तुल होते हैं। मल में से निकलने के पश्चात् जल या गीली मिट्टी में प्राप्त होने पर इनका नैसर्गिक रीति से पोषण होता है। पश्चात् अण्डे में से बालकृमि (लारवा Larvae) निकलने पर यदि मनुष्य की त्वचा से स्पर्श हुआ, तो वहाँ से प्रविष्ट होकर लसीकावाहिनियों द्वारा श्वासनलिका और फुप्फुस में पहुँच जाते हैं। फिर वे कफ के साथ बाहर निकलते रहते हैं। यदि कफ निगलने में आ जाय; तो कृमि आंतों में पहुँच जाते हैं। इनमें से अनेक क्षुद्रान्त्र के प्रारम्भिक भाग में

चिपट कर रक्त शोषण करते रहते हैं; और अन्त्र की दीवाल को काटकर वहाँ पर व्रण वना देते हैं।

लक्षण—अन्त्र में से रक्तशोषण जितना अधिक हो, उतना पाण्डु रोग अधिक हो जाता है; तथा कौड़ी प्रदेश में शूल, अतिसार, श्वास, आर्द्रशोथ, क्वचित् हाथों पर पिटिकाएँ होना इत्यादि लक्षण प्रतीत होते हैं; तथा रक्त में श्वेत जीवाणुओं की वृद्धि हो जाती है। यदि व्रण द्वारा विष रक्त में अधिक पहुँचता है; तो यकृद्वृद्धि, हृदयविस्तार, हृदयावरण और फुफ्फुसावरण का दाह, ये उपद्रव भी हो जाते हैं। इन उपद्रवों को सत्वर नष्ट नहीं कर सके, तो क्वचित् मृत्यु भी हो सकती है। इस रोग का सच्चा निर्णय मल परीक्षा से ही हो सकता है।

(४) ऑक्सियूरिस वर्मिकुलेरिस Oxyuris Vermicularis—इस जाति के कृमि को आयुर्वेद में चूरव और सामान्य अँगरेज़ी में थ्रेड वर्म्स Thread worms संज्ञा दी है। इसमें मादा की लम्बाई ३/८ इञ्च और नर की लम्बाई १/८ इञ्च होती है। नर की पूँछ मुड़ी हुई रहती है। ये कृमि प्रारम्भ में क्षुद्रान्त्र में वढ़ते हैं। फिर नर का समागम होने पर नर की मृत्यु हो जाती है; और मादा वड़ी आँत में प्रवेश कर जाती है। इस जाति के लक्षावधि अण्डे मल में निकलते रहते हैं। फिर मल में से अण्डे मक्खियों द्वारा खाने-पीने के पदार्थों में मिश्रित होकर मनुष्यों के उदर में पहुँच जाते हैं।

लक्षण—गुदद्वार में खुजली आना, मल में कृमि निकलना, ये मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त वालकों को आक्षेपक वात के झटके भी आते रहते हैं; और वालक रात्रि में वार-वार गुदा को खुजाता रहता है।

(५) विलहार्झिया हिमेटोबिया, Bilharzia Haematobia—यह कृमि सुत सदृश होता है। यह अधिक रक्तोत्सर्जक है। इस कृमि में नर की लम्बाई १/२ इञ्च, मादा की लम्बाई ३/४ इञ्च होती है। मादा पतले धागे समान होती है और पुरुष की देह के अन्तभाग में एक खड्डा-सा है, उसमें रहती है। मादा के अण्डे मल-मूत्र द्वारा वाहर निकल जल में चले जाते हैं। फिर उसमें से वालकृमि (लारवा) निकल कर

त्वचा द्वारा मनुष्य की देह में प्रविष्ट होकर रक्त में चले जाते हैं। ऐसे दूषित जल में स्नान करने या वस्त्र धोने पर इन कृमियों का सहज त्वचा में प्रवेश हो जाता है। रक्त में प्रवेश होने के पश्चात् नर-मादा मिलकर अण्डे उत्पन्न करते रहते हैं। फिर वे अन्नरसवाहिनी (प्रतिहारिणी) सिरा, अर्श की सिरा, वृक्क और मूत्राशय आदि भागों में चले जाते हैं।

लक्षण—किसी स्थान विशेष का आश्रय लेने के पहले कण्डु, उदरशूल, अतिसार, ज्वर, पाण्डु, कास, यकृत्प्लीहा वृद्धि आदि चिह्न प्रतीत होते हैं। फिर वृक्कों में पहुँचने पर गवीनियाँ और मूत्राशय में जाते हैं, जिससे वृक्कशोथ, रक्तमेह (हिमेट्यूरिया Haemeturia), मज्जामेह (एल्ब्युमिनूरिया Albuminuria) आदि रोग और आँतों में प्रवेश होने पर आमातिसार हो जाते हैं। इन कृमियों की वृद्धि होने पर रक्त में न्यूनता और श्वेत जीवाणुओं की वृद्धि हो जाती है। अधिक रक्तस्राव से पाण्डुता होती है। यदि इन कृमियों की चारों ओर क्षार संचय होता रहता है; तो शर्करा (रेता) और अश्मरी की प्राप्ति भी हो जाती है।

(६) फायलेरिया बॅन्क्रॉफ्टी, Filaria Bancrofti—इस कृमि से श्लीपद और पिष्टमेह की प्राप्ति होती है। यह कृमि उष्ण-कटिबन्ध देशवासियों के रक्त में प्रतीत होते हैं। इनके बालकृमि-लारवा को फायलेरिया सन्ग्वीनिस होमीनिस (Filaria Sanguinis Hominis) संज्ञा दी है। इनके अण्डे और बालकृमि रक्त में भ्रमण करते हैं। बड़े होने पर यह कृमि घोड़े के बाल समान दीखते हैं, और लसीका वाहिनियों में जाकर रहते हैं। मादा ३ इञ्च लम्बी और नर १॥ इञ्च लम्बे होते हैं। इन कृमियों में एक प्रकार के कृमि रात्रि को त्वचा में से निकल कर रक्त में जाते हैं, उनको निशाचर (फायलेरिया नॉक्टुरना Filaria Nocturna) संज्ञा दी है। कई इनके विरुद्ध स्वभाव वाले अर्थात् दिवाचर भी होते हैं।

ये कृमि मच्छरों के दंश द्वारा उसके उदर में जाते हैं। पुनः इन मच्छरों द्वारा इतर मनुष्य के शरीर में प्रवेश करते हैं। जब इन कृमियों की वृद्धि होकर लसीका वाहिनियाँ पूर्ण भर जाती हैं; तब श्लीपद रोग

की संप्राप्ति हो जाती है। यदि मुख्य रसकुल्या (Thoracic Duct) का अवरोध होता है, तो पिष्टमेह (Chyluria) की उत्पत्ति हो जाती है। इन कृमियों से उत्पन्न रोगों के निदानार्थ रात्रि को रक्त निकाल अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा परीक्षा करनी चाहिये।

श्लीपद और पिष्टमेह के सविस्तर निदान और चिकित्सा आदि यथास्थान उन रोगों के वर्णन में किये जायँगे।

(७) फायलेरिया मेडिनेन्सिस Fileria Medinensis—

इन कृमियों से स्नायुरोग (गिनी वर्म Guinea Worm) की उत्पत्ति होती है। ये कृमि गन्दे जल में उत्पन्न होते हैं; और उस जल में रहने वाले छोटे कीड़े साइक्लोप्स (Cyclops) के उदर में चला जाता है। जब वह जल मनुष्य के पीने में आता है; तब साइक्लोप्स तो आमाशयिक रस से मर जाता है; किन्तु उसके उदर में रहे हुए फायलेरिया मेडिनेन्सिस संज्ञा वाले कृमि मानव कोष्ठ में जीवित रह जाते हैं। इन कृमियों में नर और मादा २ विभाग हैं। ये कृमि मानव शरीर में बढ़ते हैं; तब इनमें नर की लम्बाई १ इञ्च और मादा की लम्बाई ४० इञ्च तक हो जाती है। नर-मादा का समागम होने पर नर की मृत्यु हो जाती है; और मादा आँत में से निकल उपत्वचा में चली जाती है; फिर हाथ, पैर, नाक, कान, आँख आदि भागों में से जिस ओर जाय वहाँ से बाहर निकलती है; तब स्नायुरोग की संप्राप्ति होती है। इस रोग का वर्णन यथास्थान किया जायगा।

इन जातियों के कृमि मनुष्यों में रोगों की उत्पत्ति कराते हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे भी कृमि हैं; जो हानि नहीं पहुँचाते। इनमें से एक प्रकार के सूत जैसे पतले कृमि बड़ी आंत में रहते हैं; जिनको ट्रायकोसेफलस डिस्पार (Trichocephalus Dispar) कहते हैं। इनके अलावा शरीर पोषक भी अनेक जाति के कीटाणु या जीवाणु हैं, जिनकी वृद्धि होना लाभदायक माना गया है।

डाक्टरी में अनेक रोगों के सूक्ष्म कृमि माने हैं, जो इन कृमियों से भिन्न हैं। उदाहरणार्थ प्रवाहिका, विसूचिका, क्षय, कुष्ठ, आंत्रिकज्वर

आदि अनेक रोगों के सूक्ष्म कृमि मल और रक्त में अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा प्रतीत होते हैं। उनमें से कुछ रोगों का वर्णन उनसे उत्पन्न ज्वर, प्रवाहिका आदि रोगों में किया है; और किया जायगा।

आभ्यन्तर कृमि चिकित्सा।

इस कृमि रोग के आरंभ में अपकर्षण चिकित्सा ही करनी चाहिये। फिर संशमन चिकित्सा और मूल हेतु को दूर करना चाहिये।

इस हेतु से पहले स्नेहन, स्वेदन कराकर वमन करावें। फिर रात्रि को गुड़ आदि मधुर पदार्थ खिलावें। जिससे कृमि अपने स्थान से च्युत हो; पश्चात् प्रातःकाल जव, कुलथी और सुरसादि गण की औषधि का गोमूत्र में अर्धावशेष किया हुआ क्वाथ तथा वायविडंग से सिद्ध किये हुए तैल, दोनों को मिलाकर वस्ति देवें। पश्चात् निवाये जल से स्नान कराकर कृमिघ्न औषधियों के क्वाथ से बना हुआ भोजन देवें। फिर निशोथ का जुलाब देकर वायविडङ्ग से सिद्ध किये हुए तैल की अनुवासन वस्ति देवें।

वमन कराने के लिए सुरसादि गण की औषधियों से सिद्ध घृत के साथ औषधि देने से आमाशय विकार सरलतापूर्वक नष्ट हो जाता है।

पुरीषज कृमि निकालने के लिये वस्ति और विरेचन हितकारक हैं। कफज कृमि मस्तिष्क आदि स्थानों में होने पर शिरोविरेचन, नस्य, वमन और शमन आदि चिकित्सा करें। रक्तज कृमियों के लिये कुष्ठ, श्लीपद आदि रोगों में कही हुई चिकित्सा करनी चाहिये।

कफज कृमिनाशक औषधियाँ—(१) कृमिमुद्गर रस (र० ४२४ मुस्तादि क्वाथ के साथ), कृमिघ्न गुटिका (र० ५५०), अग्नितुण्डी वटी (र० ४२३ सूक्ष्म कृमि के लिये), कृमिकुठार रस (र०४२५), कृमिघ्न क्वाथ (र० ६३४), मुस्तादि क्वाथ (र० ६४२), ये सब आमाशय में उत्पन्न हुए कृमियों के नाश के लिए अति हितकारक औषधियाँ हैं।

(२) त्रिफलादि घृत—हरड़, बहेड़ा, आँवला, निशोथ, दन्तीमूल, बच, कपीला, इन ७ औषधियों को समभाग लेकर कल्क

करें। फिर कल्क से ४ गुना घी और घी से ४ गुना गोमूत्र मिलाकर यथाविधि घृतपाक करें। इस घृत में १ से २ तोले घृत दिन में २ समय कुछ दिनों तक देते रहने से सब प्रकार के कृमि नष्ट हो जाते हैं।

(३) पारसीयादि चूर्ण—खुरासानी अजवायन, नागरमोथा, पीपल, काकड़ासिंगी, वायविडङ्ग और अतीस को कूट, बारीक चूर्ण कर ३-३ माशे शहद के साथ दिन में २ समय देते रहने से कास, ज्वर, जीर्ण आमातिसार और वमन सह उदर के सब प्रकार के कृमि नष्ट हो जाते हैं।

(४) त्रिकट्वादि कषाय—त्रिकटु, त्रिफला, इन्द्रजौ, नीम की अंतर छाल, निशोथ, वच और खैरसार, इन ११ औषधियों को समभाग मिला लें। इनमें से २–२ तोले का क्वाथ कर गोमूत्र के अर्क के साथ दिन में २ वार पिलाते रहने से संपूर्ण जाति के कृमि नष्ट हो जाते हैं।

(५) १–२ तोले गुड़ खाकर १० मिनट पश्चात् १ माशा खुरासानी अजवायन वासी जल के साथ प्रातः-सायं लेने से कोष्ठगत कृमिसमूह थोड़े ही दिनों में गिर जाते हैं।

(६) वायविडङ्ग का चूर्ण ३-३ माशे शहद के साथ दिन में २ समय देते रहने से सूक्ष्म कृमि का नाश हो जाता है। एवं इतर अनेक प्रकार के कृमियों की उत्पत्ति रुक जाती है।

(७) नागरमोथा का स्वरस २–२ तोले प्रातःकाल १५–२० दिन तक पिलाते रहने से कृमि विकार नष्ट हो जाते हैं।

(८) कपूर और केशर आध आध रत्ती रात्रि को शहद के साथ चटाने से कृमि मर जाते हैं।

(९) कोलकंद (प्याज सदृश जङ्गली कन्द) के रस में थोड़ा वेसन मिला तैल में एक दो पकवड़े तल कर खिलाने या इसमें आटा मिला फिर रोटी वना कर खिलाने से कृमि मर जाते हैं।

(१०) अजवायन का चूर्ण ३-३ माशे सुवह शीतल जल से देने से कृमि समूह (विशेषतः सूक्ष्म कृमि) नष्ट हो जाते हैं; तथा अजीर्ण और आमवात का भी नाश हो जाता है।

(११) इन्द्रजौ का चूर्ण १–१ माशा दिन में ३ समय शीतल जल

के साथ कुछ दिनों तक देने से कृमि, उदरशूल और कृमिप्रकोप से होने वाले अतिसार आदि उपद्रव दूर होते हैं।

(१२) कड़वी तुम्बी के बीज का चूर्ण ३-३ माशे छाछ के साथ कुछ दिनों तक सुबह सेवन कराने से सब प्रकार के कृमि दूर हो जाते हैं।

(१३) छोटी इलायची के दाने १ तोला तथा छोटी हरड़ और शुद्ध गंधक ३-३ तोले मिलाकर चूर्ण करें। इसमें से ३-३ माशे चूर्ण निवाये जल के साथ दिन में २ समय देने से कृमि, बद्धकोष्ठ, दाह, त्वचा विकार और रक्तविकार दूर हो जाते हैं।

(१४) कपीले का चूर्ण ४ से ६ माशे समान गुड़ के साथ मिलाकर रोज रात्रि को देवें। फिर सुबह एरंड तैल का जुलाव दें। इस तरह ३-४ दिन तक देते रहने से सब कृमि गिर जाते हैं।

(१५) रात्रि को दो तोले खजूर के पत्तों का काथ कर सुबह ६ माशे शहद मिला कर पिलाने से सब कीड़े मर जाते हैं।

(१६) ढाक (पलास) के बीज ३ से ४ माशे तक मट्ठे में पीस कर सुबह-शाम पिलाने से कृमि मर जाते हैं।

(१७) उदरावेष्ठा कृमि—ये कृमि आंतों में ऐसे चिपटे रहते हैं कि, अनेक विरेचन औषधियों से भी स्थानभ्रष्ट नहीं होते। इनके पर्व टूटते जाते हैं, फिर भी उत्पत्ति अधिक होने से वृद्धि अधिक हो जाती है। इसकी चिकित्सा जल्दी करनी चाहिये; और शान्ति पूर्वक अनेक दिनों तक पथ्य पालन सह करनी चाहिये।

प्रातःकाल मुनक्का और कद्दू के बीज की गिरी ५-५ तोले खिलावें। फिर कपीला, उसारे रेवन, करंज की गिरी और वायविडंग का चूर्ण ६ रत्ती और अजवायन का सत्व आध रत्ती मिला शहद के साथ दें। ऊपर दो तोले अनार की जड़ का काथ पिलावें। भोजन में मूंग-चावल की खिचड़ी या इतर हलका भोजन देवें। इस तरह शान्ति पूर्वक १०-१५ दिन तक चिकित्सा करते रहने से कद्दू दाना कीड़ा थोड़े थोड़े पर्व कर पूरा गिर जाता है।

(१८) महागुदा—(केंचवे) कृमि के लिए सेन्टोनीन

(Santonine) का उपयोग अधिक होता है। यह औषधि काश्मीर में होने वाली बुंई बूंटी का सत्व है। इसकी पूरी मात्रा बड़े मनुष्य को ५ ग्रेन (२॥ रत्ती) है। रात्रि को सेन्टोनीन शक्कर के साथ देकर सुबह एरंड तैल का जुलाव देवें। या सेन्टोनीन और केलोमल मिलाई हुई गोलियाँ आती हैं, वह सुबह के समय सेवन करावें। इस तरह चौथे-चौथे रोज औषधि ३-४ बार देने से सब कीड़े गिर जाते हैं।

(१६) चूरव कृमि के लिये पहले विरेचन से कोष्ठशुद्धि करा लेवें। फिर ४-६ वार २-२ दिन के अन्तर से सिद्ध तैल की वस्ति देने से सब कृमि निकल जाते हैं।

(२०) कृमिकुठार रस (र० ४२५ सत्यानाशी की जड़ ६ माशे के क्वाथ के साथ), कृमिघ्न चूर्ण (र० ६०८), कृमिघ्न क्वाथ (र० ६३४), इन औषधियों में से किसी का सेवन थोड़े दिनों तक कराने से चूरव कृमि की उत्पत्ति वन्द हो जाती है।

(२१) वृहद् योगराज गूगल (र० ४६५), अग्नितुण्डी वटी (र० ४२३), संजीवनी वटी (र० ५४०), वंगभस्म (र० १७०), ये सव औषधियाँ कृमि की भावी उत्पत्ति को रोकने वाली हैं। इनमें अग्नि-तुण्डी वटी से उत्पन्न कृमि भी नष्ट हो जाते हैं। जिनके शरीर में आम अधिक हो; उनके लिये वृहद् योगराज गूगल हितकर है। रक्त में दोष है; तो वंगभस्म देनी चाहिये। ज्वर, सेन्द्रिय विष और अपचन को दूर करने में संजीवनी वटी लाभदायक है।

कृमिजन्य ज्वर—वंगभस्म (र० १७० वायविडंग के क्वाथ और शहद के साथ) या वंगभस्म और शिलाजीत (सुदर्शन चूर्ण के क्वाथ के साथ) देने से कृमि और ज्वर दोनों दूर हो जाते हैं।

कृमिजन्य पाण्डु और धनुर्वात पर—ताप्यादि लोह (र० ४२७) दिन में २ समय कृमिघ्न क्वाथ या वायविडंग के क्वाथ के साथ एक मास तक देते रहना चाहिये।

विरेचन के लिये—(१) अश्वकंचुकी रस (र० ३७७), नारायण चूर्ण (र० ५८९) या इच्छाभेदी रस (र० ४०६) का उपयोग करें।

(२) तारपीन का तैल १। तोला और एरंड तैल २॥ तोले सोवा के क्वाथ में मिलाकर पिलाने से केंचवे सदृश कृमि निकल जाते हैं।

मस्तिष्क और नासाकृमि के लिये—(१) लोहभस्म या घोड़े की लीद को छाया में सुखा फिर वायविडंग के क्वाथ की ७ भावना देकर प्रधमन नस्य देने से नाक में से सब कीड़े गिर जाते हैं।

(२) तृणकान्तमणि पिष्टी ४-४ रत्ती दिन में ३ समय थोड़े दिनों तक देने से नाक में से सब कीड़े गिरकर मस्तिष्क वेदना, नाक में से रक्त गिरना, दुर्गन्ध आना सब दूर हो जाते हैं।

वाह्य कृमि की चिकित्सा।

(१) रात्रि को नागरवेल या धतूरे के पत्ते के रस में पारा या कपूर मिलाकर वस्त्र को भिगो शिर पर बाँधें या ऐसे ही रस लगावें। सुबह शिर साफ करने से सब जूँ मर कर निकल जाती हैं।

(२) वायविडंग, गन्धक और मैनसिल के कल्क को ४ गुने सरसों के तैल और १६ गुने गोमूत्र में मिला तैल सिद्ध कर लगाने से जूँ, लीख और अन्य त्वचा पर होने वाले चमजूँ (कृमि) नष्ट हो जाते हैं।

(३) चित्रकमूल, दन्ती की जड़ और कड़वी तोरई का कल्क बना तैल सिद्ध करके लगाने से सब जुएँ आदि कृमि नष्ट हो जाते हैं।

(४) नीलगिरी तैल की मालिश से जूँ और चमजूँ मर जाती हैं।

(५) **धुस्तूर तैल**—धतूरे के पत्ते का कल्क १ सेर, सरसों का तैल ४ सेर और धतूरे के पत्तों का स्वरस १६ सेर मिला कर यथा-विधि तैल सिद्ध करें। इस तैल की मालिश करने से जूँ, लीख, चमजूँ और त्वचा में उत्पन्न सब प्रकार के कृमि नष्ट हो जाते हैं।

(६) **दाँत और कान के कृमि पर**—छोटी या बड़ी कटेली या इन्द्रवारुणी के फल को घी में पीस निर्धूम अग्नि पर डाल नली द्वारा दाँत या कान में धुआँ देने से कृमि नष्ट हो जाते हैं।

(७) **गुदा की खाज पर**—इन्द्रायण की जड़ या कड़वी तुम्बी को चन्दन की तरह पीस कर गुदा के भीतर और बाहर लेप करने से गुदा के शोथ, खुजली और पीड़ा आदि दूर हो जाते हैं।

बालकों के कृमि की चिकित्सा।

(१) गुदा पर धुस्तूर तैल या जैतून का तैल अथवा धतूरे के पत्तों का रस लगाने से खाज दूर होती है।

(२) वायविडंग को दूध में घिसकर पिलाने से कृमि सब नष्ट होजाते हैं।

(३) कौंच की फली के कांटे (रोंगटे) को दूध में मिला छानकर पिलाने से कृमि नष्ट हो जाते हैं। (यह औषधि १ वर्ष से छोटे बालकों को नहीं देना चाहिये।)

(४) कुकरौंधे या एरंड के पत्तों का रस पिलाने से जन्तु मर जाते हैं।

(५) कीड़ामारी (धूम्रपत्रा) का रस या बीज का चूर्ण १ रत्ती शहद में मिलाकर चटाने से सब कीड़े मर जाते हैं।

(६) बालरक्षक गुटिका (र० ५७५) दिन में २ समय कुछ दिन तक देते रहने से जन्तु नष्ट हो जाते हैं।

(७) कृमिकुठाररस (र० ४२४) शहद या माता के दूध के साथ देने से कृमि मर जाते हैं।

(८) ताप्यादिलोह (र० ४२७) दिन में २ समय कुछ दिनों तक देते रहने से जीर्ण कृमिरोग, पाण्डु और आक्षेपक वात दूर हो जाते हैं।

(९) वायविडंग २ माशे, निशोथ १ माशा, कपीला १ माशा, इन सबको गरम उबलते हुए छटाँक भर जल में डालकर ढक दें। जल शीतल होने पर ऊपर से साफ जल नितार कर ३-३ माशे दिन में ३-४ समय देते रहने से २-३ रोज में सब प्रकार के कृमि गिर जाते हैं।

सूचना—ज्वर हो; तो निशोथ या इतर जुलाब वाली औषधि नहीं देनी चाहिये; तथा मधुर पदार्थ का सेवन कम करावें।

डाक्टरी में कृमिरोग में निम्नानुसार औषधियाँ दी जाती हैं।

(१) उदरावेष्टा कृमि Tape worms के लिये:—

एक्सट्रैक्ट मेलफर्न	Extract Filicis Liqr.	१ ड्राम
सोंठ का शर्बत	Syrup Zinjiberis	१ ड्राम
म्यूसिलेज एकेसिया	Mucilage Acacia	१॥ ड्राम

एक्वा सिनामोम	Aqua Cinnamom ad	१ औंस तक

इन सबको मिला लेवें। पहले विरेचन देकर कोष्ठशुद्धि करानी चाहिये। फिर दूसरे दिन सुबह यह औषधि देवें; और औषधि देने के १० घण्टे बाद पुनः विरेचन औषधि देवें; (किन्तु एरण्ड तैल नहीं देना चाहिये)। इस तरह दो बार विरेचन देने से कृमि गिर जाते हैं।

(२) महागुदा कृमि Round worms के लिये—

सेन्टोनीन	Santonine	५ ग्रेन
एरंड तैल	Oil Ricini	४ ड्राम
म्यूसिलेज एकेसिया	Mucilage Acacia	४ ड्राम
शर्बत	Syrup Simple	१ ड्राम
एक्वा मेन्था पीप०	Aqua Menth. Pip. ad	२ औंस तक

इन सबको मिलाकर सुबह पिला देने से केंचवे सदृश सब कृमि गिर जाते हैं। यह औषधि ३-३ दिन बाद ३-४ वार देनी चाहिये।

(३) बालकों के लिये—

सेन्टोनीन	Santonine	२ ड्राम
सेकरीन	Saccharine	२ ग्रेन
पल्वीस स्कॅमोनियम	Pulv. Scammoni Co.	२ ड्राम
सोडा बाईकार्ब	Soda Bicarb	३० ग्रेन
दूध की शक्कर	Sacchari Lactis ad	२ औंस तक

इन सबको मिलालें। इनमें से १ से ५ वर्ष तक के बालकों के लिये आयु जितने ग्रेन (१ वर्ष वाले को १ ग्रेन, २ वर्ष वाले को २ ग्रेन, ३ वर्ष वाले को ३ ग्रेन; और आधे वर्ष के लिए आधा ग्रेन) देवें। किन्तु ६ मास से कम आयु वाले को यह औषधि नहीं देनी चाहिये। इस औषधि से केंचवे समान और सूत जैसे सब कृमि निकल जाते हैं।

(४) अन्त्रादा कृमियों (Hook worms) के लिये—पहले विरेचन से उदर शुद्धि करते हैं। फिर 'सत अजवायन-थाईमोल (Thymol)' २० ग्रेन या चीनोपोड़ी का तैल (Oil Chenopodii) १० बूँद या नेप्थोल (Nephthol) १० ग्रेन, इन औषधियों में से एक को

केपसूल या केचिट में बन्द कर सुबह २-२ घण्टे के अंतर से ३ वार निगलवा देवें। फिर दोपहर को विरेचन देवें। विरेचन के पश्चात् ही भोजन कराना चाहिये।

(५) चूरन कृमियों (Thread worms) के लिये—

अंग्वेन्टम हाइड्रार्जिरी नाइट्रास Ung. Hydrar Nit. ८ ग्रेन

कोकम आमचूर का तैल Oil Thebroma ७ ग्रेन

इन दोनों को मिला कर वर्त्ति (Suppository) बना कर गुदा में प्रवेश करावें। तथा क्वॉशिया १०० ग्रेन को २० औंस जल में उबाल कर १५ मिनट तक ढक दें। पश्चात् इस क्वॉशिया के फान्ट (Infusion Quassia) को छान १ आउन्स नमक मिलाकर वस्ति देवें। ज्यादा जल लेना हो; तो क्वाथ ज्यादा बना लेवें। यह वस्ति एक एक दिन छोड़ कर १ मास तक देते रहने से सब चूरन कृमि नष्ट हो जाते हैं।

वालकों के लिए सेन्टोनीन वाली औषधि ऊपर कही हुई देवें।

पथ्य—स्नेहन, वमन (कफवृद्धि या आमाशयज कृमि हो, तो), आस्थापन वस्ति, विरेचन, शिरोविरेचन, कफघ्न धूम्रपान, मालिश, पुराने चावल, परवल, वैंत के अंकुर, लहसन, बथुआ, करेला, गूलर, चित्रक के पत्तों का शाक, आक के पत्ते, सरसों के पत्ते, बड़ी कटेली के फल, नाड़ी शाक, नीम के पत्ते, सुहिंजने की फली, कच्चा केला, बैंगन, कांजी, सिरका; चरपरे, कड़वे और कसैले रस वाले पदार्थ, छोटी मछली का शोरबा, पक्के ताड़ के फल, शराब, नागरवेल का पान, घी, बकरी का दूध, नीबू, मूंग, मसूर की दाल, सरसों का तैल, तिल का तैल, कृमिघ्न काथ मिलाकर औटाया हुआ दूध, हरड़, वायविडंग, शहद, गोमूत्र, ऊँट का मूत्र, कस्तूरी, खैर, हींग, इन्द्रजौ, अजमोद, देवदारु, अगर, जवाखार, अजवायन, कलौंजी आदि पथ्य हैं। भोजन हलका, पथ्य और थोड़े प्रमाण में करें। कृमि रोगी के लिये तेल अति हितकर है।

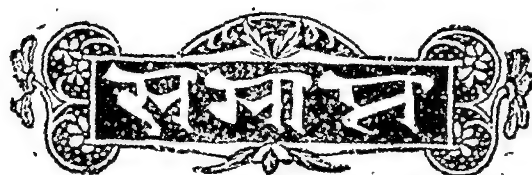
विडंगादि यवागू—वायविडंग, पीपरामूल, सुहिंजने के बीज और कालीमिर्च का कल्क ३२ या ६४ गुनी तक्र में मिला कर यवागू

वनावें। फिर चाहिये उतना नमक और थोड़ा (१-२ माशे) सज्जीखार मिलाकर पिलावें। इस यवागू में हल्दी, धनिया, जीरा, दालचीनी, लौंग आदि मसाला भी इच्छानुसार मिला लिया जाता है। यह यवागू सब प्रकार के कृमियों को नष्ट करती है।

अपथ्य—वमन के वेग को रोकना, विरुद्ध अन्नपान, पतले पेय, मधुर भोजन, गुड़, शक्कर, उड़द, पिट्टी के पदार्थ, दूध, दही, ज्यादा घी, अधिक पत्ती शाक, केले, वेर, काशीफल, मांस, दिन में निद्रा, अजीर्ण-कारक भोजन, मलावरोध करने वाली वस्तु, मल-मूत्रावरोध, खट्टे रस वाले पदार्थ, शीतल जलपान, क्षार, मैदा में से बने हुए पदार्थ और पुरीषज कृमि होने पर वमन कराना, ये सब अपथ्य हैं।

अपचन से कृमि रोगी को आग्रहपूर्वक वचना चाहिये। अध्यशन (भोजन पचन होने से पहले पुनः भोजन), अधिक मधुर पदार्थ, मांस सेवन, भेड़ी या भैंस का दूध और कच्चा दूध, ये सब विशेष हानिकर होने से, इन सबको छोड़ देना चाहिये।

"पचनेन्द्रियसंस्था के कुछ रोग शेष रह गये हैं; वे द्वितीय खण्ड में दिये जावेंगे। पृष्ठ संख्या बढ़ जाने के हेतु से यहाँ पर नहीं दे सके।"



रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह

(संशोधित और परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण)

इस ग्रन्थ में भस्म, रसायन, गुटिका, आसव, अरिष्ट, पाक, अवलेह, लेप, सेक, मलहम, अञ्जनादि सब प्रकार की औषधियों के सहस्रशः अनुभूत प्रयोग हैं। अनेक प्रतिष्ठित और अनुभवी वैद्यराजों ने इस ग्रन्थ की उत्तमता और उपादेयता विषयक अति सन्तोषप्रद सम्मतियाँ प्रदर्शित की हैं, जिनमें से कुछ इसके साथ दी गई हैं। इस ग्रन्थ की भूमिका श्रीमान् पं० श्री गोवर्धनजी शर्मा छांगाणी प्राणाचार्य, भिषक्केसरी, भूतपूर्व अध्यक्ष—निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महामण्डल ने लिखी है। भूमिका में आपने इस ग्रन्थ की विशेषता निम्नानुसार दर्शाई है:—

(१) उपोद्घात प्रकरण में चिकित्सोपयोगी सभी महत्व की बातें सरल भाषा में स्पष्ट समझाई हैं। (२) आवश्यक सूचना प्रकरण बड़ा महत्व रखता है, इसलिए कि रोगी, रोग, औषधि और आहार-विहार विषयक सभी उपयुक्त सूचनाएँ एक ही स्थान में दे दी हैं। (३) परिभाषा प्रकरण में औषधियों के बनाने की विधि, तोल, नाप, पुटविधि, यन्त्रों का वर्णन और उनके चित्र, किसी औषधि के न मिलने पर प्रतिनिधि रूप में किस औषधि को लेना, किसके लिये न लेना इत्यादि विस्तारपूर्वक लिखा है। (४) शोधन प्रकरण में धातु-उपधातु विष आदि की शोधन-विधि वही दी है जो सरल और अनुभूत है। (५) भस्म प्रकरण में, "कृष्ण-गोपाल धर्मार्थ औषधालय" की रसायनशाला में जिस विधि से भस्में बनाई जाती हैं, जिनसे लोगों का निश्चित उपकार हो रहा है, रोगी रोग-मुक्त होते हैं, जो शतशोऽनुभूत हैं; उन्हें दिल खोलकर लिख दिया है। इतना ही नहीं, उनका गुण-विवेचन भी विस्तार-पूर्वक लिखा है। (६) कूपीपक्व रसायन अर्थात् मकरध्वज, चन्द्रोदयादि बनाने की सरल अनुभूत विधिएँ, जैसी इस संग्रह में हैं वैसी किसी भी संस्कृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला आदि के भाषा ग्रन्थों में नहीं हैं। (७) पर्पटी, सामान्य रसायन, गुटिका, चूर्ण, क्वाथ, आसव, अरिष्ट, घृत, तैल, पाक, अवलेह, अञ्जन, लेप, मलहम आदि सभी प्रकरणों के आदि में महत्व की सूचना, औषधि बनाने की विधि आदि का वर्णन किया गया है। (८) अनुक्रमणिका भी दो प्रकार से दी है यथा—रोगानुसार और औषधियों के नामानुसार। रोगानुसार औषध-सूची में विशेषता यह है कि उपद्रव भेद, वातादि दोषभेद, एवं औषधि भेद तक दिखाये गये हैं।

विद्वानों की सम्मतियाँ

(१) कलकत्ता के सुप्रसिद्ध महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन सरस्वती, (M. A. L. M. S.)—

इस ग्रन्थ का विवेचनापूर्ण अध्ययन कर मुझे परम प्रसन्नता हुई। ग्रन्थ की विषय-सामग्री देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ। सचमुच इस ग्रन्थ में आयुर्वैदिक और यूनानी के चुने हुए प्रयोगों का उत्कृष्ट संग्रह है। सब प्रयोग सिद्ध और अनुभूत प्रतीत होते हैं। इस ग्रन्थ रत्न को वैद्यों में वितरित करके आप वास्तव में उनकी बड़ी सेवा कर रहे हैं। मैं इस उपहार के लिये आपका अत्यन्त आभारी हूँ।

(२) श्री वैद्यराज यादवजी त्रिकमजी आचार्य, बम्बई—

वैद्यक में आने वाली सब ही बातें अच्छी तरह समझा कर लिख दी गई हैं। जिनका नित्य प्रति वैद्यों को काम पड़ता रहता है। विशेषता यह है, कि इस ग्रन्थ में प्रयोग वे ही दिये गये हैं जो कई बार अनुभूत हैं।

(३) श्री पं० रामप्रसादजी वैद्यरत्न, पटियाला स्टेट—

इसमें के सभी प्रयोग ऐसे हैं, जो शतशोऽनुभूत हैं।.......वैद्यक विषय की सब बातें सरल हिन्दी भाषा में लिख कर लेखक ने हिन्दी जनता को ऋणी बना लिया है।

(४) आयुर्वेदमार्तण्ड श्रीस्वामी लक्ष्मीरामजी, जयपुर—

हिन्दी भाषा भाषियों के लिये प्रयोग-संग्रह रूप में यह एक अच्छा उपयोगी ग्रन्थ है। मात्रा उपयोगादि से इसको विशेष उपयोगी बनाने का परिश्रम किया गया है।

(५) श्री० राजवैद्य पं० नन्दकिशोरजी शर्मा भिषगाचार्य, प्रधान अध्यापक-आयुर्वेद संस्कृत कालेज जयपुर—

प्रस्तुत रसतंत्रसार संग्रह अपनी शैली का निराला ग्रन्थ है। इसमें प्रयोगों की व्याख्या हेतुवाद पुरःसरी होने से द्रव्य गुण का पर्यालोचन चिकित्सक को सहज हो जाता है।

(६) श्री० पं० मनोहरलालजी शर्मा, प्रिन्सिपल-बनवारीलाल आयुर्वैदिक विद्यालय, देहली—

यह ग्रन्थ वास्तव में आयुर्वेद-संसार में तथा हिन्दी-रचना में अत्युत्तम एवं अनुपम है। इसमें प्रत्येक प्रयोग शास्त्र सम्मत है। प्रयोग-निर्माण-पद्धति भी विषद रूप से वर्णित है। रस, धातु, भस्मादि की सरल रीति से विधि लिखी गई है। वैद्य तथा आयुर्वेद-प्रेमियों को बड़ा उपयोगी है।

(७) श्री० पं० विश्वनाथजी शास्त्री आयुर्वेदाचार्य, प्रिन्सिपल ललित हरि आयुर्वैदिक कालेज पीलीभीत (यू० पी०)—

अब तक प्रकाशित आयुर्वेद की अन्य पुस्तकों में (जो केवल हिन्दी में प्रकाशित हुई हैं) एक स्थान पर इतनी उचित सामग्री प्राप्त न थी, इस पुस्तक ने सब कमियाँ पूरी कर दी हैं।

(८) श्री० कविराज हरिरंजनजी मजुमदार M. A., भिषगाचार्य, भूतपूर्व वाइस प्रिन्सिपल (A. U. Tibbi College, Delhi)—

इसमें लेखक ने शास्त्रीय योगों के अतिरिक्त अपने अनुभूत योग भी लिखे हैं। लेखक का स्वयं अनुभूत योगों को गुप्त न रख कर जन-साधारण के ज्ञातार्थ प्रकाशित करना अवश्य ही प्रशंसनीय कार्य है।

(९) श्री० पं० चन्द्रशेखरजी बहुगुणा, वाइस प्रिन्सिपल-आयुर्वैदिक एण्ड तिब्बी कालेज, देहली—

"रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह" का विवेचनापूर्ण अध्ययन कर मुझे हार्दिक प्रसन्नता प्राप्त हुई है। इस पुस्तक ने अपने निराले ढंग से आयुर्वेद-जगत की समयानुसार उत्तम सेवा की है। उत्साही तथा कर्मण्य पुरुष इससे पूरा लाभ उठा सकते हैं।

(१०) श्री० पं० हरिप्रसादजी सी. भट्ट, M. A. M. S. प्रोफेसर राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, बरोड़ा—

सचमुच प्रयोग अनुभूत हैं, नवीन वैद्यों को दिग्दर्शक यन्त्र (Mariner's Compass) जैसा बहुत ही उपयुक्त है। आपने निजी अनुभव उदार दिल से प्रकाशित कर उत्तीर्ण होने वाले छात्रों पर अनुग्रह किया है।

(११) श्री० रसवैद्य वैद्यरत्न कविराज पं० वंशीधरजी मोहनलालजी आयुर्वेदाचार्य अजमेर—

चन्द्रोदयादि कूपीपक रसायन और धात्वादि भस्म निर्माण काल में जरा-सी भूल हो जाने पर द्रव्य हानि एवं शारीरिक संकट प्रायः हो जाता है। इनके अतिरिक्त किया हुआ श्रम व्यर्थ चला जाता है। इन सब आपत्तियों से बचने के लिये इस ग्रन्थ में अच्छा, सरल, निःछद्म अनुभूत स्पष्टीकरण किया गया है। इस ग्रन्थ में कितने ही प्रयोग ऐसे हैं, जो मराठी, गुजराती ग्रन्थों पर से अनुभव करके इस ग्रन्थ में सन्निविष्ट किये गये हैं; तथाच अनेक अनुभत शास्त्रीय प्रयोग ऐसे लिखे गये हैं, जो संस्कृत,

वङ्गला, मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि के भाषा ग्रन्थों में अद्यावधि प्रकाशित नहीं हुये।

× × × ×

यह ग्रन्थ हिन्दी भाषा में अपने ढंग का निराला और अद्वितीय है। सर्व-साधारण आयुर्वेद प्रेमी जनसमाज एवं वैद्यमात्र के लिये सर्वथा उपादेय है।

(१२) श्री० पं० लक्ष्मीनारायणजी शर्मा आयुर्वेदभूषण प्राणाचार्य, A. M. A. C. अजमेर—

इस निवन्ध ग्रन्थ के सङ्कलयिता वड़े अनुभवी और सिद्धहस्त मालूम होते हैं। औषधि निर्माण विधि और लेखन प्रणाली इतनी उत्तम है, कि इस पुस्तक के आधार पर ही कूपीपक्व रसादि प्रयोग तक साधक भली प्रकार वना सकता है। संग्रहकर्त्ता ने जितने भी प्रयोग इसमें संगृहीत किये हैं, निःसन्देह वे सब अनुभूत ही हैं।

(१३) वैद्य सम्मेलन पत्रिका, कानपुर—

यह ग्रन्थ आयुर्वेद-संसार में एक वहुत वड़ी आवश्यकता की पूर्ति करता है। यों तो अनेक संग्रह ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। पर इतना व्यापक दृष्टिकोण शायद ही किसी का हो। इसमें चिकित्सोपयोगी सभी वातों का वर्णन वड़ी उत्तमता के साथ किया गया है। इस ग्रन्थ की उत्तमता के दो ही कारण हैं—प्रथम तो यह अनुभव प्रधान है, द्वितीय यह सरल हिन्दी भाषा में समझा-समझा कर लिखा गया है।

इनके अलावा अनेक सम्भावित चिकित्सकों की सम्मतियाँ तथा धन्वन्तरि, विज्ञान, अनुभूत योगमाला, सुधानिधि, वैद्य कल्पतरु आदि अनेक सुप्रतिष्ठित पत्रों की समालोचना मिली हैं।

डिमाई अठपेजी २० पौंड कागज़ पृष्ठ-संख्या ८६४ मूल्य अजिल्द का ४) रु० और सजिल्द ४॥) रु०, ग्लेज़ पेपर सजिल्द ५) रु० पो० १२ आने अलग।

कृष्ण-गोपाल आयुर्वेदिक धर्मार्थ औषधालय,

पो० कालेड़ा-वोगला, वाया केकड़ी, ज़िला अजमेर।

Post Kalera-Bogla, Via Kekri (Ajmer).